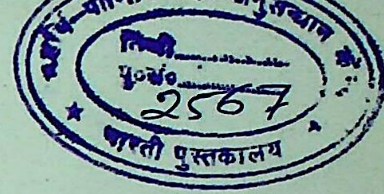
ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार





ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(प्रथमो भागः)



भाष्यकार
पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार

सम्पादक
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक



भगवती प्रकाशन
एच १/२, माडल टाउन, दिल्ली-९

प्रकाशक :
भगवती प्रकाशन
एच १/२ माडल टाउन,
दिल्ली-११० ००९

संस्करण : प्रथम
श्रद्धानन्द बलिदान दिवस, २३ दिसम्बर, १९८८

मूल्य : १००-०० रुपये मात्र

प्रकाशक :
दुर्गा मुद्रणालय,
सुभाषपार्क एक्सटेंशन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२



भूमिका

वेद हमारी संस्कृति के मूलाधार हैं। वेद परमात्मा की दिव्यवाणी है। वे हमारे प्राण और जीवन-सर्वस्व हैं। प्राचीन और अर्वाचीन ऋषि-मुनियों ने वेदों की महिमा के गीत गाये हैं। महर्षि मनु ने कहा है—**वेदश्चक्षुः सनातनम्** [मनु० १२।९४]। वेद मानवमात्र के लिए सनातन चक्षुः हैं। भागवतपुराण में कहा है—**वेदो नारायणः साक्षात्** [६।१।४०]। वेद साक्षात् भगवान् ही है। गरुड़पुराण में कहा है—**वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति** [गरुड़० उ० ख० ब्र० का० १०।५५]। वेद से बढ़कर संसार में कोई शास्त्र नहीं है। तुलसीदासजी ने भी लिखा है—**बन्दउ चारिउ वेद** [मानस० बाल० १४ ङ०]। मैं चारों वेदों की वन्दना करता हूँ।

वेद सृष्टि के आदि में 'अग्नि' आदि चार ऋषियों को प्रदत्त दिव्य ज्ञान हैं। वेद मानवमात्र के लिए हैं। वेद की शिक्षाएँ सार्वभौम, सार्वजनीन और सार्वकालिक हैं।

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।—ऋ० १०।५३।६

मननशील बनो और दिव्य सन्तानों का निर्माण करो।

धियो यो नः प्रचोदयात्।—ऋ० ३।६२।१०

हे प्रभो! हम सबकी बुद्धियों कर्मों व वाणियों को श्रेष्ठ मार्ग में प्रेरित कीजिए

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।—ऋ० १।८९।८

हम कानों से कल्याणकारी वचन ही सुनें और आँखों से भद्र दर्शन करें।

कितने उदात्त और सबके लिए कल्याणप्रद उपदेश हैं ये!

वैदिक संस्कृति वस्तुतः विश्व की पहली संस्कृति है—

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।—यजु० ७।१४

यह संस्कृति केवल भारतीयों द्वारा नहीं, मानवमात्र द्वारा और सम्पूर्ण विश्व द्वारा वरणीय संस्कृति है।

वेद प्रभु-प्रदत्त ज्ञान है। परमात्मा ने अपने अमृत पुत्रों को क्या सन्देश, उपदेश और प्रेरणाएँ दी हैं, इन्हें जानने के लिए वेद का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अपने आत्म-उत्थान के लिए, पारिवारिक कल्याण के लिए, समाज-निर्माण के लिए, विश्वशान्ति के लिए वेद का स्वाध्याय परम कल्याणकारक है।

वेद में क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि वेद में क्या नहीं है? महर्षि मनु के शब्दों में—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।—मनु० १२।९७

भूत, वर्तमान और भविष्य [जो कुछ हुआ, हो रहा है और होगा] वह सब वेद से ही प्रसिद्ध होता है।

वेद में आध्यात्मिक ज्ञान तो है ही भौतिक विज्ञान की भी पराकाष्ठा है। वेद में धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, वास्तुविज्ञान [गृह-निर्माण], कला-कौशल-विज्ञान, वायुयानविज्ञान, जलयानविनाज्ञ, वस्त्रवयन-विज्ञान, मार्ग-[सड़क]-निर्माणविज्ञान, शरीरविज्ञान, आत्मविज्ञान, योगविज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, औषध-विज्ञान, पशुविज्ञान, यज्ञविज्ञान, कृषिविज्ञान, मन्त्रविज्ञान आदि मनुष्य जीवन के लिए उपयोगी सभी कुछ है।

संसार प्रभु-प्रदत्त वेदज्ञान को भूल चुका था। १९वीं शताब्दी में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद का पुनः प्रचार और प्रसार किया। उनका उद्घोष था—'वेद की ओर लौटो'। आर्यसमाज के नियम में उन्होंने लिखा—'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

हमने महर्षि के वास्तविक सन्देश को भुलाकर स्कूल खोले, भवन बनाए, चिकित्सालय और वाचनालय खोले परन्तु परम धर्म की ओर ध्यान नहीं दिया। शिकायत यह होती रही कि वेद बहुत कठिन हैं, समझ में नहीं आते। पं० श्री हरिशरणजी सिद्धान्तालंकार ने इस ओर ध्यान दिया। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर वेदों के पठन-पाठन में घोर परिश्रम किया। आपने चारों वेदों का अत्यन्त सरल भाषा में भाष्य किया। भाष्य क्या वेदों की विस्तृत व्याख्या लिख दी। कठिन समझे जानेवाले वेदों को अत्यन्त सरल बना दिया जिससे प्रत्येक व्यक्ति इन्हें पढ़ और समझ सके।

इस व्याख्या के सम्बन्ध में पाठक कुछ बातों को समझ लें—

१. यह भाष्य न होकर वेदों की विस्तृत व्याख्या है। वेद का ज्ञान प्रभु ने सृष्टि के आदि में दिया था। उस समय राजा और ऋषि-मुनि नहीं थे, अत: वेद में इतिहास नहीं है। यह व्याख्या बीसवीं शताब्दी में लिखी गई है, अत: व्याख्या में कहीं उपनिषद् के प्रमाण हैं, कहीं गीता से अपनी व्याख्या को समर्थित किया है, कहीं महापुरुषों के वचनों से। पाठक इसी दृष्टिकोण से इसे पढ़ें।

२. ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं हैं, द्रष्टा हैं। मतभेद हो सकते हैं परन्तु ऐसी मान्यता भी है कि वेदमन्त्रों पर जिन ऋषियों के नाम दिये हुए हैं, वे भी अर्थ में सहायक हैं। जहाँ मन्त्रों में 'ऋषि कहता है'—ऐसे वाक्य आते हैं उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि मन्त्रद्रष्टा [मन्त्र के अर्थों का साक्षात्कार करनेवाला ऋषि] कहता है। आज भी कोई भी व्यक्ति उन गुणों को जीवन में धारण करके ऋषि बन सकता है।

वेद के अर्थ अनेक प्रक्रियाओं में होते हैं। दो प्रक्रियाएँ है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। इस भाष्य में इन्हीं प्रक्रियाओं में अर्थ किया गया गया है। मुझे आशा ही नहीं पूण विश्वास है कि इस भाष्य से वेदों को पढ़ने और समझने में पाठकों को सुविधा एवं सरलता होगी।

सदस्यों से

भगवती प्रकाशन के सदस्यों से एक बार पुन: कहना चाहता हूँ आप थोड़ा धैर्य रखें, अधीर मत बनें। विश्वास रखें, आपके साथ विश्वासघात नहीं होगा। पहला ग्रन्थ सन् १९८७ में हमने 'पौराणिक पोलप्रकाश' भेंट किया था। सन् १९८८ का यह द्वितीय ग्रन्थ 'ऋग्वेदभाष्यम्' प्रथम भाग आपके कर-कमलों में समर्पित है। छपने और भेजने में देर हो सकती है, परन्तु किसी वर्ष में आपको ग्रन्थ न मिले ऐसा कदापि नहीं होगा।

यह ऋग्वेदभाष्य ७ खण्डों में पूर्ण होगा। ८९ में दूसरा खण्ड आपकी सेवा में पहुँच जाएगा। आपको यह ग्रन्थ कैसा लगा, यदि आप दो-चार पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में लिखकर भेज दें, तो मुझे उत्साह मिलेगा।

वेद सदन
एच १/२ माडल टाउन,
दिल्ली-११०००९

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती
२३-१२-८८

❖ ओ३म् ❖

ऋग्वेदभाष्यम्

अथ प्रथमं मण्डलम्

प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः

[अथ प्रथमोऽनुवाकः] [१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

पुरोहित-ईडन

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् । होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥१॥

१. **अग्निम्**=उस (अगि गतौ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले, सब जीवों की उन्नति के साधक, अग्रेणी प्रभु को **ईळे**=मैं उपासित करता हूँ—उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ (ईड-ईद उपासना) जो प्रभु २. **पुरोहितम्**=(पुरः हितम्) पहले से ही रखे हुए हैं, अर्थात् जो बनने से=सृष्टि से पूर्व ही विद्यमान हैं। जो बने कभी नहीं—'स्वयं-भू' हैं—अपने-आप होनेवाले हैं—'खुद् आ' हैं। अथवा जो प्रभु हम जीवों के पुरः=सामने हितम्=एक आदर्श (Model) के रूप में विद्यमान हैं। उनके अनुरूप हमें अपने को बनाना है। ३. **यज्ञस्य देवम्**=वे प्रभु अपनी वेदवाणी में यज्ञों का प्रकाश करनेवाले हैं। हमारे सब कर्तव्य-कर्मों का प्रभु ने वेद में प्रतिपादन किया है। **एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे**।—गीता ४।३२।४. **ऋत्विजम्**=ऋतौ-ऋतौ यजनीयम्=समय-समय पर, प्रत्येक ऋतु में वे प्रभु पूजा के योग्य हैं। उस प्रभु का ही हमें उपासन करना चाहिए। उसके पूजन से उसकी शक्ति का हममें प्रवाह होता है। हम घर के व आजीविकोपार्जन के कार्यों को करें—इन कार्यों की समाप्ति पर स्वाध्यायश्रान्त होकर प्रभु के नाम का जप करने लगें (**तज्जपस्तदर्थभावनम्**।—योग० १।२८) दिन में दुनिया के कार्यों से अवकाश न मिले तो रात्रि के समय प्रभु-नाम-जप करते हुए निद्रा की गोद में जाएँ ताकि सारी रात्रि प्रभु-सम्पर्क बना रहे—स्वप्न भी प्रभु का ही आये और उस स्वप्नगत प्रभु-दर्शन को हम जाग्रत् में भी न भूलें ऐसा प्रयत्न करें (**'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा'**।—योग० १।३८) ५. **होतारम्**—(हु दान, अदन) वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं—प्रलय के समय सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले हैं (यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इथा वेद यत्र सः—कठ० १।२।२५)। प्रभु ने हमारे हित के लिए सब आवश्यक पदार्थ हमें प्राप्त कराये हैं। ६. **रत्नधातमम्**=रमणीय वस्तुओं के धारण करनेवालों में वे सर्वोत्तम हैं। प्रभु ने शरीरों के अन्दर इस प्रकार व्यवस्था की है कि खाये हुए अन्न से रस-रुधिर-मांस-मेदस्-अस्थि-मज्जा-

वीर्य'—इन सात धातुओं का क्रमशः निर्माण होता है। ये सात धातुएँ ही सात रत्न हैं। इनकी उपयोगिता व महत्त्व शरीरशास्त्र में प्रसिद्ध है। इनके कारण शरीर रमणीय बना है, अतः ये ही रत्न हैं। प्रभु ने प्रत्येक शरीररूप घर में इन सात रत्नों की स्थापना की है। (दमे दमे सप्त रत्ना दधाना—ऋ० ६।७४।१)। इस रत्न-धातमम् प्रभु की हम स्तुति करें।

भावार्थ—मैं 'अग्नि-पुरोहित-यज्ञ के देव-ऋत्विज्-होता व रत्नधाता' प्रभु की स्तुति करता हूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पूर्व व नूतन ऋषियों से ईड्य

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥२॥

१. गत मन्त्र में वर्णित **ईड्यः**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले—अग्रेणी प्रभु **ऋषिभिः**=(ऋषय द्रष्टारः) तत्त्वदर्शियों से **ईड्यः**=स्तुति के योग्य होते हैं अर्थात् वस्तुतः प्रभु का स्तवन ये ऋषि=तत्त्वद्रष्टा ही करते हैं। वे तत्त्व-द्रष्टा जो कि **पूर्वेभिः**=(पृ पालनपूरणयोः) अपना रक्षण करते हैं—अपने को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते तथा अपनी न्यूनताओं को दूर करते रहते हैं, अर्थात् अपना 'पूरण' करने का ध्यान करते हैं। **उत**=और **नूतनैः**=(नू to Praise, to go) जो प्रशंसात्मक शब्द ही बोलते हैं--जो कभी निन्दा नहीं करते तथा जो सदा गतिशील हैं—जिनका जीवन क्रियामय है। संक्षेप में भाव यह है कि प्रभु का स्तवन वे करते हैं जोकि (क) तत्त्वद्रष्टा हैं, (ख) अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देते, (ग) अपनी न्यूनताओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, (घ) जो प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं—कटु, निन्दात्मक शब्द नहीं बोलते, तथा (ङ) सदा क्रियात्मक जीवन बिताते हैं। २. **सः**=वह प्रभु ही इस प्रकार उपासित होकर **इह**=इस मानव-जीवन में हमें **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवक्षति**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्रभु-उपासना का लाभ यह होता है कि हममें दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

भावार्थ—१. प्रभु का सच्चा उपासक वह है जोकि ज्ञान प्राप्त करता है, नीरोग व निर्मल है तथा प्रशंसात्मक मधुर शब्द ही बोलता है और क्रियाशील है। २. प्रभु की उपासना का लाभ यह है कि हम में दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

कैसा रयिः

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे। य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम्॥३॥

१. इस मन्त्र में ऋषियों द्वारा 'अग्नि-स्तवन' का उल्लेख हुआ है। उस प्रभु के उपासन से मनुष्य सांसारिक दृष्टि से असफल हो जाता हो—ऐसी बात नहीं है। यदि प्रभु की उपासना करेंगे तो क्या लक्ष्मी के दर्शन नहीं होंगे? लक्ष्मी तो वहाँ है ही। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **अग्निना**=अग्नि से **रयिम्**=धन को **अश्नवत्**=प्राप्त करता है। संसार में सामान्यतः देखा यह जाता है कि धन मनुष्य को कुछ अवनति की ओर ले जाता है, परन्तु प्रभु का स्मरण करते हुए जो धन प्राप्त होता है उस धन की यह विशेषता है कि २. **दिवे-दिवे**=दिन-ब-दिन **पोषम् एव**=यह हमारे पोषण का ही कारण बनता है। इससे हमारा किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। यह धन मुझे निधन=मृत्यु की ओर न ले-जाकर जीवन की ओर ले-जाता है। ३. इस धन को प्राप्त करके मैं **यशसम्**=यशवाला बनता हूँ। धन के अभिमान में मैं ऐसे कार्य नहीं कर बैठता जो कार्य मेरे अपयश का कारण बनें, प्रत्युत यज्ञादि में धन का विनियोग करके यशस्वी होता हूँ। ४. हम प्रभु-उपासना से वह धन प्राप्त करते हैं जोकि **वीरवत्तमम्**=अत्यधिक शक्तिसम्पन्न

बनाता है। सामान्यतः धनी पुरुष नौकरों से कार्य कराता हुआ आराम (हराम) का जीवन बिताने लगता है, परिणामतः वह निर्बल हो जाता है। 'क्रिया' ही शक्ति को जन्म देती है और क्रिया का अभाव शक्तिक्षय का हेतु होता है। तुलना में बायें हाथ की निर्बलता का हेतु यही है कि वह दाहिने की अपेक्षा कम कार्य करता है। प्रभु-स्मरण के साथ प्राप्त होनेवाला धन हमें क्रियाशील बनाये रहकर वीर बनाता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक उस धन को प्राप्त करता है जोकि (क) उसके पोषण का कारण बनता है, (ख) उसको यशस्वी बनाता है, (ग) उसमें वीरता को जन्म देता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ-रक्षा

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद् देवेषु गच्छति॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अग्नि का स्तोता धन को प्राप्त करके उस धन का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करता है, परन्तु 'उन यज्ञों का भी उसे गर्व न हो जाए', इसके लिए वह प्रभु-स्मरण करता हुआ कहता है कि **अग्ने**=हे सारे कर्मों के संचालक प्रभो! **यम्**=जिस **अध्वरम्**=हिंसा से शून्य **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म को **विश्वतः**=सब ओर से **परिभूः**=(to surround, to take care of, to govern) व्याप्त करनेवाले—रक्षा करनेवाले व व्यवस्थित करनेवाले आप हो, **सः**=वहीं यज्ञ **इत्**=निश्चय से **देवेषु**=देवताओं में **गच्छति**=प्राप्त होता है अर्थात् यज्ञ तो प्रभु ही करते हैं परन्तु उस यज्ञ का देव माध्यम बन जाते हैं, (**निमित्तमात्रं भव**—गीता) २. वास्तविकता यही है कि संसार में सारे उत्तम कर्म उस प्रभु द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं; जीव माध्यम-मात्र है, परन्तु अज्ञानवश हमें उन उत्तम कर्मों का गर्व हो जाता है और यह गर्व ही उन कर्मों की उत्तमता को समाप्त कर देता है। **'दानं दमश्च यज्ञश्च'** इन शब्दों में यज्ञ दैवीसम्पत्ति में परिगणित हुआ है। यज्ञ देवों में ही होता है; परन्तु यही यज्ञ अभिमानयुक्त होकर किया जाने पर आसुर हो जाता है, असुर उन यज्ञों का गर्व करते हैं और कहते हैं कि **'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः'** यज्ञ करूँगा—खूब (यश मिलेगा सो) आनन्द होगा, इस प्रकार ये असुर आत्मकर्तृत्व के अज्ञान से मूढ बने रहते हैं। **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्'** (गीता)। ये असुर केवल नाम के लिए दम्भपूर्वक यज्ञों का ढोंग करते हैं। देव यज्ञ करते हैं और उसे प्रभु-समर्पण कर देते हैं—**'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्'** (गीता)—देव सब क्रियाओं को प्रभु-अर्पण करके कर्तृत्व के अहंकार से बचे रहते हैं। इस प्रकार निर्मम व निरहंकार होकर ही वे प्रभु को प्राप्त करते व शान्त जीवनवाले होते हैं—**'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता)।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो और उन सब यज्ञों को प्रभु से होता हुआ हम जानें। उत्तम कर्म करें, पर उनका हमें गर्व न हो। यही 'देव' बनने का मार्ग है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

देव का देवों के साथ आगमन

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत्॥५॥

१. गत मन्त्र की भावना को प्रकट करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=सबको गति देनेवाले वे प्रभु ही **होताः**=सब यज्ञों के करनेवाले हैं। प्रभु कृपा से ही हम उन यज्ञों के माध्यम बनते हैं और उन यज्ञों को पूर्ण होता हुआ देखते हैं। सृष्टि-यज्ञ के होता तो वे सर्वमहान् प्रभु स्पष्ट ही हैं। २. **कविक्रतुः**=क्रान्तदर्शी होते हुए वे सब कर्मों के करनेवाले हैं (कविः क्रान्तदर्शी) इसीलिए उनके सृष्टि आदि कर्मों में

अपूर्णता नहीं है **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**=प्रभु पूर्ण हैं—सो यह सृष्टियज्ञ पूर्ण होना ही था। हमें अज्ञानवश कई बार इस सृष्टि में कई न्यूनताएँ प्रतीत होने लगती हैं। भूकम्प आदि का आना घातक लगता है। शरीर में कई ग्रन्थियाँ (glands) निष्प्रयोजन प्रतीत होती हैं--कितने ही प्राणियों व पौधों का उपयोग हमें अज्ञात है, परन्तु जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाएगा, उतना-उतना हमें संसार पूर्ण प्रतीत होगा। ३. **सत्यः**=वे प्रभु पूर्ण सत्य हैं—सत्यस्वरूप हैं अथवा **'सत्सु भवः'**=सज्जनों में उनका निवास है। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी वे सज्जनहृदयों में प्रकाशित होते हैं। ४. **चित्रश्रवस्तमः**=(चित् र) वे प्रभु सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान देनेवाले हैं। ज्ञान देने का उनका प्रकार भी अद्भुत है। हृदयस्थ होते हुए वे बिना किसी प्रयास के उन पवित्र हृदयों को प्रकाशित कर देते हैं। वे प्रभु **श्रवस्तमः**=अत्यन्त कीर्तिमान् हैं अथवा वे प्रभु सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं (श्रवस्=श्रुति, ज्ञान) निरतिशय ज्ञान के अधिष्ठान ब्रह्म ही तो हैं। ५. (क) वे **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्योतिर्मय प्रभु **देवेभिः**=देवताओं के साथ **आगमत्**=आते हैं अर्थात् हृदय में प्रभु का वास होने पर सब दिव्यगुण हममें स्वतः प्रादुर्भूत हो जाते हैं। (ख) अथवा **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा **देवः**=वे प्रभु हमारे में **आगमत्**=आते हैं अर्थात् प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम अपने आचरण को देव-सदृश बनाएँ—असुरों जैसे हमारे व्यवहार न हों। हम जितना-जितना दिव्यता को अपनाएँगे उतना-उतना प्रभु के समीप होते जाएँगे।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि-होता-कविक्रतु-सत्य-चित्रश्रवस्तम व देव' हैं। वे प्रभु दिव्यगुणों के धारण के द्वारा प्राप्त होते हैं, अथवा जितना-जितना हम प्रभु को धारण करने का प्रयत्न करते हैं उतना-उतना हम दिव्यगुणोंवाले बनते जाते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

दाश्वान् का कल्याण

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥६॥

१. हे **अङ्ग**=सम्पूर्ण वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! (अगि गतौ—गति=प्राप्ति) **अग्ने**=सबके अग्रेणी प्रभो! आप **यत्**=जो यह नियम करते हैं कि **दाशुषे**=दाश्वान् (दाश्टृ दाने) के लिए, देनेवाले के लिए अथवा आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए [वस्तुतः धन को देकर ही तो हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, Mammon (धनदेव) व God (महादेव) दोनों की उपासना इकट्ठे थोड़े हुआ करती है! इस दाश्वान् के लिए] **त्वम्** (Thou)=आप **भद्रम्**=कल्याण को **'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्'**=वित्त-गृह-प्रजा-पशुरूप भद्र को—**करिष्यसि**=करेंगे **तव**=आपका **तत्**=यह नियम **इत्**=निश्चय से **सत्यम्**=सत्य है और इस नियम के द्वारा उस दाश्वान् के अंग-प्रत्यंगों में रस का—जीवनीशक्ति का संचार करते हुए आप सचमुच **'अंगिरः'**=(अंगिरस्) अंगों में रस का संचार करनेवाले हैं, जीवन को देनेवाले हैं। २. एक बालक माता-पिता के प्रति अपना अर्पण कर देता है—अपनी इच्छा को उनकी इच्छा में मिला देता है तो माता-पिता उसका अधिक ध्यान करते हैं और उसका उत्तम निर्माण करते हैं। इसी प्रकार जब एक दाश्वान् पुरुष प्रभु के प्रति अपने को अर्पित कर देता है तो प्रभु का वह अधिक प्रिय होता है और प्रभु उसे सब आभ्युदयिक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। जीव की अल्पज्ञता से जीव द्वारा धारण किया गया ऐसा कोई व्रत टूट भी जाए, तदपि परमात्मा का व्रत उसके पूर्ण ज्ञान के कारण टूट नहीं जाता। जीव अल्पज्ञता से कोई ग़लत वस्तु भी दे देता है परन्तु प्रभु ठीक ही वस्तु देते हैं।

भावार्थ—प्रभु दाश्वान् का कल्याण करते हैं—यह उनका सत्य व्रत है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के समीप

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥७॥

१. गत मन्त्र में वर्णित समर्पण को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—हे **अग्ने**=हमें सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **दोषावस्तः**=रात्रि और दिन अर्थात् प्रातः सन्धिवेला और सायं सन्धिवेला में **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **नमः भरन्तः**=पूजा को प्राप्त करते हुए (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**।—गीता १८।४६) **त्वा, उप**=आपके समीप **एमसि**=(आ इमसि) सर्वथा प्राप्त होते हैं। २. प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होना मानव के लिए इसलिए आवश्यक है कि इससे (क) पवित्रता की भावना बनी रहती है (ख) शक्ति का सञ्चार होता है (ग) जीवन का उद्देश्य धन ही नहीं बनता और परिणामतः पारस्परिक प्रेम विनष्ट नहीं होता। ३. वस्तुतः जैसे शरीर के लिए भोजन है, जैसे मस्तिष्क के लिए स्वाध्याय है, उसी प्रकार हृदय के लिए यह 'दैनिक ध्यान' है। जैसे भोजन के विना शरीर निर्बल होकर रोगाक्रान्त हो जाता है, स्वाध्याय के बिना मस्तिष्क दुर्बल होकर ठीक विचार नहीं कर पाता, उसी प्रकार उपासना के बिना हृदय मलिन होकर वासनाओं से अभिभूत हो जाता है। ४. भोजन शरीर को सबल बनाता है, स्वाध्याय मस्तिष्क को तथा उपासना हृदय को बलवान् बनाने के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करनेवाले बनें। दिनभर प्रज्ञापूर्वक कार्यों को करते हुए हम उन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करें। प्रातः शक्ति की याचना करें कि हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करनेवाले बन पाएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—यवमध्या विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-दर्शन

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्। वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑ ॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु के समीप उपस्थित होने से हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनेंगे और देखेंगे कि वे प्रभु **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) देदीप्यमान हैं, आदित्यवर्ण हैं, सहस्रों सूर्यों की दीप्ति के समान उनकी दीप्ति है तथा (राज to regulate) वे प्रभु ही सारे संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उस प्रभु के प्रशासन में ही ये सब ग्रह-नक्षत्र व नदियाँ गति कर रही हैं २. **अध्वराणां गोपाम्**=वे प्रभु ही सब हिंसारहित यज्ञों के रक्षक हैं। प्रभु की कृपा से ही सब उत्तम कार्य पूर्ण हुआ करते हैं। 'विजय-मात्र' उस प्रभु की कृपा का ही परिणाम है। ३. **ऋतस्य दीदिविम्**=सत्य के वे प्रकाशक हैं। वेदज्ञान द्वारा प्रभु ने सब सत्य विद्याओं का प्रकाश किया है, हमारे सत्य कर्तव्यों का उन वेदों में प्रतिपादन किया है। ४. और वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्थान में अथवा अपने पूर्ण दान्तरूप में (दमन में) **वर्धमानम्**=सदा से बढ़े हुए हैं। वस्तुतः वृद्धि दमन के अनुपात में होती है, जितना दमन उतनी वृद्धि। आदमी तो आदमी बनता ही दमन से है। हम इन इन्द्रियों को वश में करते हैं, मन का दमन करते हैं और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। प्रभु में दमन की पराकाष्ठा है, अतः वृद्धि की भी वहाँ चरम सीमा है। ५. प्रभु को इस रूप में देखकर स्तोता को भी ध्यान आता है कि वह (क) ज्ञान से देदीप्यमान बनने का प्रयत्न करे—अपने जीवन को

नियमित बनाये। (ख) उसका जीवन सदा यज्ञमय हो। (ग) सत्य के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हो। (घ) मन व इन्द्रियों के दमन से शक्तियों की वृद्धि करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु देदीप्यमान, यज्ञों के रक्षक, ऋत के प्रकाशक व सदा से बढ़े हुए हैं। हम भी अपने जीवन को इसी प्रकार का बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पिता-पुत्र के लिए

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार स्तोता प्रभु-दर्शन करता हुआ कहता है कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **सः**=वह आप **नः**=हमें, **सूनवे पिता इव**=पुत्र के लिए पिता की भाँति, **सूपायनः**=(सु+उप—अयनः) सुगमता से समीप होनेवाले, **भव**=होवो। पुत्र को पिता से भय नहीं लगता, वहाँ वह प्रेम का अनुभव करता है और निःशङ्क होकर पिता की गोद में पहुँचने की करता है। इसी प्रकार हम भी आपकी गोद में आ सकें। (सु--उपायन) पिता पुत्र के लिए उत्तमोत्तम उपहार प्राप्त कराता है, आप भी हमें जीवन में उन्नति के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराइए। वस्तुतः आप तो प्राप्त कराते ही हैं, हम भी उन वस्तुओं का ठीक-ठीक प्रयोग करनेवाले बनें। २. हे प्रभो! सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराके **नः**=हमें **स्वस्तये** (सु-अस्ति)=कल्याण के लिए, उत्तम स्थिति के लिए, **सचस्व**=संगत कीजिए। इन वस्तुओं का ठीक प्रयोग कर हम उन्नति को प्राप्त हों अथवा आप हमें प्राप्त होओ ताकि हमारी उत्तम स्थिति बनी रहे। प्रभु से दूर होते ही हम प्रायः मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभु-स्मरण जीवन की घड़ियों को पथभ्रष्ट (Derailed) नहीं होने देता। जैसे पिता की दृष्टि में रहनेवाले बालक का आचरण ठीक बना रहता है, उसी प्रकार प्रभु के सामीप्य में हमारा जीवन उत्तम मार्ग में ही स्थित रहता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए उसी प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों जैसे पिता पुत्र के लिए। प्रभु के साथ हमारा मेल हो ताकि हमारी जीवन-स्थिति उत्तम बनी रहे।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का सार प्रथम व अन्तिम मन्त्र से स्पष्ट है। जीव प्रभु की उपासना करता है—अग्निमीळे और चाहता है कि प्रभु उसके लिए इस प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों कि जैसे पुत्र के लिए पिता।

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—वायुः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सौम्यता व सद्गुण अथवा इस सोम से उस सोम की प्राप्ति

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥१॥

१. पिछले सूक्त में प्रभु का नाम 'अग्नि' था। वह शब्द 'अगि गतौ' से बना था। यहाँ 'वायु' शब्द 'वा गतौ' से बनकर प्रभु का प्रतिपादन कर रहा है। प्रभु गति के द्वारा (वा गतिगन्धनयोः) सब बुराइयों का गन्धन=हिंसन कर रहे हैं। वस्तुतः गति ही बुराई को समाप्त करनेवाली है। हे **वायो**=गति द्वारा दुरितों का विध्वंस करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप आइए, हमारे हृदय-आसन पर बैठिए। २. **दर्शत**=आप सचमुच दर्शनीय हैं। हे **दर्शत**=दर्शनीय प्रभो! मैं तो यही चाहता हूँ कि मेरा हृदय आपका प्रतिभान हो और वहाँ मैं आपके दर्शन करता रहूँ। आपकी दृष्टि से मैं कभी ओझल न हो जाऊँ,

सदा आपकी कृपादृष्टि का पात्र बना हुआ मैं पवित्र बना रहूँ। ३. आपके दर्शन के लिए ही **इमे सोमाः**= ये सोमकण **अरंकृताः**=(अरं वारण=रोकना) रोके गये हैं—शरीर में ही इनका निरोध किया गया है। शरीर में निरुद्ध हुए-हुए ये सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। दीप्त ज्ञानाग्नि हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है (**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।**—कठ० १।३।१२) ४. वस्तुतः उन सोमकणों की रक्षा भी तो आपके स्मरण से ही होती है; सो **तेषां पाहि**=उन सोमकणों की आप रक्षा कीजिए। हृदय में आप होंगे तो 'काम' न होगा। जहाँ महादेव वहाँ कामदेव भस्म हो ही जाते हैं। यह काम ही तो सोम के संयम में बाधक था। यह गया और सोमकण शरीर में निरुद्ध हुए। ५. हे **वायो**=आप **हवम् श्रुधि**=हमारी इस प्रार्थना व पुकार को अवश्य सुनिए। **इमे सोमा अरंकृताः**=इस वाक्य का यह अर्थ भी है कि ये सौम्यता से सम्पन्न आपके भक्त विद्यादि गुणों से अलंकृत हुए हैं। **तेषां पाहि**=इनकी आपने ही तो रक्षा करनी है। हम सौम्य बनें, सद्गुणों से अलंकृत हों और उस प्रभु से प्राप्त होनेवाली रक्षा के पात्र बनें।

भावार्थ—हम शरीर में सोमकणों की रक्षा करें, ये ही तो हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करेंगे और हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—वायुः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अर्हविद्

वाय॑ उ॒क्थेभि॑र्जरन्ते॒ त्वामच्छा॑ जरि॒तारः॑। सु॒तसो॑मा अह॒र्विदः॑ ॥२॥

१. हे **वायो**=गति के द्वारा सब दुरितों को दूर करनेवाले प्रभो! पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार शरीर में ही सोमकणों का संयम करनेवाले व्यक्ति **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **जरन्ते**=आपका स्तवन करते हैं। जहाँ प्रभु का स्तवन होता है, वहाँ ही तो आसुर वृत्तियाँ नहीं पनप पातीं। प्रभु-स्तवन की भूमि वासनाओं के लिए ऊसर होती है। २. **जरितारः**=ये स्तोता लोग **त्वाम् अच्छा**=आपकी ओर बढ़ते हैं। इनकी भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति कम और कम होती जाती है, परिणामतः ये आपके समीप होते जाते हैं। ३. इस आपके सान्निध्य के कारण ही ये **सुतसोमाः**=सोम का सवन और उत्पादन करनेवाले बनते हैं। अपने शरीर में इन सोमकणों को ये सुरक्षित कर पाते हैं। ४. सोमकणों का उत्पादन करते हुए ये (क) **अर्हविदः**=(अहन्=दिन) समय को समझनेवाले हैं। यौवन में जैसी इन सोमकणों की उत्पत्ति होती है, वैही वार्द्धक्य में न होगी—इस बात को समझते हुए ये यौवन में ही सोम की रक्षा करनेवाले बनते हैं। (ख) '**अर्हविदः**=शब्द का अर्थ एक दिन में ही पूर्ण हो जानेवाले यज्ञों का 'अहः' नाम मानकर यह भी किया जा सकता है कि सुतसोम व्यक्ति यज्ञों के अभिज्ञ होते हैं और यज्ञमय जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। अयज्ञिय, अपवित्र भावनाओं से बचे रहने का यही तो सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ=हम वायु नाम से प्रभु का स्मरण करें—प्रभु की ओर चलें, सोमकणों का सवन व उत्पादन करें और उनकी रक्षा के समय को समझें। हमारा जीवन यज्ञों से परिचयवाला हो ताकि अयज्ञिय भावनाओं से हम बचे रहें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—वायुः। छन्दः—गायत्रीः। स्वरः—षड्जः॥

वायु की धेना

वायो॒ तव॑ प्रपृञ्च॒ती धेना॑ जिगाति दा॒शुषे॑। उ॒रू॒ची सोम॑पीतये ॥३॥

१. हे **वायो**=(गति, ज्ञान) सम्पूर्ण ज्ञानों के भण्डार व सम्पूर्ण ज्ञानों को देनेवाले प्रभो! **तव**= आपकी **धेना**=वेदवाणी **दाशुषे**=समर्पण करनेवाले के लिए **जिगाति**=प्राप्त होती है। वस्तुतः अध्यापक

से दिया जाता हुआ ज्ञान उसी विद्यार्थी का प्राप्त होता है जो कि अध्यापक के प्रति अपना अर्पण करता है, जिसका सारा कार्यक्रम अध्यापक के निर्देश के अनुसार चलता है। हमारा जीवन प्रभु के निर्देश के अनुसार चलेगा तो हमें भी प्रभु से दिया जाता हुआ ज्ञान प्राप्त होगा। २. वह वेदज्ञान कैसा है, इसका प्रतिपादन धेना के दो विशेषणों के द्वारा यहाँ किया जा रहा है—(क) **प्रपृञ्चती**=प्रकृष्ट सम्पर्क को उत्पन्न करनेवाली यह वेदवाणी है अर्थात् इसके अध्ययन से हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो हमें प्रकृति की ओर झुकाववाला न बनाकर प्रभु के सम्पर्कवाला बनाता है। (ख) **उरूची**=(उरु अञ्च) विशाल प्रदेशों में यह गतिवाली है अर्थात् इसके ज्ञान का विषय बिस्तृत है। वस्तुतः सब सत्यविद्याओं का यह प्रकाश करनेवाली है। ऋग्वेद यदि प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) का मुख्यतः प्रतिपादन करता है तो यजुर्वेद कर्मवेद है। यह मनोविज्ञान व सामाजिक विज्ञानों का प्रतिपादक है। साम अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) को लेता है और अथर्व युद्ध-विद्या व आयुर्वेद (Science of War तथा Science of Medicine) को अपना विषय बनाता है। इस प्रकार यह वेदवाणी सचमुच उरूची है। ३. इस वेदवाणी के पठन से जहाँ हमारा ज्ञान बढ़ता है वहाँ यह **सोमपीतये**=सोम की पीति के लिए होती है—इसके स्वाध्याय से शरीर में सोम का रक्षण होता है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और इस प्रकार उचित व्यय होकर यह हमारे विकास में सहायक होता है। एवं, स्वाध्याय सोमपान में सहायक होता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और तीव्रबुद्धि बनकर हम अधिक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। एवं, हमारे शरीर में सोमपान व स्वाध्याय का परस्पर भावन चलता है। स्वाध्याय से सोम की रक्षा होती है, सोमरक्षण से स्वाध्याय की योग्यता बढ़ती है।

भावार्थ—वेदवाणी प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले को प्राप्त होती है। यह प्रभु-सम्पर्क को बढ़ाती है, व्यापक ज्ञान को देती है। सोमपान के लिए—शरीर में शक्ति को सुरक्षित करने के लिए यह स्वाध्याय सहायक है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रवायू। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञानैश्वर्य व गतिशीलता

इन्द्र॑वायू इ॒मे सु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि॥४॥

१. **इन्द्रवायू**=(इन्द्रश्च वायुश्च) इन्द्र 'जितेन्द्रिय' पुरुष है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता। ऐसा बनने के लिए ही यह वायु=सतत क्रियाशील हुआ है। जितेन्द्रिय बनकर यह क्रियाशीलता से सब बुराइयों का संहार करता है। प्रभु इनसे कहता है कि इन्द्र-वायू=हे जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुषो! **इमे सुताः**=ये सोम तुम्हारे लिए उत्पन्न किये गये हैं, इनके रक्षण से ही तुम्हें इस जीवन में उन्नति को सिद्ध करना है। २. इनका रक्षण करते हुए **प्रयोभिः**=पयस् food सात्त्विक भोजन, Pleasure, delight मनःप्रसाद, Sacrifice त्याग—सात्त्विक अन्नों के सेवन से, मनःप्रसादरूप तप के साधन से तथा त्याग की वृत्ति से **उप आगतम्**=आप मेरे समीप आओ। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम भोजन को सात्त्विक करें, मन को सदा प्रसन्न रक्खें, मन में राग-द्वेष न हो तथा लोभ के विपरीत त्याग की वृत्तिवाले बनें। ३. प्रभु कहते हैं कि **इन्दवः**=सुरक्षित हुए-हुए ये सोमकण **वाम्**=आप दोनों की—इन्द्र व वायु की **हि**=निश्चय से **उशन्ति**=कामना करते हैं अर्थात् सुरक्षित हुए-हुए ये सोमकण मनुष्य को 'इन्द्र व वायु' बनाते हैं, इन्हीं के कारण ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है, बुद्धि सूक्ष्म बनती है और हम ज्ञानरूप परमैश्वर्य से दीप्त होनेवाले 'इन्द्र' बनते हैं और इन्हीं की सुरक्षा से हमारे जीवन में रोग नहीं आ पाते और हम क्रियाशील बने रहते हैं।

भावार्थ—गत मन्त्र के अनुसार हम स्वाध्याय के द्वारा सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सुरक्षित सोम हमें ज्ञानरूप परमैश्वर्य की प्राप्ति कराता है तथा सदा गतिशील बनाये रखता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रवायू। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

उषःकालरूप धन=प्रातः जागरण

वायुविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत्॥५॥

१. पिछले मन्त्र में 'इन्द्रवायू' इस प्रकार इन्द्र का पहले व वायु का पीछे उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में 'वायो इन्द्रः च' इन शब्दों में वायु को पहले रक्खा है और इन्द्र को पीछे। यह केवल इसीलिए कि 'वायु व इन्द्र' दोनों का समान महत्त्व समझा जाए। जितना क्रियाशीलता का महत्त्व है उतना ही महत्त्व जितेन्द्रियता का भी है। साथ ही इन दोनों में कार्य-कारणभाव भी इस प्रकार है कि क्रियाशीलता जितेन्द्रियता के लिए सहायक है और जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशील होता है। शक्ति-सम्पन्न होने के कारण उसे कर्म में आनन्द आता है। हे **वायो**=क्रियाशील पुरुष! तू और **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सुतानाम्**=शरीर में उत्पन्न किये गये इन सोमों का **चेतथः**=संज्ञान प्राप्त करते हो, तुम इनके महत्त्व को समझते हो और इसीलिए इनकी रक्षा के लिए सदा सचेत रहते हो। २. इस सचेत रहने में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुम **वाजिनीवसू**=(वाजिनी=उषः—नि०) उषःकालरूप धनवाले बनते हो। इस उषःकाल में तुम सोये नहीं रह जाते। ब्रह्मचर्य के दृष्टिकोण से यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यही समय ब्राह्ममुहूर्त भी कहलाता है। यह समय प्रभु से मिलने का समय होता है, इस समय सोये रह जाना कितने महान् धन का विनाश है! यह काल तो (उष दाहे) सब बुराइयों का दहन कर देनेवाला है। इस समय जागकर उत्तम कर्मों में निवास करना, सन्ध्या-स्वाध्याय आदि में लगे रहना ही ठीक है। ३. प्रभु इन उषःकालरूप धन-वाले वायु व इन्द्र से कहते हैं कि **तौ**=वे तुम दोनों **द्रवत्**=शीघ्रता से दौड़ते हुए **उप आयतम्**=मेरे समीप आ जाओ। उषःकाल में जागनेवालों को अवश्य प्रभु-प्राप्ति होती है। प्रसंगवश ब्रह्मचर्य में यह उषःजागरण सहायक होता है और इस प्रकार इसका महत्त्व अत्यन्त बढ़ जाता है।

भावार्थ—हमें सोम की रक्षा के महत्त्व को समझना चाहिए। हम प्रातः जागरण के अभ्यासी बनें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रवायू। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पवित्र व प्रकाशमय हृदय

वायुविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्। मक्ष्वि१त्था धिया नरा॥६॥

१. गत मन्त्र के सोमरक्षण का ही प्रसंग आरम्भ करते हुए कहते हैं कि हे **वायो**=क्रियाशील पुरुष! तू **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष तुम दोनों ही **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले के अर्थात् सोमकणों की रक्षा से शरीर को 'ज्ञानयुक्त व अनामय' अर्थात् ज्ञानी व नीरोग बनानेवाले के **निष्कृतम्**=पूर्ण रूप से संस्कृत किये हुए हृदय को, उस हृदय को जिसमें से कि सब बुराइयों को निकाल दिया गया है, ऐसे शुद्ध हृदय को **उप आयातम्**=समीपता से प्राप्त करो अर्थात् प्रभु-उपासना करते हुए हृदय को 'निष्कृत' पूर्ण पवित्र बना पाओ। २. **इत्था**=सचमुच इस प्रकार ही तुम **मक्षु**=शीघ्र **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **नरा** (नृ नये)=(नेतारौ) अपने को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाले होओगे। आगे बढ़ने का मार्ग यही है कि हम (क) क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करें (वायु+इन्द्र) (ख) सोम का सम्पादन करें, सोमकणों की रक्षा करें, (ग) हृदय को संस्कृत करें, प्रकाशमय

बनाएँ, प्रसंगवश शरीर को भी नीरोग रक्खें, (घ) ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते चलें।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा सम्पूर्ण शरीर को संस्कृत करें। शरीर नीरोग हो तो मन पवित्र व प्रकाशमय बनता है। ऐसा बनकर हम ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते चलें, यही उन्नति का मार्ग है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पूतदक्ष व रिशादस

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥७॥

१. **मित्रम्**=स्नेह के देवता को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ अर्थात् मैं यह आराधना करता हूँ कि मेरे हृदय में 'मित्र' का निवास हो अर्थात् सदा स्नेह की भावना से मैं सभी के साथ प्रेम से वर्तनेवाला बनूँ। यह स्नेह की भावना वह है जोकि **पूतदक्षम्**=हमारे बलों को पवित्र करनेवाली है। स्नेह की भावना के होने पर भोजन से उत्तम रस आदि धातुओं का निर्माण होता है, इस प्रकार बल की वृद्धि होती है। २. **च**=और **वरुणम्**=द्वेष-निवारण के देवता को पुकारता हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि मेरे हृदय में किसी के प्रति द्वेष न हो। यह वरुण देवता **रिशादसम्**=(रिश हिंसक, अद्=खा जाना) हिंसकों को खा जानेवाला है अर्थात् द्वेष के न होने पर हमारा शरीर हिंसक तत्त्वों का शिकार नहीं होता। द्वेष से तो मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर जलता चला जाता है। हृदय में द्वेष की भावना की प्रबलता के समय खाया हुआ अन्न विषों को जन्म देता है, न कि रक्त आदि धातुओं को। इसी दृष्टिकोण से प्रसन्न मन से भोजन करने का महत्त्व अति स्पष्ट है। मनु लिखते हैं **'दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च'** इसी का अनुवाद इन शब्दों में किसी कवि ने किया है कि—**'अश्नीयात्तन्मना भूत्वा प्रसन्नेन मनसा सदा।'** ३. ये मित्र व वरुण अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता **घृताचीम्** (घृ=क्षरण, दीप्ति)=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त करानेवाले **धियम्**=ज्ञानपूर्वक कर्मों को **साधन्ता**=सिद्ध करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता जहाँ हमारे शरीरों को मलों के शोधन द्वारा शुद्ध व नीरोग बनाते हैं वहाँ ये दोनों देव दीप्ति के द्वारा मस्तिष्क को भी उज्ज्वल करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व द्वेषनिवारण के द्वारा हम अपने जीवनों को पवित्र व उज्ज्वल बनाएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ऋत का वर्धन

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥८॥

१. गत मन्त्र के **मित्रावरुणौ**=मित्र व वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन में **ऋतेन**=ऋत के साथ **बृहन्तं क्रतुम्**=वृद्धि के कारणभूत उत्तम कार्यों व संकल्पों को **आशाथे**=व्याप्त करते हैं। ऋत का अभिप्राय इंग्लिश के राइट (right) शब्द में आया है। 'ठीक' व ऋत वही है जो उचित स्थान में किया जाए। सो अभिप्राय यह हुआ कि स्नेह व द्वेषाभाव के होने पर हमारे में ऋत की वृद्धि होती है, हम प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर ही करते हैं और इसके साथ हमारे सब कार्य वृद्धि के कारणभूत होते हैं। २. वस्तुतः ये मित्र और वरुण देव हैं ही **ऋतावृधौ**=ऋत का सदा वर्धन करनेवाले तथा **ऋतस्पृशौ**=ऋतयुक्त कार्यों का ही स्पर्श करनेवाले। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर 'अनृत' का सम्भव ही नहीं रहता, हमारे सब कार्यों में ऋत का ही समावेश हो जाता है। अनृत कार्यों में संकुचितता है, ऋत के कार्यों में विशालता। 'अनृत' के साथ अपवित्रता व ह्रास का सम्बन्ध है तथा ऋत पवित्र व उन्नतिशील है। ऋतवाले कार्य सदा वृद्धि के कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम मित्र व वरुण की आराधना द्वारा ऋतयुक्त कार्यों को करते हुए वर्धमान हों, सदा वृद्धि को प्राप्त करते चलें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

कवि-तुविजात-उरुक्षय

कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम्॥९॥

१. मन्त्रसंख्या सात में 'मित्र व वरुण' को बलवर्धक व हिंसा का नाशक कहा था। उसी भाव को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि **मित्रावरुणा**=ये स्नेह व निर्द्वेषता **नः**=हमारे लिए **दक्षम्**=बल को तथा **अपसम्**=व्यापक व उदार कर्म को, गत मन्त्र के 'बृहत्क्रतु' को **दधाते**=धारण करते हैं। हम अपने जीवन में सदा व्यापक कर्मों को करनेवाले होते हैं जबकि हम द्वेष से ऊपर उठकर कार्य करते हैं; हमारे कर्म शक्तिशाली होते हैं जबकि वे प्रेम से प्रेरित होते हैं। मित्र-देवता वा स्नेह हम में 'दक्ष' का धारण कराता है तो 'वरुण' निर्द्वेषता हमारे कर्मों को अपस=व्यापक (अप् व्याप्तौ) बनाती है। २. ये मित्रावरुण **कवी**=क्रान्तदर्शी हैं, हमारी बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। यह सूक्ष्म बुद्धि ही तो हमें अन्ततः प्रभुदर्शन के योग्य बनाती है। ३. **तुविजाता**=('तुवि बहु, बहूनामुपकारकतया समुत्पन्नौ'—सायण) ये मित्र और वरुण तो मानो बहुतों के उपकारक के रूप में ही उत्पन्न हुए हैं अर्थात् इन दो भावनाओं के होने पर इनके कार्य अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करनेवाले होते हैं, इनके कार्य स्वार्थ के संकुचित दृष्टिकोण से न होकर परार्थ की विशाल भावना से प्रेरित होते हैं। ४. **उरुक्षया**=ये विशाल निवासवाले (क्षि निवासे) होते हैं, ये विशालता में ही निवास करते हैं, ये कभी भी संकुचित भावनाओं को अपने में उत्पन्न नहीं होने देते, परिणामतः ये विशाल गतिवाले (क्षि=गति) होते हैं, इनके कार्य उदार होते हैं।

भावार्थ—हम मित्र और वरुण की उपासना से 'कवि, तुविजात व उरुक्षय' बनें।

विशेष—इस द्वितीय सूक्त में जीव प्रभु को 'वायु' नाम से स्मरण करता हुआ प्रभु की वेदवाणी को प्राप्त करने की कामना करता है (१-३)। प्रभु जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनने के लिए कहते हैं और सोमकणों की रक्षा का ध्यान कराते हैं (४-६)। जीव अपने जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता का व्रत लेता है और बहुतों का उपकारक व उदार बनकर जीने का निश्चय करता है (७-९)।

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

द्रवत्पाणी-शुभस्पती

अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती। पुरुभुजा चनस्यतम्॥१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यज्वरीः**=मुझे यज्ञशील बनानेवाले, सात्त्विक **इषः**=अन्नों को **चनस्यतम्**=खाने की इच्छा करो। सात्त्विक अन्नों के सेवन से ही बुद्धि सात्त्विक बनेगी। सात्त्विक बुद्धि के होने पर ही हमारा जीवन यज्ञशील होगा। २. इन सात्त्विक अन्नों के सेवन से सात्त्विक होने पर ये हमारे प्राणापान **द्रवत्पाणी**=गतिशील हाथोंवाले हों अर्थात् हमारा जीवन क्रियाशील हो, अकर्मण्यता से हम दूर रहें। उस क्रियाशील जीवन में हम **शुभस्पती**=सदा शुभकर्मों के पति बनें। हमारी क्रियाशीलता शुभ कर्मों में प्रकट हो। क्रियाशीलता का अभिप्राय चपलता व दुष्टता न हो। **पुरुभुजा**=हम बहुतों का

पालन करनेवाले बनें। शुभ का अभिप्राय यही तो है कि वह कार्य अधिक-से-अधिक लोगों का पालन करनेवाला हो। 'यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा'=अधिक-से-अधिक लोगों का जिससे हित हो, वही सत्य है, वही शुभ है। ३. प्राणापान को 'अश्विना' शब्द से स्मरण इसलिए किया गया है कि ये 'न श्वः'=यह निश्चित नहीं कि ये कल भी रहेंगे, अथवा 'अश् व्याप्तौ' ये क्रिया में व्याप्त रहते हैं। इन्हीं के कारण भूख भी लगती है। सो मन्त्र में कहा है कि तुम्हें सात्त्विक अन्नों की ही कामना करनी है।

भावार्थ—हमारे प्राणापान सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें ताकि हम क्रियाशील बनें, शुभकर्म करें, बहुतों का पालन करनेवाले कार्यों को ही करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पुरुदंससा नरा

अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया। धिष्ण्या वनतं गिरः॥२॥

१. **अश्विना**=हे प्राणापानो! **पुरुदंससा**=आप पालक व पूरक (पृ पालनपूरणयोः) कर्मों के करनेवाले होओ। गत मन्त्र की भावना के अनुसार हमारे प्राणापान क्रियाशील हैं, ये क्रियाएँ बहुतों का पालन व पूरण करनेवाली हों। २. इस प्रकार पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में लगे हुए ये प्राणापान **नरा**=हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हों, हमारी उन्नति का कारण बनें। ३. ये प्राणापान **धिष्ण्या**=(बुद्धिमन्तौ—सा०) उत्तम बुद्धिवाले हों। इन प्राणापान की साधना से सोम की रक्षा होकर हमारी बुद्धि तीव्र बनती है। ४. इस प्रकार तीव्र बुद्धिवाले **शवीरया**=(गतियुक्त्या—अप्रतिहतप्रसरया) जो किसी भी विषय के ग्रहण में कुण्ठित नहीं होती ऐसी **धिया**=बुद्धि से **गिरः**=इन ज्ञान की वाणियों का **वनतम्**=सेवन करो अर्थात् हम प्राणसाधना से तीव्र बुद्धिवाले बनें और उस बुद्धि से ज्ञान की वाणियों का उपासन करें। हम बुद्धि को व्यर्थ के विचारों में प्रयुक्त करनेवाले न हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणापान 'पुरुदंसस्' हैं, ये हमें उत्तम बुद्धि-सम्पन्न बनाकर ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले बनाएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वासना-विनाश

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यातं रुद्रवर्तनी॥३॥

१. गत मन्त्र में वर्णित अश्विना को ही यहाँ **दस्रा**=नाम से स्मरण किया गया है। 'दसु उपक्षये' ये मन के काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं और शरीर के रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। २. **नासत्या**=ये असत्य से रहित हैं, सत्य का ही प्रणयन करनेवाले हैं, अर्थात् प्राणसाधना के होने पर हमारे जीवन से असत्य दूर हो जाता है। शरीर में रोग 'असत्य' हैं, मन में राग-द्वेष 'असत्य' हैं, बुद्धि में मन्दता 'असत्य' है। ये प्राणापान इस सम्पूर्ण असत्य को दूर करनेवाले हैं। ३. हे प्राणापानो! तुम्हारे द्वारा ही ये सोमकण **सुताः**=शरीर में उत्पादित किये जाते हैं। प्राणापानों से ही इनका शरीर में रक्षण होता है। रक्षित हुए-हुए ये सोम **युवाकवः** (यु मिश्रण-अमिश्रण)=हमें अशुभ से दूर करते हैं और शुभ से हमारा सम्पर्क कराते हैं। इस प्रकार **वृक्तबर्हिषः** (वृक्तानि=मूलैर्विजितानि—सा०)=ये वासनाओं की जड़ों को भी हृदयान्तरिक्ष में से उखाड़ फेंकते हैं और हृदयों को बड़ा निर्मल बना देते हैं। ४. हे प्राणापानो! इस प्रकार सोमरक्षा के द्वारा वासनाओं व रोगों से संग्राम करनेवाले **रुद्रवर्तनी** (रोदयन्ति)=शत्रुओं को

रुलानेवालों के मार्गोंवाले तुम **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ। प्राणापानों का मार्ग वह हो जोकि रुद्रों का मार्ग है। रुद्र शत्रुओं को रुलानेवाले हैं। ये प्राणापान भी हमारे वासनात्मक शत्रुओं को रुलानेवाले हैं। इनके द्वारा हमारे हृदयदेश से काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु समूल नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ=प्राणसाधना से सब वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

साक्षात्कार

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः ॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला जीवात्मा प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयाहि**=आप आइए। प्राणसाधना से वासनाओं को विनष्ट करके मैंने अपने हृदय को आपके निवास के योग्य बनाया है। २. हे **चित्रभानो**=(चित् र) ज्ञान को देनेवाली दीप्तिवाले प्रभो! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **त्वायवः**=आपकी कामनावाले हैं। ये आपके दर्शन के लिए ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर उसे दीप्त कर रहे हैं। ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के साथ **तना**=सदा **पूतासः**=पवित्रता को सिद्ध करनेवाले हैं। सोम की रक्षा से जहाँ बुद्धि सूक्ष्म बनती है वहाँ हृदय पवित्र होता है और इस प्रकार ये सोम हमें प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाते हैं। इसी को काव्यमयी भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि—ये सोम प्रभु की कामनावाले हैं। २. प्रभु को जब हम सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा अपने पवित्र हृदय में देख पाते हैं तो हम प्रकाश-ही-प्रकाश को अनुभव करते हैं। वे प्रभु 'चित्रभानु' तो हैं ही, उनकी दीप्ति भी अद्भुत है, वह शब्दों का विषय नहीं है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम सोम की रक्षा द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाएँ, हृदय को पवित्र करें और आपका दर्शन करते हुए आपके अद्भुत प्रकाश का साक्षात्कार करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

बुद्धि का सम्पादन

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः ॥५॥

१. गत मन्त्र में जीव द्वारा की गई प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **आयाहि**=तू मेरे समीप आ। २. मेरे समीप आने के लिए ही तू **धिया इषितः**=बुद्धि से प्रेरित होता है, तू सारे कार्यों को बुद्धिपूर्वक करता है अथवा बुद्धि को प्राप्त करने के हेतु से तू प्रेरित होता है, तेरी चेष्टाएँ बुद्धि को प्राप्त करने के लिए होती हैं। सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा ही तो तू ब्रह्माण्ड में मेरी महिमा को देख पाएगा। ३. **विप्रजूतः**=तू अपने ब्रह्मचर्यकाल में ज्ञानी आचार्यों से प्रेरित हुआ है (जु=प्रेरणे), वर्तमान में भी ज्ञानियों के सम्पर्क में रहने के कारण तू सदा उनसे उत्तम ज्ञान की प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। ४. तू **सुतावतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले, संयम द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले **वाघतः**=मेधावी पुरुष के ज्ञान का वहन करनेंवाले विद्वान् व्यक्ति के **ब्रह्माणि**=ज्ञानों को **उप**=समीप रहकर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हमारी प्रत्येक चेष्टा बुद्धि-प्राप्ति को लक्ष्य करके हो, (ख) हमें ज्ञानी पुरुषों से प्रेरणा मिलती रहे, तथा (ग) हम संयमी विद्वान् पुरुषों के समीप रहकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

सात्त्विक अन्न-सेवन

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! तू **तूतुजानः**=शीघ्रता करता हुआ अथवा (तुज् हिंसायाम्) सब वासनाओं की हिंसा करता हुआ **आयाहि**=मेरे समीप प्राप्त हो । वासना-विनाश ही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है । २. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले ! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा ज्ञानों के समीप रहनेवाला हो अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाला बन । यह ज्ञान ही तो वासनाओं का विनाश करेगा । ३. **सुते**=सोम की उत्पत्ति के निमित्त **नः**=हमारे दिये हुए **चनः**=इस अन्न को **दधिष्व**=तू धारण करनेवाला बन । अन्न ही तेरा भोजन हो 'व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्' इस मन्त्रवर्णन के अनुसार तू चावल, जौ, उड़द व तिल आदि का ही प्रयोग कर । मांस तेरा भोजन न बन जाए । उससे तू अपनी बुद्धि को राजस बनाकर वैषयिक वृत्तिवाला बन जाएगा तब सोमरक्षा का कार्य सम्भव न होगा । एवं तू (क) सात्त्विक भोजन कर । (ख) उससे तू सूक्ष्म बुद्धिवाला होकर ज्ञान प्राप्त करेगा । (ग) ज्ञानप्राप्ति से वासना-विनाश होकर तू प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनेगा ।

भावार्थ—हम प्रभु को प्राप्त करेंगे यदि वासना-विनाश कर पाएँगे । वासना-विनाश तभी होगा यदि हमारा ज्ञान दीप्त होगा । ज्ञान-दीप्ति के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन आवश्यक है । 'मन से वासना-संहार, मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में सात्त्विक भोजन' यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—विश्वे देवाः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

शरीर, मन व बुद्धि का स्वास्थ्य

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सात्त्विक भोजन से जीवन को सात्त्विक बनाकर यह प्रार्थना करता है कि **विश्वे देवासः**=हे सब दिव्यगुणो ! तुम **आगत**=मुझे प्राप्त होवो । ये दिव्यगुण **ओमासः**=रक्षण करनेवाले हैं, शरीर को रोगों से बचाते हैं, मन की मलिनता को दूर करते हैं और बुद्धि में मन्दता को नहीं आने देते । ये दिव्यगुण **चर्षणीधृतः**=मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं । 'चर्षणयः कर्षणयः' कृषि करनेवालों की अर्थात् श्रमशील जीवन बितानेवालों की ये रक्षा करनेवाले हैं । दिव्यगुणों का सम्बन्ध है ही श्रमशीलता के साथ । आलस्य के साथ दुर्गुण रहते हैं न कि दिव्यगुण । २. हे विश्वे देवो ! आप **दाश्वांसः** (दातारः)=सब-कुछ देनेवाले हो । आप **दाशुषः**=दाश्वान्—देने के स्वभाववाले के **सुतम्**=सोमनिष्पादनरूप यज्ञ को प्राप्त होते हो अर्थात् जब एक व्यक्ति दान की वृत्तिवाला बनकर लोभ के नाश से व्यसनवृक्ष को समाप्त करता है तो वह अपने शरीर में सोम का रक्षण कर पाता है—यह उसका 'सुतम्'=सोमनिष्पादनरूप यज्ञ होता है । इस यज्ञ में सब देव उपस्थित होते हैं, अर्थात् सोमरक्षण होने पर मनुष्य में दिव्यगुणों का विकास होता है ।

भावार्थ—दिव्यगुण हमारा रक्षण करते हैं (ओमासः) । ये श्रमशील व संयमी पुरुष को प्राप्त होते हैं (चर्षणीधृतः) । ये दिव्यगुण शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को देनेवाले हैं (दाश्वांसः) ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—विश्वे देवाः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

अनालस्य व कर्मशीलता

विश्वे देवासो अप्तुरः सुतमा गन्त तूर्णयः । उस्रा इव स्वसराणि ॥८॥

१. गत मन्त्र में वर्णित **विश्वे देवासः**=सब दिव्यगुण **सुतम्**=सोमनिष्पादनरूप यज्ञ में **आगन्त**=आते हैं अर्थात् शरीर में सोमकणों की रक्षा करने पर हममें दिव्यगुणों का विकास होता है। २. ये विश्वे देव **अप्तुरः** (अप्सु तुतुरति, तुर त्वरणे)=कर्मों को शीघ्रता से करनेवाले होते हैं अर्थात् अत्यन्त क्रियाशील होते हैं। **तूर्णयः**=त्वरावाले, आलस्य से शून्य ये देव होते हैं। वस्तुतः दिव्यगुणों का सम्भव क्रियामयता व आलस्यशून्यता में ही है। अकर्मण्यता व आलस्य सब दुर्गुणों के लिए गद्देदार आसन का काम करते हैं। यह आलस्य ही विलास के लिए उर्वराभूमि प्रमाणित होती है। ३. क्रियामयता, आलस्यशून्यता व इनके द्वारा सोम के संरक्षण होने पर सब दिव्यगुण इस प्रकार निश्चय से हमें प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे कि **उस्रा**=किरणें **स्वसराणि**=दिनों को प्राप्त होती हैं। 'दिन निकले और सूर्य-किरणें भूमि पर न पड़ें' यह सम्भव नहीं, इसी प्रकार हम 'अप्तुर, तूर्णि व सुतसम्पादक' बनें और हमें दिव्यगुण प्राप्त न हो, यह असम्भव है।

भावार्थ—दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) क्रियाशील बनें, (ख) आलस्यशून्य हों, (ग) वीर्यरक्षणरूप 'सुत' यज्ञ को करनेवाले हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अशोषण-अद्रोह

विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒स्रिध॒ एहि॑मायासो अ॒द्रुहः॑। मेधं॑ जुषन्त॒ वह्न॑यः॥९॥

१. गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से प्राप्त हुए-हुए **विश्वे देवासः**=सब दिव्यगुण **अस्रिधः**=क्षय से रहित हैं। ये मनुष्य को क्षीण न होने देनेवाले हैं अथवा शोषण से रहित हैं। ये मनुष्य में औरों के शोषण, पर अपने पोषण की वृत्ति को जन्म देनेवाले नहीं हैं। ३. **एहिमायासः** (आ ईहते इति एहिः, माया प्रज्ञा)=समन्तात् क्रियाशील प्रज्ञावाले हैं अर्थात् ये प्रज्ञा का सम्पादन करते हैं और इनकी प्रज्ञा शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से अथवा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व विश्व के दृष्टिकोण से क्रियाशील होती है। ये बुद्धिपूर्वक इस प्रकार का प्रयत्न करते हैं कि 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का स्वास्थ्य बढ़े तथा 'व्यक्ति, समाज व विश्व' सभी का कल्याण-साधन हो। ३. **अद्रुहः**=ये विश्वेदेव द्रोह की भावना से रहित होते हैं। दिव्यगुणों का यही तो मुख्य लक्षण है कि वहाँ किसी के प्रति द्रोह की भावना नहीं, किसी की जिघांसा नहीं, सबके कल्याण की भावना ही वहाँ काम करती है। ४. ये दिव्यगुण **वह्नयः** (वोढारः)=कार्यभार का वहन करनेवाले होते हैं। अपने कर्तव्य कर्मों के भार को सहर्ष स्वीकार करते हैं और उन कर्मों को सफलता तक पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। ५. **मेधम्**=(मेधृ संगमे) अपने कार्यों में संगमन की भावना का **जुषन्त**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। 'संगच्छध्वम्' प्रभु के इस निर्देश को सम्यक्तया जीवन में क्रियान्वित करते हैं। 'येन देवा न वियन्ति'=देवलोग तो विरुद्ध दिशाओं में चला ही नहीं करते, वे तो मिलकर ही चलते हैं। वस्तुतः इस मेल व ऐक्य के कारण ही वे मृत्यु को जीतनेवाले होते हैं। इनसे विपरीत वृत्तिवाले असुर 'मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्'=एक-दूसरे के कार्य को विहत (नष्ट) करते हुए मृत्यु के मार्ग का अनुक्रमण करते हैं।

भावार्थ – देवताओं में हिंसा व द्रोह नहीं होते। ये मिलकर चलते हैं। कार्यों को समाप्ति तक ले-जानेवाले होते हैं। इनकी प्रज्ञा व्यापक, उन्नतिवाले कर्मों को सिद्ध करती है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सरस्वती। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सरस्वती की आराधना का फल

पा॒व॒का नः॒ सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती। य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः॥१०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हममें दिव्यगुणों का विकास हो इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्यायशील बनकर सरस्वती=ज्ञानाधिदेवता की आराधना करें, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नः**=हमारे लिए **पावका**=पवित्रता को देनेवाली हो। इस सरस्वती की आराधना से, नैत्यिक स्वाध्याय से हमारा जीवन पवित्र हो। (**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**=ज्ञान ही अनुपम पवित्रता का सम्पादन करनेवाला है।) सारी मलिनता अज्ञानजन्य है, अतएव अज्ञान ही सारे क्लेशों का क्षेत्र है। वस्तुतः अज्ञान ही क्लेश है और ज्ञान ही सुख व स्वर्ग है। २. यह ज्ञान पवित्रता के सम्पादन से जहाँ पारलौकिक निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन बनता है वहाँ यह सरस्वती **वाजेभिर्वाजिनीवती** (अन्नैरन्नवती—यास्क)=अन्नों से अन्नवाली है अर्थात् प्रशस्त अन्नों को प्राप्त करानेवाली है। इसलिए लौकिक दृष्टिकोण से यह अभ्युदय की साधिका है। इस सरस्वती की आराधना से मनुष्य उन सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करनेवाला होता है जोकि उसे शक्तिशाली बनाते हैं, त्याग की भावनावाला बनाते हैं (वाज=शक्ति, त्याग)। ३. इस सरस्वती की आराधना करनेवाला **धियावसुः**=(कर्मवसुः निरु०) ज्ञानपूर्वक कर्मों से धन का सम्पादन करनेवाला व्यक्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे अर्थात् (क) स्वाध्यायशील पुरुष ज्ञानी तो बनता ही है, (ख) वह ज्ञान को प्राप्त करके प्रत्येक कर्म को प्रज्ञापूर्वककरता है, (ग) इन कर्मों के द्वारा ही वह धन कमाने का ध्यान करता है, और (घ) धनार्जन करके वह यज्ञों की ही कामनावाला होता है, उस धन का विनियोग यज्ञों में ही करता है, विलास की वृत्तिवाला नहीं बन जाता।

भावार्थ—स्वाध्याय मनुष्य को पवित्र बनाता है, उत्तम धनों को प्राप्त कराता है। यह स्वाध्यायशील पुरुष प्रज्ञापूर्वक कर्मों से धनार्जन करके उस धन का यज्ञों में विनियोग करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सरस्वती। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सूनृत-सुमति-यज्ञ

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥११॥

१. गत मन्त्र में वर्णित सरस्वती की आराधना **सूनृतानाम्** (सु ऊन् ऋत)=उत्तम, दुःख का परिहाण करनेवाली, सत्यवाणियों की **चोदयित्री**=प्रेरिका है अर्थात् स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति ऐसी ही वाणी बोलता है जोकि शोभन होती है, दूसरों के दुःखों को दूर करनेवाली होती है तथा यथार्थ होती है। २. यह **सरस्वती**=ज्ञान का निरूपण करनेवाली वेदवाणी **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, विचारों को **चेतन्ती**=चेतानेवाली होती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति के मस्तिष्क में कभी कुमति व कुविचार नहीं उपजते; उसे ऐसे विचार सूझते ही नहीं। ३. सरस्वती=यह ज्ञानाधिदेवता अपने उपासक के अन्दर **यज्ञं दधे**=यज्ञ को धारण करती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति कभी अयज्ञिय कर्मों को नहीं करता।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक मुख से सूनृत वाणी को ही बोलता है, मस्तिष्क में कुविचारों को नहीं आने देता, हाथों को यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में लगाये रखता है। एवं यह सरस्वती आराधक की 'वाणी, मस्तिष्क व हाथ' सभी को पवित्र बनाती है। इससे आराधक के विचार, उच्चार व आचार सभी पवित्र बनते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सरस्वती। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान का महान् समुद्र

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥१२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आराधक के 'विचार, उच्चार व आचार' को पवित्र करनेवाली यह

सरस्वती=ज्ञानाधिदेवता **महो अर्णः**=एक महान् जल है। ज्ञान-प्रवाह से बहने के कारण जलरूप है। यह सरस्वती ज्ञान का समुद्र ही है। २. यह सरस्वती **केतुना**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **प्रचेतयति**=आराधक को प्रकृष्ट चेतना प्राप्त कराती है, उसके हृदयान्तरिक्ष को ज्ञान के प्रकाश से उद्द्योतित कर देती है। ३. यह **सरस्वती**=वेदवाणी **विश्वा धियः**=सम्पूर्ण ज्ञानों को **विराजति**=विशेषरूप से दीप्त करती है अर्थात् यह सब सत्यविद्याओं का आगार है, ज्ञानों का कोश है। प्रभु ने मानव-उन्नति के लिए आवश्यक प्रत्येक सत्यज्ञान का इसमें प्रकाश किया है। उस पूर्ण प्रभु का दिया हुआ यह ज्ञान सचमुच पूर्ण ही है। इस महान् ज्ञान-समुद्र में तैरनेवाला पुरुष एक अद्भुत आनन्द को प्राप्त करता है। संसार के सभी आनन्दों में इस आनन्द का स्थान सर्वोच्च है।

भावार्थ—वेदवाणी ज्ञान का समुद्र है, सब सत्य-विद्याओं का मूल है। यह अपने प्रकाश से आराधक के हृदय को प्रकृष्ट चेतना प्राप्त कराती है।

विशेष—इस तृतीय सूक्त का आरम्भ द्वितीय सूक्त की समाप्ति पर वर्णित 'मित्रावरुण' की ही आराधना से होता है। 'मित्रावरुण' यह प्राणापान का भी नाम है। प्राणशक्ति मित्र है तो अपान वरुण है। प्राणशक्ति के होने पर मनुष्य मित्रता व स्नेह की वृत्तिवाला होता है। अपान के ठीक कार्य करने पर द्वेष भी मनुष्य से दूर रहता है। कोष्ठबद्धता की वृत्तिवाले ईर्ष्यालु, द्वेषी व चिड़चिड़े होते हैं। प्राणापान की साधना से मनुष्य शुभ वृत्तिवाला बनता है (१)। इस साधना से अशुभ वासनाएँ दूर होती हैं (३)। इनको दूर करके मनुष्य प्रभु के साक्षात्कार के योग्य होता है (४)। उसके अन्दर उत्तरोत्तर दिव्यगुणों की वृद्धि होती है (७)। इन दिव्यगुणों के विकास के लिए ही वह सरस्वती की आराधना करता है, ज्ञान का पुजारी बनता है (१०)। यह सरस्वती की आराधना, ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु की उपासना उसे 'सुरूप' बनाती है—इस वर्णन से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[अथ द्वितीयोऽनुवाकः] [४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सुरूपकृत्नु का आह्वान

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥१॥

१. गत सूक्त की समाप्ति पर सरस्वती व ज्ञान-समुद्र का उल्लेख था। उस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले 'इन्द्र' (इदि परमैश्वर्ये) की आराधना करते हुए कहते हैं कि उस **सुरूपकृत्नुम्**=ज्ञान के द्वारा उत्तम रूप के निर्माण करनेवाले प्रभु को **द्यविद्यवि**=प्रतिदिन **जुहूमसि**=पुकारते हैं। उस प्रभु की प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं जो प्रभु कि हमारी वाणी को सूनृतवचनों का उच्चारण करनेवाली बनाकर 'सुरूप' बना देते हैं। जो प्रभु हमारे मस्तिष्कों व मनों को सुमतियों, सुविचारों का चिन्तन करनेवाला बनाकर वस्तुतः सुरूप कर देते हैं और जो प्रभु हमारे हाथों से सदा यज्ञों का सम्पादन कराते हुए उन्हें भी अत्यन्त 'सुरूपता' प्रदान करते हैं। २. हम उस 'सुरूपकृत्नु' प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए पुकारते हैं। ये प्रभु हमें क्रोध से बचाकर कड़वी वाणी के बोलने से बचाते हैं, ये प्रभु हमें काम-वासनाओं से बचाकर सदा सुविचारवाला बनाते हैं और ये प्रभु हमें लोभ से बचाकर यज्ञियवृत्तिवाला बनाते हैं। ३. इस काम, क्रोध व लोभ से रक्षा करनेवाले प्रभु को हम इस प्रकार पुकारते हैं **इव**=जैसे कि **गोदुहे**=एक ग्वाले के लिए, गोदोहन करनेवाले के लिए **सुदुघाम्**=उत्तमता से दोहन करने योग्य गौ को लाते हैं। जैसे गौ उस गोधुक् के लिए उत्तम

दुग्ध का प्रपूरण करती है उसी प्रकार यह प्रभु भी आराधक के लिए उत्तम ज्ञान का पूरण करते हैं। दूध जैसे शरीर का पोषण करता है उसी प्रकार यह ज्ञान आत्मा (आध्यात्मिकता) का पोषण करता है।

भावार्थ—उस सुरूपकृत्नु प्रभु की हम प्रतिदिन आराधना करें ताकि हमारी वाणी, मस्तिष्क, मन व हाथ सभी सुन्दर बनें। हमारी वाणी में क्रोध की झलक न हो, मन में काम का राज्य न हो और हाथ लोभ से असत्कार्यों में प्रवृत्त न हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

दया-दमन-दान

उप॑ नः॒ सव॒ना ग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब । गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ॥२॥

१. गत मन्त्र में मधुच्छन्दाः=अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाले भक्त की पुकार को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारे **सवना**=यज्ञों को **उप**=समीपता से **आगहि**=प्राप्त हो। वेद में प्रतिपादित यज्ञात्मक कर्मों का तू करनेवाला बन। यही तेरे द्वारा मेरी सच्ची आराधना होगी। २. हे **सोमपाः**=सोम का पान करनेवाले ! सोमकणों को शरीर में सुरक्षित रखनेवाले जीव ! तू **सोमस्य**=इस सोम का **पिब**=पान कर। वस्तुतः सबसे बड़ा यज्ञ तो है ही यह कि हम इन सोमकणों की ज्ञानाग्नि में आहुति दें। ये सोमकण ज्ञानाग्नि को प्रचण्ड बनानेवाले हों। ३. प्रभु कहते हैं कि—हे मधुच्छन्दः ! तू इस बात को न भूलना कि **रेवतः**=धनवाले का **मदः**=हर्ष **इत्**=निश्चय से **गोदाः**=गौ आदि धनों के देने में ही है अर्थात् दान में ही धनवान् का वास्तविक आनन्द निहित है। ४. एवं प्रभु के आराधक के लिए तीन निर्देश हैं—(क) वह यज्ञात्मक कर्मों में लगा रहकर क्रोध से ऊपर उठे, (ख) सोमपान को ध्येय बनाकर काम से ऊपर उठकर संयमी जीवनवाला हो, तथा (ग) लोभ से ऊपर उठे और दान में ही आनन्द को जाने। क्रोध से ऊपर उठना ही 'दया' है, काम से ऊपर उठना 'दमन' है और लोभ से ऊपर उठना ही 'दान' है। ये ही तीन निर्देश प्रजापति ने असुरों, मनुष्यों व देवों को दिये थे। ये ही उपनिषद् के तीन 'द' हैं—'दया, दमन तथा दान'।

भावार्थ—हम यज्ञात्मक जीवनवाले हों, सोमपान करें, दान में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराड्गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

आचार्य व अन्तेवासी

अथा॑ ते॒ अन्त॑मानां वि॒द्याम॑ सुम॒तीना॑म् । मा नो॒ अति॑ ख्य॒ आ ग॑हि ॥३॥

१. प्रभु के उपरितन निर्देशों को सुनकर उनको पाल सकने के लिए शान्ति की याचना करता हुआ जीव प्रार्थना करता है कि **अथा**=अब इस सोम का पान करने की कामनेवाले हम साधक **ते**=आपकी **अन्तमानाम्**=अन्तिकतम, अत्यन्त समीप वर्तमान अर्थात् आपके हमारे हृदयों में ही स्थित होने के कारण अधिक-से-अधिक समीप विद्यमान **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, ज्ञानों व विचारों का **विद्याम**=हम ज्ञान प्राप्त करें। हृदयस्थ आपसे दिये जा रहे ज्ञान के प्रकाशों को हम देखें अर्थात् अपने ही अन्दर विद्यमान आपके ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करने के लिए हम सदा प्रयत्नशील हों। यही प्रयत्न पूर्वमन्त्र में 'यज्ञ, सोमपान व दान' से संकेतित हुआ है। हम यज्ञशील होंगे, वीर्य की रक्षा के लिए संयमी जीवनवाले बनेंगे और यज्ञवृत्ति को अपनाकर लोभ से ऊपर उठेंगे तो अन्तःस्थित आपके प्रकाश को क्यों न देखेंगे ? २. हे प्रभो ! आप **नः**=हमें **अति**=लाँघकर दूसरों को ही **मा ख्यः**=ज्ञान देनेवाले न हों अर्थात् हम आपके इस ज्ञान-दान के अयोग्य न समझे जाएँ। हम सर्वप्रथम आपसे ज्ञान को प्राप्त करें। ३. **आगहि**=आप हमें अवश्य प्राप्त होओ। हम सदा प्रभु से ज्ञानप्राप्ति के अभिलाषी बने रहेंगे, तभी हमें प्रभु-सम्पर्क सुलभ

रहेगा। प्रभु का मेल और किस कार्य के लिए होगा ? प्रभु आचार्य होंगे, मैं उनका विद्यार्थी होऊँगा, तभी यह सुमतियों का लाभ हो पाएगा और हम उस प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान से वञ्चित न होंगे।

भावार्थ—प्रभु आचार्य हों, मैं उनका विद्यार्थी=अन्तेवासी बनकर सुमति का लाभ करूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

'विप्र व अस्तृत' विपश्चित्

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम्॥४॥

१. गत मन्त्र में ज्ञान देने की प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **परेहि** (परा इहि)=विषयों व सांसारिक कामों से दूर होकर तू **विप्रम्**=मेधावी **अस्तृतम्**=काम-क्रोधादि से अहिंसित पुरुष को प्राप्त हो अर्थात् एक ज्ञानी-संयमी पुरुष के समीप पहुँचकर तू ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न कर। २. इस **विपश्चितम्** (वि-पश्-चित्)=प्रकृति के सौन्दर्य को बारीकी से देखकर प्रभु की महिमा के चिन्तन करनेवाले ज्ञानी पुरुष से **इन्द्रम्**=परमात्मा विषय में **पृच्छा**=ज्ञान प्राप्त करने की कामना कर। ३. उस विपश्चित् से तू प्रश्न कर **यः**=जो **ते**=तेरे लिए तथा तेरे सब **सखिभ्यः**=समान ज्ञानप्राप्ति की कामनावाले मित्रों के लिए **वरम्**=इस वरणीय श्रेष्ठ ज्ञान-धन को **आ** (नयति)=प्राप्त कराता है, आचार्य विद्यार्थी का उपनयन करता है और उसके लिए ज्ञान का आनयन (प्रापण) करता है।

भावार्थ—हम विषयों से ऊपर उठें और वर (ज्ञानोत्कृष्ट) पुरुषों के समीप पहुँचकर ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः षड्जः॥

व्यर्थ के कार्यों से दूर

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद् दुवः॥५॥

१. गत मन्त्र के उपदेश के अनुसार हम ज्ञानी-संयमी पुरुषों के समीप पहुँचकर ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तो प्रयत्न करें ही **उत्**=और इसके साथ ही हम **विदः**=निन्दाओं को (भावे क्विप्) **नो ब्रुवन्तु**=न बोलें। हमारे मुखों से कभी निन्दात्मक शब्दों का उच्चारण न हो, वेदों के 'सूक्ता ब्रूहि' इस उपदेश का पालन करते हुए हम भद्र ही शब्द बोलें। 'ऋचं प्रपद्ये'—'मैं सूक्तात्मक स्तुतिरूप काव्यों को ही बोलता हूँ' यह हमारा व्रत हो। २. प्रभु कहते हैं कि **अन्यतः**=दूसरे कामों से अर्थात् अनावश्यक, अनुपयोगी कार्यों से **चित्**=निश्चयपूर्वक **निः आरत**=बाहर गति करनेवाले होवो अर्थात् ताश खेलते रहना या गपशप मारते रहना आदि कार्यों से निश्चयपूर्वक बचो। २. जब भी कभी अवकाश हो अर्थात् घर के कार्यों को हम कर चुके हों, स्वाध्याय से श्रान्त हो गये हों तो हम **इत्**=निश्चयपूर्वक **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **दुवः**=परिचर्या को **दधानाः**=धारण करनेवाले हों, प्रभु चिन्तन करनेवाले हों।

भावार्थ—(क) हम कभी इधर-उधर निन्दा न करते फिरें, (ख) व्यर्थ के कार्यों से दूर रहने का ध्यान करें और अवकाश के क्षणों में सदा प्रभु की परिचर्या करनेवाले बनें, प्रभु का ही नाम जपें, उसी के अर्थ का भावन (चिन्तन) करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सुभग कृष्टि (A Fortunate Labourer)

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥६॥

१. हे **दस्म**=शत्रुओं के क्षय करनेवाले प्रभो ! आपकी कृपा से हमारा जीवन गत मन्त्र के अनुसार इस प्रकार भद्रता को लिये हुए हो कि **अरिः**=शत्रु भी **नः**=हमें **सुभगान्**=उत्तम भाग्यशाली अथवा उत्तम ज्ञानादि-धनसम्पन्न **वोचेयुः**=कहें। हमारी भद्रता उनके हृदयों को भी प्रभावित करे। [**'गुणैर्हि सर्वत्र पदं निधीयते'** के अनुसार हममें गुण होंगे तो शत्रु-हृदयों में वे क्यों प्रभाव को पैदा न करेंगे ?] २. **उत**=और **कृष्टयः**=कर्षणशील, श्रमशील बनकर हम **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **शर्मणि**=सुख में—आनन्द में **इत्**=निश्चय से **स्याम**=निवास करनेवाले हों। प्रभु की ओर से आनन्द का लाभ उन्हें ही होता है जोकि श्रमशील बनते हैं। अकर्मण्यता के साथ आनन्द का सम्बन्ध नहीं है। ३. यहाँ मन्त्र में 'दस्म' शब्द शत्रुओं के नाशक का वाचक होकर स्पष्टतया यह संकेत कर रहा है कि प्रभु-कृपा से हमारे काम-क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जाएँ और हम सुन्दर जीवनवाले बनकर सचमुच सौभाग्यशाली बन जाएँ।

भावार्थ—हम क्रोधादि से दूर होकर भद्र जीवन बिताते हुए शत्रुओं से भी भाग्यशाली समझे जाएँ तथा श्रमशील बनकर प्रभु के आनन्द में भागी हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सोम-भरण

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मन्दयत् सखम् ॥७॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु के आनन्द में हम हों' इस भाव से हुई थी। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आशवे** (अशूङ् व्याप्तौ)=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ईम्**=निश्चय से **आशुम्**=सम्पूर्ण रुधिर में, दही में घृत की तरह तथा तिलों में तेल की तरह व्याप्त होनेवाले इस सोम को—वीर्य को **आभर**=सब प्रकार से अपने में धारण करने का प्रयत्न कर। २. **यज्ञश्रियम्**=यह सोम (**'पुरुषो वाव यज्ञः'**) इस यज्ञरूप पुरुष की श्री का कारण है, इसी के कारण शरीर की सारी शोभा है। ३. **नृमादनम्**=यह उन्नतिशील नरों को आनन्दित करनेवाला है अर्थात् इसके शरीर में व्याप्त होने पर मनुष्य सब क्षेत्रों में उन्नति कर पाता है और आनन्दमय मनोवृत्तिवाला बना रहता है, चिड़चिड़े स्वभाव का नहीं होता। ४. **पतयत्** (पतयन्तम्—कर्मणि व्याप्नुवन्तम्—सा०)=सोम के शरीर में व्याप्त होने पर मनुष्य क्रियाशील होता है, सोम की रक्षा ही पुरुष को कर्मशूर बनाती है। ५. **मन्दयत् सखम्**=उस आनन्दित करनेवाले प्रभु में यह सोम सखिभूत है अर्थात् परमात्मप्राप्ति का यह प्रमुख साधन बनता है और प्रभु-प्राप्ति द्वारा अद्भुत आनन्द को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—सोम शरीर में व्याप्त होता है तो प्रभुप्राप्ति का साधन बनता है, यज्ञरूप पुरुष की शोभा का कारण होता है, उन्नति का साधन होते हुए आनन्दित करता है। यह सोम मनुष्य को कर्मशूर बनाता है और आनन्दित करनेवाले प्रभु का सखिभूत है।

सूचना—'यज्ञश्रियम्' यह विशेषण इस बात की सूचना दे रहा है कि सोम की रक्षा करने पर मनुष्य का जीवन यज्ञमय होता है, ये यज्ञ उसके जीवन की शोभा का कारण बनते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वृत्र-हनन

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥८॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो ! आप **अस्य पीत्वा**=इस सोम को रक्षा करके

वृत्राणाम्=ज्ञान पर आवरणरूप कामादि के **घनः**=मारनेवाले **अभवः**=होते हो। हम प्रभु का नामस्मरण करते हैं और उस नामस्मरण से कामादि वासनाओं का विनाश होता है। इस प्रकार प्रभु इस सोम की रक्षा व पान करानेवाले होते हैं। सोम की रक्षा होने पर मनुष्य क्रोधादि का शिकार नहीं होता एवं सोम वृत्रों के विनाश का साधन बनता है। २. हे प्रभो! आप **वाजेषु** (वाज—युद्ध)=इन वासनासंग्रामों में **वाजिनम्**=(वाज=अन्न) प्रशस्त अन्नवाले को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो। जब एक मनुष्य सात्त्विक अन्न का सेवन करता है तो उसकी बुद्धि व मन भी सात्त्विक बनते हैं। यह पुरुष (वाजिन्) कहलाता है। इस 'वाजिन्' की संग्राम में अवश्य विजय होती है। 'वाजिनम्' का अर्थ 'बलवान् को' भी है। 'सोमपान से वृत्रविनाश' 'वृत्रविनाश से वाजी बनना' तथा 'वाजी का संग्राम में विजय' यह क्रम मन्त्र में प्रतिपादित है। बलवान् की विजय होती है, प्रभु इसकी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-नामस्मरण से हम वासनाओं से ऊपर उठते हैं, शरीर में सोम का व्यापन कर पाते हैं और शक्तिशाली बनकर संग्रामों में प्रभु-द्वारा रक्षित होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः—छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

धन-संभजन

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये॥९॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व कर्मवाले प्रभो! **वाजेषु**=काम-क्रोधादि के साथ संग्रामों में **वाजिनम्**=प्रशस्त शक्ति को देनेवाले **तं त्वा**=उस आपको हम **वाजयामः**=अर्चित करते हैं (वाजयति=अर्चति—निरु०)। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति इस अध्यात्म-संग्राम में प्रभु के उपासन से ही शक्ति को प्राप्त करता है; जीव स्वयं इन प्रबल शत्रुओं को जीत नहीं सकता। (**'त्वया स्विद् युजा वयम्'** प्रभुरूप मित्र के साथ ही हम इनको जीत पाते हैं)। २. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! इन कामादि शत्रुओं को जीतकर **धनानां सातये**=धनों की प्राप्ति के लिए भी हम आपकी ही अर्चना करते हैं। आपने ही हमें वे सब वस्तुएँ प्राप्त करानी हैं जिनसे कि मनुष्य धन्य बनता है। 'शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' ये सब प्रभु-कृपा से ही हमें प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें अध्यात्मसंग्रामों में विजयी बनाते हैं और धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

कार्य-पारण

यो रायो३वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत॥१०॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर धन-साति (प्राप्ति) के लिए प्रभु-अर्चना का उल्लेख है। उसी भाव से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **यः**=जो **रायः**=धनों का **अवनिः**=रक्षक व स्वामी अथवा धन के (अव=भागदुघ) उचित भाग का सबके लिए पूरण करनेवाला है **तस्मा इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **गायत**=गान करो, उसका अर्चन करो। २. वे प्रभु **महान्** (मह पूजायाम्)=सभी से पूजा के योग्य हैं, **सुपारः**=सुगमता से कार्यों को पार लगानेवाले हैं अर्थात् सब कार्यों में सफलता वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। ३. **सुन्वतः**=यज्ञशील पुरुष के **सखा**=वे मित्र हैं अथवा सोमसम्पादन करनेवाले के, वीर्य का शरीर में ही संयम करनेवाले के वे प्रभु मित्र हैं। प्रभु की प्राप्ति उन्हीं को होती है जो शरीर में सोम की रक्षा करते हैं और यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—धन को देनेवाले वे प्रभु ही हैं, अतः उन्हीं का गायन करना चाहिए।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ सुरूपकृत्नु प्रभु की प्रार्थना से हुआ है। १. उसके लिए प्रभु ने कुछ बातें कही हैं—(क) यज्ञों के करनेवाले बनो, (ख) सोम की रक्षा करो, (ग) दान देने में आनन्द का अनुभव करो। २. (घ) ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करो, ४. (ङ) निन्दा मत करो, (च) व्यर्थ के कामों से वचो, (छ) प्रभु की परिचर्या करो, क्योंकि (५) वे प्रभु ही महान्, सुपार व यज्ञशीलों के सखा हैं। अव उस प्रभु के सम्मिलित गान के लिए निर्देश करते हुए कहते हैं कि—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सामूहिक कीर्तन (Congregational Prayers)

आ त्वेता नि षींदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखायः स्तोमवाहसः॥१॥

१. हे **स्तोमवाहसः**=प्रभु के स्तोमों को धारण करनेवाले **सखायः**=मित्रो! **आ तु एताः**=आप निश्चय से आइए तो, और आकर **निषीदत**=अपने-अपने आसनों पर (नि) नम्रता से बैठिए और **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभिप्रगायत्**=गायन करिए। मन में तथा वाणी से भी उस प्रभु के नाम का ही जप करिए। २. 'स्तोमवाहसः' शब्द प्रभु के स्तवनों को अपनी क्रियाओं में अनूदित (to carry out) करनेवालों का संकेत कर रहा है। ये दयालु शब्द से प्रभु का स्मरण करते हैं और दयालु वनने का प्रयत्न करते हैं। 'सखायः' शब्द इनके तुल्य विचारवाला होने का उल्लेख कर रहा है। ऐसे ही व्यक्ति मिलके आसनों पर बैठकर प्रभु का गायन करते हैं। यह प्रभुगायन मनुष्य के जीवन को दीप्त करनेवाला होता है। इनकी मित्रता का मूल सम्मिलित प्रभु-स्तवन होता है। यह कितना सुन्दर आधार है! प्रभु-गायन का सबसे महान् परिणाम तो यही है कि हम अपनी सब सफलताओं में प्रभु का हाथ देखें, सव कार्यों को प्रभु की शक्ति से होते हुए अनुभव करें और विजय के अभिमान में फूल न जाएँ।

भावार्थ—हम प्रतिदिन सम्मिलित होकर प्रभु-गुणगान करने के शीलवाले हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्च्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

पालकों का पालक

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते॥२॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार एकत्र होकर प्रभु-गायन करते हुए उपासक कहते हैं कि **पुरूणाम्** (पॄ पालनपूरणयोः)=पालकों में **पुरूतमम्**=सर्वाधिक उस पालक प्रभु का हम गायन करते हैं जो प्रभु 'पुरूतम'=(पुरून् बहून् शत्रून्) तमयति ग्लापयति हमारे काम-क्रोधादि शतशः शत्रुओं को क्षीण करते हैं। २. और वस्तुतः इन शत्रुओं को क्षीण करके ही तो प्रभु वरणीय धनों को हमें प्राप्त कराते हैं। ३. हम उस **वार्याणाम्**=वरणीय धनों के **ईशानम्**=स्वामी का कीर्तन करते हैं जो प्रभु **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, सव शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। ४. उस प्रभु का वस्तुतः स्तवन तो **सोमे सुते**=सोम का अभिषव करने पर **सचा**=उस प्रभु से मेल होने पर ही होता है। हम शरीर में सोम का सम्पादन करें, उस सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाले बनें। तब यह सोम उस प्रभु से हमारा मेल करानेवाला होगा और यही प्रभु का सच्चा स्तवन होगा। 'इस सोम से उस सोम को प्राप्त करना' जीवन की यही सर्वमहान् सफलता है।

भावार्थ—(क) वह प्रभु पालकों में सर्वोत्तम पालक हैं। (ख) वरणीय वस्तुओं के ईशान हैं। (ग) उस प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम सोम के रक्षण से बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धन व अन्नादि के दाता

स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः ॥३॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को 'वरणीय वस्तुओं का ईशान' कहा है। उसी का विस्तार (स्पष्टीकरण) करते हुए कहते हैं कि **सः**=वे प्रभु ही **घा**=निश्चय से **नः**=हमारे **योगे**=अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के विषय (सम्बन्ध) में **आभुवत्**=साधक होते हैं। प्रभु-कृपा से ही हमें सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं। 'अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति' योग है। इस योग में प्रभु ही हमारे सहायक होते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **राये**=धन के लिए **आभुवत्**=सहायक होते हैं। सब धनों का विजय करनेवाले वे प्रभु ही हैं। ३. **सः**=वे प्रभु ही **पुरन्ध्याम्** (बहुविधायां बुद्धौ—सा०)=पालन व पूरण करनेवाली बहुविध बुद्धि की प्राप्ति में भी **वाजेभिः**=उत्तम सात्त्विक अन्नों के साथ **आगमत्**=प्राप्त होते हैं। इन अन्नों के सेवन से हमारी बुद्धि भी सात्त्विक बनती है। इस सात्त्विक बुद्धि के होने पर हमें धनों की प्राप्ति अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति में कभी गर्व नहीं होता, हम इन्हें उस प्रभु का वरदान ही जानते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'योग-धन-पुरन्धि व वाजों' को हमें प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अध्यात्म-संग्राम में विजय का उपाय

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत ॥४॥

१. जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं और प्रभु हमारे हृदयों में स्थित होते हैं तो काम-क्रोधादि हमपर आक्रमण नहीं करते। मन्त्र में कहते हैं कि **यस्य**=जिसके **संस्थे**=हृदय-देश में स्थित होने पर **शत्रवः**=काम-क्रोधादि शत्रु **समत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **न**=नहीं **वृण्वते**=आक्रमण के लिए चुनते अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों पर क्रोधादि आक्रमण नहीं करते **तस्मा इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **गायत**=मिलकर गान करो। २. प्रभु का गायन जहाँ भी होता है वहाँ काम-क्रोधादि का प्रवेश नहीं होता। प्रभु-स्मरण कामादि रोगों का सर्वोत्तम औषध है। यह शरीर में से व्याधियों को दूर करता है तो मन को आधियों से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु का गायन करने से अध्यात्म-संग्राम में कामादि शत्रु हमारी इन्द्रियों पर आक्रमण नहीं कर पाते एवं प्रभु-स्मरण ही आध्यात्म-संग्राम में हमें विजयी बनाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

शुचि-दीप्त व नैरोग्य

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये। सोमासो दध्याशिरः ॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब इन्द्रियों पर वासनाओं का आक्रमण न होगा तो हम सोम की रक्षा कर पाएँगे। **इमे सुताः**=ये उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **सुतपाव्ने**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों की रक्षा करनेवाले के लिए और इन सोमकणों को अपने शरीर में ही व्याप्त करनेवाले के लिए (पी लेनेवाले के लिए) **शुचयः**=पवित्रता को करनेवाले होते हैं। ये हमारे जीवनों को पवित्र वृत्तिवाला बनाते हैं। हम

संसार में अपवित्र साधनों से धनादि अर्जन करनेवाले नहीं बनते। टेढ़े-मेढ़े साधनों के प्रयोग की ओर हमारा झुकाव ही नहीं होता। असंयम के साथ आर्थिक अपवित्रता बढ़ती है। २. ये सोम **वीतये** (वी to shine)=चमकने के लिए, प्रकाश के लिए **यन्ति**=हमें प्राप्त होते हैं। इनकी रक्षा के द्वारा हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ३. **सोमासः**=ये सोम **दध्याशिरः** (धत्ते इति दधि, आश्रृणाति)=हमारे शरीरों का धारण करनेवाले होते हैं और शरीर में होनेवाले दोषों को अंग-प्रत्यंग से (आ=समन्तात्) नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार ये सोम जहाँ मन में अपवित्र भावनाओं को नहीं आने देते वहाँ मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और शरीरों को स्वस्थ बनाते हैं।

भावार्थ—हम सुतपावा बनें—उत्पन्न सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले बनें। इससे हमारे मन शुद्ध होंगे, मस्तिष्क शान्त व कान्त=ज्ञानदीप्त बनेंगे और शरीर बलसम्पन्न व दोषशून्य होंगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वृद्धि व ज्येष्ठता

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः। इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो॥६॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही पुष्ट करते हुए कहते हैं—हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्म-संकल्प व ज्ञानवाले जीव! **त्वम्**=तू **सुतस्य**=इस उत्पन्न सोम की **पीतये**=रक्षा के लिए हो अर्थात् सोम की रक्षा का तू दृढ़ निश्चय कर। २. इससे तू **सद्यः**=शीघ्र ही **वृद्धः**=सब शक्तियों के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ **अजायथाः**=होगा। तेरे शरीर, मन व बुद्धि सभी विकसित शक्तियोंवाले होंगे। शरीर बलवान् व नीरोग बनेगा, मन पवित्र व निश्चल होगा तथा बुद्धि सूक्ष्म व दीप्त होगी। ३. हे **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले और अतएव तीनों कालों में—बाल्य, यौवन व स्थविर भाव में—सोम का पान करनेवाले (शरीर में वीर्य की रक्षा करनेवाले) जीव! तू **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के लिए होगा अर्थात् ब्राह्मण बनकर ज्ञान से ज्येष्ठ बनेगा, क्षत्रिय बनकर बल से बढ़ा हुआ होगा और वैश्य के रूप में धन-धान्य से समृद्धि को प्राप्त करेगा। सब प्रकार की ज्येष्ठता का मूल यह सोम ही है, सो इसका तू पान व रक्षण करनेवाला बन।

भावार्थ—सोम की शरीर में ही रक्षा हमारी वृद्धि व ज्येष्ठता का मल है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रकृष्ट चेतना

आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः। शं ते सन्तु प्रचेतसे॥७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष, आसुरी वृत्तियों का संहार करनेवाले पुरुष! **सोमासः**=ये सोमकण **त्वा आविशन्तु**=तुझमें सर्वथा समन्तात् प्रवेश करें, ये तेरे शरीर में व्याप्त हो जाएँ। २. ये सोमकण **आशवः** (अश्नुवते)=तुझे सदा कर्मों में व्याप्त करनेवाले हैं। इनके सुरक्षित होने पर तुझे अकर्मण्यता नहीं घेर सकती। सोमी पुरुष आलसी तो हो ही नहीं सकता। ३. हे **गिर्वणः**=सोम-रक्षण के उद्देश्य से ही ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले पुरुष! ये सुरक्षित हुए-हुए सोमकण **ते शं सन्तु**=तुझे शान्ति देनेवाले हों। इनके सुरक्षित होने पर शरीर नीरोग, मन निर्मल व ज्ञान दीप्त होता है, सो ये शान्ति को प्राप्त करानेवाले होंगे ही। ४. **प्रचेतसे**=ये तेरी प्रकृष्ट चेतना के लिए हों। तू इनकी रक्षा से सदा आत्मस्मरणवाला हो, 'मैं कौन हूँ, मैं यहाँ क्यों आया हूँ' ये बातें तुझे भूल न जाएँ। इस प्रकृष्ट चेतना के न रहने पर ही तो हमारे जीवन का कार्यक्रम अस्तव्यस्त (ऊटपटाँग) हो जाया करता है, उस समय हमारे जीवनों में 'प्रभ'

का स्थान 'धन' ले लेता है, 'योग' का स्थान 'भोग' को मिल जाता है, 'प्रेम' के स्थान में 'ईर्ष्या-द्वेष' आ जाते हैं, 'नम्रता' 'अभिमान' द्वारा समाप्त कर दी जाती है, हम अपने को ही ईश्वर मानने लगते हैं। इन सब बातों के परिणामस्वरूप यह संसार घोर नरक बन जाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित किये गये ये सोमकण हमें क्रियाशील, शान्त व प्रकृष्ट चेतना-युक्त बनाते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पादनिचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

स्तोम-उक्थ-गीः

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो। त्वां वर्धन्तु नो गिरः॥८॥

१. गत तीन मन्त्रों में सोम-पान व शरीर में सोम की रक्षा के लाभों का वर्णन हुआ है। उस सोम-रक्षा के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात वासना को जीतना है। वासना को जीतने के लिए आवश्यक है कि हमारा सारा समय प्रभु-स्तवन के साथ कार्यों में व्याप्त हो। सो 'मधुच्छन्दाः' (मन्त्र का ऋषि) कहता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **स्तोमाः**=हम साम-गों के स्तुति-समूह **अवीवृधन्**=बढ़ानेवाले हों। हृदय में भक्ति का निवास है, भक्ति-प्रधान पुरुष प्रभु का स्तवन करता है तो ये स्तुतियाँ 'स्तोम' कहलाती हैं। यह भक्त साम-मन्त्रों से प्रभु के गुणों का कीर्तन करता है। २. मस्तिष्क में ज्ञान का निवास है। ज्ञानप्रधान पुरुष सूर्य, चन्द्र, तारागण व ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखता है। उस-उस पदार्थ की रचना का सौन्दर्य रचयिता की महत्ता को प्रकट करता है और यह ज्ञानी कह उठता है कि 'ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी सभी आपकी महिमा को कह रहे हैं।' इस ज्ञानी के **उक्थाः**=ये स्तुतिवचन भी, आपकी महिमा के प्रतिपादक वाक्य भी, हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको बढ़ानेवाले हों। ३. हाथों में कर्म का निवास है। यज्ञादि कर्मों में व्याप्त हाथोंवाले कर्मकाण्डी भी अग्नि व अग्नि में डाले गये पदार्थों की महत्ता व विचित्रता का ध्यान करते हुए प्रभु की महिमा का ही उद्गिरण (उच्चारण) करते हैं। **नः**=हम कर्मकाण्डियों की **गिरः**=वे महिमोच्चारण करनेवाली वाणियाँ भी हे प्रभो! **त्वां वर्धन्तु**=आपको ही बढ़ानेवाली हों।

भावार्थ—भक्तों के स्तोम, ज्ञानियों के उक्थ (व शस्त्र) तथा कर्मकाण्डियों की गिराएँ—सभी प्रभु की महिमा का वर्धन करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सम्पूर्ण बल

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्। यस्मिन्विश्वानि पौंस्या॥९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का स्तवन करनेवाला सदा अपनी रक्षा कर पाता है। यह वासनाओं का शिकार होने से बचा रहता है। वासनाओं से बचकर वह सोम-रक्षण कर पाता है। यह **अक्षित-ऊतिः**=न नष्ट हुए-हुए रक्षणवाला अर्थात् सदा सोम की रक्षा करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इयम्**=इस **सहस्रिणम्**=(स हस्) सदा हास्य व प्रसन्नता को देनेवाले **वाजम्**=अन्न को **सनेत्**=सेवन करे, **यस्मिन्**=जिस सात्त्विक अन्न में **विश्वानि**=सब **पौंस्या**=बल हैं। २. मनुष्य को चाहिए कि उस अन्न का सेवन करे जो सुख व प्रीति का बढ़ानेवाला है (सहस्रिणम्) तथा बल की वृद्धि करनेवाला है (पौंस्या)। गीता में सुख, प्रीति व बल आदि के बढ़ानेवाले अन्न को ही सात्त्विक अन्न कहा है। इस सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला सात्त्विक वृत्तियों की वृद्धि से सोम की रक्षा सुगमता से कर पाता है।

भावार्थ—हम उस अन्न का सेवन करें जो सुख-प्रीति-विवर्धक हो तथा बल को बढ़ानेवाला हो। यही अन्न हमें सोम के पान के योग्य बनाते हैं और हमारा जीवन आनन्दमय व शक्तिसम्पन्न बनता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।।

अनभिद्रोह

मा नो॒ मर्ता॑ अ॒भि द्रु॑हन्त॒नूना॑मिन्द्र गिर्वणः । ईशा॑नो यवया व॒धम् ।।१०।।

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! गत मन्त्र के अनुसार तू सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से सोम का रक्षण करनेवाला बनकर प्रयत्न कर कि **मर्ताः**=विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्य **नः**=हमारे **तनूनाम्**=इन शरीरों के **मा अभिद्रुहन्**=हनन करने की इच्छा न करें (द्रुह्=जिघांसा), मनुष्य विषयों के प्रति लालायित होता है और ये भोगविलास उसके शरीर को रोगों का घर बनाकर नष्ट कर देते हैं। सो हम मर्त न बनें, विषयों के पीछे न मरें, इनकी आपातरमणीयता (Brightness only in appearance) को समझकर इनमें न फँसें और इनसे ऊपर उठें। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले जीव ! तू **ईशानः**=इन्द्रियों का मालिक, न कि दास बनता हुआ **वधम् यवया**=वध को अपने से दूर कर। वध को, विषयों का शिकार बन जाने को, दूर करने का उपाय एक ही है कि—हम 'ईशान' बनें, जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रियता के लिए हम सदा 'गिर्वणः' ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले हों। इनसे हमें विषयों की तुच्छता का आभास मिलेगा। हम विषयों के पीछे न मरेंगे और प्रभु से दिये गये इन शरीरों की सम्यक्तया रक्षा कर पाएँगे। ये शरीर 'देव-मन्दिर' हैं, 'ऋषियों के आश्रम' हैं। इन्हें पवित्र व सुरक्षित रखना हमारा कर्तव्य है।

भावार्थ—हम स्वाध्यायशील व जितेन्द्रिय (गिर्वणः-ईशानः) बनकर विषयों से ऊपर उठें और प्रभु से दिये गये इन शरीरों को असमय में ही नष्ट न होने दें।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ मिलकर प्रभु का गायन करने के निर्देश से होता है (१), वे प्रभु ही पालकों के पालक हैं (३), प्रभु के हृदयस्थ होने पर कामादि शत्रु हमारी इन्द्रियों को आक्रान्त नहीं कर सकते (४), इस प्रकार प्रभु-स्तवन सोम के रक्षण में सहायक होता है। सोम-रक्षण करनेवाले को सात्त्विक अन्न का ही सेवन करना है (६), और ईशान=इन्द्रियों का स्वामी बनकर उसे शरीरों को असमय में नष्ट नहीं होने देना (१०)। इन सुरक्षित शरीरों को (शरीर, मन व बुद्धि को) हम किन कार्यों में लगाएँ ? इस जिज्ञासा का उत्तर अगले सूक्त में देते हैं—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।।

सूर्यादि के ज्ञान में मन का लगाना

यु॒ञ्जन्ति॑ ब्र॒ध्नम॑रु॒षं चर॑न्तं॒ परि॑ त॒स्थुषः॑ । रोच॑न्ते रोच॒ना दि॒वि ।।१।।

१. गत मन्त्र में ईशान बनने के लिए कहा था। ईशान बनने के लिए अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकने के लिए ये अभ्यासी लोग अपने मन आदि को **ब्रध्नं युञ्जन्ति**=ब्रध्न में लगाते हैं। [**'असौ वा आदित्यो ब्रध्नः'** (ब्रा०) आदित्य व सूर्य ही ब्रध्न है] ये अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को सूर्य के अध्ययन में लगाते हैं, सूर्य का विज्ञान प्राप्त करके जहाँ सूर्य से उचित लाभ प्राप्त करते हैं वहाँ सूर्य में प्रभु की महिमा को भी देखते हैं। २. **अरुषं युञ्जन्ति** (अग्निर्वा अरुषः)=ये अपने मन को अग्नि में लगाते हैं।

अग्नि के विज्ञान में लगा हुआ मन प्रसंगवश विषयों में जाने से बचा रहता है और अग्नि का ठीक उपयोग करता हुआ यह अग्निविद्यावित् पुरुष अग्नि में प्रभु-माहात्म्य का दर्शन करता है। ३. **चरन्तं** (युञ्जन्ति), (वायुर्वै चरन्)=ये अपने मनों को वायु के ज्ञान की प्राप्ति में लगाते हैं। वायु का ज्ञान इनके स्वास्थ्यों को पुष्ट करता है और इन्हें प्रभु की महिमा का स्मरण कराता है। ४. **परितस्थुषः** (युञ्जन्ति), **'इमे वै लोकाः परितस्थुषः'**)=यह मधुच्छन्दा अपने मन आदि को विषयों में जाने से रोकने के लिए इन लोकों के ज्ञान की प्राप्ति में लगाता है। अग्निदेवता का स्थान यह 'पृथिवीलोक' है, वायुदेवता का स्थान 'अन्तरिक्ष-लोक' है और सूर्यदेवता का स्थान 'द्युलोक' है। एक ज्ञानी पुरुष जहाँ सूर्य, अग्नि, व वायु के ज्ञान की प्राप्ति का ध्यान करता है वहाँ वह इनके अधिष्ठानभूत लोकों का भी ज्ञान प्राप्त करता है। इस ज्ञान में लगा रहकर उसका मन विषयों में नहीं जाता। ५. अन्त में यह अपने मन आदि को **रोचना** (**'नक्षत्राणि वै रोचना दिवि'**)=इन देदीप्यमान नक्षत्रों में लगाता है जो नक्षत्र **दिवि रोचन्ते**=द्युलोक में चमकते हैं। ये आकाश को आच्छादित करनेवाले (व्राः) तारे उस प्रभु का ही स्तवन कर रहे हैं (अभ्यनूषत)। इन तारों के प्रकाश में प्रभु का प्रकाश दिखता है। इस प्रकार यह ज्ञानी ज्ञानप्राप्ति में लगा हुआ जहाँ सूर्य, अग्नि, वायु, द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व नक्षत्रों में प्रभु की महिमा को देखकर प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है वहाँ इन्द्रियों का ईशान भी बना रहता है। इसका मन विषयों में जाने से बचा रहता है।

भावार्थ—हम अपने मनों को सूर्यादि प्रभु की विभूतियों के ज्ञान के प्राप्त करने में लगाये रक्खें ताकि वे विषय-प्रवण हों ही ना।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

रथ-योजन

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति मन आदि को सूर्यादि के ज्ञान की प्राप्ति में लगाते हैं वे इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले होते हैं और वे इन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **रथे**=शरीररूप रथ में **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। वे इन इन्द्रियरूप घोड़ों को सदा चरने के लिए ही खुला नहीं छोड़े रखते अर्थात् 'इन्द्रियाँ विषयों में ही चरती रहें' ऐसा नहीं होता। २. इनकी ये इन्द्रियाँ **अस्य काम्या**=इस प्रभु की प्राप्ति की कामनावाली होती हैं। उनका लक्ष्य प्रभु तक पहुँचना होता है। ३. **विपक्षसा** (पक्ष परिग्रहे)=ये इन्द्रियरूप घोड़े विशिष्ट परिग्रहवाले होते हैं। इन्होंने एक विशेष लक्ष्य स्वीकार किया होता है। उस लक्ष्य तक तो इन्हें पहुँचना ही है, सो ये विषयों के चरने में ही समय को कैसे विनष्ट कर सकते हैं? ४. विशिष्ट उद्देश्य के कारण **शोणा**=ये तेजस्वी होते हैं। इनकी तेजस्विता इनके रक्तवर्ण में प्रकट हो रही होती है। ५. **धृष्णू**=ये शत्रुओं का घर्षण करनेवाले होते हैं, मार्ग में आये विघ्नों को दूर करके ये सदा आगे बढ़ते चलते हैं। ६. **नृवाहसा**=ये अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यों को (नृ) लक्ष्यस्थान तक पहुँचानेवाले होते हैं। मनुष्य में अग्रगति की भावना हो। फिर इस मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों में न भटककर आगे और आगे बढ़ती चलती हैं।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप अश्व विषयों को चरते न रहकर रथ में जुतकर हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाले हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-भक्त के तीन लक्षण

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥३॥

१. जो व्यक्ति इन्द्रियों को शरीर-रथ में जोतकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलता है (अस्य काम्या ६.२) वह **अकेतवे**=ज्ञानरहित के लिए **केतुं कृण्वन्**=ज्ञान को करनेवाला बनता है, अर्थात् ज्ञान-प्रसार को यह अपने जीवन का ध्येय बना लेता है। २. हे **मर्याः**=मनुष्यो ! यह प्रभुभक्त **अपेशसे** (पेशस् brightness, lusture)=न दीप्तिवाले के लिए **पेशः**=दीप्ति को **कृण्वन्**=करता हुआ होता है। उन्हें स्वास्थ्य का ज्ञान देकर स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त कराता है और पारस्परिक व्यवहार के तरीकों को समझ-कर पारस्परिक प्रेम की वृद्धि के द्वारा और संघर्षों की कमी के द्वारा भी उनकी दीप्ति को यह बढ़ानेवाला होता है। ३. यह सदा **उषद्भिः**=उषः-कालों के साथ ही **सम् अजायथाः**=(जन् to rise, spring up) उठ खड़ा होता है। उषःकाल में यह सोया नहीं रह जाता। इसे यह अच्छी प्रकार पता है कि प्रातः सोये हुओं के तेज को उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति १. अज्ञानियों को ज्ञान देता है, २. प्रसाद व दीप्ति से रहितों को दीप्ति प्राप्त कराने का प्रयत्न करता है, ३. सदा उषःकाल में उठ खड़ा होता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-नामस्मरण

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥४॥

१. गत मन्त्र में वर्णित जीवन को बितानेवाले व्यक्ति **आत्**=इसके बाद **अह**=ही (अनन्तरमेव सा०) उषःकाल में उठे और उठते ही **स्वधाम् अनु** (स्व+धा)=आत्मतत्त्व को धारण करने का लक्ष्य करके **पुनः**=फिर **गर्भत्वम्**=उस प्रभु के गर्भ में होने की भावना को **एरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं (अर्थात् इस प्रकार चिन्तन करने लगते हैं कि **'अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि'**=हे अमृत परमात्मन् ! आप ही हमारे उपस्तरण हो और आप ही हमारे अपिधान हो, आप ही हमारे सब ओर हो, हम आपकी अमृत-गोद में छिपे हुए हैं, उसी प्रकार जैसे कि माता की गोद में शिशु)। आपसे रक्षित हमें भय ही किस बात का ? इस स्थिति में न तो हमें रोग सता सकते हैं और न ही काम-क्रोध आदि आक्रान्त कर सकते हैं। २. हम तो **यज्ञियम् नाम**=आपके पवित्र नाम को **दधानाः**=धारण किये हुए हैं। सदा आपके नाम का जप करते हैं और यह नाम का जप व उसका चिन्तन हमें शान्त, सशक्त व पवित्र बनाये रखता है।

भावार्थ—हम उठते ही आत्मतत्त्व को धारण करने के लिए इस भावना को अपने में प्रेरित करें कि हम प्रभु की अमृतमयी गोद में हैं और उस प्रभु के पवित्र नाम का जप व अर्थचिन्तन करने में अपने अवकाश को बिताने का ध्यान करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—मरुत इन्द्रश्च । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

वासना-विनाश

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः । अविन्द उस्रिया अनु ॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अपने मन को वश में करने के लिए और उस मन को 'प्रभु-नामस्मरण'

में लगाने के लिए आवश्यक है कि हम प्राणसाधना करें। यह प्राणसाधना ही चित्तवृत्तिनिरोध का एकमात्र साधन है। जब जीवात्मा काम-क्रोध-लोभ आदि वृत्तियों के साथ संग्राम कर रहा होता है तो वह स्वयं 'इन्द्र' कहलाता है। वह इस युद्ध में सेनापति होता है और प्राण=मरुत् होते हैं इस इन्द्र के सैनिक। इन्द्र ने इन मरुतों के द्वारा ही विजय प्राप्त करनी है। ये मरुत् इन कामादि प्रबलतम भावनाओं को भी नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले होते हैं। ये वासनाएँ कहीं भी हृदयगुहा में छिपी हों, मरुत् उन्हें नष्ट करते ही हैं। इन वासनाओं के नष्ट होने पर हृदय में प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है। २. मन्त्र में इसी अर्थ का प्रतिपादन इन शब्दों में हुआ है कि—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों को वश में करने के लिए यत्नशील जीव ! **वीळुचित्**=अत्यन्त प्रबल भी **गुहाचित्**=कहीं हृदय-गुहा में छिपकर बैठी हुई भी इन वासनाओं को **आरुजत्नुभिः**=सब प्रकार से पूर्णतया नष्ट करनेवाले और इस प्रकार **वह्निभिः**=लक्ष्य-स्थान तक ले-जानेवाले इन मरुतों (प्राणों) से युक्त होकर तू **उस्रियाः**=ज्ञानरश्मियों (Light) को **अन्वविन्दः**=प्राप्त करता है। ३. यहाँ मन्त्र में 'मरुत्' शब्द नहीं पढ़ा गया। मन्त्र का देवता 'मरुतः' है, सो मरुत् का ग्रहण आवश्यक ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, हृदयान्धकार दूर होता है और प्रकाश का प्रसार हो जाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः। महामनूषत श्रुतम् ॥६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रकाश को देखनेवाले व्यक्ति **देवयन्तः** (देवमात्मन इच्छन्तः)=उस प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाले **गिरः** (स्तोतारः)=स्तोता लोग **यथामतिम्**=यथार्थ ज्ञानवाले **विदद्-वसुम्**=सब वसुओं, निवास के लिए आवश्यक वसुओं के प्राप्त करानेवाले **महाम्**=सर्वमहान् **श्रुतम्**=सर्वज्ञत्वादि गुणों से प्रसिद्ध प्रभु को **अच्छ**=लक्ष्य करके **अनूषत**=स्तवन करते हैं। २. प्रभु के स्तवन से प्रभु के उस-उस गुण में रुचिवाले होकर हम भी उन गुणों को धारण करनेवाले बनते हैं और इस प्रकार दिव्यगुणों को अपनाते हुए हम उस देव के अधिकाधिक समीप होते जाते हैं। ३. हम इस जीवन में यह अनुभव कर पाते हैं कि हम पुरुषार्थ में कमी न आने दें तो प्रभु हमें निवास के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते ही हैं। ४. जितना-जितना उस प्रभु का व प्रभु से बनाई गई इस सृष्टि का हम चिन्तन करते हैं, हमें प्रभु उतने ही अधिक महान् प्रतीत होते हैं। हमें इस सृष्टि में उनकी सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता का आभास मिलने लगता है। इस प्रकार हम प्रभु के अधिक समीप हो जाते हैं, हमें कण-कण में उनकी सत्ता दिखने लगती है और हम हृदयस्थ उस प्रभु से प्रकाश को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—मरुत इन्द्रश्च। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

आनन्द व दीप्ति

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे सञ्जग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा ॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार निरन्तर प्रभु-स्तवन से तू **अबिभ्युषा**=भय के लवलेश से भी शून्य **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **संजग्मानः**=मेल को प्राप्त होता हुआ **हि**=निश्चय से **संदृक्षसे**=प्रभु की उपासना में उन्नत होता चलता है। २. यह स्वाभाविक ही है कि उस भीतिरहित प्रभु से मेल होने के कारण तेरा जीवन भी भय से मुक्त हो जाए तथा उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का सान्निध्य तुझे भी

ऐश्वर्यशाली बना दे। ३. इस प्रकार निर्भय व ऐश्वर्यसम्पन्न होने पर उस प्रभु की समीपता में दोनों ही **मन्दू**=सदा प्रसन्न दिखते हो। प्रभु तो सदा आनन्दमय हैं ही, जीव भी प्रभु के सान्निध्य में आनन्दमय प्रतीत होता है, निर्भयता में ही आनन्द है। ४. उस प्रभु की समीपता के होने पर तुम दोनों **समानवर्चसा**=तुल्य दीप्तिवाले दिखते हो, जैसे होता अग्नि-सान्निध्य में अग्नि-जैसा हो जाता है उसी प्रकार जीव प्रभु-सान्निध्य में प्रभु-जैसा हो जाता है। इनका ऐश्वर्य वेदान्तदर्शन के शब्दों में परमात्मा जैसा ही हो जाता है। बस इतनी ही तो कमी रह जाती है कि ये नयी सृष्टि का निर्माण नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभु-सान्निध्य से हम भीति-रहित, ऐश्वर्यसम्पन्न होकर प्रभु-जैसे ही हो जाएँगे और आनन्दमय व प्रभु-तुल्य दीप्तिवाले दिखेंगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सहस्युक्त अर्चन

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करनेवाला **मखः** (मख गतौ)=गतिशील, कर्मशील पुरुष मरुतों (प्राणों) के साथ उस प्रभु की **सहस्वत्**=(बलोपेतं यथास्यात्तथा) सबल **अर्चति**=अर्चना करता है। प्रभु की अर्चना की वस्तुतः पहचान ही यह है कि उपासक में 'सहस्' की उत्पत्ति हुई या नहीं, प्रभु 'सहोऽसि' सहस् के पुञ्ज हैं, उनके उपासक में सहस् की उत्पत्ति होनी ही चाहिए। २. जिन प्राणों की साधना करता हुआ इन्द्र प्रभु की अर्चना करता है। वे प्राण **अनवद्यैः**=अवद्य=निन्दा व पाप से रहित हैं। सामान्यतः प्राणसाधना से वासनाओं का विनाश होता है और परिणामतः मानवजीवन में पाप नहीं होते। ३. **अभिद्युभिः**=ये प्राण आकाश (द्यु) की ओर ले-जानेवाले हैं। वासनाविनाश का यह परिणाम स्वाभाविक है। वासना 'वृत्र' है, ज्ञान पर परदे के रूप में है। परदा हटा और ज्ञान का प्रकाश हुआ। ४. **गणैः** (गण संख्याने)=ये प्राण गण हैं, संख्यान के योग्य हैं, प्रशंसनीय हैं, (गण to praise) और **इन्द्रस्य काम्यैः**=जीवात्मा के चाहने योग्य हैं। चाहनेयोग्य प्राण तो वही हैं जो कि मनुष्य को उत्तम जीवनवाला बनने में सहायक होते हैं, जो उसे उत्कर्ष की ओर ले-जाते हुए परमात्मा से मिलानेवाले हैं। ५. इस प्रकार प्राणसाधना के साथ जीवन में चलनेवाला व्यक्ति पवित्र कर्मोंवाला होता हुआ यज्ञशील होता है। वह यज्ञरूप हो जाता है। इसी से प्रस्तुत मन्त्र में उसे 'मखः' कहा गया है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर हम प्राण-साधना द्वारा प्रभु का अर्चन करें और प्रभु के 'सहस्' से सहस्वान् बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सर्वव्यापक प्रभु में

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि। समस्मिन्नृञ्जते गिरः॥९॥

१. गत मन्त्र का आराधक आराधना करते हुए प्रभु से कहता है कि—**परिज्मन्**=हे चारों ओर गये हुए=सर्वव्यापिन्! **आगहि**=आप हमें प्राप्त होओ। **अतः**=इस पृथिवीलोक से **दिवः वा**=या द्युलोक से तथा **रोचनात् अधि**=इस चन्द्र व विद्युत् की दीप्तिवाले अन्तरिक्ष से **आगहि**=आप हमें प्राप्त होओ अर्थात् पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों का चिन्तन करता हुआ मैं उन देवों में आपसे स्थापित किये गये देवता का दर्शन करूँ। इसी प्रकार अन्तरिक्ष के देवों में मैं आपकी महिमा को देखूँ तथा द्युलोक के देवों में मुझे आपका प्रकाश मिले। मैं सर्वत्र आपकी ही महिमा का दर्शन करूँ। मुझे पृथिवी, अन्तरिक्ष व

द्युलोक सभी स्थानों से आप प्राप्त हों। २. इस प्रकार प्रभु की महिमा देखनेवाले **गिरः**=(स्तोतारः) स्तोता लोग **अस्मिन्**=इस परमात्मा में **समृञ्जते**=अपने जीवन को सुभूषित करते हैं (ऋज to decorate), उस परमात्मा का स्तवन करते हुए ये स्तोता अपने जीवन को उस प्रभु के अनुरूप बनाने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार इनका जीवन अधिक और अधिक सुन्दर बनता चलता है।

भावार्थ—उस सर्वव्यापी प्रभु की महिमा को हम प्रत्येक लोक में देखें। सदा अपने को उस प्रभु में स्थित देखते हुए ये प्रभु-स्तवन करते हैं और अपने जीवन को गुणालंकृत करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

त्रिलोकी का धन

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा रजसः॥१०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब लोकों में प्रभु की महिमा को देखता हुआ भक्त कहता है कि—हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **इतः पार्थिवात् अधि सातिम्**=इस पार्थिव लोक से धनदान को **ईमहे**=माँगते हैं। वे प्रभु हमें इस पार्थिव लोक के धन को देनेवाले हों। पार्थिव लोक का धन 'इस पृथिवीरूप शरीर की दृढ़ता' ही है। (सो हम चाहते हैं कि प्रभुकृपा से हमारा शरीर वज्रतुल्य हो **'अश्मा भवतु नस्तनूः'** अथवा **'इत्थं वज्रमाददे'**=हमारा शरीर पत्थर की तरह दृढ़ हो अथवा उत्तम भोजन व व्यायाम द्वारा हम शरीर को वज्रतुल्य बनाएँ।) २. हम उस प्रभु से **दिवः वा**=द्युलोक से धन माँगते हैं। द्युलोक का धन दीप्ति है। हमारा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान से दीप्त हो। द्युलोक में जैसे सूर्य चमकता है हमारे मस्तिष्क में भी ज्ञान का सूर्य चमके। ३. हम **महो वा रजसः**=इस महान् अन्तरिक्ष से धनदान को माँगते हैं, जैसे अन्तरिक्ष चन्द्र की शीतल किरणों से ज्योत्स्नामय हो रहा है उसी प्रकार हमारा हृदयान्तरिक्ष प्रेम की स्निग्धभावना से शीतल रस को प्रवाहित करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभुभक्त चाहता है कि उसका शरीर दृढ़ हो, मस्तिष्क उज्ज्वल हो तथा हृदय प्रेम की स्निग्ध-भावना से पूर्ण हो।

विशेष—इस छठे सूक्त का प्रारम्भ मन को सूर्यादि के ज्ञान की प्राप्ति में लगाकर विषयों में जाने से रोकने के साथ होता है (१)। यह मनस्वी पुरुष ज्ञान के प्रकाश को तथा सौन्दर्य को फैलाता हुआ प्रातःकाल उठता है (२)। और अपने को सदा प्रभु-गर्भ में अनुभव करता हुआ प्रभु के पवित्र नाम का स्मरण करता है (३)। वासनाओं को प्राण-निरोध द्वारा नष्ट करता हुआ यह प्रकाश की किरणों को देखता है (४)। प्रभु-स्तवन करता हुआ, प्रभु से संगत होकर, प्रभु के समान आनन्दमय व दीप्तियुक्त यह दिखता है (५)। प्रभु की अर्चना करता है और चाहता है कि प्रभु-कृपा से उसे शरीर, मस्तिष्क व हृदय का धन प्राप्त हो (६)। "इन धनों की प्राप्ति के लिए ही 'ऋग्-यजु-साम-वाणियों से प्रभु की अर्चना करता है"—इस भावना के साथ सातवाँ सूक्त प्रारम्भ होता है—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

'ऋग्-यजुः-साम' द्वारा उपासन

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥१॥

१. **गाथिनः**=गीयमान (गाये जानेवाले) साम-मन्त्रों से युक्त प्रभु के उद्गाता **इत्**=निश्चय से

इन्द्रम्=उस शत्रुओं के विदारण करनेवाले, परमैश्वर्यसम्पन्न प्रभु का **बृहत्**=खूब ही **अनूषत**=स्तवन करते हैं। साममन्त्रों से प्रभु का स्तवन करते हुए ये भक्त अपने हृदयों को साम (शान्ति) से युक्त करनेवाले होते हैं। २. **आर्किणः**=ऋग्रूप मन्त्रों से युक्त प्रभु के होता **अर्केभिः**=ऋग्रूप मन्त्रों से उसी **इन्द्रं**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले इन्द्र का खूब स्तवन करते हैं। ऋचाओं से प्रभु का स्तवन करते हुए ये होता अपने मस्तिष्क में ऋग्=विज्ञान को भरनेवाले होते हैं। ३. अध्वर्यु लोग **इन्द्रम्**=उस सब बलयुक्त कर्मों को करनेवाले प्रभु को ही **वाणीः** (वाणाभिः तृतायार्थे प्रथमा)=यजूरूप वाणियों से **अनूषत**=स्तुति करते हैं। इन यजू-रूप वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए ये अध्वर्यु लोग अपने हाथों से यज्ञात्मक कर्मों को ही करते हैं। ये यज्ञात्मक कर्म इन्हें सबल बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—गाथी साममन्त्रों से, अर्की ऋक्‌रूप मन्त्रों से तथा अध्वर्यु यजुर्वाणियों से उस इन्द्र का ही स्तवन करते हैं। इससे इनके मनों में शान्ति, मस्तिष्क में दीप्ति व हाथों में यज्ञात्मक उत्तम कर्म व कर्म द्वारा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वज्री हिरण्ययः

इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करने पर **इन्द्रः**=शत्रुओं का विदारण करनेवाला जीव **इत्**=निश्चय से **वचोयुजा** (वचोयुजा—वचसा युज्येते इति)=वेद के निर्देश के अनुसार कार्यों में व्यापृत होनेवाले **हर्योः**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों का **सचा**=समवेत करनेवाला होता है (षच समवाये), इनके साथ-साथ चलता है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ जैसा ज्ञान देती हैं कर्मेन्द्रियाँ उसी प्रकार कार्य करती हैं। इनका परस्पर विरोध नहीं होता (**'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः'**=मैं धर्म को जानता तो हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती' ऐसा उसे नहीं कहना पड़ता। ज्ञान के अनुसार ही उसके सारे कार्य होते हैं)। २. इस प्रकार निज जीवन में ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का समन्वय करके चलता हुआ यह 'मधुच्छन्दाः' **आ, संमिश्लः**=समाज में सब ओर उत्तमता से मेल करनेवाला होता है, किसी से इसका वैर-विरोध नहीं होता। ३. **इन्द्रः**=वह जितेन्द्रिय पुरुष **वज्री**=शरीर में वज्रतुल्य दृढ़तावाला होता है और **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला होता है। 'दृढ़ शरीर' व 'दीप्तमस्तिष्क' बनकर यह आदर्शपुरुष बनने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना का जीवन में यह परिणाम दिखता है—१. ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का परस्पर समन्वय, ज्ञान के अनुसार कर्म करना। २. समाज में उचित मेल से चलना। ३. दृढ़ शरीर होना। ४. दीप्तमस्तिष्क बनना।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूर्य व मेघ

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत्॥३॥

१. प्रभु का उपासक प्रभु के उपकारों का स्मरण करता हुआ कहता है कि **इन्द्रः**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु ने **दीर्घाय चक्षसे**=दीर्घ दृष्टि के लिए, दूर-दूर तक आँख का व्यापार हो सकने के लिए **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि**=द्युलोक में **आरोहयत्**=आरूढ़ किया। द्युलोक का मुख्य देव सूर्य है। यह सारे जगत् को प्रकाशित करता है। इसी प्रकाश में आँख अपने व्यापार करने में समर्थ होती है। २. उस

प्रभु ने ही **गोभिः**=जलों के हेतु से **अद्रिम्**=मेघ को **वि ऐरयत्**=विशेष रूप से प्रेरित किया है। यदि ये मेघों की व्यवस्था न होती तो सारा पानी समुद्र तक पहुँचकर मनुष्य के लिए दुर्लभ हो जाता। मेघों द्वारा यह पानी फिर से पर्वतशिखरों पर पहुँचकर नदियों के रूप में प्रवाहित होता है और भूमि की सिंचाई के लिए उपयुक्त होकर अन्न की उत्पत्ति का कारण बनता है। एवं प्रभु के अनन्त उपकारों में 'द्युलोक में सूर्य का स्थापन' और 'अन्तरिक्ष में मेघों का निर्माण' ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ३. अध्यात्म में जीव को भी चाहिए कि अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्य को उदित करे और हृदयान्तरिक्ष में प्रेम के मेघ को उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील हो। जैसे सूर्य से पार्थिव जल अन्तरिक्ष में पहुँचता है और मेघ-रूप हो सबपर बरसता है, इसी प्रकार अध्यात्म में ज्ञान-सूर्य से पार्थिव वस्तुओं के प्रति होनेवाला प्रेम हृदय-अन्तरिक्ष में पहुँचकर फिर से सब प्राणियों के लिए बरसने लगता है।

भावार्थ--द्युलोक का सूर्य तथा अन्तरिक्षलोक के मेघ, ये परमेश्वर की महान् विभूतियाँ हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वाज व सहस्रप्रधन

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥४॥

१. वैदिक साहित्य में छोटे युद्ध 'वाज' कहलाते हैं तथा बड़े 'सहस्रप्रधन' कहे जाते हैं। संसार में शक्ति की प्राप्ति के लिए जो संग्राम होता है वह 'वाज' है और अध्यात्म-जीवन को सुन्दर बनाने के लिए काम, क्रोध, लोभादि के साथ होनेवाला युद्ध 'सहस्रप्रधन' है। प्रभु से भक्त प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **वाजेषु**=धनादि की प्राप्ति के निमित्त होने-वाले इन संग्रामों में **अव**=सुरक्षित करिए। आपकी कृपा से हम धनों का विजय करके अभ्युदयशाली बनें। २. आप हमें अध्यात्म-संग्रामों में **च**=भी जोकि **सहस्रप्रधनेषु**=(स+हस्+प्र+धन) आनन्दयुक्त प्रकृष्ट धनों की प्राप्ति के कारणभूत हैं, जिनमें कि हम विजयी बनकर, मन को वशीभूत (दमन) करके काम के स्थान में प्रेम को प्राप्त करते हैं, क्रोध का स्थान 'दया' को देते हैं और लोभ का स्थान 'दान' ले लेता है, उन सहस्रप्रधनों में भी आप हमारी रक्षा करिए। ३. हे **उग्र**=तेजस्वी प्रभो! आप **उग्राभिः ऊतिभिः** =अपने तेजपूर्ण, प्रबल रक्षणों से इन युद्धों में हमें विजयी बनाइए। विजय तो आपको ही करनी है, हम अकेले इन कामादि को क्या जीतेंगे?

भावार्थ—प्रभु-कृपा से वाजों में विजयी बनकर हम अभ्युदय को प्राप्त करें और सहस्रप्रधनों में भी विजयी होकर निःश्रेयस् की साधना करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

महाधन व अर्भ

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥५॥

१. गत मन्त्र का 'सहस्रप्रधन' यहाँ 'महाधन' है और गत मन्त्र का 'वाज' यहाँ 'अर्भ' कहा गया है। **इन्द्रम्**=उस सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **वयम्**=हम **महाधने**= 'दमन-दया-दान' रूप महाधनों की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु-कृपा से ही मैं काम को जीतकर मन को शान्त करूँगा, उसी की कृपा से मैं क्रोध को जीतकर दया को अपनाऊँगा और लोभ को जीतकर दान की वृत्तिवाला भी तो प्रभु की कृपा से ही बनूँगा। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **अर्भे**=छोटे धनों के निमित्त अर्थात् इन सांसारिक धनों की प्राप्ति के निमित्त हम **हवामहे**=प्रार्थना

करते हैं। इन सब धनों के स्वामी भी तो वे प्रभु ही हैं। ३. **युजम्**=हम उस प्रभु को पुकारते हैं जोकि हमारा सदा साथ देनेवाले हैं। संसार में अन्य सब मित्र साथ छोड़ भी जाएँगे तो भी ये प्रभु हमारे साथ होंगे। वे सदा हमारे 'युज्' हैं और वे प्रभु **वृत्रेषु**=हमारे ज्ञान पर परदा डालनेवाली वासनाओं पर **वज्रिणम्**=वज्र का प्रहार करनेवाले हैं अर्थात् प्रभु-स्मरण से हमारी वासनाएँ नष्ट होंगी और हमारा ज्ञान दीप्त होगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें अध्यात्मसम्पत्ति व बाह्य समृद्धि दोनों ही प्राप्त हों। प्रभु हमारे सतत सखा हैं, उन्हीं की कृपा से हमारी वासनाएँ नष्ट होती हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

चरु का अपावरण

स नो॑ वृषन्न॒मुं च॒रुं सत्रा॑दाव॒न्नपा॑ वृधि। अ॒स्मभ्य॒मप्र॑तिष्कुतः ॥६॥

१. **सः**=वे आप, जोकि 'वाज व सहस्रप्रधनों' में हमें विजय प्राप्त कराते हैं (४), जो 'महाधन व अल्पधनों'=सम्पत्ति व समृद्धि के देनेवाले हैं (५), **नः**=हमारे लिए हे **वृषन्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभो! हे **सत्रादावन्**=सदा, सब इष्ट फलों को साथ ही देनेवाले प्रभो! **अमुं चरुम्**=उस अपने ज्ञान के कोश को **अपावृधि**=खोलिए। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में ब्रह्म=ज्ञान के चर=भक्षण का संकेत है। आचार्य विविध विषयों के ज्ञान का चरण=भक्षण कराते हैं। जिसका चरण=भक्षण किया जाए वह ज्ञान 'चरु' है। इसका अपावरण, इसका प्रकट करना है (Exposition)। **'यस्मात् कोशादुदभराम वेदम्'**—इन शब्दों में वेद ज्ञान का कोश है, उस कोश को प्रभु-कृपा से हम खोल पाएँगे तभी अपने ज्ञान का विस्तार कर पाएँगे। २. हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए आप **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिशब्द से रहित हों, आप हमारे लिए 'न' इस शब्द का तो उच्चारण करिए ही नहीं अर्थात् हमारी प्रार्थना सदा आपसे सुनी जाए। प्रभो! आप तो 'सत्रा-दावन्' सदा देनेवाले हैं। हम सदा आपके दान के पात्र बनें।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारे लिए ज्ञान का कोष खुला तो हमारे सब मनोरथ पूर्ण हो ही जाएँगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अनन्त दान-सान्त स्तवन

तुञ्जेतु॑ञ्जे॒ य उत्त॑रे॒ स्तोमा॒ इन्द्र॑स्य व॒ज्रिणः॑। न वि॑न्धे अ॒स्य सु॑ष्टु॒तिम् ॥७॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को 'सत्रादावन्' कहा है—सदा सब वस्तुओं के देनेवाले वे प्रभु हैं। **तुञ्जे तुञ्जे**=(दाने दाने) उनके प्रत्येक दान के प्रसंग में, इस **वज्रिणः**=सदा क्रियाशील (वज् गतौ) अथवा वृत्रों पर वज्र का प्रहार करनेवाले अर्थात् ज्ञान के आवरणभूत काम, क्रोध, लोभ को विनष्ट करनेवाले **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **ये**=जो **उत्तरे**=उत्कृष्ट **स्तोमाः**=स्तुतियाँ की जाती हैं, उन स्तुतियों से **अस्य**=इस प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **न विन्धे**=(न विन्दामि) नहीं प्राप्त करता हूँ अर्थात् कितने भी उत्कृष्ट मेरे स्तोम हों, वे प्रभु की स्तुति की समाप्ति को प्राप्त नहीं कर पाते, अर्थात् मैं कभी भी प्रभु की पूर्ण स्तुति नहीं कर सकता। २. प्रभु के दान अनन्त हैं, मेरी स्तुति तो सान्त ही होगी, सो यह नहीं हो सकता कि मैं प्रभु के दानों की पूर्ण स्तुति कर सकूँ। प्रभु देते-देते नहीं हारते, मैं स्तुति करते हुए हार जाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु के दान अनन्त हैं। मैं प्रभु के इन दानों का पूर्णतया स्तवन कैसे कर सकता हूँ? मेरी शक्ति सीमित है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

गौवें व गोपाल

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा । ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥८॥

१. वे प्रभु **वृषा**=शक्तिशाली हैं, सब प्रजाओं पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। २. वे प्रभु हमें इस प्रकार प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **यूथा**=(यूथानि) भेड़ों के झुण्डों को **वंसगः**=(वननीयगतिः) सुन्दर गतिवाला गडरिया प्राप्त होता है। प्रजाएँ बाइबिल के शब्दों में Sheep (भेड़ें) हैं और प्रभु Shepherd (चरवाहा)। सम्भवतः यह भावना वेद के इन्हीं शब्दों से गई होगी। ३. वे प्रभु **कृष्टीः**=श्रमशील, कृषि इत्यादि कार्यों में व्यापृत जीवों को **ओजसा**=ओज के हेतु से **इयर्ति**=प्राप्त होते हैं अर्थात् जब हम प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त कर पाते हैं तो हम ओजस्विता का अनुभव करते हैं। ४. **ईशानः**=वे प्रभु ईशान हैं, सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिष्ठाता हैं, और साथ ही **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिशब्द से रहित हैं, कभी 'न' करनेवाले नहीं हैं। प्रभु के दरबार में हमारी प्रार्थना अस्वीकृत होगी, ऐसी सम्भावना नहीं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम प्रभु के निर्देश में इस प्रकार चलें कि जैसे भेड़ें गडरिए के निर्देश में चलती हैं। यह निरन्तर का प्रभु-सम्पर्क हमें ओजस्वी बनाएगा। हम गौ हों, प्रभु हमारे गोपाल हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पादनिचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

श्रम व धनप्राप्ति (चर्षणियों के लिए वसु)

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥९॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **एकः**=अकेले ही **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के तथा **वसूनाम्**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों के **इरज्यति**=ईश हैं। प्रभु को अपने कार्यों के लिए किसी अन्य की सहायता नहीं लेनी होती। वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सब कार्यों को सदा से स्वयं कर रहे हैं। २. प्रभु को यही बात प्रिय है कि 'मनुष्य श्रमशील हों'। चर्षणि अर्थात् कर्षणि व कृषि आदि श्रमयुक्त कार्यों के करनेवाले व्यक्ति ही प्रभु की कृपा के पात्र होते हैं। इन्हें प्रभु सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। यह भावना 'चर्षणीनां व वसूनां' शब्दों का साथ-साथ प्रयोग करके व्यक्त की जा रही है। ३. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **पञ्च**=पाँचों **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के ईश हैं। मानव-समाज 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच वर्गों में विभक्त है। प्रभु सभी के ईश हैं, सभी का कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सब मनुष्यों के ईश हैं। श्रमशील पुरुषों के लिए वसु=धन को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभु ही हमारे एकमात्र मित्र हों, 'असाधारण मित्र'

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः । अस्माकमस्तु केवलः ॥१०॥

१. संसार में मनुष्य भी मनुष्य की सहायता करता है। सम्बन्धी एक-दूसरे के लिए सहायक होते हैं, परन्तु ये सब सम्बन्ध व सहायताएँ एक सीमा के बाद समाप्त हो जाती हैं। जब कोई भी हमारा सहायक नहीं रहता, उस समय प्रभु ही हमारे सहायक होते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि—**विश्वतः जनेभ्यः**=सब लोगों से **परि**=परे अर्थात् जब संसार में कोई भी अन्य व्यक्ति हमारा साथी नहीं रह जाता तब **वः**=तुम सबके कल्याण के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली पुरुष, परमात्मा को **हवामहे**=पुकारते हैं। जब

सारा संसार हमारा साथ नहीं देता, तब भी प्रभु हमारे साथ होते हैं। २. ये प्रभु **अस्माकम्**=हमारे **केवलः**=असाधारण मित्र हों। हम सब संसार से अधिक प्रभु को चाहें—**'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए हम सम्पूर्ण पृथिवी का त्याग कर सकें। एक ओर ब्रह्माण्ड के सब पदार्थ हों और दूसरी ओर 'आत्मतत्त्व' तो हम कठोपनिषद् के नचिकेता की तरह संसार के सब प्रलोभनों को छोड़ सकें और प्रभु का ही वरण करें। प्रभु मिलेंगे तो प्रकृति तो मिल ही जाएगी। विष्णु के हम अतिथि बनें तो लक्ष्मी हमें भोजन कराएगी ही। प्रभु के प्राप्त होने पर सब-कुछ प्राप्त हो जाएगा। सो यही कामना सर्वश्रेष्ठ है कि—**'अस्माकमस्तु केवलः'**=बस हमें प्रभु प्राप्त हो जाएँ।

भावार्थ—जब हमारा कोई सहायक नहीं होता तब ये प्रभु हमारे सहायक होते हैं। बस, हम प्रभु-प्राप्ति की ही कामना करें।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु-स्तवन से होता है (१)। द्युलोक में उदय होता हुआ सूर्य, बरसता हुआ मेघ, दोनों प्रभु की अद्भुत विभूतियाँ हैं (३)। प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं (४)। हमारे लिए वेदज्ञान का अपावरण करते हैं (६)। प्रभु के अनन्त दान हैं, हम उनकी स्तुतियाँ कहाँ कर सकते हैं (७)। ठीक बात तो यह है कि हम गौवें हैं और प्रभु हमारे गोपाल हैं (८)। वे हमारा पालन करते हैं तथा सब वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं (९)। बस, प्रभु की ही कामना करनी ठीक है (१०)। 'वे प्रभु ही हमें वर्षिष्ठ (सर्वोत्तम) धन प्राप्त कराएँगे' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[अथ तृतीयोऽनुवाकः]

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वर्षिष्ठ रयि

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर ॥१॥

१. **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **रयिम्**=धन को **आभर**=सब प्रकार से, सब उत्तम मार्गों से—कृषि, पशुपालन व वाणिज्य आदि उत्तम साधनों से प्राप्त कराइए। धन के विना यह संसार चल नहीं सकता। इसमें छोटे-से-छोटा कार्य भी धन से ही साध्य होता है। यह ठीक है कि धन का आकर्षण इस प्रकार का हो जाता है कि हम इसके दास बन जाते हैं और अपने सब प्रकार के ह्रास का कारण हो जाते हैं। सो मन्त्र में कहते हैं कि वह धन २. **सानसिम्**=सम्भजनीय हो, समविभाग-पूर्वक सेवन के योग्य हो। हम सारे धन को स्वयं अपने भोगों में ही व्यय न कर दें, सबके साथ बाँटकर खाना सीखें। **'केवलाघो भवति केवलादी'** इस बात को हम न भूलें कि अकेले खानेवाला शुद्ध पाप का सेवन करता है। ३. **सजित्वानम्**=यह धन सदा जयशील हो, इस धन के द्वारा हम दारिद्रय के कष्टों को दूर करनेवाले हों। घर में पोषण व वस्त्रादि की कमी न हो, उचित अन्नादि को प्राप्त कराके यह धन हमारे क्षुधादि रोगों को दूर करनेवाला हो, यह धन हमें आवश्यक भोजन के अभाव में क्षीणशक्ति-वाला न होने दे। हमारी सांसारिक आवश्यकताओं का यह विजय करनेवाला हो। ४. **सदासहम्**=यह धन हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं का भी पराभव करनेवाला हो। हम धन के दास बनकर वासनाओं का शिकार न हो जाएँ। ५. **वर्षिष्ठम्**=यह धन अतिशयेन संवृद्ध हो। यह बढ़ा हुआ धन हमें बढ़ानेवाला हो, हमारे जीवन में सुखों की वर्षा करनेवाला हो। वस्तुतः पिछले मन्त्र के अन्तिम शब्दों में जबहम प्रभु को ही अपना असाधारण मित्र बनाएँगे तो 'वर्षिष्ठ' धन को प्राप्त करेंगे ही।

भावार्थ—प्रभु हमें 'सानसि, सजित्वा, सदासह, वर्षिष्ठ' धन को प्राप्त कराएँ। यह धन हमारा रक्षण करेगा।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

राष्ट्र-रक्षा के लिए धन-द्वारा पैदल व अश्वारोही सेना का संग्रह

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै। त्वोतासो न्यर्वता ॥२॥

१. धन का सबसे महत्त्वपूर्ण विनियोग 'राष्ट्ररक्षा' में होता है। इसे आदर्श स्थिति तो न कहना चाहिए, परन्तु वस्तुस्थिति यही है कि आधी राष्ट्रिय आय राष्ट्ररक्षा में ही व्ययित हो जाती है। सो प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमें उस 'वर्षिष्ठ रयि' को दीजिए, खूब बढ़े हुए धन को दीजिए **येन**=जिस धन के द्वारा एकत्र किये हुए पैदल सैनिकों के **नि**=नितरां, अत्यधिक **मुष्टिहत्यया**=(मुष्टिप्रहारेण) मुक्कों के प्रहारों से **वृत्रा**=शत्रुओं को **निरुणधामहै**=निरुद्ध कर दें। २. और हे प्रभो! **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए हम **अर्वता**=अपने घोड़ों से शत्रुओं को **नि** (रुणधामहै)=रोकनेवाले बनें अर्थात् हमारे राष्ट्रकोष में इतना धन हो कि हम पैदल सेना व अश्वसेना को समुचित संख्या में रख सकें और पदातियुद्ध व अश्वयुद्ध के द्वारा शत्रुओं का विनाश करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र को प्रभु वर्षिष्ठ=अतिप्रवृद्ध धन दें ताकि अधिक संख्या में सेना के द्वारा शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा की जा सके।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दृढ़ शस्त्र

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः ॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ही प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हमें 'वर्षिष्ठ धन' को इसलिए प्राप्त कराइए कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित किये गये **वयं**=हम **घना**=दृढ़ **वज्रं**=अस्त्रों को **आददीमहि**=ले सकें। अस्त्रों को खरीदने के लिए हमारे राष्ट्रकोष में पर्याप्त धन हो। 'प्रकर्षशस्त्रा हि रणे जयश्रीः' युद्ध में जयश्री तो शस्त्रों की उत्कृष्टता पर ही आश्रित है। शस्त्र ही न होंगे तो सैनिक क्या कर लेंगे? बिना उपकरणों के कार्यसिद्धि नहीं होती। २. हे प्रभो! धन से उत्कृष्ट अस्त्रों का हम संग्रह करें और **युधि**=युद्ध में **स्पृधः**=स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को **संजयेम**=पूरी तरह जीत लें। विजय के लिए जहाँ सैनिकों की शक्ति व उत्साह का महत्त्व है वहाँ शस्त्रास्त्र का भी उतना ही महत्त्व है। वास्तविकता तो यह है कि शस्त्रास्त्रों की उत्तमता सैनिकों की उत्साहवृद्धि का कारण बनती है। इन शस्त्रास्त्रों के खरीदने के लिए धन आवश्यक ही है।

भावार्थ—हमें इतना धन मिले कि हम उत्तम शस्त्रों का क्रय करके स्पर्धा करती हुई शत्रु-सेनाओं को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शत्रु-पराभव

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः ॥४॥

१. **वयं**=हम **शूरेभिः**=शूरवीर सैनिकों द्वारा **अस्तृभिः**=(असु क्षेपणे) जो कि अस्त्रों के फेंकने में अत्यन्त कुशल हैं, उन सैनिकों द्वारा, हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विदारण करनेवाले प्रभो! **त्वया युजा**=

सहायभूत आपके साथ **वयं**=हम **पृतन्यतः**=सेना के द्वारा संग्राम की कामनावाले शत्रुओं को **सासह्याम**=पूर्ण रूप से पराभूत कर सकें। २. यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि विजय के लिए (क) सैनिकों का वीर होना सर्वप्रमुख बात है—(शूरेभिः) वे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हों (शॄ हिंसायाम्) उनमें कायरता का नामोनिशान भी न हो। (ख) उनके पास अस्त्र-शस्त्रों की कमी न हो और साथ ही अस्त्रों के प्रयोग में वे प्रवीण हों (अस्तृभिः)। (ग) तीसरी बात यह है कि हमें प्रभु का साहाय्य प्राप्त हो (त्वया युजा), इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि हमारा पक्ष धर्म का हो, हम अन्याय्य बात को लेकर युद्ध के लिए न उतारू हो जाएँ। दुर्योधन का पक्ष अधर्म का था, इसीलिए उधर उत्साह व उमंग न थी। पाण्डव धर्म-युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए, सो उनकी उत्साहपूर्ण शंखध्वनि ने कौरवों के दिलों को दहला दिया। ३. (घ) 'पृतन्यतः' शब्द से यह भावना भी व्यक्त हो रही है कि यथासम्भव रक्षणात्मक युद्ध ही लड़ना ठीक है, आक्रमणात्मक युद्ध वेद को अभीष्ट नहीं। महाभारत में व्यास अर्जुन से गाण्डीव तब उठवाते हैं जबकि कौरवों ने अस्त्र-शस्त्राक्रमण शुरू कर दिया—'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः'। चाहिए तो यह था कि 'मेषुः पप्तद् इन्द्रस्याहन्यागते' सेनापति के दिन के आ जाने पर भी अर्थात् रणांगण में दोनों सेनाओं के तैनात हो जाने पर भी बाण न गिरे अर्थात् युद्ध को रोकने के लिए यत्न किया जाए। युद्ध तो विवशता की अवस्था में ही करना है।

भावार्थ—हम नाना शस्त्र-सञ्चालन में प्रवीण सैनिकों द्वारा प्रभु के आशीर्वाद से राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को पूर्णरूप से कुचल सकें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विस्तृत सैन्य

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः ॥५॥

१. **इन्द्र**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **महान्**=महान् हैं, महनीय और पूजनीय हैं। **नु च**=और **परः**=सर्वोत्कृष्ट हैं। उस प्रभु की महिमा अनन्त है, वे अनिर्वचनीय महिमावाले हैं, उनकी महिमा का वर्णन शब्दों से परे है। २. इसी प्रकार प्रभु-कृपा से हमारे राष्ट्र का **इन्द्रः**=मुख्य सेनापति भी **महान्**=शरीर से सशक्त तथा **परः**=गुणों से उत्कृष्ट हो। इस **वज्रिणे**=दृढ़ वज्रादि अस्त्रोंवाले सेनापति के लिए **महित्वम्**=दोनों प्रकार की महिमा व आधिक्य **अस्तु**=हो। (क) इसका शरीर सबल हो, (ख) गुणों से यह उत्कृष्ट हो (महान्-परः) अथवा इसके सैनिक शूर हों और अस्त्र-चलाने में निपुण हों। ३. इसका **शवः**=सेनारूप बल भी **प्रथिना**=विस्तार से **द्यौः न**=द्युलोक के समान हो अर्थात् जैसे द्युलोक विस्तृत है उसी प्रकार इसकी सेना भी विशाल हो। इस विशाल सेना से शत्रुओं के हृदय में भय का संचार करनेवाला हो और विना युद्ध के ही समस्याओं को हल कर सकनेवाला हो।

भावार्थ—सेनापति सशक्त शरीरवाला वा वीरत्वादि गुणों से उत्कृष्ट हो। उसमें दोनों प्रकार का आधिक्य हो और उसका सैन्यबल विशाल हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धनप्राप्ति व बुद्धिवर्धन के संग्राम में विजय

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ। विप्रासो वा धियायवः ॥६॥

१. गत मन्त्रों में बारम्बार विजय की प्रार्थना है। विजय **वा**=या तो वे प्राप्त करते हैं **ये**=जो **समोहे**=संग्राम में उस (इन्द्रम्=) सब शक्ति के कार्यों को करनेवाले प्रभु को **आशत**=स्तुति से

व्याप्त करते हैं अर्थात् जो निरन्तर प्रभु-स्मरण करते हुए संग्राम को जारी रखते हैं, वे अवश्य ही विजय को प्राप्त करते हैं। गीता में इसीलिए अर्जुन को उपदेश दिया गया है कि—**'मामनुस्मर युध्य च'**=अर्थात् उस 'अस्मद्' शब्द वाच्य प्रभु का स्मरण कर और युद्ध करता चल, इस प्रकार तू अवश्य विजयी होगा। २. **तोकस्य**=(तु=पूर्ति, तौतिः पूरणार्थकः) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धन की **सनितौ**=प्राप्ति में भी वे ही **नरः**=मनुष्य विजयी होते हैं **ये**=जो **आशत**=प्रभु को स्तुति से व्याप्त करते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक पुरुषार्थ करने पर **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'**=हम धनों के पति बनते ही हैं। प्रभु-विस्मरण होने पर धन के लिए किये गये प्रयत्न हमें धन का दास बना देते हैं। **वा**=और **धियायवः**=प्रज्ञा की कामनावाले वे ही **विप्रासः**=ब्राह्मण अपने बुद्धि व विज्ञान-प्राप्तिरूप कार्य में विजयी होते हैं **ये**=जोकि **आशत**=उस प्रभु को स्तुति से व्याप्त करते हैं अर्थात् प्रभु-स्तवन करने पर ही बुद्धि भी पवित्र होती है और हमारे ज्ञान के वर्धन का कारण बनती है।

भावार्थ—क्षत्रिय संग्राम में, वैश्य धन-प्राप्ति में तथा ब्राह्मण प्रज्ञा-सम्पादन में प्रभु-स्तवन से ही विजय का लाभ करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सोम-पायी

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः ॥७॥

१. विजय-लाभ के लिए यह भी आवश्यक है कि हम सोमपान करनेवाले बनें। प्रभुस्तवन से वासना का क्षय होकर ही सोमपान सम्भव होता है। और **यः कुक्षिः**=जो उदर **सोमपातमः**=अधिक-से-अधिक सोम का पान करनेवाला होता है अर्थात् सोम को अपने में पूर्णतया सुरक्षित करता है, वही **समुद्र इव**=अन्तरिक्ष के समुद्र की तरह **पिन्वते**=सेचन करनेवाला होता है; समुद्र जैसे मेघरूप होकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है, इसी प्रकार यह संयमी पुरुष भी सभी को सुखी करने का प्रयत्न करता है। पृथिवीस्थ समुद्र की तरह मेघाच्छन्न अन्तरिक्ष भी समुद्र ही होता है। (समुद्र इति अन्तरिक्षनाम—नि० १.३) २. इस सोमपान करनेवाले के **आपः**=कर्म **उर्वीः**=विशाल होते हैं। यह संकुचित कर्मों को न करके व्यापक कर्मों को करनेवाला होता है। 'उदारं धर्ममित्याहुः' इस लक्षण के अनुसार इसके सब कर्म उदार होने से धर्मरूप होते हैं। संकुचित स्वार्थ की वृत्ति से होनेवाले कर्मों में ही अधर्म होता है। ३. यह कर्मवीर पुरुष **न काकुदः**=बहुत बोलनेवाला नहीं होता। (काकुत् इति वाङ्नाम निघण्टौ) यह कर्मवीर होता है नकि वाग्वीर। वस्तुतः अशक्त पुरुष बोलता अधिक है, जैसेकि एक मरियल कुत्ता भौंकता अधिक है। वीरपुरुष मौन रहकर कर्म पर बल देता है।

भावार्थ—सोमपायी के तीन लक्षण हैं—(क) यह अन्तरिक्ष में होनेवाले मेघ की तरह सबपर सुखों की वर्षा करता है (ख) इसके कार्य उदार होते हैं, (ग) यह बोलता कम है—कर्मवीर होता है न कि वाग्वीर।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूनृता-वेदवाणी

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे ॥८॥

१. **एवा**=गत मन्त्र के अनुसार सोमपायी बनने पर **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस 'इन्द्र' ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु की **सूनृता**=(सु उन ऋत) उत्तम दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा 'ऋत' बिल्कुल

ठीक सत्यज्ञान के देनेवाली वेदवाणी **विरप्शी**=विविध सत्यविद्याओं का प्रतिपादन करनेवाली होती है (रप् लप्=व्यक्तायां वाचि)। इस वेदवाणी में सोम का रक्षण करनेवाला व्यक्ति सब सत्यविद्याओं का ज्ञान प्राप्त करता है। २. **गो-मती**=यह वेदवाणी उस सोमपायी के लिए गौ आदि धनों को देने-वाली होती है। इस वेदवाणी में उसके लिए केवल ज्ञान ही ज्ञान नहीं मिलता अपितु गौवें भी होती हैं अर्थात् यह उसे जीवन के लिए आवश्यक गवादि धन को जुटाने के भी योग्य बनाती है। **मही** =(मह पूजायाम्) यह वेदवाणी उसकी मानस-वृत्ति को पूजावाला करती है अर्थात् जहाँ इसका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होता है वहाँ इसके हाथ धन कमानेवाले होते हैं और इसका हृदय पूजा की भावना से ओतप्रोत होता है। यह वेदवाणी **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, दान देनेवाले के लिए अर्थात् लोभ की वृत्ति से ऊपर उठे हुए पुरुष के लिए **पक्वा शाखा न**=परिपक्व शाखा के समान होती है अर्थात् जैसे एक पूर्ण परिपक्व शाखा से विविध फलों की प्राप्ति होती है इसी प्रकार दाश्वान् के लिए वेदवाणी विविध इष्टफलों के देनेवाली होती है। इस वेदवाणी से उसे 'क्षीर, सर्पिः, मधु, उदक (सामवेद १२९९) पुण्यभक्ष व अमृतत्व (१३०३)' प्राप्त होता है। अथर्व के शब्दों में 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस् व अमृतत्व' को यह देनेवाली है।

भावार्थ–वेदवाणी (क) सर्वसत्यविद्याओं की प्रतिपादक (ख) धनों को देनेवाली (ग) पूजा की वृत्ति को प्राप्त करानेवाली तथा (घ) इष्टफलों के देनेवाली है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विभूतियाँ व ऊतियाँ (ऐश्वर्य व रक्षण)

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते। सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **एवा हि**=इस प्रकार निश्चय से **ते**=तेरी **विभूतयः**= ऐश्वर्य हैं। २. ये आपके ऐश्वर्य **मावते**=(मा-प्रमा-ज्ञान) ज्ञानवाले **दाशुषे**=दान की वृत्तिवाले पुरुष के लिए **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **ऊतयः**=रक्षारूप **सन्ति**=होते हैं। ऐश्वर्य अज्ञानी व लोभी पुरुष के ह्रास व विनाश का कारण बनता है परन्तु यही ऐश्वर्य ज्ञानी, निर्लोभी पुरुष की निरन्तर उन्नति का कारण बनता है। यह उसकी आवश्यकताओं को सुन्दरता से पूर्ण करता हुआ अभावजन्य कष्टों से उसे बचाता है एवं ऐश्वर्य 'मावान्, दाश्वान्' का ही कल्याण करता है। अज्ञानी, लोभी पुरुष को तो यह उच्छृङ्खल ही बना देता है। ३. गत मन्त्र के अनुसार वेदवाणी पक्वशाखा के तुल्य होती हुई सब इष्ट ऐश्वर्यों को देती है। ये ऐश्वर्य उसी का कल्याण करते हैं जोकि ज्ञानी व दानी बनता है।

भावार्थ–मैं 'मावान् व दाश्वान्' बनूँ, ताकि प्रभु की विभूतियाँ मेरे लिए ऊतियाँ (रक्षक) हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—वर्धमाना गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सोम व उक्थ

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या। इन्द्राय सोमपीतये ॥१०॥

१. **एवा हि**=इस प्रकार निश्चय से **अस्य**=इस ऐश्वर्यों व रक्षणोंवाले इन्द्र के **स्तोमः**=साम-साध्य गायन **च**=और **उक्थम्**=ऋग्मन्त्रों से साध्य विज्ञानप्रधान स्तवन **काम्या**=कामयितव्य हैं, चाहने योग्य हैं और **शंस्या**=शंसन के योग्य हैं। साम-मन्त्रों द्वारा प्रभु के गुणों का ही कीर्तन करना चाहिए तथा ऋग्मन्त्रों द्वारा सृष्टि के पदार्थों में रचना-सौन्दर्य के दर्शन से उस प्रभु की महिमा का ही शंसन करना चाहिए। २. ये स्तोम व उक्थ भक्तिप्रधान व विज्ञानप्रधान स्तवन, हृदय व मस्तिष्क से होनेवाला

उपासन **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए होगा और **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए होगा। प्रभु-स्तवन सदा वासनाओं का विनाशक है, परिणामतः सोम के पान व रक्षण में सहायक है और सोम की रक्षा के द्वारा यह हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का गुण-स्तवन व महत्त्व-कथन ही हमसे कामयितव्य व शंसनीय है। ये ही हमें परमैश्वर्य के प्राप्त करानेवाले हैं और सोम के रक्षण में सहायक हैं।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ उस धन की प्रार्थना से होता है जोकि संविभागपूर्वक सेवन किया जाए तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता हुआ वासनाओं को दूर रखे (१)। तथा यह धन राष्ट्र में इतनी प्रचुर मात्रा में हो कि उससे पैदल व अश्वारोही सेना रखी जा सके (२)। उत्तम शस्त्रों का क्रय किया जा सके (३)। तथा सुशिक्षित सैनिकों द्वारा शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा की जा सके (४)। वस्तुतः उस प्रभु की कृपा से ही युद्ध में विजय होती है (६)। सैनिकों की वीरता के लिए संयमी जीवन आवश्यक है (७)। साथ ही वेदज्ञान तो प्राप्त करना ही चाहिए (८)। इस सुरक्षित राष्ट्र में हम ज्ञानी व दानी बनकर प्रभु के ऐश्वर्यों व रक्षणों के पात्र बनें (९)। सदा प्रभु का स्तवन कर सोम-रक्षण करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें (१०)। इस प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम के रक्षण के निर्देश से ही अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ओजसा अभिष्टिः

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा ॥१॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले जीव! तू **आ इहि**=मेरी ओर आ, **अन्धसा**=इस आध्यातव्य—अत्यन्त ध्यान देने योग्य सोम से **मत्सि**=तू आनन्द का अनुभव कर। सोम के रक्षण के द्वारा तू नीरोग, निर्द्वेष व निर्विकल्प होकर एक अद्भुत हर्ष का अनुभव करेगा। २. इन **विश्वेभिः सोमपर्वभिः**=सोम के शरीर में ही पूरणों के द्वारा **महान्**=तू बड़ा बनता है। यदि हम शरीर में ही इस सोम के व्याप्त करने को १०० अंक दें तो १ प्रतिशत रक्षण करनेवाला असुर्यलोक में जन्म लेता है, २५ प्रतिशत रक्षा करनेवाला मर्त्यलोक व पृथिवीलोक में, ५० प्रतिशत रक्षण करनेवाला चन्द्रलोक में, ७५ प्रतिशत रक्षण करनेवाला द्युलोक में तथा ९९ प्रतिशत रक्षण करनेवाला स्वर्लोक में जन्म को प्राप्त करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'सोम का शरीर में पूरण' मनुष्य को महान् बनानेवाला है। ३. इस प्रकार महान् बनकर **ओजसा**=पराक्रम के द्वारा **अभिष्टिः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाला बन (शत्रूणामभिभविता)। सोम से मनुष्य सशक्त बनता है। तेज से लेकर सहस् तक सभी बल परमात्मा से ही प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति सोम के रक्षण से होती है। हम उतने ही महान् बन पाते हैं जितना हम सोम का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें, आनन्दमय मनवाले हों। सोम के पूरण से महान् बनकर ओजस्विता से शत्रु का दमन करें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

मन्दि चक्रि (हर्ष व क्रियाशीलता)

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने। चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥२॥

१. **ईम्**=निश्चय से **सुते**=उत्पन्न होने पर **एनम्**=इस सोम को **आसृजता**=(पुनरभ्युन्नयत—सा०) सारे शरीर में उन्नयन (=ले-जाने) का प्रयत्न करो। जीव का यह मूलभूत कर्त्तव्य है कि वह आहार से रसादि क्रम से सप्तम स्थान में उत्पन्न हुए इस सोम का शरीर में ही समवाय करने का प्रयत्न करे। यही संयम है, यही ब्रह्मचर्य है। २. यह सोम **मन्दिने**=(मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) स्तुति करनेवाले, स्तवनशील **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **मन्दिम्**=आनन्द व हर्ष को देनेवाला है। और **विश्वानि**=सब कर्त्तव्य-कर्मों को **चक्रये**=करने के स्वभाववाले जीव के लिए **चक्रिम्**=यह क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला है। ३. सोम के रक्षण व शरीर में ही अभ्युन्नयन के दो परिणाम सुव्यक्त हैं—(क) एक तो यह सोम सब रोगों को दूर करके स्वास्थ्य के द्वारा मन को आनन्दयुक्त करता है (मन्दिम्) तथा शक्ति की वृद्धि के द्वारा यह सोम उसे अनथक कार्य करनेवाला बनाता है।

भावार्थ—हम उत्पन्न सोम का शरीर में ही अभ्युन्नयन करें, यह हमें हर्षित करेगा व क्रियाशील बनाएगा।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

हनु व नासिका का ठीक व्यापार

मत्स्वा॑ सुशिप्र म॒न्दिभि॒ः स्तोमे॑भिर्विश्वचर्षणे। सचै॒षु सव॑ने॒ष्वा ॥३॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि सोम की रक्षा करने से जीवन 'आनन्दमय व क्रियामय' बनता है। इस जीव से प्रभु कहते हैं कि हे **सुशिप्र**=(शिप्रे हनू नासिके वा—नि० ६।१७) शोभन हनुओं व शोभन नासिकावाले ! अर्थात् हनुओं व नासिका के उत्तम व्यापारवाले, भोजन को खूब चबाकर सेवन करनेवाले तथा प्राणायाम द्वारा प्राणापान की उत्तम गतिवाले जीव ! तू **मन्दिभिः**=आनन्द को देनेवाले **स्तोमेभिः**=प्रभु-स्तवनों से **मत्स्वा**=एक मस्ती का अनुभव कर, तेरा हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो जाए। वस्तुतः जब हम भोजन को ठीक चबाकर खाएँगे तो भोजन का परिपाक ठीक प्रकार से होकर वीर्य का निर्माण उत्तमता से होगा। अब इसके बाद नासिका का व्यापार अर्थात् प्राणापान की गति होगी अर्थात् प्राण-साधना सुन्दरता से चलेगी तो इस वीर्य का शरीर में रक्षण ठीक ढंग से होगा। इसी रक्षण-कार्य में प्रभु-स्तवन भी हमारे लिए सहायक होगा। उस समय हमें ये स्तोत्र अच्छे भी लगेंगे। असंयमी जीवन में प्रभु-स्तवन की रुचि ही नहीं होती। २. हे **विश्वचर्षणे**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले स्तोतः ! तू **एषु सवनेषु**=जीवन के इन प्रातः सवन (बाल्य) माध्यन्दिन सवन (यौवन) तथा सायंतन सवन (वार्धक्य) में **सचा**=(सह) सदा सोम के साथ रहता हुआ अथवा 'षच् समवाये' सोम का अपने में समवाय=मेल करता हुआ **आ**(गच्छ)=तू हमारे प्रति आ।

भावार्थ—'चबाकर भोजन करना' भोजन के परिपाक एवं वीर्य-निर्माण में सहायक है और प्राणायाम वीर्य-रक्षण में। वीर्य का रक्षण होने पर मनुष्य को प्रभु-स्तवन में आनन्द का अनुभव होता है। यह व्यक्ति स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठकर सभी का ध्यान करता है और बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सोम के साथ रहता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वृषभ-पति (वर्षक-पालक)

असृ॑ग्रमिन्द्र ते॒ गिर॒ः प्रति॒ त्वामुद॑हासत। अजो॑षा वृष॒भं पति॑म् ॥४॥

१. जीव प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है कि हे **इन्द्र**=मेरे सब वासनारूप शत्रुओं का संहार

करनेवाले प्रभो ! **ते गिरः**=तेरे स्तुति-वचनों को **असृग्रम्**=बनाता हूँ। प्रभु के स्तवन के लिए यज्ञरूप वाणियों को 'गिरः' कहते हैं। कर्मप्रधान स्तुति इन 'गिर्' नामक वाणियों से ही होती है। गत मन्त्र का 'विश्वचर्षणिः' विश्व-हित के दृष्टिकोण से कार्यों को करता हुआ इन स्तुतियों का निर्माण करता है। २. ये स्तुतियाँ **वृषभम्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले **पतिम्**=सबके पालक **त्वाम्**=आपके प्रति **उदहासत**=उद्गत होकर प्राप्त होती हैं। कर्मप्रधान स्तुतियाँ करनेवाला यह व्यक्ति लोकहित का साधन करनेवाले उन कर्मों का गर्व नहीं करता। उन कर्मों से होनेवाले सुख का वर्षक वह प्रभु को ही समझता है। उन कर्मों के द्वारा प्रभु ही लोक-पालन कर रहे हैं, ऐसा उसका निश्चय होता है। वह प्रभु को ही 'वृषभ=व पति समझता है। ३. **अजोषाः**=हे प्रभो !आपने उन वाणियों का प्रीतिपूर्वक सेवन किया है, ये मेरी कर्मप्रधान गिराएँ आपको प्रसन्न करनेवाली हैं।

भावार्थ—हम कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें, उन कर्मों से होनेवाले सुख का वर्षण व पालन-कर्ता प्रभु को ही जानें। इन स्तुतिगिराओं से प्रभु को प्रीणित करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विभु-प्रभु (पूरक-प्रभावजनक)

सं चोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम्। असदित्ते विभु प्रभु॥५॥

१. गत मन्त्र का कर्मप्रधान स्तोता कर्मों की सिद्धि के लिए धन की याचना करता हुआ कहता है कि—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! आप **अर्वाग्**=हमारी ओर **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान के वर्धक **राधः**=कार्यों के साधक धन को **संचोदय**=प्रेरित करिए। प्रभु-कृपा से हमें धन प्राप्त हो, वह धन हमारे लोकहित के लिए किये जानेवाले कार्यों का साधक हो (राधसिद्धौ)। २. **वरेण्यम्**=यह धन सचमुच वरने योग्य हो, श्रेष्ठ हो, श्रेष्ठ साधनों से ही कमाया गया हो। ३. हे प्रभो ! **ते**=आपकी कृपा से ही वह धन **असत्**=प्राप्त हुआ करता है जोकि **विभु**=आवश्यक भोग्यवस्तुओं के जुटाने के लिए पर्याप्त होता है (भोगाय यावत् पर्याप्तम्—सा०) और **प्रभु**=प्रभावजनक होता है। यह धन तो प्रभो ! **इत्**=निश्चय से **ते**=आपका ही है। आपके ही धन से आपकी ही दी हुई शक्तियों से ये सब कार्य हुआ करते हैं, सो ये सब तो आपके ही हैं, मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो ! हमें वह धन प्राप्त कराइए जोकि (क) कर्मों का साधक हो (राधः), (ख) चाहने योग्य हो, असद् उपायों से जिसका अर्जन न हुआ हो, (ग) जो आवश्यक भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला हो (विभु), (घ) जो हमारे प्रभाव व सामर्थ्य को बढ़ानेवाला हो (प्रभु)। इस धन से हम लोकहित के कार्यों को सिद्ध करनेवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रभस्वान्-यशस्वान्

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः। तुविद्युम्न यशस्वतः॥६॥

१. हे **तुविद्युम्न**=प्रभूत-धन **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्, शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो ! **अस्मान्**=हमें **तत्र राये**=वहाँ धन के लिए **सु चोदय**=उत्तमता से प्रेरित करिए, अर्थात् आपकी कृपा से हम धन को प्राप्त करनेवाले बनें। यहाँ 'तुविद्युम्न' सम्बोधन स्पष्ट करता है कि हम भी प्रभूत धनवाले बनें तथा 'इन्द्र' सम्बोधन इस बात का संकेत करता है कि इस धन को प्राप्त करके हम शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले बनें। २. किस प्रकार के हम लोगों को धन प्राप्त हो ? **रभस्वतः**=(उद्योगवतः) उद्योगवाले

जो हम हैं तथा साथ ही **यशस्वतः**=यशवाले जो हम हैं अर्थात् हम क्रियाशील हों और हमारी क्रियाएँ यशस्वती हों, उत्तम हों। इन यशोजनक क्रियाओं को करते हुए अपने प्रशस्त पुरुषार्थों से धन-प्राप्ति के अधिकारी बनें।

भावार्थ—हम प्रशस्त पुरुषार्थ-सम्पन्न होकर उस तुविद्युम्न इन्द्र के—प्रभूत ऐश्वर्यवाले प्रभु के धनों के पात्र बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'विश्वायु अक्षित' धन

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=उस धन को **सं धेहि**=प्राप्त कराइए जो धन कि (क) **गोमत्**=उत्तम गौवोंवाला हो अर्थात् जिस धन से हम घर में उत्तम गौ आदि पशुओं को रख सकें, (ख) **वाजवत्**=जो धन अन्नवाला हो, जिस धन से हम घर में पौष्टिक अन्नों को जुटा सकें, (ग) **पृथु**=जो धन हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाला हो, (घ) **बृहत्**=जो बुद्धि का कारणभूत हो, (ङ) **विश्वायुः**=जो हमारे पूर्ण जीवन का कारण बने, जिससे हम शरीर में स्वास्थ्य का, मन में नैर्मल्य का व बुद्धि में तीव्रता का सम्पादन करनेवाले बन सकें अथवा जो हमें पूरे सौ वर्ष तक चलानेवाला हों, तथा (च) **अक्षितम्**=जो धन हमारी किसी प्रकार की क्षीणता का कारण न बने।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें 'गोमत्-वाजवत्-पृथु-बृहत्-विश्वायु व अक्षित श्रव=धन की प्राप्ति हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धन, रथ व अन्न

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्। इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=उस धन को **धेहि**=धारण कराइए, जो धन (क) **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत है (ख) **द्युम्नम्**=ज्योतिर्मय है (ग) **सहस्रसातमम्**=सहस्र संख्याक दानों से युक्त है। २. इस प्रकार के धनों को तो हमें प्राप्त कराइए ही, हे प्रभो! **ताः**=उन **रथिनीः**=बहुत-से रथों से युक्त **इषः**=अन्नों को **धेहि**=धारण कराइए। ३. धन वही ठीक है जोकि (क) वृद्धि का कारणभूत हो अर्थात् हमें विषय-वासनाओं में फँसाकर ह्रास की ओर ले-जानेवाला न हो। (ख) यह धन हमें अपना दास बनाकर कहीं हमें मूर्ख ही न बना दे; यह हमारी ज्ञान-ज्योति का बढ़ानेवाला हो तथा (ग) साथ ही हम इस धन का खूब दान करनेवाले बनें। लालच में पड़कर हम इसके पहरेदार ही न बन जाएँ। इस प्रकार के धन के साथ हमारे पास आने-जाने के लिए वाहनों की कमी न हो तथा वाञ्छनीय अन्नों की कभी न्यूनता न हो।

भावार्थ—हमें प्रभु-कृपा से 'बृहत्-द्युम्न-सहस्रसातम' धन प्राप्त हो तथा रथों के साथ अन्नों की कमी न हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वसुपति व ऋग्मिय प्रभु

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्। होम गन्तारमूतये ॥९॥

१. हम **गीर्भिः गृणन्तः**=यजूरूप वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए **वसोः ऊतये**=धनों के रक्षण के लिए अथवा धनों से आवश्यकताओं की पूर्तियों के द्वारा आत्मरक्षण के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **होम**=पुकारते हैं जो प्रभु २. **वसुपतिम्**=सब धनों के स्वामी हैं, वे ही धनों को देकर हमें आत्मरक्षण के योग्य बनाया करते हैं, ३. **ऋग्मियम्**=ऋचाओं के द्वारा स्तुति के योग्य हैं अथवा इन विज्ञानात्मक ऋचाओं का निर्माण करनेवाले हैं (ऋचो मिमीते—सा०)। वैज्ञानिक लोग सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान प्राप्त करते हुए उन पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखते हैं और ऋचाओं द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। ये प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में ऋचाओं के द्वारा विज्ञान का उपदेश दे रहे हैं। ४. **गन्तारम्**=ये प्रभु अपने सब स्तोताओं को प्राप्त होनेवाले हैं, प्रभु को ज्ञानी भक्त आत्मतुल्य प्रिय हैं, परन्तु वे प्रभु आर्त्त भक्तों को प्राप्त न होते हों, सो नहीं, वे उन्हें प्राप्त होकर उनके कष्टों का निवारण करनेवाले हैं। वसुपति होने से निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराके प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। 'ऋग्मिय' होने से ज्ञान देकर पदार्थों के ग़लत प्रयोग से हमें बचाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'वसुपति व ऋग्मिय' हैं। हम स्तुति द्वारा प्रभु को पुकारते हैं तो वे वसुओं के प्रापण द्वारा हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शत्रुशोषक बल की अर्चना

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः। इन्द्राय शूषमर्चति ॥१०॥

१. **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त करनेवाला **अरिः**=(इयर्ति) क्रियाशील व्यक्ति **सुते-सुते**=प्रत्येक सोम-सम्पादन-कार्य के होने पर **न्योकसे**=निश्चितरूप से हममें निवास करनेवाले **बृहते**=सदा से वृद्ध **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल की **अर्चति**=अर्चना करता है। २. मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु को वही प्राप्त करता है जो कि (क) वृद्धि को प्राप्त करनेवाला क्रियाशाली व्यक्ति है, उन्नतिशील है तथा निरन्तर गतिशील है, (ख) सोम का सम्पादन करनेवाला है (सुते न्योकसे) तथा (ग) बल का सम्पादन करता है (शूष) निर्बल को तो प्रभु प्राप्त ही नहीं होते (**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**)।

भावार्थ—हम सोम का सम्पादन करें, वर्धनशील व क्रियामय जीवनवाले बनें, शक्ति की अर्चना करें, कामादि शत्रुओं का शोषण करके प्रभु को प्राप्त हों।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ सोमरक्षण द्वारा आनन्द को प्राप्त करने से होता है (१)। यह सोम का रक्षक मस्ती में प्रभु का स्तवन करता है (४)। प्रभु से उत्कृष्ट धन की याचना करता है (५-८)। प्रभु-प्राप्ति के लिए सोमरक्षण करता हुआ बल की अर्चना करता है (१०)। 'सबल बनकर प्रभु को प्राप्त करता है और प्रभु का ही गायन करता है' इस भावना से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

गायन-अर्चन-उद्यमन

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **गायत्रिणः**=साममन्त्रों से प्रभु के गुणों का गायन करनेवाले उद्गाता **गायन्ति**=गाते हैं। आपके गुणों का स्तवन करते हुए उन गुणों

को ही अपना जीवनादर्श बनाते हैं और आप जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। २. **अर्किणः**=पूजा के साधन-भूत ऋक्-मन्त्रोंवाले होता लोग इन ऋचाओं से पदार्थों के विज्ञान को प्राप्त करके उन पदार्थों में आपकी महिमा को देखते हुए **अर्कम्**=अर्चना के योग्य आपकी **अर्चन्ति**=पूजा करते हैं। आपकी महिमा को देखते हुए वे आपके प्रति नतमस्तक होते हुए और नम्रता के भाव को धारण कर अभिमान का नाश करनेवाले बनते हैं। ३. हे **शतक्रतो! ब्रह्माणः**=आपकी महिमा के दर्शन से आपका ज्ञान प्राप्त करनेवाले ये लोग **त्वा**=आपको इस प्रकार **उद्येमिरे**=उन्नति को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने अन्दर आपकी भावना को इस प्रकार निरन्तर बढ़ाते हैं **इव**=जैसे कि ये ज्ञानी पुरुष **वंशम्**=अपने कुल को उन्नत करते हैं अथवा जैसे एक उद्देश्य से चलनेवाले लोग अपने झण्डे के बाँस को ऊँचा करते हैं उसी प्रकार ये ज्ञानी लोग आपको अपने जीवन की पताका बनाते हैं, आपके चारों ओर इनकी सब क्रियाएँ केन्द्रित होती हैं। इनका लक्ष्य केवल आपको प्राप्त करना ही हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का ही गुणगान करें, उसी का अर्चन करें, और प्रभु को ही अपने जीवन की पताका बनाएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पर्वत-शिखर से पर्वत-शिखर पर

यत्सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्। तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु को जीवन का लक्ष्य बनाकर जब हम जीवनयात्रा में चलेंगे तो 'मार्ग में विघ्न न आएँगे' ऐसी तो कल्पना ही न करनी चाहिए। **'श्रेयांसि बहु विघ्नानि'**=विघ्न कल्याणों में ही हुआ करते हैं—'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' धर्म का मार्ग दुर्गम तो है ही। परन्तु प्रभु को लक्ष्य बनाकर **यत्**=जब यह 'मधुच्छन्दा' आगे बढ़ता है तब **सानोः**=एक पर्वतशिखर से **सानुम्**=दूसरे पर्वत शिखर पर **आरुहत्**=आरूढ़ होता है, अर्थात् एक के बाद दूसरी बाधा को जीतकर आगे बढ़ता चलता है तथा **भूरि**=खूब ही **कर्त्वम्**=अपने कर्त्तव्यों को **अस्पष्ट**=स्पृष्ट करता है अर्थात् प्रारम्भ करता है, संक्षेप में जब यह विघ्नबाधाओं से न घबराकर उनको जीतता हुआ आगे बढ़ता चलता है २. **तद्**=(तदा) तब यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष विघ्नबाधाओं से न घबरानेवाला पुरुष **अर्थम्**=अपने पुरुषार्थ को, लक्ष्य को **चेतति**=जान पाता है अर्थात् लक्ष्य तक पहुँच जाता है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को यह प्राप्त कर पाता है। नियम यही तो है कि 'यो यदर्थं कामयते यदर्थं घटतेऽपि च। अवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते' जो जिस अर्थ की कामना करता है, जिसके लिए पुरुषार्थ भी करता है उसे वह अवश्य पाता है यदि ऊबकर रुक नहीं जाता। ३. यह परम पुरुषार्थ का साधक पुरुष **वृष्णिः**=शक्तिशाली व सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला बनकर **यूथेन**=प्राणगणों के साथ—मरुत्-रूप अपने सैनिकों के साथ **एजति**=शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगा देता है; प्राणसाधना के द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण की आशंका जाती रहती है और इस प्रकार निर्विघ्नता से मनुष्य लक्ष्य-स्थान पर पहुँच जाता है।

भावार्थ—'विघ्नों को दूर कर आगे बढ़ते चलना तथा कर्त्तव्यों को करना' यही पुरुषार्थ-प्राप्ति का मार्ग है। यह साधक प्राणसाधना से कामादि शत्रुओं को कम्पित कर दूर कर देता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

केशिना-वृषणा (प्रकाश+शक्ति)

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥३॥

१. प्रभु 'मधुच्छन्दा' से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष ! तू **हि**=निश्चय से **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युक्ष्वा**=शरीर-रूप रथ में जोत, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगी रहें और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञात्मक कर्मों में व्याप्त रहें। २. ये इन्द्रिय-रूप घोड़े **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले हैं (**केश**=a ray of light), **वृषणा**=शक्तिशाली हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशवाली हैं तो कर्मेन्द्रियाँ शक्तिशाली हैं। ३. ये दोनों प्रकार की ही इन्द्रियाँ **कक्ष्यप्रा**=कक्ष्य का पूरण किये हुए हैं, कमर कसे हुए हैं अर्थात् इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने के लिए कटिबद्ध हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति द्वारा 'प्रकाश' को सिद्ध करने के लिए कटिबद्ध हैं और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों से शक्तिवर्धन के लिए दृढ़ हैं। ४. **अथा**=अब इस प्रकार इन्द्रियों को ज्ञान व यज्ञरूप स्वकार्यों में लगाकर हे **सोमपाः**=सोम (शक्ति) का पान करनेवाले जीव ! **नः**=हमारी **गिराम्**=वाणियों को **उपश्रुतिम्**=आचार्य के समीपस्थ होकर सुननेवाला **चर**=बन। सोम का पान कर, इस सोम से ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके इन वेदवाणियों को सुनने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करें और जीव सोमपान करता हुआ प्रभु की वाणियों को सुनने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

ब्रह्म+यज्ञ=ज्ञान+कर्म

एहि स्तोमाँ अभि स्वराभि गृणीह्या रुव। ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय ॥४॥

१. गत मन्त्र की अन्तिम पंक्ति 'गिरामुपश्रुतिं चर' का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **आ इहि**=तू आचार्य के समीप आ, अथवा उपासना में प्रभु के समीप स्थित हो और **स्तोमान्**=उद्गाता से प्रयुक्त किये जानेवाले साममन्त्रों का **अभिस्वर**=सस्वर गायन कर, **अभिगृणीहि**=अध्वर्युप्रयुक्त यजूरूप मन्त्रों का उच्चारण कर, तथा होतृप्रयुक्त-ऋग्-रूप उक्थों का, प्रभु-महिमा के प्रतिपादक वाक्यों का **आरुव**=समन्तात् प्रतिपादन कर (रु=शब्दे)। २. हे **वसो**=स्तोम, गिर् व उक्थों के उच्चारण के द्वारा उत्तम निवासवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! तू **नः**=हमारे दिये हुए इस **ब्रह्म**=ज्ञान को, वेदज्ञान को तथा **यज्ञं च**=वेद में प्रतिपादित यज्ञों को **सचा**=साथ-साथ **वर्धय**=बढ़ा, अर्थात् तेरे जीवन में ज्ञान व कर्म का मेल हो, 'कर्मशून्य ज्ञान व्यर्थ है तथा ज्ञानशून्य कर्म अपवित्र हो जाता है'—इस बात को हृदयंगम करके तू इन दोनों का मेल करने का प्रयत्न कर। तू यदि पक्षी हो तो ज्ञान और कर्म तेरे दाएँ-बाएँ पंख हों। जैसे एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं, इसी प्रकार अकेले ज्ञान वा कर्म से सिद्धि का सम्भव नहीं। इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध प्रभु-स्तवन की प्रेरणा दे रहा है और उत्तरार्ध ज्ञान और उत्तम कर्मों के लिए प्रेरित कर रहा है। इस प्रकार इस मन्त्र में 'भक्ति, ज्ञान व कर्म' सभी का सुन्दर संकेत समाविष्ट हुआ है।

भावार्थ–हम 'साम, यजुः व ऋग्'-रूप मन्त्रों का गायन व उच्चारण करके अपने ज्ञान को बढ़ाएँ और अपने कर्त्तव्यों को जानकर ज्ञानपूर्वक उनके करनेवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सुत व सख्य (सोम-सम्पादन व मैत्री)

उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे। शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च ॥५॥

१. उस **इन्द्राय**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए **पुरुनिष्षिधे**=(बहूनां शत्रूणां निषेध-कारिणे) काम, क्रोध, लोभादि शत्रु-समूह के रोकने के लिए उसकी **उक्थम्**=महिमा के प्रतिपादक ऋग्-रूप

स्तुतिवचनों का **शंस्यम्**=शंसन करना चाहिए। हमें प्रभु की स्तुति करनी चाहिए, प्रभु-कृपा से ही हमारे कामादि शत्रुओं का संहार होगा और इस प्रकार यह उक्थों का शंसन **वर्धनम्**=हमारी वृद्धि का कारण बनेगा। प्रभु का स्तवन सदा मनुष्य की वृद्धि का कारण होता है। इस स्तवन से मनुष्य के सामने एक ऊँचा लक्ष्य उपस्थित होता है। उस लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ मनुष्य उन्नत होता ही है। २. हमें यह उक्थ-शंसन (=स्तवन) इसलिए भी करना चाहिए **यथा**=जिससे **सुतेषु**='वासनाविनाश' के द्वारा सोम के सम्पादनों के होने पर अर्थात् शक्ति को सुरक्षित करने पर **च**=तथा **सख्येषु**—प्रभु की मित्रता के होने पर **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमारे लिए **रारणत्**=खूब ही उपदेश देते हैं। हृदयस्थ प्रभु की वाणियों को सुनने के लिए आवश्यक है कि हम सोम की रक्षा करें और सोम की रक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हुए उस प्रभु के मित्र बनें। इस प्रकार इस 'सुत और सख्य' के होने पर प्रभु इन वाणियों का **रारणत्**=खूब ही उच्चारण कर रहे होंगे और हम 'श्रुत्कर्ण' बनकर इन वाणियों को सुन रहे होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु की महिमा का गायन करें। यह गायन हमारा वर्धन करनेवाला है, यह हमारी वासनाओं को भी विनष्ट करता है। हमारे लिए अब सोमरक्षा (=सुत) का सम्भव होता है और हम प्रभु के मित्र बनकर उसकी ज्ञान की वाणियों को सुनते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

मित्रता-धन-शक्ति

तमित् सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्यै। स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः॥६॥

१. गत मन्त्र में जिस प्रभु ने हमारे लिए रारणत्=वेदवाणियों का उपदेश किया है **तम् इत्**=उस प्रभु को ही **सखित्वे**=मित्रता के निमित्त **ईमहे**=प्राप्त करने के लिए चेष्टा करते हैं। वस्तुतः संसार में हमारे सच्चे मित्र प्रभु ही हैं, प्रभु की मित्रता में ही हमारा कल्याण है। इससे भिन्न मित्रताएँ कुछ स्वार्थ को लिये हुए हैं। प्रभु की ही मित्रता पूर्ण निष्काम है, अतः यही मित्रता हमारे सर्वहितों को सिद्ध करनेवाली है। २. **तम्**=उस अपने सच्चे मित्र से ही **राये**=धन के लिए हम याचना करते हैं (ईमहे)। 'लक्ष्मीपति' प्रभु ही तो हैं—वस्तुतः सम्पत्ति को देनेवाले उनसे भिन्न और हैं ही कौन? ३. **तम्**=उस प्रभु को ही **सुवीर्ये**=उत्तम शक्ति की प्राप्ति के निमित्त भी **ईमहे**=प्रार्थना करते हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु ही हममें शक्ति का आधान करेंगे—**'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि'** तेज के पुञ्ज प्रभु ही तो मुझमें तेजस्विता का आधान कर सकेंगे। ४. **स शक्रः**=वे प्रभु शक्र हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, वे ही सब-कुछ करने में समर्थ हैं **उत**=और **नः**=हमें भी **शकत्**=शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। लोहा भी अग्नि के समीप आकर जैसे अग्नि की तेजस्विता से लाल-लाल हो जाता है उसी प्रकार प्रभु की समीपता से हमें भी शक्ति प्राप्त होगी। चुम्बक-सान्निध्य से सामान्य लोहे में भी चुम्बकीय शक्ति आ जाती है, इसी प्रकार प्रभु की उपासना से उपासक भी प्रभाव-सम्पन्न हो उठता है। ५. **इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **वसु**=सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक धनों को **दयमानः**=हमें देनेवाले होते हैं। प्रभु-कृपा से जहाँ हमें शक्ति प्राप्त होती है वहाँ शक्ति के साथ धन भी प्राप्त होता है जिससे कि हम सांसारिक आवश्यकताओं को भी सुचारुरूपेण पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—हम प्रभु से मित्रता, धन व सुवीर्य की याचना करें। वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनाते हुए निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।
यशः+राधः

सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद् यशः । गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः ॥७॥

१. **'यशो वै हिरण्यम्'** (ऐ० ७.८) इस ऐतरेय वाक्य के अनुसार प्रभु जब हमारे मित्र बनते हैं तो **यशः**=(हिरण्यम्), ज्योति (Splendour) को भी प्राप्त कराते हैं । यह ज्ञान की ज्योति **सुविवृतम्**=उत्तम विवरणवाली होती है । इसमें हमारे कर्त्तव्यों का सुन्दरता से प्रतिपादन किया हुआ है, **सुनिरजम्**=(सु निः अज) यह उत्तमता से सब बुराइयों को हमसे बाहर फेंकनेवाली होती है । इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके हम सदा अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर चलते हैं और बुराइयों से बचे रहते हैं । हे **इन्द्र**=सूर्य के समान देदीप्यमान कान्तिवाले प्रभो ! यह ज्ञान-ज्योति **इत्**=निश्चय से **त्वादातम्**=आपसे शुद्ध की गई है (त्वा=त्वया, दैप शोधने) 'शुक्रम् उच्चरत्' यह तो पूर्ण शुद्ध ही उच्चारण की गई है, अर्थात् उस प्रभु ने ही वेदवाणी के रूप में वह ज्योति प्राप्त कराई है (क) जिसमें हमारे कर्त्तव्य स्पष्ट दिखते हैं, (ख) जो हमारी बुराइयों को परे फेंकती है तथा (ग) पूर्ण शुद्ध है । २. हे प्रभो ! अब आप कृपा करके **गवाम्**=इन्द्रियों के इस **व्रजम्**=वाड़े को भी **अपवृधि** - खोल डालिए; इन्द्रियों के द्वार खुलेंगे अर्थात् इन इन्द्रियों की शक्ति का विकास होगा तो हम उस ज्ञान की ज्योति को सम्यक् ग्रहण कर पाएँगे । ३. हे **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्र के द्वारा सब विघ्नों को दूर करनेवाले प्रभो ! **राधः**=कार्यों के साधन के लिए आवश्यक धनों को **कृणुष्व**=हमें प्राप्त कराइए । इसके बिना भी हमारी जीवनयात्रा का पूर्ण होना सम्भव न होगा ।

भावार्थ—प्रभु उस ज्योति को दें जोकि 'सुविवृत, सुनिरज व शुद्ध' है । हमारी इन्द्रियों की शक्ति का विकास करें तथा आवश्यक धनों को देने की कृपा करें ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृदनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।
स्वर्वतीः अपः (स्वर्ग्यं कर्म)

नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः । जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि ॥८॥

१. हे प्रभो ! गत मन्त्र के अनुसार 'ज्ञान, शक्ति व धन' को प्राप्त कराने के द्वारा **ऋघायमाणम्**=हमारे सब शत्रुओं का वध करते हुए **त्वा**=आपको **उभे रोदसी**=ये दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक **नहि इन्वतः**=व्याप्त नहीं कर सकते—सारा संसार भी आपको घेरकर उस शत्रुवधरूप कर्म से रोक नहीं सकता । वस्तुतः जब प्रभु-कृपा होती है तो सारा संसार भी हमारे प्रतिकूल होकर हमारा कुछ बिगाड़ नहीं पाता और प्रभु की अनुकूलता न होने पर संसार की अनुकूलता हमारा कुछ साध भी नहीं सकती । २. हे प्रभो ! आप ही हमारे शत्रुओं का संहार करके **स्वर्वतीः**=स्वर्गलोक को प्राप्त करानेवाले **अपः**=कर्मों को **जेषः**=विजय कराते हो । आपकी ही कृपा से हम उन कर्मों को कर पाते हैं जिनके परिणाम-स्वरूप हम स्वर्ग को प्राप्त करते हैं । प्रत्येक उत्तम कर्म प्रभु-कृपा से ही सम्पन्न होता है । प्रभु-प्रदत्त शक्ति के बिना क्या हम कभी किसी कार्य को कर सकते हैं ? अज्ञानवश हमें कर्तृत्व का अहंकार हो जाया करता है । ३. हे प्रभो ! आप ही कृपा करके **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गाः**=वेदवाणियों को **सन्धूनुहि**=सम्यक् प्रेरित करिए । इन वेदवाणियों से ही तो हम उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे जोकि हमें जीवन में मार्ग का दर्शन कराएगा ।

भावार्थ—प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं का नाश करें, हमें शक्ति दें कि हम स्वर्गलोक को प्राप्त करानेवाले कर्मों को कर सकें, वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करें ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

श्रुत्कर्ण बनना

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः । इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ॥९॥

१. पिछले मन्त्र की **'सं गा अस्मभ्यं धूनुहि'** इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि **आश्रुत्कर्ण**=सब प्रकार से सुननेवाले हैं कान जिसके ऐसे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! तू **हवम्**=मेरे आह्वान को **श्रुधि**=सुन, जैसे पिता पुत्र को किसी बात के लिए कहे और पुत्र अनसुना कर दे तो कहते हैं कि इसे तो कुछ कहना व्यर्थ है, यह तो सब सुझावों को बहिरे कानों से अनसुना कर देता है, इसी प्रकार प्रभु की प्रेरणा को हम सामान्यतः सुनते नहीं। प्रभु कहते हैं कि 'मैं प्रेरणा करता रहूँ तू सुने ही ना' ऐसा नहीं, तू मेरी प्रेरणा को सुन । २. और **नु**=शीघ्र ही **मे गिरः**=इन वेदवाणियों को **दधिष्व**=धारण कर, इनको चित्त में स्थान दे । ३. **युजः**=सदा तेरे साथ रहनेवाला जो मैं तेरा साथी हूँ उस **मम**=मेरे **इमं स्तोमम्**=इन साम-मन्त्रों द्वारा किये जानेवाले स्तवन को **चित्**=निश्चय **अन्तरम्**=अपने अधिक समीप **कृष्वा**=कर अर्थात् तुझे प्रभु-स्तवन प्रियतम वस्तु हो, अन्य सब वस्तुओं से इसका स्थान तेरे जीवन में सर्वाधिक हो, तभी तो तू उन कर्मों को कर सकेगा जोकि तुझे स्वर्ग को देनेवाले हों, तभी तू कामादि शत्रुओं का संहार कर पाएगा ।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें, प्रभु की वाणियों को चित्त में धारण करें, प्रभु-स्तवन हमें सर्वाधिक प्रिय हो ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

वृषन्तम

विद्मा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम् । वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्रसातमाम् ॥१०॥

१. प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला 'मधुच्छन्दा' कहता है कि हे प्रभो ! हम **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **वृषन्तमम्**=सब सुखों के सर्वाधिक वर्षक **विद्म**=जानते हैं। आप ही हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं, आपको छोड़कर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं रखता कि हमारी सब कामनाओं को पूर्ण कर सके । २. आपको ही हम **वाजेषु**=सब संग्रामों में **हवनश्रुतम्**=हमारी पुकार सुननेवाला समझते हैं। संग्रामों के अवसर पर आप ही हमारे सहायक होते हैं। आपके साहाय्य के बिना इन संग्रामों में जीतना सम्भव ही नहीं होता । ३. **वृषन्तमस्य**=सब कामों के वर्षक आपकी **सहस्रसातमाम्**=हजारों धनों के देनेवाले **ऊतिम्**=रक्षण को **हूमहे**=हम प्रार्थित करते हैं। आपके द्वारा किये जानेवाले रक्षण की हम याचना करते हैं, वह रक्षण ही हमें हज़ारों धनों का प्राप्त करानेवाला होगा ।

भावार्थ—प्रभु वृषन्तम हैं, अध्यात्म-संग्रामों में प्रभु ही हमें विजयी बनाता है। प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त हुआ तो धनों की हमें कोई कमी न रह जाएगी ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

कौशिक इन्द्र

आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब । नव्यमायुः प्र सू तिर कृधी सहस्रसामृषिम् ॥११॥

१. जीव की प्रार्थना को सुनकर 'वृषन्तम' प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! हे **कौशिक**=(कुशिक=a ploughshare कुशिकं विन्दति कौशिकः) हल को अपनानेवाले अर्थात् कृषि आदि

श्रमसाध्य कर्मों में प्रवृत्तिवाले जीव ! **मन्दसानः**=सदा प्रसन्न रहता हुआ, शोक-क्रोधादि से क्षुब्ध न होता हुआ तू **तु**=(क्षिप्रम्) शीघ्र ही **नः**=हमारे अथवा हमारी प्राप्ति के साधनभूत इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **आ पिब**=सारे शरीर में समन्तात् व्याप्त करने का प्रयत्न कर। सोम की रक्षा के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(क) जितेन्द्रियता (इन्द्र), (ख) श्रमसाध्य कर्मों में लगे रहना (कौशिक), (ग) सदा प्रसन्न रहना (मन्दसानः)। इस सोमरक्षण से सर्वमहान् लाभ यह है कि यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है। २. इस सोम की रक्षा के द्वारा **नव्यम् आयुः**=स्तुत्य, प्रशंसनीय जीवन को **प्रसुतिर**=(प्रकर्षेण सुष्ठु वर्धय) खूब बढ़ानेवाला हो। सब रोगों के नष्ट होने से तेरा शरीर पूर्ण नीरोग होगा, वासनाओं के नष्ट हो जाने से मन निर्मल हो आवरणों के दूर होने से ज्ञान-दीप्त होगा और इस प्रकार तेरा जीवन सचमुच प्रशंसनीय—नया-सा बन जाएगा। ३. इस सोम के रक्षण से तू अपने को **सहस्रसाम्**=सहस्रसंख्याक धनों का सम्भजन करनेवाला तथा **ऋषिम्**=तत्त्वद्रष्टा **कृधि**=बना, अर्थात् सोम की रक्षा के द्वारा तेरी शक्ति की वृद्धि होगी। बढ़ी हुई शक्ति से तू धनों को समुचित रूप से कमानेवाला बनेगा तथा तेरे मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होकर तुझे ऋषि-कोटि में प्रविष्ट करानेवाली होगी।

भावार्थ—'जितेन्द्रियता, श्रमशीलता व मनःप्रसाद' मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं। सोमरक्षण से नीरोगता द्वारा जीवन स्तुत्य बनता है, मनुष्य की सुपथ से धनार्जन की क्षमता बढ़ती है और वह तत्त्वद्रष्टा बनकर ऋषि कहलाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ज्ञान का वातावरण

परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ इ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑। वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु॒ जुष्ट॑यः ॥१२॥

१. प्रभु ही जीव से कह रहे हैं कि हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले जीव ! **इमा गिरः**=ये वाणियाँ ही **त्वा विश्वतः परि भवन्तु**=तुझे चारों ओर से घेरे रहें। तू केन्द्र हो, तेरे चारों ओर ज्ञान की वाणियाँ हों, मनुष्य का सर्वोच्च आनन्द इसी में है कि वह ज्ञान के वातावरण में रहे। २. ये ज्ञान की वाणियाँ **वृद्धायुम् अनु**=बढ़ी हुई आयुवाले तेरे दीर्घायुष्य के अनुपात में ही **वृद्धयः**=बढ़नेवाली हों। तेरी आयु बढ़ती जाए तो आयुष्य की वृद्धि के साथ ये वाणियाँ भी बढ़ती जाएँ अर्थात् तेरा ज्ञान आयुष्य-वृद्धि के साथ बढ़नेवाला हो। ३. **जुष्टयः**=प्रीतिपूर्वक प्रभु का सेवन जिनसे किया जाता है वे ये ज्ञान की वाणियाँ तुझे **जुष्टाः**=प्रिय **भवन्तु**=हों। तू इनका प्रेमपूर्वक सेवन करनेवाला हो। ज्ञान में तुझे आनन्द का अनुभव हो। ये ज्ञान की वाणियाँ ही प्रभु का उत्कृष्ट उपासन हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारा सारा वातावरण ज्ञान-प्रधान हो। आयुष्य के साथ हमारा ज्ञान बढ़ता जाए और हमें ज्ञानयज्ञ के द्वारा प्रभु की उपासना प्रिय हो।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ प्रभुगुण-गायन से होता है। प्रभु को ही हम अपनी जीवनयात्रा की पताका बनाते हैं (१)। विघ्नों को पार करते हुए, कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए मोक्षरूप अर्थ को सिद्ध करते हैं (२)। वेदवाणियों को सुनते हुए (३) ज्ञान व यज्ञ का अपने में वर्धन करते हैं (४)। प्रभु की मित्रता में (६) निर्मल ज्ञान को प्राप्त करते हैं (७)। जितेन्द्रिय व श्रमशील बनकर सोम की रक्षा करते हैं (११)। ज्ञान के वातावरण में रहते हुए ज्ञान-यज्ञ से प्रभु का उपासन करनेवाले बनते हैं (१२)। 'अब हमारी सब वाणियाँ प्रभु का ही वर्धन करनेंवाली होती हैं' इन शब्दों से ११वाँ सूक्त प्रारम्भ होता है। यह सूक्त 'जेता मधुच्छन्दा' का है—जो मधुच्छन्दा का पुत्र बनकर अर्थात् अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला बनकर 'विजेता'= जयशील बनता है।

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृदनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

रथियों में सर्वोत्तम रथी

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः । रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥१॥

१. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **विश्वा गिरः**=सब वेदवाणियाँ **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं, प्रभु की ही महिमा का प्रतिपादन करती हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** इस उपनिषद्-वाक्य में यही तो कहा गया है कि सम्पूर्ण वेदवाणियाँ उस जानने योग्य (प्राप्त करने योग्य) परमात्मा का ही वर्णन करती हैं। **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** यह मन्त्रभाग भी यही कह रहा है कि सारी ऋचाएँ उस सर्वमहान् अक्षर, आकाशवत् व्यापक परमात्मा में ही स्थित हैं। २. वे प्रभु **समुद्रव्यचसम्**=(समुद्र=अन्तरिक्ष) आकाश के समान विस्तारवाले हैं। वस्तुतः प्रभु ही आकाश हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु में ही स्थित है। ३. **रथीनां रथीतमम्**=रथ के संचालकों में सर्वोत्तम रथसंचालक हैं। जबतक कृष्ण अर्जुन का रथ-संचालन करते हैं तबतक अर्जुन की विजय ही विजय होती है, इसी प्रकार हमारे शरीररूप रथ की बागडोर भी प्रभु के हाथ में रहेगी तो हम भी विजय ही विजय करते हुए आगे बढ़ते चलेंगे। ४. **वाजानां पतिम्**=वे प्रभु सब वाजों=शक्तियों के पति हैं। प्रभु के सम्पर्क में हमें भी शक्ति प्राप्त होती है। ५. **सत्पतिम्**=शक्ति को देकर प्रभु सज्जनों के रक्षक हैं। हम भी 'सत्' बनेंगे तो अवश्य प्रभु की रक्षा के पात्र होंगे।

भावार्थ—सम्पूर्ण वेदवाणियाँ प्रभु का गायन करती हैं। वे प्रभु आकाश के समान व्यापक हैं, सर्वोत्तम रथसंचालक हैं, शक्तियों के स्वामी हैं और सज्जनों के रक्षक हैं।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृदनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

अपराजित जेता

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते । त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥२॥

१. हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **शवसस्पते**=बल के स्वामिन्! **वाजिनः**=सब अन्नों व बलों के पति **ते**=आपकी **सख्ये**=मित्रता में हम **मा भेम**=मत भयभीत हों। वस्तुतः एक सामान्य मित्र से भी मनुष्य की शक्ति दुगुनी हो जाती है। प्रभु-रूप मित्र से तो मनुष्य-शक्ति सहस्रों गुणी हो जाती है। उस प्रभु का प्रत्येक कार्य शक्तिशाली है, सब बलों के वे स्वामी हैं, सब शक्तिप्रद अन्नों के वे भण्डार हैं, उस प्रभु की मित्रता में कमी ही किस बात की रह जाती है? वहाँ किसी शत्रु का भय नहीं, किसी अभाव का डर नहीं। २. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अभि**=लक्ष्य करके **प्रणोनुमः**=हम प्रकृष्ट स्तवन करते हैं। 'अभि' में यह भावना भी निहित है कि प्रातः-सायं, दिन के आरम्भ में भी और दिन की समाप्ति पर भी हम आपका स्तवन करते हैं। हमारा सारा जीवन ही स्तवन-रूप होता है। ३. **जेतारम्**=आप ही हमें दिन-भर के सभी कार्यों में विजय प्राप्त कराया करते हैं, आपकी कृपा से ही हमारे कार्य सफल होते हैं। **अपराजितम्**=आप कभी पराजित नहीं होते। आपकी शरण में रहनेवाला मैं भी कभी पराजय का मुख नहीं देखता। प्रभु की ही शक्ति प्रभु ही की विजय है। 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि' सब विजय व सब उद्योग प्रभु ही की विभूति है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम निर्भय बनते हैं, प्रभु-कृपा से सदा विजयी व अपराजित होते हैं। जेता ही सूक्त का ऋषि है।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृदनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

रातयः-ऊतयः

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः । यदी वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु को मित्र बनाते हैं तो उस **इन्द्रस्य**=प्रभु के **रातयः**=दान **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले होते हैं अथवा प्रथम स्थान के अर्थात् सर्वोत्कृष्ट होते हैं (पूर्व=प्रथम)। अन्य मित्र शक्ति की कमी के कारण हमारी सब आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते व अज्ञानवश हमें ग़लत वस्तु भी दें सकते हैं, पर प्रभु अपनी शक्ति व ज्ञान की पूर्णता के कारण हमें सर्वोत्तम वस्तुएँ ही प्राप्त कराया करते हैं २. और **यदि**=जब आवश्यक होता है तो **गोमतः**=गो-दुग्ध से युक्त **वाजस्य**=अन्न के **ऊतयः**=सहायता-रूप में दान तो **न विदस्यन्ति**=कभी नष्ट होते ही नहीं। 'प्रभु हमें आवश्यक अन्न भी प्राप्त न कराएँ' ऐसा नहीं हो सकता। 'मोटर न मिले, कोठियाँ न मिलें' यह सम्भव है, पर अन्न न मिले यह कैसे हो सकता है? और वह अन्न भी रूखा-सूखा नहीं, गो-दुग्धयुक्त अन्न प्राप्त होता है। महाभारत के 'यमस्तु अन्नरसे प्रादात्' ये शब्द स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि अन्न व रस की कभी कमी न होगी। ३. वे प्रभु **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मघम्**=पापशून्य ऐश्वर्य को **मंहते**=प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः प्रभु-स्तवन से अन्ततः निःश्रेयस् तो प्राप्त होता ही है अभ्युदय की भी कमी नहीं रहती।

भावार्थ—प्रभु के दान सर्वोत्कृष्ट हैं, उसके गोरस-युक्त अन्न के साहाय्य तो कभी नष्ट होते ही नहीं, प्रभु के स्तोताओं को पवित्र ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

प्रभु-भक्त की गुण-चतुष्टयी

पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत । इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥४॥

१. प्रभु-भक्त सदा **अजायत**=होता है, विकसित होता हुआ निम्न गुणोंवाला बनता है—यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय होता है और इन्द्रियों के जीतने के कारण ही सिद्धि को प्राप्त करता है (सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति) सारे दोष इन्द्रियों की गुलामी के कारण ही तो थे। (इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्) अब निर्दोष जीवनवाला बनकर यह जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठता है। इसी बात को इस रूप में कहते हैं कि **पुरां भिन्दुः**=यह शरीररूप पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। 'स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर' ही असुरों के 'त्रिपुर' हैं। इनका विदारण करनेवाला यह सचमुच 'त्रिपुरारि' होता है। २. यह **विश्वस्य**=सब **कर्मणः**=कर्त्तव्य कर्मों का **धर्ता**=धारण करनेवाला होता है अर्थात् इसके जीवन में कभी अकर्मण्यता को स्थान नहीं मिलता, इसी का यह परिणाम है कि यह **युवा**=(यु=मिश्रण-अमिश्रण) अच्छाइयों को अपने साथ मिलानेवाला व बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाला होता है। आलस्य व क्रिया का अभाव शतशः दोषों का जनक होता है। ३. यह **वज्री**=वज्रवाला होता है। इस वज्र से ही इन्द्र वृत्र का विनाश करता है। इन्द्र 'जीवात्मा' है, वज्र=(वज गतौ) उसका सतत क्रियाशील जीवन है। इस क्रियाशील जीवनरूप वज्र से ही वह ज्ञान की आवरणभूत कामवासना को विनष्ट करता है। इस प्रकार यह **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। ४. यह **पुरुष्टुतः**=खूब स्तुतिवाला होता है। वास्तविकता तो यह है कि यह श्वास-प्रश्वास लेते हुए भी प्रभु-स्तवन कर रहा होता है। इसका जीवन प्रभु-स्तवन द्वारा प्रभु से जुड़ जाता है और इसके जीवन में प्रभु की शक्ति का प्रवाह होने से यह **अमितौजाः**=

अ-मित=बहुत अधिक ओज-(शक्ति)-वाला होता है। प्रभु-जैसा ही हो जाता है सो इसकी शक्ति अमित तो होनी ही है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर जन्म-मरण पर विजय पाएँ। हम कर्मनिष्ठ बनकर गुणों का ग्रहण व दोषों का अपाकरण करें, हम क्रियामय वज्र को लेकर ज्ञान के आवरण-भूत काम को नष्ट कर क्रान्तदर्शी (कवि) बनें तथा सदा प्रभु-स्तवन से प्रभु-मित्र बनकर अनन्त शक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

'वल' असुर का संहार

त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्। त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः॥५॥

१. हृदय-रूप गुफा वा बिल में प्रभु का अधिष्ठान होने से वहाँ सारा ज्ञान विद्यमान है। इस हृदय-गुहा में ये ज्ञान की रश्मियाँ ही 'गावः' गौवें हैं। यह बिल गोमान् है। इसपर कामवासना का एक परदा-सा पड़ जाया करता है, यह 'वल' (Veil) कहलाता है। गत मन्त्र का 'पुरुष्टुत' इस परदे को दूर कर देता है और उसके दूर होते ही ज्ञान-रश्मियों के प्रकाश से हमारा जीवन जगमगा उठता है। उस जीवन में देवताओं का निवास होता है। मन्त्र में कहते हैं कि—हे **अद्रिवः**=वज्रवाले (अद्रि=वज्र) आदरणीय जीव! **त्वम्**=तू **गोमतः**=इस ज्ञान की रश्मियोंवाले **वलस्य**=ज्ञान पर परदे के रूप में पड़े हुए काम-रूप वृत्र को **बिलम्**=इस हृदय-रूप गुहा को, जिसपर कि कुछ देर के लिए इस काम (=वल) ने ही अधिकार कर लिया है **अपावः**=वज्र के प्रहार से काम को नष्ट करके खोल डालता है। 'क्रियाशील जीवन' ही वज्र है, इस वज्र से इन्द्र=जीव काम को नष्ट कर डालता है। इस बिल के खुलते ही, काम-रूप परदे के हटते ही ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है और २. **त्वाम्**=इस वल नामक असुर का नाश करनेवाले को **देवाः**=सब दिव्य वृत्तियाँ **आविषुः**=व्याप्त कर लेती हैं, तेरा जीवन दिव्यतामय हो जाता है। ये देव **अबिभ्युषः**=भय से रहित हैं। दिव्यवृत्तियों का प्रारम्भ 'अभय' से ही होता है। ये देव **तुज्यमानसः**=(to guard, to protect) सदा रक्षित किये जाने योग्य हैं। असुरों के सतत आक्रमण से इनके नाश का भय बना ही रहता है।

भावार्थ—हम 'वल'=ज्ञान के आवरणभूत काम का संहार कर हृदय को ज्ञान-रश्मियों से द्योतित करें और जीवन को दिव्यवृत्तियों से व्याप्त करें। इस असुर का संहार करके ही हम सब 'जेता' बनते हैं।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

शूर व सिन्धु

तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन्। उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः॥६॥

१. गत मन्त्र का 'जेता' वल का विदारण करनेवाला प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **शूर**=मेरे शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अहम्**=मैं **तव**=तेरे **रातिभिः**=दानों से **सिन्धुम्**=(स्यन्दते) सब दानों के प्रवाह जिनसे चलते हैं उन आपको **आवदन्**=प्रत्येक विजय में प्रशंसित करता हुआ **प्रत्यायम्**=प्राप्त होता हूँ। मैं इन विजयों को अपना न समझकर आपसे होती हुई ही इनको जानता हूँ। २. **गिर्वणः**=गिराओं का सेवन करनेवाले अथवा इन वाणियों से उपासन करनेवाले **उपातिष्ठन्त**=आपकी उपासना करते हैं। ३. और ये **कारवः**=कलात्मक प्रकार से कार्यों को करनेवाले **ते**=(तव) आपकी **तस्य**=उस विजय को **विदुः**=जानते हैं। उनको विजय का गर्व नहीं होता, वे स्पष्ट समझते हैं कि आपकी ही शक्ति उनके माध्यम से उस विजय को कर रही है।

भावार्थ—प्रभु ही शूर हैं, हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हैं। वे ही 'सिन्धु' हैं, सारे दान-प्रवाह उनसे ही चलते हैं। प्रभु की दी हुई शक्तियों से ही मनुष्य विजयी होता है, सो 'कारू' पुरुष इस विजय को प्रभु का ही समझते हैं।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

शुष्ण का संहार

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=सब असुरों के (असुरवृत्तियों के) संहार करनेवाले प्रभो! **मायिनम्**=नानाविध कपटों से युक्त, अशोभनीय रूपों के धारण करनेवाले **शुष्णम्**=विरहाग्नि में सुखा देनेवाले इस काम-रूप असुर को **त्वम्**=आप ही **मायाभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **अवातिरः**=सुदूर हिंसित करनेवाले हो। प्रभु के विना इस शोषक काम को कौन नष्ट कर सकता है? मनुष्य के लिए इसे कर सकना सम्भव नहीं। इसे प्रभु ही जीतते हैं। महादेव की ज्ञान-ज्वाला (माया) में ही कामदेव भस्म होता है। २. **मेधिराः**=मेधावी लोग **ते**=आपकी **तस्य**=इस शुष्ण-नामक असुर पर विजय को **विदुः**=जानते हैं। वे समझते हैं कि यह विजय आपकी ही है। ३. हे प्रभो! आप **तेषाम्**=उन मेधावी पुरुषों के **श्रवांसि**=ज्ञानों व यशों को **उत्तिर**=बढ़ानेवाले होओ। आपकी कृपा से उनका ज्ञान व निरभिमानता के कारण यश बढ़ता ही जाए।

भावार्थ—प्रभु ही इस अत्यन्त मायावी काम को नष्ट करते हैं। मेधावी लोग इस बात को समझते हैं और इस विजय का गर्व न कर निरभिमान बने रहते हैं। इनका ज्ञान व यश बढ़ता चलता है।

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सहस्रों व लाखों दान

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत। सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥८॥

१. **स्तोमाः**=साम-मन्त्रों द्वारा प्रभु का गायन करनेवाले लोग **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा की ही **अभ्यनूषत**=स्तुति करते हैं, उस इन्द्र की जो कि **ओजसा ईशानम्**=अपनी ओजस्विता से सबके ईशान, वश में करनेवाले हैं। वस्तुतः 'इन्द्र हो और ओजस्वी न हो' यह नहीं हो सकता। साथ ही 'ओजस्वी हो और ईशान न हो' यह भी असम्भव है। इस प्रकार प्रभु इन्द्र हैं, ओजस्वी हैं और ईशान हैं। ईशान वे प्रभु हैं **यस्य**=जिनके **रातयः**=दान **सहस्रम्**=हजारों हैं, **उत वा**=हजारों ही क्या प्रत्युत **भूयसीः सन्ति**=इनसे भी अधिक ही हैं। सोचना तो यह होगा कि प्रभु ने हमें क्या नहीं दिया? ऐसा सोचने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि प्रभु के दान अनन्त हैं। इन अनन्त दानों से ही वे हमें उस-उस क्षेत्र में विजयी कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु इन्द्र, ओजस्वी व ईशान हैं। उनके दान अनन्त हैं।

विशेष—इस सूक्त में 'जेता' (मन्त्र का ऋषि) प्रभु को ही जीवन-रथ का सारथि मानकर चलता है (१)। उसकी मित्रता में वह अभय का अनुभव करता है (२)। प्रभु के रक्षण में पूर्ण विश्वास के साथ चलता है, प्रभु उसे सब मघों के देनेवाले हैं (३)। प्रभु के रक्षण में वह अनन्त शक्तिवाला बन जाता है, (४)। प्रभु के साहाय्य में 'वल' व 'शुष्ण' का संहार करता है (५-७)। इन सब विजयों को वह प्रभु की ही मानता है, उनका उसे अहंकार नहीं होता (८)। अब उस प्रभु को वह अपने जीवन-यज्ञ का संचालक समझते हुए कहता है कि—

[अथ चतुर्थोऽनुवाकः] [१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अग्नि-वरण

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है। यह मेधा के साथ अपनी सब क्रियाओं को करता है (मेधया अतति)। यह संसार में प्रकृति व परमात्मा का वरण (चुनाव) उपस्थित होने पर परमात्मा का ही चुनाव करता है और कहता है कि हम तो **अग्निम्**=उन सब उन्नतियों के साधक अग्रेणी प्रभु का ही **वृणीमहे**=वरण करते हैं। वे प्रभु **दूतम्**=(दु=उपतापे) हमारे मलों को तपस्या की अग्नि में तपाकर शुद्ध करनेवाले हैं। २. **होतारम्**=वे हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। ३. **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों के मालिक हैं। ४. **अस्य यज्ञस्य**=इस मेरे जीवन-यज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्ता हैं। प्रभु-कृपा से ही हमारा जीवनयज्ञ चलता है, प्रभु-कृपा के बिना यह जीवन यज्ञमय नहीं रह सकता।

भावार्थ—प्रभु 'अग्नि, दूत, होता, विश्ववेदस् व जीवनयज्ञ' के सुक्रतु हैं। हम उस प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रभु-वरण से आवश्यक प्राकृतिक भोग तो प्राप्त हो ही जाते हैं, प्रकृति में फँसने से होनेवाली दुर्गति से हम बच जाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

पुरुप्रिय का आह्वान

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् । हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥२॥

१. जो भी संसार में समझदारी से चलते हैं वे **अग्निम्**=अग्रेणी परमात्मा को और **अग्निम्**=उस परमात्मा को ही **हवीमभिः**=आह्वान (पुकारने) के साधनभूत मन्त्रों से **सदा**=हमेशा **हवन्त**=पुकारते हैं। प्रकृति का चुनाव करने से मनुष्य घाटे में ही रहता है; ठीक-ठीक बात तो यह है कि कुछ अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. एक 'मेधातिथि' (समझ से चलनेवाला) जानता है कि वे प्रभु **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पति=पालक व रक्षक हैं, और जब प्रभु रक्षक हैं तो हमें भय ही किस बात का ? ३. वे प्रभु **हव्यवाहम्**=सब हव्य=पवित्र, यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। ४. **पुरुप्रियम्**=वे प्रभु पालक व पूरक हैं। हव्यपदार्थों के प्रापण से वे हमारा रक्षण करते हैं और हमारी सब न्यूनताओं को दूर करते हैं, अतएव वे प्रभु प्रिय हैं, सभी को तृप्त करनेवाले व अच्छे लगनेवाले हैं। एक प्रभु-भक्त को अन्त में प्रभु के अतिरिक्त कुछ रुचता ही नहीं। प्रभुदर्शन व प्राप्ति में वह भक्त एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु 'विश्पति, हव्यवाह व पुरुप्रिय' हैं। उस अग्नि नामवाले प्रभु को ही मेधातिथि लोग पुकारते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

देवों का आवहन

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे । असि होता न ईड्यः ॥३॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सम्पूर्ण अग्रगति के साधक प्रभो ! **इह**=इस जीवन में **वृक्तबर्हिषे**=जिसने अपने हृदयान्तरिक्ष को सब वासनाओं से वर्जित (वृक्त) किया है, उस पवित्रहृदय पुरुष के लिए

देवान्=सर्व दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए। वासनाशून्य हृदय दिव्यगुणों के बीजों को बोने के लिए एक उर्वर क्षेत्र के रूप में तैयार किया गया है, उसमें ये उत्तम बीज न बोये जाएँगे तो यहाँ फिर वासनाओं के झाड़-झंखाड़ों के उग आने की आशंका तो है ही। २. हे प्रभो! आप ही **होता**=हमारे लिए इन गुणों को पुकारनेवाले हैं अथवा सब अच्छाइयों के आप ही देनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही हम अपने जीवन-मार्ग में आगे और आगे बढ़ते हैं। ३. **नः ईड्यः**=आप ही हमसे स्तुति करने योग्य हैं, आपको ही हम अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। हम आप तक पहुँच सकें, सो हम आपके ही गुणों का ध्यान करते हैं। ४. हे प्रभो! **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होते हुए आप हममें दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाले हैं। महादेव के आने पर देव तो आएँगे ही। प्रभु का प्रकाश होने पर वहाँ से अन्धकार में पनपनेवाले आसुर-भाव नष्ट हो जाते हैं। महादेव की तृतीय नेत्रज्योति से कामदेव भस्म हो जाते हैं, तो मेरे हृदय में भी महादेव के प्रकट होने पर काम का भस्म हो जाना निश्चित ही है और तब सब दिव्यगुणों का विकास क्यों न होगा?

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे हृदयों में प्रकट होते हुए आप सब दिव्यगुणों का प्रादुर्भाव करिए। आप ही को तो हमें सब अच्छाइयों को प्राप्त कराना है, आप ही हमारे स्तुत्य हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विबोधन

ताँ उ॑श॒तो वि बो॑धय॒ यद॑ग्ने॒ यासि॑ दू॒त्य॑म्। दे॒वैरा स॑त्सि ब॒र्हिषि॑ ॥४॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार 'प्रभु अपने भक्तों का दिव्यगुणों के साथ सम्बन्ध करते हैं' इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! सब देवों के अग्रेणी प्रभो! **उशतः**=आपकी कामनावाले **तान्**=उन हम सबको **विबोधय**=विशिष्ट रूप से बोधवाला करिए। हमारे हृदयों को आप प्रकाशित करिए। हे अग्ने **यत्**=जो आप **दूत्यम्**=दूत-कर्म को **यासि**=प्राप्त होते हैं; अन्य दूत औरों के सन्देश को वहन किया करते हैं, आप अपने सन्देश को ही हमें प्राप्त कराते हैं, अथवा काव्यमय भाषा में कह सकते हैं कि—आप इन सूर्यादि देवों के सन्देश को हम तक पहुँचा रहे हैं। हमें इन सूर्यादि देवों के साथ किस प्रकार वर्तना है, यही मानो उनका सन्देश है। प्रभु इस सन्देश को हमें वेद के द्वारा प्राप्त करा रहे हैं। उसे सुनकर हम अपने जीवन को अधिकाधिक उन्नत व सुखी कर सकते हैं। २. जब हम प्रभु के इस सन्देश को सुनते हैं, जब हमारे हृदय प्रकाशमय होते हैं तो हे प्रभो! **देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदयों में **आसत्सि**=आप विराजमान होते हो।

भावार्थ—हममें प्रभु-प्राप्ति की कामना हो, हम प्रभु के सन्देश को सुनें, प्रभु हमारे हृदयों में अवश्य विराजमान होंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रक्षो-दहन

घृता॑हवन दीदिवः॒ प्रति॑ ष्म॒ रिष॑तो दह। अग्ने॒ त्वं र॑क्ष॒स्विनः॑ ॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार विबोधन के होने पर हमारे हृदय घृत=मलों के क्षरण के द्वारा ज्ञान की दीप्तिवाले बनते हैं (घृ क्षरणदीप्त्योः)। हे **घृताहवन**=(घृतेन आहूयते) मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति के द्वारा आहूयमान प्रभो! प्रभु को पुकारने का अधिकार उसी को है जोकि अपने हृदय के मलों को दूर करता है और ज्ञान को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील होता है। **दीदिवः**=हे दीप्ति से युक्त प्रभो! सहस्रों सूर्यों की

दीप्ति के समान दीप्तिवाले परमात्मन् ! आप **रिषतः**=हिंसा करनेवाले काम-क्रोधादि भावों को **प्रतिदह स्म**=निश्चय से दग्ध कीजिए। एक-एक वासना को विनष्ट करनेवाले आप हूजिए। २. हे **अग्ने**=सब दोषों को दग्ध करनेवाले प्रभो ! **त्वम्**=आप हममें विद्यमान **रक्षस्विनः**=क्रूरता आदि राक्षसी भावनाओं को **प्रतिदह**=दग्ध करनेवाले होइए। कोई भी राक्षसी भाव हमारे अन्दर जीवित न रहे। इनको विनष्ट करके हम दिव्य भावनाओं को अपने में विकसित करनेवाले हों।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप अग्नि हैं, हिंसक व राक्षसी वृत्तियों को आप भस्म करनेवाले हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

क्रमिक आश्रम

अ॒ग्निना॒ग्निः समि॑ध्यते क॒विर्गृ॒हप॑ति॒र्युवा॑। ह॒व्य॒वाड् जु॒ह्वा॑स्यः ॥६॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में 'अग्नि' से मुख्यतया प्रभु का ग्रहण होता है। प्रभु के सम्पर्क में आने पर भक्त-जीव भी अग्नितुल्य बन जाता है। समाज में ये ब्रह्म के उपासक 'ब्राह्मण' अग्नि कहलाते हैं। इन्हीं ज्ञानाग्नि से दीप्त ब्राह्मणों ने आचार्य पदवी पर अधिष्ठित होकर अपने अन्तेवासियों में भी ज्ञानाग्नि को दीप्त करना होता है। इसी बात को मन्त्र में इस रूप में कहते हैं कि **अग्निना अग्निः समिध्यते**=ज्ञानाग्नि से दीप्त 'अग्नि' नामक आचार्य से विद्यार्थी में **अग्नि**=ज्ञानाग्नि **समिध्यते**=दीप्त की जाती है। विद्यार्थी भी ज्ञान को प्राप्त करके 'अग्नि' नाम से कहलाने योग्य हो जाता है। वस्तुतः जीवन के प्रथमाश्रम में यही सबसे महान् कार्य है कि ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करके हम भी 'अग्नि' बनने का प्रयत्न करें। २. अब द्वितीयाश्रम में हम **कविः**=क्रान्तदर्शी बनें, वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझें, आपातरमणीय विषयों के अन्दर हम फँस न जाएँ तथा व्यावहारिक सम्बन्धों को असली मानकर कहीं हम दुःखी न बन जाएँ, अपितु इन सम्बन्धों की व्यावहारिकता को समझते हुए हम **गृहपतिः**=एक सुन्दर घर का निर्माण करें। **युवा**=हमारा प्रयत्न हो कि बुराइयों को दूर करके (यु=अमिश्रण) अच्छाइयों का वहाँ मिश्रण (यु=मिश्रण) करनेवाले बनें। ३. इस प्रकार इस उत्तम घर के निर्माण के बाद गृहस्थ के कर्त्तव्यों से मुक्त होकर वानप्रस्थ होते हुए हम **हव्यवाट्**=हवि के योग्य पदार्थों का ही वहन करनेवाले बनें। मनु ने लिखा है कि—घर के अन्य परिच्छदों को छोड़कर **'अग्निहोत्रं समादाय'** यज्ञ-सम्बन्धी वस्तुओं को लेकर वनस्थ हो जाए। वानप्रस्थ में भी **एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद् विधिपूर्वकम्**=इन महायज्ञों को तो उसे करना ही है। सो वानप्रस्थ में इसका मुख्य कर्त्तव्य इन हवि के उपयुक्त कर्मों को न नष्ट होने देना है। ४. अब संन्यस्त होते हुए यह **जुह्वास्यः**=चम्मच के तुल्य मुखवाला होता है। जैसे चम्मच यज्ञाग्नि में घृत आदि के प्रक्षेप का साधन होता है, उसी प्रकार इसका मुख प्रजा-रूप अग्नि में ज्ञानरूप घृत की आहुति देनेवाला बनता है। एक संन्यासी यत्र-तत्र विचरता हुआ प्रजा में ज्ञान का प्रसार करता है। इसी में जीवनयात्रा की पूर्ति है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में अपने में ज्ञान को समिद्ध करते हुए हम द्वितीयाश्रम में उत्तम 'गृहपति' बन। वानप्रस्थ बनकर यज्ञों का वहन करते हुए 'तुरीयाश्रम' में ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सत्यधर्मा प्रभु का स्तवन

क॒विम॒ग्निमुप॑ स्तुहि स॒त्यध॑र्माणमध्व॒रे। दे॒वम॑मीव॒चात॑नम् ॥७॥

(१) मनुष्यमात्र को उसके मौलिक कर्त्तव्य का संकेत करते हुए कहते हैं कि **कविम्**=उस क्रान्त-

दर्शी सर्वज्ञ प्रभु की **उपस्तुहि**=उपासना व स्तुति कर, जो प्रभु **अग्निम्**=तेरी सब उन्नतियों को सिद्ध करनेवाले हैं, **सत्यधर्माणम्**=सत्य के द्वारा सबका धारण करनेवाले हैं, **अध्वरे देवम्**=(अ+ध्वर) हिंसा-शून्य जीवन में अथवा कुटिलता से रहित जीवन में प्रकाश को करनेवाले हैं तथा **अमीवचातनम्**=रोगों का विनाश करनेवाले हैं। २. वे 'अमीवचातन' प्रभु हमारे अन्नमय कोश को नीरोग बनाते हैं। वे 'देव' प्रभु हमारी इन्द्रियों को प्रकाशमय करते हैं। जहाँ हमारी कर्मेन्द्रियाँ अकुटिल (अ+ध्वर) कर्मों को करने-वाली होती हैं, वहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ सदा उस-उस विषय का प्रकाश करती हैं। प्रभु 'सत्यधर्मा' हैं। सत्य के द्वारा वे हमारे मानस को पवित्र करते हैं और अन्ततः 'कवि' प्रभु हमारे विज्ञानमय कोश को भी ज्ञान-दीप्त करके हमें क्रान्तदर्शी बनाते हैं। इस प्रकार ये प्रभु 'अग्नि'=हमारे 'अग्रेणी'=आगे ले-चलने-वाले हैं। एवं, इस प्रभु की उपासना हमें नीरोग, कार्यक्षम, सत्य के द्वारा पवित्र मानसवाला तथा क्रान्तदर्शी बनाएगी।

भावार्थ—हम 'कवि, अग्नि, सत्यधर्मा, अध्वरे देव, अमीवचातन' प्रभु का स्तवन करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

हविष्पति बनना

यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति। तस्य स्म प्राविता भव॥८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यः**=जो भी **हविष्पतिः**=दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन द्वारा **दूतम्**=भक्तों को तप की अग्नि में सन्तप्त करनेवाले हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले, ज्ञानाग्नि से दीप्त, ज्ञान से औरों को द्योतित करनेवाले प्रभो! जो **त्वाम्**=आपको **सपर्यति**=पूजता है, **तस्य**=उसके **प्राविता भव** (स्म)=अवश्य रक्षक होइए। २. प्रभु 'अग्नि' हैं, सबके अग्रेणी—आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु 'देव' हैं, सब कुछ दान देनेवाले, स्वयं ज्ञान से दीप्त व औरों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले हैं। प्रभु 'दूत' हैं, भक्तों को तप की अग्नि में तपाकर उनके सब दोषों को दूर करनेवाले हैं। ३. इस प्रभु की उपासना 'हविष्पति' बनने से होती है। **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा हम प्रभु का पूजन करें। 'हु दानादनयोः' दानपूर्वक अदन ही 'हवन' है। दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति 'हविष्पति' है। यज्ञमय जीवन से ही प्रभुपूजन होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** प्रभु यज्ञरूप हैं, उस प्रभु की पूजा यज्ञ से ही होती है। यज्ञशेष को खानेवाला 'हविष्पति' है, यही प्रभु की उपासना करता है। प्रभु इसके रक्षक होते हैं।

भावार्थ—हविष्पति बनकर हम प्रभु का उपासन करें, प्रभु हमारी रक्षा करेंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

हविष्मान् होना

यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति। तस्मै पावक मृळय॥९॥

१. **यः**=जो भी उपासक **हविष्मान्**=हविवाला, दानपूर्वक अदन करनेवाला बनकर **देववीतये**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **अग्निम्**=सब देवों के अग्रेणी महादेव नामवाले आपको **आविवासति**=सदा उपासित करता है, हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **तस्मै**=उसके लिए **मृळय**=आप जीवन को सुखी करनेवाले होइए। २. प्रभु अग्नि हैं, सब देवों के अग्रेणी हैं, देव 'देव' हैं तो प्रभु 'महादेव' हैं। सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। प्रभु पावक हैं, वे उपास्य के जीवन को पवित्र करनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु की उपासना से हमें सब दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। सब बुराइयों को समाप्त करने का मार्ग 'प्रभु का उपासन' ही है। ३. प्रभु की उपासना उपासक को 'हविष्मान्' बनाती है। वह व्यक्ति प्रभु का स्तोता

कहलाता है जो प्राकृतिक भोगों में नहीं फँसता, त्यागपूर्वक ही पदार्थों का प्रयोग करता है। इस हविष्मान् के जीवन को प्रभु कल्याणमय करते हैं।

भावार्थ—'अग्नि व पावक' प्रभु की हम त्यागपूर्वक पदार्थों के प्रयोग से उपासना करें, वे प्रभु हमारे कल्याण को सिद्ध करेंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दिव्यता-यज्ञ-हवि

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह। उप यज्ञं हविश्च नः ॥१०॥

१. हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **दीदिवः**=ज्योतिर्मय परमात्मन्! **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **सः**=वह आप **नः**=हमें पवित्र बनाकर (पावक) **इह**=इस मानव-जीवन में **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवह**=सब प्रकार से प्राप्त कराइए। प्रभु पावक हैं, हमारे जीवनों को पवित्र बनाकर हमें दिव्यता को प्राप्त कराते हैं। २. हे ज्ञान से दीप्त प्रभो! (दीदिवः) आप हमें भी अपने ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराइए और **नः**=हमें **यज्ञम् उप** (आवह)=यज्ञ के समीप प्राप्त कराइए, अर्थात् ज्ञान को प्राप्त कर, आपकी कृपा से हमारा जीवन यज्ञमय हो। ज्ञान के अभाव में ही विलास-प्रवणता बढ़ती है। ३. हे प्रभो! आप हमारी सब उन्नतियों के साधक हो (अग्ने)। आप हमें जहाँ यज्ञिय जीवनवाला बनाएँ **च**=वहाँ उसके साथ ही **हविः**=दानपूर्वक अदन के भाव को भी प्राप्त कराइए। दानपूर्वक अदन करते हुए हम इस संसार के विषयों से बद्ध नहीं होते और हम जीवन में आगे बढ़ते चलते हैं, 'अ-सित'=विषयों से अ-बद्ध पुरुष ही प्राची=(प्र-अञ्चू) अग्रगति का रक्षक होता है।

भावार्थ—पावक प्रभु हमारे जीवनों को दिव्यगुणयुक्त बनाते हैं, प्रकाश के पुञ्ज प्रभु हमें यज्ञिय जीवनवाला करते हैं और अग्नि नामवाले वे प्रभु हमें हविर्मय जीवनवाला बनाकर उन्नति पथ पर अग्रसर करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रयि-वीर्य-इष

स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीमिषम् ॥११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हमारे जीवन में 'दिव्यता, यज्ञ व हवि' को स्थान मिलता है तो हम सचमुच अपने जीवन (गयाः=प्राणों) का उत्तम त्राण (त्र=रक्षा) व रक्षण करते हैं। इस प्राणशक्ति का रक्षण जीवन में प्रभु का उत्कृष्ट स्तवन होता है। हम प्रभु से दिये गये इस शरीर का रक्षण करते हुए प्रभु का ही आदर कर रहे होते हैं। प्रभु की वस्तु का रक्षण प्रभु का सच्चा स्तवन है। सो कहते हैं कि **नवीयसा**=(नु स्तुतौ) स्तुत्यतर इस **गायत्रेण**=प्राणों के रक्षण से **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **रयिम्**=धनों को **आभर**=सब प्रकार से भरनेवाले होइए तथा **वीरवतीम्**=वीरतावाले **इषम्**=अन्न को भी **आभर**=सब प्रकार से दीजिए। अथवा **वीरवती**=वीर्य व शक्ति से युक्त **रयिम्**=धन को दीजिए और साथ ही **इषम्**=प्रेरणा को प्राप्त कराइए, ताकि हम उस शक्ति व धन का सदा ठीक ही प्रयोग करें, मद में आकर शक्ति व धन का दुरुपयोग न कर बैठें। २. यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु का उत्कृष्ट स्तवन यही है कि हम प्रभु के दिये हुए शरीर को प्राणशक्ति के रक्षण के द्वारा सुरक्षित रखें। इसके सुरक्षण के लिए ही मन्त्र में 'धन, वीर्य व उत्तम अन्न अथवा उत्तम प्रेरणा' के लिए प्रार्थना की गई है।

भावार्थ—शरीर की प्राणशक्ति का रक्षण करते हुए हम प्रभु का सुन्दर स्तवन करें, प्रभु हमें धन, वीर्य व इष=अन्न व प्रेरणा प्राप्त कराए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शुक्रशोचिः-देवहूति (ज्ञानज्योति व दिव्यता)

अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिः। इमं स्तोमं जुषस्व नः ॥१२॥

१. गत मन्त्रों में 'मेधातिथि काण्व' की प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले मेधातिथे! तू **शुक्रेण शोचिषा**=निर्मल ज्ञानदीप्ति के हेतु से तथा **विश्वाभिः**=सब **देवहूतिभिः**=देवताओं के आह्वान के हेतु से अर्थात् दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त **इमम्**=इस **नः**=हमारे **स्तोमम्**=स्तुति-समूह को, इन मन्त्रों के द्वारा किये जानेवाले गुणों के गायन को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला बन। २. प्रभु-भक्ति से उच्च लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होकर हमारे जीवन को उन्नत करती है। हमें अशुभ बातों की ओर से हटाकर यह प्रभु-भक्ति उत्कृष्ट गुणों को धारण कराती है। एवं हमारे जीवन में प्रभु-भक्ति से देवों का आह्वान होता है, हमारे हृदय-मन्दिर में इन दिव्यगुणों का प्रतिष्ठापन होता है। ३. प्रभुभक्ति से ही वासनाओं का विनाश होकर हमारी ज्ञान की ज्योति (शोचिः) भी चमक उठती है (शुक्र)। एवं प्रभु के आदेश के अनुसार हम सोमों का सेवन करनेवाले बनें। इससे हमारे ज्ञान की ज्योति भी चमकेगी और हमारे अन्दर दिव्यगुणों का स्थापन होगा।

भावार्थ—प्रभुभक्ति हमारी दिव्यता व ज्ञानज्योति का वर्धन करती है।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु-वरण से होता है (१)। वे प्रभु हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हैं तो वहाँ सब दिव्यगुण भी पनपते हैं, (३-४)। प्रभु हमारी घातक वासनाओं को व राक्षसी भावों को दग्ध कर देते हैं (५)। सो, हमें चाहिए कि दानपूर्वक अदन की वृत्ति को अपनाकर हम प्रभु का पूजन करें, प्रभु हमारी रक्षा करेंगे (८)। वे हमारे जीवन को सुखी बनाएँगे, (९)। प्रभुकृपा से हमें दिव्यता, यज्ञ व हविर्मय जीवन प्राप्त होगा, (१०)। वे प्रभु हमें रयि, वीर्य व इष प्राप्त कराएँगे (११)। अब दिव्यगुणों के आह्वान की प्रार्थना से ही अग्रिम सूक्त का प्रारम्भ होता है—यहाँ 'जज्ञानः' (१२.३) शब्द का स्थान 'सुसमिद्धः' (१३.१) ने ले लिया है। जब प्रभु का प्रादुर्भाव व प्रकाश होगा तभी दिव्यगुणों की प्राप्ति होगी (जनी प्रादुर्भावे,इन्ध=दीप्तौ)—

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इध्मः समिद्धो वाऽग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुसमिद्ध अग्नि (पवित्रता व प्रभुप्राप्ति)

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते। होतः पावक यक्षि च ॥१॥

१. पिछले सूक्त के तृतीय मन्त्र में कहा था कि 'अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानः' यहाँ भी कहते हैं कि 'सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने'। शेष शब्द वही के वही हैं, केवल 'जज्ञानः' का स्थान 'सुसमिद्धः' ने ले लिया है, अर्थ समान है। **सुसमिद्धः**=खूब दीप्त होते हुए, हमारे हृदयों में प्रकाश को करते हुए **अग्ने**=हे सब देवों के अग्रणी प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए। जब हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश होगा तो वहाँ दिव्यगुणों का विकास होगा ही। २. हे प्रभो! आप **हविष्मते**=प्रशस्त हविवाले के लिए अर्थात् उस पुरुष के लिए जो कि सदा दानपूर्वक ही अदन करता है,

देवों को प्राप्त कराएँगे ही। देवों का मूल गुण व स्वभाव यही है कि वे देनेवाले हैं (देवो दानात्—निरु०) देकर बचे हुए को ही वे खाते हैं। इस प्रकार भोगवृत्ति से ऊपर उठने के कारण ही उनमें दिव्यगुणों का विकास होता है। २. हे **होतः**=सब दिव्य भावों को प्राप्त करानेवाले **पावक**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! आप हमें देव तो बनाते ही हैं **च**=और आप हमें **यक्षि**=अपने साथ संगत करिए। जितना-जितना हमारा प्रभु से मेल होगा उतना-उतना हमारा जीवन अधिक पवित्र होगा। जितना-जितना जीवन पवित्र होगा उतना-उतना प्रभु के हम अधिक समीप होंगे। इस प्रकार पवित्रता व प्रभु-प्राप्ति में परस्पर भावन है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में पवित्रता व प्रभु-प्राप्ति का परस्पर भावन चले। ये दोनों बातें हमें ऊँचा उठानेवाली हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—तनूनपात्। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तनूनपात् (माधुर्यमय मेल)

मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे। अद्या कृणुहि वीतये ॥२॥

१. उसी प्रार्थना को कुछ विस्तार से करते हुए मेधातिथि (=ज्ञानपूर्वक जीवनयात्रा को चलानेवाला व्यक्ति) कहता है कि हे **तनूनपात्**=हमारे शरीरों को न पतित होने देनेवाले प्रभो! हे क्रान्तदर्शिन् प्रभो! आप **मधुमन्तं यज्ञम्**=इस अत्यन्त माधुर्यवाले संगतीकरण को, हमारे अपने से मेल को **अद्या कृणुहि**=आज ही करिए। २. इस मेल का माधुर्य इस बात में है कि **देवेषु**=यह देवों के निमित्त होता है। इस मेल से हममें सब दिव्यगुणों का विकास होता है। आपके साथ सब देवों का आना स्वाभाविक ही है। सब देव आपका ही तो अनुगमन करते हैं। ३. **वीतये**=यह मेल 'वीति' के लिए होता है—(वी=गति) हमारे जीवनों में प्रकृष्ट गति का कारण होता है; (वी=प्रजनन) यह प्रकृष्ट गुणों को, विकास को उत्पन्न करता है; (वी=कान्ति) इस मेल से हमारे जीवनों में एक अद्भुत कान्ति आ जाती है; (वी=असन) यह मेल हमसे सब दुर्गुणों को दूर फेंकनेवाला होता है और (वी=खादने) हमारा आपसे यह मेल हमारी सब राक्षसी वृत्तियों का अन्त करनेवाला होता है। इस प्रकार यह मेल सचमुच मधुरतम होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे उत्थान का कारण है। प्रभु से मेल हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का विकास करता है तथा बुराइयों का नाश करके दीप्ति को लाता है। इस प्रकार यह मेल अत्यन्त मधुर है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—नराशंसः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

हविष्कृत् मधुजिह्व

नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञ उप ह्वये। मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥३॥

१. **अस्मिन् यज्ञे**=गत मन्त्र में वर्णित 'मधुमान् यज्ञ'=माधुर्य-मेल के निमित्त **इह**=इस मानव-जीवन में प्रभु को **उपह्वये**=पुकारता हूँ, जो प्रभु **नराशंसम्**=मनुष्यों से शंसन के योग्य हैं। प्रभु का शंसन (गुणों का उच्चारण) ही हमारी उन्नति का कारण बनकर हमें 'नर' बनाता है, (नृ नये) यही हमें उन्नति-पथ पर आगे ले-चलता है, ३. **प्रियम्**=(प्रीणाति) वे प्रभु हमें प्रीणित करनेवाले हैं। प्रभु की प्राप्ति ही एक अनिर्वचनीय आनन्द के द्वारा तृप्ति को देनेवाली है, ४. **मधुजिह्वम्**=वे प्रभु माधुर्यमय जिह्वावाले हैं अर्थात् हृदयस्थ होकर अत्यन्त मधुरता से निरन्तर सत्प्रेरणा दे रहे हैं, ५. और इस प्रेरणा के द्वारा **हविष्कृतम्**=हमारे जीवनों में हवि को करनेवाले हैं। प्रभु के मेल में हम उस आनन्द का अनुभव

करते हैं जिसके सामने संसार के सब भोग अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। सो इन भोगों के आकर्षण के समाप्त हो जाने से हमारा जीवन हविर्मय हो जाता है। उस समय हम स्वाद के लिए न खाकर क्षुधारूप रोग की निवृत्ति के लिए ही खा रहे होते हैं।

भावार्थ—हम 'नराशंस-प्रिय, मधुजिह्व, हविष्कृत्' प्रभु का आह्वान करें, ताकि उस प्रभु से हमारा मेल हो सके।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इळः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुखतम-रथ

अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईळित आ वह। असि होता मनुर्हितः ॥४॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! आप **ईळितः**=हमसे स्तुति किये हुए **सुखतमे रथे**=इस अत्यन्त उत्तम इन्द्रिय-(=ख)-रूप घोड़ेवाले शरीर-रूप रथ में **देवान्**=देवों को **आवह**=सब प्रकार से प्राप्त कराइए। जिस समय हम इस शरीर का रोगादि के आक्रमण से रक्षण करते हैं और एक-एक इन्द्रिय की शक्ति को क्षीण नहीं होने देते, उस समय हम प्रभु की इस धरोहर की रक्षा करने से प्रभु की सच्ची उपासना कर रहे होते हैं। इस पूर्ण स्वस्थ शरीर में और इन्द्रियों की शक्ति का उत्तम विकास होने पर प्रभु हमारे हृदयों में दिव्यगुणों का विकास करते हैं। यही देवों का आह्वान है। शरीर अस्वस्थ हो, इन्द्रियाँ जीर्णशक्तिवाली हों, तो वह शरीर दिव्यगुणों का अधिष्ठान बनने की योग्यता नहीं रखता। २. हे प्रभो! आप **होता**=सब अच्छाइयों के दाता हो, आपकी कृपा से ही सब दिव्यगुण प्राप्त हुआ करते हैं। ३. **मनुर्हितः**=(मनुना मन्त्रेण हितः) ज्ञान के द्वारा आप कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु का कल्याण करने का प्रकार यही है कि वे ज्ञान देते हैं और मार्ग के स्पष्ट होने से हमारा उसपर चलना सुगम हो जाता है। मार्ग पर चलनेवाला कभी अवसाद व विनाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—हम शरीर-रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाएँ। यही हमारा प्रभु-पूजन होगा। आराधित प्रभु हमें दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाले होंगे। सब अच्छाइयों के देनेवाले वे प्रभु ही तो हैं। वे प्रभु ज्ञान के द्वारा आराधक का कल्याण करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—बर्हिः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

बर्हिः (=निर्मल हृदय)

स्तृणीत बर्हिरानुषग्घृतपृष्ठं मनीषिणः। यत्रामृतस्य चक्षणम् ॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार स्वस्थ शरीर में, तथा उत्तम शक्तिसम्पन्न इन्द्रियों के होने पर हे **मनीषिणः**=बुद्धि द्वारा मन पर शासन करनेवालो विद्वानो! तुम **घृतपृष्ठम्**=निर्मल व देदीप्यमान पृष्ठ-वाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **आनुषक्**=निरन्तर **स्तृणीत**=बिछाओ। जैसे विद्वान् अतिथि के बैठने के लिए कमरे में निर्मल बिस्तर (आसन) को बिछाया जाता है, इसी प्रकार इस शरीर-रूप घर में जोकि उत्तम इन्द्रिय-रूप उपकरणों से सुसज्जित है, उत्तम हृदय-रूप आसन को बिछाना है। इस आसन पर किसी प्रकार का मल न हो, यह **घृतपृष्ठ**=देदीप्यमान पृष्ठवाला हो। बर्हिः की भावना भी यही है कि जिसमें से वासनाओं का उद्-बर्हण कर दिया गया है। २. यह हृदय-रूप आसन वह है **यत्र**=जहाँ प्रभु आकर विराजमान होते हैं और **अमृतस्य**=उस अमृत प्रभु का जीव को **चक्षणम्**=दर्शन हुआ करता है। पवित्र हृदय में ही प्रभु का प्रकाश होता है। 'प्रभु सर्वव्यापक हैं' यह बात ठीक है, यह ठीक ही है कि वे पाषणादि में भी हैं, परन्तु वहाँ जीव को प्रभु का दर्शन इसलिए नहीं होता कि उन पाषाणादि में जीव नहीं

है। द्रष्टा नहीं है तो देखेगा कौन ? हृदय में दर्शनीय प्रभु भी हैं और द्रष्टा जीव भी है, सो इस हृदयस्थली में ही प्रभु का दर्शन होता है। होता तभी है जब यह स्थली अत्यन्त निर्मल होती है।

भावार्थ—हम मनीषी बनकर हृदय को निर्मल बनाएँ। इस निर्मल हृदय में ही प्रभुदर्शन होगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—देवीर्द्वारः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ऋतावृध् द्वार

वि श्रयन्तामृतावृधो द्वारो देवीरसश्चतः। अद्या नूनं च यष्टवे ॥६॥

१. इस शरीररूप नगरी में इन्द्रियाँ ही द्वार हैं—**'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'** यह शरीररूप देवनगरी आठ चक्रोंवाली व नौ द्वारोंवाली है। **'पुरमेकादशद्वारम्'** यह शरीररूप पुर ११ द्वारोंवाला है—'दो कान, दो नासिका, दो आँखें व मुख' ये सात द्वार हैं, दो अधोद्वार (पायु व उपस्थ) मिलकर ये ९ हो जाते हैं, नाभि व ब्रह्मरन्ध्र के मिलने पर इनकी संख्या ११ हो जाती है। ये **द्वारः**= इन्द्रिय-द्वार **वि श्रयन्ताम्**=विशेष रूप से पुरुष का आश्रय करनेवाले हों। ये द्वार पुरुष में **ऋतावृधः**= ऋत का वर्धन करनेवाले हों, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय ठीक ही कार्य को करनेवाली हो। ये द्वार **देवीः**= प्रकाशमय हों—(दिव् द्युति)। एक-एक ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषय का ठीक प्रकार से प्रकाश करे। **असश्चतः**=(सश्च, to stick, cling) ये इन्द्रिय-द्वार विषयों से चिपक न जाएँ। आसक्ति ही तो सब उन्नतियों व विकासों को समाप्त करनेवाली है। २. इस प्रकार ऋत का वर्धन करनेवाले=नियमितता से कार्यों को करनेवाले प्रकाशमय (देवीः) अनासक्त होकर विषयों में विचरनेवाले इन्द्रिय-द्वार इसलिए हमारा आश्रय व सेवन करें कि हम **अद्या**=आज से ही, अभी से ही **नूनम्**=निश्चयपूर्वक **यष्टवे**=यज्ञ के लिए हों, हमारा जीवन यज्ञशील हो जाए। ३. इन्द्रियों के 'ऋतावृध्' होने का अभिप्राय यही तो है कि वे यज्ञ में प्रवृत्त हैं, **असश्चतः**=वे भोगों से निवृत्त हैं अतएव **देवीः**=प्रकाशमय हैं। ऐसे ही इन्द्रिय-द्वार हमारे जीवन को यज्ञमय बनाने में सहायक होते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ 'ऋतावृध्' देवी तथा असश्चत्' हों, ताकि हमारा जीवन अभी से यज्ञमय हो जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—उषासानक्ता। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

नक्तोषासा (रात-दिन)

नक्तोषासा सुपेशसास्मिन् यज्ञ उप ह्वये। इदं नो बर्हिरासदे ॥७॥

१. इस सूक्त के मन्त्र १, २ तथा ३ में प्रभु से जीव के मेल को 'यज्ञ' कहा गया है। 'यज संगतीकरण'=जीव का प्रभु से मेल। **अस्मिन् यज्ञे**=इस मेल के निमित्त मैं **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाले **नक्तोषासा**=दिन व रात को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। पेशस् शब्द का अर्थ=आकृति है। मेरा एक-एक दिन-रात इस प्रकार का हो जोकि मेरे जीवन को सुन्दर आकृतिवाला बनाये। २. मैं ऐसे ही दिन-रात को **नः**=हमारे **इदं बर्हिः**=इस पवित्र हृदय में **आसदे**=आसीन होने के लिए (उपह्वये=) पुकारता हूँ। मेरे हृदय में सदा इस बात का विचार हो कि मेरा प्रत्येक दिन व प्रत्येक रात सुन्दर ही बीते। ये दिन-रात मेरे जीवन को अधिकाधिक सुन्दर बनानेवाले हों। मैं दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता चलूँ। यह उन्नति ही तो प्रभु से मेरा मेल करानेवाली होगी।

भावार्थ—मेरा प्रत्येक दिन मुझे और अधिक सुन्दर जीवनवाला बनानेवाला हो। मेरे हृदय से

यह भावना दूर न हो कि नक्त=रात्रि (नज् to be modest, bashful) मुझे उचित लज्जाशील=ह्रीनिषेव बनाये अर्थात् मैं पापकर्म करने में संकोच करूँ, सब लज्जा को परे फेंककर पापप्रवृत्त न हो जाऊँ तथा उषस् (उष् दाहे) मुझे सब पापवृत्तियों का दहन करनेवाला बनाये। ऐसा होने पर प्रभु से मेरा मेल (=यज्ञ) क्यों न होगा ?

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—दैव्यौ होतारौ, प्रचेतसौ। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दैव्या होतारा (प्राणापान)

ता सुजिह्वा उप ह्वये होतारा दैव्या कवी। यज्ञं नो यक्षतामिमम् ॥८॥

१. ऐतरेय २-४ में **'प्राणापानौ वा दैव्या होतारः'** इन शब्दों में प्राणापान को 'दैव्य होता' कहा है। ये उस देव=प्रभु की प्राप्ति के साधक हैं सो 'दैव्य' हैं, ये अधिक-से-अधिक दानपूर्वक अदन करनेवाले हैं सो होता हैं। शरीर में प्राणापान के द्वारा ही सब अन्न का ग्रहण होता है तथा इस अन्न का पाचन भी प्राणापान से युक्त वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) करती है—**'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः, । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥'** परन्तु प्राणापान इससे उत्पन्न धातुओं का अंग-प्रत्यंग के पोषण के लिए दान कर देते हैं। स्वयं तो ये प्राणापान इस शरीर में पहरेदार का ही काम करते हैं—सदा जागरित रहते हैं। इन **दैव्या होतारा**=प्राणापानों को **उपह्वये**=मैं पुकारता हूँ, इनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ। २. **ता**=वे प्राणापान **सुजिह्वा**=उत्तम जिह्वावाले हैं। प्राणापान की शक्ति के ठीक होने पर मेरे मुख से कड़वे शब्द नहीं निकलते। इनकी शक्ति के क्षीण होने पर ही मैं चिड़चिड़े स्वभाववाला बन जाता हूँ और अपशब्द बोलने लगता हूँ। ३. ये प्राणापान **कवी**=क्रान्तदर्शी हैं, ये मेरी बुद्धि को तीव्र बनाकर मुझे तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं। ४. ये प्राणापान **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=प्रभु से मेल को **यक्षताम्**=करनेवाले हों। प्राणापान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होकर शुषुम्णा नाड़ी से उसका ऊर्ध्वगमन होता है और मेरुदण्ड के शिखर पर स्थित इन्द्र से इसका मेल हो जाता है। यही रहस्यमयी भाषा में 'पार्वती व प्रभु' का परिणय है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना करने पर हम 'मधुरभाषी, तत्त्वद्रष्टा व प्रभु से मेलवाले बनते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—तिस्रो देव्यः—सरस्वतीळाभारत्यः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इडा-सरस्वती-मही

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ॥९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करने पर हमारी वाणी मधुर होती है। यही 'मधुरवाणी' प्रस्तुत मन्त्र में 'इडा' देवी है। प्राणसाधना का द्वितीय लाभ गतमन्त्र के अनुसार यह है कि हम कवि, तत्त्वद्रष्टा, तीव्र बुद्धिवाले बनते हैं। यही 'सरस्वती' की आराधना है। प्राणसाधना का तृतीय लाभ 'प्रभु से मेल=यज्ञ' है। यही 'मही' (मह पूजायाम्)=परमेश्वर की उपासना है। इस 'मही' का ही अन्य मन्त्रों में 'भारती' नाम है, भारती की भावना है—'धारण-पोषण' करना। वस्तुतः लोकों का भरण व पोषण, लोकहित में लगे रहना ही परमेश्वर की सच्ची उपासना है। ये **तिस्रः देवीः**=तीनों दिव्य भावनाएँ **मयोभुवः**=हमारे कल्याण का भावन करनेवाली हैं। **इडा**=मधुरवाणी हमारे सामाजिक कष्टों को दूर

करती है, **सरस्वती**=तत्त्वज्ञान हमारे लिए प्राकृतिक पदार्थों को सुखद बना देता है तथा **मही**=प्रभुपूजा हमें **अमितौजा**=अनन्त शक्तिवाला बनाकर कल्याणयुक्त करती है। ३. ये तीनों दिव्य भावनाएँ **अस्रिधः**=क्षय व शोषण से रहित हुई-हुई **बर्हिः सीदन्तु**=मेरे हृदय में आसीन हों, अर्थात् मैं इनको न भूलूँ और ये मुझसे उपासित होकर मुझे क्षय व शोषण से बचाएँ। इनकी उपासना मुझे सब प्रकार से अहिंसित करे।

भावार्थ—मैं 'इडा, सरस्वती व मही' को अपने हृदय में स्थान दूँ। ये मेरा कल्याण करने-वाली हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

त्वष्टा-अग्रियं-विश्वरूप

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये। अस्माकमस्तु केवलः ॥१०॥

१. **इह**=इस जीवन में मैं उस प्रभु को **उपह्वये**=पुकारता हूँ, जो प्रभु **त्वष्टारम्**=(त्विष् दीप्तौ) स्वयं ज्ञान से दीप्त हैं और हमें ज्ञान से द्योतित करनेवाले हैं, अथवा (त्वक्षतेर्वा करोति कर्मणः) सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाले हैं, सब सूर्यादि देवों के शिल्पी हैं। हमारे जीवनों को भी उत्तम रूप देनेवाले हैं। २. **अग्रियम्**=वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। ३. **विश्वरूपम्**=ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थों का निरूपण करनेवाले हैं। वेद में प्रभु ने तृण से लेकर सूर्य पर्यन्त सब वस्तुओं का प्रतिपादन किया है। उस ज्ञान को प्राप्त करके हम इन सब पदार्थों से सुख का साधन कर सकते हैं। ४. **अस्माकम्**=हमारा यह **के-वलः**=आनन्द में विचरण करनेवाला प्रभु ही **अस्तु**=हो। हम प्रकृति के दास न बन जाएँ। यदि बन गये तो प्रकृति की जड़ता को ही प्राप्त करेंगे, अपनी अल्प चेतना को भी खो बैठेंगे। प्रभु-भक्त बनकर उस आनन्दमय प्रभु के आनन्द में भागी होंगे एवं हमारा तो वह प्रभु ही हो, उसी के हम उपासक बनें।

भावार्थ—प्रभु 'त्वष्टा, अग्रिय व विश्वरूप' हैं। हम उस प्रभु के ही होकर रहें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—वनस्पतिः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

चैतन्य

अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः। प्र दातुरस्तु चेतनम् ॥११॥

१. हे **वनस्पते**=ज्ञान की रश्मियों के स्वामिन् **देव**=सब ज्ञानादि पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **देवेभ्यः**=आपकी उपासना से, गतमन्त्र के अनुसार (अस्माकमस्तु केवलः) आनन्दस्वरूप आपके ही भक्त बनने से दिव्य वृत्तियों को प्राप्त करनेवाले हम लोगों के लिए **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को **अवसृजा**=उत्पन्न करिए। आपकी कृपा से आपके दिये हुए ज्ञान के कारण हममें 'हविः' की भावना उत्पन्न हो। हम सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले हों। देव 'हविर्भुक्' ही तो होते हैं। २. हे प्रभो! आपकी कृपा से **दातुः**=देनेवाले का **प्रचेतनम्**=प्रकृष्ट चैतन्य **अस्तु**=हो, अर्थात् दान देकर बचे हुए, अमृत का सेवन करनेवाले की स्मृति सदा स्थिर रहे, वह आत्मस्वरूप को भूले नहीं। इस स्मृतिभ्रंश से ही तो बुद्धि का नाश होकर हमारा नाश हो जाया करता है। स्मृति स्थिर रहेगी तो बुद्धि अविकल होगी, और बुद्धि के न चले जाने से हम भी यूँ ही चले न जाएँगे।

भावार्थ—ज्ञानरश्मियों का पति प्रभु हममें यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को उत्पन्न करे। इस दानशील पुरुष की स्मृति स्थिर रहे। 'मैं कौन हूँ' इस बात को यह भूल न जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—स्वाहाकृतयः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

यज्वा का घर

स्वाहा यज्ञं कृणोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे । तत्र देवाँ उप ह्वये ॥१२॥

१. गतमन्त्र में प्रार्थना थी कि हे प्रभो ! आप हमारे जीवनों में 'हविः' की सृष्टि करिए। इसी हवि के सर्जन के लिए प्रभु कहते हैं कि—**स्वाहा यज्ञम्**=(स्व+हा) स्वार्थत्यागरूप यज्ञ को **कृणोतन**=करनेवाले बनो । **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यवाले प्रभु को पाने के लिए तुम **यज्वनः**=विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले के **गृहे**=घर में यज्ञों के करनेवाले होओ । शास्त्र-विधान के अनुसार यज्ञ करनेवाला व्यक्ति 'यज्वा' कहलाता है। यज्वा अपने घर में स्वार्थत्यागरूप यज्ञों को सदा करनेवाला बनता है। इन यज्ञों से ही तो वह यज्ञरूप प्रभु की उपासना करता है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः', इस उपासना से वह उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को पाने का अधिकारी बनता है। २. प्रभु कहते हैं कि—**तत्र**=वहाँ इस यज्ञशील के घर में **देवान्**=सब देवों को, मैं **उपह्वये**=पुकारता हूँ, अर्थात् इस यज्ञशील के घर में दिव्यगुणों का वास होता है।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञशील बने । यज्ञशील पुरुष के घर में ही दिव्यगुणों का वास होता है। उसी को प्रभु प्राप्त होते हैं। यज्ञों से ही तो यज्ञरूप प्रभु आराधित होते हैं।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि—प्रभु की ज्योति जगती है तो दिव्यगुण आते हैं (१)। प्रभु से जीव का मेल ही 'मधुमान्' यज्ञ है (२)। देवों का आगमन स्वस्थ शरीर में ही होता है (३)। निर्मल हृदय में अमृत प्रभु का दर्शन होता है (४)। सो हम दिन-रात अपने जीवन का सुन्दर निर्माण करें (६)। प्राणसाधना द्वारा प्रभु से मेल के लिए यत्नशील हों (७)। हमारे जीवनों में मधुरवाणी, विद्या की आराधना व प्रभु की पूजा की भावना हो (८)। प्रभु का ही हम वरण करें (९)। त्यागशील बनकर चैतन्य को स्थिर रक्खें (१०)। और यज्ञशील बनकर दिव्यगुणोंवाले हों (१२)।

अब अगले सूक्त में इन्हीं शब्दों से प्रारम्भ करते हैं कि प्रभु से हमारा मेल हो और हमें दिव्यगुणों की प्राप्ति हो—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—विश्वे देवाः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभु-परिचर्या व स्तवन

ऐभिरग्ने दुवो गिरो विश्वेभिः सोमपीतये । देवेभिर्याहि यक्षि च ॥१॥

१. हे **अग्ने**=हमें उन्नति पथ पर ले-चलनेवाले प्रभो ! आप **एभिः विश्वेभिः देवेभिः**=इन सब दिव्यगुणों के हेतु से **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए **दुवः**=हमारी परिचर्याओं के प्रति **आयाहि**=आइए **च**=और **गिरः**=हम स्तुति करनेवालों को **यक्षि**=अपने साथ संगत करिए । २. मन्त्रार्थ से ये बातें स्पष्ट हैं कि—(क) दिव्यगुणों की वृद्धि के लिए सोम का पान आवश्यक है; वीर्य के कण ही सोम हैं, इनका शरीर में व्यापन ही इनका पान है। ये सोमकण ही शरीर को स्वस्थ बनाते हैं, ये ही मन को निर्मल रखते हैं और बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। इस प्रकार ये सोमकण सब अच्छाइयों के वर्धन करनेवाले होते हैं। (ख) यह भी स्पष्ट है कि सोम की रक्षा के लिए प्रभु की हम परिचर्या करें, अनन्य भक्ति व स्तवन के द्वारा प्रभु से हमारा मेल हो। यह प्रभु-परिचर्या व स्तवन जितना-जितना हमें प्रभु के समीप करता है, उतना-उतना ही वासनाओं से दूर भी करता है। वासनाओं से दूर होकर ही हम सोम का रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-परिचर्या व स्तवन से प्रभु के साथ संगत हों—इससे वासना-विनाश द्वारा हम सोम का रक्षण कर सकें। यह सोमरक्षण हममें सब दिव्यगुणों के वर्धन के लिए हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु का कण्वकृत स्तवन

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः। देवेभिरग्न आ गहि ॥२॥

हे प्रभो! गत मन्त्र के भाव को समझनेवाले **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **त्वा**=आपको ही **आ**=सब ओर से **अहूषत**=पुकारते हैं और हे **विप्र**=हमारा विशेष रूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **धियः**=बुद्धिपूर्वक होनेवाले कर्मों की **गृणन्ति**=स्तुति करते हैं, अर्थात् मेधावी पुरुष चारों ओर आपकी महिमा को देखते हुए आपका ही स्तवन करते हैं, उन्हें सब दिशाओं में आपकी ही विभूतियाँ दिखती हैं। ये हिमाच्छादित पर्वत-समुद्र-रसा (पृथिवी) उन्हें आपकी महिमा का गायन करते प्रतीत होते हैं। सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों में आपका ही स्तवन हो रहा होता है। आपके एक-एक कार्य में पूर्ण बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है। २. हे **अग्ने**=हमारे अग्रणी प्रभो! आप **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, वे हमें प्राप्त हों और इससे सब दिव्यगुणों का हममें निवास हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

देवालय

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान्मारुतं गणम् ॥३॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि देवों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए। उन देवों का ही परिगणन करते हुए कहते हैं कि—हे प्रभो! आप हमें **इन्द्रवायू**=इन्द्र व वायु को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से हम इन्द्रियों के अधिष्ठाता, पूर्ण जितेन्द्रिय बन पायें। इस जितेन्द्रियता के लिए ही वायु बनें, (वा गतिगन्धनयोः) गतिशीलता के द्वारा सब वासनाओं का गन्धन वा हिंसन करनेवाले हों। वासना-विनाश के बिना जितेन्द्रियता सम्भव ही नहीं। वासना-विनाश ही जितेन्द्रियता है। २. **बृहस्पतिम्**=आप हमें बृहस्पति को प्राप्त कराइए, अर्थात् आपका अनुग्रह हमें जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का सामर्थ्य दे। ३. **मित्राग्निम्**=अब हम मित्र व अग्नि को प्राप्त करें। यह ज्ञान हमें सबके साथ एकत्व का दर्शन कराता हुआ स्नेह करनेवाला (मित्र) बनाये और इस प्रकार उन्नति पर आगे बढ़ानेवाला हो (अग्नि)। ४. इस जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाले हमें आप **पूषणं भगम्**=पूषा व भग को प्राप्त कराइए। हम उचित रूप से अपना पोषण करनेवाले हों। हम शरीर, मन व बुद्धि का ठीक विकास करनेवाले हों उसके लिए आवश्यक **भगम्**=ऐश्वर्य को उचित मात्रा में संगृहीत कर सकें। ५ **आदित्यान्**=आप हमें आदित्यों को प्राप्त कराइए। ये आदित्य (आदानात्) उचित वस्तुओं का आदान करते हुए आगे बढ़ते चलते हैं। हम भी समाज में जिस-जिसके भी सम्पर्क में आयें उस-उससे अच्छाइयों को ही ग्रहण करनेवाले हों। बुराई को न देखते हुए हम आगे बढ़ते चलें। ६. **मारुतं गणम्**=हम प्राणों के गण को प्राप्त करें। शरीर में भिन्न-भिन्न कर्मों को करनेवाला यह ४९ मरुतों=प्राणों का समूह हमारे इस शरीर-गृह को पूर्णरूप से स्वस्थ रखे।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषा, भग व मरुद्गण' का निवास हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इन्दु-भरण

प्र वो भ्रियन्त इन्दवो मत्सरा मादयिष्णवः। द्रप्सा मध्वश्चमूषदः ॥४॥

१. गत मन्त्र में वर्णित देवों के निवास के लिए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे लिए ये **इन्दवः**=शक्ति को देनेवाले **द्रप्साः**=बिन्दुरूप ये सोमकण **प्रभ्रियन्ते**=प्रकर्षेण भृत होते हैं। ये तुम्हारे अन्दर धारण किये जाते हैं। ये सोम **मत्सराः** (मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः)=एक विशेष तृप्ति को देनेवाले हैं, **मादयिष्णवः**=ये जीवन में एक अनुपम उल्लास के जनक हैं। **मध्वः**=(मधुराः) जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले हैं तथा **चमूषदः**=(चम्वौ द्यावापृथिव्यौ, नि० ३·३०) द्यावापृथिवी के हेतु से शरीर में रहनेवाले हैं। मस्तिष्क ही द्युलोक है, शरीर ही पृथिवी है। इस सोम से जहाँ शरीर स्वस्थ व दृढ़ बनता है वहाँ मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है एवं यह सोम 'द्यावापृथिवी' में स्थित होता है। इसके रक्षण से एक मनुष्य ज्ञान में ऋषियों के तुल्य तथा बल में एक मल्ल के समान बनता है। २. एवं मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) सोम की जब शरीर में रक्षा की जाती है तो ये सोमकण हमें शक्तिशाली बनाते हैं; (इन्दवः) (ख) मन में एक तृप्ति का अनुभव कराते हुए उल्लास को पैदा करते हैं (मत्सराः); (ग) हमारी वाणी व व्यवहार में 'माधुर्य' को प्रवाहित करते हैं (मध्वः); (घ) ये हमें शरीर से मल्ल के समान व मस्तिष्क से एक ऋषि के तुल्य बनानेवाले हैं (चमूषदः)।

भावार्थ—हम शरीर में सोमकणों का प्रकर्षेण भरण करें। ये सोमकण 'इन्दु, मत्सर, मादयिष्णु, मधु व चमूषद' हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उपासक के लक्षण

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः। हविष्मन्तो अरंकृतः ॥५॥

१. गत मन्त्र में सोमकणों के रक्षण का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से करते हैं कि—हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले ही **ईडते**=उपासित करते हैं। आपकी सच्ची उपासना तो वे ही करते हैं जोकि इन सोमकणों के रक्षण द्वारा अपने शरीरों को रोगों से बचाते हैं तथा मनों को वासनाओं से सुरक्षित रखते हैं। २. आपके उपासक वे हैं जो **कण्वासः**=कण-कण करके ज्ञान को ग्रहण करते हैं। ये ज्ञान का संचय करनेवाले मेधावी पुरुष ही प्रभु के सच्चे उपासक होते हैं। ज्ञान-यज्ञ से ये प्रभु का पूजन कर रहे होते हैं। ३. **वृक्तबर्हिषः**=उपासक वे हैं जो वृक्तबर्हिष बने हैं, जिन्होंने हृदय को वासना से शून्य किया है और अतएव उस हृदयवाले हैं जिसमें से कि वासना को उखाड़ दिया गया है। (बृह्, उद्बृह्=उत्पाटन) ४. हे प्रभो! आपके उपासक वे हैं जो **हविष्मन्तः**=हविवाले हैं—दानपूर्वक अदन करनेवाले हैं (हु दानादनयोः)। यह दानपूर्वक अदन ही उन्हें पापवृत्ति से बचाये रखता है। ५. हविष्मान् बनकर **अरंकृतः**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाले व्यक्ति प्रभु के उपासक हैं। 'प्रभु की उपासना करें' और 'जीवन में दुर्गुणों का भण्डार बना रहे' ये तो विरोधी बातें हैं। प्रभु के उपासन के साथ मैल का सम्बन्ध ही नहीं।

भावार्थ—'अवस्यु, कण्व, वृक्तबर्हिष व अरंकृत' ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—विश्वे देवाः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

उपासक कौन ?

घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः । आ देवान्त्सोमपीतये ॥६॥

१. गत मन्त्र के उपासकों का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि **घृतपृष्ठः**=(घृत=दीप्ति पृष्ठ=Support) दीप्ति ही जिनका आधार है (ऋ० २ । १३ । ४, द०) । उपासक वे हैं जोकि जीवन में ज्ञान को ही आधार बनाकर चलते हैं । २. **मनोयुजः**=मन को विषयों से विनिवृत्त करके आत्मतत्त्व में लगाने का प्रयत्न करते हैं । ३. **ये**=जो सब कार्यों को करते हुए **त्वा वहन्ति**=आपका वहन करते हैं अर्थात् आपके वरण के साथ ही सब कार्यों को करते हैं । ४. प्रभु-स्मरण के साथ कार्यों को करने के कारण ही ये **वह्नयः**=(वोढारः) कार्य को समाप्ति तक ले-चलनेवाले होते हैं । ५. ये उपासक अपने में **देवान् आवहन्ति**=दिव्यगुणों को धारण करते हैं ताकि **सोमपीतये**=ये सोम का रक्षण व पान कर सकें । यह सोमपान ही तो वस्तुतः प्रभु-उपासना का मौलिक उपाय है । इस सोम के रक्षण से हम उस सोम नामक प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं ।

भावार्थ—प्रभु-उपासक 'घृतपृष्ठ, मनोयुज् व वह्नि होते हैं । ये दिव्यगुणों को धारण करते हैं ताकि सोम का पान कर सकें । सोमपान ही हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—विश्वे देवाः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

मधु-पान

तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि । मध्वः सुजिह्व पायय ॥७॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो ! **तान्**=गतमन्त्रों में वर्णित उन उपासकों को **यजत्रान्**=यज्ञों के द्वारा अपना त्राण करनेवाले **ऋतावृधः**=अपने जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले अर्थात् बड़े व्यवस्थित जीवन वाले तथा **पत्नीवतः**=उत्तम पत्नीवाले **कृधि**=करिए । पत्नी वही है जिसका सम्बन्ध यज्ञ के लिए होता है । पत्नी के स्वभाव पर यह बात बड़ी निर्भर है कि घर में यज्ञिय वृत्ति का वर्धन होता है या भोग-वृत्ति का । २. हे **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले प्रभो ! अर्थात् उत्तम ज्ञान के देनेवाले प्रभो ! (अपाणिपादो जवनो ग्रहीता—वे प्रभु 'अजिह्व व वक्ता' हैं) आप **मध्वः**=मधुर ज्ञानरस का हमें **पायय**=पान कराइए । अथवा सब अन्नों के सारभूत इस सोमरूप मधु का पान करनेवाला बनाइए । वस्तुतः यह सोमपान ही पूर्वार्ध में वर्णित बातों को जीवन में घटाने के योग्य बनाता है । इसके होने पर ही हमारा जीवन यज्ञशील होकर अपना त्राण करनेवाला बनता है । यह सोमपान ही हमें ऋत के पालन की क्षमता प्राप्त कराता है और इस सोमपान से ही पतिपत्नी का सम्बन्ध वास्तविक सम्बन्ध बन पाता है ।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से अपने जीवन में यज्ञ व ऋत का वर्धन करें, उत्तम पत्नीवाले हों, सोम की रक्षा के लिए दिव्यगुणों को बढ़ाएँ ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—विश्वे देवाः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

यजत्र ईड्य

ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबन्तु जिह्वया । मधोरग्ने वषट्कृति ॥८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! आपकी कृपा से **वषट्कृति**=स्वाहकार से युक्त इस जीवन में, स्वार्थ-

त्यागवाले यज्ञमय जीवन में **ते ते**=वे वे व्यक्ति **जिह्वया**=जिह्वा से **मधोः पिबन्तु**=मधुर रसों का ही पान करें **ये**=जो **यजत्राः**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले हैं और **ये**=जो **ईड्याः**=(ईड्=स्तुति, तत्र साधुः) प्रभुस्तवन में उत्तम हैं। २. यजत्र व ईड्य वे ही बनते हैं जो मधुर, सात्त्विक अन्न-रस का ही सेवन करते हैं और जीवन को यज्ञमय बनाते हैं। 'जिह्वा सात्त्विक मधुर अन्नों का ही सेवन करे और हमारा जीवन सदा स्वार्थत्याग की भावनावाला हो' बस सर्वोत्तम प्रभु का स्तवन यही है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से भोजन में हमारी रुचि सात्त्विक अन्नों की ओर हो और यज्ञों द्वारा हम अपने शरीर व मन का रोगों व वासनाओं से त्राण करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रातः सत्संग

आकीं सूर्यस्य रोचनाद्विश्वान् देवाँ उषर्बुधः। विप्रो होतेह वक्षति ॥९॥

१. **विप्रः**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **इह**=इस जीवन में **सूर्यस्य रोचनात्**=सूर्य के चमकते ही **आकीम्**=(समन्तात् १।१४।९, द०) सब ओर से **विश्वान्**=सब **उषर्बुधः**=प्रातःकाल में जागनेवाले **देवान्**=विद्वानों को **वक्षति**=लाता है, अर्थात् **'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत'** 'उठो, जागो, श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त करो' इस उपनिषद् के उपदेश के अनुसार यह अपनी न्यूनताओं को दूर करने की कामनावाला (**विप्रः**) दानशील (**होता**) पुरुष सूर्योदय होते ही अपने जीवन में विद्वानों के सम्पर्क का प्रयत्न करता है। उनसे उत्तम ज्ञान का श्रवण करके मननपूर्वक उस ज्ञान को अपने जीवन का अंग बनाकर उन्नत होता है। 'उषर्बुधः' शब्द का अर्थ 'प्रातःकाल जागनेवाले' तो है ही, साथ ही इस शब्द की यह भावना भी स्मरणीय है कि ये विद्वान् इस उषःकाल में ज्ञान के प्रचार द्वारा लोगों का उद्बोधन करते हैं। इन प्रातःकालीन सत्संगों का लाभ यही है कि हमारा जीवन सदा सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर उत्तम मार्ग पर ही गमन करनेवाला होता है।

भावार्थ—सूर्योदय होते ही उषर्बुध देवों के सम्पर्क में आकर हम ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दिव्यता का निधान 'सोम'

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **तू विश्वेभिः**=सब दिव्यगुणों के हेतु से **इन्द्रेण**=इन्द्रियों के अधिष्ठातृत्व के दृष्टिकोण से **वायुना**=गतिशीलता के द्वारा सब बुराइयों के संहार के दृष्टिकोण से तथा **मित्रस्य धामभिः**=सूर्य के तेजों के दृष्टिकोण से **सोम्यं मधु**=इस सोमसम्बन्धी मधु का **पिब**=पान कर। (२) यदि हमें दिव्यगुणों का अपने में विकसित करना है, यदि सब असुरों का संहार करनेवाला इन्द्र बनना है, यदि क्रियाशील जीवन बनाकर हमें बुराइयों का संहार करना है और यदि हमें सूर्य के समान तेजस्वी बनना है तो इस सब के लिए उपाय एक ही है कि इस शरीर में उत्पन्न हुई-हुई सोमशक्ति का पान करें। इस बात को वे भूलें नहीं कि सब अच्छाइयाँ व दिव्यताएँ इस सोम में ही निहित हैं।

भावार्थ—हम सोम का पान करें। सोम को ही सब दिव्यताओं का निधान समझें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अध्वर

त्वं होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदसि। सेमं नो अध्वरं यज ॥११॥

१. सोम की रक्षा के लिए जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने त्वं होता**=हे प्रभो ! आप ही हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। **मनुर्हितः**=ज्ञान के द्वारा आप ही हमारा कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु जिसका कल्याण करते हैं उसे सद्बुद्धि व उत्तम ज्ञान प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो ! आप **यज्ञेषु सीदसि**=यज्ञों में आसीन होते हैं। हमारा जीवन यज्ञमय होता है तो उसमें भी आपका निवास होता है। वस्तुतः तो आपकी कृपा से ही वे यज्ञ चल रहे होते हैं। ३. **सः**=वे आप **नः**=हमारे **इमम्**=इस **अध्वरम्**=हिंसारहित जीवन-यज्ञ को **यज**=पूर्ण करनेवाले होओ। आपकी कृपा से ही यह जीवन-यज्ञ बना रहेगा और सरलता से पूर्ण हो सकेगा; आपसे अलग होते ही मेरा यह जीवन 'अध्वर' न रहकर छल-छिद्र व कपट-जाल से भर जाता है और चार दिन की प्रतीयमान चमक के बाद वहाँ अन्धकार-ही-अन्धकार आ जाता है।

भावार्थ—प्रभु होता हैं, मनुर्हित हैं, वे मेरे जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हों जिससे यह अध्वर बना रहे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

देवागमन

युक्ष्वा ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः। ताभिर्देवाँ इहा वह ॥१२॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **देव**=दिव्यगुणों को प्राप्त करनेवाले ! तू **रथे**=इस शरीररूपी रथ में **हि**=निश्चय से **अरुषीः**=(गतिमतीः) अत्यन्त तीव्र गतिवाली **हरितः**=सब दुःखों का हरण करनेवाली **रोहितः**=वृद्धि की कारणभूत इन्द्रियाश्वों को **युक्ष्वा**=जोत और **ताभिः**=इन इन्द्रियरूपी घोड़ों से **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **देवान्**=देवों को **आवह**=प्राप्त कर। २. जब हम इस शरीर को रथ समझेंगे, रथ समझकर इसे ठीक रखने का प्रयत्न करेंगे और इसमें जुतनेवाले इन्द्रियाश्वों को गतिशील, लक्ष्य तक पहुँचनेवाले व वृद्धि के कारणभूत बनाएँगे तो हमारी जीवन-यात्रा क्यों न पूर्ण होगी ? उस समय हमारे जीवन में देवों का आगमन होगा अर्थात् हमारा जीवन-यज्ञ ठीक रूप से पूर्ण होगा, इसमें दिव्यता का विकास होगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व अरुषी, हरित् व रोहित हों। वे हमारे जीवन में देवों को लानेवाले हों।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु-परिचर्या व स्तवन से होता है। ये शरीर में सोम (शक्ति) की रक्षा के लिए आवश्यक हैं (१)। ये सोमकण शरीर में व्याप्त होने पर शक्ति देते हैं, तृप्ति का अनुभव कराते हैं, हर्ष के जनक हैं (४)। प्रभु यज्ञशील पुरुषों को इन सोमकणों के पान में सहायक होते हैं (७)। इनके पान करनेवाला व्यक्ति जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हुआ अपने में दिव्यता को बढ़ानेवाला होता है (१२)। 'इस सोमपान को समय पर ही अर्थात् युवावस्था में ही कर लेना आवश्यक है', इन शब्दों से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—ऋतवः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इन्द्र का सोमपान (मत्सरासः, तदोकसः)

इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्त्विन्दवः। मत्सरासस्तदोकसः ॥१॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ! तू **ऋतुना**=समय व्यतीत होने से पहले अर्थात् समय

रहते **सोमं पिब**=सोम का पान करनेवाला बन। आहार से उत्पन्न सोमकणों को अपने शरीर में ही सुरक्षित करनेवाला बन। २. **इन्दवः**=ये शक्ति को देनेवाले सोमकण **त्वा**=तुझमें **आविशन्तु**=समन्तात् प्रविष्ट हों अर्थात् रुधिर के साथ तेरे सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले हों। शरीर में व्याप्त होकर ही ये रोगकृमियों का संहार करनेवाले होते हैं। ३. रोगों को नष्ट करके, हमें स्वस्थ बनाकर ये सोमकण **मत्सरासः**=एक अद्भुत तृप्ति के देनेवाले होते हैं। हम इन सोमकणों के कारण जीवन में उल्लास का अनुभव करते हैं। ४. **तदोकसः**=ये सोमकण प्रभुरूप गृहवाले होते हैं अर्थात् जब एक व्यक्ति जितेन्द्रिय बनकर इन सोमकणों की रक्षा करता है तब इन सोमकणों से उसकी बुद्धि तीव्र होती है, तीव्रबुद्धि से यह सोमपायी प्रभु का दर्शन करता है, एवं ये सोमकण प्रभुरूप गृह में पहुँचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम यौवन में ही सोम के रक्षक बनते हैं तो ये सोमकण हमें नीरोग बनाकर हर्ष को प्राप्त कराते हैं और हमें प्रभु का दर्शन कराने में सहायक होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—मरुतः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

मरुतों का सोमपान

मरु॑तः॒ पिब॑त ऋ॒तुना॑ पो॒त्राद् य॒ज्ञं पु॑नीतन। यू॒यं हि ष्ठा सु॑दानवः ॥२॥

गत मन्त्र में **ऋतुना**=समय रहते सोमपान का उल्लेख था। वह प्रस्तुत मन्त्र में भी है। इसका अभिप्राय यह है कि सोम का उत्पादन जिस अवस्था में अत्यधिक होता है, उस यौवन में ही इसकी रक्षा की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है। जीवन के चरमकाल में तो वैसे ही कुछ शान्ति हो जाती है, अतः हमें सोमपान का विचार 'प्रातः व माध्यन्दिन सवन' बाल्य (प्रथमावस्था) व यौवन में पूर्णरूप से करना चाहिए। **'प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इत्युच्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥** प्रथम अवस्था में जो शान्त हुआ, शान्त तो वही हुआ, धातुओं के क्षीण होने पर तो शान्ति किसे नहीं हो जाती? अतः कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणो! **ऋतुना**=समय रहते **सोमम्**=सोम को **पिबत**=पीने का ध्यान करो। उत्पन्न सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित रखने के लिए प्राणसाधना अत्यन्त उपयोगी है। प्राणसाधना के द्वारा ये वीर्यकण ऊर्ध्वगतिवाले होकर शरीर में ही व्याप्त हो जाते हैं—यही मरुतों का सोमपान है। २. हे मरुतो! यह सोम शरीर को नीरोग और मन को निर्मल बनाकर जीवन को पवित्र करनेवाला है। इस **पोत्रात्**=पवित्र करनेवाले सोम से **यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ को **पुनीतन**=तुम पवित्र कर दो। प्राणसाधना से सोम शरीर में व्याप्त होगा और जीवन को पवित्र कर देगा। ३. इस प्रकार हे मरुतो! **यूयम्**=तुम **हि**=निश्चय से **सुदानवः**=(**स्थ**) उत्तमता से बुराइयों के काटनेवाले (दाप् लवणे) हो। ४. पिछले मन्त्र में 'इन्द्र' शब्द के द्वारा जितेन्द्रियता का संकेत किया गया था, प्रस्तुत मन्त्र में 'मरुतः' से प्राणसाधना का निर्देश है। सोम के शरीर में ही व्यापन के लिए जितेन्द्रियता व प्राणसाधना दोनों ही आवश्यक हैं।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा हम सोम को शरीर में ही व्याप्त करें। यह सुरक्षित सोम हमारे जीवनों को पवित्र करेगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

नेष्टा का सोमपान

अ॒भि य॒ज्ञं गृ॑णीहि नो॒ ग्नावो॒ नेष्टः॒ पिब॑ ऋ॒तुना॑। त्वं हि र॑त्न॒धा असि॑ ॥३॥

१. 'ग्ना' शब्द छन्दों का वाचक है—**'छन्दाँसि वै ग्नाः छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति'** [शत० ५।५।४।७]। इन छन्दोंवाला ग्नावा है। उसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **ग्नावः**=हे ज्ञान की वाणियों-

वाले विद्वन् ! **नः**=हमें **यज्ञम् अभि**=यज्ञ का लक्ष्य करके **गृणीहि**=उपदेश दीजिए। हमारा जीवन यज्ञमय होगा तो हम विलास के मार्ग में न जाकर इस सोम के रक्षण के लिए अधिक समर्थ होंगे २. हे **नेष्टः**=(नेनेक्ति) जीवन को शुद्ध करनेवाले विद्वन् ! **ऋतुना**=समय रहते **पिब**=तू सोम का पान करनेवाला बन। ३. हे नेष्टः ! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **रत्नधा असि**=रमणीय पदार्थों का धारण करनेवाला है। सोम के रक्षण से शरीर अत्यन्त रमणीय बन जाता है। नीरोगता, निर्मलता और बुद्धि की तीव्रता, ये सब-के-सब सोमरक्षण से ही साध्य होते हैं। इस सोमरक्षण के लिए यह अपने जीवन को यज्ञ की ओर ले-चलता है, वेदवाणियों का अध्ययन करता है, जीवन को शुद्ध बनाता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, जीवन के शोधन के लिए समय रहते सोमपान करनेवाले बनें और इस प्रकार जीवन को रमणीय बनाएँ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अग्नि का सोमपान

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह सा॒दया॒ योनि॑षु त्रि॒षु। परि॑ भूष॒ पिब॑ ऋ॒तुना॑ ॥४॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव ! तू **इह**=इस मानव-जीवन में **देवान्**=देवों का **आवह**=आवहन करनेवाला बन। तू अपने जीवन में दिव्य गुणों को धारण कर। वस्तुतः अच्छाइयों को धारण करना ही आगे बढ़ना है। २. तू **त्रिषु योनिषु**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीनों स्थानों में इन देवों को **सादया**=बिठा। ये तीनों स्थान प्रमाद करने पर असुरों के निवासस्थान बन जाते हैं। **'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'**—इस गीता [३।४०] वाक्य के अनुसार इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही काम के अधिष्ठान बनते हैं। प्रगतिशील जीव इन तीनों को देवों का अधिष्ठान बनाता है, अब खाली न होने के कारण ये असुरों के अधिष्ठान नहीं बनते। ३. इस प्रकार इन तीन स्थानों में देवों को बिठाकर तू **परिभूष**=अपने जीवन को अलंकृत कर। ४. इस सबके लिए तू **ऋतुना पिब**=समय रहते सोमपान करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रगतिशील जीव वह है जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि को दैवी सम्पत्ति से सुरक्षित करता है। ऐसा करने के लिए वह सोमपान करता है। शक्ति की रक्षा ही सोमपान है।

सूचना—शक्ति की रक्षा होने पर इस व्यक्ति के जीवन में, प्राणों में अभय व तेज का निवास होता है। इसका मन सत्त्वसंशुद्धि, दम, सत्य, अक्रोध, शान्ति, अलोलुपत्व, क्षमा व तृप्ति से युक्त होता है। इन्द्रियाँ ज्ञान व योग की व्यवस्थितिवाली होती हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगी रहती हैं तो कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग चलता है। इसके हाथ में 'दान, यज्ञ, अहिंसा, त्याग, अचापल्य व शौच=पवित्रता' रहते हैं तो इसकी वाणी स्वाध्याय व अपैशुन्य से शोभित होती है। इसका शरीर तपस्वी है और हृदय 'सरलता, दया, मार्दव, ह्री, अद्रोह व नातिमानिता से' सुभूषित है। इस प्रकार अग्नि ने अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को देवों का अधिष्ठान बनाया है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ब्राह्मणराधस् (ब्रह्मसम्बन्धी सम्पत्ति)

ब्राह्म॑णादिन्द्र॒ राध॑सः॒ पिबा॒ सोम॑मृ॒तूँरनु॑। तवेद्धि स॒ख्यमस्तृ॑तम् ॥५॥

१. गत मन्त्र में सोमपान से दैवी सम्पत्ति की प्राप्ति का उल्लेख था। उस दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके यह सोमपान करनेवाला 'ब्राह्म सम्पत्ति' को प्राप्त करता है। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! तू **ब्राह्मणात्**=ब्रह्म-सम्बन्धी **राधसः**=धन के दृष्टिकोण से—ब्रह्मसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए **ऋतून्**

अनु=समय का ध्यान करके **सोमम् पिब**=सोम का पान कर। यौवन में ही शक्ति का सञ्चय करने से हमें इस जीवन में ही अवश्य ब्रह्मसम्पत्ति प्राप्त होगी। २. ऐसा होने पर **तव**=तेरा **इत् हि**=निश्चय से **सख्यम्**=ब्रह्म के साथ सख्य **अस्तृतम्**=अविच्छिन्न होता है—तू ब्रह्म से निरन्तर मैत्रीवाला होता है। जो भी व्यक्ति शरीर में इस सोम की रक्षा करता है, वह उस सोमप्रापक प्रभु से अभिन्न मैत्रीवाला होता है। यही ब्रह्मसम्बन्धी सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति को प्राप्त करने के उद्देश्य से हमें समय पर ही सोम की शरीर में रक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ—शरीर में शक्ति के रक्षण से ब्राह्मी सम्पत्ति प्राप्त होती है। इस सम्पत्ति को प्राप्त करके जीव 'ब्रह्म इव' हो जाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—मित्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यौवन में यज्ञ

युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरुण दूळभम्। ऋतुना यज्ञमाशाथे ॥६॥

१. गत मन्त्र में यह स्पष्ट था कि हम यौवन में ही संयमी जीवन बनाने का प्रयास करेंगे तो इस मानव-जीवन में प्रभु की अविच्छिन्न मित्रता को प्राप्त कर सकेंगे। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हमें यज्ञों को बूढ़ा होकर ही नहीं करना—धर्म बुढ़ापे के लिए नहीं है, अपितु यौवन में ही हमें जीवन को यज्ञमय बनाना है। हे **धृतव्रता**=धारण किया है व्रत जिन्होंने ऐसे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण देवो—स्नेह और निर्द्वेषता के दिव्य गुणो! **युवम्**=आप दोनों **ऋतुना**=समय से अर्थात् समय बीतने से पूर्व ही **यज्ञम्**=यज्ञ को **आशाथे**=प्राप्त करते हो। जो यज्ञ **दक्षम्**=बल की वृद्धि करनेवाला है और **दूळभम्**=हिंसित होनेवाला नहीं है। २. यहाँ मन्त्रार्थ में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—(क) जिन्होंने व्रत धारण किया है ऐसे मित्रावरुण हमें जीवन में यज्ञ को प्राप्त करानेवाले हों। वस्तुतः मनुष्य का सर्वमहान् व्रत यही होना चाहिए कि 'मैं स्नेह से चलूँगा' (मित्र), 'किसी से द्वेष न करूँगा' (वरुण)। यह व्रत हमारे जीवन में शक्ति को बढ़ानेवाला होता है (दक्षम्) और यह व्रत हमें हिंसा से बचानेवाला है (दूळभम्)। (ख) यदि हम यौवन में ही 'स्नेह व निर्द्वेषता' के व्रत को धारण करते हैं तो यह हमारा उचित समय पर होनेवाला यज्ञ हो जाता है। वृद्धावस्था में जाकर हम निर्द्वेषता व स्नेह का पाठ पढ़े तो क्या पढ़े? जीवन तो अयज्ञिय ही वीत गया।

भावार्थ—हम यौवन में ही स्नेह व निर्द्वेषता का व्रत धारण करें। यह हमारे बल का वर्धक व हमें हिंसित न होने देनेवाला होगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—द्रविणोदाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यज्ञों में देवोपासन

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते ॥७॥

१. **द्रविणोदाः**=द्रविण व धन को देनेवाले और धन को देने के लिए ही **द्रविणसः**=धन को चाहनेवाले **ग्रावहस्तासः**=स्तुति (ग्रावा) जिनके हाथों में है अर्थात् यज्ञादि के द्वारा व अपने नियत कर्म को करने के द्वारा प्रभु का क्रियात्मक स्तवन करनेवाले **अध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन में उन-उन **यज्ञेषु**=यज्ञों में **देवम्**=यज्ञों के प्रकाशक व यज्ञों के साधनार्थं शक्ति को देनेवाले प्रभु को **ईळते**=उपासित करते हैं। २. प्रभु के उपासक वे हैं (क) जो जीवन को अध्वर हिंसारहित बनाते हैं। (ख) जो धन देने के लिए ही धन की कामना करते हैं (द्रविणोदाः, द्रविणसः)। (ग) जो हाथों से प्रभु की स्तुति करते हैं अर्थात् जिनका

स्तवन शब्दिक न होकर क्रियात्मक होता है, जो प्रभु के गुणों का ही कीर्तन नहीं करते रहते अपितु प्रभु के निर्देशों का पालन भी करते हैं (ग्रावहस्तासः)। (घ) इन यज्ञों को करते हुए इन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ ही वे मानते हैं अर्थात् इन यज्ञों का गर्व नहीं करते।

भावार्थ—हम धनों का दान करें। स्वधर्मपालन द्वारा प्रभुस्तवन करें। उत्तम कर्मों में सब सफलता को प्रभु से होता हुआ जानकर गर्वित न हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—द्रविणोदाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

देवनिमित्त धन

द्रविणोदा ददातु नो वसूनि यानि शृण्विरे। देवेषु ता वनामहे ॥८॥

१. **द्रविणोदाः**=सब धनों को देनेवाले प्रभु **नः**=हमें **वसूनि ददातु**=उन धनों को दें **यानि शृण्विरे**=जो खूब सुने जाते हैं अर्थात् जिस धन को हम खूब दान के रूप में देते हैं और इस प्रकार यश को प्राप्त करते हैं। २. **ता**=उन धनों को हम **देवेषु**=देवों के निमित्त **वनामहे**=सेवित करते हैं अर्थात् इन धनों को भोगविलास में व्यय न करके विद्वानों को लोकहित के कार्यों के लिए देते हैं तथा यज्ञादि द्वारा वायु आदि देवों की शुद्धि के लिए उनका विनियोग करते हैं। इन धनों को दान में देकर, लोभ को जीतने से, हम व्यसनों के मूलभूत इस लोभ को नष्ट करके दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये धन हमारे यश-ही-यश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वे धन दें जो धन कि दानरूप में दिये जाकर हमारे यश का कारण बनें और हमारे दिव्य गुणों का वर्धन करनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—द्रविणोदाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दान व प्रतिष्ठा

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ॥९॥

१. गत मन्त्र में धनों को देवों के निमित्त, न कि भोग के निमित्त प्राप्त करने का उल्लेख था। उसी बात को समर्थित करते हुए कहते हैं कि **द्रविणोदाः**=धनों को देनेवाला ही **पिपीषति**=सोम के पान की कामना करता है। चूँकि धन को न देकर अपने भोग में ही उसका व्यय करनेवाला तो वासनाओं का शिकार होकर सोम को अपव्ययित कर बैठता है। वह सोम का शरीर में ही व्यापन नहीं कर पाता। २. अतः प्रभु अपने मित्र जीवों को निर्देश करते हैं कि **जुहोतन**=इस धन की लोककल्याण के यज्ञ में आहुति दो **च**=और **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। दान देने से प्रतिष्ठा तो प्राप्त होगी ही, उसके साथ हमारा व्यसनों से बचाव होकर कल्याण भी होगा। हमारे शरीर, मन व बुद्धि सब अधिक स्वस्थ होंगे। ३. प्रभु कहते हैं कि **नेष्ट्रात्**=नेष्टा बनने के दृष्टिकोण से 'नी नये' अपने को आगे ले-चलने के विचार से **ऋतुभिः**=समय रहते, यौवन में ही **इष्यत**=इस सोमपान की कामना करो। यौवन में ही संयमी बनकर सोम का शरीर में व्यापन करो ताकि शरीर, मन व बुद्धि सभी क्षेत्रों में तुम आगे बढ़ सको—सभी शक्तियों का तुममें विकास हो।

भावार्थ—धन का दान करनेवाला ही सोमपान करता है, दान से प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। आगे बढ़ने के दृष्टिकोण से समय रहते सोम के रक्षण की कामना करनी ही चाहिए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—द्रविणोदाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तुरीयोपासन

यत्त्वा तुरीयमृतुभिर्द्रविणोदो यजामहे। अध स्मा नो ददिर्भव ॥१०॥

१. 'पृथिवीलोक' प्रथम लोक है, 'अन्तरिक्ष' द्वितीय, 'द्युलोक' तृतीय तथा 'ब्रह्म' तुरीय है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **द्रविणोदः**=धन के देनेवाले प्रभो ! **यत्**=जो **तुरीयम्**='**पृष्ठात्पृथिव्याहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् । दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्** । इस मन्त्र में वर्णित तुरीय आपको **ऋतुभिः**=समय रहते, यौवन में ही, न कि समय के बीतने पर वार्धक्य में **यजामहे**=उपासित करते हैं। **अध**=अब **नः**=हमारे लिए **ददिः**=खूब देनेवाले **भव स्मा**=होओ, हम जितना भी माँगें आप अधिक ही देनेवाले हों। २. जब इस जीवन में हम शरीर की नीरोगता (पृथिवी), मानस की पवित्रता (अन्तरिक्ष) व मस्तिष्क की दीप्तता (द्युलोक) का सम्पादन करके आत्मा द्वारा एकत्त्वदर्शन अर्थात् सर्वत्र उस देदीप्यमान ज्योति के व्यापन (स्वर्ज्योति) को अनुभव करने का प्रयास करते हैं तो हमारे योग-क्षेम के लिए आवश्यक सब धनों को वे प्रभु ही देते हैं। वे 'द्रविणोदा' हैं, सब धनों को देनेवाले हैं। नित्याभियुक्तों के पालन का उत्तरदायित्व तो है ही उनपर।

भावार्थ—हम उस तुरीय प्रभु का उपासन करें, वे प्रभु हमें सब धनों को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः – मेधातिथिः काण्वः । देवते—अश्विनौ । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अश्विनीदेवों का मधुपान

अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता । ऋतुना यज्ञवाहसा ॥११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हम तुरीय ब्रह्म का उपासन करनेवाले हों। होंगे तब जबकि हम यौवन में ही सोम को सुरक्षित करनेवाले बनेंगे। इस सोमरक्षण के लिए मुख्य साधन प्राणायाम है, अतः यह प्राणसाधना करनेवाला प्रार्थना करता है कि **अश्विना**=हे प्राणापानो ! **मधु पिबतम्**=आप सब अन्नों के सारभूत इस सोम का पान करो। जैसे शहद सब पुष्परसों का सारभूत होता है, वैसे ही यह सोम सब खाये गये भोजनों का साररूप है। प्राणसाधना से इसकी शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। २. इस सोम की ऊर्ध्वगति के द्वारा ये प्राणापान **दीद्यग्नी**=ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले होते हैं। ज्ञानाग्नि का ईंधन यह सोम ही तो है। ३. इन सोमकणों के द्वारा ही ये प्राणापान **शुचिव्रता**=पवित्र व्रतोंवाले होते हैं। सोम का संयम होने पर अशुभ वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं, मन की मैल दूर हो जाती है और यह संयमी पुरुष लोकहित की पवित्र भावनाओं को लेकर जीवन में चलता है एवं पवित्र व्रतोंवाला होता है। ४. इस प्रकार हे प्राणापानो ! आप मेरे जीवन में **ऋतुना**=समय से अर्थात् यौवन में ही **यज्ञवाहसा**=यज्ञों का धारण करनेवाले होते हो। 'मुझे धर्म की रुचि बुढ़ापे में ही प्राप्त हो'—सो नहीं। यदि ऐसा होता तब तो मेरी कितनी दयनीय स्थिति होती, चूँकि जब शक्ति थी तब धर्मरुचि नहीं थी और अब धर्मरुचि आई तो शक्ति नहीं रही। ये प्राणापान सोम के संयम द्वारा मेरे यौवन में ही यज्ञों का प्रणयन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राण-साधना से सोम का संयम होने पर मेरे मस्तिष्क में दीप्त ज्ञानाग्नि होती है, मेरे हृदय में पवित्र व्रत होते हैं और मेरे हाथ यज्ञों का वहन करनेवाले।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

यज्ञशील गृह

गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि । देवान् देवयते यज ॥१२॥

१. हे **सन्त्य**=दान में उत्तम (सनने साधुः)—सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभो ! आप **गार्हपत्येन**=गृहपतित्व के दृष्टिकोण से, इसलिए कि मैं घर का उत्तम रक्षण कर सकूँ, घर को बहुत ही

उत्तम बना सकूँ, मुझमें **ऋतुना**=समय से अर्थात् यौवन का समय न बीत जाने पर ही **यज्ञनीः असि**=यज्ञों को प्राप्त करानेवाले हैं। घर वही सुन्दर बनता है जोकि यज्ञशील पुरुषों से युक्त हो। वैदिक संस्कृति में तो पत्नी का सम्बन्ध यज्ञों के साधन के लिए ही माना गया है—**पत्युर्नो यज्ञसंयोगे** [अष्टा० ४।१।३३]। २. हे प्रभो! **देवयते**=देवों की भावना को अपनानेवाले मेरे लिए **देवान् यज**=दिव्यगुणों को मेरे साथ संगत कीजिए। इन दिव्य गुणों को अपनाते हुए मैं सर्वमहान् देव आपको भी प्राप्त कर सकूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हममें यज्ञ की वृत्ति हो, हमारा घर सुन्दर बने। उस प्रभुदेव को प्राप्त करने की कामनावाले हम दिव्यगुणों को अपनाएँ।

विशेष—इस सूक्त में मुख्यभाव यौवन में ही संयमी बनकर सोम का पान करना—शक्ति की रक्षा करना है। इसके लिए प्रथम उपाय इन्द्र बनना अर्थात् जितेन्द्रियता है (१), दूसरा साधन प्राणसाधना है (२), तीसरा साधन उत्तम कर्मों में लगे रहकर आगे बढ़ना है (३)। ऐसा करने पर हम शरीर, मन व बुद्धि में उत्तम गुणों को स्थापित कर पाएँगे (४)। इसी से हम ब्रह्मसम्पत्ति को भी प्राप्त करेंगे (५)। ये ब्रह्म हमें सब धनों को देंगे, हम उन धनों का विनियोग दानादि उत्तम कर्मों में करेंगे (६)। हम धन में आसक्त न होकर उस प्रभु का ही उपासन करेंगे (१०)। हमारा जीवन पवित्र बनेगा (११), घर सुन्दर बनेगा (१२)। 'इस सुन्दर घर में हम उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही आवाहन करेंगे' इस भावना से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

हरयः सूरचक्षसः

आ त्वा वहन्तु हरयो वृषणं सोमपीतये। इन्द्र त्वा सूरचक्षसः ॥१॥

१. गत सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अनुसार घर को उत्तम बनाकर, उस सुन्दर यज्ञों व देवों के अधिष्ठानभूत घर में हे **इन्द्र**=परमैश्वर्ययुक्त प्रभो! **वृषणम्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले **त्वा**=आपको **हरयः**=औरों के दुःखों का हरण करनेवाले, यज्ञों का आहरण करनेवाले पुरुष तथा **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाशवाले पुरुष **त्वा**=आपको ही **आवहन्तु**=सब प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न करें। २. **सोमपीतये**=सोम की रक्षा के लिए यह आपका आवहन अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ आप हैं, वहाँ काम नहीं। जहाँ काम नहीं, वहीं सोमपान भी सम्भव है। इस सोमपान से ही तो मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा को ठीक प्रकार से पूर्ण करता हुआ जीवन को सुखी बना सकता है। ३. प्रभु के आवहन के लिए आवश्यक है कि हम 'हरयः सूरचक्षसः' बनें—औरों के दुःखों को हरण करनेवाले बनें। गीता [१२।४] के शब्दों में **सर्वभूतहिते रताः**=सब प्राणियों के हित में लगे हुए पुरुष ही प्रभु के भक्ततम होते हैं, तथा **सूरचक्षसः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाले पुरुष ही कामाग्नि को भस्म करके प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनते हैं।

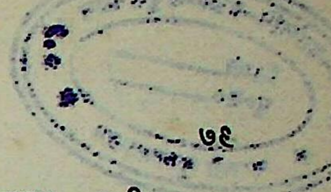
भावार्थ—हम पर-दुःखहरण व ज्ञानार्जन करके प्रभु-दर्शन के योग्य बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धाना घृत

इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षतः। इन्द्रं सुखतमे रथे ॥२॥

१. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सुखतमे रथे**=(सु+ख+तम) जिसमें एक-एक इन्द्रिय



अत्यन्त उत्तम है ऐसे शरीररूप रथ में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **उपवक्षतः**=समीप प्राप्त कराते हैं। प्रभु का दर्शन स्वस्थ शरीर में ही होता है—उस शरीर में कि जिसमें कोई भी इन्द्रिय जीर्ण-शक्ति नहीं हो गई। वस्तुतः हमारी सर्वमहान् प्रभु की अर्चना यही है कि हम उसके दिये हुए इस शरीर-रूप रथ को विकृत न होने दें और इस रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्वों को अक्षीणशक्ति बनाये रक्खें। २. **इह**=हमारे इस जीवन में **इमाः**=ये इन्द्रियरूप घोड़ियाँ कर्मेन्द्रियों के रूप में **धानाः**=सदा लोकों को धारण करनेवाली हों, ये धारणात्मक कर्मों को ही करनेवाली हों तथा ज्ञानेन्द्रियों के रूप में ये **घृतस्नुवः**=ज्ञान की दीप्ति को चारों ओर प्रस्तुत करनेवाली हों। स्वयं ज्ञानदीप्त होकर चारों ओर ये ज्ञान के प्रकाश को ही फैलाएँ। ३. वस्तुतः जिस दिन हमारी कर्मेन्द्रियाँ धारणात्मक कर्मों में लगी होंगी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का प्रसार कर रही होंगी उस दिन हमें प्रभु का दर्शन होगा।

भावार्थ—हम धारणात्मक कर्मों में व्याप्त इन्द्रियोंवाले हों, ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का प्रसार करें और इस प्रकार प्रभु-प्राप्ति के पात्र बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इन्द्र का आह्वान

इन्द्रं प्रातर्हवामह इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इन्द्रं सोमस्य पीतये॥३॥

१. हम उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **प्रातः**=इस जीवन के बाल्यकाल में **हवामहे**=पुकारते हैं। **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **अध्वरे प्रयति**=इस जीवन-यज्ञ के आगे चलने पर अर्थात् यौवन में व प्रौढ़ता में पुकारते हैं। २. सर्वदा प्रभु का स्मरण इसलिए आवश्यक है कि इस सम्पूर्ण जीवन में प्रभु को ही हमारे लिए इन कामादि वासनाओं को पराभूत करना है। इन वासनाओं को पराभूत करके ही हम अपनी शक्ति की रक्षा कर पाते हैं, अतः कहते हैं कि **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही हम **सोमस्य पीतये**=सोम की रक्षा के लिए पुकारते हैं। प्रभु का नाम-स्मरण ही वासना-विनाश का कारण बन जाता है और हम शरीर में शक्ति की रक्षा कर पाते हैं।

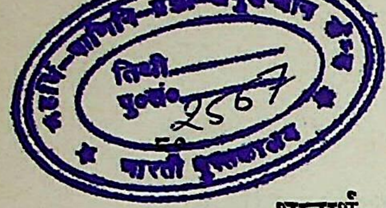
भावार्थ—हम जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायं—सभी कालों में इन्द्र का स्मरण करते हैं ताकि वासनाओं को पराभूत करके शक्ति का रक्षण कर सकें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

केशी हरी

उप नः सुतमा गहि हरिभिरिन्द्र केशिभिः। सुते हि त्वा हवामहे॥४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले जीव! तू **केशिभिः**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **हरिभिः**=इन्द्रियरूप घोड़ों से युक्त हुआ **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पादित इस सोम को **उप+आगहि**=समीपता से प्राप्त हो अर्थात् अपने अवकाश के समय को सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगाता हुआ तू इस सोम का रक्षण करनेवाला बन। २. **सुते**=इस सोम का सम्पादन करने पर **हि**=ही **त्वा**=तुझे **हवामहे**=हम अपने समीप बुलाते हैं। जैसे पुत्र कोई उत्तम कार्य करता है तो पिता उसे अपने समीप बुलाकर आशीर्वाद देते हैं, इसी प्रकार हम ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में लगे रहकर इस अन्न से रसादि के क्रम में उत्पादित सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं तो प्रभु को प्रीणित करनेवाले होते हैं। प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें अपने समीप बुलाते हैं। प्रभु-प्राप्ति के पात्र हम तभी बनते हैं जबकि हम सोम का रक्षण करते हैं।



भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति को महत्त्व दें, यह हमें सोमरक्षण के योग्य बनाएगी। सोम का रक्षण होने पर ही हम प्रभु को पाएँगे।

ऋषिः—मेधातिथि काण्वः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

आदेशत्रयी

सेमं नः स्तोममा गह्युपेदं सवनं सुतम्। गौरो न तृषितः पिब ॥५॥

१. प्रभु जीव को प्रस्तुत मन्त्र में तीन आदेश देते हैं—**सः**=वह तू **नः**=हमारे **इमम् स्तोमम्**=इस स्तोम—स्तुतिसमूह को **आगहि**=ग्रहण करनेवाला बन अर्थात् 'सर्वज्ञता, न्यायकारिता, दयालुत्व' आदि जिन गुणों से तू मेरा स्तवन करता है, उन गुणों को तू अपने जीवन में ग्रहण करनेवाला हो। जब तू स्वयं अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनने का प्रयत्न करेगा, न्यायशील होगा व दयालु स्वभाववाला बनेगा, तभी तू मेरा सच्चा स्तवन कर रहा होगा। यह तुझसे की जानेवाली मेरी 'दृश्य भक्ति' होगी। इस 'दृशीक-स्तोम' का ही महत्त्व है। केवल 'श्रव्यभक्ति' जो तेरे जीवन का अङ्ग नहीं बनती वह तो व्यर्थ ही है। २. प्रभु का दूसरा आदेश यह है कि तू **इदम् सवनम्**=इस यज्ञ के **उप**=सदा समीप रहनेवाला हो। तेरा जीवन यज्ञों से व्याप्त हुआ-हुआ हो। तेरे जीवन के सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय होकर तेरे 'शतक्रतु' नाम को चरितार्थ करें। ३. **तृषितः गौरः नः**=प्यासे मृग की तरह तू **सुतम् पिब**=इस उत्पन्न सोम का पान करनेवाला बन। प्यासे मृग को जैसे पानी पीने की तीव्र अभिलाषा होती है, उसी प्रकार तुझमें इस सोम के पान की उत्कट आकांक्षा हो। तुझे सोमपान के बिना शान्ति ही न मिले, तेरे लिए यह सोमपान ही रुचिकर हो।

भावार्थ—(क) हम प्रभु के गुणों को धारण करें, (ख) जीवन को यज्ञमय बनाएँ, (ग) सोम के रक्षण के लिए उग्र प्रयत्नवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शक्ति व सहिष्णुता

इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि। ताँ इन्द्र सहसे पिब ॥६॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम आदेश को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—**इमे सोमासः**=ये सोमकण, सुरक्षित होने पर, शरीर में ही इनका व्यापन होने पर **इन्दवः**=(इन्द, to be powerful) तुझे शक्तिशाली बनानेवाले हैं। ये ही तो सम्पूर्ण शक्ति के मूल हैं। २. ये **सुतासः**=उत्पन्न किये गये सोमकण **अधि बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में ही होते हैं अर्थात् जब हृदय वासना से रहित होता है तभी इन सोमकणों की शरीर में उत्पत्ति व स्थिति होती है। हृदय के वासनाओं से भरे होने पर भोजन से कुछ विष उत्पन्न होते हैं जोकि शक्ति के ह्रास का कारण बनते हैं। शोक, मोह, क्रोधादि के भाव वीर्यरक्षा के लिए सहायक न होकर अत्यन्त नाशक होते हैं। ब्रह्मचारी के लिए इनसे ऊपर उठना नितान्त आवश्यक है। ३. प्रभु कहते हैं कि—हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सहसे**=सहनशक्ति की प्राप्ति के लिए **तान्**=उन सोमकणों को **पिब**=पीनेवाला बन। जितना-जितना हम इस सोम का रक्षण करते हैं, उतना-उतना ही हम सहस्‌वाले बनते हैं, हममें सहनशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस सोम के रक्षण न होने से ही चिड़चिड़ापन या खीज उठने, झट क्रोध में आ जाने की वृत्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—हमारे शरीर में सुरक्षित सोमकण बल व सहनशक्ति को उत्पन्न करते हैं। इनका रक्षण हृदय के वासनाशून्य होने पर ही होता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सोमपान का साधन

अयं ते स्तोमो अग्रियो हृदिस्पृगस्तु शंतमः । अथा सोमं सुतं पिब ॥७॥

१. गत मन्त्र में सोमपान का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। सोमपान से शक्ति व सहस् की उत्पत्ति होती है। इस सोमपान का महत्त्वपूर्ण साधन यह है कि हम सदा प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें ताकि हमारे हृदय वासनाशून्य हों। वासनाशून्य हृदय में ही सोम का निवास है, अतः प्रभु कहते हैं कि— **अयम्**=यह **ते**=तुझसे किया जानेवाला **स्तोमः**=स्तुतिसमूह **ते अग्रियः**=तेरे (अग्रेभवः) आगे होनेवाला **अस्तु**=हो अर्थात् यह सदा तेरे सामने आदर्शवाक्य (motto) के रूप में हो, तुझे यह ध्यान हो कि मुझे ऐसा ही बनना है। यह स्तोम तेरे लिए **हृदिस्पृक्, अस्तु**=हृदय को स्पर्श करनेवाला हो, तेरे हृदय में यह समा जाए। तेरी यह प्रबल कामना हो कि तुझे ऐसा ही बनना है। **शन्तमः**=यह स्तोम तुझे अधिक-से-अधिक शान्ति को देनेवाला हो। इस लक्ष्य का ध्यान आने पर तुझे हृदय में अच्छा प्रतीत हो। **अथा**=अब ऐसा हो सकने के लिए तू **सुतम्, सोमम् पिब**=आहार से उत्पन्न हुए इस सोम का पान कर। इस सोम के पान से ही उस महान् लक्ष्य की—प्रभु जैसा ही बन जाने की सिद्धि सम्भव होगी। यह महान् लक्ष्य स्वयं सोम के रक्षण में सहायक होता है और रक्षित हुआ-हुआ सोम हमें महान् लक्ष्य को प्राप्त करानेवाला बनता है। लक्ष्य सोमरक्षण के लिए होता हैं, सोमरक्षण लक्ष्यप्राप्ति के लिए होता है। इस सोम (वीर्य) ने ही हमें उस सोम (प्रभु) जैसा बनाना है।

भावार्थ—प्रभु के स्तोम (स्तुतिवाक्य) को हम अपने जीवन का आदर्शवाक्य बनाएँ। यह हमारे हृदय में स्थिर हो जाए और हमें शान्ति देनेवाला हो। हम इसकी प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

यज्ञ व सोमपान

विश्वमित्सवनं सुतमिन्द्रो मदाय गच्छति । वृत्रहा सोमपीतये ॥८॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **इत्**=निश्चय से **विश्वम्**=चौबीसों घण्टों में प्रविष्ट होनेवाले, सदा चलनेवाले **सवनम्**=यज्ञ को **गच्छति**=प्राप्त होता है अर्थात् यह निरन्तर यज्ञशील बना रहता है। यज्ञों में लगा रहने से ही यह वासनाओं का शिकार नहीं होता, अपितु यह **वृत्रहा**=यज्ञों में व्याप्त जीवनवाला होकर वृत्र का विनाश करनेवाला होता है, ज्ञान पर आवरणरूप से आ जानेवाले काम का वह विध्वंस करता है और काम-विध्वंस से ही **सोमपीतये**=सोम के पीने के लिए होता है, शरीर में शक्ति का संरक्षण कर पाता है। २. यह यज्ञों में लगा रहनेवाला, यज्ञों में लगे रहकर वासना का विध्वंस करनेवाला, वासना-विध्वंस से सोम का रक्षण करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **मदाय गच्छति**=हर्ष को प्राप्त होता है। जीवन का उल्लास सोम की सुरक्षा में ही है, सोम की रक्षा के लिए वासना-विनाश आवश्यक है। वासना-विनाश का उपाय यही है कि हम यज्ञों व उत्तम कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—'यज्ञव्यापृति, वासनाविध्वंस, सोमरक्षण व हर्ष-प्राप्ति' इनमें क्रमिक कार्यकारण-भाव चलता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराड्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

शतक्रतु

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो । स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥९॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो ! **सः**=वे आप **नः**=हमारी **इमम् कामम्**=इस इच्छा को **आपृण**=सर्वथा पूरित करो कि **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा (गमयन्ति अर्थान्) तथा **अश्वैः**=कर्मेन्द्रियों के द्वारा (अश्नुवते कर्मसु) **स्वाध्यः**=(सुष्ठु सर्वतो ध्यानयुक्ताः) सब ओर से इन्द्रियों को एकाग्र करके चिन्तन करनेवाले हम **त्वा**=आपका ही **स्तवाम**=स्तवन करें। २. संसार में इस मानव-जीवन के मिलने पर इससे उत्तम सौभाग्य की और बात नहीं हो सकती कि हम 'प्रभुध्यान-प्रवण चित्त-वृत्तिवाले' बनें, अतः मन्त्र में यही प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो ! आप यह कृपा करें कि हम एकाग्रता से आपका स्तवन करनेवाले बनें। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती हुई उन पदार्थों में आपकी महिमा को देखनेवाली हों। हमारी कर्मेन्द्रियाँ आपके निर्देशों को क्रियान्वित करने में लगी रहें। हमारी चित्तवृत्तियाँ आपके ही स्वरूप का चिन्तन करें। ३. ऐसा होने पर ही हे शतक्रतो प्रभो ! हम भी आपके अधिकाधिक समीप पहुँचते हुए कुछ अंशों में 'शतक्रतु' बन पाएँगे। यही हमारे जीवन का चरम सौन्दर्य होगा।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ व चित्तवृत्तियाँ प्रभुस्तवन करनेवाली हों। यह स्तवन हमें भी शतक्रतु बनानेवाला हो।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु का दर्शन उन्हें होता है जो पर-दुःख-हरण में प्रवृत्त होते हैं और सूर्य के समान दीप्तज्ञानवाले बनते हैं (१)। हमारी कर्मेन्द्रियाँ धारणात्मक कर्मों में लगें और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का प्रसार करें (२)। हम सदा प्रभु का स्मरण करें (३)। प्रभुस्तुति को जीवन में अनूदित कर, यज्ञशील हों और सोम के पान की हममें प्रबल अभिलाषा हो (५)। ये सोम ही तो हमें शक्ति व सहिष्णुता प्राप्त कराएँगे (६)। इस सोम के रक्षण के लिए हमें प्रभुस्तवन प्रिय हो (७)। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु की महिमा को देखें, कर्मेन्द्रियाँ प्रभु-प्रतिपादित यज्ञों के करनेवाली हों, चित्तवृत्तियाँ प्रभुचिन्तन में लीन हों (९)। इसके लिए हम इन्द्र और वरुण का उपासन करें अर्थात् 'जितेन्द्रिय व व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले बनें'—इन शब्दों से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे। ता नो मृळात ईदृशे ॥१॥

१. **अहम्**=मैं **सम्राजोः**=उत्तम दीप्तिवाले **इन्द्रावरुणयोः**=इन्द्र और वरुण के **अवः**=रक्षण का **आवृणे**=सर्वथा वरण करता हूँ। मुझे इन्द्र और वरुण का रक्षण प्राप्त हो। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतीक है। यह असुरों का संहार करनेवाला है, सब आसुरी वृत्तियों को यह समाप्त कर देता है। जितेन्द्रिय होने पर हम वासनाओं के शिकार नहीं होते। 'वरुण' पाशी है, पाशों से जकड़नेवाला है। जब हम अपने को ही व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं तो हम वरुण बनते हैं। यह व्रतबन्धन ही हमें श्रेष्ठ=वरुण बनाता है (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः)। इस व्रतबन्धन से ही हम 'प्रचेताः' प्रकृष्ट ज्ञानवाले बनते हैं। इसी से हम 'अप्पतिः' (अपां रेतसां पतिः) सोमकणों के रक्षणवाले होते हैं। हम इन इन्द्र व वरुण के रक्षण का वरण करते हैं अर्थात् जितेन्द्रिय व व्रतों के बन्धनवाले बनकर आत्मरक्षण करनेवाले होते हैं। ये इन्द्र और वरुण सम्राट् हैं, हमारे जीवनों को व्यवस्थित व दीप्त करनेवाले हैं। २. **ईदृशे**=ऐसा होने पर अर्थात् जब हम इनके रक्षण का वरण करते हैं तब **ताः**=वे दोनों **नः**=हमें **मृळातः**=सुखी करते हैं। सुख-प्राप्ति का मार्ग

ही यह है कि हम इन्द्रियों के दास न हों तथा सदा व्रतों के बन्धन में अपने-आपको बाँधकर ले-चलें। ऐसा होने पर हमारा जीवन सुखी तो होगा ही, यह जीवन चमक भी उठेगा।

भावार्थ—जीवन को दीप्त व सुखी बनाने के लिए आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें तथा जीवन को व्रतों के बन्धन में बाँधकर चलें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—यवमध्या विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विप्र-मावान्-चर्षणि

गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः। धर्तारा चर्षणीनाम् ॥२॥

१. इन्द्र और वरुण **हि**=निश्चय से **विप्रस्य**=(वि+प्रा) अपना विशेष रूप से पूर्ण करनेवाले तथा **मा-वतः**=ज्ञानी के (मा=प्रमा=ज्ञान) **अवसे**=रक्षण के लिए **हवम्**=पुकार को **गन्तारा**=जानेवाले होते हैं अर्थात् ज्ञानी व अपनी न्यूनताओं को दूर करने के लिए यत्नशील पुरुष का रक्षण इन्द्र और वरुण ही करते हैं। ऐसा पुरुष जब इन्हें पुकारता है तब ये सदा उपस्थित होते हैं। जितेन्द्रियता इसके दोषों व न्यूनताओं को दूर करके इसका पूरण करेगी तथा व्रतों का बन्धन—ब्रह्मचर्यादि व्रतों का धारण इसे ज्ञान-परिपूर्ण करेगा। इस प्रकार इन्द्र इसे 'विप्र' बनाएगा तो वरुण 'मा-वान्'। २. ये इन्द्र और वरुण **चर्षणीनाम्**=(कर्षणीनाम्) श्रमशील शक्तियों के **धर्तारा**=धारण करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रियता व व्रती बनना श्रमशीलता के बिना नहीं हो सकता। आलस्य में लेटनेवाला व्यक्ति न तो जितेन्द्रिय ही बन सकता है (इन्द्र), न व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाला (वरुण)।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण की कृपा-पात्रता के लिए हम विप्र, मावान् व चर्षणि बनें। अपना विशेष रूप से पूरण करें, ज्ञानवान् बनें, श्रमशील हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अनुकाम तर्पण

अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ। ता वां नेदिष्ठमीमहे ॥३॥

१. हे **इन्द्रावरुण**=इन्द्र और वरुण देवो! आप हमें **अनुकामम्**=इच्छा के अनुसार **रायः**=धन से **आतर्पयेथाम्**=सर्वथा तृप्त करिये। जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन जहाँ हमारी अध्यात्म-उन्नति का कारण बनते हैं वहाँ लौकिक अभ्युदय को भी प्राप्त करानेवाले होते हैं। ये अनुकाम धन का लाभ कराते हैं अर्थात् आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुपात में ये धन अवश्य देते हैं। जितेन्द्रिय व व्रती पुरुष सांसारिक दृष्टिकोण से भी कभी असफल नहीं होता। २. **ता वाम्**=उन आप दोनों को अर्थात् इन्द्र और वरुण को हम **नेदिष्ठम्**=अत्यन्त समीप **ईमहे**=चाहते हैं। जितेन्द्रियता व व्रतों के बन्धन की भावना मुझसे कभी दूर न हो। जितेन्द्रियता मुझे नीरोग और बलवान् बनाएगी और व्रतबन्धन मुझे व्यसनों के बन्धन से मुक्ति दिलाएगा।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन मुझे इच्छानुसार धन की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। ये सदा मेरे समीप हों, मैं जितेन्द्रिय व व्रती बनूँ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—पादनिचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शची सुमति

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम् ॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन हमारे समीप होते हैं तो हम **हि**=

निश्चय से **शचीनाम्**=शक्तियों का **युवाकु**=अपने साथ मिश्रण करनेवाले होते हैं। 'यु' धातु से आकु प्रत्यय 'अत्यधिकता', अर्थ में आया है, जैसे हिन्दी में 'लड़ाकू'=खूब लड़नेवाला, वैसे युवाकु=खूब मिश्रित करनेवाला। हम जितेन्द्रिय बनते हैं तो खूब ही शक्ति का अपने साथ सम्पर्क करनेवाले होते हैं। २. इसी प्रकार हम **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, बुद्धियों का **युवाकु**=अपने साथ सम्पर्क करनेवाले हों। व्रतों का बन्धन हमारे जीवन को पवित्र बनाकर हमें निर्मल बुद्धिवाला बनाता है। ३. शक्ति व सुमति को प्राप्त करके हम **वाजदाव्नाम्**=अन्न के देनेवालों में **भूयाम**=हों। निर्बल व्यक्ति में दान की वृत्ति नहीं होती तथा सशक्त होने पर भी यदि विचारशक्ति ठीक न हो तो मनुष्य देनेवाला नहीं होता। दान तभी होता है जब 'शक्ति व सुमति' हो। अन्न का देनेवाला व्यक्ति भोगवृत्तिवाला नहीं बनता, परिणामतः उसकी शक्ति भी सुरक्षित रहती है और मति भी विकृत नहीं होती।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व व्रती बनकर शक्ति व सुमति को प्राप्त करें तथा दानशील बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—भुरिगार्ची गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ऋतु व उक्थ्य

इन्द्रः सहस्रदाव्नां वरुणः शंस्यानाम्। क्रतुर्भवत्युक्थ्यः ॥५॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष, भोगासक्त न होने के कारण, अपनी आवश्यकताओं को न्यून रखने के कारण **सहस्रदाव्नाम्**=हजारों धनों के दानों का **क्रतुः**=करनेवाला **भवति**=होता है। जब जितेन्द्रियता का अभाव होता है तब मनुष्य की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं, आवश्यकताएँ बढ़ने के साथ दान का सम्भव नहीं रहता। दान की बात तो दूर रही, ऐसा व्यक्ति अन्याय-मार्गों से धनार्जन का प्रयत्न करता है। जितेन्द्रिय ही दान दे सकता है। यही हजारों की संख्या में धनों का दान करनेवाला होता है। २. **वरुणः**=व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाला **शंस्यानाम्**=प्रशंसनीय व्यक्तियों में भी **उक्थ्य**=स्तुत्य **भवति**=होता है। जितना-जितना हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं, उतना-उतना ही हमारा जीवन सुन्दर होता चलता है। जीवन का सौन्दर्य बिना व्रतों के सम्भव ही नहीं। एक जलधारा किनारों के अन्दर चलती हुई सुन्दर प्रतीत होती है, इसी प्रकार मानव-जीवन भी मर्यादाओं में—व्रतों के बन्धन में चलता हुआ सुन्दरतम होता है। वह जीवन प्रशंसनीयों में भी प्रशंसनीय होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बन हजारों का दान करनेवाले हों और वरुण=व्रतों में अपने को बाँधनेवाले बनकर प्रशस्य जीवनवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धन की प्राप्ति-वर्धन-दान

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि। स्यादुत प्ररेचनम् ॥६॥

१. गत मन्त्र में वर्णित इन्द्र और वरुण को ही सम्बोधित करके कहते हैं कि—**तयोः**=उन इन्द्र और वरुण के **इत्**=ही **अवसा**=रक्षण से **वयम्**=हम **सनेम**=उत्तम ऐश्वर्यों का सम्भजन करनेवाले हों अर्थात् जितेन्द्रिय व व्रती बनकर हम इस प्रकार पुरुषार्थ करें कि हम धनों को प्राप्त करनेवाले हों। ये धन हमारे दैनन्दिन व्ययों की पूर्ति के लिए तो पर्याप्त हों ही २. **च**=और हम आकस्मिक व्ययों के लिए **निधीमहि**=इन धनों को सुरक्षित भी रख सकें। हमारी निधि खाली न होकर धन से परिपूर्ण हो। ३. **उत** और **प्ररेचनम् स्यात्**=इन धनों का प्ररेचन भी होता रहे अर्थात् ये धन हमारी निधि में ही स्थिर

होकर न रह जाएँ, हम इन्हें दान में भी देते रहें। समय-समय पर यज्ञों, लोकहित के कार्यों के द्वारा इनका व्यय होता ही रहे और इस प्रकार कोश समय-समय पर शुद्ध होता रहे।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व व्रती बनकर हम धनों को प्राप्त करें, जोड़ें और दान में दें। अप्राप्त की प्राप्ति ही प्रथम पुरुषार्थ है, प्राप्त का रक्षण व वर्धन द्वितीय व तृतीय पुरुषार्थ हैं और वृद्धि (बढ़े हुए) का दान—यही चौथा पुरुषार्थ है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उत्तम विजय (ज्ञान+धन+विजय)

इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे। अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम् ॥७॥

१. हे **इन्द्रावरुण**=इन्द्र व वरुण देवो! **अहम्**=मैं **वाम्**=आप दोनों को **हुवे**=पुकारता हूँ। मैं प्रार्थना करता हूँ कि मैं इन्द्र=जितेन्द्रिय बन सकूँ तथा **वरुण**=अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधकर श्रेष्ठ जीवनवाला बनूँ। २. मैं ऐसा इसलिए बनना चाहता हूँ कि **चित्राय**=(चित्+र) ये दोनों वृत्तियाँ मेरे लिए ज्ञान को देनेवाली हों। जितेन्द्रिय पुरुष सदा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। **राधसे**=कार्यों को सिद्ध करनेवाले धन के लिए मैं इन्द्र व वरुण को पुकारता हूँ। जितेन्द्रिय व व्रती बनकर मैं आवश्यक धन को संगृहीत करने में समर्थ होता ही हूँ। ३. हे इन्द्र व वरुण देवो! आप **अस्मान्**=हमें **सुजिग्युषः**=उत्तम विजय को प्राप्त करनेवाला **कृतम्**=करो। आपकी कृपा से मैं सदा विजयी बनूँ। वस्तुतः इन्द्रियों पर विजय करनेवाला पुरुष त्रिभुवन-विजेता बनता है, इसका कहीं पराजय नहीं होता। 'वरुण' स्वयं अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला होकर कभी शत्रुओं से बद्ध नहीं होता। यह सब शत्रुओं का बाधन करनेवाला होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व व्रतों का बन्धन हमें ज्ञान, धन व विजय के प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवते—इन्द्रावरुणौ। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

संविभाग व सुख

इन्द्रावरुण नू नु वां सिषासन्तीषु धीष्वा। अस्मभ्यं शर्म यच्छतम् ॥८॥

१. हे **इन्द्रावरुण**=इन्द्र व वरुण देवो! **वाम्**=आप दोनों **नू नु**=(अतिशयेन क्षिप्रम्) शीघ्र ही **सिषासन्तीषु**=संविभाग की कामनावाली, बाँटकर खाने की इच्छावाली **धीषु**=बुद्धियों के होने पर **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शर्म**=सुख को **आयच्छतम्**=समन्तात् प्राप्त कराओ। २. जब मनुष्य जितेन्द्रिय व व्रतमय जीवनवाला होता है तब वह कभी भी सब-कुछ अकेला खा जानेवाला नहीं होता। वह 'केवलादी' नहीं बनता और इसलिए 'केवलाघ' (Sin Incarnate) नहीं होता। वह अवश्य बाँटकर खाने की वृत्तिवाला होता है। इसकी बुद्धि सदा संविभाग के विचार की ओर झुकती है। ३. जब मनुष्य की बुद्धि संविभाग के विचारवाली हो जाती है तब उसका जीवन अवश्य सुन्दर बनता है। जिस समाज व राष्ट्र में इस संविभाग की बुद्धिवाले पुरुषों का बाहुल्य होता है, उस समाज व राष्ट्र का सदा कल्याण ही होता है। संविभाग के होने पर हीनभोजन व अतिभोजन का प्रश्न नहीं रहता। ऐसा होने पर कोई overfed व कोई underfed नहीं होता, अतः वहाँ बीमारी भी समाप्त हो जाती है। मनुष्यों में संविभाग की भावना आते ही सामाजिक कष्टों का अन्त हो जाता है। सत्य बात तो यह है कि यही विचार युद्धों का भी अन्त कर देता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय और व्रती होंगे तो हममें संविभाग की बुद्धि उत्पन्न होगी। इस बुद्धि के होने पर कष्टों व युद्धों का अन्त होकर सर्वत्र कल्याण का प्रसार होगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवते—इन्द्रावरुणौ । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

इन्द्रावरुण व सधस्तुति

प्र वा॒मश्नोतु सुष्टु॒तिरिन्द्रा॑वरुण॒ यां हु॒वे । याम्॑धाथे॑ स॒धस्तु॑तिम् ॥९॥

१. **इन्द्रावरुण**=हे इन्द्र व वरुण देवो ! **वाम्**=आप दोनों को वह **सुष्टुतिः**=उत्तम स्तुति **अश्नोतु**=प्राप्त करे **याम्**=जिस-जिस स्तुति को **हुवे**=मैं करता हूँ और **याम्**=जिस **सधस्तुतिम्**=दोनों की साथ-साथ स्तुति को आप **ऋधाथे**—बढ़ाते हो । २. इन्द्र और वरुण देवों की उत्तम स्तुति यही है कि हम उनके गुणों को अपने अन्दर धारण करें । 'इन्द्र' सब शत्रुओं को पराजित करनेवाला है, हम भी काम, क्रोध, लोभादि सब शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें । 'वरुण' पाशी है । हम भी पाशी बनें और इन व्रत-रूप पाशों से अपने को बाँधनेवाले बनें । 'कामादि का संहार व सत्यादि व्रतों में अपने को बाँधना'—ये दोनों बातें सदा साथ-साथ ही चलती हैं, ये एक-दूसरे की पोषक हैं, अतः इन्द्र और वरुण की सम्मिलित स्तुति ही हमारे वर्धन का कारण है । 'इन्द्र' बनने के लिए 'वरुण' बनना आवश्यक है, 'वरुण' बनने के लिए 'इन्द्र' बनना । जितेन्द्रियता के लिए व्रती होना आवश्यक है और व्रती होने के लिए जितेन्द्रिय होना । यही इनकी सधस्तुति है । इसी में हमारा वर्धन, उन्नति है ।

भावार्थ—हम अपने इस साधना के जीवन में जितेन्द्रिय बनने के लिए व्रती बनें, व्रती बनने के लिए जितेन्द्रिय हों । इस प्रकार हम अपने जीवनों में इन्द्रावरुण की सधस्तुति करनेवाले हों ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि जितेन्द्रियता और व्रतमय जीवन मुझे दीप्त जीवनवाला बनाएँ (१) । जितेन्द्रिय व व्रती पुरुष वे ही बनते हैं जो न्यूनता के पूरण करने की कामना-वाले हों (विप्र), ज्ञानी हों (मा-वान्), श्रमशील हों (चर्षणि), (२) । जितेन्द्रिय व व्रती पुरुष आवश्यक धन का भी अर्जन कर पाता है (३) । ये अपने में शक्ति व मति का मिश्रण करते हुए अत्यन्त दानी होते हैं (४) । जितेन्द्रिय पुरुष हजारों का दान करता है तो व्रती अत्यन्त प्रशस्त जीवनवाला होता है (५) । इन दोनों भावनाओं से मनुष्य धन को प्राप्त करते हैं, जोड़ते हैं और देते हैं (६) । इन जितेन्द्रियता व व्रतमयता से मनुष्य ज्ञान, धन व विजय को प्राप्त करते हैं (७) । इन भावनाओं के होने पर मनुष्य में संविभागवाली बुद्धि होती है, यही मनुष्य का कल्याण करती है (८), अतः हम अपने जीवनों में इन्द्र और वरुण की साथ-साथ स्तुति करें (९) । ऐसा होने पर प्रभु हमें सौम्य, गतिशील, दृढ़विश्वासी व मेधावी बनाएँगे'—इन शब्दों के साथ अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[अथ पञ्चमोऽनुवाकः] [१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—ब्रह्मणस्पतिः । छन्दः—विराड्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सोमा-स्वरण-कक्षीवान्-औशिज (विद्यार्थी)

सो॒मानं॒ स्वर॑णं कृणु॒हि ब्र॑ह्मणस्पते । क॒क्षीव॑न्तं॒ य औ॑शि॒जः ॥१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो मैं इन्द्रावरुण की सधस्तुति करता हूँ अर्थात् जितेन्द्रिय व व्रती बनने का प्रयत्न करता हूँ उस मुझे हे **ब्रह्मणस्पते**=वेदज्ञान के रक्षक प्रभो ! **सोमानं कृणुहि**=सोम बना दो, मुझे आप अत्यन्त सौम्य स्वभाव का बना दो । इस सौम्य स्वभाववाला बनने के लिए ही मैं सोम की रक्षा करनेवाला बनूँ । २. **स्वरणम् कृणुहि**=आप मुझे (स्वृ शब्दे) उत्तम ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करने-वाला बनाइए तथा (सुश्चरणम्) उत्तम गतिवाला बनाइए । वस्तुतः उन ज्ञान की वाणियों के अनुसार ही मेरी क्रिया व चालचलन हो । ३. **कक्षीवन्तम्**=(कक्ष्यावन्तम्) मेखलावाला अर्थात् दृढ़निश्चयी मुझे

बनाइए। ४. मुझे ऐसा बनाइए **यः**=जो **औशिजः**=उशिक्पुत्र होऊँ अर्थात् अत्यन्त मेधावी होऊँ (नि० ३।१५)। ५. पिछले मन्त्र के साथ मिलाकर प्रस्तुत मन्त्र की भावना यह है कि जब एक विद्यार्थी जितेन्द्रिय व व्रती बनता है तो ब्रह्मणस्पति आचार्य उस विद्यार्थी को सौम्य, स्वरण, दृढ़निश्चयी व मेधावी बनाता है।

भावार्थ—आचार्य मुझे 'सौम्य, उत्तम गतिवाला, दृढ़निश्चयी व मेधावी' बनाए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—ब्रह्मणस्पतिः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रेवान्, अमीवहा, वसुविन्-पुष्टिवर्धन व तुर (आचार्य)

यो रे॒वान् यो अ॑मीव॒हा व॑सु॒वित् पु॑ष्टि॒वर्ध॑नः। स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः ॥२॥

१. गत मन्त्र के ब्रह्मणस्पति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—**यः**=जो **रेवान्**=धनवाला है अर्थात् निर्धनता के कष्ट से पीड़ित नहीं, जिसके सामने सदा आर्थिक समस्या उपस्थित नहीं रहती, क्योंकि उस अवस्था में उसका ध्यान आर्थिक समस्या को सुलझाने में ही रहेगा, न कि पढ़ाने की ओर। २. **यः**= जो **अमीवहा**=रोगों को नष्ट करनेवाला है अर्थात् जिसका शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं। रोगों से आक्रान्त शरीरवाला आचार्य न तो नियमित रूप से ज्ञान ही दे सकता है और न विद्यार्थियों के स्वास्थ्य को ठीक रख सकता है। ३. **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को जिसने प्राप्त किया हुआ है, अतएव **पुष्टिवर्धनः**=शरीर, मन व मस्तिष्क के पोषण को बढ़ानेवाला है। ४. **सः**=ऐसा आचार्य **नः** =हमें **सिषक्तु**=प्राप्त हो, **यः**=जोकि **तुरः**=हमारी सब कमियों को दूर करनेवाला है (तुर्वि हिंसायाम्) अथवा जो (तुर त्वरणे) शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाला है।

भावार्थ—आचार्य वही उत्तम है जोकि निर्धनता से पीड़ित नहीं, स्वस्थ है, निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त किये हुए है, शरीर, मन व मस्तिष्क की पुष्टि करनेवाला तथा आलस्य-शून्य है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—ब्रह्मणस्पतिः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

कुप्रभाव से बचना

मा नः॒ शंसो॒ अर॑रुषो धू॒र्तिः प्रण॒ङ् मर्त्य॑स्य। रक्षा॑ णो ब्रह्मणस्पते ॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्य के गुणों से सम्पन्न ब्रह्मणस्पति जहाँ विद्यार्थियों को उचित ज्ञान देता है वहाँ उन्हें उपद्रवी पुरुषों के मिथ्याशंसनों से भी बचाता है। 'अरे मांस खाने में क्या खराबी है, यह तो बड़ा पौष्टिक है, मृगया तो बड़ा सुन्दर व्यायाम है'—इत्यादि प्रकार से त्याज्य बातों का भी अच्छे रूप में शंसन करनेवाले पुरुष अपरिपक्व बुद्धिवालों पर ग़लत प्रभाव डाल सकते हैं, आचार्य विद्यार्थी की इन प्रभावों से रक्षा करे, अतः मन्त्र में कहते हैं कि—**नः**=हमें **अररुषः**=(ऋ+अरुः) उपद्रव करने के लिए गति करनेवाले **मर्त्यस्य**=सांसारिक विषयों के पीछे मरनेवाले पुरुष की **धूर्तिः**=हिंसक, विनाशकारी **शंसः**=बुराइयों का अच्छे रूप में शंसन **मा प्रणक्**=मत प्राप्त हो (सम्पृणक्तु) हम इन पुरुषों के सम्पर्क में ही न आएँ, इनकी बातों के प्रभाव से बचें। २. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! आचार्य! **नः**=हमें **रक्ष**=आप सुरक्षित करिये। आपकी कृपा से हम ऐसे पुरुषों के प्रभाव में न आएँ। ऐसे पुरुषों की बातों को पूर्वपक्ष के रूप में रखके आचार्य हमारे मस्तिष्कों में उनके उत्तरपक्ष को अंकित कर दें जिससे हम परिपक्व विचारोंवाले होकर बहकाये न जा सकें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी का रक्षण करे और उपद्रवी पुरुषों के नाशक विचारों से उसे प्रभावित न होने दे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—ब्रह्मणस्पतिरिन्द्रश्च सोमश्च। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, सोम (आचार्य)

स घा॑ वी॒रो न रि॑ष्यति॒ यमिन्द्रो॒ ब्रह्म॒णस्पति॑ः। सोमो॑ हि॒नोति॒ मर्त्य॑म् ॥४॥

१. वस्तुतः **सः**=वह **वीरः**=वीर विद्यार्थी **घा**=निश्चय से **न रिष्यति**=कभी हिंसित नहीं होता **यम्**=जिस **मर्त्यम्**=मरणधर्मा पुरुष को **इन्द्रः**=इन्द्र, **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी तथा **सोमः**=सोम **हिनोति**=बढ़ाता है। २. सामान्यतः एक विद्यार्थी का अपरिपक्व मन प्रभाव को शीघ्र ग्रहण करनेवाला होता है। वह किसी भी बात से प्रभावित हो सकता है। कुसंग में फँसकर वह वैषयिक भावों से शीघ्र आक्रान्त हो जाता है, अतः उसे यहाँ **मर्त्यः**=मर जानेवाला कहा है परन्तु यही विद्यार्थी जब जितेन्द्रिय (इन्द्र), ज्ञानी (ब्रह्मणस्पति) व नातिमानी—निरभिमानी (सोम) आचार्य के सम्पर्क में आता है तो यह दूषित विचारों का शिकार नहीं होता। आचार्य इसके ज्ञान को इतना बढ़ा देते हैं कि वह कुविचारों के प्रभाव से ऊपर उठ जाता है, अवाञ्छनीय भावों से लड़ने के लिए उसमें पर्याप्त वीरता उत्पन्न हो जाती है। ३. आचार्य का सर्वप्रथम गुण 'इन्द्र' शब्द से व्यक्त हो रहा है—वह पूर्ण जितेन्द्रिय है, वह इन्द्रियों का दास नहीं, उसे किसी विषय का चस्का नहीं लगा हुआ, आसुरी वृत्तियों का संहार करके वह दैवी सम्पत्ति का स्वामी बना है। ४. आचार्य का द्वितीय गुण 'ब्रह्मणस्पति' शब्द के साथ व्यक्त हो रहा है। वह ज्ञान का पति है। ज्ञान का पति होकर ही तो वह विद्यार्थी को ज्ञान दे पाता है। ५. उसका तीसरा महत्त्वपूर्ण गुण 'सोम' शब्द से व्यक्त किया जा रहा है। वह जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनकर अत्यन्त सौम्य है। उसमें विनीतता है। यह विनीतता ही तो दैवी सम्पत्ति की पराकाष्ठा है। दैवी सम्पत् की समाप्ति 'नातिमानिता' पर ही है। जितेन्द्रियता के द्वारा वह ज्ञानी बनता है, ज्ञान को प्राप्त करके विनीत होता है। जितेन्द्रियता ज्ञान का साधन है और विनीतता ज्ञान का परिणाम। इस आचार्य के शिक्षण में विद्यार्थी वीर बनता है और हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—जितेन्द्रिय, ज्ञानी, विनीत आचार्य विद्यार्थी को वीर व हिंसित न होनेवाला बनाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—ब्रह्मणस्पतिसोमेन्द्रदक्षिणाः। छन्दः—पादनिचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ज्ञान, सौम्यता, जितेन्द्रियता व दान

त्वं तं ब्र॑ह्मणस्पते॒ सोम॒ इन्द्र॑श्च॒ मर्त्य॑म्। दक्षि॑णा पा॒त्वंह॑सः ॥५॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! आचार्य! **त्वम्**=आप तो **तम्, मर्त्यम्**=उस कोमल स्वभाव, अतएव किसी भी प्रभाव से आक्रान्त हो जानेवाले इस मरणधर्मा अबोध बालक को **अंहसः**=पाप से **पातु**=रक्षित करो। **सोमः**=सोम रक्षित करे **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्र रक्षित करे अर्थात् सौम्यता और जितेन्द्रियता इसे पापों से बचानेवाली हों। ब्रह्मचर्यकाल में आचार्य इसे ज्ञान तो देता ही है, साथ ही जितेन्द्रिय व सौम्य बनाने का प्रयत्न करता है। ये सब बातें उसे पाप से बचाने में सहायक हो जाती हैं। २. गृहस्थ में प्रवेश करने पर **दक्षिणा**=यह देने की वृत्ति उसे पाप से बचानेवाली हो। यह दान देने की वृत्ति सदा मनुष्य की उन्नति का कारण बनती है। दान के साथ पाप का सम्बन्ध नहीं। दान का अर्थ ही देना तथा पाप का काटना (दाप लवणे) है। यह दान की वृत्ति हमारे जीवन को शुद्ध बना देती है (दैप् शोधने)।

भावार्थ—ज्ञान, सौम्यता, जितेन्द्रियता व दान की वृत्ति मनुष्य का पापों से रक्षण करती है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—सदसस्पतिः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

मेधा की याचना

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषम् ॥६॥

१. गत मन्त्र का ऋषि, जिसने पाप से अपने रक्षण के लिए आचार्य से 'ज्ञान, सौम्यता व जितेन्द्रियता' का ग्रहण करके गृहस्थ में दक्षिणा=दानवृत्ति को स्वीकार किया था और यज्ञमय जीवन बिताते हुए यथासम्भव पापों से अपना रक्षण किया था, वह वनस्थ होता हुआ प्रभु से 'मेधा' की याचना करता है—**मेधाम्**=बुद्धि को **अयासिषम्**=माँगता हूँ, प्राप्त करता हूँ। उस प्रभु से मैं बुद्धि को प्राप्त करता हूँ जो कि **सदसस्पतिम्**=(सदसी द्यावापृथिव्योर्नाम, नि० ३.३०) द्युलोक और पृथिवीलोक के, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। वे मुझे भी बुद्धि देकर रक्षित करते हैं। **अद्भुतम्**=वे प्रभु अद्भुत हैं, संसार में उस प्रभु की उपमा मिलना सम्भव ही नहीं। **प्रियम्**=(प्रीणाति) वे हमें उत्तमोत्तम पदार्थों को देकर प्रीणित करनेवाले हैं। **इन्द्रस्य काम्यम्**=जितेन्द्रिय पुरुष से चाहने योग्य हैं तथा **सनिम्**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। इस प्रभु से ही मैं मेधा को प्राप्त करता हूँ और इस मेधा द्वारा इस संसार के बीहड़ मार्ग में अपना रक्षण करता हुआ आगे बढ़ता हूँ। २. मेधा के अभाव में हमारा जीवन विचित्र-सा बन जाता है। वहाँ चहल-पहल होती है, चमक-दमक होती है, उसकी रोशनी में आँखें चुँधिया जाती हैं, परन्तु एक अनासक्त भाव से देखनेवाले को भर्तृहरि के शब्दों में वहाँ 'मोह, प्रमाद-मदिरा व उन्मत्तता' ही दिखाई देती हैं। एक महात्मा के शब्दों में हम थोड़ी देर भौंक-भाँककर मृत्यु की शान्ति में चले जाते हैं, वास्तव में यह कोई जीवन नहीं होता, अतः मैं प्रभु से इस मेधा को ही प्राप्त करता हूँ जिससे मेरा जीवन सरल व पूर्ण स्वस्थ बना रहे। ३. इस मेधा को प्राप्त करके मैं भी 'सदसस्पति'=द्युलोक व पृथिवीलोक का पति बनूँ, मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ रक्खूँ, अद्भुत बनूँ—इस जीवन में अभूतपूर्व उन्नति करनेवाला बनूँ। प्रियम्=प्रिय स्वभाववाला होऊँ और औरों से चाहने योग्य बनूँ, औरों को मेरे सम्पर्क में आनन्द का अनुभव हो। सनि=सदा देनेवाला बनूँ। देकर बचे हुए को खाना ही तो वास्तविक संस्कृति है।

भावार्थ—प्रभु से बुद्धि को प्राप्त करके मैं अपने जीवन को कभी वासना-विहिंसित न होने दूँ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—सदसस्पतिः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अहंकार-शून्यता

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति ॥७॥

१. गत मन्त्र का मेधावी पुरुष विनीत होता है। वह कभी भी किसी कार्य की सफलता का अहंकार नहीं करता। वह समझता है कि **यस्मात् ऋते**=जिस सदसस्पति=ब्रह्माण्ड के स्वामी के बिना **विपश्चितः चन**=बड़े-से-बड़े ज्ञानी का भी **यज्ञः**=कोई भी लोकसंग्रहात्मक उत्तम कार्य **न सिध्यति**=सिद्ध नहीं होता **सः**=वह प्रभु ही **धीनाम्**=हमारे प्रज्ञापूर्वक किये जानेवाले कर्मों के **योगम् इन्वति**=सम्बन्ध को व्याप्त करता है अर्थात् वे प्रभु ही हमारे प्रत्येक कर्म को सफल किया करते हैं। प्रभु के सहाय्य के बिना किसी भी प्रकार की सफलता मिलना सम्भव ही नहीं। बड़े-से-बड़ा ज्ञानी भी उस प्रभु के सहाय्य के बिना अपने यज्ञों को सफल नहीं कर सकता। २. मेधा की प्राप्ति का सर्वप्रमुख परिणाम हमारे जीवनों में यही होता है कि हमारा अहंकार नष्ट हो जाता है। 'अज्ञान व अहंकार' पर्यायवाची शब्द हैं। किसी ने कितना सत्य कहा है कि—'**अहंभावो दयाभावो ज्ञानस्य चरमावधिः**'—ज्ञान की चरम-सीमा निरहंकृती ही है। ज्ञानी पुरुष प्रत्येक कार्य की सफलता में प्रभु का हाथ देखता है। ज्ञानी विजय का गर्व न कर सब कर्मों को प्रभु-अर्पण करके चलता है।

भावार्थ—विजय मात्र प्रभु की है। वही हमारे प्रज्ञापूर्वक कर्मों में व्याप्त होते हैं। वे ही उन्हें सफल करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—सदसस्पतिः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

देवत्व-प्राप्ति

आदृध्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम्। होत्रा देवेषु गच्छति ॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हमारे सब यज्ञात्मक कर्मों को सफल करनेवाले प्रभु **आत्**=हमारे अहंकारशून्य होते ही **हविष्कृतिम्**=उस हवि के करनेवाले हमें **ऋध्नोति**=बढ़ाते हैं। वेद के आदेश के अनुसार हमें हविर्मय जीवनवाला बनना है, त्यागपूर्वक उपभोग करना है [**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**], 'केवलादी' नहीं बनना [**केवलाघो भवति केवलादी**], केवल अपने पेट के लिए ही पकानेवाला नहीं बन जाना [**अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्**]। पाँचों यज्ञों को करके यज्ञशेष 'अमृत' का ही सेवन करनेवाला बनना है [**अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः**]। जब हम इस प्रकार हवि का सेवन करनेवाले 'हविष्कृति' बनते हैं तो प्रभु हमारा वर्धन करते हैं। हवि से ही तो प्रभु का पूजन होता है [**हविषा विधेम**]। इस पूजन से प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें उन्नत करनेवाले होते हैं। २. इस हविष्कृति से किये जानेवाले **अध्वरम्**=हिंसा-शून्य यज्ञों को वे प्रभु ही **प्राञ्चम्**=[प्र, अञ्च] आगे बढ़नेवाला **कृणोति**=करते हैं। हमारे यज्ञ हमारे ही प्रयत्न से थोड़े पूर्ण हो जाते हैं, इन्हें तो प्रभुकृपा ही पूर्ण करती है। ३. यह यज्ञों को करनेवाला 'हविष्कृति' **होत्रा**=वेदवाणी से [होत्रा=वाङ्नाम नि०] अथवा इस [हु दानादन] दानपूर्वक अदन से **देवेषु गच्छति**=देवों में प्राप्त होता है। दिव्यगुणों को प्राप्त होता हुआ यह मनुष्यों से ऊपर उठ जाता है और देव बन जाता है।

भावार्थ—हमारा जीवन हविर्मय हो। इस हवि से हम मर्त्यत्व से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—सदसस्पतिर्नराशंसो वा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु-दर्शन

नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सप्रथस्तमम्। दिवो न सद्ममखसम् ॥९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'होत्रा देवेषु गच्छति' होता बनने के द्वारा—दानपूर्वक अदन करनेवाला 'हविष्कृति' बनने से मनुष्य देवत्व को प्राप्त होता है। यह हविष्कृति कहता है कि मैं अधिकाधिक देवत्व को प्राप्त होता हुआ अन्ततः उस प्रभु का **अपश्यम्**=साक्षात्कार करता हूँ, जो प्रभु **नराशंसम्**=सब उन्नति-पथ पर बढ़नेवाले पुरुषों से शंसन के योग्य हैं। वस्तुतः प्रभु-शंसन से ही उन्नति होती है। २. **सुधृष्टमम्**=जो प्रभु [शोभनं धृष्णोति] उत्तमता से शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। हम प्रभु का शंसन करते हैं तो वे प्रभु हमारी कामादि वासनाओं को नष्ट करते हैं। जहाँ प्रभु-शंसन चलता है वहाँ वासनाओं का दहन हो जाता है। ३. **सप्रथस्तमम्**=वे प्रभु अत्यन्त विस्तारवाले हैं [प्रथ विस्तारे]। हम जितना-जितना अपने हृदयों को विस्तृत करते हैं, उतना-उतना पवित्र होते जाते हैं। ४. **दिवो न**=प्रकाश की भाँति वे प्रभु **सद्ममखसम्**=[सद्म=घर, मख=यज्ञ] यज्ञरूप गृहवाले हैं अर्थात् उस प्रभु का निवास दो स्थानों पर होता है—एक जहाँ ज्ञान का प्रकाश हो और दूसरे जहाँ जीवन यज्ञमय हो। यदि हम ज्ञान को प्राप्त करते और यज्ञों को अपनाते हैं तो हम प्रभु के निवासस्थान बनते हैं, तब हम प्रभु का साक्षात्कार कर रहे होते हैं।

भावार्थ—हम देवत्व को प्राप्त होते हुए प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि ज्ञानी आचार्य हमें 'सौम्य, गतिशील, दृढ़-निश्चयी व मेधावी बनाए (१)। आचार्य 'अदरिद्र, नीरोग, उत्तम निवासवाले, सब दृष्टिकोणों से पुष्ट व आलस्यशून्य हों (२)। वे हमें उपद्रवी पुरुषों की मिथ्या बातों से बचाएँ (३), हममें जितेन्द्रियता, ज्ञान व सौम्यता को उत्पन्न करें (४)। ज्ञान, जितेन्द्रियता, सौम्यता व दानवृत्ति हमें पाप से बचाएँ (५)। प्रभु से हम मेधा की ही याचना करें (६)। प्रभु की कृपा से ही हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं (७)। यज्ञमय जीवनवाले को प्रभु बढ़ाते हैं (८)। तब हम देव बनते हुए अन्ततः प्रभु-दर्शन करनेवाले होते हैं (९)। 'ये प्रभु हमें क्या प्रेरणा देते हैं ?' इस कथन से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—अग्निर्मरुतश्च। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तीन निर्देश

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥१॥

१. गत मन्त्र के प्रभु-दर्शन करनेवाले जीव को प्रभु कहते हैं कि तू **त्यम्, चारुम्, अध्वरम् प्रति**=उस सुन्दर यज्ञ के प्रति **प्रहूयसे**=बुलाया जाता है। जैसे एक पिता पुत्र को बैठकर पढ़ने के लिए बुलाता है, इसी प्रकार प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे यज्ञ के लिए बुलाता हूँ, उस सुन्दर यज्ञ के लिए जिसके द्वारा तुझे इस संसार में फूलना-फलना है और जो यज्ञ तेरी सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है। २. तू मुझसे **गोपीथाय**=[गावः=वाचः] ज्ञान की वाणियों के पान के लिए 'प्रहूयसे'=बुलाया जाता है। तू नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला बन। ज्ञान के अभाव में मनुष्य की वृत्ति यज्ञात्मक न होकर भोगप्रवण हो जाती है। 'जीवन यज्ञमय बना रहे'—इसके लिए ज्ञान-प्राप्ति आवश्यक है। ज्ञानी यज्ञशील होता है एवं ज्ञान यज्ञिय प्रवृत्ति का साधन हो जाता है। ३. प्रभु तीसरी बात कहते हैं कि **हे अग्ने** प्रगतिशील जीव ! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला बन। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति-निरोध होगा और चित्तवृत्ति-निरोध ही प्रभु का दर्शन करानेवाला होगा। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित होता है और प्रभु-दर्शन करता है।

भावार्थ—प्रभु के तीन निर्देश हैं—(क) यज्ञमय जीवनवाला बन, (ख) ज्ञान का पान कर और (ग) प्राणसाधना को अपना।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—अग्निर्मरुतश्च। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तेज व प्रज्ञान

नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥२॥

१. प्रभु कहते हैं कि जब तू गत मन्त्र में वर्णित तीन निर्देशों का पालन करता है, तू यज्ञ, ज्ञान व प्राणसाधना को अपनाता है तब तेरी इतनी उन्नति होती है कि **नहि देवः**=न तो देव **न मर्त्यः**=न मनुष्य **तव**=तेरे **महः**=तेज व **क्रतुम्**=प्रज्ञान को लाँघकर **परः**=उत्कृष्ट होता है अर्थात् तेज व ज्ञान के दृष्टिकोण से तेरी बराबरी कोई भी नहीं कर पाता, न देव न मनुष्य। (क) यज्ञमय जीवन हमें भोगवृत्ति से ऊपर उठाता है और हमारी तेजस्विता का कारण बनता है। भोग ही शक्ति को जीर्ण करते हैं **'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः'** [कठो० १।१।२६]। (ख) नैत्यिक स्वाध्याय हमारे ज्ञान की सतत वृद्धि का कारण बनता है। २. इन दोनों वृत्तियों को जगाने के लिए प्राणसाधना की आवश्यकता है, अतः प्रभु कहते हैं कि

अग्ने=हे प्रगतिशील जीव ! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला बन। प्राण-साधना से चित्तवृत्ति का निरोध होकर आत्मदर्शन होता है। चित्तवृत्ति के निरोध से प्रासंगिक लाभ यह भी है कि भोगवृत्ति न रहने से जीवन यज्ञमय बनता है तथा हमारी रुचि ज्ञानप्रवण होती है। परिणामतः हम अद्भुत तेज व प्रकाश को प्राप्त करके देवों व मर्त्यों में आगे बढ़नेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा यज्ञों व स्वाध्याय को अपनाएँ और अद्वितीय तेजस्वी व ज्ञानी बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—अग्निर्मरुतश्च। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उत्कृष्ट कर्म, दिव्यता व अद्रोह

ये म॒हो रज॑सो वि॒दुर्विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒द्रुहः॑। म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥३॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि प्राणसाधना से मनुष्य देवों व मर्त्यों को तेजस्विता व प्रज्ञान में लाँघ जाता है। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये वे व्यक्ति होते हैं **ये**=जो **महो रजसः**=उत्कृष्ट रजोगुण को **विदुः**=प्राप्त करते हैं। **'रजः कर्मणि भारत'** (गीता १४।९) इस वाक्य के अनुसार रजोगुण का परिणाम कर्म है। रजःप्रधान ब्रह्मा ही सृष्टिनिर्माणात्मक कर्म को करते हैं। ये भी उत्कृष्ट रजोगुणवाले होकर सदा लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगे रहते हैं। २. **विश्वे देवासः**=ये विश्वे देव बनते हैं अर्थात् सब दिव्यगुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करते हैं। सारी दैवी सम्पत्ति को अपनाकर 'विश्वे देव' बनते हैं। ३. इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि **अद्रुहः**=ये कभी द्रोह नहीं करते। इनमें किसी के प्रति क्रोध का लवलेश भी नहीं होता। प्रभु के सर्वोत्तम भक्त वे ही होते हैं जोकि **'सर्वभूतहिते रताः'** सब प्राणियों का हित करनेवाले होते हैं। ४. प्रभु इनसे कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव ! **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=तू यहाँ मेरे समीप आनेवाला बन। उत्कृष्ट कर्मों में लगकर, दैवी सम्पत्ति को अपनाकर और द्रोह से ऊपर उठकर ही तू मुझे पाएगा और यह सब-कुछ प्राण-साधना से होगा।

भावार्थ—प्रभु का भक्त कर्मशील, दिव्य वृत्तिवाला और द्रोहशून्य जीवनवाला होता है। यह प्राणसाधना से ऐसा बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—अग्निर्मरुतश्च। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ओजस्विता

य उ॒ग्रा अ॒र्कमा॑नृ॒चुरना॑धृष्टास॒ ओज॑सा। म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥४॥

१. प्राणसाधकों का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि ये वे व्यक्ति होते हैं **ये**=जो **उग्राः**=(Noble) अत्यन्त तेजस्वी व श्रेष्ठ होते हैं। २. ये लोग **अर्कम्**=उस अर्चना के योग्य प्रभु का **आनृचुः**=पूजन करते हैं। ३. और इस पूजन के परिणामस्वरूप ये **ओजसा, अनाधृष्टासः**=ओज के कारण शत्रुओं से कभी पराजित नहीं किये जाते। ४. इस सारी बात का ध्यान करते हुए ही प्रभु जीव से कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव ! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति को एकाग्र करके आत्मस्वरूप में स्थित होकर परमात्मदर्शन करनेवाला बन।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य तेजस्वी बनता है। उस प्रभु का अर्चन करता हुआ अपने ओज के कारण कभी शत्रुओं से पराभूत नहीं होता।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—अग्निर्मरुतश्च। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तेजस्वी रूप

ये शु॒भ्रा घो॒रव॑र्पसः सुक्ष॒त्रासो॑ रि॒शाद॑सः। म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥५॥

१. उन्हीं प्राणसाधकों के लिए कहते हैं कि ये वे हैं **ये**=जोकि **शुभ्राः**=अत्यन्त शुद्ध चरित्रवाले हैं। इनके कर्म सदा उज्ज्वल होते हैं। ये कभी निकृष्ट कर्मों से अपने को मलिन नहीं करते। इनके इन्द्रिय-दोष दग्ध हो जाते हैं। २. इसीलिए **घोरवर्पसः**=तेजस्वी रूपवाले होते हैं। **सुक्षत्रासः**=उत्तम बलवाले होते हैं, उस शक्तिवाले होते हैं जोकि इनका क्षतों से त्राण करती है। ३. उस उत्तम क्षत्रवाले होकर ये **रिषादसः**=हिंसक वृत्तियों को नष्ट कर डालनेवाले होते हैं अथवा हिंसकों का नाश कर डालते हैं। ४. इन सब बातों का विचार करके **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **आगहि**=प्रभु को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—प्राणसाधना करनेवाला शुद्धचरित्र, तेजस्वी रूपवाला, उत्तम बलवाला व हिंसकों का नाश करनेवाला बनता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—अग्निर्मरुतश्च। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

स्वर्गलोक

ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते। मरुद्भिरग्न आ गहि॥६॥

१. ये प्राणसाधक वे होते हैं **ये**=जोकि **नाकस्य**=(न, अकः)=जहाँ दुःख का लवलेश नहीं, उस स्वर्गलोक के **अधिरोचने**=अत्यन्त दीप्तिवाले, अधिक चमकवाले **दिवि**=प्रकाशमय लोक में **देवासः**=दिव्य वृत्तिवाले **आसते**=आसीन होते हैं, अतः हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=प्राणों से, प्राण-साधना से **आगहि**=प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो। २. प्राणसाधना से इन्द्रिय-दोष दूर होकर मानव-जीवन पवित्र बनता है, मनुष्य की वृत्तियाँ दिव्य हो जाती हैं और देव बनकर ये सदा प्रकाशमय लोक में रहते हैं, उस प्रकाशमय लोक में जोकि दुःख के सम्पर्क से रहित व दीप्तिमय है। इनका अगला जन्म होता है तो उस नाकलोक में होता है जोकि द्युलोक में स्थित है (**दिवो नाकस्य पृष्ठात्**)। इस लोक से भी ऊपर उठकर अन्ततः ये उस स्वर्ज्योति को प्राप्त करते हैं, स्वयं देदीप्यमान ब्रह्म को ये प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष देव बनकर द्युलोकस्थ अत्यन्त दीप्तिमय स्वर्गलोक में पहुँचते हैं। वहाँ से भी ऊपर उठकर प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—अग्निर्मरुतश्च। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पर्वतों व समुद्रों का पराभव

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न आ गहि॥७॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ, अर्थात् प्राणों की साधना के द्वारा **आगहि**=प्रभु के समीप प्राप्त हो। २. ये प्राणसाधना करनेवाले पुरुष वे हैं **ये**=जोकि **पर्वतान्**=पर्वतों को भी **ईंखयन्ति**=हिला देते हैं। **अर्णवम्**=जलों से परिपूर्ण **समुद्रम्**=समुद्र को भी **तिरः**=तिरस्कृत करके आगे बढ़ते हैं अर्थात् इन प्राणसाधकों को अपनी उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ते समय पर्वत व समुद्र रोक नहीं पाते। पर्वत भी मार्ग में आ जाए तो ये उसे हिला देते हैं और समुद्र भी इनके मार्ग को अवरुद्ध नहीं करता। समुद्र की भी परवाह न करके ये आगे ही बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पर्वत के समान ऊँची व समुद्र के समान गहरी विपत्तियों से भी विचलित नहीं होते। वे सब विघ्नों को जीतकर आगे बढ़ते जाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—अग्निर्मरुतश्च । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रकाश व ओज

आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी पुरुष ! तू उन **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **आगहि**=प्रभु के समीप प्राप्त हो, **ये**=जो साधक के जीवन को **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से **आतन्वन्ति**=समन्तात् आच्छादित कर देते हैं। प्राणसाधक के जीवन में चारों ओर ज्ञानरश्मियों का विस्तार होता है। प्राणायाम के द्वारा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की उत्पत्ति होती है, उस बुद्धि का विकास होता है जो सत्य का ही पोषण करती, एवं प्राण साधक के जीवन में रश्मियों का प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। २. ये प्राण मनुष्य को ऐसा ओजस्वी बनाते हैं कि यह **ओजसा**=ओज के द्वारा **समुद्रम्**=समुद्र को भी **तिरः**=तिरस्कृत करनेवाला होता है, समुद्र से भी इसकी शक्ति अधिक होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन प्रकाशमय व ओजस्वी बनता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—अग्निर्मरुतश्च । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सोम की पूर्व-पीति

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥९॥

१. सूक्त के अन्तिम मन्त्र में प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **सोम्यम् मधु**=इस सोम=वीर्य सम्बन्धी मधु को **पूर्वपीतये**=प्रथमाश्रम में ही अथवा जीवन के पूर्वभाग में ही पीने के लिए, शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने के लिए **त्वा, अभि**=तुझे लक्ष्य करके **सृजामि**=उत्पन्न करता हूँ। यह सोम खाये हुए भोजन के सार का भी सार है, उसी प्रकार जैसे कि शहद कितनी ही ओषधियों का सार है। जीवन के प्रथमाश्रम में ही इसके पान का सर्वाधिक महत्त्व है। प्रभु ने हमारा लक्ष्य करके अर्थात् हमारी उन्नति के लिए इस सोम की सृष्टि की है। २. प्राणसाधना से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है और शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारी सब प्रकार की उन्नतियों का मूल बनता है, अतः कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव ! तू **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमें प्राप्त होनेवाला हो। इस प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होगी, उससे ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और उस दीप्त ज्ञानाग्नि के प्रकाश में हम प्रभुदर्शन कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रथमाश्रम में ही सोम का पान करें। वीर्य-रक्षा से ही हमारी सब प्रकार की उन्नतियाँ सम्भव होंगी। अग्नि बनकर हम इन प्राणों के सहाय्य से प्रभु को प्राप्त करेंगे।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु के तीन निर्देशों से हुआ है—(क) यज्ञशील बनो, (ख) ज्ञान का पान करो, (ग) प्राणसाधना करो (१)। यह प्राणसाधना तुम्हें तेज व प्रज्ञान के दृष्टिकोण से देवों व मर्त्यों से ऊपर उठाएगी (२)। तुम उत्तम क्रियाशील, दिव्यवृत्ति व द्रोहशून्य बनोगे (३)। तेजस्वी प्रभु-पूजक व अदम्यशक्ति होओगे (४)। शुद्धचरित्र, तेजस्वी, उत्तम बलवाले और हिंसकों के नाशक बनोगे (५)। देव बनकर स्वर्गलोक में स्थित होओगे (६)। पर्वतों व समुद्रों की भी परवाह न करके आगे बढ़ोगे (७)। प्रकाश व ओज से पूर्ण बनोगे (८)। सोम्य मधु का प्रथमाश्रम में ही पान करके प्रभु को पानेवाले बनोगे (९)। अब ये प्रभु को पानेवाले दिव्य जन्म की प्राप्ति के लिए प्रभुस्तवन करते हैं—

॥ इति प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ प्रथमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—ऋभवः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

रत्नधातम स्तोम

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया । अकारि रत्नधातमः ॥१॥

इस सूक्त का देवता 'ऋभवः' हैं। 'ऋभु' शब्द का अर्थ यास्क इस रूप में करते हैं कि **'उरु भान्ति, ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति वा'** [नि० ११।१५।२] खूब देदीप्यमान होते हैं, ऋत=सत्य से चमकते हैं अथवा सदा ऋत=व्यवस्था से चलते हैं, सब कामों को ठीक समय व स्थान पर करते हैं। वस्तुतः इसीलिए ये अपने जीवन को दिव्य बना पाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि **'ऋभवो हि मनुष्याः सन्तः तपसा देवत्वं प्राप्ताः'**—ये मनुष्य होते हुए भी तप से देवत्व को प्राप्त हुए हैं। २. मन्त्र में कहते हैं कि **विप्रेभिः**=विशेष रूप से अपना पूर्ण करने की कामनावाले इन पुरुषों से **देवाय जन्मने**=दिव्य जन्म की प्राप्ति के लिए, जीवन को दिव्य बनाने के लिए **आसया**=मुख से **अयम् स्तोमः**=यह प्रभु का स्तवन **अकारि**=किया जाता है। ये सदा प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तवन ही तो इनके सामने जीवन के लक्ष्य को उपस्थित करता है, जिसकी ओर निरन्तर बढ़ते हुए ये अपने जीवन में कमी को नहीं आने देते और ऊँचा उठते जाते हैं। ३. यह सोम **रत्नधातमः**=इनके जीवन में रमणीयतम तत्त्वों के धारण करनेवाला होता है, इनके जीवन को बड़ा ही सुन्दर बना देता है।

भावार्थ—विप्र लोग मुख से प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हैं। यह गुणगायन उनके जीवन को दिव्य बनाता है। उनमें रमणीयतम तत्त्वों को धारण कराता है। ये लोग मनुष्य से देव बन जाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—ऋभवः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

शान्तिमय यज्ञ

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी । शमीभिर्यज्ञमाशत ॥२॥

१. गत मन्त्र के 'ऋभु' वे हैं **ये**=जोकि **मनसा**=मन के द्वारा **वचोयुजा**=वेदवाणी के अनुसार कर्मों में व्यापृत होनेवाले **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **ततक्षुः**=बनाते हैं। ये इन्द्रियाँ घोड़े हैं तो मन ही इनकी लगाम है। ये घोड़े उस मार्ग पर ही चलते हैं जिसका कि वेद निर्देश करता है, अतः ये 'वचोयुजा' हैं। इनका मार्ग वही है जोकि प्रभु की ओर ले जाता है (इन्द्राय)। इस प्रकार मनरूपी लगाम से मार्ग पर चलनेवाले ये इन्द्रियरूप अश्व हमें अपनी जीवन-यात्रा को लक्ष्य पर पहुँचानेवाले होते हैं। यह लक्ष्य 'इन्द्र' है—वह परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं। २. इस लक्ष्य की ओर बढ़नेवाले ये ऋभु **शमीभिः**=शान्तिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से **यज्ञम्**=यज्ञ को **आशत**=व्याप्त करते हैं अर्थात् शान्तिपूर्वक यज्ञरूप उत्तम कर्मों में—लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगे रहते हैं। इन कर्मों के द्वारा ही इनका प्रभुपूजन चलता है। इन्हीं से ये प्रभु को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—मन के द्वारा हम इन्द्रियों को वश में करके वेदप्रेरित मार्ग में चलें और शान्तिपूर्वक यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवताः—ऋभवः । छन्दः—विराड्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

'सुखरथ' व 'सबर्दुघा धेनु'

तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम् । तक्षन्धेनुं सबर्दुघाम् ॥३॥

१. ऋभु लोग **नासत्याभ्याम्**=प्राणापानों के द्वारा अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **सुखम्**=(ख=इन्द्रिय) एक-एक उत्तम इन्द्रियरूप अश्ववाला **तक्षन्**=बनाते हैं तथा **परिज्मानम्**=सब ओर गतिवाला बनाते हैं अर्थात् इनके जीवन में आलस्य नहीं होता। ये अपने इन्द्रियाश्वों को निर्बल व क्षीणशक्ति नहीं होने देते। यह सब ये प्राणसाधना के द्वारा कर पाते हैं। 'प्राणायाम' इनके नैत्यिक जीवन का कार्यक्रम हो जाता है। २. इन प्राणापानों के द्वारा ही ये ऋभु **धेनुम्**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणीरूप गौ को **सबर्दुघाम्**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली बनाते हैं। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और वह दीप्त बुद्धि वेद के गूढार्थ को समझनेवाली बनती है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम शरीररूपी रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाएँ और इसी साधना से तीव्रबुद्धि होकर ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—ऋभवः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सत्यमन्त्र, ऋजूयु

युवा॑ना पि॒तरा॒ पुन॑ः स॒त्यम॑न्त्रा ऋजू॒यव॑ः। ऋ॒भवो॑ वि॒ष्ट्य॑क्रत ॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना से 'सुखरथ' व 'सबर्दुघा धेनु' को बनाने के बाद **ऋभवः**=ये खूब चमकनेवाले वा ऋत से दीप्त होनेवाले **सत्यमन्त्राः**=सत्यरूप मन्त्रवाले अथवा सदा ही सत्य ज्ञान-वाले तथा, **ऋजूयवः**=सरल आचरणवाले (ऋजु=आत्मानं कामयन्ते) लोग **विष्टी**=कर्मों में व्यापन के द्वारा **पितरा**=अपने मस्तिष्करूप पितृस्थानीय द्युलोक को तथा शरीररूप मातृस्थानीय पृथिवीलोक को **पुनः**=फिर **युवाना**=बुराइयों से अमिश्रित तथा अच्छाइयों से मिश्रित **अक्रत**=करते हैं। २. हमें 'ऋभु, सत्यमन्त्र व ऋजूयु' बनना चाहिए। मस्तिष्क में खूब चमकनेवाले, मन में सत्य का विचार करनेवाले तथा सरल आचरणवाले बनकर ही हम उन्नति-पथ पर चल रहे होते हैं। ३. 'विष्टी' शब्द से यह स्पष्ट है कि उन्नति हमारी तभी तक स्थिर रहेगी जब तक कि हम कर्मों में व्याप्त जीवनवाले होंगे। अकर्मण्यता ही सब अवनतियों व अपवित्रताओं का मूल है। ४. उन्नति का अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर को अच्छाइयों से युक्त व बुराइयों से रहित करना है—यही पितरों को युवा करना है। 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' द्युलोक पिता और पृथिवी ही माता है। 'मूर्ध्नो द्यौ', 'पृथिवी शरीरम्'=मस्तिष्क ही द्युलोक है, शरीर ही पृथिवी है। इनको युवा बनाने का अभिप्राय क्रमशः इनमें से जड़ता व रोगों को दूर करके इनमें तीव्रता व नीरोगता की स्थापना है।

भावार्थ—ऋभु 'सत्यमन्त्र व ऋजूयु' होते हैं। वे कर्मों में व्याप्त रहकर मस्तिष्क व शरीर को निर्दोष व सगुण बनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—ऋभवः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'मरुत्वान् इन्द्र' व 'राजा आदित्य'

सं वो॒ मदा॑सो अग्म॒तेन्द्रे॑ण च म॒रुत्व॑ता। आ॒दि॒त्येभि॑श्च॒ राज॑भिः ॥५॥

१. गत मन्त्र में वर्णित 'पितरों को युवा बनाने' के लिए यह आवश्यक है कि **वः**=तुम्हें **मदासः**=हर्ष के कारणभूत सोमकण **समग्मत**=प्राप्त हों, सोमकणों के साथ हमारा मेल हो। वस्तुतः उन्नतिमात्र के मूल में यह सोमकणों की रक्षा ही है। इसके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। २. यह सोमकणों के साथ मेल हो कैसे? उसके लिए कहते हैं कि **इन्द्रेण च मरुत्वता**=मरुतोंवाले इन्द्र के द्वारा।

इन्द्र उस पुरुष को कहते हैं—जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इस इन्द्रियों के अधिष्ठातृत्व के लिए ही वह प्रशस्त प्राणों-(मरुतों)-वाला बना है। प्राणसाधना के बिना इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं होतीं। इन्द्रियों के वशीभूत हुए बिना सोम की रक्षा भी सम्भव नहीं। ३. इसके अतिरिक्त यह सोमकणों का मेल **आदित्येभिः च राजभिः**=देदीप्यमान आदित्यों से होता है। आदित्य वे हैं जो निरन्तर अपने अन्दर ज्ञान का ग्रहण करते हैं। 'प्रकृति' का ज्ञान प्राप्त करके वे वसु=उत्तम निवासवाले बनते हैं। 'प्रकृति+जीव' का ज्ञान प्राप्त करके ये रुद्र बनते हैं। **'रोरूयमाणो द्रवति'**—निरन्तर अपने कर्तव्य कार्यों की रट लगाते हुए उन्हें करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं और अब प्रभु का भी ज्ञान प्राप्त करके सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करनेवाले ये 'आदित्य' बनते हैं। सूर्य के समान ज्ञान से चमकते हुए ये सूर्य के समान ही व्यवस्थित (regulated) जीवनवाले होते हैं और सोम की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। ४. 'मरुत्वान् इन्द्र'=प्राण-साधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष है और 'राजा आदित्य'=पराविद्या से दीप्त होनेवाला, व्यवस्थित जीवनवाला ज्ञानी पुरुष है। ये ही अपने साथ सोमकणों का संगम कर पाते हैं। सोम-रक्षा के मुख्य यही उपाय हैं—(क) प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रियता, (ख) व्यवस्थित जीवन द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना।

भावार्थ—'मरुत्वान् इन्द्र' तथा 'राजा आदित्य' बनकर हम अपने अन्दर सोमकणों की रक्षा करनेवाले बनें। इनके रक्षण से ही जीवन उल्लासमय होगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—ऋभवः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

एक के चार

उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः ॥६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ऋभु सोम का रक्षण करते हैं, **उत**=और **त्वष्टुः देवस्य**=त्वष्टा देव के, प्रभु ही त्वष्टा हैं **'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तकर्मणः'**=वे सब ज्ञानों से दीप्त हैं, **'त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः'**=वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के रचनेवाले हैं, हमारे इन शरीररूप पिण्डों के बनानेवाले भी वे प्रभु ही हैं, उस त्वष्टा देव के **निष्कृतम्**=(निःशेषेण सम्पादितम्) पूर्णरूप से बनाये हुए अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है **त्यम्**=उस **नवम्**=नवीन अथवा स्तुत्य **चमसम्**=इस शरीररूप पात्र को ये ऋभु **पुनः**=फिर **चतुरः**=चतुर्धाविभक्त **अकर्त**=कर देते हैं। २. शरीररूप पात्र एक है। भिन्न-भिन्न अङ्गों से बना हुआ यह एक शरीर है जैसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों से बना हुआ एक राष्ट्र होता है। यद्यपि यह शरीर एक है, तो भी ये ऋभु इस शरीर को चार भागों में बाँटकर चार साधनाएँ करते हैं—(क) ये शरीर के मुख के भाग को 'ब्राह्मण' बनाते हैं, ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करनेवाला बनाते हैं। इस भाग में स्थित इनकी सभी इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्तिरूप कार्य में लगी रहती हैं। (ख) भुजाओं व छाती के भाग को ये 'क्षत्रिय' बनाते हैं। भुजाओं में बल का सम्पादन करके ये रक्षा के कार्य में तत्पर होते हैं। (ग) इनका उदरभाग जैसे शरीर में सब रुधिर का निर्माण करता है, उसी प्रकार ये 'धन' के उत्पादन के लिए प्रयत्नशील होते हैं, इस प्रकार उनका यह शरीरभाग 'वैश्य' हो जाता है। (घ) निरन्तर श्रम करते हुए पाँवों से यह 'शूद्र' होता है, 'शु द्रवति' शीघ्रता से यह कर्म करनेवाला होता है। ३. इस प्रकार इस शरीर के अङ्ग क्रमशः 'ज्ञान, बल, धन व श्रम' का अर्जन करते हुए इस एक शरीरवाले होते हुए को चारवाला कर देते हैं—यही है एक का चार कर देना।

भावार्थ—ऋभु प्रभु के बनाये इस पूर्ण व स्तुत्य शरीर को एक होते हुए को भी ज्ञान, बल, धन व श्रम का अर्जन करनेवाला बनाकर चतुर्धा विभक्त कर देते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—ऋभवः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

एकविंश बनना

ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते। एकमेकं सुशस्तिभिः ॥७॥

१. प्रभु इन ज्ञान, बल, धन व श्रम का अर्जन करनेवाले ऋभुओं से कहते हैं कि **नः**=हमारी **त्रिः, आ** (वृत्तानि)=तीन बार आवृत्त **साप्तानि**=सात जो **रत्नानि**=रमणीय तत्त्व अर्थात् ३×७=२१ रमणीय शक्तियाँ **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए हैं, उनको **धत्तन**=धारण करो। अथर्व के प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः' में शरीर को धारण करनेवाले इक्कीस तत्त्वों का उल्लेख है, ये २१ तत्त्व प्रभु के हैं, प्रभु ही इनका निर्माण करनेवाले हैं। प्रभु ने इनका निर्माण किया उसी पुरुष के लिए है जोकि 'सुन्वत्' है, सोभाभिषव करनेवाला है। शरीर में सोम (=वीर्यकणों) का सम्पादन व रक्षण करनेवाला है। २. इन इक्कीस तत्त्वों को धारण करके ही हम अपने जीवन को पूर्ण बना पाते हैं, अतः प्रभु कहते हैं कि **एकम्, एकम्**=इनमें से एक-एक को **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों के द्वारा धारण करने का ध्यान करो। हम प्रभुस्मरण करते हुए इन इक्कीस तत्त्वों को धारण करनेवाले वनते हैं तो सच्चा प्रभुस्तवन करते हैं। 'एकविंश एव(स्तोमः)सर्वम्'[गो० पू० ५।१५]। २१ तत्त्वों का धारण प्रभु का पूर्ण स्तवन है। 'एकविंशो वै स्वर्गो लोकः' [श० १०।५।४।६] २१ तत्त्वों को धारण करने पर हमारा जीवन स्वर्ग बन जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें और सोमरक्षण द्वारा जीवन के इक्कीस तत्त्वों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—ऋभवः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ग्रहणीय अंश का ग्रहण

अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया। भागं देवेषु यज्ञियम् ॥८॥

१. गत मन्त्र में २१ तत्त्वों के धारण करने का उल्लेख है। **अधारयन्त**=इन्होंने धारण किया, अतः ये **वह्नयः**=(वह to carry, वहन करना) धारण करनेवाले कहलाये। २. सब शक्तियों को धारण करके ये ऋभु **देवेषु**=विद्वानों में **यज्ञियं भागम्**=संगतीकरण योग्य उत्तम सेवनीय अंश को **सुकृत्यया**=उत्तम कर्मों के द्वारा **अयजन्त**=सेवित करते हैं। ये विद्वानों के सम्पर्क में आकर, उनके जीवन में जो भी वातें ग्रहण करने योग्य होती हैं, उन्हें ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उत्तमताओं को ग्रहण करते हुए ये सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। ३. देवों के संगतीकरण योग्य सेवनीय अंशों के ग्रहण से ही तो हमारा जीवन दिव्य बनेगा। इस दिव्य जन्म के लिए ही ऋभुओं का सारा स्तवन था।

भावार्थ—इस शरीर में इक्कीस प्रकार के बलों को धारण करके देवों के ग्रहणीय अंशों का ग्रहण करें ताकि हम उत्तम कर्मोंवाले हों।

इस सूक्त का आरम्भ 'देवजन्म' के लिए ऋभुओं के प्रभु-स्तवन से हुआ है (१)। ये ऋभु मनरूप लगाम से इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में करके वेदमार्ग पर चलते हैं (२)। प्राणसाधना से शरीर को स्वस्थ व ज्ञानयुक्त करते हैं (३)। सत्य विचारवाले व सरल आचरणवाले होते हैं (४)। प्राणसाधना व ज्ञानरुचि से सोम की रक्षा करते हैं। (५)। शरीर में स्थित होकर ज्ञान, बल, धन व श्रम का अर्जन करनेवाले बनते हैं (६)। शरीर की इक्कीस शक्तियों के धारण के लिए यत्नशील होते हैं (७)। देवों के यज्ञियांशों को ग्रहण कर ये उत्तम कर्मों में लगे रहते हैं (८)। ऐसा करने से ये प्रकाश व बल (अग्नि व इन्द्र) की ठीक आराधना कर पाते हैं। प्रकाश और बल ही देवों के मुख्य गुण हैं—

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्राग्नी । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

बल व प्रकाश

इहेन्द्राग्नी उप॑ ह्वये तयो॒रित्स्तोम॑मुश्मसि । ता सोमं॑ सोम॒पात॑मा ॥१॥

१. **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेव की **उपह्वये**=उपासना करता हूँ। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। मैं अपने मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश को धारण करने का प्रयत्न करता हूँ तो शरीर में बल को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. **तयोः**=उन इन्द्र और अग्नि से ही **स्तोमम्**=स्तुति को **उश्मसि**=चाहते हैं। इन्द्र और अग्नि को ही अपने जीवन का आदर्श बनाते हैं। मैं इन्द्र और अग्नि का ही उपासक बनता हूँ। मेरी एक ही कामना है कि मेरा मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल हो और शरीर बल-सम्पन्न बने। ३. **ता**=ये अग्नि और इन्द्र ही **सोमपातमा**=अतिशयेन सोम का पान करनेवाले हैं। ये ही **सोमम्**=सोम को पीनेवाले हों। व्यायाम के द्वारा शरीर के बल सम्पादन में सोम का व्यय हो तथा स्वाध्याय के द्वारा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करने में यह व्ययित हो। यही 'इन्द्राग्नी' का सोमपान होगा।

भावार्थ—मैं शरीर में सोम का व्यय बल व प्रकाश के सम्पादन में करूँ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्राग्नी । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

यज्ञ-अलंकृति, प्राणरक्षण

ता य॒ज्ञेषु॒ प्र शं॑सतेन्द्रा॒ग्नी शु॒म्भता नरः । ता गा॑य॒त्रेषु॑ गायत ॥२॥

१. **ता**=उन इन्द्र और अग्नि को ही **यज्ञेषु**=लोकहित के कर्मों में **प्रशंसत**=प्रशंसित करो। वस्तुतः हम उतना-उतना ही यज्ञ कर पाते हैं जितना-जितना कि हमारे अन्दर इन्द्र व अग्नि-तत्त्व होते हैं। कोई भी यज्ञ बल व प्रकाश के बिना सम्भव नहीं। २. हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! आप **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों को **शुम्भता**=अलंकृत कर दो। इन्द्राग्नी की कृपा से जीवन में सब सद्गुणों का वास होता है और हमारा जीवन अलंकृत हो उठता है। हे मनुष्यो! **गायत्रेषु**=प्राणरक्षण के यज्ञों (गयाः प्राणाः, त्रा=रक्षण) में **ता**=इन इन्द्राग्नी का ही **गायत**=गान करो। वस्तुतः प्राणरक्षण के मौलिक आधार इन्द्र और अग्नि ही हैं। बल और प्रकाश मेरे जीवन की रक्षा करते हैं।

भावार्थ—सब यज्ञ बल और प्रकाश के द्वारा ही सम्पन्न हुआ करते हैं। ये ही मानव-जीवन को सब सद्गुणों से सुभूषित करते हैं, और वस्तुतः प्राण-रक्षण की निर्भरता भी इन दो तत्त्वों पर ही है एवं इन्द्राग्नी हमारे जीवनों को यज्ञमय, गुणालंकृत व सुरक्षित प्राण-शक्तिवाला बनाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्राग्नी । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभु-प्रशस्ति व सोमपान

ता मि॒त्रस्य॒ प्रश॑स्तय इन्द्रा॒ग्नी ता ह॑वामहे । सो॒म॒पा सोम॑पीतये ॥३॥

१. **ता इन्द्राग्नी**=इन बल व प्रकाश के तत्त्वों को **मित्रस्य**=उस (मित्र) सब रोगों व पापों से बचानेवाले अथवा (मिद् स्नेहने) सर्वा[illegible]क स्नेह करनेवाले प्रभु की **प्रशस्तये**=प्रशस्ति के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। बल व प्रकाश के तत्त्वों के होने पर ही हम प्रभु का सच्चा उपासन कर पाते हैं। कठोपनिषद्

[मु० ३।२।४] का **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**—यह वाक्य स्पष्ट कह रहा है कि निर्बल ने क्या प्रभु-उपासना करनी ? तथा **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** यह गीता [७।१८] का वाक्य ज्ञानी को ही परमात्मा का सर्वोत्तम भक्त मानता है। (२) **ता**=उन इन्द्राग्नी को हम **हवामहे**=पुकारते हैं, यतः ये **सोमपा**=हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करनेवाले हैं, **सोमपीतये**=सोम के पान व रक्षण के लिए हम इनकी आराधना करते हैं। सोम का व्यय बल व प्रकाश के सम्पादन में ही तो होता है।

भावार्थ—हम बल व प्रकाश के तत्त्वों की याचना करते हैं, क्योंकि इन्हीं से हम अपने मित्र प्रभु को प्रशंसित करेंगे और सोम की रक्षा कर पाएँगे। एक भक्त 'निर्बल व मूर्ख हो' इसमें प्रभु की भी निन्दा ही है कि क्या प्रभु-भक्त ऐसे ही हुआ करते हैं ?

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यज्ञ व सोम के समीप

उग्रा सन्ता हवामह उपेदं सवनं सुतम्। इन्द्राग्नी एह गच्छताम् ॥४॥

१. ये **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवता जोकि **उग्रा सन्ता**=तेजस्वी व उदात्त होती हुई सदा **इदम्**=इस **सवनम्**=यज्ञ के तथा **सुतम्**=सोम-सम्पादन के **उप**=समीप रहती हैं, उनको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। बल व प्रकाश के होने पर मनुष्य यज्ञशील जीवनवाला होता है और उत्पन्न हुए-हुए सोम का रक्षण करता है। २. **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवताएँ **इह**=इस मानव-जीवन में **आगच्छताम्**=मुझे प्राप्त हों। जिस समय मनुष्य शरीर में बल व मस्तिष्क में प्रकाशवाला होता है, उस समय यज्ञशील जीवनवाला तो होता ही है, साथ ही भोगों के दोषों को देखता हुआ वह उनमें फँसता नहीं है, अपितु सोम का रक्षण करनेवाला बनता है। इस सोम-रक्षण से ही वस्तुतः उसका बल व प्रकाश बढ़ता है।

भावार्थ—इन्द्राग्नी की उपासना से तेजस्वी बनकर हम यज्ञशील बनें और सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

राक्षसों का समूल विनाश

ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। अप्रजाः सन्त्वत्रिणः ॥५॥

१. **ता** वे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि **महान्ता**=महान् हैं, महनीय हैं, पूजनीय हैं, अपने उपासक को महान् बनानेवाले हैं। २. **सदस्पती**=शरीररूप गृह के रक्षक हैं। भौतिक दृष्टिकोण से 'रक्षण' बल के द्वारा होता है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रक्षण 'प्रकाश' के कारण होता है। ३. ये इन्द्र व अग्नि **रक्षः**=सब राक्षसीभावों को **उब्जतम्**=क्रूरतारहित करके आर्जवयुक्त कर देते हैं। इन्द्र व अग्नि के प्रभाव से 'काम' प्रेम में परिवर्तित हो जाता है, क्रोध का स्थान करुणा ले लेती है और लोभ का परिवर्तन दान के रूप में हो जाता है। ४. इन इन्द्राग्नी के प्रभाव से **अत्रिणः**=(अद्) मनुष्य को खा जानेवाले, नष्ट कर देनेवाले राक्षसीभाव **अप्रजाः सन्तु**=प्रजाशून्य हो जाएँ अर्थात् इन राक्षसी भावों का अन्त हो जाता है। इनका अन्त इन्द्राग्नी की कृपा से होगा। बल व प्रकाश हमारे भावों को निर्मल करते हैं। निर्बलता व अज्ञान में वासनाएँ बढ़ती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि हमें महनीय बनाते हैं, हमारे शरीररूप घर की रक्षा करते हैं और राक्षसी भावों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्राग्नी । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सत्य व चेतना

तेन॑ स॒त्येन॑ जागृ॒तमधि॑ प्र॒चेतु॒ने॑ प॒दे । इन्द्रा॑ग्नी॒ शर्म॑ यच्छतम् ॥६॥

१. राक्षसी भावों को नष्ट करके ये **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवताएँ **तेन सत्येन**=उस सत्य से **जागृतम्**=हमारे अन्दर जागरित रहें। राक्षसी भावों की भस्म पर ही सत्य का भवन स्थित होता है। २. ये इन्द्राग्नी हमें **प्रचेतुने पदे अधि**=प्रकृष्ट चेतनावाले स्थान में आधिक्येन स्थापित करें। इन देवों की कृपा से हमारी स्मृति नष्ट न हो। ३. इस प्रकार ये इन्द्र और अग्नि हमारे राक्षसी भावों को नष्ट तथा हमारी स्मृति को स्थिर करके **शर्म, यच्छतम्**=सुख के देनेवाले हों। बल व प्रकाश से ही मनुष्य का कल्याण होता है।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि की कृपा से हममें सत्य का जागरण हो, स्मृति की स्थिरता हो। हम अपने स्वरूप व कर्तव्य को भूल न जाएँ और अपने कल्याण को सिद्ध कर सकें।

सूक्त का आरम्भ बल व प्रकाश की देवता के स्तवन से होता है (१)। ये ही देवताएँ हमारे जीवन को यज्ञमय, प्रशंसनीय व सुरक्षित प्राणवाला बनाती हैं (२)। इनके द्वारा हम प्रभु-स्तवन व सोम-पान करनेवाले बनते हैं (३)। इनसे हम तेजस्वी, यज्ञशील, सोम के रक्षक बनें (४)। ये ही देवताएँ हमारे राक्षसीभावों को दिव्यभावों में परिवर्तित करती हैं (५)। हममें सत्य का जागरण व स्मृति की स्थापना करके हमारा कल्याण करती हैं (६)। इस स्मृति के परिणामस्वरूप हम अपना जीवन प्राणसाधनामय बनाते हैं—

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्राणापान का विबोधन

प्रा॒त॒र्युजा॒ वि बो॑धया॒श्विना॒वेह ग॑च्छताम् । अ॒स्य सोम॑स्य पी॒तये॑ ॥१॥

१. प्राण और अपान सदा इकट्ठे रहनेवाले हैं अतः ये 'युजा' हैं। शरीर में इनका कार्य सदा सम्मिलित रूप में चलता है। प्राण ठीक न हों तो अपान भी दूषित हो जाता है और अपान के कार्य के ठीक न होने पर प्राण में कमी आ जाती है। ये प्राणापान वैसे तो सदा जागरित रहते हैं—हमारे सो जाने पर भी इनका कार्य चलता ही रहता है, परन्तु प्रभु कहते हैं कि—**प्रातः**=सवेरे-सवेरे ही **अश्विनौ**=इन प्राणा-पानों को जोकि **युजा**=मिलकर कार्य करते हैं **वि बोधय**=जागरित कर, इनको विशिष्ट कार्यों में लगाने-वाला बन। उठते ही हम उत्तम कार्यों में प्रवृत्त हो जाएँ। २. **अस्य सोमस्य पीतये**=इस सोम के पान के लिए ये प्राणापान **इह**=इस शरीर में **आगच्छताम्**=तुझे प्राप्त हों अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा तू इस सोम को ऊर्ध्वगति करनेवाला बन। प्राण सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले होते हैं। इसी से तो ये प्राण बलवर्धक होते हैं और ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान से ही शरीर में सब क्रियाएँ होती हैं और सोम की ऊर्ध्वगति होकर शरीर में उसका व्यापन होता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्राणसाधना का लाभ

या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा । अश्विना ता हवामहे ॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणापान की साधना से सोम का शरीर में ही व्यापन होता है । शरीर में सोम के व्यापन से शरीर सब रोगों से रहित हो जाता है, इन्द्रियाँ निर्दोष हो जाती हैं, मन दिव्य भावनाओं से भर जाता है और ज्ञानज्योति चमक उठती है, अतः कहते हैं कि **या उभा**=प्राणापान ये दोनों **सुरथा**=उत्तम शरीररूप रथवाले हैं अर्थात् जिससे यह रथ सब प्रकार के रोगरूप (रुजो भंगे) टूट-फूट से रहित हो जाता है । प्राणशक्ति के साथ रोगों का निवास नहीं होता । प्राणशक्ति [vitality] की न्यूनता से ही रोग आक्रमण करते हैं । २. ये प्राणापान **रथीतमा**=बड़ी उत्तमता से शरीररूप रथ का सञ्चालन करनेवाले हैं । इन्द्रियरूप घोड़े इस शरीररथ में जुते हैं । वे घोड़े ही इस रथ को खींचते हैं । प्राणसाधना से इन इन्द्रियाश्वों के सब दोष दग्ध हो जाते हैं, अतः ये रथ को बड़ी उत्तमता से ले-चलनेवाले हैं । ३. **देवाः**=ये प्राणापान मन के असुर-भावों को समाप्त करके दिव्य भावनाओं से परिपूर्ण करते हैं । ४. **दिविस्पृशा**=ये प्राणापान द्युलोक से स्पृष्ट होनेवाले हैं अर्थात् मस्तिष्क को उसी प्रकार ज्ञानोज्ज्वल करनेवाले हैं जैसे कि सूर्यादि से द्युलोक उज्ज्वल होता है । **ता अश्विना**=उन प्राणापानों को **हवामहे**=हम पुकारते हैं । 'हमारे प्राणापान इस प्रकार के हों' ऐसी हम प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर नीरोग होता है, इन्द्रियाँ निर्दोष बनती हैं, मन दिव्य भावनाओं से भर जाता है, मस्तिष्क प्रकाश का स्पर्श करनेवाला होता है ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

मधुमती कशा

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् ॥३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो ! **या**=जो **वाम्**=आप दोनों की **मधुमती**=अत्यन्त माधुर्यवाली तथा **सूनृतावती**=उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्य **कशा**=वाणी है, **तया**=उस वाणी से **यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **मिमिक्षतम्**=सिक्त कर दो अर्थात् हम सदा मधुर, सूनृत वाणी ही बोलनेवाले हों २. प्राणसाधना से सभी इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं । वाणी के मौलिक दोष कटुता व अनृतता ही हैं । ये दोनों दोष दूर होकर वाणी मधुर व सत्य बन जाती है । प्राणशक्ति के क्षीण होने पर ही चिड़चिड़ापन व स्वभाव में कटुता आती है, तभी मनुष्य कुछ अपशब्द बोलने लगता है । प्राणशक्ति के ठीक होने पर वाणी की मिठास ठीक बनी रहती है । प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुष सदा उत्तम, सुखद, सत्यवाणी को ही बोलता है ।

भावार्थ—हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनकर सदा मधुमती, सूनृत वाणी को ही बोलें ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभु के घर में

नहि वामस्ति दूरके यत्रा रथेन गच्छथः । अश्विना सोमिनो गृहम् ॥४॥

१. हम प्राणसाधना करते हुए गत मन्त्रों के अनुसार (क) सोम-रक्षा में समर्थ होते हैं । (ख) शरीर को नीरोग बनाते हैं । (ग) इन्द्रियों को निर्दोष, (घ) मन को दिव्य, (ङ) तथा मस्तिष्क को ज्ञानो-

ज्ज्वल बनाते हैं। (च) इसके साथ हमारी वाणी मधुर व सूनृत हो जाती है। इन सब साधनाओं का यह परिणाम होना ही चाहिए कि हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी बात को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो ! **यत्रा**=जहाँ **सोमिनः**=इस सोम का उत्पादन करनेवाले प्रभु के **गृहम्**=घर को **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **गच्छथः**=जाते हो तो वह **वाम्**=आपके लिए **दूरके नहि अस्ति**=दूर नहीं है। (२) मन्त्रार्थ में प्रभु को 'सोमी' शब्द से स्मरण करना भी बड़ा भावपूर्ण है। प्रभु सोमी हैं, सोम को हममें उत्पादित करते हैं। इस सोम को यदि हम शरीर में सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, तो इस प्रयत्न से हम प्रभु का आदर कर रहे होते हैं। प्रभु की प्राप्ति इस सोम-रक्षण के विना सम्भव नहीं है। इस सोम का रक्षण प्राणसाधना से होता है, अतः कहा गया कि ये प्राणापान ही सोमी प्रभु के घर में हमें ले-जानेवाले होते हैं, उनके लिए यह कार्य कठिन नहीं है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम की रक्षा करके हम उस सोमी प्रभु के घर में पहुँचनेवाले होंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—सविता। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सविता का आह्वान

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ ह्वये। स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम् ॥५॥

१. गत मन्त्र का प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति ब्रह्मलोक [सोमिगृह] में पहुँचकर प्रभु का स्तवन करता है कि—**हिरण्यपाणिम्**=हिंतरमणीय रक्षणवाले **सवितारम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के उत्पादक व सबके प्रेरक उस प्रभु को **ऊतये**=रक्षण के लिए **उपह्वये**=पुकारता हूँ। यह आकाश में उदित होनेवाला सूर्य भी 'हिरण्यपाणि' है, हाथ में स्वर्ण को लिये हुए है। यह अपने किरणरूप हाथों से हममें स्वर्ण को प्रक्षिप्त [Inject] करने का प्रयत्न करता है। इसकी किरणों को हम छाती पर लेते हैं तो ये रोग-कृमियों को नष्ट करनेवाली होती हैं। यह सूर्य भी **सविता**=सबको जगाकर कर्म में लगने की प्रेरणा देता है। यह सविता उस सविता की ही विभूति है। २. **सः**=वे प्रभु **चेत्ता**=संज्ञानवाले हैं। प्रभु के ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं। **देवता**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं और पवित्र हृदयवालों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले हैं। **पदम्—पद्यते योगिभिर्यस्मात्तस्मात्पद उदाहृतः**=शान्त-चित्तवाले मुनियों से जानने योग्य हैं, अथवा सबका अन्तिम लक्ष्यस्थान हैं। प्रभु तक पहुँचकर ही जीवन-यात्रा का अन्त होगा।

भावार्थ—प्रभु 'हिरण्यपाणि, सविता, चेत्ता, देवता व पद' हैं, उन्हें मैं अपनी रक्षा के लिए पुकारता हूँ। [**सूचना**—पद का अर्थ 'गतिशील' भी है—प्रभु सदा क्रियाशील हैं।]

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—सविता। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

कर्म व अपतन

अ॒पां नपा॑त॒मव॑से सवि॒तार॒मुप॑ स्तुहि। तस्य॑ व्र॒तान्यु॑श्मसि ॥६॥

१. **अपाम्**=प्रजाओं के अथवा कर्मों के **न, पातम्**=न गिरने देनेवाले **सवितारम्**=उत्पादक व प्रेरक प्रभु की **अवसे**=रक्षण के लिए **उपस्तुहि**=समीपता से स्तुति करनेवाला बन। वे प्रभु अपने रक्षण के कार्य में कभी ढील तो करते ही नहीं, क्रिया उनके लिए स्वाभाविक ही है। 'अपाम्' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं 'प्रजा व कर्म।' प्रभु इन दोनों को गिरने नहीं देते। यदि इन्हें समन्वित करके कहा जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा कि 'कर्मों के द्वारा प्रजाओं को न गिरने देनेवाले' अर्थात् कर्म ही अपतन का साधन है।

२. **तस्य**=उस प्रभु के **व्रतानि**=पुण्यकर्मों को **उश्मसि**=हम भी चाहते हैं अर्थात् हमारी भी यही कामना है कि हम भी प्रभु की भाँति ही ज्ञानी, दिव्य व गतिशील बनें।

भावार्थ—हम भी प्रभु की भाँति क्रियाशील और सब प्रजाओं के रक्षक बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—सविता। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धन का विभाग

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम् ॥७॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि प्रभु प्रजाओं का पतन नहीं होने देते। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे प्रभु धन का उचित विभाग करते हैं और वस्तुतः यह धन का विभाग ही प्रजा की रक्षा करनेवाला होता है। जिस प्रकार शरीर में रुधिर के किसी एक स्थान में एकत्रित होने से शरीर विकृत हो जाता है, उसी प्रकार समाज के शरीर में भी धन के कुछ स्थानों में केन्द्रित होने पर विकार आ जाता है। इसलिए कहते हैं कि—**विभक्तारम्**=धन का उचित विभाग करनेवाले उस प्रभु को **हवामहे**=हम पुकारते हैं जो प्रभु **वसोः**=निवास के लिए आवश्यक धन को देनेवाले हैं। कैसे धन को? **चित्रस्य**=[चित्+र] जो धन हमें ज्ञान का देनेवाला है, न कि हमारे ज्ञान को नष्ट करनेवाला है; तथा **राधसः**=जो धन हमारे कर्मों को सिद्ध करनेवाला है? **सवितारम्**=उस प्रभु को जो सम्पूर्ण धनों को उत्पन्न करनेवाले हैं और उन्हें सर्वत्र प्रेरित करनेवाले हैं तथा **नृचक्षसम्**=[नॄन् चष्टे=look after] सभी लोकों का पालन करनेवाले हैं। जैसे एक माता सभी बच्चों का ध्यान करती है, वे प्रभु भी सभी की माता हैं और सबके पालन-पोषण का ध्यान करते हैं।

भावार्थ—सबके पालक उस प्रभु की हम प्रार्थना करें। वे प्रभु ही सब धनों के उत्पादक व विभाजक हैं। प्रभु से दिया गया धन हमारे निवास को उत्तम बनाता है, हमारे ज्ञान के अनुकूल होता है तथा कार्यों का साधक है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—सविता। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

जीवन की शोभा

सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः। दाता राधांसि शुम्भति ॥८॥

१. **सखायः**=मित्रो! **आनिषीदत**=सब ओर से आकर नम्रता से बैठो। **सविता**=सारे ब्रह्माण्ड का उत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **नु**=अब **नः**=हम सबका **स्तोम्यः**=स्तुति करने योग्य है। उस प्रभु का स्तवन ही हमारे लिए इस संसार में वह आश्रय है जो कि हमें विषयों में फँसने से बचाता है। २. वह स्तुत्य प्रभु **राधांसि दाता**=सब धनों के देनेवाले हैं। प्रभु ही उन धनों को प्राप्त कराते हैं जोकि हमें इस जीवन में सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराके जीवन-यात्रा में सफलता प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। ३. वे प्रभु इस प्रकार इन धनों के द्वारा सफल बनाकर **शुम्भति**=हमारे जीवनों को शोभायुक्त करते हैं। जीवन की शोभा सफलता में ही है। सफलता के लिए सब आवश्यक उपकरणों को जुटाने के लिए धन की आवश्यकता है। इस धन के देनेवाले वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, क्योंकि प्रभु ही आवश्यक धन देकर हमें सफलता प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को शोभायुक्त करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

देवपत्नी आवहन

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप । त्वष्टारं सोमपीतये ॥९॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील व्यक्ति ! तू **इह**=इस मानव-जीवन में **उशतीः**=भले को चाहनेवाली **देवानां पत्नीः**=देवपत्नियों को **उपावह**=समीप प्राप्त करनेवाला हो । शरीर में सब देवों का निवास है—**'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'** [अ० ११।८।३२] इसमें सब देव इस प्रकार रहते हैं जैसे गोशाला में गौवें । इन सब देवों की शक्तियाँ ही उनकी पत्नियाँ कहलाती हैं । इनके होने पर मनुष्य-जीवन सुखी हो पाता है, अतः उन सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों व इन्द्रियों की शक्ति की प्रार्थना की गई है । (२) इन शक्तियों की प्राप्ति के लिए ही तू **त्वष्टारम्**=उस सबके निर्माता व दीप्ति के पुञ्ज प्रभु को पुकार, ताकि **सोमपीतये**=सोम की तू रक्षा कर सके । त्वष्टा की पुकार हमें भी त्वष्टा बनाएगी और जब हम निर्माण के कार्यों में लगे होंगे अथवा ज्ञानप्राप्ति में लगकर दीप्ति का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करेंगे तो सब प्रकार के विलासों से बचकर सोम का रक्षण कर पाएँगे । इस सोम के रक्षण से हमारे सब अङ्ग सबल होंगे । यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति ही देवपत्नी है । इन देवपत्नियों का यहाँ जीवन-यज्ञ में प्राप्त कराने का यही साधन है कि हम प्रभु-उपासन के द्वारा सोम का रक्षण करें ।

भावार्थ—हे प्रगतिशील जीव ! तू त्वष्टा का उपासक बनकर निर्माण के कार्यों और ज्ञान-प्राप्ति में लग । इससे तू सोम का रक्षण कर पाएगा और सोम-रक्षण से सब इन्द्रियों की शक्ति को प्राप्त करनेवाला होगा ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

'होत्रा-भारती-वरूत्री व धिषणा'

आ ग्ना अग्न इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीम् । वरूत्रीं धिषणां वह ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव ! **इह**=इस जीवन में **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **ग्नाः**=देव पत्नियों को **आवह**=प्राप्त करा । सब इन्द्रियाँ यहाँ देव हैं, मन व बुद्धि देव हैं । इनकी शक्तियाँ ही इनकी पत्नियाँ हैं । इन्हें इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त करना आवश्यक है । इनके होने पर ही यहाँ सुख है । इनके अभाव में यह जीवन नरक-सा बन जाता है । २. हे **यविष्ठ**=युवतम—अपने साथ अच्छाइयों को अधिक-से-अधिक जोड़नेवाले व बुराइयों को दूर करनेवाले जीव ! तू **होत्राम्**=होत्रा को, **भारतीम्**=भारती को **वरूत्रीम्**=वरुत्री को तथा **धिषणाम्**=धिषणा को **वह**=धारण कर । (क) 'होत्रा' अग्निपत्नी है । यही यहाँ शरीर में जाठराग्नि है जिसमें हव्य पदार्थों को ही भोजन के रूप में डाला जाता है । इन सब पदार्थों को भी यह दानपूर्वक यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करती है । परिणामतः शरीर नीरोग बना रहता है । (ख) 'भारती' [**भरतस्यादित्यस्य पत्नी**] । यह भरत अर्थात् भरण-पोषण करनेवाले आदित्य की पत्नी है । **'प्राणाः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'** के अनुसार सूर्य अपने किरणरूप हाथों में प्राणशक्ति लेकर हमें प्राप्त होता है और सब इन्द्रियों को प्राणशक्ति से परिपूर्ण करता है और इस प्रकार इन्द्रियों को कार्यक्षम बनाता है । (ग) 'वरुत्री' यह द्वेष के निवारण की देवता मनोमय कोष को मलिन नहीं होने देती और (घ) 'धिषणा' तो है ही बुद्धि का नाम । यह विज्ञानमय कोष को धारण करती है । इस प्रकार ये देवपत्नियाँ हमारे इन सब कोषों को सुन्दर बनानेवाली हैं ।

भावार्थ—'होत्रा-भारती-वरुत्री व धिषणा' का आवहन हमारा रक्षण करनेवाला हो ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—देव्यः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अच्छिन्नपत्रा देवपत्नियाँ

अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः । अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम् ॥११॥

१. **नः**=हमें **अवसा**=रक्षण के हेतु से तथा **महः शर्मणा**=[महस्=तेज] तेजस्वितायुक्त सुख के हेतु से **देवीः**=देवपत्नियाँ **अभिसचन्ताम्**=आभिमुख्येन प्राप्त हों, सेवन करनेवाली हों । सब अङ्गों की शक्तियाँ ही देवपत्नियाँ हैं । इनके होने पर ही हमारा रोगों से रक्षण होता है और इनके होने पर ही हम तेजस्वी व सुखी होते हैं । (२) ये देवपत्नियाँ **नृपत्नीः**=मनुष्यों का पालन व रक्षण करनेवाली हैं । **अच्छिन्नपत्राः**=इनका गमन अच्छिन्न होता है, इनकी क्रियाशीलता विच्छिन्न नहीं होती अर्थात् ये देवपत्नियाँ अपना कार्य अश्रान्तभाव से करती जाती हैं । इनका कार्य मनुष्यों का रक्षण व इन्हें तेजस्वितायुक्त सुख प्राप्त कराना ही है ।

भावार्थ—हमारा निरन्तर पालन करनेवाली व हमें तेजस्वी व सुखी बनानेवाली देवपत्नियाँ= इन्द्रियशक्तियाँ हमें प्राप्त हों ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्राणीवरुणान्यग्नाय्यः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

इन्द्राणी-वरुणानी-अग्नायी

इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये । अग्नायीं सोमपीतये ॥१२॥

१. **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति व कल्याण के लिए तथा **सोमपीतये**=सोम के पान अर्थात् शक्ति की रक्षा के लिए **इन्द्राणीम्**—इन्द्राणी को, **वरुणानीम्**=वरुणपत्नी वरुणानी को तथा **अग्नायीम्**=अग्निपत्नी को **उपह्वये**=पुकारता हूँ । (२) 'इन्द्राणी' इन्द्र की पत्नी है । इन्द्र सब असुरों का संहार करनेवाला है । इस असुर-संहारिणी शक्ति को ही यहाँ 'इन्द्राणी' कहा गया है । असुरों का अग्रणी 'वृत्र' है । यह ज्ञान पर आवरण डालनेवाला काम ही है । **'आवृत्तं ज्ञानमेतेन ।'** इस काम को प्रचण्ड ज्ञानाग्नि ही दग्ध करती है एवं ज्ञानाग्नि की कोशभूत यह बुद्धि ही इन्द्राणी है । (२) मन में किसी प्रकार के द्वेषादि मलिन भावों को न आने देनेवाली वरुणानी है । यह अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधकर द्वेषादि से अपने को शून्य बनाती है । (४) 'अग्नायी' अग्निपत्नी है । यही जाठराग्नि है । यह दीप्त रहकर शरीरों के स्वास्थ्य का कारण होता है । इस प्रकार इन देवपत्नियों से हमारी स्थिति उत्तम तो होती ही है, साथ ही इनकी कृपा से शरीर में सोम का रक्षण भी होता है ।

भावार्थ—इन्द्राणी, वरुणानी व अग्नायी को हम स्वस्ति व सोमपीति के लिए पुकारते हैं ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—द्यावापृथिव्यौ । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

द्यौः, पृथिवी

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतां नो भरीमभिः ॥१३॥

१. शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है और यह अन्नमय कोश ही पृथिवी है । **मही द्यौः**=ज्ञान से परिपूर्ण यह महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क **च**=तथा **मही**=महनीय **पृथिवी**=शरीर स्वास्थ्य व बल के कारण उचित प्रभाव को डालनेवाला शरीर—ये दोनों **नः**=हमारे **इमम्**=इस जीवन-यज्ञ को **मिमिक्षताम्**=सुख से सिक्त कर दें । जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक है कि मस्तिष्क भी ठीक हो तथा शरीर भी पूर्ण स्वस्थ

हो। (२) ये महनीय मस्तिष्क व शरीर **नः**=हमें **भरीमभिः**=सब प्रकार की शक्तियों के भरण-पोषण से **पिपृताम्**=पालित व पूरित करें। इनके द्वारा हम अपना भरण-पोषण ठीक से कर सकें।

भावार्थ—सब प्रकार की शक्तियों के ठीक विकास के लिए शरीर व मस्तिष्क दोनों का स्वस्थ होना आवश्यक है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

गन्धर्व का ध्रुवपद

तयोरिद्घृतवत्पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभिः। गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे ॥१४॥

१. शरीर में हृदय को 'गन्धर्व का ध्रुवपद' कहते हैं। [**गां वेदवाचं धरति**] वेदवाणी को धारण करनेवाले प्रभु को गन्धर्व कहते हैं। हृदय उस गन्धर्व का 'ध्रुवपद' है, स्थिर-स्थान है। प्रभु का जब भी दर्शन होगा, इस हृदय में ही होगा। संसार में—संसार के पदार्थों में—प्रभु की महिमा दिखती है, हृदय में प्रभु का दर्शन होता है, अतः इस **गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे**=हृदयान्तरिक्ष के प्रभु का निवासस्थान होने पर **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले समझदार लोग **धीतिभिः**=[धेट् पाने] सोम के पान के द्वारा—शरीर में शक्ति के संयम के द्वारा **तयोः**=उन द्युलोक व पृथिवीलोक के—मस्तिष्क व शरीर के **घृतवत्**=[घृ क्षरणप्रदीप्त्योः] मलों के क्षरण व ज्ञान-दीप्तिवाले **पयः**=आप्यायन—वर्धन को **इत्**=निश्चय से **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं [They enjoy it]। मलों के क्षरण से शरीर का आप्यायन होता है और दीप्ति से मस्तिष्क का। इसलिए इस **पयः**=आप्यायन को 'घृतवत्' कहा है। हमारा हृदय प्रभु का ध्रुवपद बनता है तो वहाँ कामवासना भस्मीभूत हो जाती है। इस वासना के भस्मीभूत होने से शरीर में सोम का रक्षण (पान=धीति) होता है। इस रक्षण से शरीर निर्मल व नीरोग होता है व मस्तिष्क दीप्त।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का नियतवास होने पर सोमपान के द्वारा शरीर व मस्तिष्क क्रमशः मलरहित व दीप्त होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—पृथिवी। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुखद शरीर (स्योना पृथिवी)

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥१५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हृदय के प्रभु का निवास बनने पर **पृथिवि**=हे शरीर तू **स्योना**=सुखद **भवा**=हो। एक बालक के कष्ट तभी से आरम्भ होते हैं जब वह माता से वियुक्त होता है, इसी प्रकार हमारे भी कष्ट तभी आरम्भ होते हैं जबकि हम प्रभु से दूर होते हैं। मेरा हृदय प्रभु का ध्रुवपद है तो उस अमृतप्रभु के रक्षण में मुझे कष्ट कैसे हो सकता है? (२) मेरा यह पृथिवीरूप शरीर **अनृक्षरा**=कण्टकों से रहित हो [अक्षरः=कण्टक]। इसमें सुख के विनाशक तत्त्वों का अभाव हो। इन कण्टकों के अभाव में मैं निरन्तर उन्नतिशील बनूँ। (३) **निवेशनी**=यह शरीररूपी पृथिवी सब दिव्य शक्तियों [देवपत्नियों] की निवासस्थानभूत हो। (४) इस प्रकार यह शरीर हमें **सप्रथः**=सब शक्तियों के विस्तार से युक्त **शर्म**=शरण [गृह] को **यच्छ**=दे अर्थात् यह शरीर मेरा ऐसा घर हो जिसमें कि सब शक्तियों का उचित विस्तार हो।

भावार्थ—यह शरीररूपी पृथिवी 'सुखद-कण्टकरहित-उत्तम निवासवाली व विस्तृत शक्तियों की शरणभूत' हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—विष्णुर्देवो वा । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

पृथिवी के सप्तधाम

अतो॑ दे॒वा अ॑वन्तु नो॒ यतो॒ विष्णु॑र्विचक्र॒मे । पृ॒थि॒व्याः स॒प्त धाम॑भिः ॥१६॥

१. जब जीव शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों की उन्नतियों को करनेवाला होता है, तब वह इस व्यापक उन्नति के कारण—तीन कदमों को रखने के कारण—'विष्णु' कहलाता है। **यतः**=क्योंकि **विष्णुः**=इस व्यापक उन्नति करनेवाले ने **पृथिव्याः**=इस शरीररूप पृथिवी के **सप्त**=सात **धामभिः**= तेजों के हेतु से **विचक्रमे**= विशेष पुरुषार्थ किया है **अतः**=इसलिए **देवाः**=संसार के सब सूर्यादि देव **नः**= हमें **अवन्तु**=रक्षित करें। २. स्वास्थ्य का अभिप्राय यही होता है कि बाह्य देवों की शरीर के अन्तःस्थित देवांशों से अनुकूलता हो। जब तक यह अनुकूलता रहती है, रोग नहीं आते। इस अनुकूलता के समाप्त होते ही रोग शरीर को घेरने लगते हैं। ३. इन 'जल-वायु' आदि देवों के अनुकूल न होने पर शरीर में 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस् व वीर्य' आदि सप्त धातुओं का ठीक निर्माण नहीं होता। ये सात धातुएँ ही यहाँ मन्त्र में 'पृथिवी के सात धाम=तेज' कहे गये हैं। सारी उन्नति इन रसादि के ठीक निर्माण पर ही निर्भर करती है। इसलिए व्यापक उन्नति को करनेवाला इस पृथिवी=शरीर के इन सातों तेजों को ठीक करने का प्रयत्न करता है। ४. जो भी ऐसा प्रयत्न करते हैं वे देवों के रक्षण के पात्र होते हैं।

भावार्थ—हम पृथिवी=शरीर के सातों धामों के द्वारा 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की व्यापक उन्नति करें और देवों के रक्षण के पात्र हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—विष्णुः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

तीन कदम

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम् । समू॑ळ्हमस्य पांसु॒रे ॥१७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार **विष्णुः**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव ने **इदम्**=यह **विचक्रमे**= विशेष पुरुषार्थ किया है कि **त्रेधा**=तीन प्रकार से **पदम्**=कदम को **निदधे**=रक्खा है। केवल शरीर, केवल मन व केवल मस्तिष्क की उन्नति न करके उसने तीनों की ही उन्नति की है—शरीर को नीरोग बनाया है, मन को निर्मल और मस्तिष्क को निशित=तीव्र बुद्धिवाला। इस प्रकार त्रिविध उन्नति करते हुए **अस्य**=इस जीव ने **पांसुरे**=इस धूलि से बने शरीर में—इस पार्थिव देह में **सम् ऊढम्**=सम्यक् कर्त्तव्य का वहन किया है। जैसे ब्रह्माण्ड की त्रिलोकी में पृथिवी में अग्नि का निवास है, इसी प्रकार इस विष्णु ने भी इस शरीर में शक्ति की रक्षा के द्वारा 'प्राणाग्नि' को स्थापित किया है। बाह्य-अन्तरिक्ष में जैसे चन्द्रमा की स्थिति है; उसी प्रकार इसने अपने हृदयान्तरिक्ष में (चदि आह्लादे) आह्लाद—मनःप्रसाद को स्थापित किया है। द्युलोक सूर्य से उज्ज्वल है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक भी ज्ञानसूर्य से उज्ज्वल हुआ है। इस प्रकार इस विष्णु ने स्वकर्तव्य को सम्यक् निबाहा है।

भावार्थ—इस पार्थिव शरीर में कर्तव्य का निर्वहण यही है कि हम नीरोगता, निर्मलता व निशिततारूप तीन कदमों को रखनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—विष्णुः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

धर्मों का धारण

त्रीणि प॒दा वि च॑क्रमे॒ विष्णु॑र्गो॒पा अदा॑भ्यः । अतो॒ धर्मा॑णि धा॒रय॑न् ॥१८॥

१. इस जीव ने **त्रीणि पदा विचक्रमे**=तीन कदमों को विशेष रूप से रखा है (क) यह **विष्णुः** [विष्लृ व्याप्तौ]=हृदय में व्यापकतावाला बना है—इसने अपने मन को विशाल बनाया है। सारी अपवित्रता 'संकोच' के साथ ही तो रहती है। (ख) **गोपाः**=यह इन्द्रियरूप गौवों की रक्षा करनेवाला ग्वाला बना है। इन्द्रियों के रक्षित न करने पर ही सारे दोष उत्पन्न होते हैं; इनके रक्षण से ही सिद्धि प्राप्त होती है। (ग) **अदाभ्यः**=यह रोगों व रोगकृमियों से हिंसित नहीं होता। यह अपने शरीर को नीरोग रखने का प्रयत्न करता है। अस्वस्थ शरीर में किसी भी धर्म का पालन सम्भव नहीं होता। २. इस प्रकार जब जीव तीन कदम रखता है तो **अतः**=इन तीन कदमों को रखने के कारण **धर्माणि**=धर्मों को **धारयन्**=धारण करता हुआ होता है। वेद में यज्ञ ही प्रथम धर्म माना गया है। यज्ञ में तीन भावनाएँ हैं—'देवपूजा-संगतीकरण-दान' अर्थात् 'बड़ों का आदर, बराबरवालों से प्रेम तथा छोटों को दयापूर्वक कुछ देना' ही महान् धर्म है। जो व्यक्ति 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' बनता है वह इन धर्मों का सम्यक् पालन कर पाता है। मन की व्यापकता—इन्द्रियों की आत्मवश्यता व शरीर की नीरोगता के बिना किसी भी धर्म का पालन सम्भव नहीं, अतः आवश्यक है कि हम 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' बनें।

भावार्थ—विशालहृदय, वशेन्द्रिय व नीरोग बनकर हम धर्मों का पालन करनेवाले हों। बड़ों का आदर करें, बराबरवालों से प्रेम से वर्तें, छोटों के प्रति दया की वृत्ति को रखें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सायुज्य मुक्ति

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥१९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो व्यापक उन्नति करनेवाला विष्णु है उस **विष्णोः**=विष्णु के **कर्माणि**=कर्मों को **पश्यत**=देखो। प्रभु कहते हैं कि अपने सामने तुम विष्णु के कर्मों को ही आदर्श के रूप में रखो। २. उसके कर्मों की उत्कृष्टता का कारण यही है कि **यतः**=क्योंकि वह **व्रतानि**=अपने कर्तव्य कर्मों को **पस्पशे**=बारीकी से देखता है—अपने कर्मों की आलोचना करता हुआ वह उनके दोषों को दूर कर देता है। ३. वस्तुतः अपने इन पार्थिव कर्मों के द्वारा ही वह **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः**=सदा साथ रहनेवाला **सखा**=मित्र बनता है। जो व्यक्ति आत्मालोचन करता हुआ अपने जीवन व अपने कर्मों को पवित्र बनाएगा, वही प्रभु को पानेवाला होगा और इसी के कर्म लोगों के सामने आदर्श के रूप में होते हैं।

भावार्थ—व्यापक उन्नति करनेवाला पुरुष अपने कार्यों की सूक्ष्म आलोचना करता रहता है—उन कर्मों में आनेवाली अपवित्रता को दूर करके वह प्रभु का सयुज मित्र बनता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—विष्णुः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विष्णु का परमपद

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥२०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आत्मनिरीक्षण करते हुए और अपने कर्मों को पवित्र बनाते हुए **सूरयः**=ज्ञानी लोग—प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाले लोग **तत् विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **परमं पदम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थान को **सदा**=सदा वैसे **पश्यति**=देखते हैं **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षुः** उस समन्तात् विस्तृत चक्षु=सूर्य को देखते हैं। २. **आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्'** [ऐत० १।४]

सूर्य ही चक्षु का रूप धारण करके आँख में रहता है—आँख सूर्य का छोटा रूप है। इसके विपरीत सूर्य चक्षु का विस्तृत रूप है—सूर्य 'आतत-चक्षु' है। यह सूर्य जितना स्पष्ट दीखता है, इतना ही स्पष्ट ज्ञानी लोग प्रभु के पद को देखते हैं। ३. पूर्वमन्त्र में व्यापक उन्नति करनेवाले जीव को भी विष्णु कहा है। परमात्मा को उससे भिन्न करने के लिए 'तद् विष्णुः' 'वह सर्वत्र विस्तृत (तनु विस्तारे) विष्णु' कहा गया है। इस विष्णु=जीव ने उस विष्णु=प्रभु को देखना है। उसे देखने के लिए 'सूरि' बनना आवश्यक है। भागवत के अनुसार 'विष्णुर्भूत्वा यजेद् विष्णुम्' विष्णु बनकर ही विष्णु का उपासन होता है।

भावार्थ—हम विष्णु बनेंगे तो उस विष्णु—सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन इस प्रकार स्पष्ट कर पाएँगे जैसे सूर्य के।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—विष्णुः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विप्र-विपन्यु-जागृवान्

तद्विप्रा॑सो विप॒न्यवो॑ जागृ॒वांस॒: समि॑न्धते। विष्णो॒र्यत्प॑र॒मं प॒दम् ॥२१॥

१. गत मन्त्र के भाव को ही और बढ़ाकर कहते हैं कि **तद् विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु का **यत् परमं पदम्**=जो सर्वोत्कृष्ट रूप है उसे वे ही **समिन्धते**=सम्यक्तया दीप्त करते हैं अर्थात् जान व प्राप्त कर पाते हैं जोकि (क) **विप्रासः**=विशेष रूप से अपना पूरण करने का प्रयत्न करते हैं—जो आत्मालोचन करते हुए अपनी न्यूनताओं को ढूँढ निकालते हैं और उन्हें उसी प्रकार नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं जैसे कि एक मृगयु मृग को ढूँढकर उसे समाप्त करने के लिए यत्नशील होता है। इन 'कामः पशुः क्रोधः पशुः' काम-क्रोधादि पशुओं को ढूँढकर इनका संहार करना ही सच्चा मृगयु बनना है। इसी प्रकार तो हमारा पूरण होगा। (ख) **विपन्यवः**=प्रभु को वे पाते हैं जोकि विशिष्ट स्तुति करनेवाले होते हैं [पन=स्तुतौ]। विशिष्ट स्तुति यह है कि ये सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होते हैं। यह प्रभु की दृश्य भक्ति होती है—यही विशिष्ट स्तुति है। (ग) **जागृवांसः**=प्रभु को वे पाते हैं जोकि सदा जागनेवाले हैं, कभी असावधान व प्रमत्त नहीं होते, क्योंकि प्रमाद ही सब न्यूनताओं व पतनों का कारण होता है।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन 'विप्र-विपन्यु-जागृवान्' ही कर पाते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ प्राणसाधना द्वारा सोमपान करके (१) सोमी प्रभु के घर में पहुँचने से होता है (४)। ये प्रभु ही सविता हैं—सदा उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं (५)। वे प्रभु ही सब धनों को देनेवाले हैं (८)। हम अपने जीवनों को सब इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन से सुन्दर बनाएँ (९)। मस्तिष्क व शरीर को ठीक बनाकर जीवन को सुखमय करें (१२)। शरीर, मन व मस्तिष्क की त्रिविध उन्नति करते हुए त्रिविक्रम विष्णु बनें (१७)। विष्णु बनकर ही उस महान् विष्णु के सच्चे उपासक होंगे (२१)। 'ऐसा बन सकें'—इसके लिए उपाय यही है कि हम शरीर में उत्पन्न सोमकणों की रक्षा करनेवाले बनें।

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—वायुः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वायु का सोमपान

ती॒व्राः सोमा॑स॒ आ ग॑ह्या॒शीर्व॑न्तः सु॒ता इ॒मे। वायो॒ तान्प्रस्थि॑तान्पिब ॥१॥

१. यहाँ जीव को 'वायो' कहकर सम्बोधित किया गया है। [वा गतिगन्धनयोः] हे गति व क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाले जीव! **सोमासः**=ये शरीर में उत्पन्न होने-

वाले सोम-[वीर्य]-कण **तीव्राः**=बड़े तीव्र और तेजस्विता को देनेवाले हैं। **आगहि**=तू इन्हें सर्वथा ग्रहण करनेवाला बन। २. **सुताः**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए **इमे**=ये सोमकण **आशीर्वन्तः**=इच्छाओंवाले हैं [आशीः—इच्छा]। ये सोमकण हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। ३. प्राणादि की साधना के द्वारा **प्रस्थितम्**=प्रकृष्ट मार्ग की ओर चलते हुए [**उत्तरवेदिं प्रति आनीतात्**—सा०] शरीर में मस्तिष्क ही उत्तरवेदी है। मस्तिष्क की ओर लाये हुए **तान्**=उन सोमकणों को हे **वायो**=जीव! तू **पिब**=पीनेवाला बन। प्राण-साधना से इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। यही सोम का प्रस्थान है। इन सोमकणों को जब हम शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं तो ये हमारी सब ऐहिक और आमुष्मिक कामनाओं को पूर्ण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमकण तेजस्विता को देनेवाले हैं, सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। इनका पान वही कर पाता है जो 'वायु' बनता है—गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रवायू। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इन्द्र और वायु का सोमपान [जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता]

उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये ॥२॥

१. **उभा देवा**=दोनों देवों **दिविस्पृशा**=प्रकाश में स्पर्श करनेवाले **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु को **हवामहे**=हम पुकारते हैं, **अस्य सोमस्य पीतये**=इस सोम के पीने के लिए। २. इन्द्र देवता बल का प्रतीक है। उसका बल इस कारण है कि वह सब देवों का राजा है, सब इन्द्रियों पर शासन करनेवाला है। इन्द्र की मौलिक भावना जितेन्द्रियता की ही है। जितेन्द्रियता सोमपान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अजितेन्द्रियता का सोमरक्षण से क्या सम्बन्ध? ३. 'वायु'=[वा गतिगन्धनयोः] गतिशीलता का प्रतीक है। निरन्तर गति से यह बुराई का गन्धन व संहार करता है। जो मनुष्य सदा क्रियामय जीवनवाला होता है उसमें ही वासनाओं के उत्पन्न होने की आशंका नहीं होती, परिणामतः वह अपने सोम की रक्षा कर पाता है। ४. इस प्रकार इन्द्र और वायु मनुष्य को सोमपान के योग्य बनाते हैं। इस सोम के रक्षण से मनोवृत्तियाँ दिव्य बनती हैं, अतः ये 'इन्द्र और वायु 'देव' कहलाते हैं। सोम शरीर की अन्तर्वेदि=मस्तिष्क की ओर प्रस्थित हुआ-हुआ ज्ञानाग्नि का इंधन बनता है और परिणामतः मनुष्य ज्ञान को स्पर्श करनेवाला होता है, अतः इन्द्र और वायु 'दिवस्पृश्' हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें ताकि हमारी वृत्तियाँ दिव्य हों और हम ज्ञानदीप्त बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रवायू। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ज्ञान व ज्ञानपूर्वक कार्य

इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये। सहस्राक्षा धियस्पती ॥३॥

१. **विप्रा**=विशेष रूप से अपना पूरण करनेवाले मेधावी लोग **मनोजुवा**=मन के समान वेगवाले अथवा मन को सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायुदेव को **ऊतये**=रक्षा के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। इन्द्र और वायु के पुकारने का अभिप्राय है—'जितेन्द्रिय व क्रियाशील' बनने का निश्चय व दृढ़ संकल्प। ये दोनों भावनाएँ मनुष्य को सदा उत्तम मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती हैं। इनके कारण मनुष्य आलस्य से शून्य तथा अत्यन्त वेगसम्पन्न बना रहता है। २. ये इन्द्र और वायु **सहस्राक्षा**=अनन्त आँखोंवाले अर्थात् अत्यधिक ज्ञानवाले तथा **धियस्पती**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के पति हैं।

जितेन्द्रियता ज्ञानवृद्धि का कारण बनती है और वायु की आराधना मनुष्य को सदा कर्मों में व्याप्त रहने का उपदेश करती है। 'इन्द्र' का उपासक मूर्ख नहीं होता तथा वायु का आराधक अकर्मण्य नहीं हो सकता। ये ज्ञान और कर्म हमारा पूरण करते हैं, हमें विप्र बनाते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र और वायु के उपासक बनकर अत्यधिक ज्ञानवाले व ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

मित्र और वरुण का सोमपान [स्नेह व अद्वेष]

मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये। जज्ञाना पूतदक्षसा ॥४॥

१. **वयम्**=हम **मित्रम्**=स्नेह के देवता को तथा **वरुणम्**=द्वेषनिवारण के देवता को **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। वस्तुतः स्नेह व अद्वेष—ये सोम की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। 'स्नेह' विकृत होकर काम हो जाता है, द्वेष विकृत होकर 'क्रोध' हो जाता है। काम और क्रोध सर्वाधिक सोम का विनाश करनेवाले हैं। काम और क्रोध की अग्नि में सोम भस्म हो जाता है। सोम को नष्ट करके काम-क्रोध हमें भी नष्ट कर देते हैं। २. यदि मित्र और वरुण की आराधना से हम काम व क्रोध को जीत लेते हैं तो ये स्नेह व अद्वेष **जज्ञाना**=हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले होते हैं और **पूतदक्षसा**=हमें शुद्ध बलवाला बनाते हैं। ३. इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि जैसे सोम के रक्षण के लिए जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता आवश्यक थी [मन्त्र संख्या २] उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार सोम के रक्षण के लिए 'स्नेह व अद्वेष' भी आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम स्नेह व अद्वेष के उपासक बनकर काम-क्रोध से ऊपर उठें और अपनी शक्ति की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ऋत+ज्योतिः

ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती। ता मित्रावरुणा हुवे ॥५॥

१. मैं **ता**=उन **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को, स्नेह व अद्वेष को **हुवे**=पुकारता हूँ, **यौ**=जो **ऋतेन**=ठीक समय व ठीक स्थान पर कार्य करने से **ऋतावृधौ**=मुझमें ऋत का वर्धन करनेवाले हैं—मेरे जीवन में सत्य के पनपाने का कारण बनते हैं और **ऋतस्य**=सत्य के तथा **ज्योतिषः**=ज्ञान के **पती**=रक्षक हैं। २. जिस समय मनुष्य अपने व्यवहारों को स्नेह व अद्वेषपूर्वक करता है उस समय उसके जीवन में (क) ऋत होता है—उसके सब कार्य समय व स्थान की दृष्टि से ठीक होते हैं, उसके जीवन में व्यवस्था होती है। (ख) इस व्यवस्था के कारण उसमें ऋत का, सत्य का व यज्ञ का वर्धन होता है। उसके कार्य सत्य होते हैं, सत्य कार्य वे ही होते हैं जो यज्ञात्मक हैं—अधिक-से अधिक भूतों=प्राणियों का हित करनेवाले हैं। **यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा** [महाभारत]। (ग) व्यवस्था व सत्य को धारण करनेवाला यह पुरुष सत्य व ज्ञान का पति बनता है। उसके मन में 'सत्य' की स्थिति होती है और मस्तिष्क में 'ज्ञान' की।

भावार्थ—हम मित्र व वरुण की आराधना करें—स्नेह व अद्वेष को जीवन का सूत्र बनाएँ। ऐसा करने पर हमारे जीवनों में (क) व्यवस्था (ख) यज्ञात्मक कर्म (ग) सत्य व (घ) ज्ञान का परिपोषण होगा। हम नृअत को छोड़ सत्य को अपनाते रहे होंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—मित्रावरुणौ । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अद्वेष व स्नेह

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः । करतां नः सुराधसः ॥६॥

१. **वरुणः**=द्वेष-निवारण का देवता, अद्वेष की भावना **प्राविता**=प्रकर्षेण रक्षक **भुवत्**=हो अर्थात् इस जीवन-यज्ञ में द्वेष से ऊपर उठकर हम अपनी शक्तियों का रक्षण करनेवाले बनें, द्वेषाग्नि में हम जलते न रहें। २. **मित्रः**=स्नेह का देवता, सबके प्रति स्नेह की भावना **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब प्रकार के रक्षणों के द्वारा हमें सुरक्षित करे। स्नेह के कारण शक्ति का वर्धन होता है। अद्वेष से शक्ति नष्ट नहीं होती—स्नेह से वह शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार से वरुण व मित्र=अद्वेष व स्नेह **नः**=हमें **सुराधसः**=उत्तम सम्पत्तियोंवाले अथवा उत्तम सफलताओंवाले **करताम्**=करें। इस संसार में द्वेष से ऊपर उठकर स्नेह से बरतते हुए ही हम उत्तम साफल्य को प्राप्त कर सकते हैं। मनुजी ने **'शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह'**—'सूखे वैर और विवाद को किसी के साथ न करें' इन शब्दों में ऐहिक व आमुष्मिक उन्नति के सुन्दर सूत्र का संकेत किया है। **'अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम'** इस वैदिक सूक्ति में भी यही कहा है कि 'संसार में किसी से द्वेष न करो।' हीनस्थितिवाले पर भी करुणा ही करनी है, क्रूरदृष्टि नहीं।

भावार्थ—हम अद्वेष व स्नेह को अपनाकर अपनी शक्तियों का रक्षण करें और उत्तम साफल्य को सिद्ध करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्रो मरुत्वान् । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

मरुत्वान् इन्द्र

मरुत्वन्तं हवामह इन्द्रमा सोमपीतये । सजूर्गणेन तृम्पतु ॥७॥

१. आध्यात्मिक प्रकरण में 'इन्द्र' जीवात्मा है और 'मरुत्' प्राण हैं। आधिदैविक जगत् में 'इन्द्र' सूर्य था और 'मरुतः' वायुएँ थीं। आधिभौतिक क्षेत्र में 'इन्द्र' राजा है और 'मरुत्' उसके सैनिक। जैसे राजा सैनिकों के द्वारा ही विजय करता है और जैसे सूर्य विविध वायुओं के प्रकारों से ही शोधन व प्राणसंचार का कार्य करता है उसी प्रकार जीवात्मा भी प्राणसाधना से ही वासनाओं पर विजय पाता है। २. इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **मरुत्वन्तम् इन्द्रम्**=प्राणापानोंवाले इन्द्र को—जितेन्द्रिय पुरुष को **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए, शरीर में ही शक्ति के संरक्षण के लिए **आ, हवामहे**=सब प्रकार से पुकारते हैं अर्थात् हमारी एक ही कामना है कि हम जितेन्द्रिय बनकर प्राणसाधना द्वारा वासनाओं पर विजय पाएँ और सोम का नाश न होने दें। यह 'इन्द्र' **गणेन**=मरुतों के गण के **सजूः**=साथ प्रीतिपूर्वक उत्तम कर्मों का सेवन करता हुआ **तृम्पतु**=सोम के पान से तृप्ति का अनुभव करे—जीवन में आनन्द को प्राप्त करे। वस्तुतः इन प्राणों की साधना के बिना सोमपान सम्भव भी तो नहीं। सोमपान तो जब भी होगा, इनके साथ ही होगा।

भावार्थ—हम प्रशस्त प्राणोंवाले बनें। इस प्राणगण के साथ शरीर में सोम का रक्षण करते हुए तृप्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—इन्द्रो मरुत्वान् । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

'देवासः पूषरातयः'

इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः पूषरातयः । विश्वे मम श्रुता हवम् ॥८॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्रज्येष्ठाः**=इन्द्र जिनमें श्रेष्ठ है ऐसे **मरुद्गणाः**=प्राणसमूहो ! **विश्वे**=तुम सब **मम**=मेरी **हवम्**=इस पुकार को—आवाज को **श्रुत**=सुनो। **देवासः**=तुम्हें देव बनना है, **पूषरातयः**=दान का पोषण करनेवाला बनना है **'पूषा रातिर्येषाम्'**—जिनका दान निरन्तर बढ़ रहा है—ऐसा बनना है। २. प्रभु प्राणगणों से युक्त इन्द्र को कहते हैं कि तुम्हें अपनी दिव्यता का वर्धन करते हुए देव बनना है और दानवृत्ति को बढ़ाते हुए 'पूषराति' होना है। 'अरातित्व'=न देने की वृत्ति हमारी सब दिव्यताओं को समाप्त कर देती है। लोभ सब व्यसनों के ५नप।नेवाला होता है। 'असुर अपने ही मुख में आहुति देते हैं—वे कभी किसी दूसरे को नहीं खिलाते। यह अदान ही उनके असुरत्व का कारण है। वे देते तो देव बन जाते। देव क्या बन जाते, देव तो वे थे ही, 'पूर्वदेवाः' उनका नाम ही है—देते रहते तो असुर न बनते। 'देवासः पूषरातयः' देव निरन्तर दान व पोषण करते हैं। देव यही प्रार्थना करते हैं कि—**'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद दानकामश्च नो भुवत्'**—हे प्रभो ! ऐसी कृपा कीजिए कि हमारे परिवार के सभी व्यक्ति सत्संग से उत्तम मनवाले हों और हमारे ये पुरुष सदा दानवृत्तिवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधक जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु का आदेश है कि दानवृत्ति का पोषण करते हुए देव बने रहो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—इन्द्रो मरुत्वान्। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुदानु

हुत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा। मा नो दुःशंस ईशत ॥९॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **सुदानवः**=उत्तम दान के गुण से युक्त मरुद्गणो ! **सहसा**=सहनशक्ति के पुञ्ज तुम **इन्द्रेण युजा**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ मिलकर **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरण बने हुए इस काम को **हत**=नष्ट कर दो। जितेन्द्रिय पुरुष शक्ति का पुञ्ज तो बनता ही है, अतः उसे 'सहस्' कहा हैं। यह प्राणसाधना करके सब वासनाओं को दग्ध करता है। इसके जीवन में वासनाओं के शिरोमणि वृत्र का संहार हो जाता है, परन्तु यह होता तभी है जब मनुष्य 'सुदानु' बना रहता है। शोभन दान के गुण से युक्त होकर ही यह वृत्र का विनाश करता है। 'सुदानु' के दोनों ही अर्थ हैं—(क) उत्तम देनेवाला, (ख) उत्तमता से शत्रुओं को काटनेवाला (दाप् लवने)। २. सुदानु कहता है कि इस वृत्र के विनाश होने पर **दुःशंसः**=कोई भी दुःशंस पुरुष, बुराई को अच्छाई के रूप में चित्रित करनेवाला व्यक्ति **नः**=हमारा **मा ईशत**=शासन करनेवाला न हो। हम उसकी बातों में आकर बुराई को स्वीकार न कर लें।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हम 'काम' का विध्वंस करें जिससे कोई दुःशंस व्यक्ति हमें बहकाकर धर्मविचलित न कर दे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तेजस्विता व ज्ञानदीप्ति

विश्वान्देवान्हवामहे मरुतः सोमपीतये। उग्रा हि पृश्निमातरः ॥१०॥

१. हम अपने जीवनों में **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए अर्थात् शरीर में वीर्य की रक्षा के लिए **विश्वान् देवान्**=सब दिव्य गुणों को **हवामहे**=पुकारते हैं। राक्षसी भाव ही सोम के विनाशक होते हैं। २. इन देवों में हम विशेषकर **मरुतः**=मरुतों को **हवामहे**=पुकारते हैं। शरीर में प्राण ही मरुत हैं। इन प्राणों को पुकारने का अभिप्राय 'प्राणों की साधना' से है। मैं नियमपूर्वक प्राणसाधना व प्राणायाम करता हूँ। यह प्राणसाधना मुझे ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। ३. इस ऊर्ध्वरेतस् बनने से मेरी शक्ति भी बढ़ती

है और ज्ञान का प्रकाश भी, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ये मरुत् **उग्राः**=तेजस्वी हैं तथा **हि**=निश्चय से **पृश्निमातरः**=उस हृदयान्तरिक्ष के निर्माण करनेवाले हैं जोकि **'संस्प्रष्टाभासं ज्योतिषाम्'** [निरु० २।१५] विविध ज्ञानों की दीप्ति से युक्त है।

भावार्थ—हम दिव्यगुणों को धारण करें—विशेषतः प्राणसाधना अवश्य करें। इन प्राणों के साहाय्य से ही हम ऊर्ध्वरेतस् बनते हैं और इस प्रकार ये प्राण हमें तेजस्वी व विज्ञान-दीप्तिमय हृदय-अन्तरिक्षबाला बनाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

मरुतों की गर्जना

जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया। यच्छुभं याथना नरः ॥११॥

१. गत मन्त्र में प्राणायाम के महत्त्व का कुछ उल्लेख था। जिस समय प्राणायाम करते हैं उस समय **मरुताम्**=प्राणों की **तन्यतुः**=ध्वनि इस प्रकार होती है **इव**=जैसे **जयताम्**=विजयी सैनिकों की ध्वनि हो। जैसे विजेता शत्रुओं पर विजय पाते हैं, उसी प्रकार ये मरुत् भी वासनाओं पर विजय पाते हैं। २. इनकी यह ध्वनि भी **धृष्णुया**=धाष्ट्र्ययुक्त होती हुई **एति**=प्राप्त होती है। इनकी ध्वनि से भी शत्रुओं का धर्षण होता है। रेचक प्राणायाम में ज़ोर से श्वास को बाहर फेंकते समय जो ध्वनि होती है उस समय श्वास के बाहर होने के साथ वासनाएँ भी बाहर फेंक दी जाती हैं। श्वास-प्रश्वास की ध्वनि से ही ये काम-क्रोधादि शत्रु भयभीत हो भाग उठते हैं। ३. यह वह समय होता है **यत्**=जब **नरः**=हे मनुष्यो! आप लोग **शुभं याथन**=शुभ मार्ग पर ही चलते हो। प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दग्ध होकर उनकी वृत्ति शान्त बन जाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना में श्वास-प्रश्वास का शब्द भी कामादि शत्रुओं का धर्षण कर उन्हें दूर भगा देता है और हम शुभ मार्ग से जीवन-यात्रा में आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवताः—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

देदीप्यमान प्रकाश

हस्काराद्विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः। मरुतो मृळयन्तु नः ॥१२॥

१. गत मन्त्र में शुभमार्ग पर चलने का उल्लेख है। **अतः**=उस शुभ मार्ग पर चलने से **हस्कारात्**=दीप्ति को करनेवाले **विद्युतः**=विशेषेण दीप्यमान ज्ञानज्योति के **परि**=लक्ष्य से **जाताः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए ये मरुत् **नः**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें। जब हम शुभ मार्ग पर चलते हैं तो हमारी प्राणशक्ति का विकास होता है। प्राणसाधना से हममें शुभ मार्ग पर चलने की वृत्ति उत्पन्न होती है और शुभमार्ग पर चलने से प्राणशक्ति का पोषण होता है। ये प्राण विकसित शक्तिवाले होकर सोमरक्षण के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा ये प्राण हमारा रक्षण करते हैं। २. ये रक्षण करनेवाले **मरुतः**=प्राण **नः**=हमें **मृळयन्तु**=सुखी करें। प्राणों के स्वास्थ्य पर ही सारा सुख निर्भर करता है। प्राणशक्ति की क्षीणता में ऐहिक व आमुष्मिक सब सुख समाप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—प्राणशक्ति के विकास से ज्ञानदीप्ति की वृद्धि होती है और हमारा जीवन सुखमय होता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—पूषा । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

पूषा-आघृणि [शरीर में पुष्टि, मस्तिष्क में दीप्ति]

आ पूषञ्चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः । आजा नष्टं यथा पशुम् ॥१३॥

१. गत मन्त्रों में प्राणसाधना के द्वारा शरीर में सोम के संयम से एक व्यक्ति शरीर से पुष्ट बनता है, अतः 'पूषा' होता है । यही मस्तिष्क में देदीप्यमान ज्ञानवाला होता है, अतः यह 'आघृणि' रश्मि-युक्त बनता है । इसका अन्तिम उद्देश्य उस प्रभु को पाना ही होना चाहिए, अतः मन्त्र में कहते हैं—हे **पूषन्**=एक-एक अंग के पोषण को प्राप्त करनेवाले जीव ! **आघृणे**=सर्वतः देदीप्यमान ज्ञान की किरणों-वाले साधक ! तू **चित्रबर्हिषम्**=हृदयान्तरिक्ष को उत्तम संज्ञानयुक्त करनेवाले [**चित्रं बर्हिः यस्मात्**], **दिवः धरुणम्**=सम्पूर्ण प्रकाश के धारक, सर्वज्ञ उस प्रभु को **आ अज**=सर्वथा प्राप्त हो [अज=गतौ] । तेरे सम्पूर्ण प्रयत्न प्रभु-प्राप्ति के लिए हैं, यही तेरा ध्येय है । २. **यथा**=जैसे एक माता **नष्टं पशुम्**= अदृष्ट हुए-हुए पशु को तन, मन, धन से—पूर्ण प्रयास से ढूँढने में लग जाती है उसी प्रकार तू भी उस सर्व-द्रष्टा (पश्यतीति पशुः, अभिचाकशीति) प्रभु को जो तेरे हृदयक्षेत्र में ही कहीं विलुप्त हो गया है, ढूँढने का प्रयत्न कर और उसे सर्वथा प्राप्त कर ही । तुझे उसे प्राप्त किये बिना शान्ति न मिले । तू उसकी प्राप्ति के लिए अविरतश्रमवाला बन [आ अज] । ३. वस्तुतः 'पूषन्' व 'आघृणे'—इन सम्बोधनों में प्रभु-प्राप्ति के उपायों का संकेत हो गया है । प्रभु को प्राप्त वही कर सकता है जो शरीर को सबल और मस्तिष्क को दीप्त बनाता है ।

भावार्थ—हम 'पूषा व आघृणि' बनकर 'चित्रबर्हिष् व दिवो धरुण' प्रभु को प्राप्त करें ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—पूषा । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभु-प्राप्ति

पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितम् । अविन्दच्चित्रबर्हिषम् ॥१४॥

१. **पूषा**=अपनी शक्तियों का पोषण करनेवाला **आघृणिः**=देदीप्यमान ज्ञान-रश्मियोंवाला साधक ही **अविन्दत्**=उस प्रभु को पाता है जोकि २. **राजानम्**=ज्ञान से देदीप्यमान हैं अथवा सारे ब्रह्माण्ड को शासित कर रहे हैं, **अपगूळ्हम्**=देदीप्यमान होते हुए भी जो हम सांसारिक विषयों में आसक्त पुरुषों से दूर छिपे हुए हैं, परन्तु 'गुहाहितम्' हैं, हमारी ही हृदयरूपी गुफा में छिपे हुए और वहाँ स्थित हुए **चित्रबर्हिषम्**=हमारे हृदयों को [चित्+र] ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण व वासनाशून्य [उद्बर्हण-उत्पाटन] कर रहे हैं । ३. जब शक्ति व ज्ञान की साधना करते हुए हम 'पूषा व आघृणि' बनेंगे तो उस **गुहा हितं**=हमारे ही अन्दर छिपकर बैठे हुए प्रभु को हम अवश्य पा सकेंगे और उस दिन हमारा हृदय संज्ञानवाला व वासनाओं से शून्य हो जाएगा ।

भावार्थ—'पूषा व आघृणि' बनकर हम उस प्रभु को प्राप्त करें जो 'राजा, अपगूढ, गुहाहितं और चित्रबर्हिष्' हैं ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—पूषा । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

भक्त के जीवन की तीन बातें

उतो स मह्यमिन्दुभिः षड्युक्ताँ अनुसेषिधत् । गोभिर्यवं न चर्कृषत् ॥१५॥

१. गत मन्त्र में पूषा व आघृणि बनकर प्रभु-प्राप्ति का संकेत हुआ था । जब मैं प्रभु को प्राप्त

करूँ तो **उत+उ**=और निश्चय से **सः**=वे प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **इन्दुभिः**=['सोमा वा इन्दुः' शत० २।२।३।२३] इन सोमकणों के द्वारा **षट्**=[यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह] मन से युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों को जोकि **युक्तान्**=योगयुक्त व एकाग्र और स्थिर हो गई हैं, उनको **अनुसेषिधत्**=प्राप्त कराता है। प्रभु को प्राप्त करके ही मन व इन्द्रियाँ स्थिर होती हैं, उससे पूर्व तो वे भटकती ही रहती हैं। सान्त विषयों में इनके स्थिर होने का सम्भव ही नहीं। उन विषयों के आगे-पीछे को उन्होंने देखा—उन विषयों की नवीनता समाप्त हुई और ये उनसे हटकर अन्यत्र चलीं। प्रभु अनन्त हैं, वहाँ पहुँचकर न ये अन्त ही पाती हैं और न अन्यत्र जाने का प्रसंग आता है। यह इन्द्रियों की स्थिरता और पवित्रता सोम की रक्षा के द्वारा होती है। २. [न इति अर्थे]। **न**=और वे प्रभु **गोभिः**=बैलों के द्वारा **यवम्**=यवादि धान्यों की **चर्कृषत्**=कृषि मुझसे कराते हैं अर्थात् वे प्रभु मुझे ऐसी प्रेरणा देते हैं कि मैं कृषि को अपनाता हूँ और द्यूत से दूर भागता हूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**—'पाशों से मत खेलो, खेती ही करो'—इस वेदोपदेश को मैं जीवन में अनुदित करता=घटाता हूँ। ३. यहाँ मन्त्रार्थ के उत्तरार्द्ध से यह बात स्पष्ट है कि (क) खेती बैलों से होनी ही ठीक है, ट्रैक्टर्स से नहीं। ऊबड़-खाबड़ भूमि को ट्रैक्टर्स से एक बार ठीक बेशक कर लिया जाए परन्तु उनके द्वारा सदा खेती करना उपयोगी नहीं। बैलों से खेती होने पर खेत छोटे-छोटे होते हैं, क्यारियों की मुँडेरों पर लगी झाड़ियों पर चिड़ियाँ आदि बसेरा करती हैं। ये खेती के विध्वंसक कीटों को समाप्त करके कृषि की रक्षा करती हैं। ट्रैक्टर्स से जुतनेवाले खेत मीलों-मील चले जाने से इन पक्षियों के लिए सुविधाजनक आश्रय प्राप्त नहीं होता, परिणामतः विध्वंसक कीटों से खेतियाँ नष्ट कर दी जाती हैं। बैलों से खेतों के जोते जाने पर स्वाभाविक खाद भी भूमि को मिलता रहता है। ट्रैक्टर्स से जोतने पर खेतों में कृत्रिम खादों की आवश्यकता होती है। (ख) दूसरी बात यह भी संकेतित हो रही है कि खेती जौ इत्यादि उपयोगी धान्यों की ही होनी ठीक है, तम्बाकू आदि की नहीं।

भावार्थ—उपासक का जीवन तीन बातों से युक्त होता है—(क) वह सोम की रक्षा करता है, (ख) इन्द्रियों व मन को प्रभु में स्थिर करता है, (ग) यवादि की कृषि करता हुआ जीविका का उपार्जन करता है। ये कर्षणि=चर्षणि ही प्रभु को प्यारे होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—आपः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उन्नति+माधुर्य

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥१६॥

१. उल्लिखित मन्त्र के अनुसार जब मनुष्य कृषि आदि सात्त्विक कर्मों को अपनाता है तो इन **अध्वरीयताम्**=[अध्वर] हिंसाशून्य कर्मों को अपनानेवाले लोगों की **अम्बयः**=माताएँ तथा **जामयः**=बहनें **अध्वभिः यन्ति**=मार्गों से चलती हैं अर्थात् इनके घरों में सदाचरण बना रहता है, सबकी वृत्ति सुन्दर बनी रहती है। गीता [१।४१] में **'अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः'**—इन शब्दों में कहा गया है कि 'अधर्म का प्राबल्य होने पर कुलीन स्त्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं।' परन्तु इन अध्वरों के अपनानेवाले लोगों के घरों में ऐसी आशंका नहीं रहती। इन अध्वरों के अपनानेवालों की माताएँ व बहनें सदा मार्ग पर चलती हैं, मार्ग से विचलित नहीं होतीं। २. ये अपने जीवनों में **मधुना**=मधु के साथ **पयः**=दूध का **पृञ्चतीः**=सम्पर्क करती हुई होती हैं। इनका भोजन यवों के साथ दूध व शहद होता है। अथवा ये **पयः**=आप्यायन को—अपने वर्धन को, अपनी उन्नतियों को **मधुना पृञ्चतीः**=मधु से सम्पृक्त करती हुई होती है। उन्नत होकर ये मधुर बनी रहती हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों की माताएँ व बहनें सदा सुमार्ग से चलती हैं और अपनी उन्नति को माधुर्य से जोड़े रखती हैं। इनका भोजन यव, मधु व दूध आदि सात्त्विक पदार्थ होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—आपः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूर्यकिरणोंवाले जल

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥१७॥

१. गत मन्त्र में खाने के पदार्थों में जौ, शहद व दूध का उल्लेख हुआ है। अब पेयरूप में जलों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **ताः**=वे जल **नः**=हमारे **अध्वरम्**=इस हिंसाशून्य जीवन-यज्ञ को **हिन्वन्तु**=बढ़ानेवाले हों। **याः अमूः**=जो वे जल **उपसूर्ये**=सूर्य के समीप हैं **वा**=या **याभिः सह**=जिनके साथ **सूर्यः**=सूर्य है, अर्थात् वे जल हमें प्राप्त हों जो सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहते हैं। ऐसे जलों में प्राणदायी तत्त्वों की अधिकता का होना स्वाभाविक है। २. 'उपसूर्ये' शब्द मेघ के जलों की ओर भी निर्देश करता है। सूर्य-किरणों द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचकर जो जल बरसते हैं वे मेघजल 'अमृत' कहलाते हैं। ये हमारे जीवनों को एकदम नीरोग बनानेवाले हैं, अतएव 'अमृत' हैं। ये जल हमें प्राप्त होंगे तो इन सात्त्विक जलों के सेवन से हमारी वृत्ति भी सात्त्विक बनेगी और हमारा जीवन सचमुच 'अध्वर' होगा।

भावार्थ—हम सूर्यकिरणों के सम्पर्कवाले सात्त्विक जलों के प्रयोग से हिंसाशून्य जीवन-यज्ञवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—आपः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

गौवों के पान के लिए जल

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः॥१८॥

१. गत मन्त्र के **देवीः अपः**=दिव्य गुणोंवाले जलों को उस स्थान पर **उपह्वये**=पुकारते हैं **यत्र**=जहाँ **नः**=हमारी **गावः**=गौएँ **पिबन्ति**=इन जलों का पान करती हैं। स्थान-स्थान पर गौ आदि पशुओं के लिए शुद्ध जल पी सकने की व्यवस्था होनी ही चाहिए। वेद कहता है कि **'शुद्धा आपः सुप्रपाणे पिबन्ति'**=हमारी गौएँ उत्तम पानस्थलों में शुद्ध जलों को पीनेवाली हों। जल का प्रभाव दूध पर निश्चित रूप से होना ही है, अतः उनके लिए शुद्ध जल का अत्यधिक महत्त्व है। २. 'गावः' शब्द का अर्थ 'भूमियाँ' भी है। हम जलों को **सिन्धुभ्यः**=नदियों व नहरों के द्वारा वहाँ पुकारते हैं **यत्र**=जहाँ कि **नः गावः**=हमारी भूमियाँ **हविः कर्त्वम्**=यज्ञिय अन्नों को उत्पन्न करने के लिए इनको **पिबन्ति**=पीती हैं। इन नहरों द्वारा भूमि की सिंचाई करके हम यज्ञिय अन्नों को उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—जलों को नहरों के द्वारा हम उन स्थलों में पहुँचाएँ जहाँ कि हमारी भूमियाँ इन जलों से सिक्त होकर हविरूप अन्नों को उत्पन्न करें तथा हम ऐसी व्यवस्था करें कि गौओं को शुद्धजल सुप्राप्य हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—आपः। छन्दः—पुरउष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

जलों में अमृतत्व

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः॥१९॥

१. **अप्सु अन्तः**=जलों में **अमृतम्**=अमृतत्व है, **अप्सु**=जलों में **भेषजम्**=औषध है अर्थात् जलों के ठीक प्रयोग से मनुष्य दीर्घजीवी—सौ वर्ष तक जीनेवाला बनता है और इन जलों के द्वारा सब रोगों

का निवारण हो सकता है। इनका तो नाम ही वारि [रोगान्निवारयति] है—ये रोगों को दूर करते हैं। वेद में इनका नाम 'भेषज' भी है—ये औषध हैं। २. **उत**=और **अपाम्**=इन जलों के **प्रशस्तये**=[प्रशस्तिभिः—अथर्व०] प्रशंसनीय गुण-धर्मों से **देवाः**=देव **वाजिनः**=शक्तिशाली **भवत**=होते हैं। देव इन जलों का ठीक रूप से प्रयोग करते हैं। उनके लिए मेघजल ही मद्य होता है। संस्कृत में इसे 'अमर वारुणी' नाम ही दे दिया गया है। ये देव जलों का ठीक प्रयोग करते हुए शक्ति का सम्पादन करते हैं। आसुरी वृत्तिवाले लोग जल के प्रयोग से दूर होकर उनके लाभों से वंचित रह जाते हैं।

भावार्थ—जल अमृत हैं, भेषज हैं। ये हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—आपः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

गर्म पानी [जल+अग्नि]

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥२०॥

१. **सोमः**=सोमादि ओषधियों के गुणों के पूर्णतया ज्ञाता उस सर्वमहान् वैद्य प्रभु ने **मे**=मुझे **अब्रवीत्**=कहा कि **अप्सु-अन्तः**=जलों में **विश्वानि भेषजा**=सब औषध विद्यमान हैं अर्थात् ये जल रोगमात्र के औषध हैं। 'जल घातने' धातु से बनकर इसी भाव को कह रहा है कि जल सब रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। २. **च**=और सोम ने मुझे यह भी कहा कि **अग्निं विश्व-शं-भुवम्**=अग्नि सब शक्तियों को देनेवाली है। जब यह जल में प्रविष्ट होती है और जल को गर्म कर देती है तो यह गर्मजल रोगमात्र को शमन करनेवाला होता है और मनुष्य को शान्ति प्राप्त कराता है। ३. **च**=और अग्नि से मिलने पर **आपः**=जल **विश्वभेषजीः**=सभी रोगों के भेषज हैं। इस प्रकार ये जल 'ज'=जन्म से 'ल'=लयपर्यन्त उपयोगी हैं। ये 'आपः' हैं, हमारे जीवन में व्याप्त रहकर कार्य करनेवाले हैं। यहाँ मन्त्र के तृतीय चरण का सायणकृत अर्थ यह है कि सोम ने इन सब शक्तियों को देनेवाली अग्नि को भी जलों में कहा है, अर्थात् जलों में उस अग्नि का निवास है जो विविध कल्याणों को करनेवाली है। वस्तुतः यहाँ सूर्य-रश्मियों द्वारा भावित जलों में विद्यमान विविध प्रभावयुक्त जीवनदायी विद्युतों की ओर संकेत है। यह हमारे नाना यन्त्रों का संचालन करनेवाली है और इस प्रकार कितने ही कष्टों का प्रतिकार कर देती है।

भावार्थ=जलों में सब औषध हैं और जब अग्नि जलों के साथ मिल जाती है तो यह सब कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली होती है, तब जल रोगमात्र को दूर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः। देवता—आपः। छन्दः—प्रतिष्ठा। स्वरः—षड्जः।

रोगनिवारण व दीर्घजीवन

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥२१॥

१. **आपः**=हे जलो! **मम तन्वे**=मेरे शरीर के लिए **वरूथम्** रोगों के निवारक **भेषजम्**=औषध को **पृणीत**=[पूरयत] पूरित करो अर्थात् जलों के समुचित प्रयोग से हम रोगमात्र को शरीर पर आक्रमण करने से रोक सकते हैं। २. इस प्रकार रोगों को दूर करके ये जल हमारे **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यम् दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए होते हैं। जलों का 'उषः पान' [प्रातःकाल उठने पर दाँत व जीभ साफ करने के बाद जल पीना], धीमे-धीमे पीना, भोजन के प्रारम्भ व अन्त में न पीकर बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा बार-बार पीना, सामान्यतः गर्म जल का पीने के लिए प्रयोग करना, स्नान के लिए ठण्डे जल का Spunging के रूप में प्रयोग करना'—इन नियमों का पालन करने पर जल रोगों को नहीं आने देते।

भावार्थ—जल रोगनिवारक औषध को प्राप्त कराते हैं और हमारे दीर्घजीवन के लिए होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—आपः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

मानस रोगनिवारण

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि । यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥२२॥

१. **आपः**=हे जलो ! **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **दुरितम्** अशुभ आचरण **मयि**=मेरे जीवन में है **इदम्**=इसको **प्रवहत**=बहाकर दूर ले-जाओ । जल शरीर के रोगों को ही दूर करते हों, सो नहीं, इनका मानस रोगों पर भी प्रभाव पड़ता है । क्रोध में आये हुए मनुष्य को अब तक ठण्डा पानी पीने के लिए देने की प्रथा है । पानी रोगों को ही नहीं, क्रोध को भी दूर कर देता है । वस्तुतः स्वास्थ्य को प्राप्त कराके जल मन को भी स्वस्थ बनाते हैं । मन के स्वस्थ होने पर सब दुरित दूर ही रहते हैं । २. हे जलो ! **यद् वा**=और जो **अहम्**=मैं **अभिदुद्रोह**=किसी के प्रति द्रोह करता हूँ, ये जल उस द्रोह-भाव को भी दूर करें । हमारे मनों में किसी की जिघांसा की भावना न हो । ३. **यद् वा**=और जो मैं **शेपे**=क्रोध में आक्रोश कर बैठता हूँ, किसी को शाप देने लगता हूँ, उस वृत्ति को भी दूर करो **उत**=और **अनृतम्**=मेरे जीवन में न चाहते हुए भी आ जानेवाले असत्य को भी मुझसे दूर करो ।

भावार्थ—जल शारीरिक रोगों की औषध तो हैं ही, ये मानस रोगों को भी दूर करनेवाले हैं ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

पयस्वान् अग्नि

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि । पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा ॥२३॥

१. **अद्य**=आज **आपः अनु अचारिषम्**=जलों को शास्त्रविधि के अनुसार—प्रभु के निर्देश के अनुसार सेवित करता हूँ और **रसेन**=रस से **समगस्महि**=हम सङ्गत होते हैं । जलों को रस लेकर पीना ही उनका सर्वोत्तम पीने का प्रकार है । गटागट पानी को अन्दर डाल देना ठीक नहीं है । २. हे **पयस्वान्**=प्रशस्त जलों से युक्त **अग्ने**=अग्निदेव **आगहि**=तुम मुझे प्राप्त होओ । यहाँ स्पष्ट ही सूर्य-रश्मियों से भावित जल का संकेत है, अर्थात् रश्मियों के रंगों से सभी प्रकार के रोग कट जाते हैं, क्योंकि कुछ रंग ठण्डे, कुछ गर्म और कुछ समप्रभावी होते हैं । यहाँ जल को अग्निवाला नहीं कहा, अपितु अग्नि को जल-वाला कहा गया है । यह अग्नि अन्दर के मलों को भस्म करेगा, जल उनको बहा ले-जाएगा । हे जलयुक्त अग्ने ! **तम् मा**=उस शास्त्रविधि के अनुसार तेरा सेवन करनेवाले मुझको **वर्चसा**=वर्चस् से **संसृज**=संसृष्ट कर, मुझे वर्चस्वी बना । वर्चस् वह शक्ति है जोकि रोगों से मुकाबिला करती है और रोगकृमियों के नाश से रोगों को समूल नष्ट करके हमें तेजोयुक्त करती है ।

भावार्थ—'पयस्वान् अग्नि' के ठीक प्रयोग से हम वर्चस्वी बनें ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

वर्चस्-प्रजा व आयुष्य

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा । विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥२४॥

१. हे **अग्ने**=अग्निदेव ! गत मन्त्र में वर्णित पयस्वान् अग्ने ! **मा**=मुझे **वर्चसा**=वर्चस् से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए, **प्रजया संसृज**=उत्तम प्रजा से संसृष्ट कीजिए, **आयुषा संसृज**=उत्तम आयु व दीर्घजीवन से संसृष्ट कीजिए । सूर्य-रश्मि-भावित जल के ठीक प्रयोग से 'वर्चस्, प्रजा व आयुष्य, की प्राप्ति होती है । २. सूक्त की समाप्ति पर केवल 'अग्ने' शब्द के प्रयोग से यहाँ 'परमात्मा' का ग्रहण भी उचित हो सकता है कि हे प्रभो ! मुझे वर्चस्, प्रजा व आयुष्य से संसृष्ट कीजिए । यह प्रार्थना सुनकर प्रभु

कहते हैं कि **मे**=मेरे **अस्य**=इस 'वर्चस्, प्रजा व आयुष्य' को **देवाः**=देव लोग ही **विद्युः**=जान अर्थात् देव =जलाग्नि-गुण-ज्ञाता बनकर ही कोई व्यक्ति इस प्रकार वर्चस्वी, प्रजावान् व दीर्घायु बन सकता है। ऐसा बनने के लिए मन में दिव्य भावनाओं का होना आवश्यक है। विपरीताग्नियाँ मनुष्य को अन्दर ही अन्दर जला देती हैं। ३. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **ऋषिभिः सह**=[**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**—यजु०। **कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**—अथ०] श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के साथ **विद्यात्**=इन वर्चस्, प्रजा व आयुष्य वर्द्धक जलाग्नि-विज्ञान को जानें। इनकी प्राप्ति के लिए जितेन्द्रिय और ज्ञानप्रधान बनना आवश्यक है।

भावार्थ—देव बनकर मैं वर्चस्वी बनूँ। इन्द्र बनकर मैं प्रजावान् बनूँ और ऋषि बनकर मैं दीर्घायु को प्राप्त करूँ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ प्राणसाधना द्वारा तथा क्रियाशील बने रहकर सोमपान करने से हुआ है (१)। इस सोमपान के लिए जितेन्द्रिय बनना आवश्यक है (२)। स्नेह व अद्वेष इस सोमपान में सहायक हैं (४)। इन्द्र [जीवात्मा] मरुतों [प्राणों] के साथ सोमपान द्वारा आनन्दित होता है (६)। इन प्राणों ने ही सब आसुरी भावनाओं को पराजित करना है (११)। हम इस सात्त्विक वृत्ति के लिए जौ-शहद-दूधादि का प्रयोग करें (१५-१६)। और जलों के ठीक प्रयोग से नीरोगता व निर्मलता को प्राप्त करते हुए (२१-२३) वर्चस्, प्रजा व आयुष्य से संयुक्त हों (२४)। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनाकर प्रजापति के नाम का मनन करें।

[अथ षष्ठोऽनुवाकः] [२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

क-कतम

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑।
को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात्पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥१॥

१. **नूनम्**=अब जीवन को नीरोग व निर्मल बनाकर हम **कस्य**=उस अनिर्वचनीय प्रजापति के **अमृतानाम्**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले देवों में **कतमस्य**=अत्यन्त आनन्दमय **देवस्य**=सब दिव्य गुणों से युक्त प्रभु के **चारु नाम**=सुन्दर नाम का **मनामहे**=अभ्यास व उच्चारण करते हैं। प्रभु का यह नाम-स्मरण मुझे निर्मल व नीरोग बनाये रखेगा। २. **कः**=वह अनिर्वचनीय प्रभु **नः**=हमें **मह्यै+अदितये**=महनीय=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अखण्डन व जीवन के लिए **पुनः**=फिर **दात्**=देता है, ताकि मैं **पितरम् च**=पिता को और **मातरम् च**=माता को **दृशेयम्**=देख सकूँ। ३. विषयों में फँसकर हमारा दृष्टिकोण बड़ा विचित्र हो जाता है, हमारा ज्ञान लुप्त-सा हो जाता है और हम उस सबके माता-पिता प्रभु को तो देख ही क्या पाते हैं, सांसारिक माता-पिता को भी नहीं देखते; केवल अपने सुख का ही ध्यान करते हैं। उस समय हमारा जीवन महनीय नहीं रहता, उसका सब सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। ४. यदि हम प्रभु-नामस्मरण से पृथक् नहीं हो जाते तो हमें जन्म मिलता भी है तो बड़ा सुन्दर। इस जीवन को प्राप्त करके हमारा प्रयत्न सबकें माता-पिता प्रभु के दर्शन के लिए होता है।

भावार्थ—हम 'क-कतम' देव के सुन्दर नाम का स्मरण करते हैं, ताकि हमें महनीय जीवन ही प्राप्त हो।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः । देवता—अग्निः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

'अग्नि' नाम का स्मरण

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च ॥२॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही पुनः कहते हैं कि **वयम्**=हम **अग्नेः**=अग्नि के, सारे संसार के अग्रेणी उस प्रभु के **अमृतानां प्रथमस्य**=देवताओं में प्रथम स्थान में स्थित प्रभु के **देवस्य**=दिव्यगुणों से युक्त, प्रकाशमय, सब-कुछ देनेवाले प्रभु के **चारु नाम**=सुन्दर नाम का **मनामहे**=उच्चारण करते हैं अर्थात् प्रभु का स्मरण करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **मह्या अदितये**=महनीय, उत्कृष्ट जन्म के **दात्**=देनेवाले हैं, जिससे उस उत्कृष्ट जीवन में हम **पुनः**=फिर **पितरम् च**=पिता को और **मातरम् च**=माता को **दृशेयम्**=देखनेवाले बनें। जिस समय एक बालक माता-पिता की आँखों से ओझल होता है, उसी समय वह मार्गभ्रष्ट हुआ करता है। इसी प्रकार हमारे जीवनों में भी हम प्रभु को भूले और भटके। प्रभु का स्मरण हमें भटकने से बचाता है। ३. यह संसार इतना चमकीला व आकर्षक है कि इसमें न फँसना कठिन ही है। बस प्रभु का नामस्मरण ही हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है कि हम इस संसार में उलझते नहीं।

भावार्थ—हम 'अग्नि' नामक प्रभु का स्मरण करते हुए निरन्तर आगे बढ़ें और विषयासक्ति से सदा बचे रहें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः । देवता—सविता भगो वा । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

वार्य वस्तुओं के ईशान

अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम् । सदावन्भागमीमहे ॥३॥

१. हे **देव**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो ! **सवितः**=हृदयस्थरूपेण सदा उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करानेवाले प्रभो ! हम गत मन्त्रों के अनुसार 'क-कतम-अग्नि व प्रथम देव' आदि नामों से आपका स्मरण करते हुए **त्वा अभि**=आपकी ओर ही आते हैं। हम आपसे दूर नहीं होते। २. हे **सदावन्**=[सदा-अवन्] सदा रक्षा करनेवाले प्रभो ! **वार्याणाम् ईशानम्**=वरणीय वस्तुओं के स्वामी आपको **भागम्**=भजनीय धन के लिए **ईमहे**=प्रार्थना करते हैं। आप हमें रक्षा के लिए आवश्यक वरणीय पदार्थ प्राप्त कराएँगे ही। ३. इन धनों को प्राप्त करते हुए हम इस बात को भूल न जाएँ कि इनके स्वामी आप ही हैं, हमें इन धनों का गर्व न हो जाए। इनमें फँसकर हम आपको ही न भूल जाएँ। यदि दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ तो ये धन हमारे निधन का ही कारण होंगे।

भावार्थ—हे प्रभो ! हम सदा आपको अपना लक्ष्य रखें। आपसे ही भजनीय धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः । देवता—सविता भगो वा । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

उत्तम धन

यश्चिद्धि त इत्था भगः शशमानः पुरा निदः । अद्वेषो हस्तयोर्दधे ॥४॥

१. हे प्रभो ! आपकी कृपा से मैं **हस्तयोः दधे**=हाथों में धारण करता हूँ, उस धन को (क) **यः भगः**=जो धन कि **चित् हि**=पूर्ण निश्चय से **इत्था ते**=सचमुच तेरा ही है अर्थात् जिस धन के स्वाभाविक प्रभु तो आप ही हैं। मैं तो उस धन को आपका मानता हुआ अपने को उसका रक्षकमात्र (Trustee) समझता हूँ। (ख) **शशमानः**=[शस्यमानः] जो धन सदा प्रशंसित किया जाता है अर्थात् जो निन्दनीय नहीं है अथवा जो धन प्लुत गतिवाला है अर्थात् आलस्यशून्य क्रियाशीलता के द्वारा प्राप्त किया गया है। २. (ग) **पुरा निदः**=जो निन्दा से पहले है अर्थात् जो कभी निन्दित नहीं होता अर्थात् जिसे हम निन्दनीय उपायों से तो कमाते ही नहीं, जिसे हम निन्द्य प्रकार से व्यय भी नहीं करते। (घ) **अद्वेषः**=जिस धन में किसी प्रकार का द्वेष नहीं है, जिस धन के कारण हमारा आपस में प्रेम नष्ट नहीं हो जाता। ३. स्पष्ट है कि उत्तम धन वही है कि जो हमें स्वामित्व के गर्ववाला नहीं कर देता, जो पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता है, जो कभी लोकनिन्दा का पात्र नहीं बनता तथा जिसके कारण परस्पर प्रीति में कमी नहीं आ जाती।

भावार्थ—हम धनों का गर्व न करें, पुरुषार्थ से उन्हें प्राप्त करें, अनिन्द्य प्रकार से प्रयुक्त करें, उन्हें प्रीतिविवर्धन का साधन बनाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—सविता भगो वा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धन के शिखर पर

भगभक्तस्य ते वयमुदशेम तवावसा। मूर्धानं राय आरभे ॥५॥

१. हे [सवितः]=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **भगभक्तस्य**=धनों का विभाग करनेवाले **ते**=आपका **वयम्**=हम **उद् अशेम**=उत्कर्षेण व्यापन करें अर्थात् हम इन धनों में आसक्त होने से ऊपर उठकर आपके उपासक बनें। २. हे प्रभो! **तव, अवसा**=आपके रक्षण से ही तो मैं **रायः**=धन के **मूर्धानम्**=शिखर को **आरभे**=(to reach or attain to) प्राप्त करता हूँ, धन पर आरूढ़ होता हूँ और धन पर आरूढ़ होकर अपनी जीवन-यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण कर सकता हूँ। धन का पति बनकर लक्ष्मी-पति विष्णु के समान बननेवाला होता हूँ। ३. आपके रक्षण से दूर होते ही यह धन मुझपर सवार हो जाता है और मैं लक्ष्मी का वाहन उल्लू बन जाता हूँ, मेरा ज्ञान नष्ट हो जाता है और मेरा अन्त निधन =मृत्यु में होता है। मैं जीवनभर धन का दास बना रहता हूँ, धन-निर्माण का यन्त्र-सा (Money-making machine) हो जाता हूँ, अतः हे प्रभो! मुझे आपका रक्षण सदा प्राप्त हो और मैं धन के शिखर पर रहूँ।

भावार्थ—हम धनों के विभक्ता प्रभु का उपासन करें, प्रभु-रक्षण से धन के शिखर पर हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अनन्त बल, सहनशक्ति व ज्ञान

नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम् ॥६॥

१. 'शुनःशेप' वरुण का स्तवन करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! **ते क्षत्रम्**=तेरे बल को, **सहः**=सहनशक्ति को व **मन्युम्**=ज्ञान को **अमी**=ये **पतयन्तः**=उड़ते हुए **वयश्चन**=पक्षी भी **नहि आपुः**=

नहीं प्राप्त कर सकते। उड़ते हुए पक्षी यदि प्रभु के बल, सहनशक्ति व ज्ञान के ओर-छोर को पाने की कामना करें तो यह उनके लिए सम्भव नहीं है। उस प्रभु का बल, शक्ति व ज्ञान सब अनन्त है। २. **इमाः**=ये **अनिमिषम्**=बिना पलक मारे, निरन्तर **चरन्तीः**=चलते हुए **आपः**=जल भी **न**=आपकी शक्ति व ज्ञान के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकते। ३. **वातस्य**=वायु के **अभ्वम्**=वेग को **ये**=जो **प्रमिनन्ति**=हिंसित करते हैं अर्थात् उससे भी अधिक वेगवान् होते हैं वे भी **न**=प्रभु के बल व ज्ञान का अन्त नहीं पा सकते।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति व ज्ञान अनन्त है; पक्षियों की उड़ान, जलों के निरन्तर प्रवाह व वायु के वेगों से उनके ओर-छोर का पाना सम्भव नहीं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु का विद्युद्दीप=सूर्य

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः ॥७॥

१. वह **राजा**=सारे संसार को व्यवस्था में चलानेवाला **पूतदक्षः**=पवित्र बलवाला अथवा हमारे बलों को पवित्र करनेवाला **वरुणः**=सबका नियामक प्रभु **अबुध्ने**=मूलरहित अन्तरिक्ष प्रदेश में **वनस्य**=वननीय तेज के सेवन के योग्य रश्मियों के **स्तूपम्**=संघभूत सूर्य को **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **ददते**=धारण करता है। प्रभु ने ब्रह्माण्ड में प्रकाश को फैलाने के लिए ऊपर द्युलोक में सूर्य को धारण किया है। २. इस सूर्य की रश्मियाँ **नीचीनाः**=[वि अञ्चन्ति] नीचे की ओर आनेवाली होकर **स्थुः**=उस सूर्य में ठहरती हैं। **एषाम्**=इनका **बुध्नः**=मूल **उपरि**=ऊपर है। ऊपर से जैसे कोई विद्युद्दीप [Torch] के प्रकाश को नीचे की ओर छोड़े उसी प्रकार यह सूर्य प्रभु की Torch [विद्युद्दीप] ही तो है। प्रभु इससे किरणों को नीचे इस पृथिवीलोक पर छोड़ता है। ३. छोड़ता इसलिए है कि **अस्मे अन्तः**=हमारे अन्दर **केतवः**=[प्रज्ञापकाः प्राणाः, सा०] प्रकाश की किरणें व प्राणदायी तत्त्व, रोगनाशक तत्त्व **निहिताः स्युः**=स्थापित हों। सूर्य-किरणें केवल प्रकाश प्राप्त कराएँ, ऐसी बात नहीं है, ये किरणें हमारे अन्दर प्राणदायी तत्त्वों को भी स्थापित करती हैं। वस्तुतः सूर्य तो है ही प्राण—'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**।' तेल मलकर सूर्य-किरणों में बैठा जाए तो सारी त्वचा के साथ-साथ 'विटामिन डी' पैदा हो जाता है।

भावार्थ—सूर्य भी एक अद्भुत वस्तु है। यह प्रभु का मानो विद्युद्दीप है। इसकी किरणें नीचे आ रही हैं। ये हमें प्रकाश व प्राणशक्ति प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

हृदय रोगों का प्रतिकार [चिकित्सा]

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ॥८॥

१. **राजा वरुणः**=उस नियामक वरुण ने **सूर्याय अन्वेतवा उ**=सूर्य के चलने के लिए **हि**=निश्चय से **उरुम्**=विशाल **पन्थाम्**=मार्ग को **चकार**=बनाया है। लगभग ६० करोड़ मील का यह मार्ग है जिसमें

सूर्य गति करता है। २. **उ**=और **अपदे**=जहाँ पाँव रखने का स्थान नहीं है उस आकाश में **पादा प्रति धातवे**=पाँव को रखने के लिए **अकः**=उस प्रभु ने व्यवस्था की है और यह सूर्य जब इस ज्योतिश्चक्र में अगला-अगला कदम रखता है तो उस दिन को हम लोक में संक्रान्ति कहते हैं। ३. **उत**=और यह सूर्य **हृदयाविधः**=हृदय को विद्ध करनेवाली बीमारियों को **चित्**=निश्चय से **अपवक्ता**=झिड़ककर दूर भगा देनेवाला है। सूर्याभिमुख होकर प्रभु का ध्यान करने से छाती पर पड़नेवाली सूर्य-किरणें हृदय के सब रोगों को दूर करती हैं। **'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।'** उदय होता हुआ सूर्य कृमियों को नष्ट करता है और अस्त होता हुआ सूर्य भी रश्मियों से कृमियों को नष्ट करे।

भावार्थ—प्रभु द्वारा आकाश में स्थापित सूर्य हृदय के रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्।
स्वरः—धैवतः।

औषध व औषधज्ञान

शतं ते राजन्भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥९॥

१. **राजन्**=सबको व्यवस्थित करनेवाले हे प्रभो! **ते**=आपकी **भिषजः**=ओषधियाँ **शतम्**=सैकड़ों हैं, **सहस्रम्** हजारों हैं। प्रभु के बनाये हुए सभी वानस्पतिक पदार्थ औषधरूप हैं। २. परन्तु इन ओषधियों का समुचित प्रयोग ज्ञान के बिना सम्भव नहीं, अतः कहते हैं कि—हे प्रभो! **ते**=आपका **उर्वी**=विशाल **गभीरा**=गम्भीर **सुमतिः**=उत्तम ज्ञान भी **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। ३. ज्ञान के द्वारा इन औषधों का ठीक प्रयोग करवाकर हे प्रभो! आप **निर्ऋतिम्**=रोगादि के कारण होनेवाली दुर्गति को **पराचैः**=पराङ्मुख गमनों से **दूरे बाधस्व**=हमसे दूर ही रोक दीजिए। रोग हमारे पास फटकें ही नहीं। दूसरे शब्दों में ये औषधद्रव्य रोगों का प्रतिकार [cure] ही नहीं करते, वे उन्हें आने से रोकनेवाले भी हैं [Preventive]। ४. हे प्रभो! इस ज्ञान के द्वारा **कृतं चित् एनः**=उस पाप को जिसका कि हमें कुछ अभ्यास-सा पड़ गया है, **अस्मत्**=हमसे **प्रमुमुग्धि**=छुड़ा दीजिए। ज्ञान हमारे शारीरिक रोगों का ही निवर्तक न हो, यह हमारे मानस रोगों को भी दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—हमें वरुण के औषध-द्रव्य प्राप्त हों, साथ ही गम्भीर ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञान द्वारा औषध-प्रयोग से हम शारीरिक कष्टों को अपने से दूर करें और अभ्यस्त अशुभवृत्तियों को भी छोड़ पाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्।
स्वरः—धैवतः।

सृष्टि का वैचित्र्य

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥१०॥

१. संसार में एक-एक वस्तु अद्भुत है। प्रभु की बनाई हुई प्रत्येक कृति उसकी विभूति है, परन्तु प्रकृति-निरीक्षण करनेवाले को यह विचित्र प्रतीत होता है कि **अमी ये**=जो वे **ऋक्षाः**=तारे **उच्चा निहितासः**=ऊपर आकाश में रखे हुए हैं **नक्तम् ददृश्रे**=अरे, रात को दिखते थे, ये सब तारे **दिवा**=दिन

में **कुह चित्**=कहाँ **ईयुः**=चले गये ? ये तो अब दिख नहीं रहे, यह हुआ क्या ? रात में सारे आकाश को इन्होंने आवृत किया हुआ था। टिमटिमाते हुए ये तारे उस प्रभु का स्तवन कर रहे थे, ये गये कहाँ ? २. इस प्रश्न का स्वयं उत्तर देते हुए वह अपने से ही कहता है कि **वरुणस्य**=उस सारे ब्रह्माण्ड के नियामक प्रभु के **व्रतानि**=व्रत **अदब्धानि**=अहिंसित हैं। प्रभु के नियमों को कौन तोड़ सकता है ? देखो न, यह **विचाकशत्**=अत्यन्त चमकता हुआ **चन्द्रमाः**=चाँद **नक्तम्**=रात्रि में **एति**=फिर आ जाता है।

भावार्थ—यह सारा कितना सुन्दर काव्य है कि रात में चमकते तारे न जाने दिन में कहाँ छिप जाते हैं और फिर रात में चमकता हुआ चन्द्रमा उदय हो जाता है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुकृपा व दीर्घायुष्य

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः ॥११॥

१. स्तुति करते हुए भक्त कहता है कि **ब्रह्मणा**=स्तोत्रों से **वन्दमानः**=स्तवन करता हुआ मैं **त्वा**=आपसे **तत् यामि**=यही याचना करता हूँ और **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन से **तत्, आशास्ते**=वही बात कहता है कि हे **वरुण**=सारे ब्रह्माण्ड के नियामक प्रभो ! **इह**=इस जीवन में **अहेळमानः**=हमपर किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए **बोधि**=हमारा ध्यान करिए [Look after us] और हे **उरुशंस**=खूब स्तुति के योग्य प्रभो ! **नः आयुः**=हमारी आयु को **मा प्रमोषीः**=मत चुरने दीजिए अर्थात् हमारी आयु को चूने मत दीजिए, क्षीण मत होने दीजिए। २. हम यज्ञों व ज्ञानों को इसीलिए प्राप्त करते हैं कि हम वरुण के क्रोध-पात्र न हों और हमारा जीवन दीर्घ हो।

भावार्थ—हम मन्त्रों व ज्ञानों से तथा यजमान बनकर हवियों से प्रभु की अर्चना करते हुए यही चाहते हैं कि हम प्रभु के प्रिय बने रहें और दीर्घायु हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुस्तवन व मुक्ति

तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।
शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु ॥१२॥

१. **तत् इत्**=यह वरुण स्तवन की बात ही **नक्तम्**=रत्रि में **तत् दिवा**=उसी स्तवन की बात को दिन में **मह्यम्**=मुझे **आहुः**=सब विद्वान् कहते हैं अर्थात् दिन-रात सभी विद्वान् यही कहते हैं कि 'वरुण का ही स्तवन करना चाहिए।' २. **अयम्**=यह **हृदः केतः**=मेरे अपने हृदय का ज्ञान भी **तत्**=इसी वरुणस्तवन की बात को **आविचष्टे**=बारम्बार कहता है। ३. अतः मैं तो यही कहता हूँ कि **शुनःशेपः**=अपने-आपको सुखी बनाने की इच्छावाला यह पुरुष **गृभीतः**=इन विषयों से पकड़ा हुआ **यम्**=जिस वरुण को **अह्वत्**=पुकारता है, **सः वरुणः राजा**=वह नियामक प्रभु **अस्मान्**=हमें **मुमोक्तु**=इन विषय-बन्धनों से मुक्त करे। ४. संसार के विषय इतने अधिक आकर्षक व प्रबल हैं कि प्रभु-कृपा से ही हम इनके बन्धनों से छूट सकते हैं, अतः हम निरन्तर प्रभु-स्तवन करते हुए इनसे बचने के लिए प्रयत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभुस्तवन ही हमें विषय-बन्धन से छुड़ा सकता है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्।
स्वरः—धैवतः।

तीन बन्धन

शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान् ॥१३॥

१. 'संसार' शब्द 'सृ गतौ' धातु से बना है। 'जगत्' 'गम् गतौ' से तथा 'द्रु' 'द्रु गतौ' से। एवं 'द्रु' का अभिप्राय यहाँ संसार है। इस संसार के तीन 'पद'=स्थान 'सत्त्व, रज व तम' हैं। ये तीनों मनुष्य को बाँधते हैं। इनके बन्धन से पीड़ित होकर वह **'शुनःशेपः'**=सुख के निर्माण को चाहनेवाला **पुरुष हि**=निश्चय से **त्रिषु, द्रुपदेषु**=इन तीनों संसार के स्थानों में **बद्धः**=बँधा हुआ **गृभीतः**=उनसे जकड़ा हुआ **आदित्यम्**=उस आदित्य को [**अविद्यमानादितिर्यस्मात्**] जिससे खण्डन का सम्भव ही नहीं उस वरुण को **अह्वत्**=पुकारता है। मनुष्य विवश होने पर तो प्रभु का स्मरण अवश्य करता है। २. जब वह 'शुनः-शेप' पुकारता है तो **राजा वरुणः**=वह व्यवस्थापक प्रभु **एनम्**=इस बद्ध पुरुष को **अवससृज्यात्**=इन बन्धनों से छुड़ाए। ३. यह बन्धनों से छूटा हुआ **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **अदब्धः**=स्वयं विषयों से हिंसित न होता हुआ **पाशान्**=सब जालों को **विमुमोक्तु**=छुड़ा दे। प्रभु ने इसे मुक्त किया। यह ज्ञान देकर औरों को मुक्त करनेवाला बने। इस प्रकार यह थोड़ा-सा प्रभु-ऋण से अनृण हो जाएगा अथवा प्रभु के निर्देशों का पालन करता हुआ प्रभु का प्रिय बन पाएगा।

भावार्थ—प्रभु हमें बन्धन-मुक्त करें तथा हम औरों को बन्धन-मुक्त करने का प्रयास करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्।
स्वरः—धैवतः।

प्रभु के क्रोध से बचना व पापों से दूर होना

अव ते हेळो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ॥१४॥

१. हे **वरुण**=सब बन्धनों के निवारण करनेवाले प्रभो! **ते हेळः**=आपके क्रोध को **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा अथवा नम्रता-धारण के द्वारा **अव, ईमहे**=दूर हुआ-हुआ चाहते हैं अथवा दूर करते हैं। २. **यज्ञेभिः**=देवपूजा, संगतीकरण व दानों के द्वारा **अव** [ईमहे]=आपके क्रोध को दूर करते हैं तथा ३. **हविर्भिः**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **अव**=आपके क्रोध को हटाते हैं। ४. हे **क्षयन्**=हमारे अन्दर निवास करते हुए सब गतियों के करनेवाले प्रभो! हे **असुर, अस्मभ्यम्**=हमारी सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले प्रभो! अथवा प्राणशक्ति का हममें सञ्चार करनेवाले प्रभो! [असून् राति] **प्रचेतः**=प्रकृष्ट चेतनावाले प्रभो! **राजन्**=हमारे जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले प्रभो! **कृतानि**=अभ्यस्त **एनांसि**=पापों को **शिश्रथः**=शिथिल करने की कृपा करिए। वस्तुतः पापों को ढीला करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) गतिशील बनें (क्षयन्), (ख) प्राणशक्ति-सम्पन्न हों (असुर), (ग) ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न करें (प्रचेतः), (घ) जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न करें [राजन्]।

भावार्थ—हम नम्रता, यज्ञ व हवि द्वारा प्रभु के क्रोध को दूर करें। गतिशील, प्राणशक्ति-सम्पन्न, ज्ञानी व व्यवस्थित जीवनवाले बनकर हम अपनी पाप करने की आदत को दूर करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'उत्तमाधम मध्यम' पाश

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥१५॥

१. हे **वरुण**=सब पापों का विनाश करनेवाले प्रभो! **उत्तमम्, पाशम्**=सत्त्व गुण के उत्कृष्ट पाश को, 'सत्त्वं सुखे संजयति', 'सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ' अर्थात् सुख व ज्ञान के संग को **उत् श्रथाय**=हमें उनसे ऊपर उठाकर ढीला कर दो अर्थात् हम आपकी कृपा से सुखसङ्ग व ज्ञानसङ्ग से भी ऊपर उठें। २. **अधमम् पाशम्**=तमोगुण के प्रमाद, आलस्य व निद्रा रूप बन्धन को **अवश्रथाय**=हम से दूर [away] कीजिए। ३. आप कृपा करके **मध्यमम् पाशम्**=रजोगुण के कर्मसङ्ग को [रजः कर्मणि भारत] भी **विश्रथाय**=विशेष रूप से ढीला करिए। हम कर्म के अभिमान से ऊपर उठें। हम अहंकार-विमूढात्मा बनकर अपने को ही कर्ता न मानते रहें। ४. इस प्रकार सब बन्धनों के ढीले हो जाने पर **अथा**=अब **वयम्**=हम हे **आदित्य**=हमें खण्डन व विनाश से बचानेवाले प्रभो! **तव व्रते**=आपके व्रतों में चलते हुए **अनागसः**=निष्पाप होकर **अदितये**=अविनाश व मोक्ष के लिए **स्याम**=हों। यहाँ 'आदित्य' वरुण का ही नाम है। 'वरुण' हमें व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधने का निर्देश करते हैं। हमारा जीवन व्रती होगा तो ये उत्तम, मध्यम व अधम सभी पाश टूट सकेंगे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे सारे बन्धन ढीले हो जाएँ, इसके लिए व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधें।

सूक्त का आरम्भ प्रभु के नामस्मरण से होता है, जो प्रभु हमें महनीय जीवन प्राप्त कराते हैं (१), वे प्रभु ही हमें भजनीय धनों को भी देते हैं (३)। उस प्रभु का बल, सहनशक्ति व ज्ञान अनन्त है (६)। सूर्य प्रभु का वह विद्युद्दीप [Torch] है, जिससे कि किरणों के द्वारा वे प्रकाश व प्राण-शक्ति को नीचे भेजते हैं (७)। सूर्यकिरणें हृदयरोग को दूर करनेवाली हैं (८)। एक-एक वनस्पति औषध है, इनका ज्ञान प्राप्त करके हम इनके उपयोग से आधि-व्याधियों से ऊपर उठते हैं (९)। क्या तारे क्या चन्द्र—ये प्रभु की अद्भुत विभूतियाँ हैं (१०)। हम प्रभु से यही चाहते हैं कि हम प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें (११)। वस्तुतः प्रभु ही हमें पापों से मुक्त करेंगे (१२)। वे ही हमारे त्रिविध बन्धनों को ढीला करेंगे (१५)। अब कहते हैं कि हम प्रभु के व्रतों को तोड़ते भी हैं तो हे प्रभो! आपकी ही तो प्रजा हैं। आप ही तो हमें ठीक करेंगे—

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

स्खलनशीलो मनुष्यः To err is human

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि ॥१॥

१. हे **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **देव**=सब पापों पर विजय करनेवाले

प्रभो ! [दिव् विजिगीषा]। **यत् चित् हि**=जिस किसी भी **व्रतम्**=व्रत को हम **द्यविद्यवि**=प्रतिदिन **प्रमिनीमसि**=हिंसित करते व तोड़ते हैं, वह सब **ते विशः यथा**=जैसे तेरी प्रजाएँ हों, इस रूप में ही तो करते हैं। २. जैसे एक राजा व्रतों को तोड़नेवाली प्रजाओं को, उनके प्रमादादि दोषों को दूर करके धर्मयुक्त जीवनवाला बनाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार प्रभु भी अपनी प्रजाओं के दोषों को उत्तम प्रेरणादि उपायों से दूर करते हैं। ३. मनुष्य में एक स्वाभाविक न्यूनता व अल्पता है, उसके कारण उससे ग़लती हो ही जाती है। प्रभुकृपा ही हमें उन ग़लतियों से बचाती है।

भावार्थ—मनुष्य स्खलनशील है, प्रभुकृपा ही उसे पाप से बचाती है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

न घृणा न क्रोध

मा नो॑ व॒धाय॑ ह॒त्नवे॑ जिहीळा॒नस्य॑ रीरधः। मा हृ॑णा॒नस्य॑ म॒न्यवे॑ ॥२॥

हे वरुण ! **नः**=हमें **जिहीळानस्य**=घृणा करनेवाले के **वधाय**=वध के लिए अथवा **हत्नवे**=मारपीट के लिए **मा रीरधः**=मत सिद्ध करिए और **हृणानस्य**=क्रोध करनेवाले के **मन्यवे**=क्रोध के लिए भी **नः**=हमें **मा रीरधः**=मत सिद्ध करिए अर्थात् घृणा करनेवाले लोग औरों के वध व घातपात में लगे रहते हैं। हम उनकी भाँति घृणा से परिपूर्ण हृदयवाले होकर औरों का वध व घातपात न करते रहें और न ही क्रोधी बनकर सदा औरों पर क्रोध बरसाते रहें।

भावार्थ—हम घृणा व क्रोध से ऊपर उठें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु में मन को बाँधना

वि मृ॑ळी॒काय॑ ते॒ मनो॑ र॒थीरश्वं॒ न सन्दि॑तम्। गी॒र्भिर्व॑रुण सीमहि ॥३॥

१. भक्त वरुण से कहता है कि उसने **मृळीकाय**=सुख के लिए **मनः**=अपने मन को **ते**=तेरे साथ **सन्दितम्**=बाँधा है, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **रथी**=रथवान् **अश्वम्**=घोड़े को रथ के साथ बाँधता है। २. हे **वरुण**=सब कष्टों को रोकनेवाले प्रभो ! **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा अथवा स्तुति-वाणियों के द्वारा हम मन को आपके साथ **विसीमहि**=विशेषरूप से बाँधते हैं। कल्याण इसी में है कि हम अपने मन को प्रभु के साथ जोड़ें। जोड़ने का साधन यही है कि हम ज्ञान व स्तुति की वाणियों को अपनावें।

भावार्थ—हम अपने मनों को ज्ञान व स्तुतिवाणियों के द्वारा प्रभु से जोड़ें—यही सुखप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उत्तम जीवन की प्राप्ति

परा॒ हि मे॒ विम॑न्यवः॒ पत॑न्ति॒ वस्य॑इष्टये। वयो॒ न व॑स॒तीरुप॑ ॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब मैं अपने मन को प्रभु के साथ बाँधता हूँ तो **मे**=मेरी **विमन्यवः**=क्रोध से रहित बुद्धियाँ **वस्यः**=अतिशयेन वसुमान् अर्थात् उत्तम निवासक तत्त्वोंवाले जीवन की **इष्टये**=प्राप्ति के लिए **हि**=निश्चयपूर्वक **परापतन्ति**=विषयों से पराङ्मुख होकर आपकी ओर आती हैं। २. मेरी वृत्तियाँ उसी प्रकार हे वरुण ! आपकी ओर आती हैं **न**=जैसे कि **वयः**=पक्षी **वसतीः उप**=अपने निवास-स्थानों की ओर आते हैं। पक्षी थक-थकाकर अथवा किसी से भयभीत होकर घोंसले की ओर आता है,

इसी प्रकार जीव में विषयों से एक श्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, उनमें आनन्द के स्थान में अब क्षीणता के कारण एक निर्वेद उत्पन्न हो जाता है अथवा वह इन विषयों से भयभीत हो उठता है और उस समय उसकी वृत्तियाँ इन विषयों से पराङ्मुख होकर प्रभु की ओर दौड़ती हैं, उस समय ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है और उसका जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—मेरी वृत्तियाँ विषय-पराङ्मुख होकर प्रभु की ओर चलें। इसी में जीवन की उत्तमता तथा सच्ची शान्ति है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

बल, उन्नति व ज्ञान

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे। मृळीकायोरुचक्षसम् ॥५॥

१. गत मन्त्र का विषय-पराङ्मुख व्यक्ति कहता है कि हमारे जीवन में **कदा**=कब वह दिन आएगा जबकि हम **वरुणम्**=उस सब कष्टों का वारण करनेवाले प्रभु को **मृळीकाय**=जीवन को सुखी बनाने के लिए **आकरामहे**=सर्वथा प्राप्त करनेवाले होंगे जोकि **क्षत्रश्रियम्**=बल का सेवन करनेवाले हैं [क्षत्रं श्रयति] अर्थात् मनुष्य को सबल करनेवाले हैं, **नरम्**=(नेतारम्) हम सबको आगे ले-चलनेवाले हैं और **उरुचक्षसम्**=बहुतों के देखनेवाले हैं [बहूनां द्रष्टारम्] अथवा विस्तृत ज्ञानवाले हैं। २. जब भी ये प्रभु हमें प्राप्त होंगे, उसी दिन हमारा जीवन सबल, उन्नतिवाला व ज्ञान से परिपूर्ण होकर वास्तविक सुख से युक्त होगा।

भावार्थ—हम बल, उन्नति व ज्ञान की साधना करके ही वरुण का आराधन कर पाते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

समान, धृतव्रत, दाश्वान्

तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः। धृतव्रताय दाशुषे ॥६॥

१. एक घर में पति-पत्नी **इत्**=निश्चय से **तत्**=उस सर्वव्यापक **समानम्**=[सम्, आनयति] सम्यक् सोत्साहित व प्राणित करनेवाले प्रभु को ही **आशाते**=व्याप्त करते हैं अर्थात् सदा प्रत्येक कार्य को करते हुए प्रभु का स्मरण करते हैं, उस प्रभु को भूलते नहीं। २. **वेनन्ता**=ये दोनों उस प्रभु की ही कामनावाले होते हैं **न प्रयुच्छतः**=ये प्रमाद कभी नहीं करते। ३. प्रमादरहित होकर ये उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही मार्ग पर निरन्तर बढ़ते हैं जो प्रभु कि **धृतव्रताय**=सब व्रतों का धारण करनेवाले हैं तथा **दाशुषे**=दाश्वान्—सब-कुछ देनेवाले हैं।

भावार्थ—वह 'वरुण' नामक प्रभु 'समान, धृतव्रत व दाश्वान्' हैं। हमें प्रमादरहित होकर उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना से मार्ग पर बढ़ते चलना चाहिए।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अन्तरिक्ष व समुद्र में भी

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः ॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हम उस प्रभु की ओर चलते हैं **यः**=जोकि **अन्तरिक्षेण पतताम्**=आकाशमार्ग से जाते हुए **वीनाम्**=पक्षियों के **पदम्**=गन्तव्य मार्ग को **वेद**=जानता है और २. **समुद्रियः**=

समुद्र में गति करनेवाली **नावः**=नौकाओं को भी **वेद**=जानता है, स्थल की बातों का तो कहना ही क्या ! ३. वे वरुण 'स्थल, जल व नभ' सबमें व्याप्त हैं। वस्तुतः सर्वव्यापक होने के कारण उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। स्थान के दृष्टिकोण से वे प्रभु अनवच्छिन्न हैं, दिशाएँ उन्हें अविच्छिन्न नहीं कर सकतीं।

भावार्थ—जल, स्थल व अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त वे प्रभु सभी को जानते हैं। उस प्रभु से हम कुछ छिपा नहीं सकते। मन, वाणी और कर्म से पाप होने पर वह वरुण हमें जकड़ता ही है। आकाश में उड़कर या नाव में भागकर हम उस बन्धन से बच नहीं पाते।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सब समयों में

वेद॒ मासो॑ धृ॒तव्र॑तो॒ द्वाद॑श प्र॒जाव॑तः। वेदा॒ य उ॑प॒जाय॑ते ॥८॥

१. **धृतव्रतः**=सब व्रतों का धारण करनेवाला वह वरुण **द्वादश**=बारह **प्रजावतः**=उत्तम-उत्तम पदार्थों की उत्पत्तिवाले **मासः**=महीनों को **वेद**=जानता है और २. वह तेरहवाँ मास **यः**=जो 'अंहस्पति' नामवाला **उपजायते**=गौणरूप से प्रति तृतीय व चतुर्थ वर्ष में इन बारह के समीप उत्पन्न हो जाता है उस मलमास को भी वह वरुण **वेद**=जानता है। ३. गत मन्त्र में उस प्रभु के स्थान से अनवच्छिन्न होने का प्रतिपादन था। प्रस्तुत मन्त्र में उस प्रभु की समय से भी अनविच्छिन्नता का प्रतिपादन हुआ है। कोई भी मास प्रभु के ज्ञान से बाहर नहीं है। हम किसी भी स्थान पर किसी भी समय कुछ करेंगे तो वे प्रभु जानेंगे ही। प्रभु के ज्ञान से कोई भी वस्तु बाहर नहीं है।

भावार्थ—वे प्रभु काल से भी अनवच्छिन्न हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अलंघनीय

वेद॒ वात॑स्य वर्त॒निमु॒रोर्ऋ॒ष्वस्य॑ बृह॒तः। वेदा॒ ये अ॒ध्यास॑ते ॥९॥

१. वह वरुण **उरोः**=अत्यन्त विस्तीर्ण **ऋष्वस्य**=महान् **बृहतः**=सब वृद्धियों के कारणभूत व गुणों के दृष्टिकोण से उत्कृष्ट **वातस्य**=वायु के **वर्तनिम्**=मार्ग को भी **वेद**=जानता है। वायु अपनी तीव्र-से-तीव्र गति से चलता हुआ उस प्रभु से दूर नहीं भाग सकता। २. **ये**=जो **अधि आसते**=वेगादि गुणों के कारण वायु से भी ऊपर अधिष्ठित हैं अर्थात् वायु को भी अतिक्रान्त कर गये हैं, उन्हें भी वे प्रभु **वेद**=जानते हैं।

भावार्थ—तीव्र-से-तीव्र गति से—वायुवेग से अथवा वायु से भी अधिक वेग से जाते हुए पदार्थ प्रभु को लाँघ नहीं सकते।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु का साम्राज्य

नि ष॑साद धृ॒तव्र॑तो॒ वरु॑णः प॒स्त्या३स्वा। साम्रा॑ज्याय सु॒क्रतु॑ः ॥१०॥

१. वह **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा, शोभनप्रज्ञावाले **वरुणः**=सब अव्यवस्थाओं का निवारण करनेवाले प्रभु **धृतव्रतः**=सब व्रतों के धारण करनेवाले होकर **पस्त्यासु**=सब प्रजाओं में **साम्राज्याय**=साम्राज्य के लिए **निषसाद**=निषण्ण हैं। प्रभु हृदयस्थरूपेण सबका नियमन कर रहे हैं। [**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।**—गीता १८।६१] हृदयस्थ होकर शरीररूप यन्त्रारूढ़

सब प्राणियों को अपनी माया से प्रभु घुमा रहे हैं। प्रभु के नियमों का कोई उल्लंघन नहीं कर पाता। यदि कोई असत्य बोलता है तो वरुण के पाशों से बँधता ही है, उन पाशों से वह बच नहीं सकता।

भावार्थ—अन्तर्यामिरूपेण प्रभु सबका नियमन कर रहे हैं। प्रभु की मर्यादाओं का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विभूतियाँ

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा ॥११॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि इस ब्रह्माण्ड को वह वरुण ही शासित कर रहे हैं। वे ही सम्राट् हैं। संसार के सब पदार्थों का निर्माण करनेवाले भी वे ही हैं। **चिकित्वान्**=ज्ञानी पुरुष **विश्वानि**=सब **कृतानि**=उत्पन्न हुए-हुए **या च कर्त्वा**=और जो आगे उत्पन्न होनेवाले हैं उन **अद्भुता**=अद्भुत पदार्थों को **अतः**=उस परमात्मा से ही होता हुआ **अभिपश्यति**=सर्वतः देखता है। २. सूर्य, चन्द्र, तारों में प्रभु के नेत्र का ही अंश चमक रहा है—'**तेजस्तेजस्विनामहम्**' सब तेजस्वियों का तेज प्रभु ही हैं—'**यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवः॥**' [गीता १०।४१] सब विभूति व श्रीवाले पदार्थ उस प्रभु के तेजोंश से ही तो हुए हैं। ३. प्रभु की इन विभूतियों में प्रभु की महिमा को देखता हुआ 'शुनःशेप' प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्र, तारे आदि सब अद्भुत पदार्थ उस वरुण की ही विभूतियाँ हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुमार्गयुक्त जीवन

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्। प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१२॥

१. **सः**=वह सारे ब्रह्माण्ड का निर्माता **सुक्रतुः**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाला **आदित्यः**=जीव को खण्डन से बचानेवाला वरुण **नः**=हमें **विश्वाहा** सदा **सुपथा**=उत्तम मार्ग से युक्त **करत्**=करे अर्थात् वरुण की प्रेरणा व दण्डादि व्यवस्था से हम कुमार्ग से बचकर सदा सुमार्ग पर चलनेवाले बनें। २. इस प्रकार सुमार्ग पर चलते हुए **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को वे **प्रतारिषत्**=खूब दीर्घ करनेवाले हों। उत्तम आचरण व दीर्घजीवन का सम्बन्ध है ही। '**आचाराल्लभते ह्यायुः**=सदाचार से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है', ऐसा मनु कहते हैं।

भावार्थ—वरुण की प्रेरणा व व्यवस्था से हम सुपथ से चलते हुए दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुपथ

बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। परि स्पशो नि षेदिरे ॥१३॥

१. गत मन्त्र में सुपथ से चलने का संकेत था, प्रस्तुत मन्त्र में उस सुपथ का संकेत करते हैं—**वरुणः**=वरुण का उपासक, द्वेष का निवारण करनेवाला पुरुष [यहाँ 'वरुण' शब्द वरुण के उपासक के लिए है। वरुण का उपासक भी 'वरुण' है] **हिरण्ययम्**=ज्यतिर्मय **द्रापिम्**=कवच को **बिभ्रद्**=धारण करता हुआ होता है। 'ज्ञान' ही वह ज्योतिर्मय कवच है। '**ब्रह्म वर्म ममान्तरम्**' इस वेदवाक्य में ज्ञान को आन्तर कवच कहा है। यह वासनाओं के आक्रमण से मनुष्य की रक्षा करता है, एवं ज्ञान-प्राप्ति सुपथ

की पहली सीढ़ी है। २. **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला व्यक्ति **निर्णिजम्**=बिल्कुल शुद्ध हृदय को **वस्ते**=धारण करता है। द्वेष ही तो मन की मैल है। इसे दूर करके यह शुद्ध मन को धारण करता है। यह 'मनः शुद्धि' सुपथ की दूसरी सीढ़ी है। ३. **स्पशः**=[**हिरण्यस्पर्शिनो रश्मयः**—सा०] ज्ञान-ज्योति का स्पर्श करनेवाली ज्ञानेन्द्रियों की रश्मियाँ **परिनिषेदिरे**=इसके चारों ओर निषण्ण होती हैं अर्थात् यह इन्द्रियों को शुद्ध बनाकर उन्हें ज्ञान-प्राप्ति में लगाता है, एवं 'ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना' सुपथ की तीसरी सीढ़ी है। संक्षेप में 'बुद्धि, मन व इन्द्रियों' का शोधन, इन्हें असुरों का निवासस्थान न बनने देना ही 'सुपथ' है। इस सुपथ का आक्रमण करके ही हम दीर्घजीवी होंगे।

भावार्थ—ज्ञान हमारा दीप्तिमय कवच हो, ज्ञान द्वारा मन को हम निर्मल करें और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के कार्य में व्यापृत रहें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वरुण कौन बना : दम्भ, द्रोह, दर्प का विनाश

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्। न देवमभिमातयः ॥१४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सुपथ पर चलनेवाले लोग जीवन को श्रेष्ठ बना पाते हैं। श्रेष्ठ को ही 'वरुण' कहते हैं। यह वरुण वह है जिसे **दिप्सवः**=दम्भ की इच्छावाले लोग **न, दिप्सन्ति**=दम्भ का शिकार बनाने की कामना नहीं करते अर्थात् इसके सम्पर्क में आकर धोखा करनेवालों की धोखा करने की वृत्ति नष्ट हो जाती है। वे भी इसके जीवन से सरलता की शिक्षा लेते हैं। २. **जनानाम्**=लोगों से **द्रुह्वाणः**=द्रोह करनेवाले भी इसके सम्पर्क में आकर द्रोह से ऊपर उठ जाते हैं। यह किसी के प्रति मन में द्रोह की भावना नहीं रखता, परिणामतः 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'—इसमें अहिंसा की प्रतिष्ठा होने के कारण इसके समीप आकर लोग भी वैर को त्याग देते हैं। ३. **देवम्**=इस दिव्य वृत्तिवाले को **अभिमातयः**=अभिमान आदि शत्रुभूत वृत्तियाँ भी **न**=पीड़ित नहीं कर पातीं अर्थात् यह श्रेष्ठ जीवनवाला बनकर भी सब प्रकार के दर्प से ऊपर होता है और यही तो दिव्यता की शोभा है कि उसमें अभिमान का लेश भी नहीं होता।

भावार्थ—हम 'दम्भ, द्रोह व दर्प' से ऊपर उठकर वरुण बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यशस्वी होता

उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या। अस्माकमुदरेष्वा ॥१५॥

१. वरुण का उपासक वरुण का स्तवन करते हुए कहता है कि **उत**=और वरुण वे हैं **यः**=जोकि **मानुषेषु**=मनुष्यों में **यशः**=हमारे यश को **असामि**=पूर्ण **आचक्रे**=करते हैं। गत मन्त्र के अनुसार वरुण की उपासना करते हुए हम वरुण जैसे ही बनते हैं और 'दम्भ, द्रोह व दर्प' से ऊपर उठते हैं, ऐसा बनने पर हमारा जीवन यशस्वी बनता है। यह सब उस वरुण की कृपा से ही होता है। २. वे वरुण **अस्माकम्**=हम सबके **उदरेषु**=अन्दर **आ**=सर्वत्र विद्यमान हैं। उस वरुण के दर्शन के लिए हमें कहीं इधर-उधर थोड़े ही जाना है। वे तो अन्दर ही विद्यमान हैं। ये प्रभु ही वस्तुतः हमें पूर्ण यशस्वी बनाते हैं। इस वरुण को अन्दर अनुभव करने पर ही हम दम्भादि आसुर वृत्तियों से हिंसित नहीं होते। 'पुराण' की भाषा में ये अन्तस्थ वरुण 'दम्भासुर, द्रोहासुर व दर्पासुर' का ध्वंस कर देते हैं और परिणामतः हम 'देव' बन जाते हैं।

भावार्थ—'दम्भ, द्रोह व दर्प' से ऊपर उठकर हम देव बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—वरुणः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

वरुण की ही कामना

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु । इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥१६॥

१. **उरुचक्षसम्**=अनन्त व विस्तीर्ण ज्ञानवाले उस वरुण को **इच्छन्ति**=चाहती हुई **मे**=मेरी **धीतयः**=चित्तवृत्तियाँ **परा यन्ति**=विषयों से पराङ्मुख होकर हृदयदेश की ओर जाती हैं । मेरी वृत्तियाँ हृदयदेश की ओर उसी प्रकार जाती हैं **न**=जैसेकि **गावः**=गौएँ **गव्यूतीः, अनु**=चरागाहों को लक्ष्य करके जाती हैं । २. भूख लगी होने पर गौओं को चरागाह के अतिरिक्त कुछ सूझता नहीं । वे इधर-उधर ध्यान न करती हुई चरागाह की ओर ही बढ़ती हैं, इसी प्रकार मेरी चित्तवृत्तियाँ भी उस प्रभु की ओर ही बढ़ती हैं । उस प्रभु के सिवाय मेरी यह वृत्ति अन्यत्र नहीं जाती, उस प्रभु पर पहुँचकर ही विश्रान्त होती है ।

भावार्थ—हम विषयों से पृथक् होकर अपनी वृत्ति को 'वरुण' में ही लगाएँ । उसी का वरण करें और 'वरुण' ही बन जाएँ ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—वरुणः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

वरुण से वार्तालाप

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम् । होतेव क्षदसे प्रियम् ॥१७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार वरुण का ही वरण करनेवाला प्रभु से कहता है कि हे प्रभो ! **नु**=अब, जबकि मैं दम्भादि से ऊपर उठा हूँ (१४) । आपकी कृपा से यशस्वी जीवनवाला बना हूँ (१५) और मेरा ध्यान आपमें ही लगा है (१६), **सं वोचावहै**=आप और मैं मिलकर बातचीत करनेवाले हों । २. एक समय वह था ही जबकि ब्रह्मलोक में रहते हुए मैं आपसे उसी प्रकार बात करता था जैसे कि पुत्र पिता से । दौर्भाग्यवश मैं आपसे दूर भटक गया । 'देवलोक व देवयोनिलोक' में से होता हुआ यहाँ 'मर्त्यलोक' में आ गया । मेरी वृत्तियाँ यहाँ विषय-प्रवण हो गईं और मैं आपको भूल गया । ३. विषयों के चंगुल में से निकलकर, दम्भादि का ध्वंस करके आज मैं **पुनः**=फिर आपके समीप आया हूँ जिससे हम फिर परस्पर बात करनेवाले हो सकें । **यतः**=क्योंकि **मे मधु आभृतम्**=अब मुझमें माधुर्य ही माधुर्य भर गया है, कड़वाहट से मैं ऊपर उठ गया हूँ । न मैं किसी को धोखा देता हूँ [मुझमें दम्भ नहीं], न किसी से द्रोह करता हूँ, न ही दर्प को अपने में आने देता हूँ । माधुर्य से पूर्ण होकर आपसे बात कर सकने की योग्यता का मैंने सम्पादन किया है । ४. मुझे पूर्ण विश्वास है कि **होता इव**=सब-कुछ देनेवाले की भाँति आप ही यह उत्कृष्ट वृत्ति भी मुझे प्राप्त कराते हैं और **प्रियम्**=आपका प्रिय बना हुआ जो मैं हूँ, उसकी आप **क्षदसे**=[To protect, to cover] अपनी गोद में छिपाकर रक्षा करते हो । अब मुझपर दम्भादि का आक्रमण सम्भव ही नहीं रहता ।

भावार्थ—हम अपने जीवन में माधुर्य भरकर प्रभु से बात करने के अधिकारी बनें और उस प्रभु की रक्षा के पात्र हों ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—वरुणः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

विश्वदर्शत का दर्शन

दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि । एता जुषत मे गिरः ॥१८॥

१. वरुण का भक्त कहता है कि **नु**=निश्चय से अब मैंने **विश्वदर्शतम्**=सबसे देखने योग्य उस वरुण को **दर्शम्**=देखा है। २. मैंने इस जीवनयात्रा के **रथम्**=वाहनभूत उस प्रभु को **अधिक्षमि**=इस पार्थिव शरीर में ही **दर्शम्**=देखा है। सब चित्तवृत्तियों को विषयों से निवृत्त करके ज्योंहि मैं अन्तर्मुख यात्रा करनेवाला बना त्यों ही **दर्शम्**=उस प्रभु को मैंने देखा है। ३. इस प्रभु ने **मे**=मेरी **एताः**=इन **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **जुषत**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण किया है अर्थात् मेरी ये वाणियाँ प्रभु को प्रीणित करनेवाली हुई हैं। ४. वे प्रभु विश्वदर्शत हैं, सबसे देखने योग्य हैं अथवा सम्पूर्ण विश्व में प्रभु की महिमा दिखती है। वे प्रभु ही विश्वरूप हैं। ५. प्रभु का दर्शन शरीर में, हृदय में होता है। हृदय वह स्थान है जहाँ कि आत्मा व परमात्मा दोनों स्थित हैं। उस प्रभु का दर्शन इस भक्त को स्तुति के लिए प्रेरित करता है। यह भक्त स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता है। ये वाणियाँ प्रभु को प्रीणित करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—उस विश्वदर्शत प्रभु का मैं हृदय में दर्शन करूँ और उसके लिए स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता हुआ उसे आराधित करूँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

स्तुतिवाणियाँ

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय। त्वामवस्युरा चके ॥१९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला निवेदन करता है कि हे **वरुण**=सब कष्टों व पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **मे**=मेरी **इमम्, हवम्**=इस पुकार को **श्रुधी**=सुनिए **च**=और **अद्या**=आज ही **मृळय**=मुझे सुखी कीजिए। जीव की सब कामनाएँ अन्ततोगत्वा इसीलिए हैं कि वह कष्टों को दूर करके कल्याण व शान्ति को प्राप्त कर सके। 'गृह, प्रजा, पशुधन' आदि की कामना कष्ट-निवारण के लिए ही होती है। २. हे प्रभो! **अवस्युः**=अपने रक्षण की कामनावाला मैं **त्वाम्**=आपको **आ चके**=[कै शब्दे] स्तुत करता हूँ। मैं वासनाओं से अपनी रक्षा करने के लिए आपकी स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता हूँ। जहाँ आपका स्तवन होता है वहाँ वासनाओं का प्रवेश नहीं होता, प्रवेश क्या, वासनाएँ वहाँ भस्मीभूत हो जाती हैं। इनकी भस्म पर ही कल्याण के भवन का निर्माण होता है। प्रभु वासनाविनाश द्वारा ही हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारी पुकार को सुनकर वासनाविनाश द्वारा हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—वरुणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

मेधिर की उपासना

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि। स यामनि प्रति श्रुधि ॥२०॥

१. हे **मेधिर**=मेधा के देनेवाले वरुण! **त्वम्**=आप ही **दिवः च**=इस द्युलोक और अन्तरिक्ष के **ग्मः च**=और इस पृथिवीलोक के तथा **विश्वस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के **राजसि**=व्यवस्थित व दीप्त करनेवाले हो। सारा ब्रह्माण्ड आपके ही शासन में चल रहा है। २. **सः**=वे आप **यामनि**=क्षेम व कल्याण के प्राप्त कराने में [या प्रापणे] **प्रतिश्रुधि**=हमारी प्रार्थना का 'हाँ' में उत्तर दीजिए अर्थात् हमारी प्रार्थना को अवश्य स्वीकार कीजिए। ३. प्रभु मेधिर हैं। मेधा देकर ही वे हमारा कल्याण करते हैं। इस मेधा से ही वे हमारे जीवन को दीप्त बनाते हैं। वस्तुतः प्रभु का रक्षण-प्रकार यही है कि वे बुद्धि दे देते हैं। इस बुद्धि से ठीक मार्ग पर चलते हुए हम अपनी मङ्गल की कामना को पूर्ण कर पाते हैं।

भावार्थ—बुद्धि के अनुसार चलते हुए हम जीवन को मङ्गलमय बनाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—वरुणः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

पाश-विमुक्त उत्तम जीवन

उदु॑त्त॒मं मु॑मुग्धि नो॒ वि पाशं॑ मध्य॒मं चृ॑त । अवा॑ध॒मानि॑ जी॒वसे॑ ॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हम बुद्धिपूर्वक चलेंगे तो इस प्रार्थना के योग्य बनेंगे कि हे वरुण! आप **नः**=हमारे **उत्तमं पाशम्**=उत्कृष्ट पाश को अर्थात् सात्त्विक बन्धन को भी **मुमुग्धि**=छिन्न करने की कृपा करिए। आपकी कृपा से प्रकृति का सत्त्वगुण मुझे सुखसङ्ग व ज्ञानसङ्ग से बाँध न सके। आप ही मुझे इससे मुक्त करने का सामर्थ्य रखते हैं। २. हे वरुण! **मध्यमं पाशम्**=रजोगुण नामक मध्यमपाश को भी **विचृत**=विच्छिन्न करिए। यह भी अपने कर्मसङ्ग से मुझे बाँधनेवाला न हो। 'मैं एक भी क्षण शान्त होकर न बैठ सकूँ'—ऐसी स्थिति न हो जाए। ३. हे प्रभो! **अधमानि**=तमोगुण-जनित प्रमाद, आलस्य व निद्रारूप अधम पाशों को भी **अव**=आप मुझसे दूर कीजिए। मैं कभी भी प्रमाद, आलस्य व निद्रा का शिकार न हो जाऊँ। ४. यह सब आप इसलिए करने की कृपा कीजिए जिससे **जीवसे**=मैं अपना जीवन उत्तम बना सकूँ। जीवन-उत्कर्ष के लिए, जीवन में निरन्तर आगे बढ़ने के लिए 'सात्त्विक, राजस व तामस' सभी बन्धनों से मुक्त होना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से मेरी बन्धनत्रयी नष्ट हो और मैं उत्तम जीवनवाला बनूँ।

विशेष—सूक्त इन शब्दों से आरम्भ होता है कि—हम ग़लती करते हैं तो भी हैं तो प्रभु की ही प्रजा (१)। प्रभु हमें घृणा व क्रोध से ऊपर उठाएँ (२)। हम अपने मनों को प्रभु से जोड़ने का यत्न करें (३)। हमारी चित्तवृत्तियाँ प्रभु में ही लगें (४)। वे प्रभु 'क्षत्रश्री, नर व उरुचक्षा' हैं (५)। उस प्रभु को ही मेरे प्राण व अपान प्राप्त करने का प्रयत्न करें (६)। उस प्रभु से कोई स्थान व समय छिपा नहीं (७-८)। सब प्रजाओं में स्थित होकर वे उनका शासन कर रहे हैं (१०)। सभी अद्भुत वस्तुओं के वे ही कर्ता हैं (११)। वे प्रभु ही हमें सुपथ से चलाकर दीर्घजीवी करें (१२)। हम ज्ञानमय कवच को धारण करें—हृदय को शुद्ध रखें (१३)। दम्भ, द्रोह व दर्प से ऊपर उठें (१४)। प्रभु-कृपा से यशस्वी बनें (१५)। प्रभु से मिलकर बात कर सकने के लिए जीवन को माधुर्य से भरें (१७)। उस विश्वदर्शत का दर्शन करते हुए (१८) उसी से कल्याण की प्रार्थना करें (१९)। वे प्रभु ही हमें मेधा देंगे (२०) और बन्धनत्रयी से मुक्त करके कल्याणभागी बनाएँगे (२१)। अब प्रभु जीव को निर्देश देते हैं कि—

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—अग्निः । छन्दः—आर्च्युष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

सहयज्ञाः प्रजाः

वसि॑ष्वा॒ हि मि॑येध्य॒ वस्त्रा॑ण्यूर्जां पते । सेमं नो॑ अध्व॒रं य॑ज ॥१॥

१. प्रभु 'बन्धनत्रयी से मुक्ति की प्रार्थना करनेवाले' जीव से कहते हैं कि हे **मियेध्यः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने के योग्य, **ऊर्जाम्पते**=बलों व प्राणशक्तियों की रक्षा करनेवाले जीव! तू **वस्त्राणि वसिष्वा हि**=इन शरीररूप वस्त्रों को धारण कर और इन वस्त्रों को धारण करनेवाला **सः**=वह तू **नः**=हमारे **इमम्**=इस वेदों में प्रतिपादित **अध्वरम्**=यज्ञात्मक कर्म को **यज**=अपने साथ संगत करनेवाला बन। 'अध्वर' वे कर्म हैं जोकि औरों की हिंसा न करके कल्याण ही कल्याण करनेवाले हैं। २. जीव को चाहिए कि वह अपने इन शरीरों को वस्त्र समझे। मलिन वस्त्र स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त न होकर हानिकर होता है। इसी प्रकार यह रोगी शरीर हमारी उन्नति का साधक नहीं हो सकता। शरीर को स्वस्थ बनाकर

हमें उसमें शक्तियों का रक्षण करना है। शक्तियों का रक्षण करके उन शक्तियों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करना है। प्रभु ने हमें जन्म दिया, शरीररूप वस्त्र दिया और साथ ही यज्ञ भी प्रदान कर कहा कि इसी से तूने फूलना-फलना है।

भावार्थ—हम वस्त्ररूप इन शरीरों का धारण करके शक्तियों को सुरक्षित रखें, उन्हें वासनाओं से विनिष्ट न होने दें और यज्ञों में लगे रहें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु की यविष्ठता

नि नो होता वरेण्यः सदा यविष्ठ मन्मभिः। अग्ने दिवित्मता वचः ॥२॥

१. गत मन्त्र की प्रेरणा को सुनकर 'शुनःशेप' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **यविष्ठ**=हमारे दुरितों को दूर करके भद्रों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्रभो! आप ही **नि** (सीद)=हमारे हृदयों में निषण्ण होओ। आप ही निश्चय से **नः**=हमारे लिए **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं, **वरेण्यः**=आप ही वरण के योग्य हैं। आपका वरण करके हमें क्या प्राप्त नहीं हो जाता? २. हे प्रभो! आप **सदा**=सदा **मन्मभिः**=मननीय स्तोत्रों द्वारा, विचारपूर्वक किये गये स्तवनों से तथा **दिवित्मता, वचः**=ज्योतिर्मय वचनों से [वचसा] प्राप्त करने योग्य हैं अर्थात् ज्ञान की वाणियों के ग्रहण से तथा विचारपूर्वक की गई स्तुतियों से हम आपको अपने हृदयों में बिठा पाते हैं। उस समय हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमें सब प्राप्य वस्तुएँ प्राप्त हो गई हैं [होता] और हमें वह आनन्द अनुभव होता है जोकि इन सांसारिक वस्तुओं में प्राप्य न था। आपको प्राप्त करके मुझसे सब अशुभ दूर हो जाते हैं और मैं शुभों को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—ज्ञान व स्तवन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करके हम अशुभों से दूर व शुभों के समीप हो सकें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—प्रतिष्ठा गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पिता, बन्धु व मित्र

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः ॥३॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को 'होता' कहा है। प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं। उसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि **हि**=निश्चय से जैसे **पिता सूनवे**=पिता पुत्र के लिए **आयजति स्म**=सब-कुछ देता है और **आपिः**=बन्धु **आपये**=अपने बन्धु के लिए सब-कुछ देता है तथा **सखा**=मित्र **सख्ये**=मित्र के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाला होता है उसी प्रकार आप हमें सब-कुछ देते हैं। आप ही हमारे पिता, बन्धु व मित्र हैं। २. वस्तुतः इसीलिए आप ही **वरेण्यः**=वरने के योग्य हैं। मुझे इस प्रकार की सुमति दीजिए कि मैं आपका अनुरूप पुत्र बनने का प्रयत्न करूँ। आपको ही अपना बन्धु व मित्र समझूँ। मेरे सब कार्य आपके बन्धुत्व और मित्रता के योग्य हों।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे पिता, बन्धु व मित्र हैं, अतः वे ही वरणीय हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अद्वेष, प्रेम व दान

आ नो बर्ही रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा। सीदन्तु मनुषो यथा ॥४॥

१. गत मन्त्र के 'पिता, बन्धु व मित्रभूत' प्रभु से 'शुनःशेप' प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष में **रिशादसः**=हिंसक तत्त्व को समाप्त करनेवाले [उसे खा जानेवाले] **वरुणः, मित्रः अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा **आसीदन्तु**=आकर विराजमान हों **यथा**=जैसे कि **मनुषः**=किसी भी विचारशील पुरुष के हृदय में आसीन होते हैं। २. सब विचारशील पुरुष अपने हृदयों में 'वरुण, मित्र और अर्यमा' को आसीन करते हैं। हम भी इन देवों को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करें। 'वरुण' द्वेष के निवारण का प्रतीक है। हम द्वेष से शून्य हों, किसी से हमारा वैर न हो। 'मित्र' स्नेह का प्रतीक है। हम सबके साथ स्नेह करनेवाले हों। **'अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति'** इस [तै० १।१।२।४] वाक्य के अनुसार अर्यमा में देने की भावना है, हम सदा दानशील हों। ३. विचारशील पुरुष किसी से द्वेष नहीं करता। वह सबके प्रति स्नेह की भावनावाला होता है और उसमें दान की भावना सदा बनी रहती है। हम भी इस प्रकार विचारशील बनें और इन भावनाओं को हृदयस्थ करें।

भावार्थ—विचारशील बनकर हम 'अद्वेष, प्रेम व दानवृत्ति' को अपनानेवाले हों।

सूचना—यास्क ने अर्यमा का अर्थ 'अरीन् नियच्छति' [नि० ११।२३] किया है, अतः हम लोभादि शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु की मित्रता

पूर्व्यं होतरस्य नो मन्दस्व सख्यस्य च। इमा उ षु श्रुधी गिरः॥५॥

हे **पूर्व्य**=सृष्टि से पूर्व होनेवाले प्रभो! [हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे] अर्थात् कभी न उत्पन्न होनेवाले, सनातन 'स्वयम्भू' नामवाले परमात्मन्! हे **होतः**=सब आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **अस्य**=गत मन्त्र में वर्णित "अपने हृदय में 'वरुण, मित्र व अर्यमा' को आसीन करने के" प्रयत्न की **च**=और **सख्यस्य**=आपके मित्र बनने के भाव को जानकर **मन्दस्व**=आप प्रसन्न हों अर्थात् हम आपको अपने इन कर्मों से प्रसन्न कर सकें। २. **उ**=और आप **सु**=उत्तमता से उच्चारण की गई **इमाः**=इन **गिरः**=स्तुति-वाणियों को **श्रुधि**=सुनिए। इन वाणियों में की गई आराधना हमारी उन्नति का कारण बने।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र बनें, प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें प्रभु के गुणों को स्वजीवन में अनूदित करने की प्रेरणा दे। यह व्यर्थ न हो, सुना जाए।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

एक-एक देव का यजन

यच्चिद्धि शश्वता तना देवन्देवं यजामहे। त्वे इद्धूयते हविः॥६॥

१. हे प्रभो! **यत् चित् हि**=यह जो निश्चय से **शश्वता**=[शश प्लुतगतौ] आलस्यशून्य, क्रियाशीलतावाले **तना**=[तनु विस्तारे] शक्तियों के विस्तार से **देवं देवम्**=एक-एक दिव्यगुण को **यजामहे**=अपने साथ संगत करते हैं। यह सब **त्वे इत्**=आपमें ही **हविः हूयते**=हवि डाली जाती है अर्थात् यह आपका ही यज्ञ और उपासन होता है। २. प्रभु का सच्चा उपासन यही है कि हम एक-एक उत्तम गुण को अपने में धारण करने का प्रयत्न करें। देवों को अपनाकर ही हम महादेव के समीप पहुँचते हैं। ३. दिव्यगुणों को धारण करने का उपाय यह है कि हम शक्तियों का विस्तार करें [तना], वीर बनें। वीरता

के साथ ही virtue=गुणों का वास है। शक्तियों के विस्तार के लिए क्रियाशीलता की आवश्यकता है। क्रिया ही शक्ति की जननी है। क्रिया के अभाव में प्रत्येक अंग निर्बल पड़ जाता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता से सब अंगों की शक्ति का वर्धन करें। शक्ति-वृद्धि से हममें दिव्य गुणों का विकास होगा। यह दिव्य गुणों को अपने साथ=संग करना ही सच्चा प्रभु-पूजन होगा।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

हमें प्रभु ही प्रिय हों

प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः। प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥७॥

१. संसार में दिव्यता की ओर चलने के लिए आवश्यक है कि **नः**=हमें वे प्रभु ही **प्रियः अस्तु**=प्रिय हों। हमारी रुचि प्रभु-प्राप्ति की ही हो। हम उस प्रभु को ही **विश्पतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक जानें। 'हमारे भी रक्षक वे प्रभु ही हैं' ऐसा समझ हम प्रभु को प्राप्त करने की ही कामनावाले हों। २. वे प्रभु ही **होता**=हमें सब-कुछ देनेवाले हैं, वे ही हमारे जीवनयज्ञ के चलानेवाले हैं। ३. **मन्द्रः**=वे प्रभु स्वयं आनन्दमय हैं, हमें आनन्द के देनेवाले हैं, अतः वे ही **वरेण्यः**=वरने के योग्य हैं। इस संसार में प्रकृति का चुनाव करके हम अपने जीवनों को आनन्दमय नहीं बना सकते। प्रकृति में स्वयं आनन्द नहीं, वह हमें क्या आनन्द प्राप्त कराएगी! आनन्द तो आनन्दमय प्रभु को पाने में ही है। ४. **वयम्**=हम **स्वग्नयः**=उत्तम मातारूप दक्षिणाग्निवाले, उत्तम पितारूप गार्हपत्य अग्निवाले तथा उत्तम आचार्यरूप आहवनीय अग्निवाले बनकर **प्रियाः**=उस प्रभु के प्रिय हों। जब हम 'स्वग्नि' नहीं होते, हमें उत्तम माता, पिता और आचार्य प्राप्त नहीं होते तो हम प्रकृति की ओर झुकाववाले होकर विषयों में फँसकर अपनी शक्तियों को जीर्ण कर लेते हैं। निर्बल होकर हम प्रभु के प्रिय कैसे हो सकते हैं!

भावार्थ—हम प्रभु को 'विश्पति, होता, मन्द्र व वरेण्य' जानें। उत्तम माता, पिता व आचार्य से सुशिक्षित होकर प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्च्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

उत्तम अग्नियोंवाले

स्वग्नयो हि वार्यं देवासो दधिरे च नः। स्वग्नयो मनामहे ॥८॥

१. **नः**=हममें से जो भी **हि**=निश्चय से **स्वग्नयः**=उत्तम माता-पिता व आचार्यरूप अग्निवाले होते हैं वे **वार्यम्**=वरणीय उत्तम गुणों को और अन्ततः वरणीय उस प्रभु को **दधिरे**=अपने में धारण करते हैं **च**=और उत्तम गुणों को धारण करके ये लोग **देवासः**=देव बन जाते हैं। ये सामान्य मनुष्यों की श्रेणी से ऊपर उठकर देवकोटि में पहुँच जाते हैं। २. ये देव बननेवाले **स्वग्नयः**=उत्तम माता, पिता व आचार्यवाले हम, हे प्रभो! **मनामहे**=आपकी ही प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाले पुरुष ही वरणीय गुणों को धारण करके देव बनते हैं और सदा प्रभु का उपासन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्च्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

परस्पर भावन

अथा न उभयेषाममृत मर्त्यानाम्। मिथः सन्तु प्रशस्तयः ॥९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य से शिक्षित होने पर **अथा**=अब **नः**=

हमारी (**अमृतमर्त्यानाम्**) 'अमृत' कभी न बुझनेवाली ज्ञानाग्नि और यज्ञ करनेवाले जो हम मर्त्य हैं **उभयेषाम्**=इन दोनों की **मिथः**=परस्पर **प्रशस्तयः**=प्रशस्तियाँ **सन्तु**=हों अर्थात् हमारे जीवन यज्ञमय हों और इस प्रकार देवों से प्रशंसा के योग्य हों तथा वाय्वादि देव भी हमें उत्तम अन्नादि प्राप्त करानेवाले हों और हम उन देवों के अनुग्रह का प्रशंसन करें। २. गीता में मनुष्य को कहा गया है कि **'देवान् भावयतानेन'**=तुम यज्ञ द्वारा देवों का आदर करो **'ते देवा भावयन्तु वः'**=वे देव अन्नादि के प्रापण से तुम्हारा आदर करें। इस प्रकार **'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'**=परस्पर भावना करते हुए तुम उत्कृष्ट कल्याण को प्राप्त करोगे। कालिदास ने लिखा है कि मृत्युलोक का राजा दिलीप यज्ञों के द्वारा इस पृथिवीलोक को खाली करके द्युलोक को भर रहा था तथा द्युलोक का राजा इन्द्र वृष्टि द्वारा द्युलोक को खाली करके पृथिवीलोक को भरने में लगा था। इस प्रकार दोनों मिलकर दोनों लोकों का सुन्दरता से धारण कर रहे थे। यही 'अमृत' व 'मर्त्यों' की परस्पर प्रशस्ति है।

भावार्थ=हम यज्ञों से देवों को प्रीणित करें। देव वृष्टि द्वारा अन्नादि देकर हमें प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यज्ञ, ज्ञान व पूजा

विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः। चनो धाः सहसो यहो ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् **सहसो यहो**=बल के पुत्र अर्थात् पुञ्ज प्रभो! आप **विश्वेभिः**=सब **अग्निभिः**=माता, पिता व आचार्यरूप अग्नियों के द्वारा **इमम् यज्ञम्**=इस यज्ञ को, यज्ञ की भावना को, **इदम् वचः**=इन ज्ञान के वचनों को तथा **चनः**=सात्त्विक अन्न को, उस अन्न को जोकि [**चायृ पूजा-निशामनयोः**]=हममें प्रभु की पूजा और प्रभु की प्रेरणा को सुनने की प्रवृत्ति पैदा करता है, **धाः**=धारण कीजिए। २. माता हमें सात्त्विक अन्न का सेवन कराके सात्त्विक वृत्तिवाला बनाये, हमारा झुकाव प्रभु-पूजा की ओर करे। पिता हममें यज्ञिय भावना को भरनेवाले हों तथा आचार्य हमें ज्ञान से परिपूर्ण कर दें। इस प्रकार हमारा जीवन 'यज्ञ, ज्ञान व पूजा की वृत्ति' से परिपूर्ण हो जाए।

भावार्थ—हमारा जीवन 'यज्ञ, ज्ञान व पूजा' से युक्त हो। इसी प्रकार हम प्रभु की भाँति शक्ति को धारण करनेवाले हो जाएँ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु के इस आदेश से होता है कि शरीर-वस्त्र को धारण करके जीवन में यज्ञ का प्रणयन करो (१)। स्तोत्रों व ज्ञान की वाणियों से प्रभु को अपने हृदय में निषण्ण करो (२)। वे प्रभु ही पिता, बन्धु व सखा हैं (३)। प्रभु से यही आराधना करो कि 'हम अद्वेष, स्नेह व दानवृत्ति' को अपने जीवन में धारण कर सकें (४)। प्रभु हमारी इस मित्रता से प्रसन्न हों (५)। हम दिव्य गुणों को धारण करते हुए सच्चा प्रभु-पूजन करें (६)। हमें प्रभु ही प्रिय हों (७)। उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके हम वरणीय गुणों को धारण करें (८)। यज्ञों को करते हुए हम देवों से प्रशंसनीय हों (९) और माता-पिता व आचार्य द्वारा 'यज्ञ, ज्ञान व पूजावृत्ति' को प्राप्त करें (१०)। अब कहते हैं कि हम प्रभु का वन्दन करें ताकि हमारे पाप दूर हों—

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु-वन्दन

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥१॥

१. **अग्निम्**=उस उन्नति के साधक प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कार द्वारा अथवा नम्रता से **वन्दध्या**=मैं वन्दन करता हूँ। हे प्रभो! उन **त्वा**=आपको जो **वारवन्तं अश्वं न**=मेरे लिए बालोंवाले घोड़े के समान हो। जैसे एक घोड़ा पूँछ के बालों से मक्खी-मच्छर आदि को हटाता रहता है उसी प्रकार से प्रभु हमारे रोगों और पापों से हमें हटाते रहते हैं। हमारे रोगों व पापों को दूर करके प्रभु ही हमारे जीवन-यज्ञों को चलाते हैं। **अध्वराणां सम्राजन्तम्**=आप सब अध्वरों के सम्राट् हैं, सब यज्ञों में आपकी ही दीप्ति है, आप ही सब यज्ञों की व्यवस्था करनेवाले हैं। इन यज्ञों के द्वारा प्रभु हमें इस जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ– हम अध्वरों के सम्राट्, पापों को दूर करनेवाले उस अग्नि नामक प्रभु का नतमस्तक होकर वन्दन करते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः - षड्जः।

कल्याणकारी प्रभु

स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः। मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् ॥२॥

१. **सः**=वे प्रभु **घा**=निश्चय से **नः**=हमारे **सूनुः**=प्रेरणा देनेवाले हैं (षू प्रेरणे)। २. केवल प्रेरणा ही नहीं **शवसा**=शक्ति के द्वारा **पृथुप्रगामा**=विस्तृत गति देनेवाले हैं। वे हमें शक्ति देते हैं कि हम विशाल कर्मों को करनेवाले बनें। ३. इस प्रकार वे प्रभु **सुशेवः**=उत्तम-कल्याण को करनेवाले हैं। 'उत्तम प्रेरणा, शक्ति व विशाल कर्मों के लिए गति' ये सब बातें मिलकर हमारा कल्याण करनेवाली सिद्ध होती हैं। ४. इस मार्ग से चलाकर वे प्रभु **अस्माकम्**=हमपर **मीढ्वान्**=खूब सुखों की वर्षा करनेवाले **बभूयात्**=हों।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा देने, शक्ति देकर कार्यों को करानेवाले, सुख देनेवाले व सब कल्याणों की वर्षा करनेवाले हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रक्षक-प्रभु

स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः। पाहि सदमिद्विश्वायुः ॥३॥

१. **सः**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'सुशेव व मीढ्वान्' प्रभु **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से भी **च**=और **आसात्**=समीप से भी **अघायोः मर्त्यात्**=अघ व पाप को चाहनेवाले मनुष्य से **निपाहि**=हमें निश्चित रूप से बचाएँ। हम किसी भी अघायु पुरुष के शिकार न बन जाएँ। ऐसा पुरुष हमपर प्रबल होकर हमें पाप की ओर ले-जानेवाला न हो जाए। २. हे प्रभो! आपकी कृपा से **सदम् इत्**=सदा ही **विश्वायुः**=मैं पूर्ण जीवन=आयुवाला बनूँ। शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति करके मैं अपने जीवन की अपूर्णता को दूर करूँ। शरीर से स्वस्थ बनूँ, मृत्यु से अमरता की ओर चलूँ, नीरोग होऊँ। मन से निर्मल बनूँ, असत्य से सत्य की ओर चलूँ, सत्य से मेरा मन शुद्ध हो। मेरा मस्तिष्क तीव्र ज्ञानाग्निवाला हो, तमस् से मैं सदा ज्योति की ओर जानेवाला होऊँ, ज्ञान मेरे मस्तिष्क को पवित्र रक्खे। इस प्रकार मैं 'विश्वायु व पूर्ण जीवनवाला' बनकर जीवन से यह प्रकट करूँ कि प्रभु-कृपा से मैं अघायु पुरुषों का शिकार नहीं बना।

भावार्थ—प्रभु क्या दूर क्या समीप, सर्वत्र अघायु पुरुषों से हमारी रक्षा करते हैं। इस रक्षा के परिणामस्वरूप ही हम पूर्ण जीवनवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सनि-गायत्र व नव्यान्

इमम् षु त्वम॒स्माकं स॒निं गा॑य॒त्रं नव्यां॑सम् । अग्ने॑ दे॒वेषु॒ प्र वो॑चः ॥४॥

१. हे **अग्ने**=हमारे जीवनों को उन्नत करनेवाले प्रभो ! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **देवेषु**=इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि उपकरणों में **ऊ षु**=निश्चयपूर्वक उत्तमता से **सनिं, गायत्रं नव्यांसम्**=सनि, गायत्र व नव्यान् का **प्रवोचः**=प्रवचन कीजिए अर्थात् हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि 'सनि, गायत्र व नव्यान्' का उच्चारण करें, हमारी इन्द्रियों में इनका प्रकाश हो । २. **सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'**—इस अथर्व-मन्त्र के अनुसार शरीर में सब देवों का निवास है । अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में रह रही है तो सूर्य चक्षु का रूप धारण करके आँख में रहता है और दिशाएँ श्रोत्ररूप में कानों में निवास करती हैं, चन्द्रमा मन वनकर हृदय में रहता है । इसी प्रकार बाह्य देव उस-उस रूप में शरीर में भी निवास कर रहे हैं । ३. ये देव 'सनि' का प्रवचन करें, संविभाग की वृत्तिवाले हों, सब स्वयं खा जानेवाले न हों । ये गायत्र को करें अर्थात् 'गयाः प्राणाः, तान् त्रायते' प्राणशक्ति का रक्षण करनेवाले हों, कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे कि प्राणशक्ति में किसी भी प्रकार की कमी आये । ये 'नव्यान्' हों 'नु स्तुतौ' स्तुति करनेवाले हों, अतिशयित स्तुतिवाले हों । इनकी स्तुति श्रव्य न होकर दृश्य ही तो होगी । यह दृश्य स्तुति ही प्रभु को प्रिय है । इस दृश्य स्तुति का रूप सर्वभूतहित है; एवं हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि (क) सबके साथ बाँटकर खाएँ (ख) प्राणशक्ति को धारण करनेवाले हों (ग) और लोकहित करते हुए प्रभु के दृशीक स्तोत्र को सिद्ध करें ।

भावार्थ—हम बाँटकर खानेवाले हों, प्राणशक्ति का रक्षण करें. उत्कृष्ट स्तवन करनेवाले हों ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

त्रिविध वाज

आ नो॑ भज पर॒मेष्वा वाजे॑षु मध्य॒मेषु॑ । शिक्षा॒ वस्वो॒ अन्त॑मस्य ॥५॥

१. हे प्रभो ! आप **नः**=हमें **परमेषु वाजेषु**=(वाज=Wealth, power) उत्कृष्ट धनों में **आ भज**=सब ओर से भागी बनाइए । 'अध्यात्म सम्पत्ति' ही उत्कृष्ट धन है । प्रभु-कृपा से यह अध्यात्म-सम्पत्ति, गीता के शब्दों में 'दैवी सम्पत्ति' हमें प्राप्त हो । वस्तुतः मनुष्य की यही सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है । वेदान्त में 'शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा व समाधान' नाम से यह षट्क सम्पत्ति के रूप में चित्रित हुई है । **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः, धीर्विद्या सत्यमक्रोधः**—इन शब्दों में मनु ने इस सम्पत्ति का धर्म के १० लक्षणों में परिगणन किया है । २. हे प्रभो ! आप **मध्यमेषु वाजेषु**=मध्यम धनों में भी आ (भज) हमें भागी बनाइए । शरीर का स्वास्थ्य व शिष्टाचार आदि-आदि सब मध्यम धन हैं । ये वस्तुतः संसार में उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक हैं । उत्कृष्ट धन 'निःश्रेयस' के साधक हैं तो मध्यम धन 'अभ्युदय' के जनक हैं । हे प्रभो ! **अन्तमस्य** (अन्तिकतमस्य)=इस भौतिक जीवन की पूर्ति के लिए, भूलोक के अति समीपवर्ती इन पार्थिव **वसवः**=धनों को **शिक्ष**=देने का अनुग्रह कीजिए । ये रुपया-पैसा सबसे निचले स्थान पर होनेवाला धन है, पर यह धन भी आवश्यक ही है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप हमें उत्तम अध्यात्म-धन 'शम-दम' आदि की प्राप्ति कराइए । मध्यम धन जोकि स्वास्थ्यादि के रूप में है, उसे दीजिए और इस तृतीय स्थान में स्थित हिरण्यरूप धन को भी आप प्राप्त कराइए ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

दान व धनलाभ

विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ । सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥६॥

१. हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले प्रभो ! **सिन्धोः ऊर्मौ**=समुद्र की लहरों पर और **उपाके**=अति समीप अर्थात् सर्वत्र, मनुष्य कहीं भी हो, आप उसके लिए **आ**=सर्वथा **विभक्तासि**=धनों के देनेवाले हैं । 'प्रभु के समीप हम पहुँचेंगे तभी वे धन प्राप्त कराएँगे--ऐसी बात नहीं है । वे प्रभु तो हिमालय के शिखरों पर, समुद्र की लहरों पर कहीं भी हम हों, यदि हम पात्र हैं तो वे प्रभु हमें धन प्राप्त कराते ही हैं । २. हे प्रभो ! **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—दान देनेवाले के लिए आप **सद्यः**=शीघ्र ही **क्षरसि**=देते हैं । धन का मुख्य प्रयोजन तो उसका उचित स्थानों में देना ही है । यदि एक मनुष्य दान करता है तो प्रभु उसे पात्र समझ धन प्राप्त कराते ही हैं—**'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'** दान दिये हुए धन को तो सप्तगुणित करके हम प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—हम कहीं भी हों, प्रभु हमें आवश्यक धन प्राप्त कराते ही हैं । जो दान देते हैं, उसे प्रभु देते हैं ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

संग्राम-विजय

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता शश्वतीरिषः ॥७॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो ! **यं मर्त्यम्**=जिस भी मनुष्य को **पृत्सु**=संग्रामों में **अवा**=आप रक्षित करते हो अथवा **वाजेषु**=शक्तियों की प्राप्ति के निमित्त **यम्**=जिस भी व्यक्ति को **जुनाः**=आप प्रेरित करते हो **सः**=वह व्यक्ति **शश्वतीः**=प्लुत गतिवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **यन्ता**=अपने जीवन में धारण करता है (यम् to substain) अथवा (यम् to exhibit, to show) अपने जीवन में घटाकर दिखाता है । २. प्रभु की प्रत्येक प्रेरणा अन्ततः मनुष्य को आलस्यशून्य क्रिया के लिए प्रेरित करती है, शश्वती है । इन प्रेरणाओं को अपने जीवन में वही ला पाता है जोकि वासनाओं के साथ संग्राम में विजय प्राप्त करता है और शक्ति का सञ्चय करता है । यह विजय और शक्तिसञ्चय प्रभु-कृपा से ही होता है ।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से वासना-संग्राम में विजयी बनें, शक्ति का सञ्चय करें और प्रभु की प्रेरणाओं को जीवन में अनूदित करें ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अनाक्रमणीयता

नकिरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् । वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥८॥

१. हे **सहन्त्य**=हमारे सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो ! **अस्य कयस्य चित्**—(कं यातीति कयः) इस आनन्दस्वरूप प्रभु की ओर चलनेवाले किसी भी पुरुष का **न किः पर्येता**=कोई भी अभिभव करनेवाला नहीं है अर्थात् प्रभुभक्त को कोई भी वासना आक्रान्त नहीं कर सकती । २. प्रभु के सम्पर्क के कारण इस 'कय' का **वाजः**=बल **श्रवाय्यः**=प्रशंसा के योग्य **अस्ति**=होता है । इसकी शक्ति की सर्वत्र प्रशंसा होती है । वस्तुतः जब मनुष्य वासनाओं से आक्रान्त हो जाता है तभी वह अपनी शक्ति को क्षीण कर बैठता है । भोग शक्ति को जीर्ण करके शरीर को रोगी बना देते हैं और जीवन का सब आनन्द समाप्त

हो जाता है। यह मनुष्य 'क-य' नहीं रहता। प्रभु अपने भक्त का कवच बनते हैं। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' और इसे शत्रुओं से अनाक्रमणीय बना देते हैं।

भावार्थ—हम प्रभुभक्त बनें, वासनाओं से अनाक्रमणीय होकर प्रशस्त बलवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

क्रियाशीलता व सत्सङ्ग

स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता। विप्रेभिरस्तु सनिता ॥९॥

१. प्रभुभक्त सदा क्रियाशील होता है। सदा श्रमशील होने से यह 'विश्वचर्षणिः' कहलाता है। 'विश्वस्मिन् चर्षणिः' **स विश्वचर्षणिः**=यह सदा क्रियाशील प्रभुभक्त **अर्वद्भिः**=अपने इन्द्रियरूप अश्वों से **वाजम्**=संग्राम को **तरुता**=तैर जानेवाला **अस्तु**=हो। श्रमशील को वासनाएँ आक्रान्त ही नहीं कर पातीं। २. यह विश्वचर्षणि **विप्रेभिः**=ज्ञानी विद्वानों के साथ **सनिता**=संभजन करनेवाला **अस्तु**=हो अर्थात् इनके सङ्ग में रहनेवाला हो। ज्ञानियों के सङ्ग में रहकर यह अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ अपने जीवन को पवित्र बना पाएगा।

भावार्थ—क्रियाशीलता व सत्सङ्ग—दो उपायों से हम जीवन-यात्रा को ठीक से पूरा कर पाते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दृशीक स्तोम

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥१०॥

१. हे **जराबोध**=बुढ़ापे में चेतनेवाले जीव! **विशे विशे यज्ञियाय**=प्रत्येक प्राणी के लिए पूजनीय अथवा प्रत्येक प्राणी के साथ सम्पर्कवाले **रुद्राय**=(रुत्-र) सदा हृदयस्थ रूपेण उत्तम प्रेरणा देनेवाले प्रभु के लिए **तत् दृशीकं स्तोमम्**=उस आँख से दिखनेवाले स्तुतिसमूह को **विविड्ढि**=(विषलृ व्याप्तौ) अपने जीवन में व्याप्त कर। २. सामान्यतः मनुष्य बाल्यकाल में खेलता रह जाता है और यौवन में विषय-प्रवण बना रहता है, वार्धक्य में आकर उसे प्रभु-स्तवन का ध्यान आता है, अतः उसे जराबोध कहा गया है। प्रभु कहते हैं कि तू प्रभुस्तवन को जीवनभर प्राप्त करनेवाला बन (विविड्ढि)। तेरा यह स्तोम सदा चले। ३. यह स्तोम दृशीक हो—आँखों से दिखे। तू केवल श्रव्यभक्ति व कीर्तन ही न करता रह जाए। प्राणियों की सेवा ही उस प्रभु का 'दृशीक स्तोम' हैं। वे प्रभु सब प्राणियों के अन्दर विद्यमान हैं। उन प्राणियों का हित करते हुए हम अन्तःशरीरस्थ उस प्रभु को ही प्रीणित कर रहे होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य बुढ़ापे में ही जाकर न चेते। यह सदा इस प्रभु का दृश्य भजन करनेवाला हो। प्राणियों का हित ही प्रभु का दृशीक स्तोम है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

धी+वाज

स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः। धिये वाजाय हिन्वतु ॥११॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **महान्**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य हैं, **अनिमानः**=वे स्थान, समय व किसी भी अन्य दृष्टिकोण से सीमित नहीं हैं। **'दिक् कालाद्यनवच्छिन्न'** वे प्रभु हैं। असीम होने के कारण ही वे हमारे ज्ञान व विषय नहीं बनते। प्रभु को हम पूरा-पूरा माप नहीं सकते २. **धूमकेतुः**=(धूमः केतुः यस्य)=उस प्रभु का दिया हुआ ज्ञान वासनाओं को कम्पित करके दूर-दूर भगानेवाला है

(धू कम्पने) ज्ञान में वासनाओं का विध्वंस हो जाता है। इस वासना-विध्वंस के द्वारा ही **पुरुश्चन्द्रः**=वे प्रभु पुरु-चन्द्र =पालन व पूरण करनेवाले तथा आह्लादित करनेवाले हैं। वासनाओं की उपस्थिति में पूर्णता का होना असम्भव है; और अपूर्णता में आनन्द सम्भव नहीं। ये प्रभु हमें **धिये**=बुद्धि के लिए तथा **वाजाय** =शक्ति के लिए **हिन्वन्तु** =प्रेरित करें। प्रभु-कृपा से हमारा ज्ञान व हमारी शक्ति बढ़े। मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो तो शरीर शक्ति से भरा हो। शरीर से हम मल्ल हों तो मस्तिष्क से ऋषि (Body of an athlete and the soul of a sage)।

भावार्थ –प्रभु हमें बुद्धि व शक्ति दें ताकि हम जीवन को पूर्णता की ओर ले-चलें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रेवान् विश्पतिः

स रे॒वाँ इ॑व वि॒श्पति॒र्दैव्यः॑ के॒तुः शृ॒णोतु॑ नः। उ॒क्थैर॒ग्निर्बृ॒हद्भा॑नुः ॥१२॥

१. **सः**=वे प्रभु **रेवान् विश्पतिः इव**=मानो एक धन-सम्पन्न प्रजापालक हैं। प्रभु प्रजाओं के रक्षण करनेवाले हैं। इस प्रभु का कोश कभी खाली नहीं होता, अतः उसके सामने प्रजारक्षण की समस्या कभी नहीं उठती। २. वे प्रभु **दैव्यः**=देवताओं से प्राप्त करने योग्य हैं अथवा देवों का हित करनेवाले हैं। हम देव बनेंगे तभी प्रभु को—'महादेव' को प्राप्त कर सकेंगे और तभी प्रभु से किये जानेवाले कल्याण के पात्र होंगे। ३. **केतुः**=वे प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं और ज्ञान के द्वारा हमारे सब रोगों को दूर करनेवाले हैं (कित रोगापनयने)। ये प्रभु **नः**=हमारी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुनें। ४. वे प्रभु **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **अग्निः**=हमें आगे ले-चलनेवाले होते हैं। **बृहद्भानुः**=बृद्धि के कारणभूत ज्ञान को प्राप्त कराते हैं। वेदों में प्रतिपादित उक्थ हमारी उन्नति व ज्ञानवृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारी प्रार्थनाओं को सुनें और वह ज्ञान प्राप्त कराएँ जोकि हमारी उन्नति का कारण हो।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

बृहद्भानु का जीवन—नम्रता, यज्ञ, आज्ञापालन

नमो॑ म॒हद्भ्यो॒ नमो॑ अर्भ॒केभ्यो॒ नमो॒ युव॑भ्यो॒ नम॑ आशि॒नेभ्यः॑।
यजा॑म दे॒वान्यदि॑ श॒क्नवा॑म॒ मा ज्याय॑सः॒ शंस॒मा वृ॑क्षि देवाः ॥१३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब प्रभु के उक्थों के द्वारा हमारा ज्ञान बढ़ाया जाता है तो हमारा जीवन नम्रता, यज्ञ व आज्ञापालन से युक्त होता है। मन्त्र में कहते हैं कि हम **महद्भ्यः नमः**=बड़ों के लिए नमस्कार करते हैं, **अर्भकेभ्यः नमः**=छोटों के लिए नमस्कार करते हैं, **युवभ्यः नमः**=अवस्था के दृष्टिकोण से नौजवानों के लिए नमस्कार करते हैं और **आशिनेभ्यः**=जो अवस्था को बहुत-कुछ व्याप्त कर चुके हैं उन वृद्धों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं अर्थात् बड़े-छोटे, नौजवान-वृद्ध सभी के साथ नम्रता से वर्तते हैं। हमारे वर्ताव में अभिमान की गन्ध भी नहीं होती। २. और **शक्नवाम**=यदि समर्थ होते हैं तो **देवान् यजाम**=देवताओं का यजन करते हैं। शक्ति के अनुसार देव-यज्ञ को अवश्य करते ही हैं अर्थात् सारा खा ही नहीं लेते। यज्ञ करके यज्ञशेष=अमृत का ही सेवन करते हैं। ३. और हे **देवाः**= दिव्य शक्तियो! आप सबकी हमपर ऐसी कृपा हो कि हम **ज्यायसः शंसम्**=बड़े के कहने को **मा आवृक्षि**=किसी भी प्रकार तोड़ें नहीं। जैसा बड़े कहें वैसा ही हम करें, उनकी आज्ञा को अवश्य मानें।

भावार्थ—हमारा जीवन नम्रता, यज्ञ व आज्ञाकारिता से परिपूर्ण होकर शोभान्वित हो जाए।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु-वन्दन द्वारा पाप के दूरीकरण से होता है (१)। वे प्रभु ही प्रेरक व सुखों के वर्षक हैं (२)। वे अघायु पुरुषों से हमारा रक्षण करते हैं (३)। हमारे जीवन में 'संविभाग, प्राणरक्षण व स्तवन' की भावना को भरते हैं (४)। उत्तम, मध्यम व अन्त्य सब धनों को प्राप्त कराते हैं (५)। हम जहाँ कहीं भी हों वे प्रभु हमें आवश्यक धन देते ही हैं (६)। संग्रामों में वे ही रक्षा करते हैं (७)। प्रभु से रक्षित पुरुष का बल प्रशंसनीय होता है (८)। यह व्यक्ति संसार-सागर को तैर जाता है (९)। हमें चाहिए कि हम बुढ़ापे ही में न चेतें, सदा प्रभुस्तवन करनेवाले बनें (१०)। वे प्रभु हमें बुद्धि व बल दें (११)। प्रभु से रक्षित होकर व ज्ञान प्राप्त करके (१२) हम नम्र, यज्ञशील व आज्ञाकारी बनें (१३)। इस सब के लिए सोम का रक्षण आवश्यक है, सो सोमसवन व रक्षण से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ग्राव-पृथुबुध्नः

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥१॥

१. **यत्र**=जहाँ अर्थात् जिस समय **ग्रावा**=(गृणातेः स्तुतिकर्मणा) प्रभु का स्तवन करनेवाला **पृथुबुध्नः**=विशाल मूलवाला अर्थात् जो शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों की उन्नति करके अपनी उन्नति के मूल को विशाल बनाता है, उस समय यह **सोतवे**=सोम के अभिषव=उत्पादन के लिए **ऊर्ध्वः भवति**=उद्यत होता है, उठ खड़ा होता है, क्योंकि सारी उन्नति होती तो सोमाभिषव से ही है; सोम के अभाव में उन्नति सम्भव ही नहीं। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले जीव! तू **उलूखलसुतानाम्**=(अन्तरिक्षं वोलूखलम्। शत० ७।५।१।२६) हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न किये गये इन सोमकणों को **अव् इत्**=निश्चय से स्वकीयत्वेन जानकर, पूर्णरूप से अपना समझकर **अव जल्गुलः**=अपने अन्दर ही भक्षण कर, इन सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बन। ३. जैसे सोमलता का रस ऊखल में उत्पन्न किया जाता है, इसी प्रकार अन्न से उत्पन्न होनेवाले सोम के अभिषव का मूल हृदय है। यह सोम हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न होता है। इस सोम के रक्षण से हृदय-अन्तरिक्ष में ही सोम-प्रभु का दर्शन होगा। इस सोम का भक्षण—शरीरों में ही व्यापन इसलिए आवश्यक है कि इसके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं होती और न ही वृत्ति प्रभुस्तवन की ओर होती है। 'ग्रावा-पृथुबुध्नः' के लिए यह सोमाभिषव आवश्यक है।

भावार्थ—हम सोम का उत्पादन व शरीर में ही व्यापन करें ताकि हमारी प्रवृत्ति प्रभु-स्तवन की ओर हो और हम शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से उन्नत हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

दो अधिषवण फलक

यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥२॥

१. **यत्र**=जहाँ—जिस शरीर में **द्वौ जघनौ इव**=दो जाँघों की भाँति **अधिषवण्या कृता**=मस्तिष्क और हृदय सोम के उत्पादन के योग्य किये गये हैं। वस्तुतः 'मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करना तथा हृदय में प्रभुभक्ति की भावना को जगाना'—ये दो मुख्य साधन हैं सोम के शरीर में पान के। इसी

लिए मस्तिष्क व हृदय को 'अधिषवण्या' कहा है। २. यहाँ 'दो जाँघों की भाँति' यह उपमा इसलिए दी गई है कि जैसे चलते समय दोनों टाँगें चलती हैं और दोनों ही समान रूप से पुष्ट होती हैं, इसी प्रकार शरीर में मस्तिष्क व हृदय दोनों को ही समानरूप से पुष्ट करने की आवश्यकता है। भुजाओं में भी दायीं व बायीं में अन्तर है, पर टाँगें सामान्यतया समानरूप से कार्य करती हैं और समानरूप से पुष्ट होती हैं, इसी प्रकार मस्तिष्क व हृदय की स्थिति होनी चाहिए। ज्ञान व भक्ति दोनों का समान महत्त्व होना चाहिए। ये दोनों मानो अधिषवण फलकों की भाँति हैं। ३. इनसे शरीर में सोम का उत्पादन व रक्षण होता है। **उलूखलसुतानाम्**=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न इन सोमकणों को **अव इत् उ**=अपना जानकर निश्चय से **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष **जल्गुलः**=तू भक्षण कर। सोमकणों को शरीर में सुरक्षित रखने से मस्तिष्क व हृदय दोनों का उत्तमता से पोषण होगा।

भावार्थ—शरीर में सोम के सम्पादन व व्यापन के लिए स्वाध्याय द्वारा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का प्रज्वलन तथा हृदय में श्रद्धापूर्वक प्रभुभजन आवश्यक है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अपच्यव और उपच्यव

यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥३॥

१. **यत्र**=जिस सोम के होने पर **नारी**=एक प्रगतिशील स्त्री **अपच्यवम्**=हृदय से 'अप'=दूर मस्तिष्क में जाने का **च**=और **उपच्यवम्**=हृदय में परमेश्वर के समीप उपस्थित होने का **शिक्षते**=अभ्यास करती है। उन **उलूखलसुतानाम्**=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों को **अव इत् उ**=स्वकीयत्वेन जानकर ही हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **जल्गुलः**=तू भक्षण कर। २. 'अपच्यव'=मस्तिष्क की ओर जाता है और 'उपच्यव' हृदय की ओर आता है। ज्ञान प्राप्त करना ही मस्तिष्क की ओर जाना है और भक्तिप्रवण होना ही हृदय की ओर आना है। ज्ञान व भक्ति दोनों का विकास सोम के होने पर ही सम्भव है। इस दृष्टिकोण से सोमपान का विशेष ही महत्त्व है ३. नारी शब्द का प्रयोग इसलिए है कि स्त्री को भी ज्ञान व भक्ति दोनों का अपने में समन्वय करने का प्रयास करना है। इस स्थान पर नारी शब्द इसलिए भी अधिक उपयुक्त हो जाता है कि नारी ने ही बाह्य सोमलता के रस का अभिषव करते हुए उलूखल से दूर व समीप अपने हाथ को बारम्बार लाना है।

भावार्थ—स्त्रियों को भी सोम के रक्षण के द्वारा ज्ञान व भक्ति का विकास करना चाहिए।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

हृदयमन्थन से मस्तिष्क का संयम

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥४॥

१. **यत्र**=जहाँ **रश्मीन्**=ज्ञान की किरणों को अथवा इन्द्रियों की लगामों को **यमितवा इव**=काबू-सा करने के लिए **मन्थाम्**=मन्थन को **विबध्नते**=विशेषरूप से बाँधते हैं अर्थात् हृदय में प्रभु का विचार करते हैं, प्रभु के नाम का जप व उसका अर्थ-भावन करते हैं—**'तज्जपः, तदर्थभावनम्'**, उस समय **उलूखलसुतानाम्**=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न हुए-हुए इन सोमकणों का **अव इत् उ**=स्वकीयत्वेन ग्रहण करके हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **जल्गुलः**=भक्षण कर अर्थात् इन सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न कर। २. मस्तिष्क में ज्ञान की रश्मियाँ हों, हृदय में प्रभु का चिन्तन, प्रभु के गुणों का मन्थन हो। यह प्रभु-गुण-मन्थन ज्ञान-रश्मियों का संयम करनेवाला हो अर्थात् भक्ति से रहित होकर यह ज्ञान

कहीं विध्वंसक अस्त्रों के निर्माण में ही न लग जाए। इस सबके लिए आवश्यक है कि हम सोम का शरीर में रक्षण करें। ४. यह सोम ही हमारे मस्तिष्कों को उज्ज्वल व हृदयों को निर्मल बनाता है। सोम का रक्षण होने पर ज्ञान-रश्मियाँ हृदय के मन्थन से संयत रहती हैं।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण द्वारा अपनी ज्ञान-रश्मियों को हृदय में प्रभु के मन्थन से संयत करनेवाले हों; वे रश्मियाँ हमारी ही आँखों को न चुँधिया दें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

विजेता का भेरीनाद

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे। इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥५॥

१. अध्यात्म में शरीर ही 'गृह' है, 'उलूखल' हृदय है। प्रभु ने प्रत्येक शरीर में इसकी स्थापना की है। उस हृदय में हमें उस ज्योतिर्मय प्रभु के नामों का उच्चारण करना है जिससे हम वासनाओं को पराजित करके विजय-दुन्दुभि बजा सकें। २ मन्त्र में कहते हैं कि **उलूखलक**=हे सुन्दर हृदयान्तरिक्ष! **यत्**=जो **चित् हि**=निश्चय से **त्वम्**=तू **गृहे गृहे**=प्रत्येक शरीररूप गृह में **युज्यसे**=प्रभु से युक्त किया जाता है, सो **इह**=इस मानव-जीवन में तू **द्युमत्तमम्**=उस निरतिशय ज्योतिवाले प्रभु को **वद**=कह अर्थात् उसके नामों का उच्चारण कर। यह नामोच्चारण तेरे लिए इस प्रकार हो **इव**=जैसे **जयताम्**=विजयशील पुरुषों का **दुन्दुभिः**=भेरीनाद हो।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में हृदय की स्थापना की है। हमें चाहिए कि हृदय में प्रभु के नाम का स्मरण करें और सदा वासनाओं को जीतनेवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सर्वप्रथम कार्य—'प्राणायाम'

उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित्। अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल ॥६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हृदय में प्रभु के नाम का स्मरण करने पर वासना विनष्ट होती है और ज्ञान का प्रकाश चमकता है। इस ज्ञान के प्रकाशवाले व्यक्ति को यहाँ 'वनस्पति' कहा गया है। यह प्रतिदिन प्रातः सर्वप्रथम कार्य यह करता है कि प्राणायाम द्वारा शरीर में वायु का विशिष्ट सञ्चार करने के लिए यत्नशील होता है **उत**=और हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! **ते**=तेरे जीवन में **इत् अग्रम्**=निश्चय से सर्वप्रथम **वातः**=वायु **वि-वाति स्म**=विशिष्ट रूप से गति करती है। प्राणसाधना के द्वारा तू वायु का सारे शरीर में उत्तमता से सञ्चार करता है। २. **अथ उ**=और अब हे **उलूखल**=हृदयान्तरिक्ष! तू इस **इन्द्राय**=प्राणसाधना करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पातवे**=शरीर में ही व्याप्त करने के लिए **सोमं सुनु**=सोम का सवन कर। हमारे शरीरों में सोम का सम्पादन हो और साथ ही उसका शरीर में ही व्यापन हो। इस व्यापन के लिए प्राणायाम ही सर्वोत्तम उपाय है। इसीलिए यह ज्ञानी पुरुष प्राणायाम को जीवन के दैनिक कार्यक्रम में सर्वप्राथमिकता देता है।

भावार्थ—हमें ज्ञानवान् बनकर प्राणायाम को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहिए। इसके होने पर ही उत्पन्न हुआ सोम शरीर में ही व्याप्त होगा और हमें सचमुच इन्द्र=शक्तिशाली बनाएगा।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'यज्ञ-शक्ति' व 'उच्च विहरण'

आयजी वाजसातमा ता ह्यु१च्चा विजर्भृतः। हरी इवान्धांसि बप्सता ॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सोम का प्राणसाधना द्वारा शरीर में व्यापन करनेवाले पति-पत्नी **आयजी**=सोम को सर्वथा अपने साथ संगत करनेवाले व यज्ञशील होते हैं। २. इस सोम को अपने साथ सङ्गत करने के कारण ही ये **वाजसातमा**=अधिक-से-अधिक शक्ति का सम्भजन करनेवाले होते हैं अर्थात् शक्तिशाली बनते हैं। ३. शक्ति-सम्पन्न बनकर **ता**=वे **हि**=निश्चय से **उच्चा विजर्भृतः**=उत्कृष्ट विहार करते हैं अर्थात् उस समय इनका प्रत्येक कार्य उत्कर्ष को लिये हुए होता है। इनके कार्यों में नीचता (meanness) नहीं होती, इनके कर्म उदार ही होते हैं। ४. ये इस प्रकार उत्साह व शीघ्रता से कार्य करते हैं **इव**=जैसे **अन्धांसि**=अन्नों को **बप्सता**=भक्षण करनेवाले **हरी**=घोड़े। जिन घोड़ों को अन्न व भोजन ठीक मिलता है वे जिस प्रकार खूब हृष्ट-पुष्ट होकर वेग से मार्ग का आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार ये यज्ञशील, शक्तिसम्पन्न, उत्कृष्ट विहरण करनेवाले पुरुष अनालस्य होकर क्रियाशील होते हैं।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी यज्ञशील, शक्तिसम्पन्न व उत्कृष्ट कर्मों में विहरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

माधुर्यमय जीवन

ता नो॑ अ॒द्य व॑नस्पती ऋ॒ष्वावृ॒ष्वेभिः॑ सो॒तृभिः॑। इन्द्रा॑य॒ मधु॑मत्सु॒तम्॥८॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्यो! **वः**=तुममें से **अद्य**=आज **ता**=वे पति-पत्नी जोकि **वनस्पती**=ज्ञान की रश्मियों के पति बने हैं और अतएव **ऋष्वौ**=महान् बने हैं (नि० ३।३), वे **ऋष्वेभिः**=महान् **सोतृभिः**=सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुषों के सम्पर्क में रहकर **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **मधुमत्**=माधुर्य से युक्त इस सोम का **सुतम्**=अभिषव व सम्पादन करें। २. सोम को यहाँ 'मधुमत्' कहा है। सोम के रक्षण से जीवन में सचमुच माधुर्य उत्पन्न होता है। इसके रक्षण से उन्नति-पथ पर बढ़ता हुआ जीव अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। ३. इसका पान करनेवाले नर-नारी 'वनस्पती'=ज्ञान की रश्मियों के पति व बड़े ज्ञानी बनते हैं और जीवन में ऋष्व व महान् होते हैं। ४. इस सोम के रक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि हम महान् (ऋष्व) व सोमसम्पादन करनेवाले पुरुषों के सम्पर्क में ही रहें।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम शरीर में सोम का रक्षण करते हुए सदा जीवन को माधुर्यमय बनाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

चमुओं में सोम का भरण

उच्छि॒ष्टं च॒म्वो॑र्भर॒ सोमं॑ प॒वित्र॒ आ सृ॑ज। नि धे॑हि॒ गोरधि॑ त्व॒चि॥९॥

१. हमें चाहिए कि सोम को नष्ट न होने दें। यह शरीर का सर्वोत्तम रत्न है। शरीर की टूट-फूट को ठीक करने में जितना इसका विनियोग हो जाए उससे **उच्छिष्टम्**=बचे हुए सोम को **चम्वोः**=(चम्वो द्यावापृथिव्योर्नाम, नि० ३।३०) द्यावापृथिवी के निमित्त अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के निमित्त (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) **भर**=शरीर में ही तू संभृत कर। यह सुरक्षित सोम तेरा वह कोश होगा जिसके द्वारा तू अपनी ज्ञानाग्नि में सदा समिधा डालता हुआ ज्ञानाग्नि को चमका सकेगा और रोगनाश द्वारा शरीर को पुष्ट बना सकेगा। २. **सोमम्**=सोम को **पवित्रे**=मन की पवित्रता के निमित्त तू **आसृज**=

शरीर में चारों ओर व्याप्त करनेवाला बन। सोमरक्षण से शक्ति की वृद्धि होती है और मन में भी द्वेष-ईर्ष्यादि की हीन भावनाएँ नहीं उत्पन्न होतीं। ३. तू इस सोम को **गोः**=ज्ञानरश्मि के **अधि**=आधिक्येन **त्वचि**=सम्पर्क के (touch=त्वच्) निमित्त **निधेहि**=निश्चित रूप से सुरक्षित रख।

भावार्थ—सोम को नष्ट न होने देकर शरीर में ही धारण करना चाहिए जिससे हमारा मस्तिष्क व शरीर सुन्दर बने, मन पवित्र हो और हम ज्ञान-किरणों के खूब सम्पर्क में हों।

विशेष—सारे सूक्त की मूल भावना यही है कि हम सोम का रक्षण करें। इससे हम प्रभु के स्तोता व व्यापक उन्नतिवाले बनेंगे (१)। हमारे ज्ञान व हमारी भक्ति दोनों का ही पोषण होगा (२)। हृदय में प्रभु के नाम का मन्थन हमारी ज्ञानरश्मियों को संयत करेगा (५)। हम यज्ञशील, शक्तिशाली व उच्च विहरणवाले बनेंगे [७]। इसके रक्षण से ही हमारा जीवन शंसनीय बनेगा—

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पंचमः।

अनाशस्त से प्रशस्त

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥१॥

१. हे **सत्य**=सत्यस्वरूप प्रभो! **सोमपा**=हमारे सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **चित् हि**=निश्चय से **अनाशस्ताः इव**=अप्रशस्त-से जीवनवाले **स्मसि**=हम हैं, अतः हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **तु**=तो **आ**=सब प्रकार से **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=(स+हस्) मनःप्रसाद से युक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **शंसय**=प्रशस्त बनाइए। हे प्रभो! आप **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्यवाले हो, आपके ऐश्वर्य का अन्त नहीं है। आपके ऐश्वर्य में भागी बनकर मैं भी प्रशस्त जीवनवाला बनूँ। २. हे प्रभो! आप 'सत्य' हो, मैं भी सत्य के द्वारा मन को पवित्र करनेवाला बनूँ। सत्य के द्वारा मन को पवित्र करके मैं सोम का रक्षण करनेवाला बनूँ। आपका स्मरण मुझे सोम-रक्षण के योग्य बनाता है, सो आप ही मेरे 'सोमपाः' हैं। 'इन्द्र' नाम से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी इन्द्र=जितेन्द्रिय बनूँ ताकि आपकी भाँति ही 'तुवीमघः' महान् ऐश्वर्यवाला होऊँ। इन्द्रियों को जीतकर ही तो मनुष्य त्रिभुवन का विजेता बनता है—**'इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया'**—ये रामायण में मन्दोदरी के मुख से कहे गये शब्द ठीक ही हैं। ३. सोमरक्षण से पूर्व हमारा जीवन अप्रशस्त-सा होता है। सोम का रक्षण करने पर इन्द्रियों के दोष दूर होकर वे शुद्ध व शुभ्र हो जाती हैं। शरीर के एक-एक अङ्ग के पूर्ण स्वस्थ होने से एक-एक अङ्ग प्रसादयुक्त प्रतीत होता है। प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आप इन शुभ्र व प्रसन्न इन्द्रियों से हमारे जीवन को शंसनीय बना दीजिए। ४. 'गो' शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है चूँकि ये 'गमयन्ति अर्थान्' अर्थों का बोध देती हैं तथा 'अश्व' शब्द कर्मेन्द्रियों का वाचक है चूँकि 'अश्नुवते कर्मसु'—ये कर्मों में व्याप्त रहती हैं। इनके शुद्ध व प्रसन्न होने से हमारा जीवन अप्रशस्त न रहकर प्रशस्त हो जाता है।

भावार्थ—वे सत्य, सोमपा प्रभु हमारे अनाशस्त जीवनों को शुभ्र व प्रसन्न इन्द्रियों के द्वारा प्रशस्त बनाने की कृपा करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पंचमः ।

स्वकर्मों द्वारा

शिप्रिन्वाजानां पते शचीवस्तव दंसना ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥२॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं—**शिप्रिन्**=उत्तम हनु व नासिका-वाले ! 'हनु' शब्द जबड़ों के लिए प्रयुक्त होता है। यह व्यक्ति जोकि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है, वह शोभन हनुवाला व शिप्री है। इस प्रकार 'नासिका' शब्द यहाँ प्राणों का प्रतीक है। जो व्यक्ति नियमित रूप से प्राणसाधना करता है वह भी 'शिप्रिन्' है। सात्त्विक भोजन व प्राणायाम के द्वारा ही **वाजानां पते**=हे ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! तथा **शचीवः**=उत्तम प्रज्ञा व कर्मोंवाले **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ! **तव दंसना**=तेरे कर्मों से ही तू **नः**=हमारी, हमसे दी गई इन **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=प्रसादयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=अपने जीवन को प्रशंसनीय बना और इस प्रकार **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्योंवाला हो। २. यहाँ 'तव दंसना' शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु कहते हैं कि तुझे अपने कर्मों से ही अपने को प्रशस्त बनाना है। अपने पुरुषार्थ से ही तुझे मेरे द्वारा दी गई इन्द्रियों को शुद्ध व प्रसन्न रखना है। ऐसा करके ही तू अपने ऐश्वर्यों को बढ़ा रहा होगा। प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाला होकर तू तुवीमघ होगा। ३. उन कर्मों का संकेत सम्बोधन-पदों से हो रहा है। (क) **शिप्रिन्**=उत्तम सात्त्विक भोजन करना है तथा प्राणसाधना बड़े नियमित रूप से करनी है। (ख) **वाजानां पते**=अपनी शक्तियों का रक्षण करना है, तथा (ग) **शचीवः**=उत्तम प्रज्ञा व कर्मवाला बनना है।

भावार्थ—'शिप्री, वाजानां पति व शचीवान्' बनकर हम अपनी इन्द्रियों को शुद्ध व प्रसन्न बनाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पंचमः ।

आत्मालोचन व स्वाध्याय

नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥३॥

१. उत्तम जीवन के लिए यह आवश्यक है कि हम अपना ही आत्मालोचन करें और अपने जीवनों की कमी को दूर करने का प्रयत्न करें। इसी के लिए स्वाध्याय द्वारा अपने बोध को बढ़ाएँ। घर में पति-पत्नी हैं। वे एक-दूसरे के ही दोषों को देखेंगे तो प्रेम की इतिश्री होकर घर नरक बन जाएगा। स्कूल में अध्यापक व विद्यार्थी ऐसा ही करने लगें तो शिक्षा का वातावरण समाप्त हो जाएगा। राष्ट्र में राजा और प्रजा परस्पर दोष देखने लगे तो राष्ट्र अवनत होकर शत्रुओं से पादाक्रान्त कर लिया जाएगा, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि **मिथूदृशा**=एक-दूसरे को ही देखनेवालों को **निष्वापया**=निश्चित रूप से सुला दीजिए अर्थात् हम एक-दूसरे के ही दोषों को देखने में न लगे रहें, अपने ही जीवन का आलोचन करनेवाले बनें। २. **अबुध्यमाने**=जो प्रतिदिन स्वाध्याय के द्वारा अपने बोध को बढ़ाते नहीं वे **सस्ताम्**=(सम् Cease) समाप्त हो जाएँ। हम नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। ३. प्रभु से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=प्रभो ! आत्मालोचन व स्वाध्याय करनेवाले **नः**=हमें आप **शुभ्रेषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=प्रसादयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसायुक्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=आप तो महान् ऐश्वर्यवाले हैं, हमें भी अपने ही समान ऐश्वर्ययुक्त कीजिए।

भावार्थ—हम अपना ही आलोचन करें, औरों की आलोचना न करते रहें, हम स्वाध्यायशील बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पंचमः।

अदान का त्याग, दान का स्वीकार

स॒सन्तु॒ त्या अरा॑तयो॒ बोध॑न्तु शूर रा॒तयः॑।
आ तू न॑ इन्द्र शंसय॒ गोष्व॒श्वेषु॑ शु॒भ्रिषु॑ स॒हस्रे॑षु तुवीमघ ॥४॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से **त्या**=वे **अरातयः**=दान न देने की वृत्तियाँ **ससन्तु**=हमारे जीवनों में से समाप्त हो जाएँ और **शूर**=हे सब शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **रातयः**=ज्ञानवृत्तियाँ **बोधन्तु**=जाग उठें अर्थात् हम न देने की वृत्ति को समाप्त करके देने की वृत्ति का अपने में पोषण करें। यह दानवृत्ति ही सब बुराइयों का दान=(दाप् लवणे) खण्डन करती है और यही वृत्ति जीवन का दान=(दैप् शोधने) शोधन करती है। २. हे प्रभो! आप इस दान-वृत्ति से **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=आनन्दयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सर्वतः प्रसंसनीय बना दीजिए। **तुविमघ**=हे प्रभो! आप महान् ऐश्वर्यवाले हैं, जीवन को शुद्ध बनाकर मैं भी आपका ही अंश=छोटा रूप वन जाऊँगा।

भावार्थ=हम अदानवृत्ति से दूर रहें और दान की भावना हमारे जीवन में सदा जाग्रत् रहे।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पंचमः।

गर्दभ-हिंसन

समि॑न्द्र गर्द॒भं मृ॑ण नु॒वन्तं॑ पा॒पया॑मु॒या।
आ तू न॑ इन्द्र शंसय॒ गोष्व॒श्वेषु॑ शु॒भ्रिषु॑ स॒हस्रे॑षु तुवीमघ ॥५॥

१. हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अमुया पापया**=उस पापयुक्त सदा अशुभ शब्दों को बोलनेवाली वाणी से **नुवन्तम्**=शब्द करते हुए, बकवास करते हुए **गर्दभम्**=इस गधे को—नासमझ को **सं-मृण**=पूर्णतया नष्ट कर दे (मृण हिंसायाम्) अर्थात् प्रभु-कृपा से हम कभी भी अशुभ शब्दों के बोलनेवाले न हों, गधे के समान न बनें। समझदार बनकर सदा शुभ शब्द ही बोलें। औरों के अवगुणों को प्रकट करते हुए हम सचमुच नासमझी का काम कर रहे होते हैं। व्यर्थ के वैर-विरोध को तो इससे बढ़ाते ही हैं। यह पाप-कथा हमारे अपने अकल्याण का कारण हो जाती है—**'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'**। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=सदा प्रसन्न **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसनीय जीवनवाला बना दीजिए। **तुवीमघ**=आप महान् ऐश्वर्यवाले हैं, मैं भी आपके समान ही 'तुवीमघ' बनने का प्रयत्न करूँ। उसका मार्ग यही है कि मैं औरों की निन्दा न करता फिरूँ, अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाऊँ।

भावार्थ—वह वाणी पापमय है जो औरों की अपकीर्ति ही प्रकट करती रहती है; हम ऐसा करने-वाले गधे न बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पंचमः।

कुटिलता

पता॑ति कुण्डृ॒णाच्या॑ दू॒रं वातो॒ वना॒दधि॑।
आ तू न॑ इन्द्र शंसय॒ गोष्व॒श्वेषु॑ शु॒भ्रिषु॑ स॒हस्रे॑षु तुवीमघ ॥६॥

१. कुण्डृणाच्य=(कुडि दाहे, कुण्ड् भावे क्विप्, ऋण=ऋ गतौ, अञ्च गतौ) दहनात्मक कुटिल-गति से चलनेवाली **वातः**=वायु **वनात्**=वन से भी **अधिदूरम्**=अधिक दूर होकर **पताति**=चलती है अर्थात् हमारे जीवन से यह कोसों दूर होती है। हमारे मस्तिष्कों में ऐसी हवा नहीं भर जाती जिसमें दहनात्मकता है, कुटिलता है। हम 'कुटिलता, क्रूरता व क्रोध' से दूर रहते हैं। जैसे आँधी आती है और सब छप्परों को उड़ाकर ले जाती है, इस प्रकार हमारे जीवनों में क्रोध की आँधी किसी और की हिंसा करनेवाली नहीं होती। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **तु**=तो **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=सम्प्रसादवाली **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सब प्रकार से प्रशस्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=आपका ऐश्वर्य महान् है, मैं भी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाकर अध्यात्म-ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—कुटिलगति से चलनेवाली हवा हमसे दूर रहे अर्थात् हम कुटिल न बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पंचमः।

क्रूरता व क्रोध

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **सर्वम्**=सब **परिक्रोशम्**=(Cursing, क्रुश=कोसना) गाली देने की वृत्ति को **जहि**=नष्ट कर दीजिए। हम किसी के लिए अपशब्दों का प्रयोग न करें। निन्दात्मक वचन हमसे दूर ही रहें। २. **कृकदाश्वम्**=(कृ हिंसायाम्) हिंसा करने की वृत्ति को **जम्भया**=नष्ट कर दीजिए। हम किसी की भी हिंसा करने में प्रवृत्त न हों। हम क्रोधभरे शब्दों और क्रूरकर्मों से दूर ही रहें। ३. हे **इन्द्र**=शत्रुनाशक प्रभो! आप **तु**=निश्चय से **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=सम्प्रसाद-युक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसनीय जीवनवाला कीजिए। **तुवीमघ**=आप अनन्त ऐश्वर्यवाले हैं, हम भी क्रोध व क्रूरता को दूर करके अध्यात्म-सम्पत्तिवाले बनें।

भावार्थ—हम क्रोध व क्रूरता से ऊपर उठें।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ अप्रशस्त जीवन को प्रशस्त जीवन बनाने के निश्चय से होता है (१)। प्रभु कहते हैं कि तेरे अपने ही प्रयत्न तुझे प्रशस्त जीवनवाला बनाएँगे (२)। जीव प्रभु से कहता है कि आप ऐसी कृपा कीजिए कि हम औरों के ही दोष न देखते रहें और स्वाध्यायशील बनें (३)। हममें 'न देने की वृत्ति' समाप्त होकर दानभाव जागरित हो जाए (४)। हम अशुभ वाणी से एक गधे की भाँति औरों की निन्दा ही न करते रहें (५)। कुटिलता की हवा हमसे दूर ही रहे (६)। हम न क्रोध से अप-शब्द बोलें, न किसी के प्रति क्रूर हों (७) ऐसा बनने के लिए हम अपने को सोम से सिक्त करने का प्रयत्न करें—

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इन्द्र-क्रिवि-शतक्रतु-मंहिष्ठ

आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम्। मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥१॥

१. प्रभु अपने इन सुपुत्र जीवों से कहते हैं कि **वाज्यन्तः**=(शतृ नदी, स्त्रैणादिक शतृ प्रत्यय से

एकवचन) शक्तिशाली बनाने की कामना करते हुए मैं **वः**=तुममें से **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष को और **यथा क्रिविम्**=जितना-जितना वह क्रियाशील है (कृ करणे) अथवा जितना-जितना वह वासनाओं का छेदन करनेवाला है (कृती छेदने) उतना ही **मंहिष्ठम्**=वृद्धिशील पुरुष अथवा दानशील पुरुष को तथा **शतक्रतुम्**=सौ के सौ वर्ष यज्ञों में व्यतीत करनेवाले पुरुष को **इन्दुभिः**=(बिन्दुभिः) सोमकणों से **सिञ्चे**=सींचता हूँ। २. यहाँ मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि शक्तिशाली बनने के लिए आवश्यक है कि सोमकणों का सेचन व व्यापन शरीर में ही हो। इनका अपव्यय ही हमें जीर्ण-शीर्ण करता है। ३. इन सोमकणों का व्यापन उन्हीं के शरीरों में होता है जोकि (क) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय बने। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः मूल वस्तु है। यही 'ब्रह्मचर्य' शब्द से कही जाती है; प्रभु की ओर चलना (ब्रह्म-चर्) यही है। इसी के द्वारा हम प्रभु तक पहुँचेंगे। (ख) **क्रिविम्**=हम सदा क्रियाशील बने रहें और इस क्रियाशीलता के द्वारा (कृती) वासनाओं का छेदन करनेवाले बनें। वासनाओं के साथ सोमरक्षण का शाश्वतिक विरोध है। (ग) हमारे सौ के सौ वर्ष यज्ञों में व्यतीत हों, हमारा जीवन यज्ञमय हो। (घ) **मंहिष्ठम्**=हम 'वृद्धि' को जीवन का सूत्र बनाएँ तथा खूब दानशील हों। दान ही दिव्यताओं का वर्धन करता है—**देवो दानात्** (यास्क)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'इन्द्र, क्रिवि, शतक्रतु व मंहिष्ठ' बनें और इस बात के पात्र हों कि प्रभु हमें सोमकणों से सिक्त कर दें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पवित्रता व नीरोगता

शतं वा यः शुचीनां सहस्रं वा समाशिराम्। एदु निम्नं न रीयते ॥२॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे जीवो! इस बात का ध्यान करो कि **यः**=जो सोम **शतं शुचीनाम्**=सैकड़ों पवित्रताओं का कारण है **वा**=तथा **सहस्रं समाशिराम्**=(सम् आ-शॄ-हिंसायाम्) जो सम्यक्तया समन्तात् वासनाओं, हजारों बुराइयों को व रोग-कृमियों को शीर्ण करनेवाला है, वह सोम **आ इत् उ**=निश्चयपूर्वक सब प्रकार से **निम्नम्**=नीचे की ओर **न रीयते**=नहीं जाता है (री गतौ) अर्थात् तुम इस बात के लिए दृढ़संकल्प बनो कि ये सोमकण शरीर में ही व्याप्त हों, तुम ऊर्ध्वरेतस् बनो। २. सब मानस-पवित्रताएँ (शुचि), सब शरीर की नीरोगताएँ (समाशिर्) इस ऊर्ध्वरेतस् बनने पर ही निर्भर करती हैं। इसका अपव्यय हुआ तो मानस पवित्रताएँ भी गईं और शरीर भी विविध रोगों का शिकार हुआ।

भावार्थ—हम इस बात का पूर्ण ध्यान करें कि सोम का अपव्यय न हो ताकि हम पवित्र व नीरोग बने रहें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शक्ति, हर्ष व विशालता

सं यन्मदाय शुष्मिण एना ह्यस्योदरे। समुद्रो न व्यचो दधे ॥३॥

१. गत मन्त्र में वर्णित 'सोम' वह है **यत्**=जोकि **शुष्मिणे**=शत्रुशोषक बलवाले पुरुष के लिए **सं मदाय**=उत्कृष्ट हर्ष के लिए होता है अर्थात् यह सोम उसे बलवान् बनाता है और हर्ष प्राप्त कराता है। इस सोम के रक्षण के अभाव में, भोग-विलास के कारण इसकी अधोगति होने पर न तो हममें शक्ति रहती है, न उल्लास; जीवन का सब आनन्द समाप्त हो जाता है। २. **एना हि**=इस सोम के द्वारा ही

अस्य उदरे=इसके मध्यदेश में अर्थात्—हृदयान्तरिक्ष में **समुद्रो न**=समुद्र के समान **व्यचः**=विस्तार **दधे**=धारण किया जाता है। जैसे समुद्र विशाल है, उसी प्रकार इसका हृदय विशाल होता है।

भावार्थ—सोम के सुरक्षित होने पर हम बल, हर्ष व विशालता को अपने में धारण करते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुख व ज्ञान

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥४॥

१. हे जीव! **अयम्**=यह सोम **उ**=निश्चय से **ते**=तेरा है, तू **सम् अतसि**=सम्यक् इसकी ओर जाता है अर्थात् इसे प्राप्त व सुरक्षित रखने के लिए तेरे सतत प्रयत्न होते हैं। २. **कपोतः**=(क+पोत) यह तेरे लिए आनन्द की नौका के समान है (पोत= boat)। तेरे सब उल्लास इसपर निर्भर करते हैं। शरीर में इसका रक्षण ही सब आनन्दों का मूल है। ३. इसका रक्षण होने पर **नः**=हमारे **तत्**=उस **गर्भधिम्**=अपने अन्दर सम्पूर्ण ज्ञान को धारण करनेवाले **वचः**=वेदस्थ वाक्यों को **चित्**=निश्चय से **ओहसे**=प्राप्त होता है, **आ ऊहसे**=सम्यक्तया समझनेवाला होता है। इस सोम के रक्षण से ही हमारी ज्ञानाग्नि समिद्ध होती है, बुद्धि तीव्र होती है और हम अर्थगौरव से पूर्ण वेदवाक्यों को समझ पाते हैं। ये वेदवाक्य 'गर्भधि' हैं—अपने गर्भ में सम्पूर्ण ज्ञान को धारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम सोमरस के लिए सतत प्रयत्नशील हों, ये हमें सुखी व ज्ञान से परिपूर्ण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विभूति व सूनृत वाणी

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता ॥५॥

१. सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष से ही प्रभु कहते हैं कि हे **वीर**=(वि+ईर) शत्रुओं व रोगों को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले! **राधानां पते**=सफलताओं के स्वामिन्! सोमरक्षण करनेवाला कभी संसार में असफल नहीं होता। **गिर्वाहः**=(गिर् वह्+असुन्) वेदवाणियों को धारण करनेवाले! **यस्य ते**=जिस तेरा **स्तोत्रम्**=प्रभु स्तवन होता है, उस तेरी **विभूतिः**=विशिष्ट ऐश्वर्यशालिता हो तथा **सूनृता अस्तु**=तेरी वाणी उत्तम—दुःखों का परिहाण करनेवाली व ऋत हो, अथवा तेरी सारी विभूति ही सूनृत हो। २. गतमन्त्रों में वर्णित सोमरक्षण के परिणामस्वरूप मनुष्य (क) 'वीर' बनता है, यह शत्रुओं को कम्पित करनेवाला होता है। (ख) 'राधानां पति'—यह कभी असफल नहीं होता, संसार में सदा सफल होता है तथा (ग) 'गिर्वाहस्'—ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला होता है। ३. इस प्रकार 'वीर, राधानां पति व गिर्वाहस्' बनकर यदि यह प्रभुस्तवन करनेवाला बनता है तो इसे 'विभूति व सूनृता वाणी' प्राप्त होती है—इसका ऐश्वर्य विशिष्ट होता है और साथ ही यह सदा सूनृत वाणी का बोलनेवाला होता है। विभूति इसे गर्वित नहीं कर देती, 'सोम' इसे 'सौम्य' बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम वीर, सफल व ज्ञानी बनें। प्रभुस्तवन से अलग न होते हुए विभूति व सूनृता वाणीवाले हों। सूनृता वाणी हमारी विभूति का अलंकार बन जाए।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु-रक्षण

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै ॥६॥

१. गत मन्त्रों में दी गई प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो ! **अस्मिन् वाजे**=इस संग्राम में **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठा**=ऊपर खड़े होइए अर्थात् आपका रक्षण हमें सदा प्राप्त हो। आपके रक्षण के बिना हम किसी भी संग्राम में जीत नहीं सकते। **अन्येषु**=अन्य सब कार्यों में भी **सं ब्रवावहै**=हम मिलकर बात-चीत करें—आपकी प्रेरणा के अनुसार ही हम सब कार्यों के करनेवाले बनें। वस्तुतः आपकी प्रेरणा के अनुसार सब कार्य करते रहने पर संकटों के आने का प्रसङ्ग ही नहीं रहता और संसार में आ जानेवाले सभी संग्रामों में हमारी विजय होती है। ३. 'प्रभु से बात करके कार्य करना' यह मानव के जीवन में बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। वास्तव में प्रभु पिता हैं, हम पुत्र। हमें प्रभु से पूछकर ही कार्य करना चाहिए। ऐसा करने पर पुत्र कभी भटकता नहीं।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से हम संग्रामों में विजयी हों। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शक्ति-वर्धन

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥७॥

१. **योगेयोगे**=प्रत्यक मेल के होने पर अर्थात् जितना-जितना प्रभु से हमारा मेल बढ़ता है उतना-उतना **तवस्तरम्**=हमारे बलों को बढ़ानेवाले (तवस्=बल, तॄ=बढ़ाना **'प्रतिरा न आयुः'**) उस प्रभु को **वाजेवाजे**=उस-उस शक्ति की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=हम पुकारते हैं। सब शक्तियों के स्रोत वे प्रभु ही हैं। जितना-जितना हमारा प्रभु से मेल होगा उतनी-उतनी हमारी शक्ति बढ़ेगी। प्रत्येक शक्ति की प्राप्ति के लिए हमें प्रभु को ही पुकारना है, प्रभु से ही शक्ति मिलती है। २. **सखायः**=प्रभु के मित्र बनकर **ऊतये**=रक्षा के लिए हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्रार्थना करते हैं। प्रभु रक्षण करनेवाले हों तो सारा संसार हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता और प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त न हो तो संसार की कोई शक्ति हमें बचा नहीं सकती।

भावार्थ—प्रभु से हम अपना मेल बढ़ाएँ ताकि हमारी शक्ति बढ़े, संग्रामों में हम विजयी बनें। सखा बनकर प्रभु को ही रक्षण के लिए पुकारें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रक्षण व शक्ति की प्राप्ति

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम् ॥८॥

१. **यदि श्रवत्**=यदि प्रभु हमारी पुकार को सुनते हैं अर्थात् यदि हमारी प्रवृत्ति प्रभु-प्रार्थना-प्रवण होती है तो वे प्रभु **सहस्रिणीभिः ऊतिभिः**=हजारों रक्षणों के साथ तथा **वाजेभिः**=रक्षण-योग्य बनानेवाली शक्तियों के साथ **नः**=हमारी **हवम्**=पुकार के **उप**=समीप **घा**=निश्चय से **आगमत्**=आते हैं। प्रभु के रक्षण में कमी नहीं है, हमारी प्रार्थना में ही कमी है। प्रभु हमारी प्रार्थना न सुनें सो बात नहीं, हम प्रार्थना-प्रवण होते ही नहीं। प्रभु के रक्षण के प्रकार तो हजारों हैं। विविध घटनाओं से हमारा रक्षण प्रभु द्वारा हो रहा है। ३. प्रभु मुख्य रूप से शक्ति देकर ही हमारा रक्षण करते हैं (वाजेभिः)। प्रभु शक्ति देते हैं, उस शक्ति का प्रयोग हमें स्वयं करना होता है। इसी से जीवों की योग्यता बढ़ती है।

भावार्थ—हम प्रार्थना करें, प्रभु अवश्य सुनते हैं और शतशः प्रकारों से हमारा रक्षण करते हैं। वे प्रभु शक्तियों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

घर की ओर

अनु॑ प्र॒त्नस्यौक॑सो हुवे तुविप्र॒तिं नर॑म् । यं ते॒ पूर्वं॑ पि॒ता हु॒वे ॥९॥

१. हम इस जीवन-यात्रा में हैं, हमारा घर ब्रह्मलोक है । उस घर में हम अपने पिता प्रभु के साथ सानन्द रहते थे । यात्रा पर चले और देवलोक—'देवयोनि (अन्तरिक्ष), मर्त्यलोक व असुर्यलोक' आदि में समय-समय पर भ्रमण करते रहे । अब हम **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=उस सनातन गृह का लक्ष्य करके उस प्रभु को **हुवे**=पुकारते हैं, जो प्रभु कि **तु वि प्रतिम्**=प्रत्येक दृष्टिकोण से महान् हैं; वस्तुतः प्रत्येक गुण की पराकाष्ठा ही हैं । जहाँ निरतिशय ज्ञान है, वे ही तो प्रभु हैं । इसी प्रकार जहाँ निरतिशय बल है, निरतिशय व्यापकता है, वे ही तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक प्रभु हैं । वे प्रभु **नरम्**=(नृ नये) हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं । २. वे आगे ले-चलनेवाले प्रभु ही हमारे पिता हैं । आज हम कुछ ठोकर लगने पर उस सनातन घर की याद करने लगे हैं । वेद कहता है कि हे मनुष्यो ! वही तो तेरा घर है **यम्**=जिसकी ओर **ते पिता**=तेरे पिता तो **पूर्वम्**=पहले ही तुझे आने के लिए **हुवे**=पुकार रहे हैं । प्रभु तो सदा हमें इस यात्रा में अपने को यात्री समझते हुए यहाँ ही फँसकर न रह जाने के लिए प्रेरणा देते ही रहते हैं । पर यहाँ के चमकीले पदार्थ हमें ऐसा आकृष्ट करते हैं कि हम इनका आनन्द लेने लगते हैं और पिता व घर को भूल ही जाते हैं; कभी-कभी कष्ट आने पर हमें उनका स्मरण आता है । प्रभु तो सदा प्रेरणा देते ही रहते हैं ।

भावार्थ—हम ब्रह्मलोक को अपने घर का लक्ष्य करके प्रभु से यही आराधना करें कि हम यात्रा को पूर्ण करके घर लौट सकें । वस्तुतः प्रभु की प्रेरणा को हम सुनते रहें, वे हमें सदा लौट आने की प्रेरणा देते ही रहते हैं ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

घर की याद

तं त्वा॑ व॒यं वि॑श्ववा॒रा शा॑स्महे पुरुहूत । सखे॑ वसो जरि॒तृभ्यः॑ ॥१०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार घर का स्मरण आने पर जीव प्रार्थना करता है कि **वयम्**=हम **तम् त्वा**=उन आपको ही **आशास्महे**=चाहते हैं, जो आप **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए—आपको न भूल जानेवालों के लिए **विश्ववार**=सब रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारने योग्य हैं अथवा जिन आपका पुकारना पालन व पूरण करनेवाला है (पॄ पालनपूरणयोः), **सखे**=जो आप सच्चे मित्र हैं तथा **वसो**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करानेवाले हैं । २. प्रभु की प्राप्ति ही हमें 'आप्तकाम' बनानेवाली है, वही तृप्ति है । इन सांसारिक विषयों में 'अनुतृषुलता' है, ये तृप्ति देनेवाले नहीं हैं । इनसे उत्तरोत्तर प्यास बढ़ती ही है, तृप्त नहीं होती । हम उस 'विश्ववार' प्रभु की ही कामना करें । उनकी प्राप्ति ही हमारा पालन व पूरण करेगी, वे ही पुरुहूत हैं । प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र (सखा) हैं और हमें उत्तम निवासवाला बनाते हैं (वसो) ।

भावार्थ—हे विश्ववार, पुरुहूत, सखे, वसो ! हम आपको ही पुकारते हैं ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पादनिचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

शिप्री-सोमपा-सखा

अ॒स्माकं॑ शि॒प्रिणी॑नां॒ सोम॑पाः सोम॒पाव्ना॑म् । सखे॑ वज्रि॒न्त्सखी॑नाम् ॥११॥

१. हे **सखे**=सखिभूत प्रभो ! **वज्रिन्**=वज्र (क्रियाशीलता) के द्वारा हमारे सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो ! **अस्माकम्**=हम **शिप्रिणीनाम्**=उत्तम जबड़े व नासिकावालों का अर्थात् सात्त्विक भोजन का सेवन करनेवाले तथा प्राणसाधना के अभ्यासियों का **सोमपाव्नाम्**=सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा अपने सोम की रक्षा करनेवालों का और इस सोमपान के द्वारा **सखीनाम्**=आपकी मित्रता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हम लोगों के **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले आप ही हैं। २. इस सोमपान का सम्भव आपकी कृपा से ही होता है। सोम के रक्षण का साधन 'शिप्रिन्' बनना है और इसका परिणाम आपका सख्य है। 'शिप्रिन्' बनकर हम सोम का रक्षण करते हैं और आपके सखित्व को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम 'शिप्रिन्' बनकर सोमपावन् हों और प्रभु के सखा बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु की ही कामना

तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रिन्तथा कृणु। यथा त उश्मसीष्टये ॥१२॥

१. हे **सखे**=हम सबके निःस्वार्थ व सच्चे मित्र प्रभो ! हे **वज्रिन्**=हमारे शत्रुओं के नाश के लिए हाथ में वज्र लिये हुए प्रभो ! **सोमपाः**=आप ही हमारे सोम का रक्षण करनेवाले हैं, आपकी कृपा से ही सोम का रक्षण होता है। आपकी कृपा से **तत्**=वह बात **तथा अस्तु**=उस प्रकार से पूर्ण हो, उस प्रकार से हो क्या ? **तथा कृणु**=आप ऐसा कर ही दीजिए कि **यथा**=जिससे **ते**=आपकी ही **उश्मसि**=कामना करते हैं ताकि **इष्टये**=सब इष्टों की प्राप्ति हो सके। २. कहा जाता है कि प्रभु-कृपा से सब वातावरण ठीक बन जाता है। यहाँ मन्त्र में आराधक प्रभु से कहता है कि 'सारा वातावरण ठीक बन जाए'—इतना ही नहीं, आप बस ऐसा कर ही दीजिए कि हम प्रकृति के सुखों से विमुख हो आपकी ओर झुकें। ३. आपकी ओर झुकते ही हमारी सब इष्ट कामनाएँ पूर्ण हो जाएँगी। आपको पाया तो सब-कुछ पा लिया। आपको पा लेने पर कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता। 'विष्णु' प्रसन्न हुए तो 'लक्ष्मी' तो प्रसन्न हो ही गईं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा हो और ऐसा वातावरण बने कि हमारा झुकाव प्रभु की ओर हो जाए।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सधमाद अन्न व धन

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥१३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार **इन्द्रे**=उस प्रभु के हमारे होने पर, जब प्रभु की ही कामना करेंगे और प्रभु को अपनाएँगे तो **रेवतीः**=प्रशस्त धनोंवाले **तुविवाजः**=प्रभूत अन्न **नः**=हमारे **सन्तु**=हों, जो अन्न कि **सधमादः**=साथ मिलकर हमें आनन्द के देनेवाले हों अर्थात् जिन अन्नों व धनों को हम स्वयं ही सारा-का-सारा खा न जाएँ, औरों के साथ बाँटकर ही उसका उपभोग करें। २. ये अन्न **क्षुमन्तः**=भूखवाले हों अर्थात् इन अन्नों का हम इस रूप में सेवन करें कि इनके अतियोग से हमारी भूख ही न समाप्त हो जाए। ये अन्न ऐसे हों कि **याभिः**=जिनसे नीरोग रहते हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु-प्रवण व्यक्ति को वे अन्न व धन प्राप्त होते हैं जिनका वह औरों के साथ मिलकर उपभोग करता है और जो अन्न व धन उसे अपने में आसक्त कर अतियोग से रुग्ण नहीं कर देते, परिणामतः उनसे वह आनन्द को ही प्राप्त करता है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

त्रिविध उन्नति

आ घ त्वावान्त्मनाप्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः । ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥१४॥

१. हे **स्तोतृभ्यः धृष्णो**=स्तोताओं के लिए उनके शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो ! जो व्यक्ति **त्वावान्**=आप जैसा बनने का प्रयत्न करता है और **त्मना आप्तः**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति से सब-कुछ प्राप्त मानता है, यह **इयानः**=(ईङ् गतौ) सदा गतिशील होता हुआ **घ**=निश्चय से **चक्र्योः**=(चक्रयोः) चक्रों में **अक्षं न**=अक्ष की भाँति मस्तिष्क व शरीर (द्युलोक व पृथिवीलोक) के बीच में हृदय (अन्तरिक्ष) को **आ ऋणोः**=प्राप्त करता है (आ ऋणोति)। जैसे चक्र व अक्ष सब साथ-साथ चलते हैं उसी प्रकार यह स्तोता मस्तिष्क, शरीर व हृदय सबकी साथ-साथ उन्नतिं करता है। ३. उन्नति कर वही पाता है जोकि क्रियाशील होता है (इयानः)। यह ठीक है कि यह व्यक्ति प्रभु का स्तवन करता है और प्रभु ही मार्ग में आनेवाले शत्रुओं का संहार करते हैं। स्तोताओं के लिए शत्रुधर्षण का काम प्रभु का ही है। ४. स्तोता वह है जो प्रभु जैसा बनने का यत्न करता है (त्वावान्) तथा आत्मा से ही तृप्ति का अनुभव करता है, उसी से अपने को कृतकृत्य मानता है (त्मनाप्तः)।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का संहार करेंगे और हम मस्तिष्क, शरीर व हृदय सभी की उन्नति कर पाएँगे।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रज्ञा, वाणी व कर्म

आ यद्दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम् । ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥१५॥

१. हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञाओं व कर्मोंवाले प्रभो ! आप **जरितॄणाम्**=स्तोताओं को **यत्**=जो **दुवः**=धन (दुवस्=wealth) तथा **कामम्**=चाहने योग्य पदार्थों को **आ ऋणोः**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं, यह सब **शचीभिः**=(कर्मनाम नि० २।१, वाङ्नाम १।११, प्रज्ञानाम ३।९) कर्म, वाणी व प्रज्ञा के हेतु से **अक्षं न**=दो पहियों के बीच में वर्तमान अक्ष के समान है। २. जैसे दो पहियों के बीच में अक्ष होता है, उसी प्रकार यहाँ प्रज्ञा और कर्म के बीच में वाणी है। दोनों पहिये तथा अक्ष साथ-साथ ही घूमते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा, वाणी और कर्म साथ-साथ चलते हैं। प्रत्येक कर्म पहले विचार के रूप में होता है (प्रज्ञा), फिर उच्चारण (वाङ्) के रूप में आता है और अन्ततः आचरण (कर्म) का रूप धारण करता है। ३. प्रभु हमें जो भी धन प्राप्त कराते हैं या काम्य पदार्थों को देते हैं, वह सब इसलिए कि हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्मों' को सुन्दर बना सकें। इन सब धनों व काम्य पदार्थों का अतियोग व अयोग न करते हुए हम यथायोग्य सेवन करेंगे तो हम इन सभी को अनन्त कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, प्रभु हमें धनों व इष्ट पदार्थों को इसलिए प्राप्त कराएँ कि हमारी 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' पवित्र बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

धन-विजय व धनदान

शश्वदिन्द्रः पोप्रुथद्भिर्जिगाय नानदद्भिः शाश्वसद्भिर्धनानि ।
स नो हिरण्यरथं दंसनावान्त्स नः सनिता सनये स नोऽदात् ॥१६॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष अपने इन्द्रियरूप अश्वों से, जो अश्व **पोप्रुथद्भिः**=(to withstand) जो सब विघ्न-बाधाओं का मुकाबिला करके आगे बढ़ते हैं, (to be able) जो अपना कार्य करने में समर्थ हैं, (to subdue, overcome) जो सर्दी-गर्मी आदि को जीत लेनेवाले हैं तथा **नानद्भिः**=निरन्तर प्रभुस्तवन में लगे हैं, **शश्वद्भिः**=जिनसे प्राण-साधना ठीक रूप से चल रही है, ऐसे इन्द्रियाश्वों से **धनानि**=धनों को **शश्वत**=सदा **जिगाय**=जीतता है। २. वस्तुतः जीव क्या जीतता है **सः**=वह प्रभु ही **वः**=हमें **दंसनावान्**=सब उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हुए **हिरण्यरथे**=ज्योतिर्मय शरीररूप रथ को **अदात्**=देते हैं। प्रभुकृपा से ही हमें जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए यह शरीररूप रथ मिला है जोकि पाँच ज्ञानेन्द्रिय-रूप दीपकों से तथा बुद्धिरूप महान् दीपक से ज्योतिर्मय हो रहा है। ३. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमारे **सनिता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। **सः**=वह **सनये**=दान के लिए **नः**=हमें **अदात्**=देते हैं। प्रभु इसलिए देते हैं कि हम दान करनेवाले बनें। ४. देते तो प्रभु ही हैं परन्तु तभी जबकि हम जितेन्द्रिय बनते हैं (इन्द्रः)। जब हम अपनी इन्द्रियों को कार्य-समर्थ बनाते हैं (पोप्रुषद्भिः), जब हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले होते हैं (नानद्भिः), तथा जब हम प्राण-साधन करते हैं (शश्वसद्भिः)।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें धन प्राप्त होते हैं; ये धन इसलिए प्राप्त होते हैं कि हम इन्हें दान करनेवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'अश्वावती शवीरा इष'

आश्विनावश्वावत्येषा यातं शवीरया। गोमद्दस्रा हिरण्यवत् ॥१७॥

१. हे **आश्विनौ**=प्राणापानो! आप **अश्वावत्या**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाली, **शवीरया**=(शव गतौ) प्रकृष्ट गतिवाली **इषा**=प्रेरणा के साथ **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ, अर्थात् प्राणापान की साधना से हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष हों, हमारे जीवन में आलस्य-शून्यता होकर प्रकृष्ट गति का संचार हो। हमें सदा प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती रहे। प्राणसाधना के अभाव में इन्द्रियों की मलिनता बढ़ती है, तमोगुण की वृद्धि के साथ आलस्य भी अधिक आ जाता है, प्रभु-प्रेरणा के सुनने का प्रश्न ही नहीं रहता। २. हे **दस्रा**=सब बुराइयों का क्षय करनेवाले (दसु क्षये) प्राणापानो! आपकी कृपा से हमारा जीवन **गोमत्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला हो (गमयन्ति अर्थान् इति गावः) तथा **हिरण्यवत्**=ज्योतिर्मय हो। प्राणों की साधना से बुद्धि की तीव्रता होकर हमारी ज्ञानज्योति चमक उठती है।

भावार्थ—प्राणसाधना का लाभ यह है कि (क) इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं, (ख) जीवन में क्रियाशीलता आती है, (ग) प्रभु-प्रेरणा प्राप्त होती है, (घ) ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम होकर ज्ञान की ज्योति बढ़ती है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

समविकास-अमर्त्यता व प्रभु-प्राप्ति

समानयोजनो हि वाँ रथो दस्रावमर्त्यः। समुद्रे अश्विनेयते ॥१८॥

१. हे **दस्रौ**=दोषों का क्षय करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का यह **रथः**=शरीररूप रथ **हि**=निश्चय से **समानयोजनः**=समान योजनावाला है, अर्थात् इसमें सब अंगों का ठीक रूप से एक-जैसा विकास किया गया है, इसमें मस्तिष्क, मन व शरीर सभी का समान रूप से विकास हुआ है। प्राणापान शरीर में बल का आधान करते हैं, मन को निर्मल बनाते हैं और मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बना

देते हैं। २. इस प्रकार यह रथ सम विकासवाला होते हुए **अमर्त्यः**=असमय में ही नष्ट नहीं हो जाता, यह रोगों का शिकार नहीं होता, सो मृत्यु को प्राप्त नहीं होता ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो ! इस प्रकार यह शरीररूप रथ **समुद्रे**=सदा आनन्दयुक्त (स+मुद्) प्रभु में **ईयते**=गतिवाला होता है, अर्थात् हम इस शरीर द्वारा प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों, इसी परमार्थ-साधन के लिए ही तो यह शरीर मिला है। शरीर की व हमारी सार्थकता इसी में है कि हम प्राणसाधना द्वारा प्रभु को पानेवाले वनें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों को उन्नत करें (समान-योजनः)। तभी यह शरीर रोगाक्रान्त होकर नष्ट हो जानेवाला न होगा (अमर्त्यः) और अन्त में यह शरीररूपी रथ हमें प्रभु तक पहुँचानेवाला बनेगा।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

चक्र का मूर्धस्थान में नियमन

न्य१घ्न्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्य येमथुः। परि द्यामन्यदीयते ॥१९॥

१. हे प्राणापानो ! **यद्**=जब यह शरीररूपी रथ **द्याम्**=द्युलोक में **अन्यत्**=कुछ विलक्षण ही रूप से **परि, ईयते**=व्यापक गतिवाला होता है अर्थात् जब हमारी बुद्धि तीव्र होकर हमें अद्भुत आत्मज्ञान प्राप्त होता है, या हम सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा कण-कण में प्रभु के रचना-सौन्दर्य को देखने लगते हैं तो आप **रथस्य**=इस शरीर-रथ के **चक्रम्**=चक्र को **अघ्न्यस्य मूर्धनि**=किसी भी प्रकार नष्ट न किये जा सकने योग्य (हन् हिंसा) अथवा सामान्य बुद्धि से न पहुँच सकने व जा सकने योग्य (हन् गतौ) उस प्रभु के ऊर्ध्व स्थान में (तृतीये धामन्) **नियेमथुः**=स्थापित करते हो। २. प्राणापान की साधना से ही शरीर में सोम का रक्षण होकर, ज्ञानाग्नि को सोमरूप ईंधन प्राप्त कराया जाता है। ज्ञानाग्नि प्रचण्ड होकर सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखती है। सारा हृदयाकाश ज्ञान की विलक्षण (अन्यत्) ज्योति से परिपूर्ण होता है तो वहाँ इस अज्ञेय प्रभु का दर्शन होता है, काव्यमय भाषा में 'शरीर-रथ' का पहिया प्रभु के तृतीय धाम—सर्वोच्च स्थान—में जाकर स्थित होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वह ज्योति प्राप्त होती है जोकि हमें प्रभुदर्शन के योग्य बनाती है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—उषाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उषः-जागरण

कस्त उषः कधप्रिये भुजे मर्तो अमर्त्ये। कं नक्षसे विभावरि ॥२०॥

१. हे **उषः**—(उष दाहे) अन्धकार का दहन करनेवाले उषःकाल ! भक्त के दोषों को दग्ध करनेवाले ! **कः**=वे अनिर्वचनीय आनन्दमय प्रभु तो **ते**=तेरा ही है, अर्थात् उस प्रभु से मेल तुझमें ही होता है,—तेरा नाम ही 'ब्राह्ममुहूर्त' हो गया है। २. हे **कधप्रिये**=(क+ध+प्रिये) उस प्रभु को धारण करना ही जिसे प्रिय है ऐसे **अमर्त्ये**=अपने उपासक को रोगादि से न मरने देनेवाले उषःकाल ! **मर्त्यः**=तेरा उपासक मनुष्य **भुजे**=पालन के लिए होता है। जो भी व्यक्ति उषः-जागरण को जीवन का नियम बनाकर इस उषःकाल में प्रभु का स्मरण करता है (कः ते) और प्रभु को अपने में धारण करने का प्रयत्न करता है—(क+ध+प्रिये) वह व्यक्ति नीरोग जीवन बिताता हुआ (अमर्त्ये) अपना सुन्दरता से पालन करनेवाला होता है (भुजे)। ३. हे **विभावरि**=ज्योतिर्मय उषःकाल ! तू **कम्**=उस अनिर्वचनीय, आनन्द-स्वरूप प्रभु को **नक्षसे** (नक्ष गतौ)=प्राप्त होती है—तू प्रभु की ओर जाती है। उषःकाल में जागनेवाला

पुरुष उस प्रभु के मार्ग पर चलने की प्रवृत्तिवाला होता है।

भावार्थ—उषःकाल में जागने के निम्न लाभ हैं—(क) यह दोषों को दग्ध करता है (उषः), (ख) नीरोगता प्रदान करता है (अमर्त्ये), (ग) पालन व रक्षण करता है—बुराइयों से बचाता है, (भुजे) (घ) ज्ञान-ज्योति को बढ़ाता है (विभावरि) (ङ) प्रभु की ओर ले-जाता है (कम्)।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—उषाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यज्ञ-भजन-स्वाध्याय

व॒यं हि ते॒ अम॑न्मह्यान्ता॒दा प॑रा॒कात्। अश्वे॒ न चि॑त्रे अरुषि ॥२१॥

१. हे **अश्वे, न**=कर्मों में व्यापनशील होनेवाले की तरह **चित्रे**=चायनीय (चायृ पूजानिशामनयोः) पूजा की वृत्तिवाले तथा **अरुषि**=आरोचमान—सर्वतः दीप्यमान उषःकाल! **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **ते**=तेरे **आ अन्तात् आ पराकात्**=एक सिरे से (End=अन्त) लेकर दूसरे (परले) सिरे तक अर्थात् सारे-के-सारे उषःकाल में **अमन्महि**=उस प्रभु का मनन करते हैं [तू तो गतमन्त्र के अनुसार 'क+ध+प्रिया' है; प्रभु का धारण ही तो तुझे प्रिय है]। २. उषः के यहाँ तीन विशेषण हैं—(क)अश्वे=यह 'कर्मों में व्यापनशील' अर्थ को देता हुआ कर्मकाण्ड का संकेत कर रहा है। कर्मयोगी पुरुष इस समय को यज्ञादि उत्तम कर्मों में बिताते हैं; (ख) 'चित्रे' का अर्थ चायनीय होकर 'उपासनाकाण्ड' का निर्देश करता है। एक भक्त इस समय प्रभु-पूजन में प्रवृत्त होता है; (ग) 'अरुषि' का अर्थ है आरोचमान। यह शब्द ज्ञानकाण्ड का निर्देशक होकर ज्ञानी को यह कहता है कि तुझे अपने ज्ञान को सर्वतः दीप्त करना है।

भावार्थ—हमारा उषःकाल यज्ञादि उत्तम कर्मों, प्रभु-भजन व ज्ञानप्राप्ति में व्यतीत हो। हम इस काल में प्रभु का मनन करें, उसके गुणों का विचार करते हुए, उनका धारण करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः। देवता—उषाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शक्ति व सम्पत्ति

त्वं त्येभि॒रा ग॑हि॒ वाजे॑भिर्दुहितर्दिवः। अ॒स्मे र॒यिं नि धा॑रय ॥२२॥

१. अयि **दिवः दुहितः**=द्युलोक व सूर्य की पुत्री—आकाश का पूरण करने-(दुहप्रपूरणे)-वाली उषः! **त्वम्**=तू **त्येभिः**=उन प्रसिद्ध **वाजेभिः**=शक्तियों व धनों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त हो और **अस्मे**=हमारे लिए **रयिम्**=धन का **निधारय**=निश्चय से धारण कर अथवा नम्रता के साथ धारण कर। २. उषःकाल सूर्योदय होने के बिलकुल प्रारम्भिक समय में आता है मानो यह उषा उस सूर्य की पुत्री ही है। यह स्वाध्यायशील पुरुष में ज्ञान के प्रकाश को परिपूर्ण करनेवाली है (दिवः दुहिता) ३. यह शक्तियों को प्राप्त कराती है। इस समय सोये रह जानेवाले पुरुषों के तेज को सूर्य अपहृत कर लेता है **"उद्यन् सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे"** ४. यह हममें उत्कृष्ट धनों का धारण करानेवाली है। इस समय उठकर ठीक से तैयार होकर मनुष्य पुरुषार्थ में लगता है और उत्तमवृत्ति से धनार्जन करने में प्रवृत्त होता है। यह इस धन के साथ नम्रता को नष्ट नहीं होने देती।

भावार्थ—उषः-जागरण से शक्ति (वाजेभिः) प्राप्त होती है। ज्ञान बढ़ता है (दिवः दुहिता) ऐश्वर्यवृद्धि होती है।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि प्रभु जितेन्द्रिय पुरुष को सोम से सिक्त कर देते हैं (१)। यह उसके लिए आनन्द की नाव के समान होता है(४)। यह सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष प्रभु के साथ इस प्रकार बात करता है जैसे पुत्र पिता से मिलकर (६) जितना-जितना यह प्रभु के सम्पर्क में आता है उतनी-उतनी प्रभु इसकी शक्ति को बढ़ाते हैं (७)। यह भक्त चाहता तो यह है कि इसे एकमात्र प्रभु-प्राप्ति की ही कामना हो (११)। वे प्रभु उसे वे अन्न व धन प्राप्त कराएँ जिनको कि वह सबके साथ मिलकर सेवन करे (१३)। इस प्रकार जीवन बिताता हुआ यह समानरूप से शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति कर पाता है (१८)। इसके शरीर-रथ का चक्र उस अगम्य प्रभु के परमपद (मूर्धन्) पर जाकर ही विश्रान्त होता है (१९)। यह सदा उषःकाल में जागता है; इस ब्राह्ममुहूर्त में प्रभु का ही स्मरण करता है (२१)। इस स्मरण से इसे शक्ति व सम्पत्ति-प्राप्त होती है (२२)। इस प्रभु-स्मरण से वासना-विनाश के द्वारा यह अपने हिरण्य=वीर्य की स्तूप=ऊर्ध्वगति करनेवाला बनकर अंग-अंग में रसवाला आंगिरस बनता है और यह "हिरण्यस्तूप आंगिरस" प्रभु का आराधन निम्न शब्दों में प्रारम्भ करता है—

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

शिवसखा

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रा॒ ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॒सोऽजा॑यन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः ॥१॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत, सर्वव्यापक हो अथवा आप पहले से ही होनेवाले हो 'समवर्तताग्रे'। **अंगिराः**=आप उपासक के अंग-अंग में रस का संचार करनेवाले हैं। **ऋषिः**=तत्त्वदृष्टा हैं। **देवः**=दिव्यगुणों व प्रकाश के पुञ्ज हैं अथवा **देवः**= सब-कुछ देनेवाले हैं और **देवानाम्**=देनेवालों के **शिवःसखा**—कल्याणकर मित्र **अभवः**—होते हैं। २. **तव व्रते**=आपके व्रतों में **कवयः**=क्रान्तदर्शी पुरुष **विद्मनापसः**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले **अजायन्त**=हो जाते हैं। प्रभु के व्रतों में चलने का अभिप्राय यही है कि प्रभु 'देव' हैं, हम भी देव बनें; प्रभु प्रथम हैं, हम भी कुछ विस्तारयुक्त हृदयोंवाले हों; प्रभु ऋषि हैं, हम भी तत्त्वदर्शी बनने के लिए यत्नशील हों। इस प्रकार प्रभु के व्रतों में चलने पर हम ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले बनते हैं। ३. प्रभु के व्रतों में चलने पर हम **मरुतः**= मितरावी—माप तोलकर बोलनेवाले होते हैं और इस नपा-तुला बोलने से ही वस्तुतः **भ्राज-दृष्टयः**= दीप्तियुक्त दृष्टिवाले होते हैं अथवा **भ्राजत्+ऋष्टयः**=देदीप्यमान शस्त्रोंवाले होते हैं। इन चमकते हुए आयुधों से हम शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ बनते हैं। प्रभु-कृपा से हम अंगिरा (शरीर में शक्ति-सम्पन्न), ऋषि(मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न) व देव (मन में दिव्यता से युक्त)बनते हैं—यही प्रथम बनना है— प्रथम-स्थान में स्थित होना है। इस प्रकार ये प्रभु हमारे कल्याणकर मित्र हैं; प्रभु के गुणों को धारण करते हुए हम मितभाषी व देदीप्यमान बुद्धि आदि शस्त्रोंवाले होकर वासनारूप शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे शिवसखा हैं, प्रभु के ही व्रतों में चलने का हम प्रयत्न करें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

मेधिरः द्विमाता

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रस्तमः क॒विर्दे॒वानां॒ परि॑ भूषसि व्र॒तम्।
वि॒भुर्विश्व॑स्मै॒ भुव॑नाय॒ मेधि॑रो द्वि॒माता॑ श॒युः क॑ति॒धा चि॑दा॒यवे॑ ॥२॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं, **अंगिरस्तमः**=अंगों में सर्वाधिक रस का संचार करनेवाले हैं, **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं, 'कौतिसर्वा विद्याः' सृष्टि के आरम्भ में सब ज्ञानों का वेद द्वारा उच्चारण करनेवाले हैं, २. **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के **व्रतम्**=व्रत को **परिभूषसि**=अलंकृत करनेवाले हैं, अर्थात् देवलोग व्रतमय जीवन को बिताते हैं और आपका स्मरण करते हैं, उनका व्रत आपके नाम-स्मरण से अलंकृत होता है। वस्तुतः इसीलिए उनके व्रत पूर्णता को भी प्राप्त होते हैं। ३. **विभुः**=हे प्रभो! आप सर्वव्यापक हैं—विशिष्ट सत्तावाले हैं और **विश्वस्मै भुवनाय**=सब लोगों के लिए **मेधिरः**=मेधा बुद्धि को देनेवाले हैं। बुद्धि को देकर ही तो आप सबका रक्षण करते हैं, ४. **द्विमाता**=आप हमारे मस्तिष्क व शरीर अर्थात् द्यावापृथिवी दोनों का ही निर्माण करनेवाले हैं, आपकी कृपा से हमारा मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल होता है और शरीर दृढ़ बनता है। ५. **शयुः**=आप सबके अन्दर निवास करनेवाले हैं और सारा ब्रह्माण्ड आपमें शयन करनेवाला है। ६. आप **आयवे**='एति' गतिशील पुरुष के लिए **चित्**=निश्चय से **कति-धा**=कितने ही प्रकार से धारण करनेवाले हैं। शरीर, मन, मस्तिष्क सभी को—अंग-अंग को आप धारण करनेवाले हैं। 'प्रजा-पशु-ब्रह्मवर्चस्, अन्नाद्य' आदि को प्राप्त कराके आप विविध प्रकार से धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि देते हैं, वे ही हमारे शरीर व मस्तिष्क का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता – अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

प्रभु का प्रादुर्भाव

त्वम॑ग्ने प्र॒थ॒मो मा॒त॒रिश्व॑न आ॒विर्भ॑व सु॒क्र॒तू॒या वि॒वस्व॑ते।
अरे॑जेतां॒ रोद॑सी होतृ॒वूर्येऽस॑घ्नोर्भा॒रमय॑जो म॒हो व॑सो ॥३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं प्रथमः**=आप विस्तारवाले हो तथा सर्वप्रथम हो। आप **विवस्वते**=परिचर्यावाले के लिए अथवा ज्ञान की रश्मियोंवाले के लिए **सुक्रतूया**=उत्तम कर्मों की प्रबल इच्छा से **मातरिश्वनः**=वायु के द्वारा—प्राणसाधना के द्वारा **आविर्भव**=प्रकट होते हो, अर्थात् प्रभु का दर्शन 'विवस्वान्, सुक्रतु तथा प्राणसाधक' को होता है। प्रभु-दर्शन के लिए परिचर्या (भक्ति) व ज्ञान आवश्यक हैं (विवसु), प्रभु-दर्शन के लिए उत्तम कर्मों व संकल्पों का होना अनिवार्य है (सुक्रतु) तथा इस प्रभु से मेल के लिए प्राणसाधना आवश्यक है। २. प्रभु से मेल होने पर **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अरेजेताम्**=(रेज् to shine) चमक उठते हैं। शरीर (पृथिवी) यदि स्वास्थ्य की दीप्ति से चमक उठता है तो मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है। (यहाँ रेज् धातु का 'चमकना' अर्थ लेना है, काँपना नहीं)। ३. हे प्रभो! आप **होतृवूर्ये**=होता से वरण किये जाने पर **भारम्**=कार्यभार को **असघ्नोः**=(सघ् to accept, to bear) स्वीकार करते हो और बरदाश्त करते हो और **अयजः**=उस-उस यज्ञ को पूर्ण करते हो। **महो**=आप महनीय हो, पूज्य हो तथा तेज के पुञ्ज हो। **वसो**=आप निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों के देनेवाले हो।

भावार्थ—हम परिचर्या—उत्तम कर्म तथा प्राण-साधना के द्वारा प्रभु-दर्शन करें। प्रभु-दर्शन से हमारा शरीर स्वस्थ होगा तो मस्तिष्क ज्योति से चमक उठेगा। वस्तुतः भक्त के सब कार्य प्रभु ही पूर्ण किया करते हैं—सब यज्ञ आप से ही होते हैं—सर्वमहान् होता आप ही हैं। आप ही पूज्य हैं, सर्वप्रद हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

'श्वात्र' द्वारा मुक्ति

त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तरः ।
श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः ॥४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **त्वम्**=तू **मनवे**=ज्ञानी पुरुष के लिए **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अवाशयः**=(वाशृ शब्दे) ज्ञान की वाणियों से परिपूर्ण कर देता है, अर्थात् तू अपने समझदार भक्त के मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाला है, २. **पुरूरवसे**=(रु शब्दे) खूब ही स्तवन करनेवाले, **सुकृते**=पुण्यशाली के लिए तू **सुकृत्तरः**=उत्तम कार्यों को अत्यधिक करनेवाला है, अर्थात् स्तोता व पुण्य-प्रवण व्यक्ति के जीवन में उत्तम कर्म आपकी ही शक्ति व प्रेरणा से होते हैं । ३. भक्त की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **श्वात्रेण**=(धनेन विज्ञानेन वा—द०) शुद्ध अध्यात्म-सम्पत्ति व विज्ञान के द्वारा **यत्**=जो तू **पित्रोः**=माता-पिता से **मुच्यसे**=छूट जाता है, अर्थात् तुझे जन्म लेकर माता-पिता के दर्शन नहीं करने पड़ते, तो उस समय **त्वा**=तुझे ये पवित्र धन व विज्ञान **परि, आ**=सब ओर से **पूर्वम्**=अपने पूर्व-स्थान में **अनयम्**=ले-जाते हैं; ब्रह्मलोक ही तो तेरा पूर्वस्थान है, तुझे वे 'श्वात्र' उस ब्रह्मलोक में ले-जाने-वाले होते हैं । **अपरं पुनः न**=ये श्वात्र तुझे इस जन्म-मरण-चक्ररूप निचले लोक में नहीं ले-जाते, अर्थात् तेरे जन्म का कारण नहीं बनते । इस शुद्ध ज्ञान व धनों से तू मुक्तिलाभ करनेवाला होता है ।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानी को ज्ञान प्राप्त कराते हैं, स्तोता को पुण्यशाली बनाते हैं, शुद्ध ज्ञान व धन से मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है । ये ज्ञान व धन उसे अपने पूर्व स्थान 'ब्रह्मलोक' में ले-जाते हैं और उसे अपरलोक में आने से बचा देते हैं ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

वृषभ-पुष्टिवर्धन

त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धन उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः ।
य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुरग्रे विश आविवाससि ॥५॥

१. हे **अग्ने**=अग्निवत् सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो ! **त्वम्**=आप **वृषभः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले तथा **पुष्टिवर्धनः**=पुष्टि के बढ़ानेवाले हो । २. **उद्यतस्रुचे**=जिसने चम्मच उठाया हुआ है उस पुरुष के लिए, अर्थात् जो नित्य यज्ञशील है उस पुरुष के लिए **श्रवाय्यः भवसि**=कीर्ति के वर्धन करनेवाले होते हो । ३. **यः**=जो **वषट्कृतिम्**=स्वाहाकारयुक्त **आहुतिम्**=आहुति को, सदा दान-पूर्वक भक्षण को **परिवेद**=अपने जीवन में जानता है, अर्थात् सदा त्यागपूर्वक ही उपभोग करता है वह **एकायुः**=अद्वितीय गतिशील पुरुष होता है, अर्थात् वह अत्यन्त उत्तम जीवनवाला होता है । ४. हे प्रभो ! आप ही **विशः**=सब प्रजाओं को **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **आविवाससि**=अन्धकार को दूर करके प्रकाश-युक्त करते हो । प्रभु ही ज्ञान देते हैं और उस ज्ञान के द्वारा ही यह त्यागपूर्वक उपभोग का पाठ पढ़ता है । इस प्रकार यह यज्ञशील बनकर कीर्तियुक्त होता है । इस सब कृपा के करनेवाले वे प्रभु ही हैं । वे ही सुखों व पुष्टि के वर्धक हैं ।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं । मनुष्य इस ज्ञान के परिणामस्वरूप त्यागशील होते हैं । त्याग से वे यशस्वी होते हैं । इनपर प्रभु सुखों की वर्षा करते हैं ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

विजय

त्वमग्ने वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन्पिपर्षि विदथे विचर्षणे ।
यः शूरसाता परितक्म्ये धने दभ्रेभिश्चित्समृता हंसि भूयसः ॥६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **त्वम्**=आप **वृजिनवर्तनिम्**=पाप के मार्ग पर चलनेवाले **नरम्**=मनुष्य को **सक्मन्**=मेल होने पर [सच् to be associated with] **विदथे**=ज्ञान में **पिपर्षि**=पालित व पूरित करते हो, अर्थात् जब मनुष्य आपका उपासक बनकर आपके चरणों में आता है तो आप उसके ज्ञान को बढ़ाकर उसके अज्ञान को नष्ट कर उसको पापों से बचाते हो, उसकी न्यूनताओं को दूर करते हो, २. हे **विचर्षणे**=विशिष्ट, विविध ज्ञानसम्पन्न प्रभो ! आप तो वे हैं **यः**=जो **शूरसाता**=शूरवीरों से सम्भजनीय, जहाँ कायर पुरुषों का भय के कारण प्रवेश नहीं, उस **परितक्म्ये**=[Dangerous, risky, Unsafe] आशंका से भरे **धने**=(प्रधने) संग्राम में **दभ्रेभिः चित्**=थोड़े-से सैनिकों से भी **समृता**=टक्कर होने पर **भूयसः**=बहुतों को **हंसि**=नष्ट कर देते हो। महाभारत में कृष्ण अल्पसंख्यक पाण्डवों को बहुसंख्यक कौरवों के मुकाबिले में विजयी करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क में हम जहाँ अध्यात्म-संग्रामों में विजय पाते हैं वहाँ बाह्य संग्रामों में भी विजयी होते हैं। पापों से ऊपर उठकर हम पवित्र बनते हैं और थोड़े होते हुए भी बहुतों को जीत लेते हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

मनुष्य व अन्य प्राणियों के हित की कामना

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे ।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! **त्वम्**=आप **तम् मर्तम्**=उस मनुष्य को **उत्तमे अमृतत्वे**=उत्कृष्ट मरणरहित स्थिति में अर्थात् पूर्ण नीरोग जीवन में तथा **दिवेदिवे**=दिन-प्रतिदिन **श्रवसे**=यश व ज्ञान के लिए **दधासि**=धारण करते हो, **यः**=जोकि **उभयाय जन्मने**=[द्विपदां चतुष्पदाम् च लाभाय—सा०] मनुष्य व पशु—सभी प्राणियों के हित के लिए **तातृषाणः**=अत्यन्त तृष्णावाला होता है, अर्थात् जो प्राणिमात्र के हित की भावना से चलता है प्रभु उसे नीरोगता, यश व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। २. **च**=और हे प्रभो ! आप **सूरये**=ज्ञानी पुरुष के लिए **मयः**=कल्याण को **करोषि**=करते हैं। **प्रयः च**=(food, pleasure, delight) और अन्नादि के आनन्द को **आकृणोषि**=सर्वथा सिद्ध करते हैं। कठोपनिषद् के 'श्रेय व प्रेय' दोनों को ही यह ज्ञानी प्रभुकृपा से प्राप्त करता है। कणाद के शब्दों में निःश्रेयस व अभ्युदय दोनों को साधता है—सम्पत्ति व समृद्धि से संशोभायमान होता है।

भावार्थ—प्राणिमात्र का हित चाहते हुए हम नीरोग, यशस्वी व ज्ञानी बनें। ज्ञानी बनकर (अध्यात्म) सम्पत्ति व (बाह्य) समृद्धि को साधें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—अग्निः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

यशस्वी कर्ता

त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः ।
ऋध्याम कर्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥८॥

१. हे अग्ने ! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **त्वम्**=आप **नः**=हमें **धनानां सनये**=धनों की प्राप्ति के लिए **यशसं कारुम्**=यशस्वी व कलापूर्ण ढंग से कार्यों को करनेवाला **कृणुहि**=बना दीजिए, अर्थात् हम प्रभुस्तवन करनेवाले बनें, प्रभुस्तवन करते हुए क्रियाशील बनें, प्रत्येक क्रिया को इस प्रकार से करें कि वह हमारे यश का कारण बने। यह यशस्वी कर्म हमारी धन-वृद्धि का कारण तो बनेगा ही। २. हे प्रभो ! हम **कर्म ऋध्याम**=अपने जीवन में कर्म को बढ़ाएँ। क्रियाशीलता की हममें सदा वृद्धि हो। ३. ऐसा होने पर **अपसा**=इन व्यापक कर्मों के द्वारा **नवेन**=(नु स्तुतौ, नवः=स्तुतिः) स्तुति के द्वारा तथा **देवैः**=दिव्यगुणों के द्वारा **नः**=हमें **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **प्रावतम्**=उत्तमता से रक्षित करनेवाले हों। 'मस्तिष्क' ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करे तो 'शरीर' शक्ति के द्वारा हमें सुरक्षित करे, अर्थात् प्रभुकृपा से हमारे हाथों में कर्म हो, हृदय में प्रभुस्तवन हो, जीवन में दिव्यगुण हों, और हमारे मस्तिष्क व शरीर क्रमशः ज्ञान व शक्ति से युक्त होकर हमें नाश से बचाएँ और अमृतत्व की ओर ले-चलें।

भावार्थ—हम यशस्वीकर्ता बनकर धनलाभ करें, क्रियाशीलता को बढ़ाएँ तथा कर्म, स्तवन व दिव्यता के धारण द्वारा ज्ञान व शक्ति को अपना रक्षक बनाएँ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

पालक-प्रभु

त्वं नो॑ अग्ने पि॒त्रोरु॒पस्थ॒ आ दे॒वो दे॒वेष्व॑नवद्य॒ जागृ॑विः।
त॒नू॒कृद्बो॑धि॒ प्रम॑तिश्च का॒रवे॒ त्वं क॑ल्याण॒ वसु॒ विश्व॒मोपि॑षे ॥९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **पित्रोः**=माता-पिता की **उपस्थे**=गोद में **आ**=सब प्रकार से **देवः**=सब गतियों के करानेवाले हो (दिव्-गति) **देवेषु**=सब देवों में **अनवद्य**=प्रशस्त प्रभो ! आप **जागृविः**=सदा जागते हो, अर्थात् हमारे रक्षण में आप कभी प्रमाद नहीं करते। माता-पिता के माध्यम द्वारा आप ही वस्तुतः हमारा रक्षण करते हैं। २. **तनूकृत्**=हमारे शरीरों के निर्माण करनेवाले प्रभो ! **बोधि**=आप हमारा सदा ध्यान करिए। आपसे पालित होकर ही हम अपनी शक्तियों का विस्तार कर पाएँगे। माता-पिता भी आपसे शक्ति को प्राप्त करके हमारा पालन करते हैं और सब सूर्यादि देव भी आपसे ही देवत्व को प्राप्त करके हमारा कल्याण किया करते हैं। सब देवों में प्रशस्त आप ही हैं, देवों को भी आपने ही देवत्व प्राप्त कराया है, आपसे शक्ति प्राप्त करके सूर्य हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाता है, चन्द्रमा हमारे लिए ओषधियों में रस का संचार करता है, एवं माता-पिता व इन देवों के द्वारा प्रभु हमारा पालन करते हैं। ३. हे प्रभो ! **च**=और आप ही **कारवे**=सुन्दरता से कार्य करनेवाले के लिए **प्रमतिः**=प्रकृष्ट बुद्धि को देनेवाले हैं। ४. हे **कल्याण**=कल्याणस्वरूप प्रभो ! **त्वम्**=आप **विश्वं वसु**=निवास के लिए आवश्यक सम्पूर्ण धनों को **आ ऊपिषे**=प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—माता-पिता के द्वारा व सूर्यादि देवों के द्वारा प्रभु ही हमारा पालन करते हैं, हम क्रियाशील बनते हैं तो प्रभु ही हमें प्रकृष्ट बुद्धि प्राप्त कराते हैं, वे ही सम्पूर्ण धनों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

सुवीर-व्रतपा

त्वम॑ग्ने॒ प्रम॑ति॒स्त्वं पि॒तासि॑ न॒स्त्वं व॑य॒स्कृत्तव॑ जा॒मयो॑ व॒यम्।
सं त्वा॒ रायः॑ श॒तिनः॒ सं स॑ह॒स्रिणः॑ सु॒वीरं॑ यन्ति व्रत॒पाम॑दाभ्य ॥१०॥

हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **त्वं प्रमतिः**=आप प्रकृष्ट मतिवाले हो—आपका दिया हुआ वेदज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है, **त्वं नः पिता असि**=आप ही इस ज्ञान को देकर हमारे रक्षण करनेवाले पिता हैं। इस रक्षण के द्वारा **वयः कृत्**=आप हमारे उत्कृष्ट जीवन के कारणभूत हो। **वयम्**=हम **तव जामयः**=आपके ही तो बन्धुभूत हैं, अर्थात् आप ही हमारे 'आचार्य, पिता, जीवनदाता व बन्धु' सब-कुछ हो। आपने ही तो हमारा पालन-पोषण व शिक्षण करना है। २. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **अदाभ्य**=वासनाओं से हिंसित न होनेवाले जीव ! **सुवीरम्**=उत्कृष्ट वीरतावाले तथा **व्रतपाम्**=व्रत का पालन करनेवाले **त्वाम्**=तुझे **शतिनः**=शतसंख्यायुक्त व **सहस्रिणः**=सहस्रसंख्यायुक्त **रायः**=धन-सम्पत्ति सम्यक् प्राप्त होते हैं अथवा **शतिनः**=सौ वर्ष तक चलनेवाले जीवन के कारणभूत तथा **सहस्रिणः**=सदा आनन्द को प्राप्त करानेवाले धन इस 'सुवीर व्रतपा' को प्राप्त होते हैं। ३. जीव ने प्रार्थना की है कि हे प्रभो ! आप ही मेरे सब-कुछ हो। प्रभु ने उत्तर दिया कि तू (क) वासनाओं से अहिंसित बन, (ख) उत्तम वीर बन—वासनाओं के विनष्ट होने पर वीर्यरक्षण से तू वीर बनेगा ही। वीर बनकर व्रतों का पालन करनेवाला हो। ऐसा होने पर तुझे आजीवन आनन्दप्रद धन-सम्पत्तियाँ प्राप्त होंगी।

भावार्थ—'सुवीर व व्रतपा' सदा सम्पत्तिशाली बनता है। यह प्रभु को ही पिता, आचार्य व बन्धु मानता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

विश्पति वा प्रजापालक राजा

त्वाम॑ग्ने प्र॒थ॒मम्॒ आ॒युमा॒यवे॑ दे॒वा अ॑कृण्व॒न्नहु॑षस्य वि॒श्पति॑म्।
इळा॑मकृण्व॒न्मनु॑षस्य॒ शास॑नीं पि॒तुर्यत्पु॒त्रो मम॑कस्य॒ जाय॑ते ॥११॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! **त्वाम्**=आपको ही **देवाः**=देवों ने **आयवे**=उत्तम जीवन के लिए **प्रथमम् आयुम्**='पुरुरवा व उर्वशी' का उत्कृष्ट (प्रथम) पुत्र **अकृण्वन्**=बनाया, अर्थात् देव लोग अपने घरों में पति 'पुरुरवा' के रूप में और पत्नी 'उर्वशी' के रूप में हुए, अर्थात् पति खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाला बना और पत्नी अपने पर पूर्ण शासन करनेवाली बनी। इस प्रकार बनकर इन्होंने आपको ही जन्म दिया, अर्थात् प्रभु के प्रकाश को पाने का प्रयत्न किया। इससे इनका जीवन बड़ा ही सुन्दर बना। इसी बात को यहाँ आलंकारिक रूप में कहा गया कि इन्होंने प्रभु को ही अपना पुत्र बनाया। २. इस प्रकार जीवन के सौन्दर्य के लिए ही देवों ने **नहुषस्य**=(नह बन्धने) एक-दूसरे से बँधकर चलनेवाले मानव-समाज के **विश्पतिम्**=प्रजापालक राजा को **अकृण्वन्**=नियत किया। देवों ने प्रजाओं में से ही एक योग्य व्यक्ति को राजा के रूप में स्थापित किया। ३. इस राजा की अध्यक्षता में **इळाम्**=वेदवाणी को (इ+ला=A law) **मनुषस्य**=मनुष्य की **शासनीम्**=शासन करनेवाली **अकृण्वन्**=किया, अर्थात् यह राजा कोई मनमाना स्वच्छन्द शासन करनेवाला न था, यह वेदवाणी के अनुसार अर्थात् प्रभु से वेद में प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार ही शासन करता था। ४. इस वैदिक शासन का ही यह परिणाम था **यत्**=कि **ममकस्य पितुः**=ममत्व व स्नेहवाले पिता का **पुत्रः**=जैसे पुत्र होता है उसी प्रकार राजा की यह प्रजा **जायते**=हो जाती है। राजा प्रजा को पुत्रवत् प्रेम करता हुआ उसकी उन्नति के लिए ही शासन करता है।

भावार्थ—जीवन के उत्कर्ष के लिए गृहस्थ में पति-पत्नी प्रभु को अपना उत्कृष्ट पुत्र बनायें अर्थात् प्रभु का अपने में प्रकाश करने का प्रयत्न करें। इस उत्तम स्थिति के लिए वेदानुकूल शासन

करनेवाला, प्रजा को पुत्र समझनेवाला राजा नियत किया जाए।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

'सर्वरक्षक' प्रभु

त्वं नो अग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य।
त्राता तोकस्य तनये गवामस्यनिमेषं रक्षमाणस्तव व्रते॥१२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! हे **देव**=सब विघ्न-बाधाओं व आपत्तियों को परास्त करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः मघोनः**=हमारे मघवान्=मखवान्=यज्ञशील पुरुषों को (मघ=मख) **तव पायुभिः**=अपने रक्षणों से **रक्ष**=रक्षित करिए। प्रभु यज्ञशील पुरुषों की रक्षा करते ही हैं। २. हे **वन्द्य**=वन्दना व स्तुति के योग्य प्रभो! **तन्वः च**=हमारे शरीरों को भी **रक्ष**=आप रक्षित करिए। आपकी कृपा से ही हम वासनाओं से बचकर शरीरों को नीरोग रख सकेंगे। ३. **तोकस्य**=हमारे पुत्र-पौत्रों के **त्राता**=रक्षक भी आप ही हैं। हम तो निमित्तमात्र होते हैं। हमें निमित्त बनाकर रक्षण तो आप ही करते हैं। ४. **तनये**=हमारे सन्तानों में **गवाम्**=ज्ञानेन्द्रियों के त्राता **असि**=रक्षक हो। उनकी ज्ञानेन्द्रियों को न विकृत होने देनेवाले हो। ५. हे प्रभो! आप उन सबकी **अनिमेषं**=निर्निमेषरूप से, सदा सावधान होकर **रक्षमाणः**=रक्षा करते हो जोकि **तव व्रते**=आपके व्रत में चलते हैं। प्रभु ने एक वाक्य में जीव के लिए यही व्रत निश्चित किया है कि 'वह कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे'—(**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**)। व्यास के शब्दों में (**तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च। तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान् नाभिमानात् समाचरेत्॥**) वेद का आदेश यही है कि मनुष्य निरभिमान भाव से कर्म करता ही रहे यह कर्मशील पुरुष सदा प्रभु से रक्षित होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बन प्रभु से रक्षणीय हों, प्रभु ही हमारे शरीरों व सन्तानों के रक्षक हैं। हमारे सन्तानों की ज्ञानेन्द्रियों को भी प्रभु ही रक्षित करनेवाले हैं। हम प्रभु के दिये हुए 'कर्म करने के व्रत' का पालन करते हैं तो प्रभु निर्निमेष रूप में हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

अवृक-धायस्

त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे।
यो रातहव्योऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन्मन्त्रं मनसा वनोषि तम्॥१३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **यज्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिए **अन्तरः पायुः**=समीपवर्त्ती अन्तरंग रक्षक हैं। २. **अनिषङ्गाय**=अनासक्त पुरुष के लिए (अ-सक्त) होकर नियत कर्म को करनेवाले पुरुष के लिए आप **चतुरक्षः**=चारों दिशाओं में आँखोंवाले होकर **इध्यसे**=दीप्त होते हो, अर्थात् इस 'निर्मम, निरहंकार' भक्त के प्रभु 'सर्वतोदिक् रक्षक' हैं। ३. **अवृकाय**=न लोभ करनेवाले **धायसे**=सबका धारण करनेवाले पुरुष के लिए **यः**=जो आप हैं वे **रातहव्यः**=सब हव्य (पवित्र, ग्रहणीय) पदार्थों के देनेवाले हैं। ४. **कीरेः चित्**=स्तोता के भी **मनसा मन्त्रम्**=मननपूर्वक किये गये स्तुति-मन्त्रों को (**अर्को मन्त्रः अर्चयन्त्यनेन**) **तम्**=उन्हीं स्तुति-वचनों को जो ज्ञानपूर्वक उच्चारित हुए हैं **वनोषि**=आप सेवन करते हो **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** इस योगसूत्र के अनुसार 'ओ३म्' का सार्थक जप ही प्रभु को प्रिय होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्म को करें—लालच से नहीं, औरों

के धारण करनेवाले हों। अर्थभावन के साथ मन्त्रों से प्रभु-पूजन करें। मन्त्रों का मन्त्रत्व इसी बात में है कि इनसे हम प्रभु का अर्चन कर पाते हैं, इसीलिए मन्त्र को 'अर्क' भी कहा गया है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

उरुशंस-वाघत्

त्वम॑ग्न उरु॒शंसा॑य वा॒घते॑ स्पा॒र्हं यद्रेक्ण॑ः पर॒मं व॒नोषि॒ तत्।
आ॒ध्रस्य॑ चि॒त्प्रम॑तिरुच्यसे पि॒ता प्र पाकं॒ शास्सि॒ प्र दिशो॑ वि॒दुष्ट॑रः ॥१४॥

हे **अग्ने**=प्रभो! **त्वम्**=आप **उरुशंसाय**=खूब ही शंसन व स्तवन करनेवाले **वाघते**=मेधावी बुद्धिमान् ऋत्विक् पुरुष के लिए **तत्**=उस **परमं रेक्णः**=उत्कृष्ट धन को **वनोषि**=प्राप्त कराते हो (जीतते हो) **यत्**=जोकि **स्पार्हम्**=स्पृहणीय है—चाहने योग्य है। प्रभुकृपा से 'स्तोता मेधावी' पुरुष को उत्कृष्ट स्पृहणीय धन प्राप्त होता है। २. **आध्रस्य चित्**=आधार देने योग्य निर्बल-निर्धन पुरुष के भी आप **प्रमतिः**=प्रकृष्ट मति देनेवाले **उच्यसे**=कहे जाते हो। इस प्रकृष्ट मति को देकर ही आप **पिता**=उसके रक्षक होते हो। प्रभु सहायता के पात्र व्यक्तियों का सहाय्य करने के लिए उन्हें उत्कृष्ट बुद्धि देते हैं। इस बुद्धि से वे अपनी स्थिति को ठीक कर पाते हैं। ३. हे प्रभो! आप 'पिता' हैं। पिता के रूप में **पाकम्**=पक्तव्य प्रज्ञावाले बालकों को भी आप **प्रशास्सि**=प्रकृष्ट ज्ञानोपदेश देते हो। ४. **विदुष्टरः**= 'अतिशयेन अभिज्ञ' वस्तुतः 'सर्वज्ञ' आप **दिशः**=सब दिशाओं को प्रशास्सि=शासित कर रहे हो। सब दिशाओं में स्थित प्राणी आपके शासन में ही हैं, अथवा आप **प्रदिशः**=प्रकृष्ट निर्देशों का अनुशासन करते हो। आपकी प्रेरणाएँ सामान्य न होकर प्रकृष्ट होती हैं।

भावार्थ—स्तोता, मेधावी पुरुष को स्पृहणीय धन मिलता है, आधार देने योग्य व्यक्ति को वे बुद्धिरूप आधार देते हैं, बालकों का अनुशासन करते हैं और सब दिशाओं में स्थित प्राणियों का अनुशासन भी उन्हीं से ही हो रहा है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

स्वर्गोपम जीवन

त्वम॑ग्ने॒ प्रय॑तदक्षिणं॒ नरं॒ वर्मे॑व स्यू॒तं परि॑ पासि वि॒श्वत॑ः।
स्वा॒दु॒क्ष॒द्मा यो व॑स॒तौ स्यो॑न॒कृज्जी॑वया॒जं यज॑ते॒ सोप॒मा दि॒वः ॥१५॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **प्रयत-दक्षिणम्**=पवित्र, दूरदर्शितापूर्ण तथा उत्साहयुक्त दान देनेवाले **नरम्**=दान के द्वारा अपनी उन्नति करनेवाले पुरुष को **स्यूतं वर्म इव**=सिले हुए कवच की तरह **विश्वतः परिपासि**=सब ओर से रक्षित करते हो। जो मनुष्य दान देते हैं प्रभु उनके कवच बनते हैं और उन्हें वासनाओं से व रोगादि से विद्ध नहीं होने देते। २. **यः**=जो पुरुष **स्वादुक्षद्मा**= 'रस्य, स्निग्ध, स्थिर व हृद्य' लक्षणोंवाले सात्त्विक अन्नों का सेवन करता है, ३. सात्त्विक अन्न के सेवन से सात्त्विकवृत्तिवाला बनकर जो **वसतौ**=बस्ती में **स्योनकृत्**=सुख को करनेवाला है, अर्थात् सभी के जीवन को सुखी बनानेवाला है, ४. जो अपने इस जीवन में **जीवयाजं यजते**=जीवों के यज्ञ को करता है, अर्थात् जीवों का आदर करता है, उनके साथ मिलकर चलता है तथा उनके हित के लिए दान करता है, **सः**=वह पुरुष **दिवः उपमा**=स्वर्ग से उपमित करने योग्य है, अर्थात् कहा जा सकता है कि उसका जीवन स्वर्गोपम है, यह स्वर्ग में निवास करनेवाला है, ५. एवं वह गृहस्थ स्वर्ग बन जाता है (क) जहाँ कि

लोगों की वृत्ति श्रद्धापूर्वक दान देने की है, (ख) जो प्रभु को अपना कवच बनाकर चलते हैं, (ग) सात्त्विक अन्न का सेवन करते हैं, (घ) बस्ती में सभी के हित के कार्य करते हैं, (ङ) जीवों का आदर, प्रेम व हित करने में तत्पर रहते हैं।

भावार्थ—दान, प्रभु में श्रद्धा, सात्त्विक अन्न का सेवन, सर्वहित व प्राणिमात्र का भला करना जीवन को स्वर्गोपम बना देता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मर्त्य से ऋषि बनना

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्॥१६॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **शरणिम्**=(शृ हिंसायाम्) व्रत-लोप त्रुटि को **मीमृषः**=माफ करिये अथवा मसल डालिए, समाप्त कर दीजिए। **यम्**=जिस **इमम्**=इस **अध्वानम्**=मार्ग से हम दूर चले गये हैं उस हमारी भूल को क्षमा करिए। **आपिः**=आप ही हमारे बन्धु हैं, **पिता**=रक्षक हैं, **प्रमतिः**=प्रकृष्ट मति के देनेवाले आचार्य हैं। आपने ही तो हम भटके हुओं को मार्ग पर लाना है। एक बन्धु की तरह, पिता की तरह, आचार्य की तरह आपने ही तो हमें सन्मार्ग का दर्शन कराना है। हम भटक भी गये हैं तो आपके क्रोध के पात्र न होकर आपकी दया (Mercy मृष) के ही तो पात्र हैं २. हे प्रभो! **सोम्यानाम्**=सौम्य स्वभाववाले हम लोगों के आप ही **भृमिः असि**=मुख मोड़नेवाले हैं, अर्थात् ठीक दिशा के दिखलानेवाले हैं, हृदयस्थ रूपेण आप ही सतत प्रेरणा देते हुए हमें मार्ग का दर्शन कराते हैं, हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध देते हैं। ३. इस प्रकार पवित्र बनाकर आप **मर्त्यानां ऋषिकृत्**=सामान्य मनुष्यों को ऋषिकोटि में पहुँचा देते हैं। हमें भी आप अवश्य ही इस श्रेणी में लाने की कृपा करेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे बन्धु, पिता व आचार्य हैं। वे हमारी त्रुटियों को मसल व नष्ट करके, हम विनीत बननेवालों को सन्मार्ग दिखलाते हैं और हमें सामान्य मनुष्य से ऋषि बना देते हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

मनु-अंगिरा-ययाति व पूर्व' बनना

मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्॥१७॥

१. गत मन्त्र में मार्ग से भटक जाने का उल्लेख था। प्रभु से प्रार्थना की थी कि हे प्रभो! आप हम विनीत भक्तों का मार्गदर्शन करिए। प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव और अतएव **अंगिरः**=अंगों में रसवाले और **शुचे**=पवित्र जीवनवाले जीव! तू **मनुष्यवत्**=मननशील ज्ञानी पुरुष की तरह **अंगिरस्वत्**=अंग-अंग में रसवाले अर्थात् जीवन से परिपूर्ण पुरुष की तरह **ययातिवत्**= (वायो इव यातिः यस्य) वायु की तरह सतत क्रियाशील पुरुष की तरह तथा **पूर्ववत्**=(पूर्वति)अपना पूर्ण करनेवाले की तरह **सदने**=अपने घर में **अच्छ**=उस प्रभु की ओर **याहि**=जानेवाला बन। एवं प्रभु की प्रथम प्रेरणा यह है कि तू विचारशील, रसमय अंगोंवाला, वायु की तरह क्रियाशील व जीवन में अच्छाइयों का पूरण करनेवाला बन। २. अपने इस घर में तू सदा **दैव्यं जनम्**=प्रभु के बन्दों को अर्थात् प्रभु की ओर चलनेवाले पवित्र दिव्य पुरुषों को **आवह**=सब ओर से अपने घर में प्राप्त करानेवाला हो।

इन विद्वान्, व्रती अतिथियों का सम्पर्क तुझे सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त करानेवाला होगा। यह अतिथि-यज्ञ तुझे अन्ततः प्रभु का अतिथि बनाएगा– तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा। ३. प्रतिदिन प्रातः-सायं तू उस प्रभु को **बर्हिषि**=अपने इस वासनाशून्य हृदय में **आसादय**=सर्वथा बिठाने का प्रयत्न कर। तू हृदय-देश में प्रभु का ध्यान कर। सदा हृदयस्थ उस प्रभु के समीप तू भी बैठ। दो क्षण के लिए यह प्रभु के समीप बैठना तुझे पवित्र जीवनवाला बनाएगा। ४. इस प्रकार प्रतिदिन प्रभु के समीप बैठने से तू **प्रियं च यक्षि**=प्रिय बातों की अपने साथ संगत करनेवाला बन। तेरे जीवन में वे ही कर्म स्थान पाएँ जोकि माधुर्य को लिये हुए हों। **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'** इन शब्दों के अनुसार तेरा आना-जाना भी मधुर हो **'वाचा वदामि मधुवत्'** वाणी से तू मीठा ही बोले।

भावार्थ—'हम मनु-अंगिरा-ययाति व पूर्व' बनें। हमारे घर में सज्जनों का आना हो। हृदय में प्रभु का ध्यान हो और हम अपने जीवन में प्रिय ही बातों को करें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शक्ति व सुमति

ए॒तेना॑ग्ने॒ ब्रह्म॑णा वावृधस्व॒ शक्ती॑ वा॒ यत्ते॑ चकृ॒मा वि॒दा वा॑।
उ॒त प्र णे॑ष्य॒भि वस्यो॑ अ॒स्मान्त्सं नः॑ सृज सुम॒त्या वाज॑वत्या ॥१८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप हमारे **एतेन**=इस **ब्रह्मणा**=स्तोत्र से **वावृधस्व**=खूब ही बढ़िए **यत्ते**=जिस आपके स्तोत्र को **शक्ती वा विदा वा चकृम**=शक्ति या ज्ञान के द्वारा करते हैं। वस्तुतः जब हम अपने शरीरों को शक्ति-सम्पन्न तथा मस्तिष्कों को ज्ञान-सम्पन्न बनाते हैं तो हमारे पिता-प्रभु प्रसन्न होते हैं। यह प्रभु का प्रसन्न होना ही उनका बढ़ना है। (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः) 'निर्बल से प्रभु प्राप्य नहीं' यह उपनिषद्-वाक्य 'शक्ति' के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है और **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**='वह प्रभु सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शियों द्वारा देखा जाता है' ये शब्द 'बुद्धि' के महत्त्व के प्रतिपादक हैं। 'शक्ति व ज्ञान' की साधना ही प्रभु का आराधन है। २. जब हम प्रभु का आराधन करते हैं **उत**=तो हे प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **वस्यः अभि**=उत्तम वसुओं की ओर **प्रणेषि**=ले-चलते हो, अर्थात् आपकी कृपा से हम उत्तम वसुओंवाले बनते हैं। ३. हे प्रभो! आप कृपा करके **नः**=हमें **वाजवत्या**=शक्तिवाली **सुमत्या**=सुमति से **संसृज**=युक्त करिए। आपकी कृपा से ही तो हमें वह शक्ति व सुमति मिलती है जिससे कि हमें आपका आराधन करना है।

भावार्थ—प्रभु का आराधन शक्ति व सुमति से होता है और वे प्रभु हमें अतिशयेन वसुमान् बनाते हैं।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ 'अग्नि, अंगिरा, ऋषि व देव' बनकर प्रभु के आराधन से होता है (१)। वे प्रभु 'मेधिर' हैं और हमारे शरीरों व मस्तिष्कों का निर्माण करनेवाले हैं (२)। प्रभु-दर्शन के लिए प्राणायाम आवश्यक है (३)। प्रभु-दर्शनवाला व्यक्ति प्राणिमात्र के हित का प्यासा होता है, इसे प्रभु नीरोगता, कीर्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं (७)। प्रभु इसके लिए सम्पूर्ण धनों के देनेवाले होते हैं (९)। प्रभु का आदेश है कि 'सुवीर' बनो, 'व्रतपा' बनो और धन लाभ करो (१०)। प्रभु यज्ञशील के रक्षक हैं (११)। पवित्र दानवाले के लिए कवचरूप हैं (१४)। सौम्य पुरुषों के लिए मार्गदर्शक हैं (१६)। इस प्रभु का सच्चा उपासक 'शक्ति व ज्ञान' की प्राप्ति से ही होता है (१८)। शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिए वृत्र (वासना) का विनाश आवश्यक है। आधिदैविक जगत् में 'इन्द्र' सूर्य है, 'वृत्र' मेघ है। यही अध्यात्म में

आत्मा 'इन्द्र' और वासना 'वृत्र' हैं। आत्मा ने वासना का विनाश करके ही प्रभु को पाना है, इस प्रकार अब अगले सूक्त में इन्द्र द्वारा वृत्र के वध का वर्णन है। इस वृत्र का वध होने पर ही जैसे बाहर सूर्य चमक उठता है, उसी प्रकार वासना के विनष्ट होते ही ज्ञान का सूर्य दीप्त हो उठता है—

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इन्द्र के शक्तिशाली कार्य

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥१॥

१. **नु**=अब **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कार्यों को **प्रवोचं**=प्रकर्षेण कहता हूँ। **यानि**=जिन **प्रथमानि**=शक्तियों के विस्तार के साधनभूत मुख्य कार्यों को **वज्री**=(वज गतौ) क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेनेवाले इन्द्र ने **चकार**=किया। इन्द्र व जितेन्द्रिय पुरुष के सब कार्य शक्तिशाली तो होते ही हैं, इन कार्यों से उसकी शक्तियों का और अधिक विस्तार होता है। २. क्रियाशीलता ही वह वज्र है जिस वज्र को हाथ में लेकर यह इन्द्र **अहिं अहन्**=अहि का संहार करता है। यह 'अहि' ही स्थानान्तर में 'वृत्र' है। 'वृत्र' ज्ञान पर आवरण डालता है और यह काम-वासनारूप वृत्र आहन्ति=हमारी सब शक्तियों का संहार करती है, सो 'अहि' नामवाली हो जाती है ३. अहि=वृत्र व वासना के संहार के **अनु**=बाद यह इन्द्र **अपः**=शरीरस्थ रेतः-कणों को (आपः रेतो भूत्वा०) **ततर्द**=(तृद् Treed) अनुकूल गतिवाला करता है। जैसे सूर्य अहिः=बादल को छिन्न-भिन्न करके जलों को पृथिवी पर गिराता है, इसी प्रकार यह इन्द्र वासना को विच्छिन्न करके रेतः-कणों को शरीररूप पृथिवी में पहुँचाता है, इन रेतः-कणों को शरीर में सर्वत्र व्याप्त करता है। ४. इस प्रकार रेतः-कणों को शरीर में व्याप्त करके **पर्वतानाम्**=मेरु पर्वत की **वक्षणाः**=इडा, पिङ्गला, सुषुम्णारूप नदियों (नाड़ियों) को **प्राभिनत्**=प्रकर्षेण विदीर्ण करता है। इसकी ये नाड़ियाँ बन्द न रहकर ठीक रूप में कार्य करने लगती हैं। ४. 'तर्द' का अर्थ हिंसा ही लिया जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा—**अपः अनु**=कर्मों के अनुपात में यह **ततर्द**=वासना का संहार करता है और वासना-संहार से यह 'इडा' आदि नाड़ियों को ठीक रूप में कार्य करनेवाला करता है। पर्वत व आद्रि शब्द अविद्या के लिए भी आता है। इस अविद्या को सांख्य व योग में 'पञ्चपर्व कहा है, सो पर्वोंवाला होने से पर्वत है, इन्द्र इन पर्वतों की वक्षणा =Sides, flanks पार्श्वों का विदारण करनेवाला होता है। अविद्या का विदारण करके ही यह ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करनेवाला बनता है। ५. राजा के पक्ष में 'अहन् अहिम्' आदि शब्दों से बाह्य शत्रुओं के संहार का भाव लेना होगा। (क) राजा वज्रहस्त होकर सर्पवत् कुटिल शत्रु का ध्वंस करता है (अहन् अहिम्), शत्रु-सेनाओं को हिंसित करता है (अपः अनुततर्द) तथा राष्ट्र में पर्वतों की नदियों का विदारण करके उन्हें सिंचाई व विद्युत् आदि के लिए प्रयुक्त करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशीलता के द्वारा तीन महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, (क) कामरूप वासना का नाश, (ख) रेतःकणों की ऊर्ध्वगति, (ग) मेरुदण्ड की इडादि नाड़ियों को कार्यक्षम करना, अथवा अविद्यारूप पर्वत को नष्ट करके ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करना।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

वात्सल्य-भक्ति

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्राइव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥२॥

१. गत मन्त्र का इन्द्र **पर्वते**=पञ्चपर्वत अविद्या में **शिश्रियाणम्**=आश्रय करनेवाले **अहिम्**=वासनारूप अहि को **अहन्**=नष्ट करता है। सारी वासनाओं का मूल अविद्या है; अविद्या में ही ये वासनाएँ पनपती हैं। २. **त्वष्टा**=(त्विषेर्वास्याद्दीप्तिकर्मणः त्वक्षतेर्वा) सब ज्ञान-दीप्तियों का अथवा शक्तियों का कर्ता प्रभु **अस्मै**=इस इन्द्र के लिए **स्वर्यम्**=सब सुखों की प्राप्ति के साधनभूत अथवा (स्वृ शब्दे) जिसमें निरन्तर प्रभुनाम-स्मरण चल रहा है ऐसे **वज्रम्**=इस क्रियाशीलतारूप वज्र को **ततक्ष**=बनाता है। प्रभु ने जीव के लिए (कुर्वन्नेवेह कर्माणि) इन शब्दों में कर्मरूप वज्र का निर्माण किया है, कर्मों को करता हुआ वह सदा प्रभु-स्मरण करता है, इस वज्र से वह सब वासनाओं का विनाश करने में समर्थ होता है। ३. इस प्रकार वासनाओं के नष्ट हो जाने पर **वाश्रा**=शब्द करती हुई **धेनवः**=नव प्रसूतिका गौवें **इव**=जिस प्रकार **स्यन्दमानाः**=पानी की तरह तीव्रता से गति करती हुई बछड़े के प्रति जाती हैं इसी प्रकार **स्यन्दमानाः**=अपने कार्य में प्रवृत्त होती हुई **आपः**=ये क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाली प्रजाएँ **(आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः) अञ्जः**=उस ज्ञान ज्योति से देदीप्यमान (अञ्ज=व्यक्ति) **स-मुद्रम्**=सदा आनन्दमय प्रभु के प्रति **अवजग्मुः**=नम्रता से प्राप्त होती है। 'जैसे गौ बछड़े के प्रति, इसी प्रकार ये क्रियाशील प्रजाएँ प्रभु के प्रति प्राप्त होती हैं' इस उपमा में वात्सल्य भक्ति का सुन्दर चित्रण है। वात्सल्य भक्ति में भक्त को प्रभु उसी प्रकार प्रिय होते हैं जैसेकि माता को पुत्र। एक माता अकेली जा रही हो तो शेर के आने पर भयभीत हो भाग खड़ी होगी और कहीं आस-पास छुपने का प्रयत्न करेगी, परन्तु यही माता पुत्र के साथ होने पर उस शेर से निर्भीक होकर लड़ेगी और भाग न खड़ी होगी। यही वात्सल्य भक्ति का परिणाम है, इसमें भक्त वीर व निर्भीक बन जाता है।

भावार्थ—इन्द्र अविद्यामूलक वासना का विनाश करता है। सर्वज्ञ प्रभु ने इस कार्य के लिए उसे क्रियाशीलतारूप वज्र दिया है। इस वज्र को हाथ में लिये हुए यह इन्द्र वासनारूप शेर का विनाश करता है और उस प्रभु की ओर जाता है जोकि सब ज्ञानों की ज्योति से देदीप्यमान हैं और सदा आनन्द के साथ निवास करते हैं। धेनु अपने नवप्रसूत बछड़े की ओर जैसे प्रेम से जाती है और उसका रक्षण करती है, उसी प्रकार यह कार्यव्यापृत भक्त प्रभु-भावना को अपने में सुरक्षित करता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

त्रिकद्रुकों में सोमपान

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥३॥

१. **वृषाय्यमाणः**=शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण करता हुआ, अर्थात् एक वीर पुरुष की तरह कायरता से ऊपर उठकर कार्यों को करता हुआ यह इन्द्र **सोमम्**=सोम को **अवृणीत**=वरता है, सोम के वरण का भाव सोम-शक्ति, वीर्य-प्राप्ति को अपनाने से है। इस शक्ति को अपनाकर ही वह बुद्धि की

सूक्ष्मता का सम्पादन करता हुआ प्रभु का दर्शन करता है, एवं इस सोम (शक्ति) के वरण से वह उस सोम (प्रभु) का भी वरण कर पाता है। यह इन्द्र **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम का **त्रिकद्रुकेषु**='ज्योतिः गौः तथा आयु' नामक यज्ञों के चलने पर [अर्थात् जीवन का कार्यक्रम इस प्रकार बनाने पर कि (क) मैं स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर ज्ञानज्योति का वर्धन करूँगा, (ख) मैं अपनी ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत इन्द्रियों (गावः इन्द्रियाणि) को सदा क्रियाशील रखूँगा, (ग) तथा अपने जीवन को क्रियाशीलता के द्वारा (एति इति आयुः) दीर्घ बनाऊँगा] **अपिबत्**=पान करता है, सोम के शरीर में सुरक्षित करने के ये तीन साधन हैं --(क)स्वाध्याय, (ख)इन्द्रियों को अपने कार्य में लगाये रखना, (ग)तथा दीर्घ जीवन का संकल्प। ये तीन ही त्रिकद्रुक नामक यज्ञ हैं। ३. यह **मघवा**=(मख-मय) यज्ञरूप ऐश्वर्यवाला इन्द्र **सायकम्**=(षोऽन्तकर्मणि) सब वासनाओं के अन्त करने पर **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **आदत्त**=हाथ में लेता है। **एनम्**=इस **अहीनाम्**=नाश करनेवालों में (आहन्ति) **प्रथमजाम्**=सबसे पूर्व उत्पन्न होनेवाले इस कामरूप शत्रु को **अहन्**=नष्ट कर देता है। सबसे प्रथम शत्रु काम ही है, यही दानवराज वृत्र है, यही प्रथम 'अहि' है। इसका विनाश क्रियाशीलतारूप वज्र ये ही होता है, सो हम प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करें—यही वासनाओं को जीतने का उपाय है, वासना को जीतने पर ही हम सोम का पान कर पाएँगे।

भावार्थ—हम हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लेकर काम का विध्वंस करें ताकि शरीर में सोम को सुरक्षित कर सकें। हमारा जीवन स्वाध्याय (ज्योति), इन्द्रियों की गतिमयता (गौः) तथा दीर्घायुष्य के संकल्प-(आयुः)-वाला हो।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उषा व सूर्योदय

यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।
आत्सूर्यं जनयन्द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥४॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष **यत्**=जब तूने **अहीनां**=इन नष्ट करनेवाली वासनाओं में **प्रथमजाम्**=सर्वप्रथम स्थान में होनेवाले काम को **अहन्**=नष्ट किया २. **उत आत्**=और इस काम को नष्ट करने के ठीक बाद **मायिनाम्**=मायावियों की **मायाः**=मायाओं को भी **प्र अमिनाः**=प्रकर्षेण (खूब) समाप्त किया अर्थात् अपने जीवन से तूने छल-कपट को पूर्णरूप से दूर कर दिया। ३. **आत्**=अब काम को नष्ट करने के बाद और छल-कपट को पूर्णरूप से समाप्त करने के बाद **सूर्यम्**=तूने अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में **जनयन्**=ज्ञान-सूर्य का प्रादुर्भाव किया है तथा **द्याम् उषासम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष में इस प्रकाशमय (द्याम्) उषःकाल को प्रादुर्भूत किया है, जैसे उषःकाल के उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तूने इस हृदयान्तरिक्ष से वासनाओं को विनष्ट कर दिया है। ४. **तादीत्ना**=जब से तूने ज्ञानसूर्य व वासना-विनाशरूप उषा को अपने में उत्पन्न किया है तब से **किल**=निश्चयपूर्वक तू **शत्रुम्**=अपने नाशक भावों को (शातयति इति शत्रुः=Shatters) **न विवित्से**=नहीं प्राप्त करता है। वस्तुतः विनाशक शत्रुओं में मुख्य 'काम' के नष्ट हो जाने पर तथा जीवन से छल-छिद्र के दूर हो जाने पर हमारे जीवन में ज्ञान का सूर्य चमक उठता है और हृदयस्थ सब वासनाओं का दहन हो जाता है (उष दहे)। अब इन वासनारूप शत्रुओं के पनपने का प्रश्न ही नहीं रहता। वासनारूप शत्रुओं का सेनानी 'काम' है, काम के विध्वंस से यह शत्रु-सैन्य पराजित हो जाता है।

भावार्थ—हम काम व माया का ध्वंस करें। ज्ञान-सूर्य का उदय व वासना-दहन होने पर सब शत्रु समाप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शत्रु को धराशायी कर देना

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥५॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ने **वृत्रतरं**=(अतिशयेन आवरकम्—द०) ज्ञान पर अतिशयेन आवरण डालनेवाले **वृत्रम्**= इस काम-वासनारूप शत्रु को **महता वधेन**=महान् वध करनेवाले **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **व्यंसं अहन्**=इस प्रकार नष्ट कर दिया कि उसके कन्धे ही कट गये। 'कन्धे ही कट गये' यह एक प्रयोगविशेष है जैसेकि 'कमर ही टूट गई'। यहाँ अभिप्राय यह है कि इन्द्र ने वृत्र को बुरी तरह से परास्त कर दिया। इन्द्र का यह क्रियाशीलतारूप अस्त्र भी तो एक प्रबल घातक अस्त्र (महान् वध) है। क्रियाशीलता के सामने वासनाओं का खड़ा रहना सम्भव ही नहीं। २. मन्त्र में दृष्टान्त देते हैं कि **इव**=जैसे **कुलिशेन**=कुल्हाड़े से **स्कंधांसि**=वृक्ष के तने **विवृक्णा**=अतिशयेन छिन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनारूप वृक्ष का तना ही नष्ट हो जाता है और यह वासना-वृक्ष मानो पृथिवी पर गिर पड़ता है। ये **अहिः**=(आहन्ति) हमारा नाश करनेवाला 'अहि' काम-वासना के रूप में हमारे ज्ञान पर परदा डाल देनेवाला 'वृत्र' वज्र से कटे हुए कन्धेवाला होकर **पृथिव्याः उपपृक्**=पृथिवी का स्पर्श करनेवाला होकर **शयते**=सदा के लिए सो जाता है, अर्थात् चारों खाने चित्त होकर समाप्त हो जाता है। 'शत्रु को धराशायी कर देना' यह भी शब्दविन्यास (मुहाविरा) है। यहाँ क्रियाशीलता कामवासना को धराशायी कर देती है।

भावार्थ—इन्द्र क्रियाशीलतारूप महनीय घातक अस्त्र से वासना को बुरी तरह से नष्ट कर देता है, उसके कन्धे ही मानो काटकर उसे धराशायी कर देता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इन्द्र-वृत्र-संग्राम

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥६॥

१. **अयोद्धा इव**=यह कामवासना अप्रशस्त योद्धा की तरह **दुर्मदः**=दुष्ट मदवाली होती हुई **महावीरम्**=उस महान् वीर इन्द्र को **हि**=निश्चय से **आजुह्वे**=युद्ध के लिए ललकारती है, उस इन्द्र को जोकि **तुविबाधम्**=महान् शत्रुओं का बाधन करनेवाला है तथा **ऋजीषम्**=(शत्रूणामपार्जकम्) शत्रुओं को दूर भगानेवाला है। इन्द्र अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष के सम्मुख काम की क्या शक्ति! परन्तु जैसे जो योद्धा जितना कम वीर होता है, वह उतना ही अधिक अभिमानवाला होता है, उसी प्रकार यह कामदेव भी उस इन्द्र के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ स्थितिवाला है, तदपि गर्जता है, इसे अपनी प्रबल शक्ति का अत्यन्त गर्व है। २. पर इसका यह सारा गर्व चूर-चूर हो जाता है जबकि इसे इस इन्द्र से टक्कर लेनी पड़ती है, यह **अस्य**=इस इन्द्र के **वधानाम्**=क्रियाशीलता-रूप वज्रों के **समृतिम्**=संगम व सम्प्राप्ति को न **अतारीत्**=पार नहीं कर पाता, अर्थात् इन्द्र के अस्त्रों के प्रहार से यह अपने को बचा नहीं पाता। गत मन्त्र के

जाता है। ३. **इन्द्रशत्रुः**=इन्द्र है शासन करनेवाला जिसका ऐसा वह 'वासनाओं का सेनानी' काम **संरुजानाः**=(रुजो भंगे) कामवासना के साथ ही रणांगण में भग्नीभूत व्यूहवाली, अतएव भाग खड़ी हुई वासनाओं को ही **पिपिषे**=पीस डालता है। काम के नष्ट होने पर अन्य वासनाएँ आप ही नष्ट हो जाती हैं। जैसे एक दुर्मद हस्ती रण में भाग खड़े होने पर अपनी ही सेना को कुचलने लगता है, उसी प्रकार यह 'काम' इन्द्र से पराजित होकर अपनी ही सेना को पीस डालता है। काम के भाग खड़े होने पर क्रोधादि उसी पराजित व भागते हुए काम से पिस-पिसा जाते हैं।

भावार्थ - हम वस्तुतः इन्द्र बनें। शत्रुओं के भगानेवाले हम 'काम' पर प्रबल आक्रमण करें, यह नष्ट होता हुआ 'काम' अपने अन्य क्रोधादि साथियों को आप ही नष्ट कर दे।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वध्रि का वृषा पर उपहासास्पद आक्रमण

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार पराजित हुए वृत्र का ही चित्रण करते हैं कि **अपाद् अहस्तः**=बिना हाथ और पाँव का होता हुआ भी यह वृत्र (काम) **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले इन्द्र पर **अपृतन्यत्**=क्रोधादि की पृतना (सेना) से आक्रमण करता है। यह काम बिना हाथ-पैरवाला होता हुआ भी प्रबल शक्ति से युक्त है। इसका नाम ही 'प्रद्युम्न'=प्रकृष्ट शक्तिवाला है। इसकी शक्ति इन्द्र की तुलना में प्रबल न भी हो, तो भी यह गत मन्त्र के अनुसार 'दुर्मद' तो है ही। अनुचित अभिमानवाला होने के कारण यह इन्द्र पर आक्रमण करता ही है। २. कामदेव ने महादेव पर आक्रमण किया ही, चाहे वह परिणाम में भस्म ही हो गया। इसी प्रकार यहाँ यह काम इन्द्र पर आक्रमण करता है और इन्द्र **अस्य**=इस काम के **सानौ**=शिखर पर (सिर पर) **वज्रम् अधि आजघान**=वज्र से खूब ही प्रहार करता है। इन्द्र क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा इसके मस्तक को ही छिन्न कर देता है। ३. काम का यह आक्रमण तो ऐसा था मानो **वध्रिः**=कोई छिन्नमुष्क=नपुंसक **वृष्णः**=शक्तिशाली का **प्रतिमानं बुभूषन्**=मुकाबिला करने की इच्छा करे। ऐसा करने पर जैसे उस नपुंसक की दुर्गति होती है उसी प्रकार यहाँ यह **वृत्रः**=ज्ञान पर आवरण डालनेवाला काम **पुरुत्रा व्यस्तः**=अनेक अवयवों में विशेषरूप से ताड़ित होकर इधर-उधर फेंका हुआ **अशयत्**=पृथिवी पर मृत्यु की नींद में सो गया है। इन्द्र और वृत्र के इस संघर्ष में इन्द्र वृत्र को प्रताड़ित करता है और वृत्र छिन्नावयव होकर भूमिशायी हो जाता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें। वृत्र (काम) हमपर आक्रमण करे तो उसे नष्ट ही होना पड़े।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

पावों-तले न कि सिर पर

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव॥८॥

१. जब वृत्र पराजित हो जाता है तो उस स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **नदं न भिन्नम्**=वह नदी जिसके कि किनारे टूट जाते हैं, जिस प्रकार भूमि पर बिखरी-सी पड़ी होती है अर्थात् जिस प्रकार उसका जल इधर-उधर फैलकर नष्ट वेगवाला हो जाता है उसी प्रकार **अमुया शयानं**=

(नष्ट होकर) इस पृथिवी के साथ सोते हुए इस काम को **आपः**=कर्मों में लगी हुई प्रजाएँ (आपो वै नरसूनवः) **अति यन्ति**=लाँघकर पार हो जाती हैं। कोई समय था जबकि किनारों के अन्दर चलती हुई नदी के वेग के समान काम का वेग भी प्रबल था, परन्तु अब तो इन्द्र ने क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा इस वृत्र पर आघात करके इसके अवयवों को इधर-उधर फेंक दिया है; यह अब टूटे हुए किनारोंवाली नदी के समान हो गया है; इसके छिन्न हो चुके वेग को लाँघना अब कठिन नहीं रहा। २. इसके आक्रमण से अब तक प्रजाएँ दबी-सी हुई थीं, पर अब इसके विनाश से **मनो रुहाणाः**=वे प्रजाएँ अपने मनों को फिर से उन्नति-पथ पर आरोहण करनेवाला बना पाई हैं। उनका मन अब दबा हुआ नहीं, अपितु खूब उत्साहयुक्त है। काम के आक्रमण से जो उन्नति रुकी हुई थी वह अब इस काम के विनाश से फिर दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी है। ३. यह **वृत्रः**=काम **याः चित्**=जिनकी प्रजाओं को **महिना**=अपनी शक्ति की महिमा से **पर्यतिष्ठत्**=पूरी तरह से चारों ओर से घेर-घारकर टिका हुआ था, आज वह **अहिः** (आहन्ति) आक्रमण करनेवाला काम **तासाम्**=उन्हीं प्रजाओं के **पत्सुतः शीः**=(पादस्याधः शयानः) पावों-तले सोनेवाला **बभूव**=हो गया है, अर्थात् आज उन प्रजाओं ने इस काम को पावों-तले कुचल दिया है।

भावार्थ—काम का पराजय होने पर प्रजाओं के मन पुनः उन्नति-पथ पर आरोहण करनेवाले बनते हैं। वह सिर पर चढ़नेवाला काम आज पाँवों-तले सोया पड़ा है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'माता व पुत्र' दोनों का अन्त

नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः॥९॥

१. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'वृत्र' की माता का भी उल्लेख है। 'वृत्र' काम का नाम है और इसकी माता आसक्ति है—**'संगात् संजायते कामः'**। यह आसक्ति प्रायः अवाञ्छनीय वस्तुओं के प्रति ही होती है। संसार में प्रायः हीनाकर्षण ही हैं। यहाँ मन्त्र में इस दृष्टिकोण से इसे **'नीचावयाः'** कहा गया है। नीच है वयस्=मार्ग (way) [नीयते गम्यते अस्मिन्] जिसका, ऐसी यह **वृत्रपुत्रा**=वृत्र नामक पुत्रवाली आसक्ति **अभवत्**=है। ज्ञान पर आवरणभूत होने से कामवासना 'वृत्र' है। आसक्ति इसे जन्म देती है। यह आसक्ति अपने नीचे कामवासना को उसी प्रकार छिपाये हुए है जैसे कोई माता बच्चे को गोद में लिये हुए होती है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अस्याः**=इस आसक्ति के **अव**=नीचे **वधः**=अपने वज्र नामक अस्त्र को **जभार**=(जहार) प्रहृत करता है, अर्थात् आसक्ति के नीचे छिपे इस काम को यह क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा नष्ट कर देता है। ३. इस वृत्र के नाश के समय **सूः उत्तरा**=आसक्तिरूप माता ऊपर थी; **पुत्रः**=वृत्र (काम) नामक पुत्र **अधरः आसीत्**=नीचे था। वृत्र के नष्ट हो जाने पर यह आसक्ति जोकि **दानुः**=(दाप् लवने) सब उत्तमताओं व दिव्यगुणों का खण्डन करनेवाली थी, **शये**=उसी हृदयस्थली में निवास कर रही है, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **सहवत्सा धेनुः**=बछड़ेसहित एक नवसूतिका गौ हो। गौ को बछड़ा प्रिय है, बछड़े के मर जाने से वह दुःखी होती है; अपने नीचे उसे छिपाना चाहती है, परन्तु आखिर उस मृत बछड़े को तो फेंकना ही होगा। इस मृत पुत्र की विरक्ति में आसक्ति भी कुछ परिवर्तित-से जीवनवाली हो जाती है। यह आसक्ति काम के नष्ट हो जाने पर प्रभु के प्रति लगाव के रूप में होकर सचमुच **'उत्तरा'**=उत्कृष्ट हो जाती है, आसक्ति मानो नष्ट हो जाती है और भक्ति का उदय हो जाता है। आसक्ति ही भक्ति बन जाती है। काम गया, आसक्ति भी गई। काम नष्ट

होकर प्रेम हो गया और आसक्ति नष्ट होकर भक्ति बन गई। प्रेम 'बछड़ा' है तो भक्ति 'धेनु' है। अब हमारे हृदय में इस सहवत्सा धेनु का—प्रेममयी भक्ति का—निवास है।

भावार्थ—हम काम को नष्ट करके आसक्ति को भक्ति के रूप में परिवर्तित करनेवाले हों। भक्त वह है जो सभी से प्रेम करता है (सर्वभूतहिते रतः)।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

न ठहरना, न बैठना

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥१०॥

१. गत मन्त्र में वृत्र की मृत्यु का वर्णन किया गया था। यह मरकर भी तो मौजूद रहता है—इस बात का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। कामदेव भस्म होकर भी है ही। इस **वृत्रस्य**=कामदेव का **शरीरम्**=यह मृत शरीर **अतिष्ठन्तीनाम्**=अपने कार्यक्रम में न रुकती हुई अर्थात् निरन्तर अपनी दैनिक चर्या में लगी हुई **अनिवेशनानाम्**=(उपवेशनरहितानां—सा०) न बैठ जानेवाली **काष्ठानाम्**=(काष्ठा=दिशः=तत्रस्थाः प्रजाः) इन विस्तृत दिशाओं में स्थित प्रजाओं के **मध्ये**=अन्दर **निण्यम्**=(निर्णामधेयं-नि० अन्तर्हितं) छिपा हुआ **निहितम्**=रखा है, अर्थात् कामदेव नष्ट हो गया; अब उसका स्वरूप दिखता तो नहीं, परन्तु इसे एकदम मृत समझ लेना भी भूल है, यह तो अन्तर्निहित-सा हुआ (प्रसुप्त चेतना में Sub-conscious spirit में) अन्दर है ही। यह **'इन्द्रशत्रुः'**=जितेन्द्रिय पुरुष जिसका नष्ट करनेवाला है, ऐसा कामदेव **दीर्घं तमः**=घने अँधेरे में अर्थात् अत्यन्त दबी हुई अवस्था में **आशयत्**=शरीर में ही निवास कर रहा है। २. यह फिर से प्रबुद्ध न हो जाए इस दृष्टिकोण से **आपः**=व्यापक कर्मों में लगनेवाली प्रजाएँ **विचरन्ति**=विशेषरूप से कर्म करती ही हैं! ये प्रजाएँ जानती हैं कि जबतक हम अन्य कर्मों में लगी रहेंगी तब तक यह 'काम' सुप्त ही रहेगा। सो ये न तो ठहरती हैं न बैठती हैं, अपितु कार्य में लगी ही रहती हैं। ठहरी व बैठी और काम जगा। क्रिया ही काम का विध्वंसक अस्त्र है। कर्म ही काम का कृन्तन करता है, इसलिए प्रभु ने जीव से कहा कि **कर्मासि**=तू तो कर्म ही है, कर्म नहीं तो तू भी नहीं, तब तो यह 'काम' तेरा काम-तमाम कर देगा।

भावार्थ—हम उत्तम कार्यों में लगे रहें ताकि यह 'काम' भस्म बना हुआ अत्यन्त अन्धकार में ही पड़ा रहे—जाग न जाए।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

क़ैद में रखना, न कि रहना

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥११॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर हुई थी कि यह भस्मीभूत काम घने अँधेरे में पड़ा है और हमें सावधान रहना चाहिए कि यह कहीं जाग न जाए; यदि यह जाग जाता है तो हमारा अधिपति बन जाता है और हमारा नाश ही कर देता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **दासपत्नीः**=(दसु-उपक्षये) सबके क्षय का कारणभूत यह वृत्र जब हमारा पति बन जाता है और यह **अहिगोपाः**=सबका हनन करनेवाला 'अहि' नामक काम ही हमें अपने क़ैदखाने में रखनेवाला होता है, तो ये दास-

पत्नी अहिगोपा **आपः**=प्रजाएँ (आपो वै नरसूनवः) **निरुद्धाः**=इस काम से कैद की हुई **अतिष्ठन्**=रहती हैं, उसी प्रकार इस काम की कैद में वे रहती हैं **इव**=जैसेकि **गावः पणिना**=गौवें किसी बणिये से बाड़े में रोकी जाती हैं। २. **अपां बिलम्**=इन प्रजाओं का इस काम के कैदखाने का द्वार **यत्**=जो **अपिहितम्**=वृत्र के द्वारा बन्द किया हुआ **आसीत्**=था, **तत्**=उस ब्रह्मद्वार को **अपववार**=वही पुरुष खोल पाता है जोकि **वृत्रं जघन्वान्**=इस वृत्र (कामदेव) को नष्ट करता है। वृत्र के नाश से ही हम इसके कैदखाने से मुक्त हो सकते हैं। वृत्र के साथ किसी समझौते की आशा करना व्यर्थ है। यह तो जागते ही हमें मारेगा। ३. मरा हुआ यह काम हमारे जीवन का कारण होगा; तब यह प्रेम में परिणत होकर हमारी स्वाध्याय व यज्ञादि की रुचि का साधन होगा—'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः'। यदि तनिक भी यह जीवित हुआ तो हमें मार डालेगा। इसीलिए मनु कहते हैं कि 'कामात्मता न प्रशस्ता' काममय हो जाना अच्छा नहीं। इसकी कैद में न रहकर इसे क़ैद में रखना ही ठीक है।

भावार्थ—काम ध्वंसक है, घातक है। इसकी क़ैद से निकलना ही ठीक है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सप्त सिन्धु-संसरण

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्॥१२॥

१. **इन्द्रः**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब **सृके**=(सृ गतौ) तेरे हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र के होने पर भी **त्वा**=तुझे **एकः देवः**=यह अद्वितीय, निराला-सा तुझे जीतने की कामनावाला कामदेव **प्रत्यहन्**=प्रहृत (प्रहार) करता है **तत्**=तो तू उस कामदेव के लिए **अश्व्यः वारः**=घोड़े के बाल के समान **अभवः**=होता है। जैसे एक घोड़ा अपनी पूँछ के बालों से अनायास ही मक्खी-मच्छरों को दूर कर लेता है, उसी प्रकार तू इस कामदेव को आसानी से पराजित करनेवाला होता है। २. इस काम को पराजित करकें तू **गाः**=उन इन्द्रियों को जिनको कि यह कामवासना चुरा-सा ले गई थी **अजयः**=जीतनेवाला होता है। इन्द्रियों को तू फिर से स्वाधीन कर पाता है। इन्हें काम के बन्धन से मुक्त कर लेता है। ३. जितेन्द्रिय होकर हे **शूर**=शत्रुओं का संहार करनेवाले जीव! तू **सोमम् अजयः**=सोम का विजय करता है। शरीर में उत्पन्न सोम (वीर्य) को तू नष्ट नहीं होने देता। ३. इस प्रकार इन्द्रियों को जीतकर तथा सोमशक्ति की रक्षा करके तू **सप्त सिन्धून्**=(कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) इन दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ज्ञानेन्द्रियों व ऋषियों से प्रवृत्त होनेवाली ज्ञानधाराओं को **सर्तवे**=निरन्तर प्रवाहित होने के लिए **अवासृजः**=छोड़ता है। इन्द्रियों को वश में करने व वीर्य के रक्षण से बुद्धि तीव्र होकर मनुष्य का ज्ञान निरन्तर बढ़ता चलता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता द्वारा आसानी से काम का पराजय हो पाता है। मनुष्य जितेन्द्रिय होकर वीर्य-रक्षण करता है तो सब ज्ञामेन्द्रियों से सतत ज्ञान-जलधाराओं का प्रवाह बह पड़ता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मघवा की विजय

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये॥१३॥

१. 'अहि' शब्द अध्यात्म में कामवासना का वाचक है, जो वासना मनुष्य का आहनन=सर्वतः विनाश करनेवाली है। यह 'अहि' आधिदैविक जगत् में मेघ का वाचक है। यह अहि नामक मेघ सूर्य के प्रकाश को उसी प्रकार आवृत करने का प्रयत्न करता है जैसेकि वासना मनुष्य के ज्ञान पर आवरण डाल देती है। 'इन्द्र' अध्यात्म में आत्मा है; यह इस वासना से निरन्तर युद्ध करता है। **यत्**=जब **इन्द्रः च अहिः च**=यह आत्मा और यह वासना **युयुधाते**=युद्ध करते हैं तो **अस्मै**=इस इन्द्र के लिए **न विद्युत् न तन्यतुः**=न तो इस अहि नामक मेघ की बिजली, न ही गर्जना **सिषेध**=रोकनेवाली होती है **न**=न ही **याम्**=जिस **मिहम्**=ओले आदि की वर्षा को **अकिरत्**=यह अहि विकीर्ण करता है **च**=और **ह्रादुनिम्**=अशनि-पतन के अव्यक्त शब्दों को करता है; ये वर्षा व वज्र-ध्वनियाँ भी इस इन्द्र को रोकनेवाली नहीं होतीं। **मघवा**=(मघ-मख) इस युद्धरूपी यज्ञ को करनेवाला इन्द्र अहि को तो मारता ही है **उत**=और **अपरीभ्यः**=इस अहि की अन्य फौजों से भी यह युद्ध में **विजिग्ये**=विजय को प्राप्त करता है। काम के पराजय के साथ (क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर) आदि का भी पराजय हो जाता है। २. गलियों में नल के पानी आदि पर होनेवाली तामस लड़ाइयाँ बिजली की कड़क व ओलों की बौछार से समाप्त हो जाती हैं। लड़नेवाले सब घरों को जाने की करते हैं। राजाओं के परस्पर युद्ध भी वर्षा ऋतु में रुक जाते हैं, परन्तु यह अध्यात्म में चलनेवाला 'इन्द्र और अहि' का संग्राम अहि की इन गर्जना आदि से रुक नहीं जाता। रुकना तो दूर रहा, उस समय यह संग्राम कुछ तीव्रता से चलता है। इन्द्र को ये विद्युत्-पतन आदि भयभीत नहीं कर पाते। इन्द्र इस संग्राम में अधिक यत्नशील होकर विजयी होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें। वासनारूप 'अहि' का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वासनानदी-संतरण

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥१४॥

१. इस वासना को जीतना सुगम नहीं। सुगम क्या, इसका जीतना असम्भव-सा प्रतीत होता है, परन्तु जब प्रभु को अपना मित्र बनाकर यह 'इन्द्र' इस वासना से संग्राम करता है तो उसे अवश्य मार ही पाता है। वस्तुतः इन्द्र का मित्र प्रभु ही अपने मित्र के लिए इस कामरूप शत्रु का विनाश करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विदारण करनेवाले जीव! तू **अहेः यातारं**=इस आहनन करनेवाली वासना के प्रति जानेवाले और उसपर आक्रमण करनेवाले **कम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **अपश्यः**=देख। **यत्**=जब भी **ते हृदि**=तेरे हृदय में **भीः अगच्छत्**=भय प्राप्त हो, तू प्रभु का ध्यान कर। अरे! उस प्रभु की मित्रता में डर का प्रश्न ही कहाँ? **जघ्नुषः**=(हतवतः) तूने उस कामरूप शत्रु को मार ही लिया है, डरता क्यों है? २. उस प्रभु की मित्रता में **यत्**=आज तू **नव च नवतिं च**=नौ और नव्वे अर्थात् निन्यानवे प्रकार से **स्रवन्तीः**=बहती हुई इन वासना-नदियों को प्राप्त करके **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) निरन्तर गतिशील होता हुआ तथा **न भीतः**=न डरा हुआ **रजांसि**=(उदकानि) उन वासनारूप नदियों के राजसभावरूप जलों को **अतरः**=तैर गया है। ३. संसार की वासनाओं को जीतने का उपाय यही है कि हम (क) सुकर्मशील बने रहें; (ख) क्रियाशीलतारूप वज्र हाथ में होने पर हम इनसे डरें नहीं; (ग) तथा उस प्रभु को अपने मित्र के रूप में देखें। वस्तुतः उस प्रभु ने ही तो इन वासनाओं को विनष्ट करना है।

भावार्थ—वासनाओं के विनाशक प्रभु हैं, यह देखते हुए हम निर्भयता के साथ सुकर्मशील बने रहें तब अवश्य ही हम इन असंख्यात वासना-नदियों के राजसभावरूप जलों को तैरनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शासक व रक्षक प्रभु

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव ॥१५॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि तेरी वासनाओं का संहार करनेवाला तेरा वह मित्र प्रभु ही है। उस प्रभु के लिए कहते हैं कि **इन्द्रः**=सब ऐश्वर्यों का स्वामी वह प्रभु **यातः**=जंगम तथा **अवसितस्य**=एक स्थान में बद्ध अर्थात् स्थावर; सब चराचर जगत् का **राजा**=स्वामी है तथा उनको व्यवस्थित करनेवाला है (राज्=to regulate)। २. **सः**=वह **वज्रबाहुः**=(वज् गतौ) वज्रहस्त प्रभु ही, स्वाभाविकी क्रियावाले प्रभु ही **शमस्य**=शान्त स्वभाववाले प्राणियों के **च शृङ्गिणः**=और सींगवाले अर्थात् क्रूर व अभिमानी पुरुषों के **इत्**=निश्चय से **राजा**=शासन करनेवाले हैं। ३. ये प्रभु ही **चर्षणीनाम्**=सब श्रमशील मनुष्यों को **क्षयति**=(अन्तर्भावितण्यर्थः) उत्तम निवास देनेवाले हैं। वस्तुतः उन सबकी गतियों के स्रोत भी वे प्रभु हैं; कार्य करने की सब शक्ति उस प्रभु से ही प्राप्त होती है। ४. **अरान् न नेमिः**=जिस प्रकार नेमि=हाल अरों के चारों ओर होकर उनकी रक्षा करती है इसी प्रकार वे प्रभु **ताः**=उन सब प्रजाओं को **परिबभूव**=चारों ओर से व्यापन करनेवाले हैं। वे प्रभु ही सबके रक्षक हैं। प्रभु से रक्षित होने पर हमारा नाश हो ही कैसे सकता है? वासनाएँ भी हमपर आक्रमण कैसे कर सकती हैं?

भावार्थ—वे प्रभु ही चराचर के राजा हैं। वे हमारे उत्तम निवास का कारण हैं—वे हमारे रक्षक हैं।

विशेष—इस सूक्त में इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है। इन्द्र का सर्वमहान् कार्य यही है कि उसने 'वासना' का विनाश किया है, अविद्या के प्रवाहों को विदीर्ण कर दिया है (१)। वासनाओं को नष्ट करनेवाली प्रजाएँ प्रभु को प्राप्त करती हैं (२)। काम के विनाश से ही ज्ञान के सूर्य का प्रकाश प्रकट होता है (४)। वृत्र की माता अविद्या इस इन्द्र द्वारा नष्ट की जाती है (९)। जीवात्मा का मित्र प्रभु है। वस्तुतः वह प्रभु ही जीव के लिए वासना का विनाश करता है (१४)। इस वासना-विनाश के द्वारा प्रभु ही कर्मशील मनुष्यों को उत्तम निवास प्राप्त कराते हैं (१५)। इसलिए अगले सूक्त में 'हिरण्यस्तूप' इस प्रभु की ही आराधना करता है—

॥ इति प्रथमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ प्रथमाष्टके तृतीयोऽध्यायः

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुमति वर्धन

एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति।
अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केतं परमावर्जते नः ॥१॥

१. वृत्र ने, वासना ने, हमारे ज्ञान पर परदा डाला हुआ था। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी इस वृत्र द्वारा मानो चुरा-सी ली गईं थीं। अब 'हिरण्यस्तूप' अपने साथियों से कहता है कि **आ इत**=आओ। **गव्यन्तः**=अपनी ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं को प्राप्त करने की कामना से **इन्द्रम्**=उस वासनारूप शत्रुओं के नष्ट करनेवाले प्रभु के **उप अयाम्**=समीप प्राप्त हों, उस प्रभु की उपासना करें। २. वे प्रभु ही **अस्माकम्**=हमारी **प्रमतिम्**=शोभन बुद्धि को **सु वावृधाति**=नित्य उत्तमता से बढ़ाते हैं, वासनारूप आवरण को नष्ट करके वे हमें फिर से बुद्धि प्राप्त करानेवाले हैं। ३. जीव तो वासनाओं से आक्रान्त हो जाता है, परन्तु वे प्रभु **अनामृणः**=(अविद्यमानाः समन्तात् मृणाः, हिंसकाः यस्य) हिंसकों से रहित हैं। ये वृत्र या अहि उस प्रभु पर आक्रमण नहीं कर पाते। **आत्**=और इसीलिए **अस्य**=इस प्रभु के **रायः**=ज्ञानादि धन **कुवित्**=बहुत, अनन्त ही हैं। ४. वे प्रभु **नः**=हमें अर्थात् अपने उपासकों को भी **गवाम्**=इन वेदवाणियों के **परं केतम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को **आवर्जते**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासन से मनुष्य वासनाओं का शिकार होने से बच जाता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली होती हैं और परिणामतः उसका ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें—यह उपासना हमारी सुमति का वर्धन करेगी।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

जुष्टा-वसति

उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्॥२॥

१. गत मन्त्र की उपासना को ही इन शब्दों में कहते हैं कि **अहम्**=मैं **इत्**=निश्चय से **उपपतामि**=समीप जाता हूँ। उस प्रभु के समीप जाता हूँ जोकि (क) **धनदाम्**=मेरे लिए सब धनों के देनेवाले हैं। (ख) **अप्रतीतम्**=(अ प्रति इतम्) किन्हीं भी शत्रुओं से तिरस्कृत न किये जानेवाले हैं, अथवा (न प्रतीयते स्म) चक्षु आदि इन्द्रियों के अगोचर हैं। (ग) **इन्द्रम्**=जो परमैश्वर्यशाली हैं। (घ) **यः**=जो **यामन्**=इस जीवनयात्रा के मार्ग में **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **हव्यः**=(कर्त्तरि यत्) सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले **अस्ति**=हैं। २. उस प्रभु के समीप मैं इस प्रकार जाता हूँ **न**=जैसेकि **श्येनः**=एक पक्षी **जुष्टां वसतिम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये घोंसले में आता है। प्रभु ही जीव का वह घोंसला है जहाँ कि वह शान्तिपूर्वक रह पाता है। ३. उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **उपमेभिः**=उपमानस्थानीय अर्थात् अनुपम **अर्कैः**=स्तोत्रों से **नमस्यन्**=पूजा करता हुआ मैं प्राप्त होता हूँ। प्रभु के ये स्तोत्र मेरी अन्तर्दृष्टि के सामने प्रभु को चित्रित करनेवाले होते हैं। इनसे मुझे प्रभु के स्वरूप का आभास मिलता है। ४. 'यामन्' शब्द संग्राम-वाचक भी है। सो **यः**=जो प्रभु **यामन्**=वासनाओं के साथ संग्राम में **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **हव्यः अस्ति**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु की मदद से ही हमें इन वासनाओं को जीतना है। सत्य तो यह है कि प्रभु ही हमारे लिए इन वासनाओं को पराजित करते हैं। वे प्रभु ही अप्रतीत हैं।

भावार्थ—हम अनुपम स्तोत्रों से प्रभु का अर्चन करते हुए प्रभु की उपासना करें। जीवन-संग्राम में प्रभु ही हमारे द्वारा आराधन के योग्य हैं, वे ही हमें आवश्यक धनों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

बणियाँ नहीं, सर्वसेन

नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त सम॒र्यो गा अ॑जति॒ यस्य॒ वष्टि॑ ।
चो॒ष्कू॒यमा॑ण इन्द्र॒ भूरि॑ वा॒मं मा प॒णिर्भू॑र॒स्मदधि॑ प्रवृद्ध ॥३॥

१. 'सर्वं' यह परमेश्वर का नाम है चूँकि वह प्रभु सबमें समाया है ('सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'—गीता) । उस सर्वव्यापक प्रभु के द्वारा जो **स, इनः**=स्वामीवाला है वह 'सर्वसेन' है (सर्व+स इनः) 'सर्व' रूप 'इन' के 'साथ' । यह अपने जीवन में **इषुधीन्**=(इषु=प्रेरणा, धि=धारण)प्रेरणा को धारण करने वाले अन्तःकरणों को (मन, बुद्धि, चित्त आदि को) **नि असक्त**=निश्चय से अपने साथ जोड़ता है । जैसे एक सम्पूर्ण व सरणशील सेनावाला राजा (सर्वसेन) तरकसों को (इषुधीन्) पीठ पर जोड़ता है (नि, असक्त) और शत्रुओं को जीतने की कामना करता है, उसी प्रकार यह भक्त सर्वव्यापक प्रभु को अपना स्वामी बनानेवाला (सर्व-स-इनः) प्रेरणा के धारक मन, बुद्धि आदि को अपने साथ जोड़ता है और **अर्यः**= जितेन्द्रिय, अपना स्वामी होकर **गाः**=अपनी इन्द्रियरूप गौवों को **सम् अजति**=सम्यक् गतिशील बनाता है (अज गतौ), इन्हें उत्तम कर्मों में व्यापृत करता है । उत्तम कर्मों में लगाये रखकर ही यह उनके मलों को दूर करता है (अज-क्षेपण) । २. इन्द्रियों को सत्कर्मों में प्रेरित करनेवाला यह व्यक्ति समझता है कि वह प्रभु **यस्य वष्टि**=जिसका भी हित चाहते हैं, अर्थात् जिसे कल्याण प्राप्त कराने योग्य समझते हैं उसके लिए **भूरि**=भरण-पोषण के लिए पर्याप्त **वामम्**=सुन्दर धन को **चोष्कूयमाणः**—देनेवाले होते हैं । ३. इस प्रकार समझता हुआ यह मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन ! **प्रवृद्ध**=सदा पूर्ण वृद्धि से युक्त प्रभो ! **अस्मद् अधि**=हमारे विषय में **पणिः मा भूः**=बणिये की मनोवृत्ति-वाले मत होइए । हमारा तो आपकी उदारता ही उद्धार करेगी । मैं अपनी भक्ति से तो अपना उद्धार न कर पाऊँगा । मेरे कर्म भी तो आपकी कृपा से ही पवित्र हो पाएँगे ।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना स्वामी जानें । उसकी प्रेरणाओं को सुनें, इन्द्रियों को उत्तम कर्मों में व्यापृत रखें । प्रभु हमें सुन्दर धन प्राप्त कराएँगे ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

दस्यु-वध

व॒धीर्हि दस्युं॑ ध॒निनं॑ घ॒नेनँ॒ एक॒श्चर॑न्नुपशा॒केभि॑रिन्द्र ।
ध॒नोरधि॑ विषु॒णक्ते व्या॑य॒न्नय॑ज्वानः सन॒काः प्रेति॑मीयुः ॥४॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! तू **उपशाकेभिः**=शक्ति को प्राप्त करानेवाले इन समीपस्थ मरुतों—प्राणों के साथ **चरन्**=विचरण करता हुआ **एकः**=(इ गतौ) गतिशील, दृढ़ (firm, unchanged) व सत्य-स्वभाववाला (true) तू **धनिनम्**=इस सांसारिक धन को ही सम्पत्ति समझनेवाले **दस्युम्**=नाशक लोभ के भाव को **घनेन**=ज्ञान की वाणियों के पाठ-विशेष से, विशेष प्रकार के जप से **हि**—निश्चयपूर्वक **वधीः**—नष्ट करता है । प्राणसाधना से हममें एकत्व='गतिशीलता, दृढ़ता व सत्य' की उत्पत्ति होती है । इस एकत्व के होने पर हम लोभ को नष्ट कर पाते हैं, यह लोभ ही तो सब व्यसनों का मूल है, इसके नाश से सब व्यसन समाप्त हो जाते हैं, इस लोभ की समाप्ति 'घन' से होती है, जैसे एक शत्रु की समाप्ति एक कठोर अस्त्रविशेष से होती है, उसी प्रकार यहाँ लोभ की समाप्ति ज्ञान की वाणियों के पाठविशेष

व जप से होती है। इन वाणियों के द्वारा निरन्तर प्रभुस्मरण चलता है तथा तात्त्विक दृष्टि बनाकर यह वाणी हमें लोभ से ऊपर उठाती है। २. हे इन्द्र! **धनोः अधि**='प्रणवो धनुः' प्रणव=ओङ्कार—प्रभु के नामरूप धनुष पर पड़नेवाले **ते**=वे लोभादि के भाव **विषुणक्**=(वि सु नश्) विशेषरूप से पूर्णतया नष्ट होनेवाले होकर **व्यायन्**=विविध दिशाओं में भाग खड़े होते हैं। प्रभु का नाम तेरा धनुष बनता है और तब आक्रमण करनेवाले ये लोभादि के भाव विनष्ट होकर भाग खड़े होते हैं। ३. इस इन्द्र को यह तात्त्विक दृष्टि प्राप्त हो जाती है कि **अयज्वानः**=जो यज्ञशील नहीं हैं तथा **सनकाः**=(सनन्ति सेवन्ते परपदार्थान्—द०) दूसरों के धनों का भी अन्याय से अपहरण करनेवाले हैं, देवों से दिये हुए पदार्थों को उनके लिए न देकर स्वयं सब खा जानेवाले हैं, वे **प्रेतिम् ईयुः**=मरण, नाश को प्राप्त होते हैं। 'यज्ञशील न होना व दान न देना' यह मृत्यु का ही मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा अपने को दृढ़ बनाएँ; लोभादि भावों को तात्त्विक दृष्टि से नष्ट करने के लिए यत्नशील हों; 'ओम्' रूप प्रभु-नाम को अपना धनुष बनाएँ; यह समझें कि अयज्ञियता व परस्वादान हिंसा का मार्ग है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अव्रतों का विध्वंस

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।
प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब इन्द्र लोभ व वासना का नाश करता है तो हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले जीव! हृदयदेश में **यज्वभिः**=यज्ञानुष्ठान करने की दिव्य भावनाओं से **स्पर्धमानाः**=स्पर्धा करती हुई **ते**=वे **अयज्वानः**=अयज्ञिय भावनाएँ **शीर्षाः**=अपने शिरों को **पराचित् ववृजुः**=पराङ्मुख करके हृदयदेश को दौड़ जाती हैं। ये सब अयज्ञिय भावनाएँ वृत्र=(वासना) की अनुचर हैं। हृदयदेश में इनका यज्ञिय भावनाओं से युद्ध चलता रहता है। ये हृदय में अपना आधिपत्य जमाना चाहती हैं, परन्तु लोभ व वृत्र के नष्ट होने पर ये सब वासनाएँ उसी प्रकार पराङ्मुख होकर भाग जाती हैं जैसेकि सेनापति के नष्ट होने पर सेना रण-प्राङ्गण से भाग खड़ी होती है। २. पर यह होता तभी है **यत्**=(यदा) जब ये **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले **स्थातः**=युद्ध में स्थिर रहनेवाले **उग्र**=तेजस्विन् इन्द्र! तू **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **रोदस्योः**=द्यावा-पृथिवी में से, मस्तिष्क व शरीर में से **अव्रतान्**=व्रतशून्य भावनाओं को **प्र**=प्रकर्षेण **निर्**, **प्र अधमः**=निःशेषतया भस्म करनेवाला होता है (ध्मा अग्निसंयोगे)। शरीर से तू रोगों को दूर करता है, मस्तिष्क से अज्ञानान्धकारों को। इन रोगों व अज्ञानान्धकारों के नाश के लिए ही तू अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करता है—इस वासना-संग्राम में तू स्थिर होकर इनके साथ युद्ध करता है तथा तेजस्वी बनकर तू इन वृत्रानुचरों का ध्वंस करता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम इन्द्रियाश्वों को शुद्ध व प्रशस्त बनाकर धृति का अवलम्बन करके (स्थातः) तेजस्विता के द्वारा अशुभ भावनाओं का विध्वंस करनेवाले बनें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शत्रुओं का भाग खड़े होना

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वाः।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन्॥६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार **अनवद्यस्य** = प्रशस्त जीवनवाले इन्द्र की **सेनाम्**=दिव्यगुणों की सेना के साथ **अयुयुत्सन्**=वृत्र (वासना) के अनुचरों ने—क्रोध, मोह, मद आदि ने—युद्ध करने की कामना की तो **नवग्वाः**=(नवनीय गतयः, स्तोतव्यचरित्राः—सा०) स्तुत्य आचरणवाले **क्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाले पुरुषों ने **अयातयन्त**=(to torture) इन वृत्रानुचरों को अत्यन्त पीड़ित किया, अर्थात् इन क्रोधादि को युद्ध में परास्त कर दिया। २. **वृषायुधः**=(वृषेण सह युद्धं कुर्वन्तः) शूरवीर पुरुष के साथ युद्ध करते हुए **वध्रयः**=नपुंसक **न**=जैसे नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार **इन्द्रात्**=जितेन्द्रिय पुरुष से **निरष्टाः**=निराकृत हुए-हुए (निरस्ताः) परे फेंके हुए ये वृत्र के अनुचर **चितयन्तः**=अपनी अशक्ति को जानते हुए, इन्द्र के सामने अपनी दाल न गलती देखकर **प्रवद्भिः**=निम्न मार्गों से—भागने के लिए सुगम मार्गों से **आयन्**=चले जाते हैं, अर्थात् जैसे महादेवजी के सामने कामदेव खड़े होने का साहस नहीं रखते, इसी प्रकार इन्द्र के सामने अशुभ भावनाएँ खड़ी नहीं रह पाती हैं।

भावार्थ—नवग्वा क्षितिः=प्रशस्त गतिवाले मनुष्य वासनाओं को इस प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे कि एक वीर एक नपुंसक को।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रोतों व हँसतों को

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे।
अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः॥७॥

१. वासनाओं का संसार ऐसा है कि इसमें फँसकर मनुष्य एक मिनट खा-पी व हँस रहा है (जक्ष=भक्षहसनयोः) तो दूसरे ही मिनट रो रहा होता है (रुद्), सो इन वृत्र (वासना) के अनुचरों को यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में (रुदतः-जक्षतः) इन शब्दों से स्मरण किया गया है। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **एतान्**=इन **रुदतः जक्षतः**=रोते व हँसते, रुलाते व हँसाते काम-क्रोधादि को **अयोधयः**=युद्ध में सम्मुख करता है, और तू इन्हें **रजसः पारे**=लोकों के पार पहुँचा देता है, अथवा अन्तरिक्ष के पार फेंक देता है। 'सात समुद्र पार पहुँचा देने' की तरह लोकों के पार पहुँचा देना भी यहाँ एक सुन्दर पद-विन्यास (ईडियम्) है। इन्द्र के सामने ये वृत्रानुचर ठहर नहीं सकते और दूर भाग खड़े होते हैं। २. हे इन्द्र! तू **दिवः, आ**=अपने ज्ञान के प्रकाश से **दस्युम्**=विनाशक कामरूप शत्रु को **अवादहः**=दग्ध कर देता है। ३. इस प्रकार काम को नष्ट करके **प्रसुन्वतः**=प्रकर्षेण सोमाभिषव करते हुए, यज्ञादि करते हुए तथा **उच्चा स्तुवतः**=खूब उच्च स्वर में स्तवन करते हुए पुरुष के **शंसम्**=प्रशंसनीय जीवन को **आवः**=अपने में सुरक्षित करता है।

भावार्थ—वासनाओं में फँसकर हम एक मिनट हँस रहे होते हैं तो दूसरे मिनट रो रहे होते हैं। इनको नष्ट करके हमें यज्ञशील व स्तवन करनेवाले के प्रशस्त जीवन को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञान-ज्योति के पात्र

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥८॥

१. **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर को **परीणहम्**=चारों ओर से बन्धन में **चक्राणासः**=करते हुए अर्थात् शरीर की सब क्रियाओं को अत्यन्त नियम में रखते हुए २. **हिरण्येन**=हित व रमणीय **मणिना**=वीर्यशक्ति से **शुम्भमानाः**=शोभायमान होते हुए, वीर्य शरीर में सब रोगकृमियों का नाशक होने के कारण हितकर है तथा शरीर को रमणीय बनानेवाला है। यह शरीर में मणि-तुल्य है। स्वास्थ्य के द्वारा यह अपने धारण करनेवाले को उसी प्रकार सुशोभित करता है जैसेकि कोई मणि अपने धारक को सुशोभित करती है। ३. **ते**=ये शरीर की क्रियाओं को मर्यादित करनेवाले तथा वीर्यरूप मणि से शोभायमान पुरुष **हिन्वानासः**=(हि गतिवृद्धयोः) निरन्तर क्रियाशीलता से वृद्धि को प्राप्त होते हुए **इन्द्रं न तितरुः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का कभी उल्लंघन नहीं करते, अर्थात् सदा प्रभु के आदेशों के अनुसार अपने जीवनक्रम को चलाते हैं। ४. प्रभु भी **स्पशः**=(one who fights with savage animals) काम, क्रोध आदि पशुओं से, (पाशविक वासनाओं से) निरन्तर संग्राम करनेवाले पुरुषों को **सूर्येण**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से **परि अदधात्**=सर्वतः धारण करता है।

भावार्थ—(क) शारीरिक क्रियाओं का सर्वतः नियमन करनेवाले (ख) हित रमणीय वीर्यशक्ति से अपने को सुशोभित करनेवाले (ग) गति द्वारा वृद्धिशील (घ) प्रभु की मर्यादाओं का उल्लंघन न करनेवाले (ङ) वासनाओं से संग्राम करनेवाले पुरुषों को प्रभुकृपा से ज्ञान की ज्योति प्राप्त होती है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दोनों का पालन व दस्युदहन

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम्।
अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र ॥९॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब तू **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को **परि अबुभोजीः**=सब-प्रकार से पालित करता है, अर्थात् जब तू अपने शरीर को स्वस्थ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है तो **महिना**=प्रभुपूजन के द्वारा (मह-पूजायाम्) **विश्वतः**=सब ओर से **सीम्**=(सीम् इति परिग्रहार्थीयः) शक्ति व ज्ञान का ग्रहण करके **अमन्यमानान्**=ज्ञानशून्य पुरुषों को **मन्यमानैः**=प्रभु का ज्ञान देनेवाले **ब्रह्मभिः**=ज्ञानप्रद मन्त्रों से **अभि अधमः**=(ध्मा शब्दे) प्रकृति व आत्मतत्त्व दोनों का ज्ञान देता है। ज्ञान का प्रचार वही कर सकता है जो उज्ज्वल मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाला हो। यह अज्ञानियों को ज्ञानप्रद मन्त्रों से प्रकृति व आत्मा दोनों का ज्ञान देने का प्रयत्न करता है (अभि)। यह ज्ञान का प्रचार अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का लक्ष्य करके करता है। २. हे **इन्द्र**=जीवात्मन्! तू इन्हीं, ज्ञानप्रद मन्त्रों से **दस्युम्**=दास्यव भावनाओं को, नाशक वृत्तियों को **निरधमः**=(ध्मा अग्निसंयोगे) निश्चय से भस्म करनेवाला होता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है जो (क) मस्तिष्क व शरीर दोनों का पालन करता है, (ख) अज्ञानियों के लिए ज्ञान की वाणियों से आत्मा व प्रकृति दोनों का प्रकाश करता है, (ग) ज्ञान की वाणियों से ही अपनी दास्यव भावनाओं को भस्म करता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

माया से 'धनदा' का अतिरस्कार

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन्।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् ॥१०॥

१. **ये**=जो लोग **दिवः**=द्युलोक के तथा **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अन्तः**=अन्त को **न आपुः**=नहीं प्राप्त कर लेते। 'द्युलोक' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है, इनके अन्त को न प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि जो उनकी उन्नति से सन्तुष्ट नहीं हो जाते, जो सदा इनकी उन्नति में लगे ही रहते हैं। २. तथा जो **मायाभिः**=इन संसार की मायाओं से **धनदाम्**=सब धनों के देनेवाले उस प्रभु को **न पर्यभूवन्**=तिरस्कृत नहीं कर देते, अर्थात् जो धन में आसक्त होकर धन के दाता प्रभु को भूल नहीं जाते, जिनकी दृष्टि से हिरण्मय पात्र के द्वारा सत्य का स्वरूप छिप नहीं जाता। ३. इनमें से प्रत्येक **वज्रम्**=(वज-गतौ) क्रियाशील पुरुष को **वृषभः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **युजम्**=अपने से मेलवाला **चक्रे**=करता है, प्रभु ऐसे पुरुषों का साथी होता है। ४. प्रभु की मित्रता को प्राप्त करने पर मन्त्र का ऋषि हिरण्यस्तूप **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति के द्वारा **तमसः**=अँधेरे से **गाः**=इन्द्रियों को **निः**=बाहर करके **अधुक्षत्**=पूरित करता है, अर्थात् इन इन्द्रियों की न्यूनताओं को दूर करता है। प्रभु की मित्रता से ही इन्द्रियों की न्यूनताएँ दूर होती हैं। न्यूनताओं के दूर करने का साधन 'ज्ञान की ज्योति' बनती है।

भावार्थ—हमें शरीर व मस्तिष्क की उन्नति से कभी सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। धन को प्राप्त करके प्रभु को न भूल जाना चाहिए, प्रभु ऐसों का ही मित्र बनता है। प्रभु से मित्रता होने पर इन्द्रियाँ अन्धकार से बाहर होती हैं और हम इनका पूरण कर पाते हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

स्वधा व नाव्यजल

अनु स्वधामक्षरन्नापो अस्यावर्धत मध्य आ नाव्यानाम्।
सध्रीचीनेन मनसा तमिन्द्र ओजिष्ठेन हन्मनाहन्नभि द्यून्॥११॥

१. **अस्य**=गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का मित्र बननेवाले की **स्वधाम्**=आत्म-धारण-शक्ति के **अनु**=अनुसार **आपः**=शरीरस्थ रेतःशक्ति के कण (आपः रेतो भूत्वा०) **अक्षरन्**=शरीर से मलों के दूर करने के लिए गतिशील होते हैं, अर्थात् जब हम आत्मचिन्तन द्वारा चित्तवृत्ति को विषयों से हटाकर स्व-आत्मा को हृदय में धारण करते हैं तो वीर्य के कण शरीर में व्याप्त होकर शरीर के मलों को दूर करनेवाले होते हैं। २. और यह 'स्व' का धारण करनेवाला इन **नाव्यानाम्**=भवसागर को तैरने के लिए दी गई इस शरीररूप नाव के लिए हितकर इन रेतःकणों के **मध्ये**=मध्य में **आ अवर्धत**=सब प्रकार की वृद्धि को प्राप्त करता है—शरीर को यह नीरोग बना पाता है, इसका मन निर्मल होता है, और इसकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म बनती है। ३. **इन्द्रः**=यह सर्वतोमुखी उन्नति करनेवाला इन्द्र **सध्रीचीनेन**=सदा परमात्मचिन्तन के साथ चलनेवाले अतएव **ओजिष्ठेन**=ओजस्वी **हन्मना**=वृत्ररूप शत्रु के हनन के साधनभूत **मनसा**=मन के द्वारा **द्यून् अभि**=ज्ञान की ज्योतियों का लक्ष्य करके **तम्**=उस वृत्र को **अहन्**=नष्ट करता है। वृत्र के नाश से ही ज्ञानज्योति दीप्त होती है। वृत्र के हनन के लिए परमात्मा का साहाय्य ही हमें समर्थ बनाता है, सो यह 'सध्रीचीन मन' आवश्यक ही है। प्रभुचिन्तन हमें ओजस्विता प्राप्त कराता है। ओजस्वी बनकर हम वृत्र को नष्ट कर पाते हैं।

भावार्थ—हम जितना-जितना हृदय में आत्मतत्त्व के धारण का प्रयत्न करते हैं, उतना-उतना शक्तिशाली बनकर वृत्र='वासना' का नाश करते हैं और तभी वीर्य के रक्षण से सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वृत्र व शुष्ण का नाश (अनालस्य व ओजस्विता)

न्यविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः।
यावत्तरो मघवन्यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम् ॥१२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'स्व' का धारण करके **इन्द्रः**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न जीव **इलीबिशस्य**=(इला-बिल-शयस्य—यास्क) शरीररूप पृथिवी के हृदयरूप बिल में शयन करनेवाले इस मनसिज=कामवासना के **दृळ्हा**=प्रबल सैन्यों व दुर्गों को **न्यविध्यत्**=यह निश्चय से विद्ध करता है। और इन्द्र इस **शृङ्गिणम्**=सींगोंवाले अर्थात् अति भयंकर, नाशक अस्त्रोंवाले **शुष्णम्**=शोषक शत्रु को **वि अभिनत्**=विदीर्ण करता है। कामवासना से मनुष्य सूखता जाता है। यदि वासना अपूर्ण है तो विरहवेदना सुखाती है और पूर्ण हो जाए तो शक्ति का नाश सुखानेवाला हो जाता है; सो काम को यहाँ 'शुष्ण' कहा है। जब यह प्रबल होता है तो सचमुच सींगोंवाले पशु की तरह भयंकर होता है। ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न बनकर प्रभु-रूप मित्रवाला यह इन्द्र इस काम का नाश कर पाता है। २. हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले जीव! **यावत् तरः**=जितना तेरा वेग होगा **यावद् ओजः**=जितना तू ओजस्वी बनेगा, उतना ही तू इस **पृतन्युम्**=वासनाओं की सेना से आक्रमण करनेवाले **शत्रुम्**=नाशक शत्रु को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **अवधीः**=नष्ट करेगा। 'तरः' का उलटा आलस्य है, 'ओज' का उलटा निर्बलता है। आलस्य व निर्बलता में ही वासना अधिक सताती है। क्रियाशीलता व शक्ति वासना के शत्रु हैं—इनके होने पर वासना का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—हम हृदय-गुहा में छिपे इस शोषक कामरूप शत्रु को अनालस्य व ओजस्विता से नष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

बुद्धि का विकास

अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून् वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोऽभेत्।
सं वज्रेणासृजद् वृत्रमिन्द्रः प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः ॥१३॥

१. **अस्य**=इस इन्द्र का **सिध्मः**=वज्र (वज् गतौ 'वज्र', सिधु गत्याम् से 'सिध्म') **शत्रून्**=शातन व नाश करनेवाली कामादि वासनाओं के प्रति **अभि अजिगात्**=जाता है और उनपर आक्रमण करता है, अर्थात् इन्द्र क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनाओं पर आक्रमण करता है। २. यह इन्द्र **तिग्मेन**=अत्यन्त तीव्र **वृषभेण**=श्रेष्ठ वज्ररूप अस्त्र से **पुरः**=इस वृत्र की नगरियों को **वि अभेत्**=विदीर्ण करता है। (३) **इन्द्रः**=यह वृत्र का विजेता इन्द्र **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरण डालनेवाली वृत्र नामक काम-वासना को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **समसृजत्**=संयुक्त करता है, अर्थात् वज्र से उसपर प्रहार करता है, और वज्रप्रहार से **शाशदानः**=इस वासना को हिंसित करता हुआ **स्वाम् मतिम्**=अपनी बुद्धि को **प्र अतिरत्**=खूब बढ़ाता है। वासना ने ही तो बुद्धि पर परदा डाला हुआ था; इस परदे के हटते ही बुद्धि का प्रकाश चमक उठता है। ४. इस वासना को नष्ट करने के लिए 'सर्वश्रेष्ठ तीव्र' (वृषभ, तिग्म) अस्त्र क्रियाशीलतारूप वज्र ही है। 'वज् गतौ' धातु से 'वज्र' शब्द बनता है, 'सिधु गत्याम्' से 'सिध्म' शब्द बनता है। यह 'सिध्म' 'वज्र' का सब प्रकार से पर्याय है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से वासना नष्ट होती है और हमारी बुद्धि का विकास होता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कुत्स व दशद्यु का रक्षण

आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्प्रावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्।
शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ ॥१४॥

१. **इन्द्र**=हमारे सब वासनारूप शत्रुओं का नाश करनेवाले प्रभो! आप **कुत्सम्**=(कुथ हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले जीव को **आवः**=सुरक्षित करते हो, उस कुत्स को **यस्मिन्**=जिसमें कि **चाकन्**=हम कामयमान अर्थात् प्रेमवाले होते हैं। २. आप **युध्यन्तम्**=वासनाओं से निरन्तर युद्ध करनेवाले **वृषभम्**=श्रेष्ठ व शक्तिशाली **दशद्युम्**=दसों दिशाओं में दीप्त होनेवाले, सर्वत्र ज्ञान दीप्तिवाले को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो। जब एक व्यक्ति वासनाओं से निरन्तर संघर्ष करता है तो उसके मल नष्ट होकर सब इन्द्रियाँ दीप्त हो उठती हैं। यह दशद्यु **शफच्युतः**=(शं फणति गच्छति इति शफः, च्योतते इति च्युतः) शान्ति को प्राप्त होनेवाला तथा मल को क्षरित करके निर्मल होनेवाला होता है। **रेणुः**=(री गतौ) निरन्तर गतिशील होता है और **द्याम् नक्षत**=ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है। ४. **श्वैत्रेयः**=श्वित्रा का सन्तान, अत्यन्त शुद्ध जीवनवाला व्यक्ति **नृषाह्याय**=शत्रुओं के नेताओं (नृ) के पराभव के लिए **उत्तस्थौ**=उठ खड़ा होता है। जब हम शुद्ध जीवनवाले बनते हैं तो वासनारूप शत्रुओं के सेनापतिरूप काम, क्रोध, लोभ का पूर्ण पराभव करने के लिए उद्यत होते हैं।

भावार्थ—हम कुत्स बनें, वासनाओं का हिंसन करनेवाले हों। 'दशद्यु' हों, दसों इन्द्रियों को दीप्त करनेवाले हों। शान्ति की ओर चलनेवाले (शफ), मलरहित (च्युत), शुद्ध (श्वैत्रेय) बनकर ज्ञान को प्राप्त करें और काम, क्रोध, लोभ को जीतें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

शम व वृषभ का रक्षण

आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वित्र्यं गाम्।
ज्योक् चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः ॥१५॥

१. हे **मघवन्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! आप **आवः**=रक्षित करते हो। किसको? (क) **शमम्**=शान्त स्वभाववाले पुरुष को, (ख) **वृषभम्**=श्रेष्ठ व शक्तिशाली को, (ग) **तुग्र्यासु**=(अप्सु, आपः=रेतः) रोग-कृमियों का संहार करनेवाले रेतःकणों के होने पर **क्षेत्रजेषे**=रणभूमि में—विजय के निमित्त **गाम्**=(गतम्) जानेवाले को, अर्थात् वीर्यरक्षा के द्वारा व्याधियों व आधियों के जीतनेवाले को (घ) **श्वित्र्यम्**=अत्यन्त शुद्ध जीवनवाले को। २. इस प्रकार प्रभु से रक्षित होने पर **अत्र**=यहाँ इस मानव-योनि में हम **चित्**=निश्चय से **ज्योक्**=खूब देर तक **तस्थिवांसः**=ठहरनेवाले होकर **अक्रन्**=सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हैं। ३. तथा **शत्रूयताम्**=शत्रु की तरह आचरण करनेवालों को **अधरा वेदना**=तीव्र पीड़ाएँ **अकः**=करते हो। कामादि को पीड़ित करके ही हम अपने उत्कर्ष के मार्ग पर जा पाते हैं।

भावार्थ—हम (शम, वृषभ, श्वित्र) तथा रेतःकणों की रक्षा करके शत्रुओं के साथ रणांगण में

विजयशील बनें। ऐसा होने पर हम प्रभु की रक्षा के पात्र होंगे और वासनारूप शत्रुओं का पूर्ण पराजय करके इस दीर्घ जीवन में सदा क्रियाशील होंगे।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ 'उपासना से सुमति-वर्धन' के साथ होता है (१)। उपासित प्रभु ही हमें धनों के देनेवाले हैं (२)। वे ही हमारे सच्चे स्वामी हैं (३)। उस प्रभु का 'ओम्' नाम ही हमारा धनुष हो (४)। इस धनुष के द्वारा धृतिपूर्वक हम शत्रुओं का संहार करें (५)। हम शत्रुओं का संहार ऐसे करें जैसे कि एक वीर नपुंसकों को नष्ट कर देता है (६)। शत्रुओं को नष्ट करके हम यज्ञशील व स्तोता बनें (७), शरीर का पूर्ण नियमन करनेवाले बनें (८)। शरीर व मस्तिष्क दोनों का रक्षण करें (९)। धन हमें प्रभु से दूर करनेवाला न हो (१०)। आत्मतत्त्व का धारण हमें वृत्र-विनाश-क्षम बनाये (११)। अनालस्य व ओजस्विता से वृत्ररूप शत्रु का नाश होगा (१२)। वस्तुतः क्रियाशीलता ही वासना को नष्ट करती है (१३)। कुत्स ही प्रभु की रक्षा का पात्र होता है (१४)। शम अर्थात् शान्तस्वभाववाले की प्रभु रक्षा करते हैं। (१५) इस शान्ति की प्राप्ति के लिए प्राणसाधना आवश्यक है—

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

ज्ञान, शक्ति व उदारता

त्रिश्चि॑न्नो अ॒द्या भ॑वतं नवेदसा वि॒भुर्वां॒ याम॑ उ॒त रा॒तिर॑श्विना।
यु॒वोर्हि य॒न्त्रं हि॒म्येव॒ वास॑सोऽभ्याय॒ंसेन्या॑ भवतं म॒नी॒षिभिः॑ ॥१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अद्य**=आज **नः**=हमारे **त्रिः चित्**=तीन बार निश्चय से **नवेदसा**=(न विद्यते वेदितव्यं अवशिष्टं ययोस्तौ, नवेदा इति मेधाविनाम, नि० ३.१५) पूर्णज्ञान के देनेवाले **भवतम्**=होओ। इस प्राणापान की साधना से, वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर बुद्धि तीव्र होती है और मनुष्य प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर पाता है। 'त्रिः' शब्द में इन 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का ही संकेत है। २. **वाम्**=तुम दोनों का **यामः**=रथ **विभुः**=(सर्वमार्ग-व्यापनशीलः—द०) सब मार्गों को व्याप्त करनेवाला है, अर्थात् प्राणसाधना होने पर यह शरीररूपी रथ सदा कार्यों में व्यापृत रहता है। प्राणसाधना से आलस्य दूर होकर शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है। ३. **उत**=और हे **अश्विना**=अश्वि-देवो! **वाम्**=तुम दोनों का **रातिः**=दान भी **विभुः**=व्यापक है, अर्थात् प्राणसाधना करने पर मनुष्य का मन निर्मल होकर उदार होता है और मनुष्य खूब ही दान की वृत्तिवाला होता है। ४. हे प्राणापानो! **युवोः**=तुम दोनों का **यन्त्रम्**=परस्पर नियमन व सम्बन्ध **हि**=निश्चय से इस प्रकार है **इव**=जैसे कि **वाससः**=सूर्यकिरणों से आच्छादित दिन का **हिम्या**=रात्रि से। दिन का रात्रि से सम्बन्ध न नष्ट होने-वाला है, इसी प्रकार प्राण का अपान से सम्बन्ध अटूट है। प्राण के स्वास्थ्य पर अपान का स्वास्थ्य व अपान के स्वास्थ्य पर प्राण का स्वास्थ्य निर्भर करता है। ४. हे प्राणापानो! तुम दोनों **मनीषिभिः**=मन का शासन करनेवाले विद्वानों से **अभ्यायंसेन्या**=सम्यक्तया दोनों ओर नियमन करने योग्य **भवतम्**=होओ। बाहर ही नियमन 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है और अन्तः नियमन 'अन्तःकुम्भक' है। इस प्रकार ही ये प्राणापान काबू होते हैं, नियमित होने पर ही ये मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाते हैं, शरीररूपी रथ को शक्तिशाली (विभु) बनाते हैं और हृदय को उदार व दानवृत्ति-सम्पन्न करते हैं (राति)।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान, शक्ति व उदारता प्राप्त होती है, अतः प्राणापान का नियमन आवश्यक है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

तीन प्राणायाम

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः ।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो ! तुम्हारी साधना के चलने पर इस **मधुवाहने रथे**=माधुर्य का ही वहन करनेवाले शरीररूप रथ में **त्रयः पवयः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ये तीनों अपने को पवित्र करनेवाले होते हैं, अथवा ये तीनों वासनाओं के लिए वज्र के समान होते हैं—वासनाओं के अधिष्ठान न बनकर ये तीनों वासनाओं के नष्ट करनेवाले होते हैं । २. और प्राणसाधना से शरीर में ऊर्ध्वगतिवाले **सोमस्य**= वीर्यशक्ति की **वेनाम्**=कान्ति के **अनु**=अनुपात में **विश्वे**=ये सब अर्थात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि **इत्**= निश्चय से **विदुः**=ज्ञानवाले होते हैं । प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है । इस ऊर्ध्वगति से शरीर कान्तिसम्पन्न व नीरोग बनता है । इस कान्ति के अनुपात में ही इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि अपने-अपने कार्य करने में सशक्त होकर ज्ञान का वर्धन करते हैं । ३. ये ज्ञान का वर्धन करनेवाली 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' **त्रयः**=तीन **स्कम्भासः**=खम्बे ही मानो **स्कभितासः**=स्थापित किये गये हैं, ताकि इस तीव्रगति से चलते हुए शरीररूप रथ में **आरभे**=आलम्बन के लिए हों, इसके कारण ही हम झटके लगने व गिरने से बच जाते हैं । ४. इसलिए हे प्राणापानो ! तुम **'त्रिः नक्तं याथः'**=तीन बार रात्रि में गति करते हो **उ**=और **त्रिः**=तीन बार **दिवा**=दिन में, अर्थात् मैं प्रातः व सायं दोनों समय अर्थात् दिन के प्रारम्भ में और रात्रि के प्रारम्भ में तीन बार प्राणायाम अवश्य करता हूँ ।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर का रक्षण होकर (क) शरीर माधुर्यवाला होता है, अर्थात् हमारे सब कार्य माधुर्य को लिये हुए होते हैं, (ख) सोम की रक्षा होकर शरीर कान्तिसम्पन्न बनता है, (ग) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ज्ञानवर्धन करनेवाले होकर शरीररूप रथ में सहारे के लिए तीन स्कम्भ-से होते हैं, (घ) अतः प्रातः व सायं तीन प्राणायाम अवश्य करने ही चाहिएँ ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

माधुर्य-सेचन

समाने अहन्त्रिरवद्यगोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुना मिमिक्षतम् ।
त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम् ॥३॥

१. प्राणों की साधना के द्वारा सम्पूर्ण दिन **'समान'**=(सम्यक् आनयति प्राणयति) उत्साह व प्राणशक्ति-सम्पन्न बीतता है । सो कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो ! **समाने अहन्**=इस उत्साह-सम्पन्न दिन में **त्रिः**=तीन बार व तीन प्रकार से इन्द्रियों, मन व बुद्धि में **अवद्यगोहना**=दोषों को संवृत करनेवाले अर्थात् इनको दोषों से बचानेवाले तुम **त्रिः**=तीन बार ही **अद्य**=आज **यज्ञम्**=हमारे इस जीवन यज्ञ को **मधुना**=माधुर्य से **मिमिक्षतम्**=खूब ही सींच दो । हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब मधुर-ही-मधुर हों—इनकी कोई भी क्रिया 'अ मधुर' न हो । ३. हे प्राणापानो ! **युवम्**=आप दोनों **दोषा उषसः च**=रात्रि व दिन में (उषा दिन का प्रतीक है) **त्रिः**=तीन बार **वाजवतीः इषः**=शक्ति-सम्पन्न अन्नों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **पिन्वतम्**=(सिञ्चतं प्रयच्छतम्—सा०) सींचो अर्थात् दो । प्राणापान ने ही अन्न का पाचन करना होता है, इनके ठीक कार्य करने पर ही भूख लगती है ।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि के दोष दूर होते हैं, (ख) जीवन मधुर बनता है (ग) पौष्टिक अन्न का ठीक पाचन होकर शरीर की शक्ति बढ़ती है। यहाँ प्रसंगवश अधिक-से-अधिक तीन बार भोजन का भी संकेत है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—पञ्चमः।

रेचक-पूरक-कुम्भक

त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते जने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम्।
त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवं त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम् ॥४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **त्रिः**=तीन प्रकार से 'रेचक, पूरक व कुम्भक' के रूप में **वर्तिः यातम्**=मार्ग का आक्रमण करो। श्वास का वेग से बाहर फेंकना ही 'रेचक' है, धीमे-धीमे अन्दर लेना 'पूरक' है और उसे कुछ देर तक रोकना 'कुम्भक' है। प्राण के ये ही तीन मार्ग हैं। २. **अनुव्रते जने**=अनुकूल व्रतवाले मनुष्य में ये प्राणापान **त्रिः**=तीन बार चलें अर्थात् प्राणसाधना करनेवाले के लिए यह आवश्यक है कि वह प्राणायाम के साथ सात्त्विक अन्न के सेवनादि के व्रत को अवश्य लें। पथ्य के न होने पर प्राणायाम का इष्ट लाभ नहीं हो पाता। ३. **सुप्राव्ये**=उत्तमता से (सु) खूब ही (प्र) वीर्य का रक्षण करनेवाले (अव्य) में **त्रिः**=तीन बार मार्ग का आक्रमण करें। प्राणसाधना के साथ ब्रह्मचर्य आवश्यक ही है। प्राणायाम वीर्यरक्षण में सहायक होता है। इसके साधक को—प्राणायाम के अभ्यासी को—भोग से बचना ही चाहिए। ४. ये प्राणापान **त्रेधा इव**=तीन प्रकार से **शिक्षतम्**=हमें शक्ति-सम्पन्न करते हैं। इनकी साधना 'शरीर, बुद्धि व मन' तीनों का बल बढ़ाती है। इनमें क्रमशः नीरोगता, निर्मलता व तीव्रता उत्पन्न होती है। ५. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **त्रिः**=तीन प्रकार से **नान्द्यम्**=समृद्धि को (टुनदि समृद्धौ) **वहतम्**=प्राप्त कराओ। आपके अनुग्रह से हमें शरीर में—स्वास्थ्य की समृद्धि प्राप्त हो, मन में सत्य की समृद्धि मिले तथा मस्तिष्क में स्वाध्याय की समृद्धिवाले हम हों। ६. हे प्राणापानो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **त्रिः**=तीन बार **अक्षरा इव**=जलों की तरह **पृक्षः**=अन्नों को **पिन्वतम्**=सींचो, अर्थात् प्राप्त कराओ, अर्थात् हम अधिक-से-अधिक तीन बार जल व अन्न का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—हम रेचक, पूरक व कुम्भक के क्रम से प्राणायाम के अभ्यासी हों। इस साधना में पथ्य-सेवन व वीर्य-रक्षण का ध्यान करें। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सशक्त हों। हमें 'स्वास्थ्य, सत्य व स्वाध्याय' की समृद्धि प्राप्त हो। हम दिन में अधिक-से-अधिक तीन बार अन्न-जल का सेवन करें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

सूर्यसम कान्ति

त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना युवं त्रिर्देवताता त्रिरुतावतं धियः।
त्रिः सौभगत्वं त्रिरुत श्रवांसि नस्त्रिष्ठं वां सूरे दुहिता रुहद्रथम् ॥५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **नः**=हमें **त्रिः**=तीन बार **रयिम्**=धन को **वहतम्**=प्राप्त कराओ—शरीर में 'स्वास्थ्यरूप धन को', मन में 'सत्य' रूप धन को तथा मस्तिष्क में 'ज्ञान' रूप धन को। २. **त्रिः**=तीन प्रकार से **देवताता**=हमारे अन्दर दिव्यगुणों का विस्तार करनेवाले होओ। 'हम असत् से सत् को, 'तमस् से ज्योति' को प्राप्त हों, मृत्यु से अमरता का लाभ करें'। ३. हे अश्विनी देवो! **उत**=और **धियः**=बुद्धियों को **त्रिः**=तीन बार **अवतम्**=रक्षित करो। सन्तान, धन व लोक की एषणाएँ

हमारी बुद्धि को विकृत न कर दें। ४. हमें **त्रिः**=तीन बार ही **सौभगत्वम्**=उत्तम भग को प्राप्त कराइए। प्राणों की साधना से हम जीवन के प्रारम्भ में ऐश्वर्य व धर्म को प्राप्त करें, मध्य में यश व श्री-सम्पन्न हों व अन्त में ज्ञान व वैराग्य को प्राप्त कर सकें, ये छह-के-छह भग हमें इन प्राणों की साधना से प्राप्त हों ४. **उत**=और **नः**=हमारे **त्रिः श्रवांसि**=तीन बार ही अन्न हों। हम सात्त्विक अन्नों का दिन में तीन बार प्रयोग करें। ५. **वाम्**=आपके इस **त्रिष्ठं रथम्**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इन तीनों के अधिष्ठानभूत इस रथ को **सूरेः दुहिता**=सूर्य की दुहिता **अरुहत्**=आरूढ हो। सूर्य की दुहिता वेद में 'सूर्या है'—यह सूर्य की कान्ति ही है, अर्थात् हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी कान्ति-सम्पन्न हों। प्राणों की साधना से हम सूर्य के समान कान्तिवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें स्वास्थ्य, सत्य व ज्ञानरूप धन प्राप्त हो, हम सत्, ज्योति व अमृतत्व को प्राप्त करें, हमारी बुद्धि त्रिविध एषणाओं से अभिभूत न हो जाए, हमें सौभाग्य प्राप्त हो और हम सूर्यसम कान्तिवाले बनें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

मानसशान्ति व शारीरिक स्वास्थ्य

त्रिर्नो॑ अश्विना दि॒व्यानि॑ भेष॒जा त्रिः पार्थि॑वा॒नि त्रिरु॑ दत्तम॒द्भ्यः।
ओ॒मानं॑ शं॒योर्मम॑काय सू॒नवे॑ त्रि॒धातु॒ शर्म॑ वहतं शुभस्पती॥६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नः**=हमें **त्रिः**=तीन बार **दिव्यानि भेषजा**=दिव्य ओषधियों को **दत्तम्**=दीजिए। यहाँ दिव्य ओषधियों से अभिप्राय मस्तिष्क के लिए हितकर ओषधियों से है। ये ओषधियाँ हमारे मस्तिष्क के दोषों को दूर करके उन्हें प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञानों से परिपूर्ण करनेवाली हों। इस त्रिविध ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ही ओषधियों को तीन बार देने की प्रार्थना की गई है। २. इसी प्रकार **त्रिः**=तीन बार **पार्थिवानि**=पृथिवी-सम्बन्धी ओषधियों को **दत्तम्**=दीजिए। 'पृथिवी' शरीर है, वे ओषधियाँ दीजिए जोकि हमारे शरीरों को 'वात, पित्त, कफ' के विकार से होनेवाले रोगों से बचाएँ। इसीलिए ओषधि के तीन बार देने की प्रार्थना की है चूँकि रोग त्रिविध हैं। ३. **उ**=और **अद्भ्यः**=अन्तरिक्ष से (**आपः**=अन्तरिक्ष, नि०) **त्रिः**=तीन बार ओषधियों को दीजिए। हृदयान्तरिक्ष की भी ओषधियाँ 'काम-क्रोध-लोभ' रूप तीन हैं। ये तीन ही गीता में नरक के द्वार कहे गये हैं। इनको भी दूर करने के लिए प्राणसाधना मुख्य उपाय है एवं प्राणसाधना (क) मस्तिष्क को उज्ज्वल करके उसे त्रिविध ज्ञान से परिपूर्ण करती है, (ख) शरीर को त्रिविध व्याधियों से बचाती है और (ग) मानस को त्रिविध आधियों का शिकार नहीं होने देती। ४. हे **शुभस्पती**=शुभ के रक्षक प्राणापानो! **ममकाय सूनवे**=('मम कः' इति वदति इति ममकः) 'मेरा तो यह आनन्दस्वरूप प्रभु है' इस प्रकार का जप करनेवाले तथा **सूनवे**=सदा अपने अन्दर वेदवाणी को प्रेरित करनेवाले के लिए **शंयोः ओमानम्**=शान्ति को प्राप्त करनेवाले के आनन्दविशेष को तथा **त्रिधातु शर्म**=वात, पित्त, कफ—तीनों के ठीक समन्वय से धारण किये गये स्वस्थ शरीर के सुख को **वहतम्**=प्राप्त कराइए अर्थात् प्राणापान की साधना से मेरा मानस शान्त हो तथा शरीर स्वस्थ हो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हमारे शरीर की त्रिलोकी अपने-अपने ऐश्वर्य से युक्त हो तथा मानस शान्ति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त हो।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

इडा, पिंगला व सुषुम्णा में प्राण-विचरण

त्रिर्नो॑ अश्विना यज॒ता दि॒वेदि॑वे॒ परि॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीम॑शायतम्।
ति॒स्रो ना॑सत्या रथ्या परा॒वत॑ आ॒त्मेव॒ वात॒: स्वस॑राणि गच्छतम्॥७॥

१. हे **यजता**=आदरणीय व संगतिकरण योग्य **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नः**=हमें **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **त्रिधातु**='वात, पित्त, व कफ' इन तीनों से धारण किये गये **पृथिवीम्**=इस पार्थिव शरीर में **त्रिः**=तीन बार, तीन प्रकार से **परि अशायतम्**=व्यापक निवास करनेवाले होओ। जागरित अवस्था में जैसे हम 'स्थूल शरीर' में निवास करते हैं और स्वप्नावस्था में 'सूक्ष्म शरीर' में रह रहे होते हैं, उसी प्रकार प्रतिदिन सुषुप्ति में 'कारण शरीर' में निवास करनेवाले हों। यदि हम स्थूल व सूक्ष्म शरीर में ही रह जाते हैं तो हमारा यहाँ निवास अधूरा ही होता है। प्राणापानों की कृपा से हमारा यह निवास पूर्ण हो और हम इस शरीर में तीन प्रकार से, न कि दो ही रूपों में, निवास करनेवाले हों, स्थूल शरीर में हम **'वैश्वानर'** सब मनुष्यों के लिए हितकर कर्मों में ही प्रवृत्त हों, सूक्ष्म शरीर में (इन्द्रिय, प्राण, मन व बुद्धि में) हम **'तैजस'**=तेजस्विता को लिये हुए हों और कारण-शरीर में हम **'प्राज्ञ'**=सर्वोत्कृष्ट बुद्धि का सम्पादन करें। हे! **रथ्या**=शरीररूप रथ को उत्तम बनानेवाले **नासत्या**=कभी भी असत्य को न आने देनेवाले प्राणापानो! आप **परावतः**=सुदूर स्थानों में स्थित नाड़ियों से, अर्थात् शरीर के कोने-कोने में स्थित नाड़ियों में विचरण करते हुए आप उन नाड़ियों से **तिस्रः**=इडा, पिंगला व सुषुम्णा इन नाड़ियों को उसी प्रकार **गच्छतम्**=प्राप्त होओ **इव**=जिस प्रकार **वातः**=निरन्तर गतिशील **आत्मा**=शरीर का स्वामी **स्वसराणि**=स्व के, आत्मा के सरण-स्थानभूत शरीरों को प्राप्त होता है। ये शरीर स्व-सर हैं—आत्मा इनके अन्दर विचरण करता है। आत्मा जैसे इन शरीरों में विचरण करता है उसी प्रकार प्राणापान, इडा, पिंगला व सुषुम्णा इन नाड़ियों में विचरण करें। वस्तुतः योग-मार्ग में प्रगति हो जाने पर हम प्राणों को इन नाड़ियों में स्थापित कर पाते हैं और उसी समय हमारे ये शरीर **स्व-सर**=आत्मा की ओर सरण करनेवाले होते हैं। ये शरीर उस समय भोग-मार्ग से दूर हो जाते हैं एवं प्राणापान की साधना हमें भोग से ऊपर उठाकर प्रभु-प्रवण करती है।

भावार्थ—प्राणापान की कृपा से हमारा निवास पूर्ण हो, हम भोगों से ऊपर उठकर प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले बनें—'वैश्वानर हों, तैजस हों तथा प्राज्ञ बनें'।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

प्रकाशमय स्वर्गलोक

त्रिर॑श्विना॒ सिन्धु॑भिः स॒प्तमा॑तृ॒भि॒स्त्रय॑ आ॒हा॒वास्त्रे॒धा ह॒विष्कृ॒तम्।
ति॒स्रः पृ॑थि॒वीरु॒परि॑ प्र॒वा दि॒वो नाकं॑ रक्षेथे द्युभि॑र॒क्तुभि॒र्हि॑तम्॥८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आपके द्वारा **सप्तमातृभिः**=शरीर की सातों धातुओं का निर्माण करनेवाले अर्थात् जिनकी रक्षा पर अन्य सब धातुओं की रक्षा निर्भर है अथवा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि इन सातों का निर्माण करनेवाले **सिन्धुभिः**=(स्यन्दन्ते इति) रेतःकणों से (सिन्धवः=आपः=रेतः) **त्रिः**=जीवन के बाल्यकालरूप प्रातःकाल में, यौवनरूप मध्याह्न में तथा वार्धक्यरूप सायंकाल में, इस प्रकार तीन बार **त्रयः**=तीन **आहावाः**=जलाधार वीर्यकणों के रखने के स्थान बनाये गये हैं। ये तीन

आहाव 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' ही हैं। अग्निकुण्ड में जैसे अग्नि का आधान होता है, उसी प्रकार इन तीनों में **त्रेधा**=तीन प्रकार से—**हविः कृतम्**=रेतःकणों की आहुति दी गई है। वीर्य-सम्पन्न होकर इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में खूब ही समर्थ होती हैं, मन वीर्य-सम्पन्न होकर राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है, बुद्धि वीर्य-सम्पन्न होकर अतिशयेन सूक्ष्म बनती है और तत्त्व को देखनेवाली होती है एवं प्राणापान 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को इन वीर्यकणों का 'आहाव' बना देते हैं, इनमें वीर्यकणों की आहुति देते हैं और उन्हें निर्दोष बनाते हैं। २. इस प्रकार ये प्राणापान **तिस्रः पृथिवीः**=तीनों शरीरों को—स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरों को **उपरि प्रवा**=ऊपर ले-जानेवाले होते हैं (प्रवौ गमयितारौ, द०) हमारा स्थूल शरीर प्राणापानों की साधना से वीर्य-रक्षा के द्वारा दृढ़, नीरोग व स्वस्थ होता है। सूक्ष्म शरीर निर्मल व हमें ज्ञान की तात्त्विक दृष्टि की ओर ले-जानेवाला होता है और कारण शरीर आनन्द का कोश बनता है। ३. हे प्राणापानो ! आप **द्युभिः**=दीप्तिवाली व व्यवहार को उत्तमता से सिद्ध करनेवाली **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों से **हितम्**=स्थापित **दिवः नाकम्**=(दिवु क्रीडा) क्रीडा से स्वर्गलोक को **रक्षेथे**=सुरक्षित करते हो। प्राणापानों की साधना हमारी बुद्धियों को निश्चय से सूक्ष्म बनाती है। उन सूक्ष्म बुद्धियों से हम ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो उठते हैं। उस समय हम इस संसार को ठीक रूप में देखते हैं। यह हमें भगवान् की क्रीड़ा-स्थली ही प्रतीत होता है। हम भी प्रत्येक घटना को एक क्रीड़क की मनोवृत्ति से लेते हैं और खीज, क्रोध व ईर्ष्या आदि से ऊपर उठ जाते हैं। उस समय हम प्रत्येक घटना में आनन्द का अनुभव करते हैं। हमारा जीवन 'प्रकाशमय स्वर्गलोक' बन जाता है। हम पृथिवी से ऊपर उठकर मानो द्युलोक में पहुँच जाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से वीर्यकण इन्द्रियों, मन व बुद्धि का निर्माण करनेवाले होंगे—उनको ज्योतिर्मय बनाएँगे और हमारा जीवन प्रकाशमय स्वर्ग-सदृश हो जाएगा।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वाजीरासभ का योग

क्व१ त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व१ त्रयो बन्धुरो ये सनीळाः।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः ॥९॥

१. यह शरीर एक रथ है, इस रथ के द्वारा जीवन-यात्रा को पूर्ण करके हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचना है। यहाँ इस शरीर-रथ के विषय में चर्चा करते हुए प्रश्नात्मक ढंग से कहते हैं कि इस **त्रिवृतः**=(त्रिभ्यः वर्तते) धर्म-अर्थ-काम तीनों के समरूप से सेवन के लिए दिये गये (धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः) **रथस्य**=शरीररूप रथ के **त्री चक्रा**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीन चक्र **क्व**=कहाँ हैं? २. **त्रयः बन्धुरः**=इस रथ के तीन दण्डरूप बन्धन 'वात, पित्त, कफ' **ये सनीळाः**=जो मिलकर इस शरीररूप नीड में—घोंसले में रहते हैं, वे **क्व**=कहाँ हैं? वातादि का शरीर में स्थान कहाँ-कहाँ है? ये तीनों समरूप से रहें तो मनुष्य स्वस्थ रहता है। इनमें से कोई एक प्रबल हुआ तो वह किसी-न-किसी रोग का कारण बन जाता है। ३. इस शरीररूप रथ में **वाजिनः**=शक्तिशाली **रासभस्य**=(रास् शब्दे) सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाले उस प्रभु का **योगः**=मेल **कदा**=कब होगा? **येन**=जिस योग से अर्थात् जिस प्रभु का मेल होने पर हे **नासत्या**=सदा सत्य को ही अपनानेवाले प्राणापानो! **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों को ही **उपयाथः**=समीपता से प्राप्त होते हैं। प्रभु का मेल होने पर फिर हमसे अशुभ कर्म नहीं होते, यह प्रभु का मेल इन प्राणापानों की साधना से ही होना है।

भावार्थ—यह शरीररूप रथ (क) धर्म-अर्थ-काम तीनों के समरूप से सेवन के लिए दिया गया है, (ख) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इस शरीर-रथ के चक्र हैं, इनके ठीक होने पर ही रथ चलेगा। (ग) वात, पित्त, कफ ये तीन रथ के बन्धन-दण्ड हैं। इनका विकार हुआ और रथ विच्छिन्न हुआ, (घ) इस रथ में प्रभु का मेल होता है अर्थात् वे इसके सारथि बनते हैं तो कोई भी अशुभ कर्म नहीं होता, रथ गड्ढों में गिरता नहीं, मार्ग पर ही चलता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

मधु-पान

आ नासत्या गच्छतं हूयते हविर्मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिः।
युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति ॥१०॥

१. हे **नासत्या**=नासिका में विचरण करनेवाले, शरीर में असत्य को न आने देनेवाले प्राणापानो! **आगच्छतम्**=आप यहाँ इस शरीर में हमें प्राप्त होवो। आपके ठीक कार्य करने पर ही, भूख-प्यास लगने पर हमसे **हविः**=यज्ञिय पवित्र भोज्य पदार्थ **हूयते**=इस शरीर में आहुत किये जाते हैं; भोजन को भी हम एक यज्ञ का रूप देने का प्रयत्न करते हैं। २. हे प्राणपानो! आप **मधुपेभिः आसभिः**=इन अन्नों के सारभूत सोम=(वीर्यकण)-रूप मधु का पान करनेवाले अपने मुखों से **मध्वः पिबतम्**=इस सोम का पान करो। प्राणसाधना से यज्ञिय अन्नों से उत्पन्न सात्त्विक वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, यही अश्विनी देवों का सोमपान है। ३. हे प्राणापानो! **युवोः**=आप दोनों के **चित्रम्**=इस अद्भुत अथवा संज्ञानवाले, ज्ञानरूप प्रकाशवाले **घृतवन्तम्**=(घृ क्षरणदीप्तयोः) नैर्मल्य व चमकवाले **रथम्**=शरीररूप रथ को **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **उषसः पूर्वम्**=उषाकाल के अग्रभाग में ही अर्थात् बहुत सवेरे-सवेरे **हि**=निश्चयपूर्वक **ऋताय**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए **इष्यति**=प्रेरित करता है अर्थात् यह हमारा शरीर ज्ञानमय, निर्मल व स्वास्थ्य की दीप्तिवाला बनता है और सदा प्रातः से ही उत्तम कर्मों में लग जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञिय भोजन खाएँ, प्राणसाधना से सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण से 'प्रकाश, नैर्मल्य व दृढ़ता'-वाले इस शरीर को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखें।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

तेतीस देवों का प्रादुर्भाव

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा ॥११॥

१. हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो—प्राणापानो! **इह**=इस मानवदेह में **त्रिभिः एकादशैः**=तीन बार ग्यारह अर्थात् तेतीस **देवेभिः**=देवों के हेतु से अर्थात् इन तेतीस देवों को प्राप्त करने के लिए **मधुपेयम्**=सोमपान का लक्ष्य करके **आयातम्**=आओ, अर्थात् प्राणापान की साधना से जब शरीर में सोम का रक्षण होता है तो सब दिव्यगुणों का विकास होता है एवं ये प्राणापान 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों स्थानों में ११-११ देवों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! इस प्रकार शरीर में देवों के विकास के द्वारा **आयुः**=जीवन को **प्रतारिष्टम्**=खूब विस्तृत कर दो। हम दीर्घजीवी बनें। ३. **रपांसि**=सब दोषों को **निर्मृक्षतम्**=पूर्णतया दूर कर दो (निःशेषेण शोधयत)। हमारे जीवन से राग-द्वेष उसी प्रकार दूर हो जाएँ जैसे कि स्थूल शरीर से रोग। **द्वेषः**=द्वेष की भावना को **निःसेधतम्**=हमसे

रोक दो (हमारे हृदयों में द्वेष का प्रवेश न हो।) ४. हे प्राणापानो! आप दोनों **सचाभुवा**=साथ होनेवाले **भवतम्**=होवो। प्राण के साथ अपान व अपान के साथ प्राण के ठीक से कार्य करने पर ही पूर्ण स्वास्थ्य होता है। ये परस्पर एक-दूसरे के कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है, सोमरक्षण से दिव्यगुणों का विकास होता है, दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, दोष दूर होते हैं, द्वेष नष्ट होता है। इसी से प्रार्थना करते हैं कि हे प्राणापानो! आप सदा साथ होनेवाले होओ, अर्थात् इनका कार्य सम्मिलित रूप से चलता रहे।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—पञ्चमः।

संग्राम-विजय

आ नो॑ अश्विना त्रि॒वृता॒ रथे॑ना॒र्वाञ्चं॑ र॒यिं व॑हतं सु॒वीर॑म्।
शृ॒ण्वन्ता॑ वा॒मव॑से जोहवीमि वृ॒धे च॑ नो भवतं॒ वाज॑सातौ ॥१२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **त्रिवृता**='धर्म, अर्थ व काम' तीनों के वर्तन के लिए दिये गये **रथेन**=शरीररूप रथ से **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से युक्त **रयिम्**=धन को **अर्वाञ्चम्**='अस्मदभिमुखं' हमारे सामने **आवहतम्**=प्राप्त कराइए, अर्थात् इस प्राणसाधना से हमारा शरीररूप रथ 'धर्म, अर्थ व काम' का समरूप से सेवन करनेवाला हो। हमें वीरतायुक्त धन प्राप्त हो। २. **शृण्वन्ता**=हमारी प्रार्थना को सुननेवाले **वाम्**=आप दोनों को **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। प्राणापान से केवल स्थूल शरीर के रोग ही दूर नहीं होते, मन के अशुभ भाव भी नष्ट होते हैं और मस्तिष्क के अशुभ विचार भी दूर हो जाते हैं तथा हमारा पूर्ण रक्षण हो पाता है। ३. हे प्राणापानो! आप **वाजसातौ**=संग्राम में **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भवतम्**=होओ, अर्थात् संग्राम में हम कभी पराजित न हों। अध्यात्म संग्राम में विजयी होकर हम उन्नत और अधिक उन्नत होते चलें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम धर्म-अर्थ-काम में समरूप से प्रवृत्त होते हैं, हम वीर बनते हैं, उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं और अध्यात्म-संग्राम में सदा विजयी होते हैं।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि प्राणसाधना से ज्ञान, शक्ति व उदारता प्राप्त होती है (१)। जीवन में माधुर्य व शरीर में कान्ति होती है (२)। इन्द्रियों, मन व बुद्धि के दोष दूर होते हैं (३)। हमें 'स्वास्थ्य, सत्य व स्वाध्याय' की समृद्धि प्राप्त होती है (४)। इस सौभाग्य को प्राप्त होकर सूर्यसमकान्तिवाले बनते हैं (५)। हमें मानस शान्ति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है (६)। 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ बनते हैं (७)। हमारा जीवन प्रकाशमय स्वर्ग-सदृश बन जाता है (८)। इस शरीररूप रथ में हमारा प्रभु से मेल होता है (९)। हमारा यह शरीर सदा यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहता है (१०)। तैंतीस देवों का प्रादुर्भाव होता है (११) और हम जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं (१२)। इस विजय के लिए ही हम प्रभु को पुकारते हैं—

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निर्मित्रावरुणौ रात्रिः सविता। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

आह्वान (पुकार)

ह्वया॑म्य॒ग्निं प्र॑थ॒मं स्व॒स्तये॒ ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णावि॒हाव॑से।
ह्वया॑मि॒ रात्री॒ं जग॑तो नि॒वेश॑नी॒ं ह्वया॑मि दे॒वं स॑वि॒तार॑मू॒तये॑ ॥१॥

१. मैं **प्रथमम्**=सबसे पहले **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए, अविनाश के लिए **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। प्रभु की प्रार्थना से ही अपनी चित्तवृत्ति को हम विषय-पराङ्मुख कर पाते हैं; यह विषयों में न फँसना ही कल्याण का, अविनाश का कारण व साधन है। २. **इह**=इस मानव-जीवन में **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **मित्रावरुणौ**=प्राण व उदान वायु को अथवा स्नेह व द्वेष-निवारण की देवता को मैं **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। शरीर के रक्षण के लिए प्राण व उदान का ठीक से कार्य करना आवश्यक है। प्राण का कार्य ठीक चलने पर हमारे शरीर में शक्ति होती है और हम सबके साथ स्नेह करनेवाले बनते हैं। उदान हमारे कण्ठदेश की ग्रन्थियों को ठीक रखती हुई हमें जितेन्द्रिय बनने में सहायक होती है, और हमें द्वेष से ऊपर उठाती है। ३. **जगतः**=सम्पूर्ण क्रियाशील प्राणियों को दिनभर के कार्य के अनन्तर **निवेशनीम्**=अपने अन्दर निवास देनेवाली **रात्रीम्**=रात्रि को, इस रमयित्री निद्रा की गोद में ले-जानेवाली रात को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। वस्तुत: रात्रि की निद्रा स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ४. **ऊतये**=इस स्वास्थ्य के रक्षण के लिए ही मैं रात्रि की समाप्ति पर उदय होनेवाले **देवम्**=प्रकाशमय, सारे संसार को प्रकाशित करनेवाले तथा प्राणशक्ति देनेवाले (देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा) **सवितारम्**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्य को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। 'सूर्याभिमुख होकर सन्ध्या में स्थित होना' ही सूर्य को पुकारना है। यह 'हिरण्यपाणि' सूर्य हमारे अन्दर अपनी सुनहरी किरणों से प्राणशक्ति को भरनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अविनाश व रक्षण के लिए उस सर्वाग्रणी प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारे प्राण व उदान ठीक हों, हम स्नेह व निर्द्वेषतावाले हों, हमें प्रतिदिन नींद ठीक से आये और हम प्रात: प्रबुद्ध हों, प्राङ्मुख होकर (सूर्याभिमुख) प्रभु-प्रार्थना करनेवाले हों।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सविता देव

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥२॥

१. सूर्याभिमुख होकर प्रार्थना करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' ऋषि प्रार्थना करता हुआ कहता है कि यह **आकृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट किये हुए **रजसा**=लोकसमूह के साथ **वर्तमानः**=वर्तमान यह **सविता**=सबका प्रेरक सूर्य हम सबको कर्मों में प्रेरित करता है और सब ऐश्वर्यों का उत्पादक होता है। २. यह सविता देव **अमृतम्**=न मरनें देनेवाली प्राणशक्ति को **च**=तथा **मर्त्यम्**=मरणधर्मा शरीर को **निवेशयन्**=अपने-अपने स्थान में स्थापित करता हुआ, अर्थात् 'स्व-स्थ' स्वस्थ करता है। जितना अधिक हम सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहते हैं उतना ही स्वस्थ बनते हैं। ३. यह **सविता देवः**=कर्मों में प्रेरक प्राणशक्ति को देनेवाला सूर्य **हिरण्ययेन रथेन**=अपने ज्योतिर्मय अथवा हितरमणीय रथ से **भुवनानि पश्यन्**=सब प्राणियों का ध्यान करता हुआ (looking at all) **याति**=गति कर रहा है। सूर्य का यह रथ सबका हितकारी है। (प्राण: प्रजानामुदयत्येष सूर्यः) यह सूर्य तो प्रजाओं का प्राण ही है। यह सबका हित करता हुआ अपने मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—यह सूर्य ही सब लोकों का केन्द्र है। यह हमारे प्राणों व शरीर को स्वस्थ रखता है। सभी का पालन करता हुआ अपने मार्ग का आक्रमण कर रहा है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रोगक्रमि नाश

याति॑ दे॒वः प्र॒वता॒ यात्यु॒द्वता॒ याति॑ शु॒भ्राभ्यां॑ य॒ज॒तो हरि॑भ्याम्।
आ दे॒वो या॑ति सवि॒ता प॑रा॒वतोऽप॒ विश्वा॑ दु॒रि॒ता बाध॑मानः ॥३॥

१. **देवः**=यह देदीप्यमान, लोकों को प्रकाशित करनेवाला व प्रकाश और प्राणशक्ति को देनेवाला सूर्य **प्रवता**=निम्नमार्ग से **याति**=जाता है; यह निम्न मार्ग ही दक्षिणायन कहलाता है (दक्षिण-अयन)। **उद्वता**=उत्कृष्ट मार्ग से, उत्तरायण से **याति**=जाता है। भूमि का अपनी कीली पर २३१/३° का झुकाव इस उत्तरायण व दक्षिणायन का कारण बनता है। २. यह **यजतः**=संगतिकरण-योग्य सूर्य **शुभ्राभ्यां हरिभ्याम्**=अपने उज्ज्वल किरणरूप अश्वों से **याति**=गति कर रहा है। यद्यपि सूर्य 'सप्ताश्व' है, इसकी किरणें सात प्रकार की हैं, वे ही इन्द्रधनुष में सात रंगों में प्रकट हुआ करती हैं, तथापि 'कृष्णपक्ष व शुक्लपक्ष' के दृष्टिकोण से यहाँ द्विवचन का प्रयोग है। चन्द्रमा से प्रतिक्षिप्त होकर सूर्य-किरणें ही पृथिवी पर पड़ती हैं। यह **सविता देवः**=सबको कार्य में प्रेरित करनेवाला, सब व्यवहारों का साधक सूर्य **परावतः**=सुदूर देश से **आयाति**=किरणों के द्वारा यहाँ आता है और **विश्वा दुरिता**=सब बुराइयों को **अपबाधमानः**=दूर रोकनेवाला होता है। 'उद्यन् आदित्यः क्रमीन् हन्तु' यह उदय होता हुआ सूर्य रोग-क्रमियों को नष्ट करता है, एवं यह सूर्य अपनी किरणों से मानो स्वर्ण के इञ्जैक्शन्स लगाता हुआ रोगों को दूर भगानेवाला होता है।

भावार्थ—सूर्य सब दुरितों को दूर करता है; यह रोग-क्रमियों का नाश करनेवाला है, इसलिए यह **'यजतः'**=संगति करने योग्य है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शक्ति व प्रकाश का केन्द्र

अ॒भीवृ॑तं॒ कृश॑नैर्वि॒श्वरू॑पं॒ हिर॑ण्यशम्यं य॒ज॒तो बृ॒हन्त॑म्।
आस्था॒द्रथं॑ सवि॒ता चि॒त्रभा॑नुः कृ॒ष्णा रजां॑सि॒ तवि॑षीं॒ दधा॑नः ॥४॥

१. **यजतः**=संगति करने योग्य **सविता**=सबका कार्यों में प्रवर्त्तक सूर्य **रथम्**=अपने रथ पर **आस्थात्**=स्थित होता है जो रथ (क) **अभीवृतम्**=(अभितो वर्तते) सब दिशाओं में वर्तमान होनेवाला व जानेवाला है; सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा सर्वत्र पहुँचता है, सम्भवतः यहाँ 'अभि' शब्द का भाव 'दोनों ओर' लेना अधिक संगत है, सूर्य का प्रकाश पृथिवी के दोनों ओर पहुँचता है—पृथिवी का जो भाग सूर्याभिमुख होता है वहाँ सूर्य की किरणें सीधी पहुँच रही होती हैं, और दूसरे भाग पर चन्द्रमा से प्रति-क्षिप्त होकर सूर्यकिरणें भू-भाग को प्रकाशित करती हैं। (ख) **कृशनैः**=जलों को सूक्ष्म करनेवाली किरणों से (सूक्ष्मत्वनिष्पादकैः, द०) **विश्वरूपम्**=इस संसार को सुन्दरता प्राप्त करानेवाले। यदि सूर्यकिरणों से जलों का वाष्पीकरण न होता तो वृष्टि के अभाव में इस संसार का स्वरूप एक मृत-पुरुष के समान होता (ग) **हिरण्यशम्यम्**=यह रथ स्वर्ण के शंकुओंवाला है, इसकी एक-एक किरण स्वर्ण की सुई (Golden needle) के समान है (हिरण्यानि शम्यानि यस्मिन्, द०)। अथवा सब अन्य ज्योतियों को शान्त करनेवाला है, इसके उदित होने पर अन्य ज्योतियों का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। (घ) **बृहन्तम्**=इसका यह रथ वृद्धि का कारणभूत है (बृहि वृद्धौ)। सब उपज इसी के कारण होती है। सूर्यकिरणों के अभाव में पृथिवी में भी

उपजाऊ शक्ति का अभाव हो जाता है। २. यह सूर्य **चित्रभानुः**=अद्भुत किरणों व प्रकाशवाला है। इसकी विविध किरणें भिन्न-भिन्न रोगों को शान्त करनेवाली होती है, सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करती हैं। इसकी किरणें केवल प्रकाश देने का ही कार्य नहीं करतीं। ३. यह सूर्य **कृष्णा रजांसि**=आकृष्ट लोक-समूहों को लक्ष्य करके **तविषीम्**=बल को **दधानः**=धारण कर रहा है। एक सौरलोक में सूर्य के चारों ओर जितने भी पिण्ड घूमते हैं, उनमें शक्ति का संचार सूर्य द्वारा ही हो रहा होता है।

भावार्थ—सम्पूर्ण शक्ति व वृद्धि का स्रोत यह सूर्य ही है। इसकी किरणें प्रकाश व शक्ति दोनों को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सम्पूर्ण प्रजाओं व भुवनों का आधार

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥५॥

१. **श्यावः**=(श्यैङ् गतौ) सब लोकों में गति करनेवाले **शितिपादः**=श्वेतकिरणरूप पाँवोंवाले सूर्य के अश्व **हिरण्यप्रउगम्**=ज्योतिर्मय मुखवाले (प्रउग=रथ का युगबन्धन-स्थान) **रथम्**=रथ को **वहन्तः**=आगे ले-चलते हुए **जनान्**=सब प्राणियों को **वि अख्यन्**=विशेषरूप से प्रकाश प्राप्त कराते हैं। यह सूर्य का पिण्ड ही रथ है, उसमें किरणें ही मानो घोड़े जुते हुए हैं। ये सूर्य-रथ को निरन्तर गतिमय कर रहे हैं। २. **विशः**=सब प्रजाएँ **शश्वत्**=सदा **दैव्यस्य**=उस महान् देव प्रभु की विभूतिरूप **सवितुः**=इस कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्य की **उपस्थे**=गोद में **तस्थुः**=स्थित होती हैं। ३. और **विश्वा भुवनानि**=सम्पूर्ण लोक उस सूर्य के ही समीप **तस्थुः**=स्थित हैं। उसके आकर्षण से स्थित हुए-हुए उसके चारों ओर ही गति कर रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य प्रभु की महती विभूति है। सम्पूर्ण प्रजाएँ व लोक उसी के समीप स्थित हैं। प्रजाओं को वह प्राणशक्ति दे रहा है और भुवनों को आकर्षण से धारण कर रहा है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

तीन द्युलोक

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥६॥

१. **तिस्रः द्यावः**=तीन प्रकाशमय द्युलोक हैं। इनका वर्णन अथर्व० १८।२।४८ में इस प्रकार है **'उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीतिमध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते'**=जलकणों-(वाष्प-कणों)-वाला द्युलोक सबसे नीचे है, पीलुओं—अत्यन्त सूक्ष्म पार्थिव जलीय व तैजस कणों से युक्त द्युलोक मध्यम है और निश्चय से तीसरा प्रकृष्ट द्युलोक है जिसमें पितर आसीन होते हैं। यहाँ अथर्व० १८।२।४७ में इन पितरों का भी उल्लेख इस प्रकार है—**'ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः। ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः'**=जो अग्रगामी शीघ्रगतिवाले, द्वेषों को छोड़कर किन्हीं एक-दो को ही अपना सन्तान न समझते हुए शरीर को छोड़ते हैं, वे द्युलोक पर पहुँचकर स्वर्गलोक के पृष्ठ पर आधिक्येन दीप्त होते हुए सर्वोत्कृष्ट लोक को प्राप्त करते हैं। २. इस प्रकार वर्णित तीन द्युलोकों में 'उदन्वती व पीलुमती' ये **द्वा**=दो द्युलोक तो **सवितुः**=सूर्य के **उपस्था**=गोद में हैं, समीप स्थान में हैं,

अथवा सूर्य के निचले स्थान में हैं। **एका**=बचा हुआ एक तीसरा द्युलोक वह है जो **यमस्य भुवने**=उस नियन्ता प्रभु के अथवा सर्वत्र बहनेवाली वायु (अयं वै यमः योऽयं पवते) के लोक में **विराषाट्**=(वृर्यन्ते इति विराः) जिनका प्रभु द्वारा वरण होता है। उन वीरों को ही सहता है अर्थात् इस **(प्र-द्यौः)**=प्रकृष्ट द्युलोक में इन वीर पितरों का ही निवास होता है। युद्ध में पीठ न दिखानेवाले वीर ही यहाँ पहुँचते हैं। ३. **न**=जिस प्रकार **रथं आणिम्**=रथ में होनेवाले अक्षछिद्र में डले कीलविशेष में रथ स्थित होता है इसी प्रकार **अमृताः**=चन्द्र-नक्षत्रादि अमृत=रोगरहित लोक **अधितस्थुः**=इस सूर्य में स्थित हैं ४. **यः**=जो **उ**=निश्चय से **तत्**=इस सब सूर्य की महिमा को **चिकेतत्**=जानता है वह **इह**=यहाँ हमें **ब्रवीतु**=इसका उपदेश करे। इस सूर्य के आकर्षण में रहनेवाले सभी लोक सूर्य में स्थित कहलाते हैं। वस्तुतः इस पृथिवी-लोक की तुलना में चन्द्रादि लोक अधिक आनन्दमय व मृत्यु से रहित हैं। इसमें रहनेवाले देव 'अमर' कहलाते हैं। 'अमृता' शब्द का अर्थ 'जल' भी है, ये जल सूर्य में ही अधिष्ठित हैं। सूर्य द्वारा समुद्र-जलों का वाष्पीकरण होकर बादल बनते हैं, ये पर्वतों पर बरसते हैं और नदियों के रूप में बहकर फिर समुद्र की ओर चलते हैं। इस प्रकार ये जल सूर्य में अधिष्ठित हैं।

भावार्थ—दो द्युलोक के प्रदेश सूर्य और पृथिवी के बीच में हैं, तीसरा 'प्रद्यौः' सूर्य के ऊपर है। इसी 'प्रद्यौः' में वीर पुरुषों का निवास होता है। सब जल भी सूर्य में अधिष्ठित हैं।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सूर्य की सुपर्णता व असुरता

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः।
क्वे३दानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ॥७॥

१. **सुपर्णः**=उत्तमता से सबका पालन करनेवाला यह सूर्य **अन्तरिक्षाणि**=अन्तरिक्ष लोकों को अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित इन सब लोकों को **वि अख्यत्**=विशेष रूप से प्रकाशित करता है। २. यह **सूर्य गभीरवेपाः**=अत्यन्त गम्भीर कम्पनवाला है। इसका अपनी कीली पर घूमना इतना गम्भीर है कि वह दिखता नहीं, यह स्थित-सा प्रतीत होता है। **असुरः**=यह सब प्राणशक्ति को देनेवाला है 'प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः'। **सुनीथः**=मार्गदर्शन कराता हुआ यह सम्यक्तया हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला है। ३. जिस समय हमसे अधिष्ठित पृथिवी-भाग सूर्याभिमुख नहीं होता उस समय **इदानीम्**=अब रात्रि के समय **सूर्यः**=यह सूर्य **क्व**=कहाँ है? **कः चिकेत**=कौन इस बात को ठीक-ठीक जानता है? **कतमां द्याम्**=किस द्युलोक में **अस्य रश्मिः**=इसकी किरणें **आततान**=अपने को विस्तृत कर रही हैं, अर्थात् इस समय कौन-सा भू-भाग इस सूर्य के द्वारा प्रकाशमय किया जा रहा है?

भावार्थ—सूर्य की अक्ष पर गति अति गम्भीर है, वह दिखती नहीं। सब प्राणशक्ति को देनेवाला, उत्तमतया मार्गदर्शक यह सूर्य बारी-बारी अपने सामने आये हुए भू-भाग को प्रकाशित करता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

हिरण्याक्ष-सविता

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥८॥

१. यह सूर्य **पृथिव्याः**=पृथिवी की **अष्टौ ककुभः**=आठों दिशाओं को (चार मुख्य व चार उप-

दिशाओं को) **वि अख्यत्**=विशेष रूप से प्रकाशित करता है। २. **योजना**=सब प्राणियों के उचित भोगों से युक्त (योजित) करनेवाले **त्री धन्व**=तीनों लोकों को (द्युलोक, अन्तरिक्ष व पृथिवी को) भी तथा **सप्त सिन्धून्**=इन सर्पणशील जलों को भी **व्यख्यत्**=यह प्रकाशित करता है। ३. **हिरण्याक्षः**=ज्योतिर्मय आँखवाला अर्थात् चमकते हुए प्रकाशवाला **सविता**=सबका प्रेरक **देवः**=सब व्यवहारों का साधक सूर्य **आगात्**=आता है और **दाशुषे**=दान देनेवाले अर्थात् त्याग की वृत्तिवाले पुरुष के लिए तथा सूर्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए, सूर्याभिमुख होकर ध्यानादि करनेवाले के लिए **वार्याणि**=वरणीय— चाहने योग्य **रत्ना**=रमणीय पदार्थों को, शरीर की धारक सात धातुओं को **दधत्**=धारण कराता है। सूर्य-किरणों के सेवन से शरीर की सब धातुएँ ठीक रहती हैं और नीरोगता प्राप्त होती है। ४. 'दाशुषे' शब्द का अर्थ सायण (हविर्दत्तवते) 'अग्निहोत्र करनेवाले के लिए' यह करते हैं। एवं प्रातः-सायं सूर्याभिमुख होकर यज्ञ करना आरोग्यता के लिए अत्यन्त सहायक है। ५. 'हिरण्याक्षः' का अर्थ (हितरमणीय चक्षुर्युक्तः) है, सो यह संकेत कर रहा है कि सूर्याभिमुख होकर ध्यान व यज्ञ करेंगे तो आँख की शक्ति भी बढ़ेगी।

भावार्थ—सूर्याभिमुख होकर ध्यान व यज्ञ में बैठने से दृष्टि-शक्ति बढ़ेगी, शरीरस्थ धातुएँ ठीक होकर स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

हिरण्यपाणि सविता

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥९॥

१. **हिरण्यपाणि**=अपने किरणरूप हाथों में स्वर्ण को लिये हुए, सूर्याभिमुख होकर छाती पर, सूर्य-किरणों को अपने शरीर पर लेनेवालों को यह सूर्य अपनी किरणों से स्वर्ण के इंजैक्शन्स करता प्रतीत होता है, **सविता**=सबको कर्मों में व्यापृत होने की यह प्रेरणा दे रहा है। **विचर्षणिः**=(विशिष्ट-दर्शनयुक्ताः) यह दृष्टि-शक्ति को विशेष रूप से बढ़ानेवाला है। ऐसा यह सूर्य **उभे**=दोनों **द्यावापृथिवी अन्तः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ईयते**=गति करता है। २. सर्वत्र प्रकाश को फैलाता हुआ यह सूर्य **अमीवाम्**=रोगकृमियों को **अप बाधते**=सुदूर फेंक देता है। (उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः)। ३. **सूर्यम्**=सरणशीलता को **वेति**=प्राप्त कराता है (जनयति, द०) शरीर में स्फूर्ति लाकर आलस्य को नष्ट करता है। **कृष्णेन**=(तमसः कर्षकेण) अन्धकार के निवारक **रजसा**=तेज से **द्याम्**=द्युलोक को **अभि ऋणोति**=दोनों ओर से व्याप्त करता है। सूर्याभिमुख पृथिवी के भाग पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं तथा दूसरी ओर चन्द्रमा से प्रतिक्षिप्त होकर सूर्यकिरणें प्रकाश फैलाती हैं।

भावार्थ—सूर्य हिरण्यपाणि है, रोगों को दूर करता है और सरणशीलता को व स्फूर्ति प्राप्त कराता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

हिरण्यहस्त असुर

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥१०॥

१. **हिरण्यहस्तः**=स्वर्ण है किरणरूप हाथों में जिसके ऐसा यह सूर्य **असुरः**=(असून् राति)

प्राणशक्ति को देनेवाला है, **सुनीथः**=(प्रशस्य) अत्यन्त प्रशंसनीय है—उत्तमता से मार्ग पर ले-चलनेवाला है (सु-नीथः)। **सुमृळीकः**=रोगादि की बाधा को दूर करके उत्तम सुख को देनेवाला है, **स्ववान्** (सु अव्)=उत्तमता से रक्षण करनेवाला है अथवा स्वास्थ्य-धन को प्राप्त करानेवाला है। ऐसा यह सूर्य **अर्वाङ् यातु**=यहाँ हमें समीपता से प्राप्त हो। २. यह **देवः**=सब रोगों व पीड़ाओं को जीतने की इच्छा करनेवाला सूर्यदेव **प्रतिदोषं गृणानः**=प्रतिदिन स्तुति किया जाता हुआ **रक्षसः**=रोग-कृमियों तथा **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाले रोगों को **अपसेधन्**=दूर करता हुआ **अस्थात्**=स्थित होता है।

भावार्थ—यह हिरण्यहस्त सूर्य प्राणशक्ति को देता हुआ रोगकृमियों व पीड़ाकर रोगों को नष्ट करता है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—सविता। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रजःशून्य पथ

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥११॥

१. हे **सवितः**=कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्यदेव! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्थाः**=मार्ग **पूर्व्यासः**=पूर्णता को प्राप्त करानेवाले **अरेणवः**=धूलि से रहित **सुकृताः**=उत्तमता से बने हुए **अन्तरिक्षे**=इस अन्तरिक्ष लोक में हैं, हे सूर्यदेव! **तेभिः**=उन **सुगेभिः**=उत्तम स्थिति को प्राप्त करानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **अद्य**=आज **नः**=हमें **रक्षा**=रक्षित करिए, **च**=और हे **देव**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले सूर्यदेव! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=आधिक्येन उपदेश दीजिए। २. वेद में अन्यत्र कहा गया है कि 'पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन' हे पूषन्! हम तेरे व्रत में कभी हिंसित न हों। (क) सूर्य अपने मार्ग पर निरन्तर चल रहा है, हम भी सूर्य का अनुकरण करते हुए निरन्तर क्रियाशील बनें। (ख) सूर्य के मार्ग पूर्ण हैं, पूरण करनेवाले हैं, सूर्य प्राणशक्ति का पूरण करता है—रोगकृमियों का संहार करता है। इसी प्रकार हमारे कार्य पूर्णता को उत्पन्न करनेवाले और बुराई को दूर करनेवाले हों। (ग) सूर्य के मार्ग धूलि से रहित हैं—हमारे जीवन-मार्ग रजोवृत्ति से ऊपर उठे हुए हों। (घ) सूर्य अन्तरिक्ष में गति कर रहा है, हम भी सदा **'अन्तरा-क्षि'**=मध्य मार्ग से चलनेवाले हों। ३. सबको शक्ति व प्रकाश को प्राप्त कराता हुआ सूर्य हमें भी यही उपदेश दे रहा है कि हम शक्ति व ज्ञान का संग्रह करके इन्हीं का प्रसार करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम सूर्य के मार्ग पर चलनेवाले बनें।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ अग्नि आदि देवों के आह्वान से होता है (१)। विशेषकर सूर्य के हिरण्यमय रथ का वर्णन करते हैं (२)। यह सविता देव सब दुरितों को दूर करता है (३)। सूर्य शक्ति व प्रकाश का केन्द्र है (४)। यह सम्पूर्ण प्रजाओं व भुवनों का आधार है (५)। द्युलोक के दो भाग सूर्य के नीचे, एक भाग ऊपर है (६)। यह सूर्य उत्तमता से पालन करनेवाला व प्राणशक्ति को देनेवाला है (७)। यह हिरण्याक्ष है (८)। हिरण्यपाणि व (९) हिरण्यहस्त है (१०)। रजःशून्य पथ से जाता हुआ हमें भी उत्तम उपदेश दे रहा है (११)। यह सूर्य जिस प्रभु की विभूति है उसके आराधन से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—घौरः । देवता—अग्निः । छन्दः—भुरिगनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

सूक्त वचनों से प्रभु का आराधन

प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते ॥१॥

१. अब अगले ८ सूक्तों (३६ से ४३ तक) का ऋषि 'कण्वो घौरः' है। कण-कण करके ज्ञान का संचय करने के कारण यह 'कण्व' है और उदात्त जीवनवाला होने से 'घौर'=noble है। प्रभु की आराधना से ही जीवन का उत्कर्ष सिद्ध होता है। सो उस आराधना को करता हुआ वह कहता है कि **पुरूणाम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाली **देवयतीनाम्**=दिव्य गुणों की कामनावाली **वः विशाम्**=प्रजाओं के **यह्वम्**=(यातश्च हूतश्च) जाने व पुकारने योग्य **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **सूक्तेभिः वचोभिः**=अत्यन्त मधुर गुणों के प्रतिपादक वचनों से **प्र ईमहे**=प्रकर्षेण याचना करते हैं। उस प्रभु की हम प्रार्थना करते हैं जोकि उन्नति की इच्छुक प्रजाओं से पुकारा जाता है और सबको उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला है। २. उस प्रभु की हम प्रार्थना करते हैं **यम्**=जिनको **सीम्**=सब ओर **अन्ये**=दूसरे लोग भी **इत्**=निश्चय से **इळते**=अपने में समिद्ध करते हैं। वस्तुतः सामान्य लोग भी, प्रभु का दार्शनिक विश्लेषण न कर सकनेवाले अपठित लोग भी अन्ततः उस प्रभु की ओर झुकते हैं। इस स्थिति में जो (पुरु व देवयति) प्रजाएँ हैं वे तो उस प्रभु का सूक्तवचनों से आराधन करेंगी ही।

भावार्थ—विद्वान् व अविद्वान् सभी अन्ततः उस प्रभु की ओर झुकते हैं।

ऋषिः—घौरः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

सुमनाः-अविता

जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते ।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य ॥२॥

१. **अग्निम्**=उस उन्नति के साधक प्रभु को **सहोवृधं**=जोकि हमारे 'सहस्=बल' को बढ़ानेवाले हैं, **जनासः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले लोग **दधिरे**=धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी वे ही होते हैं जोकि अपनी शक्तियों को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। आलसी व निर्बल मनुष्यों को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। २. शक्तियों का विस्तार करनेवाले हम **हविष्मन्तः**=हविवाले होकर अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग का व्रत लेकर **ते विधेम**=आपका पूजन करते हैं। प्रभु का आदेश है 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' त्यागपूर्वक उपभोग करना। इस आदेश का पालन करने से प्रभु का सच्चा पूजन होता है। ३. हे प्रभो ! **सः त्वम्**=वे आप **अद्य**=आज **इह**=इस प्रलोभनों से परिपूर्ण जगत् में **नः**=हमारे **सुमनाः**=(शोभनं मनो यस्मात्) मनों को उत्तम बनानेवाले तथा **अविता**=सब बुराइयों से रक्षण व बचाव करनेवाले **भव**=होओ। प्रभुकृपा से ही हम अपने मनों को अशुभ भावों से बचा सकेंगे। इन आसुर प्रवृत्तियों के आक्रमण को जीतना सुगम नहीं है। ४. हे प्रभो ! आप ही **वाजेषु**=युद्धों में इन आसुर-भावों के साथ संग्राम में **सन्त्य**=(सन्तौ दाने साधुः) शक्तियों के देनेवालों में उत्तम हैं। प्रभुस्मरण से ही वह शक्ति प्राप्त होती है जोकि हमें इन संग्रामों में विजयी बनाती है।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे **सहस्**=बल को बढ़ानेवाले हैं। संग्रामों में विजयी होने के लिए हमें उस प्रभु से ही शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः।

दूत-होता

प्र त्वा दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसं।
महस्ते सतो वि चरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः ॥३॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपको **प्रवृणीमहे**=हम प्रकृष्टरूप से वृत करते हैं। इस जीवन में हमारे सामने जब इस प्रेय-मार्ग में प्राप्त होनेवाले चमकते हुए उपभोग्य पदार्थों व आपमें वरण का प्रश्न उठता है, तो हम आपका ही वरण करते हैं। हम योगक्षेम के लिए चिन्तित होकर प्रेय-मार्ग का अवलम्बन नहीं करते। २. हम उन आपका वरण करते हैं जो आप **दूतम्**=अपने भक्तों को कष्टों की अग्नि में सन्तप्त करके उज्ज्वल जीवनवाला बनाते हैं, जो आप **होतारम्**=सब उन्नति के साधनों के प्राप्त करानेवाले हैं, तथा **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों व ज्ञानों के स्वामी हैं। ३. **महः**=(महस् तेज अथवा मह पूजायाम्) तेज के पुञ्ज अथवा पूजा के योग्य **सतः**=सत्यस्वरूप **ते**=आपके **अर्चयः**=(अर्च पूजायाम्) पूजा करनेवाले **विचरन्ति**=इस संसार में विशिष्ट जीवनवाले होते हैं। प्रभु को महान् व सत् रूप में पूजनेवाला व्यक्ति उत्कृष्ट आचरणवाला बनता है। ४. **भानवः**=(भा दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाले ये लोग **दिवि स्पृशन्ति**=उस प्रभु के द्योतनात्मक स्वरूप में स्पर्श करनेवाले होते हैं। अथवा ये लोग पृथिवीपृष्ठ से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठते हुए द्युलोक में पहुँचनेवाले होते हैं। ये पार्थिव भोगों से ऊपर उठते हैं। स्वर्ग के साधक यज्ञादि में भी संग व आसक्तिवाले नहीं होते। इन कर्मों को भी वे केवल कर्त्तव्य-भावना से ही करते हैं। एतान्यपि (यज्ञदानतपः) तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्'—इन कर्त्तव्यों को 'निर्मम व निरहंकार' होकर करते हुए ये सदा ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हैं (दिवि स्पृशन्ति)।

भावार्थ—प्रभु के उपासक का जीवन विशिष्ट जीवन होता है। ये ज्ञान-दीप्तिवाले पार्थिव व स्वर्ग के उपभोगों में आसक्तिवाले नहीं होते।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

धन-विजय

देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते।
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः ॥४॥

१. हे प्रभो! **दूतम्**=कष्टों की अग्नि में सन्तप्त करके जीवनों को उज्ज्वल करनेवाले **प्रत्नम्**=सनातन—सदा से विद्यमान **त्वा**=आपको **देवासः**=दिव्यवृत्तिवाले लोग, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाले, द्वेष से ऊपर उठनेवाले, **मित्रः**=सबसे स्नेह करनेवाले व सभी को पापों व मृत्युओं से बचानेवाले तथा **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) दान की वृत्तिवाले जितेन्द्रिय पुरुष **समिन्धते**=अपने हृदय में समिद्ध करते हैं, अर्थात् प्रभु को 'वरुण, मित्र, अर्यमा' की वृत्तिवाले देवलोग ही पाते हैं। २. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **यः मर्त्यः**=जो भी मरणधर्मा मनुष्य **ते ददाश**=तेरे प्रति अपना अर्पण करता है—तेरे चरणों में नतमस्तक होकर तेरी आज्ञा के अनुसार चलता है **सः**=वह **त्वया**=तुझ सहायक

को प्राप्त करके **विश्वं धनम्**=सम्पूर्ण धन को **जयति**=जीतता है 'धनञ्जय' बनता है। आप सारथि होते हो तो यह 'धनञ्जय' अपने लक्ष्य को पा ही लेता है।

भावार्थ—प्रभु को पाने के लिए 'वरुण, मित्र व अर्यमा' बनना चाहिए, 'निर्द्वेष, स्नेही व दान-शील'। प्रभु को अपना अर्पण करनेवाला सम्पूर्ण धनों का विजेता बनता है।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

मन्द्रो होता

मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।
त्वे विश्वा संगतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत ॥५॥

१. हे **अग्ने**=सब प्रजाओं की उन्नति के साधक प्रभो! आप **मन्द्रः**=अपने भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं, **होता**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। **गृहपतिः**=इस शरीररूप गृह की रोगादि के आक्रमण से रक्षा करनेवाले हैं, तथा **विशाम्**=संसार में प्रविष्ट सब प्रजाओं के **दूतः**=कष्टों की तपस्या में तपाकर जीवनों को उज्ज्वल बनानेवाले हैं। २. यद्यपि सामान्य दृष्टि से देखने पर प्रतीत तो यह होता है कि सूर्य हमें प्रकाश व प्राणशक्ति देता है, पर्जन्य वृष्टि के द्वारा अन्नादि प्राप्त कराता है, वायु जीवन शक्ति दे रही है, पर वस्तुतः गम्भीर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि **यानि**=जिन **ध्रुवाव्रता**=ध्रुवव्रतों को (अग्नि जलती ही है, सूर्य तपता ही है, बादल बरसता ही है, वायु बहती ही है) **देवाः**=ये वायु आदि देव **अकृण्वत**=पालन कर रहे हैं, वे **विश्वा**=सब व्रत **त्वे**=हे प्रभो! आपमें ही **संगतानि**=संगत होते हैं, अर्थात् इन देवों को वह देवत्व आपने ही प्राप्त कराया है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस प्रभु की दीप्ति से यह सब दीप्त हो रहा है। 'तेन देवा देवतामग्र आयन्' उस प्रभु ने ही इन देवों को देवत्व प्राप्त कराया है। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः' इसी के भय से अग्नि तप रही है और इसी के भय से सूर्य चमक रहा है, एवं इन देवताओं के द्वारा परम्परया वे प्रभु ही हमें पाल रहे हैं, वास्तविक होता-दाता प्रभु ही हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ही आनन्दित करनेवाले, सब-कुछ देनेवाले गृहपति हैं। देवों के द्वारा वे ही हमारा पालन कर रहे हैं।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सुभग-यविष्ठ्य

त्वे इदग्ने सुभगे यविष्ठ्य विश्वमा हूयते हविः।
स त्वं नो अद्य सुमना उतापरं यक्षि देवान्त्सुवीर्या ॥६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को दूर करने और अच्छाइयों को हमारे जीवनों के साथ संपृक्त करने में सर्वोत्तम प्रभो! **सुभगे**=उत्तम भग=ऐश्वर्यवाले **त्वे इत्**=तुझमें ही **विश्वं हविः**=सम्पूर्ण हवि **आहूयते**=आहुत की जाती है, अर्थात् तेरी प्राप्ति के निमित्त ही कण्व अर्थात् मेधावी लोग (प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि) दानपूर्वक अदन (हु) करते हैं। इस त्यागपूर्वक उपभोग से ही आपकी प्राप्ति होती है और आपको प्राप्त होनेवाला व्यक्ति आपकी कृपा से बुराइयों से दूर व अच्छाइयों से युक्त होता है तथा सुभग अर्थात् उत्तम ऐश्वर्यवाला बनता है। २. हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **सुमनाः**=(शोभनं मनो यस्मात्) हमारे मनों को उत्तम बनानेवाले हैं। **नः**=हमें **अद्य**=आज **उत**=और **अपरम्**=अगले, अगले

दिन **सुवीर्या देवान्**=उत्तम शक्तिवाले सूर्यादि देवों के साथ **यक्षि**=संगत कीजिए। प्रत्येक देव हमारी शक्ति की वृद्धि का कारण बने। यह शक्ति-वृद्धि हमारे मनों को भी उत्तम बनानेवाली हो।

भावार्थ—त्यागपूर्वक उपभोग के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु-कृपा से सूर्यादि देव हमारी शक्ति का वर्धन करनेवाले हों।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्रभु-प्राप्ति के साधन व फल

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
होत्राभिरग्निं मनुषः समिन्धते तितिर्वांसो अति स्रिधः ॥७॥

१. **तम्**=उस **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान प्रभु को **घ**=निश्चय से **ईम्**=सचमुच **इत्था**=इस प्रकार से अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार हवि की आहुति देने से, त्यागपूर्वक उपभोग करने से **नमस्विनः**=उत्तम अन्नोंवाले होते हुए (**नमः**=अन्न-नि०) अथवा नमस्कारयुक्त होते हुए **उपासते**=उपासित करते हैं, एवं प्रभु की उपासना के लिए आवश्यक है कि हम (क) हवि का स्वीकार करें, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें। (ख) उत्तम सात्त्विक अन्न का प्रयोग करें। (ग) नमस्कारयुक्त हों, नम्रतावाले हों। २. उस **अग्नि**=अग्रेणी प्रभु को **होत्राभिः**=दानपूर्वक अदन की क्रियाओं से, त्याग से **मनुषः**=विचारशील पुरुष **समिन्धते**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं और इस प्रभु-दीप्ति का परिणाम यह होता है कि ये **स्रिधः**=हिंसक शत्रुओं को—विनाशकारी काम, क्रोध, लोभादि वासनाओं को **तितिर्वांसः**=तैर जाते हैं। प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) त्यागशील बनें, यज्ञशेष का सेवन करें। (ख) विचारशील, स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। प्रभुप्राप्ति का लाभ यह होगा कि हम कामादि शत्रुओं को पराजित कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के प्रमुख साधन नम्रता, त्याग व विचार (ज्ञान) हैं। प्रभुप्राप्ति का लाभ 'काम, क्रोध, लोभादि' का संहार है।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

वृत्र-हनन

घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे।
भुवत्कण्वे वृषा द्युम्न्याहुतः क्रन्ददश्वो गविष्टिषु ॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की सहायता से **घ्नन्तः**=वासनाओं पर प्रहार करते हुए देववृत्ति के मनुष्य **वृत्रम्**=ज्ञान पर परदा डालनेवाली इस वासना को **अतरन्**=तैर जाते हैं। वासना का विनाश कर देते हैं। २. और **रोदसी**=द्यावापृथिवी को अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को तथा **अपः**=हृदयान्तरिक्ष को (आपः अन्तरिक्षनामसु निघण्टौ) **क्षयाय**=उत्तम निवास व गति के लिए **उरु चक्रिरे**=विशाल बनाते हैं। विशालता ही इन सबको पवित्र व उत्तम बनाती है। 'संकुचित ज्ञान, 'संकुचित-सा शरीर व संकुचित हृदय' ये जीवन को संकुचित-सा ही कर देते हैं। २. हे प्रभो! आप **कण्वे**=मेधावी पुरुष में **वृषा**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले **द्युम्नी**=ज्ञानवर्धन करनेवाले तथा **आहुतः**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करनेवाले **भुवत्**=होते हैं। आप उसी प्रकार हमें सब चीजों के प्राप्त करानेवाले होते हैं, जैसेकि **गविष्टिषु**=गौओं व भूमियों की प्राप्ति की इच्छावाले (गो-इष्टि) संग्रामों में **क्रन्दत् अश्वः**=हिनहिनाता हुआ घोड़ा विजय को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम वासनाओं को तैर जाते हैं। शरीर, मन व मस्तिष्क को सुन्दर बनाते हैं। मेधावी पुरुष के लिए प्रभु 'वृषा द्युम्नी व आहुत' होते हैं।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुपरिष्टाद् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

अरुष व दर्शत ज्ञान

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥९॥

१. **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **संसीदस्व**=आप कृपा करके हमारे हृदयदेश में विराजमान होइए। **महान्**=आप महान् **असि**=हैं। आप हमसे पूजा के योग्य हैं। **शोचस्व**=आप हमारे हृदयों को पवित्र व दीप्त करनेवाले होइए। **देववीतमः**=अधिक-से-अधिक (तम) दिव्य गुणों को (देव) प्राप्त करानेवाले (वी) होइए। २. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **मियेध्य**=मेधार्ह (मेधृ संगमे) संगम के योग्य प्रभो! **प्रशस्त**=उत्कृष्ट गुणोंवाले प्रभो! आप **धूमम्**=(धू कम्पने) सब बुराइयों को कम्पित करके दूर करनेवाले ज्ञान को **विसृज**=विशेष रूप से उत्पन्न कीजिए। उस ज्ञान को जोकि **अरुषम्**=(आरोचमानं) खूब ही देदीप्यमान है तथा **अरुषम्**=हमें क्रोधशून्य बनानेवाला है तथा **दर्शतम्**=दर्शनीय व सुन्दर है या आत्मतत्त्व का दर्शन करानेवाला है।

भावार्थ—प्रभु हृदय में विराजते हैं तो यह हृदयदेश चमक उठता है। इसमें उस ज्ञान का प्रकाश होता है जोकि देदीप्यमान व दर्शनीय होता हुआ सब बुराइयों को दूर कर देता है।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्विष्टारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

उपस्तुत

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन।
यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥१०॥

१. हे **हव्यवाहन**=हव्यः दानपूर्वक अदन के योग्य अथवा पवित्र पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप वे हैं **यम्**=जिन **यजिष्ठम्**=सर्वोत्तम, पूजा के योग्य **त्वा**=आपको **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग **इह**=इस मानव-जीवन में **मनवे**=मनुष्यमात्र के हित के लिए अथवा ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने के लिए **दधुः**=धारण करते हैं। प्रभु को हृदय में धारण करने पर मनुष्य सबके साथ बन्धुत्व को अनुभव करता है, सो सभी के हित में प्रवृत्त होता है। प्रभु के हृदयस्थ होने पर हमारा हृदय ज्ञान से दीप्त हो उठता है। २. प्रभु वे हैं **यं धनस्पृतम्**—जिन सब धनों से प्रीणित करनेवाले को **कण्वः**=मेधावी पुरुष धारण करता है, **मेध्यातिथिः**=जो निरन्तर मेध्य अर्थात् पवित्र की ओर चलता है (अत् सातत्यगमने) वह उस प्रभु को धारण करता है। ३. प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **वृषा**=शक्तिशाली पुरुष और शक्ति के द्वारा सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला पुरुष धारण करता है। ४. प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **उपस्तुतः**=(उपगतः स्तौति, द०) प्रभु की उपासना करता हुआ स्तुति करता है, वह धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु को धारण वह करता है जो 'देव, कण्व, मेध्यातिथि, वृषा व उपस्तुत' है। प्रभु ज्ञान देनेवाले व धनों से प्रीणित करनेवाले हैं।

ऋषिः—घौरः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्पथ्याबृहती । स्वरः—मध्यमः ।

मेध्यातिथि

यम॒ग्निं मेध्या॑तिथि॒: कण्व॑ ई॒ध ऋ॒तादधि॑ ।
तस्य॒ प्रेषो॑ दीदियु॒स्तमि॒मा ऋ॒च॒स्तम॒ग्निं व॑र्धयामसि ॥११॥

१. **यम्**=जिस **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **मेध्यातिथिः**=पवित्रता की ओर व पवित्र यज्ञादि कर्मों की ओर निरन्तर चलनेवाला **कण्वः**=मेधावी पुरुष **ऋतात् अधि ईधे**=ऋत के द्वारा, नियमित क्रियाओं के द्वारा आधिक्येन दीप्त करता है, **तस्य**=उस प्रभु का **प्रेषः**=प्रेरण **दीदियुः**=हृदय को प्रकाशित करनेवाला है। २. **तम्**=उस **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को ही **इमाः**=ये सब **ऋचः**=ऋचाएँ बढ़ाती हैं—**'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति',—सब ऋचाएँ उस व्यापक अविनाशी परमात्मा में ही स्थित हैं और सारे वेद उस प्राप्त करने योग्य प्रभु को ही प्रतिपादित कर रहे हैं। ३. हम सब भी **तम् अग्निम्**=उस सर्वाग्रणी प्रभु को ही **वर्धयामसि**=बढ़ाते हैं, अर्थात् उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम कण्व बनकर ऋत का पालन करें। यह ऋत का पालन ही हमें प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराएगा। ये प्रभु ही सब छन्दों में प्रतिपाद्य हैं।

ऋषिः—घौरः । देवता—अग्निः । छन्दः—भुरिगनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

प्रशंसनीय धन व बल

रा॒यस्पू॑र्धि स्वधा॒वोऽस्ति॒ हि तेऽग्ने॑ दे॒वेष्वाप्य॑म् ।
त्वं वाज॑स्य॒ श्रुत्य॑स्य राज॒सि स नो॑ मृळ म॒हाँ अ॑सि ॥१२॥

१. हे **स्व-धावः**=(धाव् शुद्धौ) अपने मित्रभूत आत्मा का शोधन करनेवाले प्रभो ! **रायः पूर्धि**=धनों को हममें पूरित कीजिए अर्थात् आवश्यक धनों की हमें कभी कमी न रहे। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो ! **ते**=आपकी **देवेषु**=दिव्य गुणोंवाले पुरुषों में **हि**=निश्चय से **आप्यम्**=मित्रता **अस्ति**=है। ३. **त्वम्**=आप **श्रुत्यस्य**=प्रशंसनीय व महती वृद्धि के कारणभूत **वाजस्य**=धन व बल के **राजसि**=प्रभुत्व करनेवाले हैं। 'श्रुत्य वाज' के ईश आप ही हैं। आपकी कृपा से ही हमें यशस्वी बल व यशोवृद्धि का कारणभूत धन प्राप्त होता है। ४. **सः**=वे आप **नः मृळ**=हमें सुखी कीजिए। आप सचमुच **महान्**=पूजनीय **असि**=हैं। हम आपकी पूजा करते हैं और आपकी कृपा से हम प्रशंसनीय धन व बल का लाभ करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें धन प्राप्त कराते हैं। वे सब देवों के मित्र हैं, प्रशंसनीय बल के देनेवाले हैं। ये प्रभु महान् हैं और हमें सुखी करते हैं।

ऋषिः—घौरः । देवता—अग्निः । छन्दः—उपरिष्टाद् बृहती । स्वरः—मध्यमः ।

रक्षण व शक्ति-लाभ

ऊ॒र्ध्व ऊ॒ षु ण॑ ऊ॒तये॒ तिष्ठा॑ दे॒वो न स॑वि॒ता ।
ऊ॒र्ध्वो वाज॑स्य॒ सनि॑ता॒ यद॒ञ्जिभि॑र्वा॒घद्भि॑र्वि॒ह्वया॑महे ॥१३॥

१. **नः**=हमारी **सु ऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **उ**=निश्चय से हे प्रभो ! **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=आप

उसी प्रकार ऊपर उठकर ठहरे हुए हैं अर्थात् किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए आप हमारा रक्षण कर रहे हैं **न**=जैसेकि **सविता देवः**=यह सूर्यदेव हमारा रक्षण करता है। वस्तुतः इन सूर्यादि देवों की उस-उस शक्ति व क्रिया से प्रभु ही तो हमारा रक्षण कर रहे हैं। इन सूर्यादि देवों में देवत्व की स्थापना प्रभु ही कर रहे हैं। २. हे प्रभो! आपके द्वारा होनेवाले रक्षण का प्रकार यह है कि आप **ऊर्ध्वः**=सदा उद्यत हुए **वाजस्य सनिता**=हमें ज्ञान व शक्ति के देनेवाले हैं। इस ज्ञान व शक्ति के प्रदान से आप हमें रक्षण की योग्यता प्राप्त करा रहे हैं। ३. परन्तु यह सब होता तभी है **यद्**=जबकि हम **अञ्जिभिः**=सब विज्ञानों को व्याप्त करनेवाले **वाघद्भिः**=ऋतु-ऋतु में यज्ञों के करनेवाले ज्ञानी ऋत्विजों के साथ **विह्वयामहे**=विशेषरूप से स्पर्धा करनेवाले होते हैं, अर्थात् उनके सम्पर्क में आकर अपने अन्दर ज्ञान व यज्ञ की वृत्ति को बढ़ाने के लिए यत्नशील होते हैं। वस्तुतः जब मनुष्य सत्सङ्ग के द्वारा अपने ज्ञान व यज्ञवृत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, तब वह अपने को प्रभु की रक्षा का पात्र बना लेता है और प्रभु उसे शक्ति प्राप्त कराते हैं ताकि वह उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ सके।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं, शक्ति के देनेवाले हैं। हमें चाहिए कि ज्ञानी व यज्ञशील पुरुषों के सम्पर्क में आकर अपने को प्रभुरक्षा का पात्र बनाएँ।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्विष्टारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अत्रि-संदाह

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः॥१४॥

१. हे प्रभो! आप **ऊर्ध्वः**=सदा उन्नत हुए-हुए, अप्रमत्त हुए-हुए **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइए। आपकी रक्षा से सुरक्षित हुआ मैं पाप के आक्रमण से आक्रान्त न हो जाऊँ। २. हे प्रभो! आप **केतुना**=उत्तम निवास व नीरोगता को प्राप्त करानेवाले ज्ञान के द्वारा **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले इन काम-क्रोध व लोभादि को **नि**=नितरां **सन्दह**=सम्यक् भस्म कर दीजिए। हमें खा जानेवाले ये काम-क्रोध व लोभ दग्ध हो जाएँ और हमारा दहन करनेवाले न रहें। ३. **नः**=हमें **ऊर्ध्वान्**=उन्नत व आलस्यरहित **कृधि**=कीजिए। **चरथाय**=हम उन्नति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ सकें तथा **जीवसे**=उत्तम जीवन को जीनेवाले बनें। ४. हे प्रभो! आप **देवेषु**=विद्वानों में **नः**=हमारी **दुवः**=परचर्या को **विदाः**=प्राप्त कराइए। हम सदा उत्तम दिव्य गुणोंवाले विद्वानों का सङ्ग व उनकी सेवा करनेवाले बनें ताकि हमारा जीवन उत्तम बने।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम उत्तम विद्वानों का सङ्ग व उनकी सेवा करते हुए अपने-आपको पापों से आक्रान्त होने से बचा सकें तथा काम-क्रोधादि को भस्म करके जीवन को सुन्दर व उन्नत करनेवाले हों।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः।

अहिंसाव्रत

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥१५॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! आप **नः**=हमें **रक्षसः**=अपने रमण के

लिए औरों का क्षय करने की वृत्तिवाले पुरुषों से **पाहि**=बचाइए। इनके सम्पर्क में आकर हम भी ऐसे न बन जाएँ। २. **अराव्णः**=न देनेवाले पुरुष की **धूर्तेः**=हिंसा से हमें **पाहि**=बचाइए। ३. **रीषतः**=हिंसक व्याघ्र आदि पशुओं से भी **पाहि**=हमारा रक्षण कीजिए। प्रभुकृपा से हम इन व्याघ्रादि के उपद्रवों से बचे रहें। ४. हे **बृहद् भानो**=महान् ज्ञान के प्रकाश करनेवाले प्रभो! **यविष्ठ्य**=ज्ञान के द्वारा ही बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवालों में उत्तम प्रभो! **उत वा**=और निश्चय से **जिघांसतः**=हमारा हनन करने की इच्छावाली द्रोहवृत्तिवाले पुरुषों से भी हमें बचाइए। ५. मन्त्र में 'इन-इनसे बचाइए' इस प्रकार प्रार्थना के द्वारा यही अभिप्रेत है कि हम वैसे न बन जाएँ अर्थात् (क) **रक्षसः**=हम अपने रक्षण के लिए औरों का क्षय करनेवाले न हों। (ख) **धूर्तेः**=हम हिंसक न हों। (ग) **अराव्णः**=न देने की वृत्तिवाले न हों। (घ) **रीषतः**=व्याघ्रादि की भाँति हानि पहुँचानेवाले न बनें। (ङ) **जिघांसतः**=हममें घातपात की वृत्ति न उत्पन्न हो जाए। ६. इस प्रकार का बनने के लिए हम प्रभु की उपासना से **बृहद् भानुः**=खूब ही ज्ञान-दीप्तिवाले बनें तथा **यविष्ठ्यः**=पाप से अमिश्रण व भद्र से मिश्रण करनेवालों में उत्तम हों।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से ज्ञान को बढ़ाकर हम हिंसकवृत्ति से अपने को ऊपर उठानेवाले हों, अहिंसाव्रत का पालन करें।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

'अरावा-द्रोही व चोर' का नाश

घनेव विष्वग्वि जह्यराव्णस्तपुर्जम्भ यो अस्मध्रुक्।
यो मर्त्यः शिशीते अत्यक्तुभिर्मा नः स रिपुरीशत ॥१६॥

१. हे **तपुर्जम्भ**=(तपूंषि जम्भानि-आयुधानि यस्य) सन्तापकारी अस्त्रोंवाले प्रभो! **अराव्णः**=राष्ट्र में उचित कर आदि न देनेवाले व्यक्तियों को **विष्वक् विजहि**=सब ओर से नष्ट कर दीजिए, उसी प्रकार नष्ट कर दीजिए **इव**=जैसेकि **घना**=दृढ़ पाषाण आदि से मृत्पिण्डों को नष्ट कर देते हैं। २. **यः**=जो भी **अस्मध्रुक्**=हम सबका द्रोह करता है और **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **अक्तुभिः**=रात्रियों के समय अति **शिशीते**=अतिशयेन क्षीण कर देता है अर्थात् हमारे धन-धान्यों को चुराकर हमारी अवस्था को क्षीण कर देता है **सः**=वह **रिपुः**=शत्रु **नः**=हमारा **मा ईशत**=ईश न बन जाए अर्थात् हमपर प्रबल न हो जाए।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से कर व दान न देनेवालों का, दूसरों का द्रोह करनेवालों का तथा रात्रि में चोरी करके औरों का क्षय करनेवालों का प्राबल्य न हो, इन शत्रुओं का नाश ही हो।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडुपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सुवीर्य-सौभग-सुरक्षण

अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम्।
अग्निः प्रावन्मित्रोत मेध्यातिथिमग्निः साता उपस्तुतम् ॥१७॥

१. **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **सुवीर्यं वव्ने**=उत्तम शक्ति के लिए याचना किया जाता है, अर्थात् उस प्रभु से उत्तम शक्ति की याचना करते हैं। शक्ति ही तो नीरोगता, निर्मलता व अन्य सब सद्गुणों की आधार है। २. **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु ही **कण्वाय**=मेधावी पुरुष के लिए **सौभगम्**=सौभाग्य को

वन्ने=देता है। सब सौभाग्य ज्ञानमूलक हैं। हम ज्ञानपूर्वक कार्य करते हैं तो वे हमारे सौभाग्य के बढ़ानेवाले होते हैं। नासमझी से किये गये कार्य ही दौर्भाग्य को पैदा किया करते हैं। ३. **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **मित्रा**=परस्पर स्नेह से रहनेवालों का **प्रावत्**=रक्षण करते हैं। इसके विपरीत **'मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्'** परस्पर द्वेष करनेवाले मरा ही करते हैं अर्थात् प्रभु की रक्षा का पात्र वह होता है जोकि निरन्तर पवित्र कर्मों की ओर चलता है। ४. **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **उपस्तुतम्**=(उपगतैः गुणैः स्तूयते, दया०) प्राप्त गुणों के कारण प्रशंसित व्यक्ति को **सातौ**=धनादि की प्राप्ति में **प्रावत्**=रक्षित करता है, अर्थात् उपस्तुत को ही धन-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें 'सुवीर्य-सौभग व सुरक्षण' प्राप्त हो। हम 'कण्व-मित्र-मेध्यातिथि व उपस्तुत' बनें।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विष्टारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

तुर्वश-तुर्वीति

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः ॥१८॥

१. उस **अग्निना**=अग्रेणी प्रभु के साथ अथवा उस अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के हेतु से हम **तुर्वशम्**=त्वरा से इन्द्रियों व मन को वश में करनेवाले को **यदुम्**=उत्तम धनों की प्राप्ति के लिए यत्नशील को (यतते) तथा **उग्रादेवम्**=तेजस्वी व दिव्य गुणोंवाले पुरुष को **परावतः**=दूर देश से भी **हवामहे**=पुकारते हैं। इन लोगों का='तुर्वश, यदु व उग्रादेव' का सम्पर्क हमें भी उसी प्रकार 'तुर्वश, यदु व उग्रादेव' बनाएगा। ऐसा बनने पर हम प्रभु को पानेवाले बनेंगे। २. ये **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु इस **नववास्त्वम्**=(नवं वास्तु यस्य) स्तुत्य घरवाले अर्थात् सुन्दर शरीररूप गृहवाले **बृहद्रथम्**=वृद्धिशील रथवाले अर्थात् जीवन-यात्रा में इस शरीररूप रथ से निरन्तर आगे बढ़नेवाले **तुर्वीतिम्**=(तुर्वति=हिनस्ति) सब बुराइयों के संहार करनेवाले को **दस्यवे सहः**=दस्युओं के कुचलने के लिए शक्ति को **नयत्**=प्राप्त कराता है। प्रभु-कृपा से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है जोकि दास्यव वृत्तियों को कुचलने में समर्थ होती है। ३. मन्त्र में 'तुर्वश' आदि शब्दों से स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि (क) हम **'तुर्वश'** बनें—त्वरा से इन्द्रियों व मन को वश में करनेवाले हों। (ख) **'यदु'**—जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक साधनों को जुटाने में यत्नशील हों। (ग) **'उग्रादेव'**—तेजस्वी व दिव्यगुणोंवाले बनें। (घ) **'नववास्तु'**—शरीररूप गृह को सुन्दर बनाएँ। (ङ) **'बृहद्रथम्'**—वृद्धिशील रथवाले हों अर्थात् जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ें और (च) **'तुर्वीति'**—सब वासनाओं का हिंसन करनेवाले हों।

भावार्थ—'तुर्वश, यदु व उग्रादेव' बनकर हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। वे प्रभु 'नववास्त्व, बृहद्रथ व तुर्वीति' को वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जो दस्युओं को कुचलनेवाली होती है।

ऋषिः—घौरः। देवता—अग्निः। छन्दः—पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः।

मनु व कृष्टि

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको **मनुः**=विचारशील पुरुष **निदधे**=अपने हृदय में

स्थापित करता है। प्रभु के स्वागत के लिए ज्ञानी बनना आवश्यक है। **'दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा'**=उस प्रभु का दर्शन सूक्ष्मबुद्धि से होता है। २. ये प्रभु **शश्वते जनाय**=प्लुतगतिवाले पुरुष के लिए, क्रियाशील पुरुष के लिए **ज्योतिः**=प्रकाशस्वरूप होते हैं। आलसी पुरुष को ईश्वर का दर्शन नहीं होता। ३. हे प्रभो! आप **कण्वे**=मेधावी पुरुष में **दीदेथ**=चमकते हो। **ऋतजातः**=ऋत के द्वारा आपका प्रादुर्भाव होता है। हम अपने जीवन में ऋत को धारण करते हैं तो परिणामस्वरूप प्रभु का हमारे हृदयों में प्रादुर्भाव होता है। ४. आप **उक्षितः**=आनन्द से सिक्त हो अर्थात् आनन्दस्वरूप हो। ५. आप वे हैं **यम्**=जिनको **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **नमस्यन्ति**=अर्चित करते हैं। प्रभु की अर्चना श्रम के द्वारा होती है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का सर्वप्रथम साधन है 'मनु'—ज्ञानी बनना। द्वितीय साधन है 'शश्वत्' प्लुतगतिवाला होना। तृतीय साधन है—मेधावी बनकर ऋत का पालन करना। चौथा साधन है 'श्रमशील' होना—कृषि करना। संक्षेप में प्रभु को 'मनु, शश्वत्, कण्व व कृष्टि' प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—घोरः। देवता—अग्निः। छन्दः—सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ज्ञानदीप्ति व बल

त्वेषासो॑ अ॒ग्नेरम॑वन्तो अ॒र्चयो॑ भी॒मासो॒ न प्रती॑तये।
र॒क्ष॒स्विनः॒ सद॒मिद्या॑तु॒माव॑तो॒ विश्वं॒ सम॒त्रिणं॑ दह ॥२०॥

१. **अग्ने**=उस अग्रेणी प्रभु की **अर्चयः**=ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ **त्वेषासः**=दीप्त होती हैं और **अमवन्तः**=शक्तिशाली होती हैं। ये ज्ञान की ज्वालाएँ सब वासनाओं के लिए **भीमासः**=भयंकर होती हैं, **प्रतीतये न**=ये ज्वालाएँ लौटने के लिए नहीं हैं (प्रति, इति=गति) अर्थात् वासनाएँ इन ज्ञान-ज्वालाओं को पराजित नहीं कर सकतीं। वस्तुतः जो भी मनुष्य प्रभु को धारण करता है, वह इन ज्ञान-दीप्तियों को धारण कर लेने से चमकता है (त्वेषासः)=शक्तिशाली होता है (अमवन्तः)=इन वासनाओं के लिए भयंकर होता है और इनसे पराजित नहीं होता। २. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप **रक्षस्विनः**=राक्षसी भावनाओं को **सदम् इत्**=सदा ही **यातुमावतः**=पीड़ा का आधान करनेवाली विकृतियों को और **विश्वम्**=हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले काम-क्रोध-लोभ को **सन्दह**—सम्यक् भस्म कर दीजिए। ज्ञान की दीप्ति ही इनको भस्मीभूत करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानदीप्तियाँ हमें 'दीप्त' सबल व शत्रु-भयंकर' बनाती हैं। ये राक्षसी भावनाओं, पीड़ाकर विकृतियों तथा काम-क्रोध-लोभ को नष्ट कर देती हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु के आह्वान से होता है (१)। वे प्रभु हमारे बलों को बढ़ाते हैं (२)। वे सब-कुछ देनेवाले व सम्पूर्ण धनोंवालों हैं (३)। प्रभु का दर्शन द्वेषशून्य, स्नेह-सम्पन्न, जितेन्द्रिय पुरुष को होता है (४)। वे प्रभु ही सूर्यादि के द्वारा हमारा पालन कर रहे हैं (५)। हमारे लिए इन सूर्यादि देवों को शक्तिशाली बनाते हैं (६)। नम्र, त्यागी व विचारशील पुरुषों को प्रभु का प्रकाश दीखता है (७)। वे प्रभुप्रकाश को प्राप्त करनेवाले ही वृत्र (वासना) का विनाश कर पाते हैं (८)। हृदयस्थ प्रभु का प्रकाश सब बुराइयों को दूर कर देता है (९)। प्रभु का धारण देववृत्तिवाले ही करते हैं (१०)। उस प्रभु के प्रकाश के लिए ऋत का पालन आवश्यक है (११)। ये प्रभु हमें प्रशंसनीय बल व धन प्राप्त कराएँगे (१२)। वे ही हमारा रक्षण करते हैं (१३)। हमारे जीवन को उन्नत बनाते हैं (१४)। हमें अहिंसाव्रत में दृढ़ करते हैं (१५)। प्रभु-कृपा से राष्ट्र के शत्रुओं का नाश होता है (१६)। सुवीर्य, सौभग व सुरक्षण प्राप्त होता है (१७)। हम 'तुर्वश व तुर्वीति' बन पाते हैं (१८)। हमें चाहिए कि

हम ज्ञानी व क्रियाशील बनें (१९)। प्रभु की दीप्तियों को प्राप्त करके 'काम' का दहन करनेवाले बनें (२०)। अब प्रभुप्राप्ति के लिए मुख्य साधन 'प्राणायाम' का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

क्रीड़क की मनोवृत्ति

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्। कण्वा अभि प्र गायत ॥१॥

१. हे **कण्वाः**=(कण निमीलने, निमीलयति परान् स्वतेजसा) अपनी तेजस्विता से दूसरों की आँखों को चुँधिया देनेवाले पुरुषो! आप **वः**=आपके **मारुतं शर्धः**=प्राण-सम्बन्धी बल का **अभिप्रगायत**=गायन करो। यह 'मारुत शर्ध' क्रीड़क—तुम्हें क्रीड़क की मनोवृत्तिवाला बनाता है अर्थात् इस प्राण-बल के होने पर मनुष्य जय-पराजय को 'Sportsman-like spirit' में—एक खिलाड़ी की मनोवृत्ति से ग्रहण करता है। **अनर्वाणम्**=(अर्वा भातृव्य) जो मारुतशर्ध शत्रुओं से रहित है अर्थात् प्राणों पर शत्रुओं का आक्रमण होता है तो वे शत्रु इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। इन प्राणों का कोई शत्रु नहीं है। **रथेशुभम्**=यह मारुतशर्ध इस शरीररूप रथ में अत्यन्त शोभायमान होता है। वास्तविकता यह है कि प्राणों की साधना से ही रथ शोभनेवाला बनता है।

भावार्थ=प्राणसाधना से हममें क्रीड़क की मनोवृत्ति उत्पन्न होगी, सब वासनारूप शत्रु नष्ट होंगे, और यह शरीररूप रथ सुन्दर बनेगा।

सूचना—यहाँ वायुबल से चलनेवाले अनर्वा=अश्वरहित रथ की ध्वनि भी स्पष्ट है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

गुणालंकृतता

ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः। अजायन्त स्वभानवः ॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाले लोग वे हैं **ये**=जो **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले **अजायन्त**=हो जाते हैं। ये योगसाधना में आगे बढ़ते हुए अन्नमयादि कोशों से ऊपर उठकर अन्ततः आत्मा का दर्शन करते हैं। २. इससे पूर्व ये उन **आशीभिः**=वाणियों के **साकम्**=साथ होते हैं जो वाणियाँ **पृषतीभिः**=हृदय में हर्ष का वर्षण करनेवाली हैं, **ऋष्टिभिः**=ज्ञान की प्रकाशिका हैं तथा **अञ्जिभिः**=सद्गुणों से अलंकृत करनेवाली हैं। ३. 'पृषती' शब्द मरुतों की वाहनभूत मृगियों के लिए आता है। ये मृगियाँ आत्मा का मार्गण करनेवाली चित्तवृत्तियाँ ही हैं। आत्ममार्गण करती हुई और आत्मा की ओर चलती हुई ये हृदय में आनन्द का वर्षण करती हैं। 'ऋष्टि' आयुध है और ज्ञान ही वह आयुध है जिससे कि वासनारूप शत्रु का संहार होता है। 'अञ्जि' अलंकार का नाम है। प्राणसाधना दुर्गुणों को दूर करके हमें सद्गुणों से अलंकृत करती ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' उत्पन्न होती है। यह 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' हमें प्रभु की वाशी=वाणी से सुपरिचित करती है। यह परिचित वाणी हमें हृदय में आनन्दित करती है, ज्ञान का प्रकाश देती है तथा गुणालंकृत करती है।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

हाथ बोलें

इहेवं शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् । नि यामञ्चित्रमृञ्जते ॥३॥

१. गत मन्त्र में 'वाशी' शब्द से वेदवाणी का उल्लेख हुआ है । उस वेदवाणी को प्रस्तुत मन्त्र में 'कशा' शब्द से स्मरण किया गया है । यह वेदवाणी कर्त्तव्यों का अनुशासन करती है (कश—गति-शासनयोः) । **एषाम्**=इन प्राणसाधना करनेवालों के **हस्तेषु**=हाथों में **यत्**=जब **कशाः**=ये वेदवाणियाँ **वदान्**=बोलती हैं अर्थात् जब इनका जीवन वेदवाणियों के अनुसार होता है तो **इह इव**=इस जीवन-काल की भाँति जीवन के बाद भी **शृण्वे**=इनका यश सुनाई पड़ता है । ये व्यक्ति कभी मर नहीं जाते, मरने के बाद भी ये जीवित ही रहते हैं, स्थूलशरीर चले जाने पर भी इनका यशशरीर स्थिर रहता है । वेदवाणी को जीवन में अनूदित करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य प्राणों का संयम करे । यह मरुतों का बल ही हमें वैदिक जीवनवाला बनाता है । २. ये लोग **यामन्**=इस जीवनमार्ग में अपने को **चित्रम्**=अद्भुत रूप से **नि ऋञ्जते**=निश्चय से वा नितराँ प्रसाधित करते हैं । वैदिक कर्मकलाप करते हुए ये लोग अपने जीवनों को बड़ा सुन्दर बना लेते हैं ।

भावार्थ—वेदवाणी को हम जीवन में क्रियान्वित करें जिसके द्वारा हमारे जीवन का अद्भुत अलंकरण हो ।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

घृष्वि-त्वेषद्युम्न-शुष्मी

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे । देवत्तं ब्रह्म गायत ॥४॥

१. हे मनुष्यो ! **वः**=तुम्हारे **शर्धाय**=इस प्राणों के बल के लिए जोकि **घृष्वये**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, **त्वेषद्युम्नाय**=दीप्तज्ञान व यशवाला है (द्युम्नं यशः, नि०) **शुष्मिणे**=शत्रुओं के शोषक बलवाला है, **देवत्तम्**=उस महान् देव प्रभु से दिये हुए (देवेन दत्तं=देवत्तम्) **ब्रह्म**=स्तोत्र का **गायत**=खूब गान करो । २. वेदों में प्राणों की महिमा का प्रतिपादन है । वेदमन्त्रों से हम उस प्राण-महिमा को समझें । प्राणों के महत्त्व को समझकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों । ३. इस प्राणसाधना के होने पर हम शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनेंगे, दीप्तज्ञान व यशवाले होंगे और न चाहते हुए भी हमारे अन्दर आ जानेवाले कामादि का हम शोषण कर पाएँगे ।

भावार्थ—वेदमन्त्रों में हम प्राणों की महिमा को देखें और प्राणसाधना करते हुए 'घृष्वी-त्वेष-द्युम्न व शुष्मी' बनें ।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—विराड् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

चबाकर खाना

प्र शंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम् । जम्भे रसस्य वावृधे ॥५॥

१. **यत्**=जो **मारुतं शर्धः**=प्राणसम्बन्धी बल है, उसका **प्रशंस**=शंसन करो जो प्राणों का बल (क) **गोषु अघ्न्यम्**=इन्द्रियों के विषय में न हनन करनेवालों में उत्तम है अर्थात् जो इन्द्रियों की शक्ति को स्थिर रखता है, इन्द्रियों के दोषों को दूर करके उनकी शक्ति को क्षीण नहीं होने देता; (ख)

क्रीळम्=यह प्राणों का बल हमारे मनों को पवित्र करता हुआ हमें एक क्रीड़क की मनोवृत्ति प्राप्त कराता है। इस वृत्ति के कारण हम इस संसार को ठीक रूप में देखनेवाले बनते हैं। २. यह 'मारुतशर्धः'=प्राणों का बल **जम्भे**=मुख में **रसस्य**=(रसेन) भोजन को खूब चबाकर रस बना लेने से **वावृधे**=वढ़ता है अर्थात् यदि हम भोजन को खूब चबाकर खाते हैं और उसे द्रव बनाकर अन्दर ले-जाते हैं तो यह प्राण-वृद्धि का कारण बनता है। यह प्राणों का बल हमारी इन्द्रियों को क्षीण नहीं होने देता और हमारी मनोवृत्ति को एक खिलाड़ी की मनोवृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—प्राणों का बल इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करता है; हमारी मनोवृत्ति को खिलाड़ी की मनोवृत्ति से युक्त करता है। प्राणों के बल की वृद्धि के लिए खूब चबाकर खाना आवश्यक है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

द्युलोक व भूलोक को कम्पित करना

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः। यत्सीमन्तं न धूनुथ ॥६॥

१. हे **नरः**=शरीर में सब इन्द्रियों का नेतृत्व करनेवाले प्राणो! **दिवः च**=द्युलोक के अर्थात् मस्तिष्क के **ग्मः च**=और पृथिवीलोक अर्थात् शरीर के **धूतयः**=कम्पित करनेवाले प्राणो! **यत्**=जब **सीम्**=सदा **अन्तं न**=वस्त्रप्रान्त की भाँति **धूनुथ**=तुम इन्हें कम्पित कर निर्मल कर देते हो अर्थात् जैसे कपड़े को झाड़कर उसपर लगी धूल को उससे पृथक् कर देते हैं, उसी प्रकार जब आप मस्तिष्क व शरीर की मैल को दूर कर देते हो तो **आ वर्षिष्ठः**=सब आनन्दों की वर्षा करनेवाला अथवा सर्वश्रेष्ठ **कः**=आनन्दस्वरूप प्रभु **वः**=आपका होता है अर्थात् प्राणसाधना से शरीर के नीरोग व मस्तिष्क के दीप्त होने पर प्रभु का दर्शन व प्राप्ति होती है। एवं प्रभु प्राणों के हैं अर्थात् उन्हीं के द्वारा प्राप्य हैं।

भावार्थ=प्राणसाधना से द्युलोक व भूलोक—मस्तिष्क व शरीर दोनों का शोधन होकर प्रभु का दर्शन होता है। एवं प्राणसाधना हमें प्रभु की ओर ले चलती है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पर्वत का हिल जाना

नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे। जिहीत पर्वतो गिरिः ॥७॥

१. **मानुषः**=एक विचारशील ज्ञानी पुरुष **यामाय**=सब इन्द्रियों व चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए तथा **उग्राय मन्यवे**=तेजस्वितायुक्त ज्ञान के सम्पादन के लिए **वः**=हे प्राणो! आपको **निदध्रे**=निश्चय से धारण करता है अर्थात् आपके धारण से जहाँ चित्तवृत्तियों का निरोध होता है वहाँ उनके निरोध के परिणामस्वरूप तेजस्विता प्राप्त होती है और ज्ञान की भी वृद्धि होती है। २. इन प्राणों का निरोध होने पर अर्थात् प्राणसाधना से प्राणसंयम सिद्ध होने पर **गिरः**=सब अच्छाइयों का निगीर्ण करनेवाली **पर्वतः**=पञ्च पर्वोंवाली अविद्या **जिहीत**=(गच्छेत्—सा०) नष्ट हो जाती है। प्राणसंयम से अन्तःकरण प्रभु के प्रकाश से चमक उठता है, सब अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणनिरोध से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तेजस्विता व ज्ञान प्राप्त होता है, अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्राणों का महत्त्व

येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वाँ इव विश्पतिः। भिया यामेषु रेजते ॥८॥

१. **येषाम्**=जिन प्राणों के **अज्मेषु**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति व क्षेपण क्रियाओं के होने पर **पृथिवी**=यह सारा शरीर **रेजते**=उसी प्रकार कम्पित हो उठता है **इव**=जिस प्रकार **जुजुर्वान्**=जीर्णता को प्राप्त हुआ **विश्पतिः**=राजा **यामेषु**=शत्रुओं का आक्रमण होने पर **भिया रेजते**=भय से काँप उठता है। २. जब शरीर में से वाणी, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र जाते हैं व बाहर फेंके जाते हैं तो मनुष्य गूँगा हो जाता है, सूँघ नहीं पाता, देख नहीं सकता व अधिक-से-अधिक बहिरा हो जाता है; और सब प्रकार से वह ठीक चलता रहता है, परन्तु प्राणों के चलने व बाहर होने की तैयारी होते ही यह सारा शरीर भयभीत हो उठता है, सभी इन्द्रियों के खूँटे उखड़ने लगते हैं और सब ऐसे भयभीत हो उठते हैं जैसेकि एक वृद्ध राजा शत्रुओं के आक्रमण के भय से काँप उठता है। ३. वस्तुतः प्राणों की ही यह महिमा है कि सब आसुरी वृत्तियाँ इनसे टकराकर चकनाचूर हो जाती हैं। इन प्राणों की साधना के अभाव में सब इन्द्रियाँ आसुरवृत्तियों से आक्रान्त होकर पाप में फँस जाती हैं। तब उन इन्द्रियों से प्रभु-स्तवन होना बन्द हो जाता है।

भावार्थ—प्राण के हिलते ही सब हिल जाता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति

स्थिरं हि जानमेषां वयो मातुर्निरेतवे। यत्सीमनु द्विता शवः ॥९॥

१. **एषाम्**=इन प्राणों का **जानम्**=विकास व प्रादुर्भाव **हि**=निश्चय से **स्थिरम्**=स्थिर होता है। प्राणों की साधना से होनेवाला विकास स्थिर होता है। प्राणसाधना से होनेवाली उन्नति क्षणिक व अस्थायी नहीं होती। २. इस प्रकार स्थिर उन्नति के कारणभूत **वयः**=(वय् गतौ) ये गतिशील प्राण **मातुः**=प्रमाता व ज्ञानी पुरुष के **निर् एतवे**=जन्म-मरण-चक्र से बाहर निकल जाने के लिए होते हैं। प्राण-साधना से बुद्धि की तीव्रता सिद्ध होती है। इस तीव्र बुद्धि से आत्म-साक्षात्कार होता है और परिणामतः जन्म-मरणचक्र का अन्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। ३. ये प्राण वे हैं **यत् अनु**=जिनकी साधना के अनुपात में ही **सीम्**=सदा **द्विता**=(द्वौ तनोति) शरीर व मस्तिष्क दोनों का विकास करनेवाला **शवः**=बल प्राप्त होता है। प्राणसाधना से शरीर भी नीरोग होकर सबल होता है और बुद्धि भी अत्यन्त सूक्ष्म बनती है।

भावार्थ—(क) प्राणसाधना से शक्तियों का स्थिर विकास होता है, (ख) ये प्राण मनुष्य को प्रमाता बनाकर मोक्षलाभ कराते हैं और (ग) प्राणसाधना से शरीर व मस्तिष्क दोनों का विकास होता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वाणी के प्रेरक

उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा अज्मेष्वत्नत। वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥१०॥

१. **त्ये**=वे प्राण **उत् उ**=हमें उत्कर्ष की ओर ही ले-चलते हैं। ये प्राण **गिरः सूनवः**=वाणी के प्रेरक हैं अर्थात् प्राणों की साधना से अन्तःकरण की निर्मलता होकर अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। २. ये प्राण **अज्मेषु**=गति के द्वारा सब मलों का प्रक्षेपण होने पर **काष्ठाः अत्नत**=(Mark, goal) अन्तिम उद्दिष्ट स्थल का विस्तार करते हैं अर्थात् हमें इस जीवन में लक्ष्यस्थल पर पहुँचाते हैं।

३. इस प्रकार प्राणसाधना करनेवाले लोग **अभिज्ञु**=अभिगत जानु होकर (घुटने टेककर) **वाश्राः**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हुए **यातवे**=जीवन-यात्रा में आगे और आगे चलते हुए प्रभु को प्राप्त कराने के लिए होते हैं (या प्रापणे)।

भावार्थ—प्राणसाधना से अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, मनुष्य लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है, प्रभुस्तवन करता हुआ अन्तिम यात्रा में आगे बढ़ता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः षड्जः।

कामरूप मेघ का प्रच्यावन

त्यं चिद्घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम्। प्र च्यावयन्ति यामभिः ॥११॥

१. ये प्राण **त्यं चित् घ**=ज्ञान पर आवरणभूत उस वृत्र अर्थात् वासना को भी निश्चय से **यामभिः**=अपनी गतियों से **प्रच्यावयन्ति**=नष्ट कर देते हैं, स्थानभ्रष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसेकि वायुएँ अपनी गतियों से सूर्य के आवरणभूत मेघ को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। २. किस कामनारूप वृत्र को ? जोकि (क) **दीर्घम्**=अत्यन्त दीर्घ है, जिसका अन्त ही नहीं आता। इच्छा कभी पूरी थोड़े ही हो सकती है ! **'आशावधिं को गतः'**—ये शब्द ठीक ही हैं। (ख) **पृथुम्**=जो अत्यन्त विस्तृत है। सचमुच आकाश में जैसे बादल फैलता जाता है, उसी प्रकार यह काम उत्तरोत्तर फैलता ही जाता है। **'कामो हि समुद्रः'**— समुद्र की भाँति यह फैला हुआ है। इसका ओर-छोर दीखता नहीं। (ग) **मिहः, नपातम्**=यह काम आनन्द की वर्षा को गिरने नहीं देता, ज्ञान की वर्षा का यह प्रतिबन्धक है। कोई भी व्यक्ति इस काम में फँसने पर तृप्त नहीं होता, अतः आनन्द को भी अनुभव नहीं कर पाता। (घ) यह ठीक है कि **अमृध्रम्**=इसकी हिंसा करना सुगम नहीं। यह हिंसित नहीं होता। महादेव ही इस कामदेव को भस्म कर पाते हैं, पर भस्म होने पर भी वस्तुतः यह बना ही रहता है, समाप्त नहीं हो जाता। ३. इस प्रकार अत्यन्त प्रबल इस कामरूप मेघ को प्राणरूप वायु ही छिन्न-भिन्न किया करती हैं। प्राणसाधना ही काम-विजय का साधन है।

भावार्थ—इस अनन्त व अनन्त शक्तिवाले काम को प्राण ही पराजित कर पाते हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

कर्मों में व्यापृत करना

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन। गिरीँरचुच्यवीतन ॥१२॥

१. **मरुतः**=प्राणो ! **यत् ह**=जो निश्चय से **वः**=आपका **बलम्**=बल है वह **जनान्**=लोगों को **अचुच्यवीतन**=अपने-अपने व्यापारों में प्रेरित करता है। आपका बल लोगों को आलस्य से पृथक् करता है और सदा कर्मों में प्रेरित करता है। २. यह मरुतों का बल **गिरीन्**=सब ज्ञानों को निगीर्ण कर जानेवाले अविद्या के पर्वतों को भी **अचुच्यवीतन**=स्थानभ्रष्ट व नष्ट करता है। प्राणसाधना से बुद्धि की सूक्ष्मता होने पर अविद्यारूप पर्वत विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वह शक्ति प्राप्त होती है जोकि लोगों को कार्यों में प्रेरित करती है और अविद्यारूप पर्वत को भी नष्ट करती है।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—पादनिचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अन्तःप्रेरणा का सुनना

यद्ध यान्ति॑ मरुतः॒ सं ह॑ ब्रुवते॒ऽध्वन्ना । शृणोति॒ कश्चि॑देषाम् ॥१३॥

१. **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **मरुतः**=प्राण **यान्ति**='इडा, पिंगला व सुषुम्णा' आदि नाड़ियों में गति करते हैं, उस समय ह=निश्चय से ये प्राण **अध्वन् आ**=मार्ग में सर्वत्र **संब्रुवते**=सम्यक् उपदेश देते हैं अर्थात् इन प्राणों की साधना होने पर हृदय की निर्मलता होती है और अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। २. परन्तु **एषाम्**=इनकी उस वाणी को **कश्चित्**=कोई विरला व्यक्ति ही **शृणोति**=सुनता है। वस्तुतः इस प्राणसाधना के योगमार्ग पर चलने की प्रवृत्ति विरले ही व्यक्तियों को होती है। हज़ारों में कोई एकाध ही इस मार्ग पर चलने में प्रवृत्त होता है और इस प्रकार कोई विरला व्यक्ति ही इस अन्तःप्रेरणा के शब्द को सुनता है।

भावार्थ—प्राणों की गति सुषुम्णा आदि नाड़ियों में होने पर अन्तःप्रेरणा सुनाई पड़ती है, परन्तु इसे कोई-कोई ही सुनता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्राण-परिचरण

प्र या॑त॒ शीभ॑माशुभिः॒ सन्ति॒ कण्वे॑षु वो॒ दुवः॑ । तत्रो॒ षु मा॑दयाध्वै ॥१४॥

१. हे प्राणो! **आशुभिः**=कार्यों में व्यापृत होनेवाले पुरुषों के साथ **शीभम्**=शीघ्रता से **प्रयात**=आगे चलनेवाले बनो, अर्थात् इन प्राणों की साधना से मनुष्यों की उन्नति होती है परन्तु उन्हीं मनुष्यों की जोकि सदा शीघ्रता से कर्मों में व्यापृत रहते हैं। 'कर्मों में व्यापृत रहना' यह प्राणशक्ति के विकास का चिह्न है। २. हे प्राणो! **कण्वेषु**=मेधावी पुरुषों में **वः**=आपके **दुवः**=परिचरण व उपासन **सन्ति**=हैं अर्थात् मेधावी पुरुष आपकी सदा उपासना करते हैं। प्राणसाधना ही तो उनकी मेधाविता को बढ़ानेवाली होती है। ३. हे मेधावी पुरुषो! **तत्र उ**=वहाँ प्राणों में ही **सुमादयाध्वै**=उत्तम तृप्ति का अनुभव करो। समझदार पुरुष को प्राणसाधना में आनन्द का अनुभव करना चाहिए। यह प्राणसाधना ही सब उन्नतियों का मूल है।

भावार्थ—समझदार पुरुष प्राणों का उपासन करते हैं, प्राणसाधना में ही वे आनन्द पाते हैं।

ऋषिः—काण्व घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

पूर्ण जीवन

अस्ति॒ हि ष्मा॒ मदा॑य वः॒ स्मसि॑ ष्मा व॒यमे॑षाम् । विश्वं॒ चिदायु॑र्जी॒वसे॑ ॥१५॥

१. हे प्राणो! **वः**=आपके **मदाय**=आनन्द के लिए **हि**=निश्चय से **ष्मा**=नैरन्तर्येण (दया०) **वयम्**=हम **अस्ति**=हैं (अस्ति इति निपातः, न क्रियापदम्) अर्थात् हम प्राणों की साधना करते हुए निरन्तर आनन्द का अनुभव करते हैं। २. वस्तुतः हे प्राणो! **एषाम्**=इन, आपके ही **वयम्**=हम **ष्मा**=नैरन्तर्येण **स्मसि**=हैं अर्थात् हम तो प्राणों के ही उपासक हैं। इन प्राणों की साधना से हमारा अटूट सम्बन्ध हो गया है। इस प्राणसाधना के व्रत से हमारा कभी विच्छेद नहीं होता। ३. यह सब हम इसलिए करते हैं कि **चित्**=निश्चय से **विश्वम् आयुः**=पूर्ण जीवन **जीवसे**=जीने के लिए हम हों। हम सौ

वर्ष के दीर्घ जीवन को तो प्राप्त करें ही, साथ ही शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों के दृष्टिकोण से उन्नत होकर हम पूर्ण जीवन जीनेवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना में ही आनन्द लेना चाहिए। यह प्राणसाधना हमारे पूर्ण जीवन का कारण होगी।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि ये प्राण हमें एक क्रीड़क की मनोवृत्ति-वाला बनाते हैं (१)। इनकी साधना से हम आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं (२)। यह साधना वेदवाणी को हमारे जीवन में अनूदित करेगी (३)। हम शत्रुओं का धर्षण करनेवाले, दीप्त ज्ञानवाले व शत्रुशोषक वलवाले होंगे (४)। इन प्राणों की शक्ति-वृद्धि के लिए हमें चबाकर खाना चाहिए (५)। यह प्राणसाधना मस्तिष्क व शरीर दोनों का शोधन करती है (६)। इससे हमें मन के नियमन में सहायता मिलती है (७)। प्राणों के हिलते ही सब हिल जाता है (८)। इनकी साधना से ही सब शक्तियों का स्थिर विकास होता है (९)। ये अन्तःवाणी को प्रेरित करते हैं (१०)। कामरूप मेघ का प्रच्यावन करते हैं (११)। इनका वल ही हमें कर्मों में प्रेरित रखता है (१२)। इनकी गति के ठीक होने पर अन्तर्वाणी सुनाई पड़ती है (१३), अतः बुद्धिमान् प्राणों का उपासन करते हैं (१४) और पूर्ण जीवन को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं (१५)। ये मरुत् अपने साधकों का इस प्रकार धारण करते हैं जैसे पिता पुत्र का—

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पिता के समान

कद्ध नूनं कधप्रियः पिता पुत्रं न हस्तयोः। दधिध्वे वृक्तबर्हिषः ॥१॥

१. प्राणसाधना में लगा हुआ पुरुष प्राणों की ही पुरुषविधता [Personification] करके प्राणों से पूछता है कि—हे प्राणो! **कत् ह नूनम्**=कब ही निश्चय से आप मुझे उसी प्रकार **दधिध्वे**=धारण करोगे **न**=जैसे कि **पिता**=पिता **पुत्रम्**=पुत्र को **हस्तयोः**=हाथों में धारण करता है। वस्तुतः प्राण हमारे लिए पिता के समान हैं। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है वैसे ही प्राण हमारा रक्षण करते हैं। २. ये प्राण कैसे हैं? (क) **कधप्रियः**=(कथाप्रियः) स्तुतियों से प्रभु को प्रीणित करनेवाले हैं अर्थात् इन प्राणों से प्रभुस्तवन चलता है। प्रभुस्तवन करनेवाली इन्द्रियाँ तो असुरों से पराजित हो गईं थीं, परन्तु प्रभुपूजन करनेवाले प्राणों से टकराकर असुर चकनाचूर हो गये थे। यह प्राणों द्वारा होनेवाला प्रभुपूजन ही 'हंसः व सोऽहम्' का जप कहलाता है। ३. **वृक्तबर्हिषः**=इन प्राणों ने हृदयान्तरिक्ष को वासनाओं से वर्जित कर दिया है। प्राणसाधना से वासनाओं का विनाश हो जाता है और हृदय निर्मल हो जाता है, इसलिए हृदय में ही प्रभु-दर्शन सम्भव होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर प्रभुस्तवन चलता है और हृदय पवित्र हो जाता है। इस प्रकार ये प्राण हमारा उसी प्रकार धारण करते हैं जैसेकि पिता पुत्र का।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

न्यूनता कहाँ?

क्व नूनं कद्वो अर्थं गन्ता दिवो न पृथिव्याः। क्व वो गावो न रण्यन्ति ॥२॥

१. **नु**=अब अर्थात् प्राणसाधना होने पर **ऊनं क्व**=कमी कहाँ है? प्राणसाधना होने पर

सब न्यूनताएँ दूर हो जाती हैं। २. **कत्**=कदा **वः**=तुम्हारा अर्थात् तुम्हारी साधना करनेवाला यह प्राणसाधक **दिवः अर्थं न**=द्युलोक के अर्थ की भाँति **पृथिव्याः**=पृथिवी की **अर्थम्**=प्रातव्य वस्तु को भी **गन्त**=प्राप्त होगा, अर्थात् कब वह मस्तिष्करूप द्युलोक की उज्ज्वलता को तथा शरीररूप पृथिवी की दृढ़ता को सिद्ध कर पाएगा? ३. **क्व**=कहाँ व किस समय **वः**=आपकी ये **गावः**=ज्ञानेन्द्रियाँ **न रण्यन्ति**=शब्द नहीं करतीं अर्थात् प्राणसाधना होने पर ये ज्ञानेन्द्रियाँ सदा ज्ञानग्रहण करती हुई प्रभु का गुणगान करती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना सब कमियों को दूर करती है। शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाती है। इस प्राणसाधना से सब ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कर्म उत्तमता से करती हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—पादनिचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुम्न-सुवित-सौभग

क्व॑ वः सु॒म्ना नव्याँ॑सि मरु॑तः॒ क्व॑ सु॒वि॒ता। क्वो॒३॑ विश्वा॑नि॒ सौभ॑गा ॥३॥

१. हे प्राणो! **वः**=आपके अर्थात् आपकी साधना से प्राप्त होनेवाले **नव्यांसि**=नवतम अर्थात् नवीन व स्तुत्य **सुम्ना**=प्रजा व पशुरूप धन तथा **स्तोत्र**=प्रभुस्तवन **क्व**=कहाँ है? आपकी कृपा से कब मैं उत्तम प्रजा व पशुरूप धनों को अथवा प्रभु के स्तोत्रों को प्राप्त करूँगा? हे **मरुतः**=प्राणो! **क्व**= कहाँ हैं **सुविता**=उत्तम गमन, अर्थात् कब आपकी कृपा से मैं दुरितों से दूर होकर सुवितो (सदाचारों) को प्राप्त करूँगा? ३. **क्व उ**=और कहाँ हैं **विश्वानि सौभगा**=सब सौभाग्य, अर्थात् कब आपकी कृपा से मैं सौभाग्य को प्राप्त करूँगा? कब मेरा जीवन आपकी कृपा से ऐश्वर्य, धर्म, श्री, यश तथा ज्ञान और वैराग्यरूप 'भग' से युक्त होगा?

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुम्न, सुवित व सौभग' की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अमृतता

यद्यू॒यं पृ॑श्निमातरो॒ मर्ता॑सः॒ स्यात॑न। स्तो॒ता वो॑ अ॒मृतः॑ स्यात् ॥४॥

१. 'पृश्नि' शब्द का अर्थ है 'प्रकाश की किरण'। वस्तुतः इन सूर्यकिरणों से ही सारी प्राणशक्ति उत्पन्न होती है। इसलिए यहाँ प्राणों को 'पृश्निमातरः' कहा है; सूर्यकिरणें हैं निर्माण करनेवाली जिनका। **यत्**=यद्यपि हे **पृश्निमातरः**=सूर्य से उत्पन्न प्राणो! **यूयम्**=तुम **मर्तासः**=मरणधर्मा **स्यातन**= हो तो भी **वः स्तोता**=तुम्हारा स्तवन करनेवाला **अमृतः स्यात्**=अमृत होता है। प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति रोगों का शिकार नहीं होता। २. सूर्यकिरणों से पैदा की गई प्राणशक्ति अस्थिर व नश्वर तो है ही, इसी से इन प्राणों को 'मर्त' कहा है; परन्तु प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति रोगों से बचा रहता है और इस प्रकार अ-मृत होता है।

भावार्थ—प्राणशक्ति सूर्यकिरणों से उत्पन्न होती है और अपने साधकों को रोगों का शिकार नहीं होने देती।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

कर्तव्य-परायणता

मा वो॑ मृ॒गो न यव॑से जरि॒ता भू॒दजो॑ष्यः। प॒था य॒मस्य॑ गा॒दुप॑ ॥५॥

१. हे प्राणो ! **वः जरिता**=आपका स्तवन करनेवाला अर्थात् प्राणों की साधना करनेवाला **अजोष्यः**=अपने कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन न करनेवाला **मा भूत्**=मत हो। प्राणसाधक पुरुष अपने कर्तव्य कर्मों को इस प्रकार प्रीतिपूर्वक करे **न**=जैसे **मृगः**=एक हरिण **यवसे**=चरी खाने के लिए प्रीतिपूर्वक प्रवृत्त होता है। एवं प्राणसाधना का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण लाभ है कि मनुष्य कर्तव्य-मार्ग का आक्रमण अत्यन्त प्रीतिपूर्वक करता है। २. यह प्राणों का स्तोता **यमस्य पथा**=यम के मार्ग से **मा उपगात्**=न जाए अर्थात् यह असमय में मृत्यु को प्राप्त न हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के दो लाभ हैं—१. कर्त्तव्य कर्मों में प्रीतिपूर्वक लगे रहना, २. असमय में रोगों से मृत्यु का शिकार न हो जाना।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

निर्ऋति व तृष्णा से दूर

मो षु णः परापरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत्। पदीष्ट तृष्णया सह ॥६॥

१. **नः**=हमें **परापरा**=‘परा’ उत्कृष्ट अर्थात् अतिप्रबल और ‘अपरा’ निकृष्ट अर्थात् अति कष्टदायिनी **दुर्हणा**=बुरी भाँति हनन करनेवाली **निर्ऋतिः**=दुराचरण (निर्=दुर्, ऋ=आचरण) **मा**=मत ही **सुवधीत्**=पूर्णरूप से नष्ट करनेवाला हो अर्थात् हम किसी भी असद् आचरण के शिकार न हो जाएँ। यह असदाचरण अति प्रबल व कष्टदायी होता है। इसका अन्त करना भी सुगम नहीं। २. यह निर्ऋति **तृष्णया सह**=धन के लोभ के साथ **पदीष्ट**=हमसे दूर हो जाए। यह निर्ऋति धन की तृष्णा से निरन्तर बढ़ती है। धन के लोभ के कारण मनुष्य कितनी ही न करने योग्य बातों को करनेवाला हो जाता है। यह तृष्णा भी नष्ट हो और निर्ऋति भी नष्ट हो।

भावार्थ—हमारी प्राणसाधना हमें ‘निर्ऋति व तृष्णा’ से बचानेवाली हो। यह निर्ऋति ‘दुर्हणा’ है। मनु के शब्दों में ये व्यसन दुरन्त हैं, इनका परिणाम अच्छा नहीं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अवाता वृष्टि

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः। मिहं कृण्वन्त्यवाताम् ॥७॥

१. प्राण **सत्यम्**=सचमुच **त्वेषाः**=दीप्तिवाले होते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर हमें ज्ञान से दीप्त बनाती है। २. ये प्राण **अमवन्तः**=बलवाले हैं। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर शरीर में शक्ति स्थिर रहती है। ३. **धन्वन् चित्**=(प्रणवो धनुः) प्रणवरूप धनुष के होने पर ये प्राण **रुद्रियासः**=वासनाओं को रुलानेवाले हैं, अर्थात् प्राणसाधना होने पर प्रभु की ओर तो झुकाव होता ही है, उस प्रभु का नाम ‘ओम्’ हमारा धनुष बनता है और इस धनुष से हम कामादि वासनाओं का विनाश करनेवाले बनते हैं। ४. ये प्राण **‘प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः’**—इन शब्दों के अनुसार गतिरोध होने पर **अवाताम्**=बिना वायुवाली **मिहं कृण्वन्ति**=वर्षा करते हैं। प्राणनिरोध होने पर अन्तःकरण में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। यही ‘अवाता वृष्टि’ है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ‘ज्ञानदीप्ति, बल, आनन्द की वृष्टि’ प्राप्त होती है। ओम् को धनुष बनाकर हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश कर पाते हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

वत्सं न माता

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति । यदेषां वृष्टिरसर्जि ॥८॥

१. **यत्**=जब **एषाम्**=इन प्राणों की **वृष्टिः**=गतमन्त्र में वर्णित आनन्द की वर्षा **असर्जि**=उत्पन्न की जाती है अर्थात् प्राणनिरोध होने पर जब हृदय-देश में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है तो **विद्युत्**=अन्तःस्थित प्रभु की विशिष्ट दीप्ति **वाश्रा इव**=शब्द करती हुई गौ के समान **मिमाति**=शब्द करती है अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा हमें सुन पड़ती है, २. **न**=जैसे **माता वत्सम्**=गौ बछड़े को, उसी प्रकार माता **'स्तुता मया वरदा वेदमाता'**—इस मन्त्र में वर्णित यह वेदरूप माता **वत्सम्**=अपने प्रिय इस प्राणसाधक को **सिषक्ति**=सेवन करती है- प्राप्त होती है ।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हृदय में आनन्द की वर्षा होती है, (ख) अन्तःस्थित प्रभु का प्रकाश व प्रेरणा प्राप्त होती है, (ग) वेदमाता इस प्राणसाधक का सेवन करती है, इसे प्राप्त होती है ।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

दिन में ही रात

दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन । यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति ॥९॥

१. प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है । ये वीर्यकण सारे शरीर में व्याप्त होते हैं, यही इनका इस शरीररूप पृथिवी को सिक्त करना है । **यत्**=जब **पृथिवीं व्युन्दन्ति**=ये रेतःकण शरीररूप पृथिवी को सिक्त करते हैं तो **उदवाहेन**=ज्ञानजल का वहन करनेवाले **पर्जन्येन**=परा तृप्ति को उत्पन्न करनेवाले प्रभु से ये प्राण **दिवा चित्**=दिन में भी **तमः कृण्वन्ति**=अन्धकार कर देते हैं, अर्थात् प्राणसाधना से (क) सबसे प्रथम वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर इन रेतःकणों का शरीर में व्यापन होता है (पृथिवीं व्युन्दन्ति) । (ख) बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और प्रभु-दर्शन होता है । (ग) इस अद्भुत तृप्ति देनेवाले प्रभु का दर्शन होने पर ये संसार के विषय व्यर्थ लगने लगते हैं । जिन वस्तुओं में सामान्य लोग आनन्द का अनुभव करते हैं, वहाँ इन प्रभु-द्रष्टाओं को कोई आनन्द प्रतीत नहीं होता । यही दिन में भी रात्रि का हो जाना है । गीता के शब्दों में **'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'** पश्यन् मुनि के लिए वहाँ रात-ही-रात है जहाँ सामान्य लोग बड़े जागरित होते हैं ।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, प्रभु-दर्शन होता है और विषयों की चौंध आँखों को चुँधियाती नहीं ।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

दीप्ति ही दीप्ति

अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम् । अरेजन्त प्र मानुषाः ॥१०॥

१. **अध**=गत मन्त्र के अनुसार इन भौतिक वस्तुओं की चमक के न रहने पर अब **मरुताम्**=इन प्राणों के **स्वनात्**=शब्द से अर्थात् प्राणसाधना होने पर, चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के द्वारा प्रभु की अन्तःप्रेरणा सुनाई पड़ती है । इस अन्तःप्रेरणा के शब्द से **विश्वम्**=यह सारा **पार्थिवं सद्म**=पार्थिव घर अर्थात् शरीर अरेजत=सर्वथा चमक उठता है और इस प्रकार **मानुषाः**=ये विचारशील मनुष्य **प्र**

अरेजन्त=(एजृ to shine) खूब ही चमकने लगते हैं। २. प्राणसाधना से अन्तःप्रेरणा सुनाई पड़ती है। इस प्रेरणा के सुनाई पड़ने पर हमारा सारा शरीर निर्मल हो जाता है और मनुष्य चमक उठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें निर्मल और दीप्त बना देती है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अद्भुत नदियों में प्राणप्रवाह

मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु। यातेमखिद्रयामभिः ॥११॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वीळुपाणिभिः**=दृढ़ हाथों से अथवा दृढ़ रक्षणों से युक्त हुए-हुए आप **अखिद्रयामभिः**=अदीन गतियों से अर्थात् न क्षीण हुई-हुई गतियों से **चित्राः**=अद्भुत अथवा ज्ञान का प्रकाश करनेवाली **रोधस्वतीः अनु**=नदियों व नाड़ियों का लक्ष्य करके **यात ईम्**=गतिवाले होओ ही। २. प्राणसाधना में जब इन प्राणों की गति 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा' नामक नाड़ियों में ठीक से होने लगती है तो जहाँ शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ होते हैं, वहाँ कुण्डलिनी शक्ति का प्रबोधन होकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। प्राणसाधना से प्राणों की गति में क्षीणता नहीं आती और शरीर की शक्ति सुस्थिर रहती है। ३. शरीर में ये नाड़ियाँ ही नदियाँ हैं। 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा' ही गङ्गा, यमुना व सरस्वती हैं। इनमें प्राणों की गति होने पर क्रियाशीलता, संयम व ज्ञान प्राप्त होता है। 'गङ्गा' क्रियाशीलता की प्रतीक है, 'यमुना' आत्म-संयम की तथा 'सरस्वती' ज्ञान की।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर सुदृढ़ होता है और हृदय प्रभु की ज्योति से दीप्त।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रथ का सौन्दर्य

स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्। सुसंस्कृता अभीशवः ॥१२॥

१. हे प्राणसाधको! **वः**=तुम्हारे **नेमयः**=रथचक्रों की परिधियाँ **स्थिराः सन्तु**=स्थिर हों। शरीर ही रथ है। इस शरीर-रथ के कर्म ही चक्र हैं। उन कर्मों की मर्यादाएँ ही इन चक्रों की नेमियाँ हैं। ये मर्यादाएँ स्थिर हों अर्थात् तुम्हारे सब कर्म मर्यादित हों। २. **एषाम्**=इन प्राणसाधकों के **रथाः**=रथ स्थिर हों अर्थात् शरीर सुदृढ़ हों, शरीर पर किसी प्रकार की व्याधि का आक्रमण न हो पाये। ३. **अश्वासः**=इनके अश्व भी स्थिर हों। इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। ये इन्द्रियाँ क्षीण शक्तिवाली न हों। ४. **अभीशवः**=लगामें भी **सुसंस्कृताः**=उत्तम रूप से परिष्कृत हों। मन ही लगाम है। 'चित्तवृत्तियों' के बहुत होने से यहाँ 'अभीशवः' शब्द बहुवचन में है। प्राणसाधकों की चित्तवृत्तियाँ बड़ी परिष्कृत होती हैं। वस्तुतः प्राणसाधना का सर्वप्रथम लाभ इन चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा चित्त पर ही पड़ता है। चित्त का परिष्कार ही प्राणसाधना का सर्वोत्तम लाभ है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीररूप रथ को, इन्द्रियाश्वों को, मनरूप लगाम को, कर्मरूप चक्र-परिधियों को सुन्दर बनाती है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु का स्तवन

अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम्। अग्निं मित्रं न दर्शतम् ॥१३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर **जरायै**=(जरा स्तुतिः, नि० १०१८)

स्तुति के लिए **तना**=ज्ञान का विस्तार करनेवाली **गिरा**=वाणी के द्वारा **ब्रह्मणस्पतिम्**=सम्पूर्ण ज्ञानों के पति **अग्निम्**=उन्नति के प्रापक **मित्रं न**=मित्र के समान **दर्शतम्**=दर्शनीय उस प्रभु को **अच्छा**=लक्ष्य करके **वद**=मन्त्रात्मक वाणियों का उच्चारण कर। २. जीवन में प्रभु का स्तवन हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। प्रभु-स्तवन से हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होती है। हमें इस प्रभु की भाँति ही 'ज्ञान का पति, आगे-ही-आगे बढ़नेवाला, सबके प्रति स्नेहवाला व दर्शनीयाकृति' बनना है। ३. वेद-वाणियों के द्वारा हम प्रभु का स्तवन करें। ये वेदवाणियाँ हमारे ज्ञानों का विस्तार करनेवाली हैं (तना)।

भावार्थ—स्वस्थ शरीर में हम वेदवाणियों से प्रभु का स्तवन करें और जीवनमार्ग का निश्चय करें।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—यवमध्या विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वेदवाणी का स्मरण व गान

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः। गाय गायत्रमुक्थ्यम् ॥१४॥

१. **श्लोकम्**=प्रभु का यशोगान करनेवाली इन वेदवाणियों को (श्लोकः—यशसि पद्ये च) **आस्ये मिमीहि**=मुख में निर्मित कर ले अर्थात् उन्हें कण्ठस्थ कर ले। २. **पर्जन्यः इव ततनः**=मेघ के समान (गर्जना करते हुए-दूर-दूर तक गम्भीर स्वर से) इसे फैला। ३. **गायत्रम्**=गायत्री छन्द में कहे गये अथवा गान करनेवाले का त्राण करनेवाले **उक्थ्यम्**=स्तुतियुक्त वेदवचनों को **गाय**=तू स्वयं गा। ४. कण्ठस्थ करके इन वचनों के विस्तार व गायन का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि हमारे सामने जीवन का लक्ष्य सदा उपस्थित रहता है। यह लक्ष्य-दृष्टि हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाती है। यही इन गायत्री छन्द के मन्त्रों का 'गायत्र-पन' है।

भावार्थ—हम वेदवाणी को कण्ठस्थ करें, उसका विस्तार व गायन करें।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्राण-वन्दना

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम्। अस्मे वृद्धा असन्निह ॥१५॥

१. हे साधक! तू **मारुतं गणम्**=इन प्राणों के गण की **वन्दस्व**=स्तुति कर। इनकी महिमा को तू वेदमन्त्रों द्वारा उच्चारित कर ताकि इनकी साधना की ओर तेरी प्रवृत्ति हो। २. यह मारुतगण कैसा है? (क) **त्वेषम्**=दीप्तिवाला है। प्राणसाधना जहाँ बुद्धि को सूक्ष्म बनाती है वहाँ शरीर को भी तेजोमय बनाकर हमें चमका देती है और तीव्र बुद्धि से ज्ञान का प्रकाश भी दीप्त होता है। (ख) **पनस्युम्**=(स्तुतियोग्यम्) यह प्राणसमूह स्तुति के साथ हमारा योग करता है, हमें प्रभु-स्तवन की ओर प्रवण करता है तथा साथ ही हमें संसार के व्यवहार में भी उत्तम बनाता है (पन व्यवहारे स्तुतौ च)। (ग) **अर्किणम्**=(अर्को मन्त्रः) यह मन्त्रोंवाला है। प्राणसाधना से बुद्धि की सूक्ष्मता होकर हमें वेदमन्त्रों का दर्शन होता है, एवं वेदार्थ के दर्शन के लिए भी यह प्राणसाधना नितान्त आवश्यक है। ३. इसलिए हम यही चाहते हैं कि **इह**=इस मानव-जीवन में ये प्राण **अस्मे**=हमारे लिए **वृद्धाः**=खूब बढ़े हुए **असन्**=हों। इन प्राणों की उन्नति पर अन्य सब उन्नतियाँ निर्भर करती हैं।

भावार्थ—हमें प्राणों का स्तवन व आराधन करके 'ज्ञानदीप्त, स्तुतिकर्ता व मन्त्रोंवाला' बनना है, अर्थात् मन्त्रार्थ साक्षात् करना है।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्राण हमारा धारण उसी प्रकार करते हैं जैसे पिता पुत्र का (१)। प्राणसाधना होने पर न्यूनता नहीं रहती (२)। इस साधना से 'सुम्न-सुवित-सौभग' का लाभ होता है (३)। प्राणों का स्तोता 'अमृत' बन जाता है (४)। वह कर्तव्यपरायण होता है (५)। 'निर्ऋति व तृष्णा से दूर होना' भी प्राणसाधना का ही परिणाम है (६)। प्राण का निरोध होने पर अद्भुत आनन्द की वृष्टि होती है (७)। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द के सामने पार्थिव भोग तुच्छ हो जाते हैं (९)। ये हमारे प्राण इडादि नाड़ियों में विचरण करके हमें अद्भुत ज्ञानज्योति देते हैं। शरीररूप रथ सुन्दर बन जाता है (१२)। हम प्रभुस्तवन करते हुए वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ करें व गायें (१३-१४)। हम 'त्वेष, पनस्यु व अर्की' बनने के लिए इस प्राणगण की वन्दना करें (१५)। इन्हीं मरुतों=रणभूमि में मरनेवालों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्रभु-स्मरणपूर्वक संग्राम

प्र यदि॒त्था प॑रा॒वतः॑ शो॒चिर्न मान॒मस्य॑थ।
कस्य॒ क्रत्वा॑ मरुतः॒ कस्य॒ वर्प॑सा॒ कं या॑थ॒ कं ह॑ धूतयः ॥१॥

१. प्रस्तुत सूक्त भी मरुतों का है। इस सूक्त में मुख्यरूप से देश की शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा करनेवाले उन मरुतों का उल्लेख है जोकि रणाङ्गण में ही 'म्रियन्ते' मर जाएँ परन्तु कायरता से भाग नहीं खड़े हों। इनको कहते हैं—हे **मरुतः**=सैनिको! **यत्**=जब **इत्था**=सचमुच **परावतः**=दूर देश से **शोचिः न**=सूर्यकिरणों की भाँति **मानम्**=मननीय, विचारपूर्वक बनाये गये शस्त्रास्त्रसमूह को **प्र+अस्यथ**=प्रकर्षेण शत्रुसैन्य पर फेंकते हो तो वस्तुतः **कस्य क्रत्वा**=उस आनन्दमय प्रभु के संकल्प कर्म व प्रज्ञान के साथ **कस्य वर्पसा**=उस आनन्दमय प्रभु के बल के साथ ही तुम ऐसा कर पाते हो, अर्थात् प्रभु का स्मरण होने पर तथा प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होने पर ही निर्भीकता से ये वीर देशरक्षा के लिए संग्राम कर पाते हैं। २. यहाँ युद्ध में प्रभुस्मरण का यह भी महान् लाभ है कि हम अन्याय्य युद्धों में प्रवृत्त न होंगे। यहाँ 'शोचिः न' सूर्य की किरणों के समान, यह उपमा भी ध्यान देने योग्य है। सूर्यकिरणें बुराई व दुर्गन्ध को समाप्त करती हैं, इसी प्रकार इन मरुतों ने भी अवाञ्छनीय तत्त्वों को ही समाप्त करना है। शस्त्रों को यहाँ 'मानम्'='मननीय—विचारपूर्वक बनाये गये'—ऐसा कहा है। वस्तुतः जब अस्त्रों का निर्माण अन्धाधुन्ध होने लगता है तो वे भय की—शान्ति के स्थान में भय की वृद्धि का कारण बन जाते हैं। ३. ये विचारपूर्वक बनाये गये अस्त्रों को फेंकनेवाले सैनिक युद्ध में मृत्यु होने पर **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **याथ**=प्राप्त होते हैं और **ह**=निश्चय से **कम्**=उस प्रभु को ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि **धूतयः**=ये शत्रुओं को कम्पित करनेवाले हैं और अपने मलों को भी कम्पित कर दूर करनेवाले हैं। ये वीर अवश्य उस प्रभु को पाते हैं।

भावार्थ—देश की रक्षा के लिए वीर सैनिक विचारपूर्वक अस्त्रों का प्रयोग करते हैं। प्रभु की

भावना को हृदय में लेकर प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ये शत्रुओं को कम्पित करते हैं और प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

पराणुदे-प्रतिष्कभे (धकेलना-रोकना)

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥२॥

१. **वः**=तुम्हारे **आयुधा**=अस्त्रशस्त्र—युद्ध के उपकरण **स्थिरा**=दृढ़ **सन्तु**=हों। ये अस्त्र **पराणुदे**=शत्रुओं को परे धकेलने **उत**=और **प्रतिष्कभे**=शत्रुओं के आक्रमण को रोकने के लिए **वीळू**=अत्यन्त दृढ़ हों। एवं हम अपने दृढ़ और स्थिर अस्त्रों के द्वारा शत्रुओं को परे धकेल सकें और उनके आक्रमण को रोक सकें। संक्षेप में, हम सदा रक्षणात्मक युद्ध ही करनेवाले हों। २. **युष्माकम्**=रक्षात्मक युद्ध करनेवाले तुम लोगों की **तविषी**=प्रशस्त विद्या व बल से वृद्धि को प्राप्त सेना **पनीयसी**=स्तुति के योग्य **अस्तु**=हो, अर्थात् उत्तमता से युद्ध करनेवाली हो। ३. **मायिनः**=छल-कपट से युक्त **मर्त्यस्य**=व्यक्ति की सेना **मा**=स्तुत्य न हो। वस्तुतः जो राजा अपने सैनिकों और प्रजावर्ग के साथ निश्छल व्यवहार रखता है, वही उनको अपना पाता है और उसी की सेना प्राणपण से युद्ध करती हुई शत्रुओं को सदा जीता करती है।

भावार्थ—प्रजा के साथ निष्कपट व्यवहार करनेवाले राजा की सेना शत्रुओं को जीतनेवाली व दृढ़ अस्त्रोंवाली होती है। यह सदा शत्रुओं को परे धकेलती है और उनके आक्रमणों को रोकती है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

वनच्छेद व पर्वत-विदारण

परा ह यत्स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ॥३॥

१. **नरः**=आगे और आगे बढ़नेवाले **मरुतः**=वीर सैनिको! तुम **यत् ह स्थिरम्**=जो निश्चय से बड़ी-बड़ी स्थिर वस्तु भी मार्ग में विघ्नरूप से होती है उसको **पराहथ**=तोड़-फोड़कर दूर फेंक देते हो। **गुरु**=गुरुत्व व भार से युक्त विघ्नभूत चट्टानों को भी **वर्तयथ**=उलट देते हो। २. **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वनिनः**=बड़े-बड़े वनों का निर्माण करनेवाले घने वृक्षों को **वियाथन**=(वियुज्य गच्छथ) अलग-अलग करके, मध्य में मार्ग बनाकर, आगे बढ़ते हो अर्थात् घने वनों में भी आवश्यक वृक्षों के छेदन से प्रौढ़ मार्ग का निर्माण कर लेते हो। ३. घने वृक्षों से ही नहीं **पर्वतानाम्**=पर्वतों की **आशाः**=पार्श्व दिशाओं को भी **वि (याथन)**=अलग करके आगे बढ़ते हो अर्थात् पर्वत-पार्श्वों को भी काटकर सेना के लिए मार्ग बना लेते हो।

भावार्थ—वीर सैनिक बड़े-बड़े टीलों, वनों व पर्वतों को भी विदीर्ण करके आगे बढ़ते हैं। ये बाधाएँ उन्हें आगे बढ़ने से रोक नहीं पातीं।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

सैनिकों में ऐकमत्य

नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि न भूम्यां रिशादसः ।
युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू चिदाधृषे ॥४॥

१. हे **रिशादसः**=हिंसक शत्रुओं को खा जानेवाले सैनिको ! **वः**=तुम्हारा **शत्रुः**=शातन व विनाश करनेवाला **नहि अधि द्यवि**=न तो द्युलोक में और **न भूम्याम्**=न ही इस पृथिवी पर **विविदे**=विद्यमान है अर्थात् तुम्हारा मुक़ाबिला न देव कर सकते हैं, न मनुष्य । आँधी, बाढ़ व आग आदि के रूप में ये वायु, जल व अग्नि आदि देव तुम्हें आगे बढ़ने से रोक नहीं सकते, मनुष्य की तो शक्ति ही क्या है कि वे तुम्हें रोक पाएँ व तुम्हारा विनाश कर पाएँ । २. हे **रुद्रासः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु-नाम स्मरण करते हुए व गर्जना करते हुए शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सैनिको ! **युष्माकम्**=तुम्हारे **युजा**=(योगेन, परस्परैकभावेन) मेल व परस्पर अविरोध के कारण **तविषी**=यह सेना **नु चित्**=(क्षिप्रमेव) शीघ्र ही **आधृषे**=शत्रुओं के धर्षण के लिए **तना**=विस्तृत शक्तिवाली **अस्तु** हो अर्थात् सैनिकों के परस्पर ऐकमत्य व एक विचार के कारण सेना की शक्ति इतनी प्रबल हो कि वह शत्रुओं का पूर्ण धर्षण करने में समर्थ हो ।

भावार्थ—सैनिकों का ऐकमत्य सेना को प्रबल बनाता है और वह सेना सदा शत्रुओं का धर्षण करनेवाली होती है ।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—पथ्याबृहती । स्वरः—मध्यमः ।

प्रजा का पूर्ण जीवन

प्र वेपयन्ति पर्वतान्वि विञ्चन्ति वनस्पतीन् ।
प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा ॥५॥

१. **मरुतः**=युद्धभूमि में ही मरनेवाले, कभी पीठ नहीं दिखानेवाले सैनिक **दुर्मदाः इव**=प्रबल मदवाले हाथियों की भाँति **पर्वतान्**=पर्वतों को भी **प्रवेपयन्ति**=कँपा देते हैं, **वनस्पतीन्**=बड़े-बड़े वृक्षों को **विविञ्चन्ति**=बीच के वृक्षों को काटकर परस्पर वियुक्त—अलग-अलग कर देते हैं । २. ये सैनिक **प्र उ आरत**=निश्चय से आगे बढ़ते हैं । **देवासः**=ये शत्रुओं को जीतने की कामनावाले होते हैं (दिव् विजिगीषा) । इस प्रकार ये मरुत् **सर्वया विशा**=पूर्ण प्रजा के साथ होते हैं अर्थात् प्रजा के जीवन में सर्वतोमुखी उन्नति के वातावरण को उत्पन्न करते हैं । युद्ध के समय अथवा पराधीनता की स्थिति में उन्नति सम्भव नहीं होती । उन्नति के लिए अपराधीनता व स्वतन्त्रता आवश्यक है । इस स्वतन्त्रता को स्थिर रखना इन 'दुर्मद मरुतों' वीर सैनिकों का ही काम है ।

भावार्थ—वीर सैनिक पर्वतों व वनस्पतियों को कम्पित करते हुए आगे बढ़ते हैं और शत्रुओं पर विजय की कामना करते हैं ताकि स्वतन्त्र प्रजाओं को उन्नत होने का अवसर प्राप्त होता रहे ।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

'रोहित व प्रष्टि' राजा

उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः ।
आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः ॥६॥

१. हे मरुतो ! आप **रथेषु**=अपने रथों में **पृषती:**=भय का सेचन करनेवाली (पृष् to sprinkle) घोड़ियों को **उ**=निश्चय से **उप, अयुग्ध्वम्**=समीपता से जोतिए। रथों में जुड़ी ये घोड़ियाँ भी (पृष् to injure) शत्रुओं की हिंसा करनेवाली हों। २. आपमें **रोहितः**=अपनी शक्तियों को उन्नत करके राष्ट्र का वर्धन करनेवाला **प्रष्टिः**=आचार्य-चरणों में बैठकर विविध जिज्ञासाओं को करनेवाला ज्ञानी राजा **वहति**=राष्ट्रभार को अपने कन्धों पर उठाता है। ३. **वः**=आपके **यामाय**=गति के लिए अथवा शत्रु पर आक्रमण के लिए **पृथिवी चित्**=यह सारी पृथिवी ही **अश्रोत्**=सुनती है, अर्थात् जब आप शत्रुओं पर आक्रमण करते हो तो उस आक्रमण के विषय में सारे ही लोग बड़े आश्चर्य व उत्सुकता से सुनते हैं। **मानुषाः**=शत्रुओं के पुरुष **अबीभयन्त**=भय से काँप उठते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के वीर सैनिकों के बल पर ही राजा राष्ट्र का धारण व उत्थान करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—राजा के लिए 'रोहित व प्रष्टि'=उन्नत शक्तियों व ज्ञान की प्यासवाला होना आवश्यक है। सैनिक वीर कार्यों के करनेवाले हों।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराडुपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सुख-समृद्धि (Bliss and prosperity)

आ वो मक्षू तनाय कं रुद्रा अवो वृणीमहे।
गन्ता नूनं नोऽवसा यथा पुरेत्था कण्वाय बिभ्युषे ॥७॥

१. हे **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) गर्जना करते हुए शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले वीरो ! **तनाय**=शक्तियों व समृद्धियों के विस्तार के लिए तथा **कम्**=सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से **मक्षु**=शीघ्र ही **वः**=आपके **अवः**=रक्षण को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। वीर सैनिकों से रक्षित राष्ट्र में ही प्रजाएँ सुखपूर्वक रह सकती हैं और अपनी स्थिति को निर्माण व व्यापार आदि से समृद्ध बना सकती हैं। २. हे वीर सैनिको ! **नूनम्**=निश्चय से **नः**=हमारे **अवसा**=रक्षण के हेतु से **गन्त**=सदा गति करनेवाले होओ। आपकी सब क्रियाएँ (Movements) हमारा रक्षण करनेवाली हों। ३. **यथा पुरा**=जैसे पहले **इत्था**=उसी प्रकार अब भी आप **कण्वाय**=उन मेधावी पुरुषों के लिए जोकि कण-कण करके ज्ञान व धन का सञ्चय करने में लगे हैं परन्तु **बिभ्युषे**=शत्रुओं के भय से पीड़ित हैं—रक्षा के लिए प्राप्त होइए। राष्ट्र की रक्षा करनेवाले क्षत्रियों का यह मूल कर्तव्य है कि वे राष्ट्र में धन व विद्या के संग्रह में प्रवृत्त लोगों का रक्षण करें और उन्हें शत्रुओं के आक्रमण का भय न होने दें।

भावार्थ—रुद्र राष्ट्र की रक्षा करें, ताकि कण्व अर्थात् मेधावी पुरुष निर्भीक होकर उन्नति-पथ पर आगे बढ़ सकें।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सैनिक शासन व राज-परिवर्तन

युष्मेषितो मरुतो मर्त्येषित आ यो नो अभ्व ईषते।
वि तं युयोत शवसा व्योजसा वि युष्माकाभिरूतिभिः ॥८॥

१. राष्ट्र में ऐसा भी हो सकता है कि कभी कोई उच्छृङ्खल राजा अपने सैनिकों के बल के घमण्ड से प्रजा पर कुछ अत्याचार करने लगे अथवा अपने कुछ खुशामदी पुरुषों से विकृत प्रेरणा प्राप्त

करके प्रजा को अनुचित कर-भार से पीड़ित करे, ऐसा राजा मन्त्र में 'युष्मेषितः तथा मर्त्येषितः' शब्दों से स्मरण किया गया है। 'इषितः' का अर्थ (animated, exited) 'उत्तेजित किया गया' है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **मरुतः**=प्रजा के रक्षण के लिए रणाङ्गण में मृत्यु का आलिंगन करनेवाले वीरो! **युष्मेषितः**=तुम्हारे द्वारा प्रेरित हुआ-हुआ अर्थात् तुम्हारे बल के कारण अत्याचार के लिए उत्तेजित हुआ-हुआ अथवा **मर्त्येषितः**=खुशामदी पुरुषों से भड़काया हुआ **यः**=जो कोई **अभ्वः**=(Mighty) शक्तिशाली प्रजा का शत्रुभूत राजा **नः**=हम प्रजाओं पर **आ ईषते**=सब ओर से आक्रमण करता है **तम्**=उसको **शवसा**=(शवः उदकनाम, नि० १।१२) पानी से **वियुयोत**=पृथक् कर दीजिए, उसे पानी न मिल सके। पानी की प्यास से व्याकुल होकर वह अपनी उद्दण्डता को समाप्त करने के लिए बाधित होगा ही। सायणाचार्य 'शवसा' का अर्थ 'अन्नेन' करते हैं—उसे अन्न न पहुँच सके। राजमहल को इस प्रकार घेर लिया जाए कि वहाँ अन्नादि पहुँचना सम्भव ही न रहे। इस राजा को **ओजसा**=ओज व बल से **वि**=पृथक् करो। इसकी शक्ति को न्यून करने का प्रयत्न करो तथा **युष्माकाभिः, ऊतिभिः**=अपने रक्षणों से **वि**=इसे वंचित कर दो। जब इस प्रजापीड़क राजा को सैनिकों का रक्षण प्राप्त न होगा तो यह अवश्य ही प्रजा के अनुकूल शासन करने के लिए बाधित होगा अथवा गद्दी को छोड़ने के लिए बाधित किया जा सकेगा।

भावार्थ—सैनिकों को चाहिए कि सेना के घमण्ड पर या खुशामदियों के कुमन्त्रण के कारण यदि कोई राजा उच्छृङ्खल होकर प्रजापीड़न में प्रवृत्त हो तो उसे अन्न व जल से वंचित करके, निर्बल करके व सैन्य रक्षणों से वंचित करके ठीक मार्ग पर लाने का यत्न करें।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः।

'ब्रह्म' का रक्षक 'क्षत्र'

असामि हि प्रयज्यवः कण्वं दद प्रचेतसः।
असामिभिर्मरुत आ नं ऊतिभिर्गन्ता वृष्टिं न विद्युतः ॥९॥

१. हे **मरुतः**=वीर सैनिको! आप **हि**=निश्चय से **असामि**=पूर्णरूप से **प्रयज्यवः**=परोपकार नामक यज्ञ को [द०] करनेवाले हैं। ये वीर सैनिक अपने प्राणों की आहुति देकर राष्ट्र की रक्षा करते हैं—इससे बढ़कर परोपकार क्या हो सकता है? २. हे वीर सैनिको! **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट चेतनावाले आप **कण्वं, दद**=मेधावी पुरुष को (धारयत—सा०) धारण करते हैं। समझदार क्षत्रिय राष्ट्र में ब्राह्मण की रक्षा करना अपना मूल कर्तव्य समझता है। ३. हे वीर सैनिको! आप **असामिभिः, ऊतिभिः**=पूर्ण रक्षणों से **नः**=हमें उसी प्रकार **आगन्त**=समन्तात् प्राप्त होओ **नः**=जैसे **वृष्टिम्**=वृष्टि को **विद्युतः**=बिजलियाँ प्राप्त होती हैं। विद्युत् वृष्टि की वृद्धि का कारण होती है, इसी प्रकार वीर सैनिक रक्षण के द्वारा प्रजा की वृद्धि का कारण बनें।

भावार्थ—राष्ट्र में क्षत्र को ब्रह्म का रक्षण करना चाहिए।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ऋषिद्विट् परिमन्यु का निराकरण

असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि धूतयः शर्वः।
ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम् ॥१०॥

१. हे **सुदानवः**=उत्तमता से शत्रुओं का खण्डन करनेवाले (दाप् लवणे) वीरो! अथवा देश-

रक्षण के लिए प्राणों को भी दे डालनेवाले (दा दाने) वीरो! **असामि ओजः**=पूर्ण बल को **बिभृथा**=आप धारण कीजिए। इस पूर्ण बल से ही तो आप शत्रुओं का खण्डन करके देश-रक्षण कर सकेंगे। बल की न्यूनता में आपके लिए अपने कर्तव्य-पालन का सम्भव ही कैसे हो सकता है? हे **धूतयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले वीरो! सचमुच **असामि**=पूर्ण ही **शवः**=(बलनाम, नि० २।९) बल को धारण करो। अधूरा बल राष्ट्र-रक्षण के कार्य में भी अधूरेपन का कारण बनेगा। ३. हे **मरुतः**=वीर सैनिको! **ऋषिद्विषे**=ज्ञानियों के प्रति द्वेष करनेवाले **परिमन्यवे**=समन्तात् क्रोध से भरे पुरुष के प्रति आप **द्विषम्**=(द्वेषणं द्विट्) अपने द्वेष व अप्रीति को इस प्रकार **सृजत्**=उत्पन्न करो **नः**=जैसे **इषुम्**=शत्रु के प्रति बाण को फेंकते हैं। राष्ट्र का अधिक-से-अधिक अहित इन्हीं ज्ञान के विरोधी, क्रोधी पुरुषों से ही हुआ करता है। इनको राष्ट्र से दूर करना ही राजपुरुषों का कर्तव्य है। इनके समाप्त होने पर ही राष्ट्र में ज्ञान व प्रेम की वृद्धि होती है।

भावार्थ—सैनिक पूर्ण वीरतावाले हों, तभी वे राष्ट्र का रक्षण कर सकेंगे और ज्ञानविरोधी, क्रोधी पुरुषों को राष्ट्र से दूर करनेवाले होंगे।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस रूप में हुआ है कि राष्ट्र के वीर सैनिक आवश्यक होने पर, प्रभु-स्मरणपूर्वक संग्राम में जुटते हैं (१)। ये शत्रुओं को परे धकेलने व रोकने के लिए यत्नशील होते हैं (२)। आक्रमण के समय मार्ग में आये हुए वनों का छेदन व पर्वतों का विदारण करते हुए आगे बढ़ते हैं (३)। आपस में ऐकमत्य होने के कारण ये शत्रुओं का धर्षण करते हैं (४)। शत्रुओं को जीतकर प्रजा के जीवन में पूर्णता लाने का अवसर प्राप्त कराते हैं (५)। 'प्रगतिशील, ज्ञानरुचि' व्यक्ति इन सेनाओं का मुखिया व राजा होता है (६)। राष्ट्र-रक्षा के द्वारा ये सैनिक सुख-समृद्धि की वृद्धि का कारण होते हैं (७)। इन्हें कभी-कभी उच्छृङ्खल राजा का भी दमन करना होता है (८)। वस्तुतः 'क्षत्र' 'ब्रह्म' का रक्षक है (९)। ये राष्ट्र से ऋषिद्विट् क्रोधी पुरुषों का निराकरण करते हैं (१०)। इस सुरक्षित राष्ट्र में लोग उन्नति के लिए यत्नशील होते हैं, इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृदुपरिष्टाद् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

आचार्य का आदर्श

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥१॥

१. उन्नति का आरम्भ आचार्य-कुल में आचार्य के समीप पहुँचकर ज्ञान की साधना से होता है, अतः कहते हैं कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् आचार्य! **उत्तिष्ठ**=हमारी उन्नति के लिए आप उठ खड़े होइए अर्थात् उद्यत हो जाइए। **देवयन्तः**=सब प्रकार की वासनाओं को जीतने की कामना से (दिव् विजिगीषा) ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करने की भावना से (दिव् द्युति) **त्वा ईमहे**=आपकी प्रार्थना करते हैं। २. हम यही चाहते हैं कि **सुदानवः**=शोभन ज्ञान के दानवाले (दा दाने) अथवा अज्ञानान्धकार का खण्डन करनेवाले (दाप् लवणे) **मरुतः**=(मितराविणः, निरु० ११।१३) व्यर्थ के शब्द न बोलनेवाले (महद् द्रवन्ति, निरु० ११।१३) खूब क्रियाशील (मरुतो रश्मयः, तां १४।१२।९) ज्ञान-रश्मियों के पुञ्जभूत आचार्य **उपप्रयन्तु**=हमें समीपता से प्राप्त हों। इन आचार्यों के समीप रहकर ही हम देव बन सकेंगे।

३. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता आचार्य ! आप **सचा**=सदा हमारे साथ रहते हुए हमें अपना 'अन्तेवासी' बनाते हुए **प्राशूः**=(प्रकर्षेण शृणाति) ज्ञान के आवरणभूत वृत्र (=वासना) के नाश करनेवाले **भव**=हूजिए। इस वृत्र के विनाश से ही तो आप हमारे ज्ञान के दीप्त करनेवाले होंगे।

भावार्थ—आचार्य (क) ब्रह्मणस्पति=ज्ञान का पति (ख) मरुत्=मितरावी, क्रियाशील (ग) सुदानु=अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला (घ) इन्द्र=जितेन्द्रिय व (ङ) सचा=सदा विद्यार्थी के साथ रहनेवाला (च) और इस प्रकार प्राशू=व्यसनों का, विद्यार्थी के जीवन से, नष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृदुपरिष्टाद् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

शक्ति व पवित्रता से युक्त ज्ञान

त्वामिद्धि संहसस्पुत्र मर्त्यं उपब्रूते धने हिते।
सुवीर्यं मरुत आ स्वश्व्यं दधीत यो व आचके ॥२॥

१. 'सहस्' वह शक्ति है जोकि ज्ञानी पुरुष को ही प्राप्त होती है। यह आनन्दमय कोश की व सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। आचार्य में इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य को क्रोध तो करना ही नहीं, अतः कहते हैं कि—हे **सहसः पुत्र**=सहस् शक्ति के पुतले अर्थात् खूब सहस् शक्तिवाले आचार्य ! यह **मर्त्यः**=मनुष्य अर्थात् शिष्यभाव से आपके समीप आया हुआ व्यक्ति **त्वाम् इत् हि**=आपको ही निश्चय से **हिते धने**=हितकर ज्ञान-धन की प्राप्ति के निमित्त **उपब्रूते**=प्रार्थना करता है, नम्रता से समीप आकर निवेदन करता है। हे **मरुतः**=मितरावी, खूब क्रियाशील, ज्ञान रश्मियों के पुञ्जभूत उपाध्यायो ! **यः**=जो भी शिष्य **वः**=आपकी **आचके**=कामना करता (नि० २।६) है अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के विचार से आपके समीप आने की इच्छा करता है, वह आपकी कृपा से उस ज्ञानधन को **आ-दधीत**=सर्वथा धारण करे जो ज्ञानधन **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्यवाला है अर्थात् उसे शक्ति-सम्पन्न बनानेवाला है तथा **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनाने में समर्थ है अर्थात् आचार्यों व उपाध्यायों के समीप विद्यार्थी उस ज्ञानधन को प्राप्त करनेवाला हो जोकि उत्तम शक्ति व उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों से युक्त है।

भावार्थ—आचार्य को सहस् शक्ति का पुञ्ज होना चाहिए। उपाध्याय उसे वह ज्ञान दें जोकि शक्ति व इन्द्रियों की पवित्रता से युक्त हो अर्थात् विद्यार्थी को वे ज्ञानी, सशक्त व पवित्रेन्द्रिय बनाएँ।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सूनृता वाणी व नर्ययज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥३॥

१. हमें **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का पति आचार्य **प्रैतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। 'प्रकर्षेण प्राप्ति' यही है कि हम उसके अत्यन्त प्रिय हों। २. **देवी**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) दुःखों का परिहाण करनेवाली शुभ और सत्यवाणी **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो अर्थात् हमें यही वाणी रुचिकर हो, अनृत की ओर हमारा झुकाव ही न हो। ३. **देवाः**=विद्वान् आचार्य **नः**=हमारे **वीरम्**=शक्तिसम्पन्न पुत्र को **नर्यम्**=लोकहितकारी **पंक्तिराधसम्**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद'—इन पाँच वर्णों का हित सिद्ध करनेवाले **यज्ञं अच्छ**=यज्ञ की ओर **नयन्तु**—ले-चलें अर्थात् विद्वान् आचार्य की कृपा से हमारे सन्तान वीर तो हों ही, वे सदा लोकहितकारी यज्ञों में भी प्रवृत्त होनेवाले हों, ध्वंसात्मक

कर्मों की ओर उनका झुकाव न हो।

भावार्थ—हमें ज्ञानी आचार्य प्राप्त हों, सूनृत वाणी प्राप्त हो, हमारी वीर सन्तान यज्ञशील हो।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—सतः पङ्क्तिर्निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

दान के सर्वश्रेष्ठ पात्र (आचार्य)

यो वाघते ददाति सूनरं वसु स धत्ते अक्षिति श्रवः।
तस्मा इळां सुवीरामा यजामहे सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥४॥

१. **यः**=जो **वाघते**=ज्ञान की वाणियों का वहन करनेवाले (वोढारः, निरु० ११।१६) ब्रह्मणस्पति आचार्य के लिए **सूनरम्**=(शोभना नराः यस्मात्, द०) जिसके द्वारा मनुष्यों को उत्तम बनाया जाता है उस **वसुः**=धन को **ददाति**=देता है, **सः**=वह मनुष्य **अक्षिति**=न क्षीण होनेवाले **श्रवः**=धन (नि० २।१०) यश (नि० ११।६) तथा अन्न (नि० १०।३) को **धत्ते**=धारण करता है। ज्ञानी आचार्यों को दिया गया धन मनुष्यों के जीवनों को उत्तम बनाने में विनियुक्त होता है, एवं यह दान सर्वोत्तम दान होता है। इस दान के देनेवाले का धन क्षीण न होकर बढ़ता है, इसकी प्रशंसा होती है और इसे कभी भी अन्न की कमी नहीं होती। २. **तस्मा**=इस पुरुष के लिए **इळाम्**=उस ज्ञान की वाणी को **आ यजामहे**=सब प्रकार से संगत करते हैं, जो वाणी **सुवीराम्**=पुरुष को उत्तम वीर बनानेवाली है, **सुप्रतूर्तिम्**=(शोभना प्रतूर्तिः शत्रूणां हिंसनं यस्याः) उत्तमता से शत्रुओं का हिंसन करनेवाली है तथा **अनेहसम्**=(न हन्यते) अहिंस्य है अर्थात् सदा स्वाध्याय के द्वारा रक्षा के योग्य है।

भावार्थ—ज्ञान देकर मनुष्यों का निर्माण करनेवाले आचार्यों के लिए दान देना हमारे अक्षय धन का कारण बनता है।

सूचना—'तस्मा'=का अर्थ **तस्मात्**=उससे किया जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा कि 'उस आचार्य से हम वेदवाणी को अपने साथ सङ्गत करते हैं, जो वेदवाणी......'

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः।

आचार्य का कर्तव्य

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥५॥

१. **नूनम्**=निश्चय से **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का पति आचार्य **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य प्रशंसनीय **मन्त्रम्**=वेद-प्रतिपादित ज्ञान की वाणीरूप मन्त्र को **प्रवदति**=प्रकर्षेण व्यक्त करके कहता है अर्थात् उसकी व्याख्या करता है। २. यह मन्त्ररूप वाणी वह है **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः**=इन्द्र **वरुणः**=वरुण, **मित्रः**=मित्र व **अर्यमा**=अर्यमा आदि **देवाः**=सब देव **ओकांसि**=घरों को **चक्रिरे**=बनाते हैं अर्थात् इन मन्त्रात्मक वाणियों में सभी देवों का तथा देवों के अधिष्ठाता महादेव का उल्लेख है। प्रकृति के तेंतीस देव हैं। इनका अधिष्ठाता चौंतीसवाँ महादेव है। वेद में इन सबका व्याख्यान है। उससे इन देवताओं का स्वरूप जानकर हम इनसे पूरा लाभ उठा पाते हैं। आचार्य का यही कर्तव्य है कि वह इन मन्त्रों द्वारा विद्यार्थी को सब प्राकृतिक शक्तियों व प्रभु का ज्ञान देने का पूर्ण प्रयत्न करें।

भावार्थ—वेदमन्त्रों में सभी देवों का वर्णन है। इनसे आचार्य विद्यार्थी के लिए सब आवश्यक ज्ञान देने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—सतः पङ्क्तिर्निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सम्पूर्ण सौन्दर्य की प्राप्ति

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत्॥६॥

१. हे **देवाः**=विद्वानो! हम **विदथेषु**=ज्ञान-यज्ञों में एकत्र होने पर **इत्**=ही **तम्**=उस **मन्त्रम्**=मन्त्रात्मक वाणी को ही **वोचेम**=बोलें जोकि **शंभुवम्**=कल्याण का भावन करनेवाली है तथा **अनेहसम्**=जो स्वाध्याय के द्वारा अहिंस्य है। २. प्रभु मनुष्यों को कहते हैं कि हे **नरः**=आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाले मनुष्यो! **इमां वाचम्**=इस ज्ञान की वाणी की **प्रतिहर्यथ**=प्रतिदिन कामना करोगे और इसके प्रति जाओगे (ई गतिकान्त्योः) अर्थात् खूब इच्छापूर्वक, हृदय से इसे पढ़ोगे तो **इत्**=निश्चय से **विश्वा वामा**=सब सुन्दर, प्रकृतिजन्य पदार्थ **वः**=तुम्हें **अश्नवत्**=व्याप्त करेंगे, प्राप्त होंगे अर्थात् उस समय ये प्राकृतिक पदार्थ तुम्हारे लिए उपयुक्त होने से तुम्हारा कल्याण-ही-कल्याण करनेवाले होंगे। एवं, इस ज्ञान की वाणी के अपनाने से यह संसार सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाएगा।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में ज्ञान की वाणियों को ही बोलें, इन्हीं की कामना करें। परिणामतः हमारे लिए यह संसार सौन्दर्य को लिये हुए होगा।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

समृद्ध गृह

को देवयन्तमश्नवज्जनं को वृक्तबर्हिषम्।
प्रप्र दाश्वान्पस्त्याभिरस्थितान्तर्वावत्क्षयं दधे॥७॥

१. **देवयन्तं जनम्**=देवों की कामना करनेवाले, दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए यत्नशील मनुष्यों को **कः**=वह अनिवर्चनीय, आनन्दस्वरूप प्रभु **अश्नवत्**=प्राप्त होता है। देवों को प्राप्त करते हुए हम उस महादेव को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। २. **वृक्तबर्हिषम्**=जिसमें से वासनाओं को छिन्न (वृजी वर्जने) किया गया है, ऐसे पवित्र हृदयान्तरिक्षवाले पुरुष को **कः**=वे आनन्दस्वरूप प्रभु प्राप्त होते हैं। एवं 'दिव्यगुणों को अपनाने के लिए प्रयत्न करना और इस प्रकार वासनाओं को विच्छिन्न करना'—यही मार्ग है जिससे कि हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। ३. केवल प्रभु की प्राप्ति ही नहीं, यह **प्रदाश्वान्**=सदा खूब हवि देनेवाला दानशील पुरुष **पस्त्याभिः**=उत्तम मनुष्यों के साथ **प्र अस्थित**=उत्तमतया स्थित होता है अर्थात् इसे उत्तम पुरुष का संग प्राप्त होता है और यह **क्षयं दधे**=(क्षि निवासे) उस घर को धारण करता है जोकि **अन्तर्वावत्**=(अन्तःस्थितबहुधनोपेतम्, सा०) खूब धन-धान्य से युक्त होता है अथवा (अन्तःस्थितपुत्रपौत्रादिबहुविधगुणोपेतम्, सा०) पुत्र-पौत्रादि के विविध उत्तम गुणों से युक्त घर को यह दाश्वान् प्राप्त होता है।

भावार्थ—'दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामना व हृदय को निर्वासिन बनाना' प्रभुप्राप्ति का उपाय है। यह दाश्वान् पुरुष उत्तम पुरुषों के संग को प्राप्त करता है तथा धन-धान्ययुक्त घर को पाता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृदुपरिष्टाद् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

ब्रह्म का क्षत्र से सम्पर्क

उप क्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिर्भये चित्सुक्षितिं दधे।
नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिणः॥८॥

१. **'ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान के पति को यह भी चाहिए कि वह **क्षत्रम्**=बल को भी **उपपृञ्चीत**=द्वितीय स्थान में प्राप्त करने का प्रयत्न करे। ज्ञान के साथ बल का सम्पादन आवश्यक है। अथवा क्षत्रियों के साथ इसका समुचित सम्पर्क हो, चूँकि ऐसा होने पर **राजभिः**=उन राजाओं के द्वारा **भये**=भय उपस्थित होने पर यह **हन्ति**=शत्रुओं का नाश कर सकता है। वस्तुतः क्षत्र को ब्रह्म का रक्षण करना ही चाहिए। २. इस रक्षण के होने पर यह ब्रह्मणस्पति **सुक्षितिं दधे**=उत्तम निवास को धारण करता है। ३. जब एक मनुष्य ब्रह्म के साथ क्षत्र को जोड़ देता है अर्थात् ज्ञान व बल का मेल हो जाता है तब **अस्य**=इस **वज्रिणः**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले पुरुष का **महाधने**=बड़े-बड़े संग्रामों में व **अर्भे**=छोटे-छोटे युद्धों में **न वर्ता अस्ति**=मुकाबिला करनेवाला नहीं होता है **न तरुता अस्ति**=न इसको कोई लाँघ जानेवाला व परास्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—ज्ञान के साथ बल के मिल जाने पर हम शत्रुओं से भयभीत नहीं होते, हमारा निवास उत्तम होता है और हम बड़े-छोटे किसी भी संग्राम में पराजित नहीं होते।

विशेष—सूक्त का आरम्भ आचार्य के आदर्श के वर्णन से हुआ है। आचार्य को ज्ञानी, क्रियाशील, जितेन्द्रिय व सदा विद्यार्थी के साथ रहनेवाला होना चाहिए (१)। आचार्य अत्यन्त सहनशील हो, विद्यार्थी को 'ज्ञानी, सशक्त व जितेन्द्रिय' बनाने का प्रयत्न करे (२)। हम सूनृता वाणी व लोकहितकारी यज्ञों को अपनावें (३)। ये आचार्य लोग ही सच्चे दान के पात्र होते हैं (४)। आचार्य विद्यार्थी को सब विज्ञानों में निपुण बनाता है (५)। वेदवाणी के द्वारा सब सौन्दर्यों को प्राप्त कराता है (६)। इस देवयन् पुरुष को समृद्ध गृह प्राप्त होता है (७)। ब्रह्म के साथ क्षत्र को जोड़कर हम निर्भीकता से आगे बढ़ते हैं (८)। हमारे जीवनों में 'वरुण-मित्र-अर्यमा' का उचित स्थान होता है—यही उन्नति का मार्ग है—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—वरुणमित्रार्यमणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वरुण-मित्र अर्यमा

यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा। नू चित्स दभ्यते जनः ॥१॥

१. **यम्**=जिसको **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **वरुणः**=वरुण, **मित्रः**=मित्र और **अर्यमा**=अर्यमा **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं, **सः**=वह **जनः**=मनुष्य **नुचित्**=शीघ्र ही **दभ्यते**=शत्रुओं की हिंसा कर पाता है (दभ्नोति, सा०)। २. मन्त्र का सरलार्थ स्पष्ट है कि वरुण, मित्र, अर्यमा से रक्षित होने पर हम हिंसित नहीं होते, प्रत्युत शत्रुओं का हिंसन करनेवाले होते हैं। इनमें 'वरुण' द्वेषनिवारण की देवता है, द्वेष को समाप्त करके ही हम 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' श्रेष्ठ बनते हैं। द्वेष-निवारण के बाद 'मित्र'=सबके साथ स्नेह करने की देवता है। हम किसी से द्वेष तो करते ही नहीं, अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का हित करने के लिए यत्नशील होते हैं (प्रमीतेः त्रायते)। यह अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करना ही 'सत्य' है **'यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा'**। इस हित को करने के लिए हम कुछ-न-कुछ देनेवाले बनते हैं। यह 'अर्यमा' देने की देवता है। **'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'** (तै० १।१।२।४)—इस लोकहित के कार्य में काम-क्रोध को जीतना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है (अरीन् नियच्छति, निरु० ११।२३)। एवं हम द्वेष को दूर करते हैं, सबके साथ स्नेह से चलते हैं, कुछ-न-कुछ देते हैं और क्रोधादि को काबू में रखते हैं। इस प्रकार 'प्रचेतस्'=प्रकृष्ट ज्ञान से अपने को युक्त करके अपना रक्षण कर पाते हैं। ३. इन वरुण, मित्र व

अर्यमा से रक्षित होकर हम कभी हिंसित नहीं होते, न रोगों से आक्रान्त होते हैं और न ही मानस आधियों से।

भावार्थ—हम निर्द्वेष, सस्नेह, देनेवाले बनकर अपना रक्षण करें, आधि-व्याधियों का शिकार होने से बचें।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—वरुणमित्रार्यमणः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अरिष्टः सर्वः

यं बाहुतेव पिप्रति पान्ति मर्त्यं रिषः। अरिष्टः सर्व एधते ॥२॥

१. **इव**=जैसे **बाहुता**=बाहुवर्ग प्रयत्नपूर्वक धनादि से हमें भर देता है, उसी प्रकार **यम्**=जिस मनुष्य को वरुण, मित्र व अर्यमा (गत मन्त्र में वर्णित देव) **पिप्रति**=उत्तम दिव्यगुणों के धनों से भर देते हैं और **यम्**=जिस **मर्त्यम्**=मनुष्य को ये **रिषः**=हिंसक शत्रुओं से—क्रोधादि से **पान्ति**=सुरक्षित करते हैं, वह मनुष्य **अरिष्टः**=किसी भी प्रकार से हिंसित न हुआ-हुआ **सर्वः**=पूर्ण होकर **एधते**=वढ़ता है। उसका शरीर, मन व मस्तिष्क सभी बड़े सुन्दर बनते हैं। २. मनुष्य की सर्वता यही है कि वह केवल शरीर, केवल मन व केवल मस्तिष्क के दृष्टिकोण से उन्नत न होकर सभी दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त हो। इसके लिए 'वरुण, मित्र व अर्यमा' मेरे बाहुवर्ग के समान हैं। ये हमें सभी उत्तमताओं से उसी प्रकार पूर्ण करते हैं, जैसे भुजाएँ धनादि से।

भावार्थ—'वरुण, मित्र व अर्यमा' हमारे रक्षक व पूरक हों। ऐसा होने पर हम पूर्ण विकास को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—वरुणमित्रार्यमणः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'दुर्ग-द्विट्-दुरित'-दहन

वि दुर्गा वि द्विषः पुरो घ्नन्ति राजान एषाम्। नयन्ति दुरिता तिरः ॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार बाहुसमूह की भाँति रक्षा करनेवाले 'वरुण, मित्र व अर्यमा' **एषां राजानः**=इनके अर्थात् अपने उपासकों के जीवनों को दीप्त करते हैं (राज् दीप्तौ) और (राज् to regulate), ये उनके जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले होते हैं। २. ये 'वरुण, मित्र और अर्यमा' **एषां पुरः**=इनके आगे आनेवाली **दुर्गा**=विघ्नभूत कठिनाइयों को **विघ्नन्ति**=विशेषरूप से नष्ट करनेवाले होते हैं। **द्विषः**=इनके शत्रुओं को भी **विघ्नन्ति**=समाप्त करते हैं और **दुरिता**=इन्हें सब दुरितों=बुराइयों के **तिरः नयन्ति**=पार ले-जाते हैं। ३. 'निर्द्वेषता, स्नेह व दान'—ये तीन वृत्तियाँ ऐसी हैं कि इनसे जीवन के मार्ग में आनेवाली सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। इनके होने पर हमारे शत्रु समाप्त हो जाते हैं। हम सब बुराइयों को पार करके दीप्त जीवनवाले बन जाते हैं।

भावार्थ—'वरुण, मित्र और अर्यमा' हमारे दुर्गों, द्वेषियों व दुरितों को दूर करते हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—आदित्याः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अनृक्षर पथ

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः ॥४॥

१. 'वरुण, मित्र और अर्यमा'—ये तीनों **आदित्यासः**=सब गुणों का आदान करनेवाले होने से

आदित्य हैं। हम 'वरुण, मित्र व अर्यमा' को अपनाकर आदित्य बन जाते हैं। हे **आदित्यासः**=आदित्यो ! **ऋतं यते**=ऋत की ओर चलनेवाले के लिए अर्थात् अनृत मार्ग से हटकर ऋत के मार्ग को अपनानेवाले के लिए **पन्थाः**=मार्ग **सुगः**=सुगमता से जाने योग्य होता है। उसका रास्ता **अनृक्षरः**=कण्टकरहित होता है। वस्तुतः अनृतमार्ग में ही पेचदगियाँ हैं, वहीं छल-छिद्रादि के कण्टक आकीर्ण हुए-हुए हैं। सत्य में सरलता है, वहाँ किसी प्रकार का कण्टक नहीं। २. हे आदित्यो ! **अत्र**=इस मार्ग पर चलते हुए **वः**=आपका **अवखादः**=(अवमन्तव्यः खादो जुगुप्सितः, सा०) जुगुप्सित, घृणित, निन्दनीय भोजन **न, अस्ति**=नहीं है। आप सदा सात्त्विक भोजन का ही स्वीकार करते हो। उससे वस्तुतः आपकी बुद्धि सात्त्विक बनी रहती है और आप अनृत के मार्ग पर जाते ही नहीं हो।

भावार्थ—आदित्यों का मार्ग ऋत का होता है, यह सरल व अकण्टक है। इस मार्ग पर चलनेवाले राजस और तामस भोजनों से दूर रहते हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—आदित्याः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

परोपकार से स्वोपकार

यं यज्ञं नयथा नर आदित्या ऋजुना पथा। प्र वः स धीतये नशत्॥५॥

१. हे **नरः**=सदा उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले **आदित्याः**=गुणों का आदान करनेवाले पुरुषो ! **यं यज्ञम्**=जिस लोकहित के कार्य को **ऋजुना पथा**=सरल मार्ग से **नयथा**=आप पूर्णता की ओर ले-चलते हो **सः**=वह यज्ञ **वः**=तुम्हारे ही **धीतये**=पान व उपभोग के लिए **प्रनशत्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है अर्थात् उस यज्ञ के द्वारा परहित करते हुए आप अपना भी हित सिद्ध कर पाते हो। २. संसार में परार्थ से सदा स्वार्थ तो सिद्ध होता ही है। वस्तुतः सारा संसार परस्पर उपकारी है। मनुष्य देवों को अग्निरूप मुख के द्वारा अन्न प्राप्त कराता है, फिर वे देव वृष्टि द्वारा मनुष्य को अन्न प्राप्त कराते हैं। एवं मनुष्य देवों को प्राप्त कराता हुआ अपने को ही प्राप्त करा रहा होता है। हम औरों के प्रति मधुर शब्द बोलते हैं तो उनसे स्वयं भी मधुर शब्द सुनते हैं। संसार में हमारी क्रियाओं की ही प्रतिक्रिया हुआ करती है। जो भला मैं करता हूँ, वह मुझे ही फिर प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हम औरों का जो उपकार करते हैं, उससे हमारा ही उपकार हो जाता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—आदित्याः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

आत्मसदृश सन्तान

स रत्नं मर्त्यो वसु विश्वं तोकमुत त्मना। अच्छा गच्छत्यस्तृतः॥६॥

१. 'वरुण, मित्र व अर्यमा' का आराधक पुरुष अर्थात् निर्द्वेषता, स्नेह व दान का पुजारी **सः**=वह **मर्त्यः**=मनुष्य **रत्नम्**=रमणीय वस्तुओं को तथा **विश्वं वसु**=निवास के लिए आवश्यक सब उपयोगी धनों को **अच्छा गच्छति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। २. अथवा 'सः' शब्द पिछले मन्त्र के यज्ञशील पुरुष को कहता है। एवं यज्ञशील पुरुष रत्नों एवं निवास के लिए आवश्यक सब धनों को प्राप्त करता है। ३. **उत**=और **त्मना**=आत्मसदृश **तोकम्**=सन्तान को प्राप्त करता है अर्थात् जैसे हम होते हैं, वैसी ही सन्तान को हम पाते हैं, अतः इस यज्ञशील पुरुष की सन्तान भी यज्ञ की वृत्तिवाली होती है। ४. इस प्रकार यह यज्ञशील पुरुष **अस्तृतः**=अहिंसित होता है। धनों का अभाव इसकी असामयिक मृत्यु का कारण नहीं होता और उत्तम प्रजा का होना उसके वंशतन्तु को समाप्त नहीं होने देता तथा यह प्रजाओं के रूप

में अहिंसित ही रहता है।

भावार्थ—यज्ञशीलता से रत्न, वसु व आत्मसदृश सन्तान मिलती है। यह यज्ञशील अहिंसित होता है।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—वरुणमित्रार्यमणः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

महान् रूप

कथा राधाम सखायः स्तोमं मित्रस्यार्यम्णः। महि प्सरो वरुणस्य ॥७॥

१. हे **सखायः**=समान ख्यान-(ज्ञान)-वाले मित्रो! **मित्रस्य**=मित्र देवता का **अर्यम्णः**=अर्यमा देवता का **वरुणस्य**=वरुण देवता का **प्सरः**=रूप **महि**=महान् है अर्थात् 'स्नेह, दान व संयम तथा निर्द्वेषता' का महत्त्व अत्यधिक है। इन भावों के हृदय में जागरित होने पर मनुष्य अत्यन्त उन्नत स्थिति में पहुँचता है। २. अतः आओ! हम मिलकर **कथा**=कीर्तन के द्वारा **स्तोमं राधाम**=स्तुति को सिद्ध करें। इस स्तुति के द्वारा ही हम मित्रादि की भावनाओं को जीवन में सिद्ध कर पाएँगे। यदि प्रभुकृपा से हम 'मित्र, वरुण व अर्यमा' का आराधन कर पाएँगे तो सचमुच जीवन को भी महत्त्वपूर्ण बना सकेंगे और उन्नत होते हुए प्रभु के समीप प्राप्त होंगे।

भावार्थ—'मित्र, वरुण व अर्यमा' को जीवन में अनूदित करने पर हम सचमुच महान् बनेंगे, अतः प्रभु-कीर्तन करें और इन देवताओं को अपनाएँ।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—वरुणमित्रार्यमणः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

हिंसक व निन्दक न बनें

मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम्। सुम्नैरिद्व आ विवासे ॥८॥

१. **वः**=तुम्हें **घ्नन्तम्**=नष्ट करते हुए को अर्थात् 'स्नेह, निर्द्वेषता व दान की वृत्ति' को समाप्त करते हुए को **मा प्रति वोचे**=किसी प्रकार का उत्तर न दूँ अर्थात् ऐसे लोगों के साथ मैं बात न करूँ। २. इसी प्रकार **शपन्तम्**=कोसते हुए, गालियाँ देते हुए के साथ भी मैं किसी प्रकार की बात न करूँ। ३. **देवयन्तम्**='मित्र, वरुण व अर्यमा' आदि की कामना करनेवालों के साथ ही मैं बोलूँ। इनके साथ उठने-बैठने से मुझमें भी ये स्नेहादि की भावनाएँ पनपेंगी। ४. **इत्**=निश्चय से **सुम्नैः**=स्तोत्रों के द्वारा **वः**=आपका **आविवासे**=पूजन करता हूँ। आपकी महिमा का स्मरण करता हुआ आपको अपने जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हमारा उठना-बैठना 'हिंसकों व अपशब्द बोलनेवालों' के साथ न हो। हम 'स्नेह, निर्द्वेषता तथा दान व संयम' का ही स्तवन करें। इन्हीं भावनाओं को हृदय-मन्दिर में देवरूप से प्रतिष्ठित करें।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—वरुणमित्रार्यमणः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विष देनेवाले व चोर न बनें (दुरुक्त से भय)

चतुरश्चिद्ददमानाद् बिभीयादा निधातोः। न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥९॥

१. **चतुरःचित् ददमानात्**=चार संख्यावाले पासों को हाथों में धारण करते हुए पुरुष से **अनिधातोः**=पासों को फलक पर डालने के समय तक जैसे दूसरा पुरुष **बिभीयात्**=डरता रहता है, ऐसे

ही **दुरुक्ताय**=दुर्वचन के लिए **नः**=नहीं **स्पृहयेत्**=कामना करे, दुर्वचन से डरता ही रहे अर्थात् हम कभी दुर्वचन न बोलें, न दुर्वचन बोलनेवालों के साथ मेल-जोल रखें। २. प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ पिछले मन्त्र के अर्थ के साथ मिलाकर इस प्रकार भी किया जा सकता है कि **ददमानात्**=विष देनेवाले तथा **निधातोः**=चोरी करके इधर-उधर धनादि को गाड़नेवाले से **आ बिभीयात्**=सर्वथा डरे। पिछले मन्त्र में वर्णित 'घ्नन् व शपन्' के साथ 'ददमान व निधातु' इन **चतुरः चित्**=चारों के प्रति **दुरुक्ताय**=दुर्वचन कहने के लिए भी **न स्पृहयेत्**=कामना न करे। इनको बुरा-भला कहने से इनके सुधार की सम्भावना नहीं। वे हमारे शत्रु बनकर हमें परेशान ही करेंगे। इनको राजा ही उचित दण्ड देगा। हमें उनसे वास्ता न रखना ही ठीक है। मनु लिखते हैं—**अग्निदान् भक्तदाँश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्। संनिधातॄँश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः॥** (मनु० ९।२७८) आग लगा देनेवाले, भोजन में विष देनेवाले, शस्त्रप्रयोग का अवसर देनेवाले तथा चोरी का माल छिपाकर रखनेवालों को राजा चोर की भाँति दण्ड दे।

भावार्थ—जैसे जुआरी से डर लगता है, उसी प्रकार दुरुक्त से डरना चाहिए।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम 'निर्द्वेषता, स्नेह, दान तथा संयम' से चलें (१)। तभी हम पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो सकेंगे (२)। ऋत पर चलने से हमारा मार्ग अकण्टक होगा (४)। जो भी यज्ञ हम करेंगे, वह हमारे ही कल्याण के लिए होगा (५)। इस जीवन में हम हिंसा व अपशब्दों से बचें (६)। दुरुक्त की कभी कामना न करें (९)। ऐसा होने पर ही हम आगे बढ़ेंगे—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पार पहुँचना

सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो नपात्। सक्ष्वा देव प्र णस्पुरः॥१॥

१. हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले प्रभो! आप कृपया हमें **अध्वनः**=मार्ग से **संतिर**=इष्ट स्थान पर सम्यक् प्राप्त कराइए। मार्ग पर चलते हुए, कभी भी मार्ग से विचलित न होते हुए हम लक्ष्य तक पहुँचनेवाले बनें। संसार के प्रलोभन कभी भी हमें मार्ग-भ्रष्ट न कर पाएँ। प्रकृति की चमक हमसे लक्ष्य को ओझल न कर दे। २. **अंहः**=विघ्न के हेतुभूत पाप को वि (तिर) आप विनष्ट कीजिए। आपकी कृपा से हमारे पाप नष्ट हों और पापों के नाश के साथ हमारी पीड़ाएँ भी नष्ट हो जाएँ। ३. **विमुचः नपात्**=पाप को छोड़ देनेवाले को न गिरने देनेवाले **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **प्रसक्ष्व**=चलिए। आप हमारे मार्गदर्शक होइए। आपकी कृपा से मार्ग पर चलते हुए हम पाप से बचे रहेंगे और आपकी कृपा के पात्र बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही हमें मार्ग से लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं, पाप से बचाते हैं। हमारे आगे चलते हैं, अर्थात् मार्गदर्शन करते हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'अघ-वृक-दुःशेव'

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि॥२॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **यः**=जो कोई **अघः**=पापमय जीवनवाला, औरों को कष्ट पहुँचाने

वाला **वृकः**=लोभ के कारण अन्याय्य धन का ग्रहण करनेवाला, **दुःशेवः**=दुष्ट सुखोंवाला अर्थात् दुराचरण में आनन्द समझनेवाला **नः**=हमें **आदिदेशति**=सब प्रकार से बुराई का संकेत करता है, बुराई में पड़ने के लिए फुसलाता है **तम्**=उसको **पथः**=हमारे मार्ग से **अप, जहि स्म**=सुदूर भगा दीजिए (हन् गति) अर्थात् हमें इस जीवन-मार्ग में 'अघ, वृक व दुःशेव' पुरुष भटकाने में समर्थ न हों।

भावार्थ –हमें जीवन-मार्ग में विचलित करनेवाले पुरुष प्राप्त न हों।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

परिपन्थी-मुषीवा-हुरश्चित्

अप त्यं प॑रिप॒न्थिनं॑ मुषी॒वाणं॑ हुर॒श्चित॑म्। दू॒रमधि॑ स्रु॒तेर॑ज ॥३॥

१. **त्यम्**=उस पूर्व मन्त्रोक्त 'अघ, वृक व दुःशेव' के गुणों से युक्त **परिपन्थिनम्**=मार्ग-प्रतिबन्धक, **मुषीवाणम्**=तस्कर [चोर] तथा **हुरश्चितम्**=कुटिलताओं के संचय करनेवाले को **स्रुतेः अधि दूरम्**=मार्ग से दूर **अप अज**=परे भेजिए। हमारे मार्ग में इनका आना न हो। २. इन व्यक्तियों के कारण आगे बढ़ना तो सम्भव ही नहीं रहता। यह भी सम्भव है कि कुसंग से हमारी भी वृत्ति खराब हो जाए और हम भी उन जैसे ही बन जाएँ, अतः यह राजा का भी कर्तव्य होना चाहिए कि 'परिपन्थी, मुषीवा व हुरश्चित्' पुरुषों को प्रजा के मार्ग से दूर रखे। यहाँ प्रार्थना है कि प्रभुकृपा से ये व्यक्ति हमारे मार्ग से दूर रहें।

भावार्थ पूषा की कृपा से 'परिपन्थी, मुषीवा, हुरश्चित्' पुरुषों से हमारा टकराव न हो।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

द्वयावी-अघशंस

त्वं तस्य॑ द्वया॒विनो॒ऽघशं॑सस्य॒ कस्य॑ चित्। प॒दाभि ति॑ष्ठ॒ तपु॑षिम् ॥४॥

१. हे **पूषन्**=पोषक देव! **त्वम्**=आप **तस्य**=उस **कस्यचित्**=किसी के भी, अथवा पराया जो कोई भी वह हो, चाहे राजपुत्र भी हो, उस **द्वयाविनः**=सामने न पीछे अपहरण करनेवाले—प्रत्यक्षापहार व परोक्षापहार से युक्त **अघशंसस्य**=हमारे विषय में अनिष्ट अघ (कपट) का शंसन करनेवाले पुरुष के **तपुषिम्**=इस परसन्तापक देह को **पदा, अभितिष्ठ**=पाँवों से आक्रान्त करके स्थित हो।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि द्वयावी, अघशंस पुरुषों को पैरों-तले कुचल दे। प्रभु से भी यही आराधना है कि इन लोगों का परसन्तापक देह नष्ट ही हो जाए।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पितरों द्वारा पोषण

आ तत्ते॑ दस्र मन्तु॒मः पूष॒न्नवो॑ वृणीमहे। येन॑ पि॒तॄनचो॑दयः ॥५॥

१. हे **दस्र**=दुष्टों का उपक्षय करनेवाले! **मन्तुमः**=विचारशील, ज्ञानी **पूषन्**=सबके पोषक देव! **ते**=आपके **तत् अवः**=उस रक्षण को **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरण करते हैं **येन**=जिस रक्षण के हेतु से आप **पितॄन्**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि पितरों को **अचोदयः**=प्रेरित करते हैं। २. प्रभु के रक्षण का प्रकार यही है कि वे हमारे माता-पिता आदि को इस प्रकार उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं कि वे हमारे रक्षण के लिए पूर्ण प्रयत्नशील होते हैं। प्रभुकृपा से उन्हें ऐसी शक्ति मिलती है कि वे

प्रभु के निमित्त (Agent) बनकर हमारा रक्षण करते हैं। वस्तुतः उनके द्वारा प्रभु ही रक्षण कर रहे होते हैं। सब दुष्टों का उपक्षय करनेवाले प्रभु ही हैं। सब उत्तम विचार व ज्ञान के स्रोत प्रभु ही हैं, वे ही पोषण करनेवाले हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे रक्षण के निमित्त हमारे पितरों को उचित प्रेरणा प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

रक्षण का स्वरूप, धनों का संविभाग

अधा नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम। धनानि सुषणा कृधि ॥६॥

१. **अध**=अब हमारी इस रक्षण की प्रार्थना के बाद हे **विश्वसौभग**=सम्पूर्ण धनों व सौभाग्यों से युक्त प्रभो! **हिरण्यवाशीमत्तम**=अधिक-से-अधिक हितरमणीय वाणीवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **धनानि**=धनों को **सुषणा**=उत्तम संविभाग व दानयुक्त **कृधि**=करिए। २. वस्तुतः जब यह धनों का संविभाग व दान रुक जाता है तो कई लोग overfed=अति भुक्तिवाले तथा दूसरे underfed हीनभुक्ति-वाले हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों का ही अकल्याण होता है। अतिभुक्ति व हीनभुक्ति ही सब रोगों व विनाशों का कारण बनती है। ३. प्रभु 'विश्वसौभग' होते हुए हमें धन तो प्राप्त कराएँ ही, परन्तु साथ ही हितरमणीय ज्ञान देकर हमें धनों के संविभाग की प्रेरणा भी दें। वस्तुतः यह धनों की विषमता भी चोरी आदि के भावों की वृद्धि का कारण बनती है। जब हम धनों के संविभागवाले बनते हैं तो चोरी आदि भी समाप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें दान की वृत्ति से युक्त करें और धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुपथ से चलना

अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः ॥७॥

१. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **सश्चतः**=(सश्च् गतौ) मार्ग में बाधा डालने के लिए प्राप्त होते हुए शत्रुओं को **अति नय**=हमें लाँघकर दूसरी जगह प्राप्त कराइए अर्थात् हमें मार्ग में रुकावट डालनेवाले शत्रु प्राप्त न हों। २. **नः**=हमें **सुगा**=सुगमता से चलने योग्य **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **कृणु**=जानेवाला बनाइए। हम आपकी कृपा से सदा उस पथ से ही चलें जिसमें कि व्यर्थ की उलझनें नहीं हैं। ३. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आप **इह**=इस जीवन-यात्रा में हमें **क्रतुं विदः**=क्रतु को प्राप्त कराइए। निघण्टु २।१ में 'क्रतु' कर्म का नाम है। प्रभु हमें कर्मशक्ति प्राप्त कराएँ। नि० ३।९ में 'क्रतु' प्रज्ञा का नाम है। प्रभु हमें प्रज्ञा-सम्पन्न करें। शतपथ ३।३।४।७ में **'क्रतुर्मनोजवः'** इन शब्दों में मनोजव व संकल्प को क्रतु कहा है। प्रभु हमें यह संकल्पशक्ति दें। वस्तुतः प्रभु हमें हाथों में कर्मशक्ति प्राप्त कराएँ, मन में संकल्पशक्ति दें और मस्तिष्क को प्रज्ञा-सम्पन्न करें। इस प्रकार शरीर, मन व मस्तिष्क में क्रतु को प्राप्त करके हम सदा सुपथ से ही चलें।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा से क्रतु-सम्पन्न होकर सुपथ से सुगमतापूर्वक आगे बढ़ने में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूयवस—'सात्त्विक भोजन'

अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुं विदः ॥८॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो ! हम सुपथ से ही चलें, अतः आप हमें **सूयवसम्**=उत्तम यव=जौ आदि ओषधिरूप भोजनों की ओर **अभिनय**=आभिमुख्येन ले-चलिए। हमारा झुकाव सदा यव आदि सात्त्विक अन्नों को खाने की ओर हो। २. इन सात्त्विक अन्नों के सेवन से हमारी बुद्धि भी सात्त्विक होगी और तब **अध्वने**=मार्ग पर चलने के लिए **नव ज्वारः न**=कोई नया बुखार न चढ़ आएगा, अर्थात् हमारा मन किसी नवीन व्यसन का शिकार होकर मार्ग पर चलने से रुक न जाएगा। ३. इस सबके लिए अर्थात् 'सात्त्विक भोजन के सेवन' तथा 'नवीन व्यसनों के न आने देने के लिए' हे **पूषन्**=पोषक प्रभो ! आप **इह**=इस जीवन-यात्रा में हमें **क्रतुम्**=कर्मशक्ति, प्रज्ञा व संकल्प को **विदः**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम संकल्प करें कि हम सात्त्विक भोजन ही करेंगे, और हमें किसी नवीन व्यसन का ज्वर न चढ़ पाएगा।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

पेट का ठीक होना

शग्धि पूर्धि प्र यंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्। पूषन्निह क्रतुं विदः॥९॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो ! आप **शग्धि**=हमें शक्तिसम्पन्न कीजिए। शक्ति से ही तो आगे बढ़ना सम्भव होगा। २. **पूर्धि**=आप हमें धनों से पूरित कीजिए। उन्नति के लिए किसी भी आवश्यक धन की हमें कमी न रह जाए। ३. **च**=और **प्रयंसि**=हमें दुष्ट कर्मों से पूर्णतया रोकिए। आपकी कृपा से धनादि को प्राप्त करके हम कुपथ पर न चल पड़ें। ४. **शिशीहि**=आप हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण कीजिए। मन्द बुद्धि ही तो हमारे मार्गभ्रंश का कारण बनती है। ५. **उदरम्**=हमारे उदर को **प्रासि**=न्यूनता से रहित कीजिए, उसका पूरण करिए। उदर के ही कारण शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति हुआ करती है और तब शक्तिक्षय होकर सब अवगुणों के उद्भव का भी उपक्रम होता है। ६. हे **पूषन्**=पोषक देव ! **इह**=इस जीवन में हमें **क्रतुम् विदः**=कर्म, संकल्प व ज्ञान प्राप्त कराइए ताकि हमारा जीवन सफलता से पूर्ण हो।

भावार्थ—जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए 'शक्ति, धन, संयम, तीव्र बुद्धि व पेट का ठीक होना'—ये बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। हममें संकल्प हो कि हम इन्हें अवश्य जुटाएँगे।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—पूषा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

संकल्प का स्वरूप

न पूषणं मेथामसि सूक्तैरभि गृणीमसि। वसूनि दस्ममीमहे॥१०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हम संकल्प करते हैं कि हम अपने जीवन में **पूषणम्**=उस पोषक परमात्मा को न **मेथामसि**=(मेथ हिंसने) हिंसित नहीं करते अर्थात् पूषा को भूल नहीं जाते। भूलना तो अलग रहा **सूक्तैः**=सूक्तों के द्वारा—उत्तम वचनों के द्वारा **अभिगृणीमसि**=दिन-रात उस प्रभु का स्तवन करते हैं। यहाँ 'अभि' उपसर्ग दिन-रात अथवा जागरित व स्वप्न—दोनों अवस्थाओं का संकेत करता है। हम जागरित अवस्था में तो उस प्रभु का स्तवन करते ही हैं, स्वप्नावस्था में भी हमारा यह प्रभु-स्तवन चलता है। २. उस **दस्मम्**=दर्शनीय व शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्रभु से हम **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **ईमहे**=माँगते हैं। इन वस्तुओं को प्राप्त करके अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को नहीं भूलते। सदा उसका स्तवन करते हुए उससे वसु की याचना करते हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि वे पूषन् प्रभु हमारा मार्गदर्शन करें (१)। हमें जीवन-मार्ग में 'पापी, लोभी व व्यसनी' लोग न घेर लें (२)। हम मार्ग-प्रतिबन्धक चोरों व छलियों से बचें (३)। द्वयावी व अघशंस हमपर प्रबल न हों (४)। हमें उत्तम माता-पिता प्राप्त हों (५)। हम धन कमाएँ परन्तु उसका संविभाग करें ताकि समाज में बुराइयाँ न पनपें (६)। हम सदा सुपथ से चलें (७)। सात्त्विक भोजन का सेवन करें (८)। हमारा पेट सदा ठीक रहे ताकि हम नीरोग रहें (९)। प्रभु से दूर न हों (१०)। हमारी प्रबल कामना हो कि हम प्रभु का स्तवन कर पाएँ—

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—रुद्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु का स्तवन अत्यन्तावश्यक

कद्रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे। वोचेम शन्तमं हृदे ॥१॥

१. **कद्**=कब **शन्तमम्**=अतिशयेन शान्ति देनेवाले स्तोत्र को **वोचेम**=हम बोलेंगे ? किसके लिए (क) **रुद्राय**=सदुपदेश देनेवाले के लिए। उस प्रभु के लिए जोकि सृष्टि के आरम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देते हैं। (ख) **प्रचेतसे**=जो प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं और इसलिए जिनकी प्रेरणा में कभी भ्रान्ति सम्भव ही नहीं। (ग) **मीळ्हुष्टमाय**=जो ज्ञान के द्वारा अनन्त सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। अविद्या ही सारे कष्टों का क्षेत्र होती है। प्रभु उस अविद्या को ज्ञान के प्रकाश से समाप्त करके सब कष्टों का भी अन्त करनेवाले हैं। (घ) **तव्यसे**=वे प्रभु अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हैं। वस्तुतः सब गुणों के दृष्टिकोण से चरम-सीमारूप ही वे प्रभु हैं। (ङ) **हृदे**=(अस्मदीये हृन्निष्ठाय) हमारे हृदयों के अन्दर स्थित हैं। २. वस्तुतः हृदय में स्थित हुए-हुए ही वे प्रभु प्रेरणा देते हैं। प्रकृष्ट ज्ञानवाले होने के कारण वे भ्रान्त प्रेरणा नहीं देते। इस ठीक प्रेरणा के द्वारा वे हमपर सुखों की वर्षा करते हैं। स्वयं वे अतिशयेन प्रवृद्ध हैं। जीव भी जब उस हृदयस्थ रुद्र की प्रेरणा को सुनता है तो वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु हृदयस्थ होकर निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। हम उस प्रेरणा को सुनें, इसी में हमारा कल्याण है। हम प्रभु का स्तवन करें ताकि हमें शान्ति मिले।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—रुद्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अदितिः व कल्याण

यथा नो अदितिः करत्पश्वे नृभ्यो यथा गवे। यथा तोकाय रुद्रियम् ॥२॥

१. **यथा**=जैसे **अदितिः**=(इयं वै पृथिवी अदितिः—शत० १।१।४।५, नि० १।१) यह पृथिवी **पश्वे**=पशुओं के लिए **करत्**=घास आदि को उत्पन्न करती है। २. **यथा**=जैसे **अदितिः**=(गोनाम, नि० २।११) गौ **नृभ्यः**=मनुष्यों के हित के लिए **करत्**=करती है। ३. **यथा**=जैसे **अदितिः**=वेदवाणी (वाङ्नाम, नि० १।११) **गवे**=ज्ञानेन्द्रियों के लिए **करत्**=ज्ञान को प्राप्त कराती है। ४. **यथा**=जैसे **अदितिः**=अदीना देवमाता=दीनता से ऊपर उठी हुई दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली माता **तोकाय**=सन्तान के लिए **करत्**=कल्याण करती और गुणों को सिद्ध करती है उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए

अदितिः=यह वेदवाणी **रुद्रियम्**=रुद्र-सम्बन्धी उपदेश को **करत्**=करती है अर्थात् यह वेदवाणी हमें प्रभु का उपदेश देती है।

भावार्थ—वेद उस प्रभु का उपदेश देता है जोकि हमें निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उत्तम निवास व रोगापनयन

यथा नो मित्रो वरुणो यथा रुद्रश्चिकेतति। यथा विश्वे सजोषसः ॥३॥

१. पूर्व मन्त्र के अनुसार हम उस 'रुद्र' प्रभु का शन्तम स्तोत्र कब कर पाएँगे **यथा**=जिससे कि **मित्रः, वरुणः**=मित्र और वरुण **नः**=हमें **चिकेतति**=अनुग्राह्यत्वेन जानें अथवा हमारे लिए निवास को उत्तम बनाएँ तथा हमारे रोगों को दूर करें (कित ज्ञाने अथवा कित निवासे रोगापनयेन च) 'मित्र' स्नेह की देवता है, 'वरुण' द्वेष-निवारण की। एवं भाव यह हुआ कि हम प्रभु का ऐसा स्तवन करें जिससे कि 'स्नेह व निर्द्वेषता' से परिपूर्ण होकर हम शरीर व मन दोनों से नीरोग बनें। २. हमारा प्रभुस्तवन इस प्रकार हो कि **यथा**=जिससे **रुद्रः**=वह रोगों का चिकित्सक प्रभु **चिकेतति**=हमारे लिए नीरोगता प्राप्त करानेवाला हो और **यथा**=जिससे **विश्वे**=सब देव **सजोषसः**=समान प्रीतिवाले होकर हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हों।

भावार्थ=मित्र, वरुण, रुद्र व सब देव हमें नीरोगता प्रदान करें। हम उनके अनुग्रह के पात्र हों।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—रुद्रः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुखप्राप्ति के मूल साधन (Basic Principles of Happiness)

गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तच्छंयोः सुम्नमीमहे ॥४॥

१. **गाथपतिम्**=(गाथा वाङ्नाम) सब गाथाओं, वेदवाणियों के स्वामी तथा **मेधपतिम्**=सब यज्ञों के रक्षक **रुद्रम्**=(रुत्+र) हृदयस्थरूपेण ही उपदेश देनेवाले, **जलाषभेषजम्**=जलरूप औषध से युक्त प्रभु से **तत्**=उस **शंयोः**=शान्ति को देनेवाले तथा भयों के यापन-(दूर करने)-वाले **सुम्नम्**=सुख को **ईमहे**=माँगते हैं। २. प्रभु हमें वेदज्ञान देते हैं, वेद द्वारा सब यज्ञों (कर्तव्य-कर्मों) का उपदेश करते हैं। हृदय में स्थित होकर सदा सत्प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु हमें इस अद्भुत जलरूप औषध को देते हैं **'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा'**। ३. वेदों के अध्ययन, यज्ञों के करने, प्रभु-प्रेरणा को सुनने तथा जलों के समुचित आचमन से हमें शान्ति, निर्भयता व सुख प्राप्त होगा। ४. मन्त्र में प्रभु के जिन नामों का स्मरण किया गया है वे सब नाम उन साधनों का प्रतिपादन करते हैं जिनको जीवन में लाने पर हमें शान्ति, निर्भयता व सुख की प्राप्ति होगी। वेद की यह महत्त्वपूर्ण शैली है कि प्रार्थना के साथ ही उसकी पूर्ति के साधनों का प्रतिपादन होता है। हम प्रार्थना करते हैं और प्रभु उसकी पूर्ति के लिए साधनों का संकेत कर देते हैं। प्रार्थना की पूर्ति पुरुषार्थ से ही होती है।

भावार्थ—'वेदाध्ययन (ज्ञानप्राप्ति), यज्ञ, प्रभुप्रेरणा-श्रवण व जलों का आचमन' हमें शान्त, नीरोग व सुखी बनाएँगे।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूर्य व स्वर्ण के समान

यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवानां वसुः ॥५॥

१. **यः**=जो **शुक्रः**=दीप्तिमान् **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **रोचते**=देदीप्यमान हैं, आदित्यवर्ण हैं, हज़ारों सूर्यों की दीप्ति के समान दीप्तिवाले हैं। २. **हिरण्यम् इव रोचते**=जो स्वर्ण के समान देदीप्यमान हैं। मनु के शब्दों में 'रुक्माभम्'=स्वर्ण की आभावाले हैं। ३. **देवानां श्रेष्ठः**=सब देवों में श्रेष्ठ—प्रशस्यतम हैं। वस्तुतः जो देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** सब देवों को दीप्ति उस प्रभु से ही तो प्राप्त हो रही है—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। ये सब देव उस महादेव के ही अधीन हैं। ४. ऐसे ये प्रभु **वसुः**=सब प्राणियों को अपने में निवास दे रहे हैं (वसन्ति यस्मिन्) और सब प्राणियों में उस प्रभु का निवास है (वसति सर्वस्मिन्) 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्'।

भावार्थ—प्रभु सूर्य व हिरण्य की भाँति देदीप्यमान हैं। देवताओं में वे श्रेष्ठ हैं और सब प्राणियों में अन्तर्यामिरूप से रह रहे हैं।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—रुद्रः। छन्दः—पादनिचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अश्व-मेष-नर और गौ

शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये। नृभ्यो नारिभ्यो गवे ॥६॥

१. गत मन्त्र में कीर्तित 'सूर्य व हिरण्य की भाँति देदीप्यमान, देवश्रेष्ठ, वसु' प्रभु **नः**=हमारे **अर्वते**=घोड़ों के लिए **शं करति**=शान्ति करते हैं, प्रभुकृपा से हमारे राष्ट्र में घोड़े शक्तिशाली होते हैं। राष्ट्र में इधर-उधर वस्तुओं के परिवहन-कार्य में वे उत्तमता से उपयुक्त होते हैं। २. वे प्रभु हमारे **मेषाय**=मेढ़ों के लिए **मेष्ये**=भेड़ों के लिए **सुगम्**=सुष्ठु गम्य=सुगमता से प्राप्त होनेवाली **शम्**=शान्ति को **करति**=करते हैं। मेढ़े व भेड़ें नीरोग होकर हमारे लिए उत्तम ऊन को प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. वे प्रभु **नृभ्यः नारिभ्यः**=राष्ट्र के सब नर-नारियों के लिए **सुगं शम्**=सुष्ठु गम्य शान्ति को देनेवाले होते हैं। राष्ट्र में सब नर-नारी शान्तभाव से, परस्पर प्रेमपूर्वक चलते हुए आगे बढ़ते हैं। ५. वे प्रभु **गवे**=हमारी गौओं के लिए भी शान्ति करते हैं। ये अयक्ष्मा, रोगरहित गौएँ हमें सात्त्विक दुग्ध का पान कराती हुई सात्त्विक वृत्तिवाला बनाती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में घोड़े, भेड़ें, नर-नारी व गौएँ सभी सुख व शान्ति को प्राप्त करें, नीरोग हों।

ऋषिः—कण्वो घौरः। देवता—सोमः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

श्री-श्रव-नृम्ण

अस्मे सोम श्रियमधि नि धेहि शतस्य नृणाम्। महि श्रवस्तुविनृम्णम् ॥७॥

१. हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! आप **अस्मे**=हममें **नृणां शतस्य**=सौ मनुष्यों की **श्रियम्**=श्री को **अधिनिधेहि**=आधिक्येन स्थापित कीजिए। श्री के दो अर्थ हैं—(क) सम्पति, (२) शोभा। यहाँ दोनों अर्थों का समन्वय करके अर्थ इस प्रकार है कि हमें वह सम्पत्ति प्राप्त कराइए जो हमारी शोभा की वृद्धि का कारण बने। २. हे सोम! हमें **महि**=महनीय—प्रशंसनीय **श्रवः**=(श्रूयत इति) ज्ञान प्राप्त कराइए जो ज्ञान हमारे यश (श्रवः प्रशंसा, नि० ४।२४) का कारण बने। यह ज्ञान वाद-विवाद में ही विनियुक्त न होता रहे। ३. हे प्रभो! आप हमें **तुविनृम्णम्**=बहुत बल प्राप्त कराइए (नृम्ण=बल, सा०) अथवा वे (अन्नं वै नृम्णम्, कौ० २७।४) अन्न प्राप्त कराइए जो बल देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वह सम्पत्ति प्राप्त हो जो शोभा का कारण बने, वह ज्ञान प्राप्त हो जो कीर्ति को फैलानेवाला हो, वह अन्न मिले जो बल को बढ़ानेवाला हो।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—सोमः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

यज्ञशील व दानशील

मा नः॑ सोमपरि॒बा॒धो मारा॑तयो जुहुरन्त । आ न॑ इन्दो॒ वाजे॑ भज ॥८॥

१. **नः**=हमें **सोमपरिबाधः**=(सोमं परितो बाधन्ते) सोम का सब ओर से बाधन करनेवाले, सोमयज्ञों व उत्तम कार्यों का विरोध करनेवाले लोग **मा जुहुरन्तः**=मत दबा लें (प्रसह्यकारिणो भवन्तु, द०) । २. तथा **अरातयः**=दान न देनेवाले समाज के शत्रुभूत लोग **मा**=मत दबानेवाले हों । ३. **इन्दो**= सर्वशक्तिमन् प्रभो ! **नः**=हमें **वाजे**=अपनी शक्ति में **आभज**=सब प्रकार से भागी बनाइए । आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम सोमपरिबाध तथा अराति लोगों से दबनेवाले न हों, अपितु इनको अपने प्रभाव में लाकर यज्ञशील व दानशील बनाने में समर्थ हों ।

भावार्थ—सोमपरिवाध (अयज्ञशील) लोग हमें न दबा पाएँ । हम इन्हें परिवर्तित करनेवाले हों ।

ऋषिः—कण्वो घौरः । देवता—सोमः । छन्दः—अनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

अमृत के परधाम में

यास्ते॑ प्र॒जा अ॒मृत॑स्य पर॑स्मि॒न्धाम॑न्नृ॒तस्य॑ ।
मू॒र्धा नाभा॑ सोम वेन आ॒भूष॑न्तीः सोम वेदः ॥९॥

१. हे **सोम**=शान्त परमात्मन् ! **याः**=जो **ते प्रजाः**=तेरी प्रजाएँ हैं अर्थात् जो प्राकृतिक भोगों में न फँसकर तेरा स्मरण करनेवाले हैं । २. जो **अमृतस्य**=(अमृतं हिरण्यम्, नि० १।२) अमृत के, हिरण्य के, हितरमणीय वीर्य व सोमशक्ति के **परस्मिन् धामन्**=सर्वोत्कृष्ट स्थान में रहता है । सोम का सर्वोत्कृष्ट स्थान मस्तिष्क है । सोम की ऊर्ध्वगति होकर अन्ततः यह मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है । यह मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि ही सोम का सर्वोत्कृष्ट स्थान है । इसमें रहने का अभिप्राय है—ज्ञान में विचरना । यही ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है । ३. **ऋतस्य मूर्धा**=जो व्यक्ति ऋत के शिखर पर वर्तमान होता है अर्थात् ऋत का पूर्णरूप से पालन करता है—सब क्रियाओं को ठीक समय व ठीक स्थान पर करता है । ४. **नाभा**=जो नाभि में रहता है—'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः', यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है । नाभि में रहना अर्थात् यज्ञमय जीवनवाला बनना । इस यज्ञमय जीवनवाले पुरुष को ही हे **सोम**= प्रभो ! आप **वेनः**=(कामयस्व) चाहते हो । यही पुरुष आपको प्रिय होता है । हे **सोम**=शान्तात्मन् प्रभो ! **आभूषन्तीः**=अन्नमय कोश को तेज से, प्राणमय को वीर्य से, मनोमय को बल व ओज से, विज्ञान-मय को मन्यु व विज्ञान से तथा आनन्दमय को सहस् से—इस प्रकार शरीर को सर्वतः अलंकृत करती हुई प्रजाओं को **वेदः**=आप प्राप्त करिए व जानिए अर्थात् इनके रक्षण का ध्यान करिए ।

भावार्थ=प्रभु के प्रिय वे ही व्यक्ति होते हैं, जो प्राकृतिक भोगों में नहीं फँसते, ऋत का पालन करते हैं, यज्ञशील होते हैं और अपने को गुणों से अलंकृत करते हैं ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि कब हम प्रभु के लिए शन्तम स्तोत्र का उच्चारण करेंगे (१), ताकि अदिति हमारा कल्याण करे (२) । मित्र, वरुण, रुद्र व सब देव हमारे निवास को उत्तम बनाएँ व नीरोगता दें (३) । सुखप्राप्ति के मूल साधन 'ज्ञान-प्राप्ति, यज्ञ, प्रभु-प्रेरणा को सुनना व जलों का समुचित प्रयोग' हैं (४) । वे प्रभु सूर्य व स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान हैं (५) । वे हमारे 'अश्व-मेष, नर-नारी व गौओं' के लिए कल्याण करें (६) । हमें 'श्री, श्रव व नृम्ण' को प्राप्त

कराएँ (७)। प्रभुकृपा से हम अयज्ञशील व अदानशील व्यक्तियों से दब न जाएँ (८)। ऋत को व यज्ञ को अपनाते हुए प्रभु के प्रिय हों (९)। प्रभु हमें उषःकाल के अद्भुत धन को प्राप्त कराएँ—

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडुपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

ज्ञानरूप धन व सत्संग

अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥१॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी **अमर्त्यः**=कभी भी मृत्यु को न प्राप्त होनेवाले **जातवेदः**=सर्वज्ञ व सर्वधन प्रभो! आप **उषसः**=उषःकाल के **विवस्वत्**=अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले **चित्रम्**=अद्भुत व चेतना को देनेवाले **रायः**=धन को **दाशुषे**=दाश्वान्, त्यागशील पुरुष के लिए **आवह**=सर्वथा प्राप्त कराइए। उषःकाल का धन 'प्रकाश' है। यह अज्ञान को दूर करता है, चेतना को देनेवाला है। इस धन को प्राप्त करके हम भी आगे बढ़ते हैं (अग्नि), विषयों में नहीं फँसते (अमर्त्य), और ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनते हैं (जातवेद)। २. यहाँ ज्ञानधन को उषःकाल का धन कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमें उषःकाल में अवश्य जागना चाहिए। यह ज्ञानधन 'दाश्वान्' को प्राप्त होता है अर्थात् इसकी प्राप्ति के लिए दान व त्याग आवश्यक है। लोभ से आक्रान्त अराति को यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ३. हे प्रभो! आप **अद्य**=आज **उषर्बुधः**=उषःकाल में जागनेवाले **देवान्**=दिव्यगुण-सम्पन्न पुरुषों को **आवह**=हमारे समीप प्राप्त कराइए अर्थात् हमारा सम्पर्क ऐसे पुरुषों से ही हो। सम्पर्क व सङ्ग से ही तो हमारा जीवन बनता है। अच्छे सङ्ग से अच्छा, बुरे से बुरा।

भावार्थ—हमें ज्ञानधन प्राप्त हो। उसकी प्राप्ति के लिए हमें प्रातः जागरणशील ज्ञानियों का सत्सङ्ग प्राप्त हो।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

बृहत् श्रव

जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम्।
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥२॥

१. हे प्रभो! आप **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित व उपासित हुए-हुए **हि**=निश्चय से **दूतः असि**=वेदरूप ज्ञान-सन्देश के प्राप्त करानेवाले हैं। हम जब प्रभु का उपासन करते हैं तो प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। २. हे प्रभो! आप **हव्यवाहनः**=सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले हैं। ३. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **अध्वराणां रथीः**=सब हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के सञ्चालक हैं। प्रभुभक्तों के जीवनों के माध्यम से सब यज्ञात्मक कर्मों को प्रभु ही कर रहे होते हैं। ४. हे प्रभो! **अश्विभ्याम्**=प्राणापानो व **उषसा, सजूः**=उषःकाल के साथ **अस्मे**=हमारे लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **धेहि**=स्थापित कीजिए। शक्ति को प्राप्त करके ही तो हम यज्ञात्मक कर्मों को कर पाएँगे। ५. इस शक्ति की प्राप्ति के लिए **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **श्रवः**=अन्न को हममें धारण करिए (श्रवः, अन्ननाम, नि०)। ६. वस्तुतः यह 'बृहत् श्रव' हममें सुवीर्य को उत्पन्न करेगा। इस वीर्य को सुरक्षित करने के लिए प्राणसाधना व उषःजागरण सहायक

हैं। सुवीर्य बनकर हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। यज्ञशील पुरुष हव्य का ही सेवन करता है। यह 'हव्य-सेवन' ही प्रभु का उपासन हो जाता है और उपासित प्रभु ज्ञान का सन्देश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ=हमें चाहिए कि (क) वृद्धि के कारणभूत अन्न का ही सेवन करें। (ख) सुवीर्य को प्राप्त करें। (ग) प्राणसाधना व प्रातःजागरण द्वारा वीर्य की रक्षा करें। (घ) यज्ञशील हों। (ङ) हव्य का ही सेवन करें। (च) प्रभु का उपासन करें। (छ) उसके ज्ञान-सन्देश को सुनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

धूमकेतु (भाऋजीक) अध्वरश्रीः

अ॒द्या दू॒तं वृ॑णीमहे॒ वसु॑म॒ग्निं पु॑रुप्रि॒यम्।
धू॒मके॑तुं॒ भाऋ॑जीकं॒ व्यु॑ष्टिषु य॒ज्ञाना॑मध्वर॒श्रिय॑म् ॥३॥

१. **अद्य**=आज हम उस **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले प्रभु को **वृणीमहे**=वरते हैं जोकि २. **वसुम्**=वरण किये जाने पर हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, **अग्निम्**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं, **पुरुप्रियम्**=पालक व पूरक हैं और उत्तमोत्तम जीवन में उन्नति की साधनभूत वस्तुओं को प्राप्त कराके प्रीणित करनेवाले हैं, **धूमकेतुम्**=वासनाओं के कम्पित करनेवाले प्रज्ञान को प्राप्त करानेवाले हैं और **भाऋजीकम्**=(प्रार्जयितारम्) दीप्ति का अर्जन करानेवाले हैं। ३. उस प्रभु का हम वरण करते हैं जोकि **व्युष्टिषु**=उषःकालों में **यज्ञानाम्**=यज्ञों की **अध्वरश्रियम्**=हिंसारहित श्री-(शोभा)-वाले हैं अर्थात् प्रभु की कृपा से ही हम प्रत्येक उषःकाल में यज्ञ की वृत्तिवाले होते हैं और प्रभुकृपा से ही यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। प्रभु ही उन यज्ञों को वह शोभा प्राप्त कराते हैं जोकि नष्ट नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमारे जीवन को उत्तम बनाते हैं, प्रभुकृपा से ही हमारे जीवन यज्ञों से विभूषित होते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रातःकाल की प्रारम्भिक क्रिया (प्रभुस्तवन)

श्रेष्ठं॒ यवि॑ष्ठ॒मति॑थिं॒ स्वा॑हुतं॒ जुष्टं॒ जना॑य दा॒शुषे॑।
दे॒वाँ अच्छा॒ यात॑वे जा॒तवे॑दसम॒ग्निमी॑ळे॒ व्यु॑ष्टिषु ॥४॥

१. **व्युष्टिषु**=उषःकालों में अर्थात् प्रतिदिन दिन के आरम्भ में **देवान् अच्छ**=देवों की ओर **यातवे**=प्राप्त होने के लिए अर्थात् दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए, उस **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वधन **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **ईळे**=मैं उपासित करता हूँ जो प्रभु कि २. **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम हैं, सब देवों में श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठता की चरमसीमा हैं, **यविष्ठम्**=हम उपासकों को भी दुर्गुणों से असम्पृक्त तथा सद्गुणों से सम्पृक्त करनेवाले हैं, **अतिथिम्**=हमारे हित के लिए निरन्तर क्रियाशील हैं (अत सातत्यगमने), **स्वाहुतम्**=सब उत्तम वस्तुओं को प्राप्त करनेवाले हैं (सु आ हुतं यस्मात्)। ३. उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो कि **दाशुषे जनाय**=अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **जुष्टम्**=(प्रीतिम्) प्रीतिवाले होते हैं। ४. वस्तुतः प्रभुस्तवन हममें दिव्यगुणों का वर्धन करता है। प्रभु की स्तुति से हम वासनाओं से बचकर अच्छाइयों का अपने से मेल करनेवाले बनते हैं। प्रभुस्मरण ही हमें इस प्रलोभनमय संसार में बचाने-वाला है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं। प्रभु हमसे प्रसन्न होते हैं और हमें दुर्गुणों से दूर करके सद्गुणों से अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए हम प्रतिदिन प्रातःकाल को प्रभुस्तवन से प्रारम्भ करें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराडुपरिष्टाद्बृहती । स्वरः—मध्यमः ।

प्रभु-स्तवन का निश्चय

स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन ।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन ॥८॥

१. हे **अमृत**=कभी भी नष्ट न होनेवाले ! **अग्ने**=अग्रस्थान को प्राप्त करानेवाले ! **विश्वस्य भोजन**=(भुज पालने) सबके पालन करनेवाले ! **मियेध्य**=(मेध्य) संगतिकरण योग्य व उपास्य ! **हव्यवाहन**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो ! **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपका ही **स्तविष्यामि**=स्तवन करूँगा । २. आप **त्रातारम्**=सबके रक्षक हैं, रोगादि से बचानेवाले हैं, **अमृतम्**=वासनाओं के कारण हमें कभी भी विषयों के पीछे न मरने देनेवाले हैं, **यजिष्ठम्**=सर्वाधिक पूज्य, संगतिकरण के योग्य व आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले हैं (यज=देवपूजा-संगतिकरण-दान)। ३. प्रभुस्तवन से हम बहुत-कुछ प्रभु के अनुरूप बनते हैं, हमारे सामने एक लक्ष्यदृष्टि पैदा होती है और उसकी ओर बढ़ते हुए हम विषयों की चमक से आकृष्ट होकर बीच में ही रुक नहीं जाते।

भावार्थ—हमें प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—भुरिग् बृहती । स्वरः—पञ्चमः ।

सुशंस, मधुजिह्व, स्वाहुत

सुशंसो बोधि गृणते यविष्ठ्य मधुजिह्वः स्वाहुतः ।
प्रस्कण्वस्य प्रतिरन्नायुर्जीवसे नमस्या दैव्यं जनम् ॥९॥

१. हे प्रभो ! आप **गृणते**=स्तुति करनेवाले के लिए **सुशंसः**=उत्तम शंसन व उपदेश करनेवाले **बोधि**=जाने जाते हो। उस स्तोता के लिए आप उत्तम ज्ञान देते हैं। २. **यविष्ठ्य**—गुणों को प्राप्त कराने तथा अवगुणों को दूर करने में सर्वोत्तम प्रभो ! आप अपने स्तोता के लिए **मधुजिह्वः**=माधुर्यमय जिह्वा-वाले अर्थात् अत्यन्त मधुर शब्दोंवाले तथा **स्वाहुतः**=(सु आहुतः) उत्तमोत्तम हव्य पदार्थों को देनेवाले हो। ३. आप **प्रस्कण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष की **आयुः**=आयु को **प्रतिरन्**=बढ़ाते हुए **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **दैव्यं जनम्**=दैव्य लोगों को अर्थात् प्रभुप्रवण पुरुषों को **नमस्या**=(परिचरणकर्मा नमस्यति) पूजित कराइए। आपकी कृपा से यह अध्यात्मवृत्तिवाले लोगों के सम्पर्क में आये और उनकी सेवा-शुश्रूषा (परिचरण) करता हुआ उनके उपदेशों से जीवन-निर्माण की प्रेरणा लेता हुआ जीवन को उन्नत बनाए। उत्तम जीवन यही है कि मनुष्य (क) प्रभु के उत्तम उपदेशों को सुने, (ख) माधुर्यमयी जिह्वावाला हो, (ग) उत्तम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करे, (घ) दैव्य लोगों के सम्पर्क में आकर जीवन को उत्तम बनाते हुए दीर्घ जीवनवाला हो।

भावार्थ—उत्तम जीवन का परिचय प्रस्तुत मन्त्र में 'सुशंसः, मधुजिह्वः, स्वाहुतः'—इन शब्दों में दिया गया है। इस जीवन के निर्माण के लिए यत्नशील होना चाहिए तथा दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहिए।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्पथ्याबृहती । स्वरः—मध्यमः ।

होता-विश्ववेदस्

होतारं विश्ववेदसं सं हि त्वा विश इन्धते ।
स आ वह पुरुहूत प्रचेतसोऽग्ने देवाँ इह द्रवत् ॥७॥

१. हे प्रभो ! **होतारम्**=सब पदार्थों के देनेवाले, **विश्ववेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वधन **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **विशः**=सब प्रजाएँ, संसार में प्रवेश करनेवाले व्यक्ति **समिन्धते**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं । वस्तुतः प्रभु को अपने हृदय में दीप्त करने की साधना 'होतारं व विश्ववेदसम्' इन शब्दों से ही सूचित हो रही है । हम होता=देनेवाले, देकर यज्ञशेष का खानेवाले बनें तथा **विश्ववेदस्**=सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें । २. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे गये अथवा जिनको पुकारना हमारा पूरक व पालक है, ऐसे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **सः**=वे आप **प्रचेतसः देवान्**=प्रकृष्ट चेतनावाले विद्वानों को **द्रवत्**=शीघ्र **इह**=इस हमारे जीवन में **आवह**=प्राप्त कराइए । इनके सम्पर्क में आकर हम भी प्रचेतस् बनें और दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए सदा यत्नशील हों ।

भावार्थ —वे प्रभु होता हैं, विश्ववेदस् हैं । उनकी कृपा से हमारा दिव्य गुणोंवाले विद्वानों से सम्पर्क हो और हम भी देव बनें ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता--अग्निः । छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

कण्व व सुतसोम

सवितारमुषसमश्विना भगमग्निं व्युष्टिषु क्षपः ।
कण्वासस्त्वा सुतसोमास इन्धते हव्यवाहं स्वध्वर ॥८॥

१. **व्युष्टिषु**=उषःकालों में और **क्षपः**=रात्रि को अर्थात् दिन तथा रात्रि के प्रारम्भ में **कण्वासः**=मेधावी पुरुष **सवितारम्**=सबको कर्मों में प्रेरणा देनेवाले सूर्य को **इन्धते**=अपने में दीप्त करते हैं । सूर्य का ध्यान करके सूर्य से 'सतत क्रियाशीलता' की दीक्षा लेते हैं और इस निरन्तर कर्म-संलग्नता के द्वारा वासनाओं से बचकर सूर्य की भाँति ही चमकते हैं । २. **उषसम्**=ये उषा को अपने में समिद्ध करते हैं और जैसे उषा (उष दाहे) अन्धकार का दहन करती है, उसी प्रकार ये अपने अज्ञानान्धकार का दहन करने के लिए यत्नशील होते हैं । ३. **अश्विना**=ये प्राणापान की साधना करते हैं । इस प्राणसाधना से ये शरीर व मन को स्वस्थ व निर्मल बनाते हैं । यह प्राणसाधना ही इनके मस्तिष्क को भी दीप्त करनेवाली होती है । ४. **भगम्**=मेधावी पुरुष 'भग' को अपने में दीप्त करता है । यह 'भग' ऐश्वर्य की देवता है । सांसारिक यात्रा के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को जुटाना भी प्रभु-प्राप्ति के लिए एक साधन है । तुलसीदास ने 'भूखे भजन न होई' इन शब्दों में इस सत्य को व्यक्त किया है । ५. **अग्निम्**=ये अग्नि को अपने में दीप्त करते हैं । अग्नि से प्रकाश व आगे बढ़ने की दीक्षा लेते हैं । ६. हे **स्वध्वर**=सब उत्तम, हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को सिद्ध करनेवाले प्रभो ! **सुतसोमासः**=अपने में सोम का सम्पादन करनेवाले, वीर्यशक्ति को शरीर में ही उत्पन्न व सुरक्षित करनेवाले व्यक्ति **हव्यवाहम्**=सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको **इन्धते**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं । प्रभु-प्राप्ति व प्रभु-दर्शन का उपाय 'कण्व व सुतसोम' बनना है । हम **कण्व**=मेधावी बनें, अपने में सोमशक्ति की रक्षा करें तभी हम प्रभुदर्शन कर सकेंगे । प्रभुदर्शन के लिए, उस महान् देव के स्वागत के लिए हम 'सविता, उषा,

अश्विनौ, भग व अग्निदेव' को अपने जीवन में लाएँ। यह देवों को जीवन में लाना ही प्रभु के स्वागत की तैयारी है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'सविता, उषा, अश्विनौ, भग व अग्नि' आदि देवों का प्रातः-सायं पूजन करते हुए मेधावी व सशक्त बनकर प्रभु के स्वागत की तैयारी करते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्ची त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अध्वराणां पतिः

पतिर्ह्यध्वराणामग्ने दूतो विशामसि।
उषर्बुध आ वह सोमपीतये देवाँ अद्य स्वर्दृशः ॥९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अध्वराणाम्**=सब हिंसारहित कर्मों के, यज्ञों के **पतिः**=रक्षक **असि**=हैं। आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूरे हुआ करते हैं। २. हे अग्ने! आप ही **विशाम्**=सब प्रजाओं के **दूतः**=ज्ञान के सन्देश को प्राप्त करानेवाले हैं। ३. आप ही **उषर्बुधः**=प्रातःकाल में जागनेवाले **स्वर्दृशः**=ज्ञान के सूर्य को देखनेवाले अर्थात् प्रातःकाल उठकर स्वाध्यायशील **देवान्**=देववृत्ति के लोगों को **अद्य**=आज **सोमपीतये**=सोम के रक्षण व शरीर में ही पीने व व्याप्त करने के लिए **आवह**=प्राप्त कराइए। वस्तुतः शरीर में सोम=वीर्य के रक्षण के लिए आवश्यक है कि (क) हम प्रातःकाल जागें, (ख) स्वाध्यायशील हों, (ग) देववृत्ति को अपनाएँ।

भावार्थ—उषःजागरण, स्वाध्याय व देववृत्ति को अपनाने पर हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं। इस सोम का रक्षण होने पर हमारे जीवन में यज्ञात्मक कर्म चलते हैं और हम प्रभु के ज्ञान-सन्देश को सुन पाते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्विस्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

विश्वदर्शतः पुरोहितः

अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः।
असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **विभावसो**=ज्ञानदीप्तिरूप धनवाले प्रभो! आप **पूर्वाः उषसः अनुदीदेथ**=प्राचीन उषः कालों की भाँति इन उषःकालों में भी चमकते हो। वस्तुतः प्रभु स्वयं तो सदा देदीप्यमान हैं परन्तु हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश इन शान्त उषःकालों में ही सम्भव है। इनका नाम ही 'ब्राह्ममुहूर्त' हो गया है। २. हे प्रभो! आप **विश्वदर्शतः असि**=सबसे दर्शनीय हैं। जो भी अपने हृदय को निर्मल बनाता है वही प्रभु का दर्शन कर पाता है। प्रभुदर्शन के लिए दिशा, काल अथवा देश, जाति आदि का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। ३. **ग्रामेसु अविता**=नगरों में—नगरों में रहनेवाले लोगों का रक्षण करनेवाले आप ही हैं। ४. **पुरोहितः असि**=सब लोगों के सामने (पुरः) आप आदर्श के रूप में विद्यमान हैं (हितः)। आपके गुणों का स्तवन करते हुए हम अपने जीवन के आदर्श को देख पाते हैं। ५. उन गुणों को धारण करते हुए जब हम **यज्ञेषु**=उत्तम कर्मों में व्यापृत होते हैं तो आप **मानुषः**=यज्ञों के होने पर मनुष्य का कल्याण व हित करते हैं। यज्ञों के द्वारा प्रभु मानवहित का साधन करते हैं। ये यज्ञ 'इष्ट कामधुक्' हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा दीप्त हैं। ब्राह्ममुहूर्त में प्रभु का दर्शन होता है। प्रभु ही हमारे रक्षक हैं। यज्ञों के द्वारा मानवमात्र का कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्रचेतस-जीर

नि त्वा॑ य॒ज्ञस्य॒ साध॑नमग्ने॒ होता॑रमृ॒त्विज॑म्।
म॒नु॒ष्वद्दे॑व धीमहि॒ प्रचे॑तसं जी॒रं दू॒तमम॑र्त्यम् ॥११॥

१. **अग्ने**=अग्रेणी परमात्मन्! **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आपको **मनुष्यवत्**=विचारशील पुरुष की भाँति **निधीमहि**=हम हृदयों में धारण करते हैं। जो आप **यज्ञस्य साधनम्**=सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले हैं, **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं, **ऋत्विजम्**=समय-समय पर उपासना के योग्य हैं, **प्रचेतसम्**=प्रकृष्टज्ञानवाले हैं, **जीरम्**=हमारी सब बुराइयों को जीर्ण-शीर्ण करनेवाले हैं, **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं और **अमर्त्यम्**=हमें विषय-वासनाओं के पीछे मरने से बचानेवाले हैं। २. (क) यज्ञों के साधन के लिए सब पदार्थों के देनेवाले हैं, (ख) उपासित होने पर प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हैं, (ग) विषय-वासनाओं को जीर्ण करके ज्ञान देते हैं और हमें मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनों में यज्ञों को सिद्ध करते हैं, ज्ञान देते हैं और हमें मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

दीप्त व शान्त ज्ञान

यद्दे॒वानां॑ मित्रमहः पु॒रोहि॑तो॒ऽन्त॑रो॒ यासि॑ दू॒त्य॑म्।
सिन्धो॑रिव॒ प्रस्व॑नितास ऊ॒र्मयो॒ऽग्नेर्भ्रा॑जन्ते अ॒र्चय॑ः ॥१२॥

१. हे प्रभो! **मित्रमहः**=स्नेहयुक्त तेजस्वितावाले (महस्=तेजः), **पुरोहितः**=सबके सामने आदर्शरूप से स्थित **अन्तरः**=हृदय में स्थित हुए-हुए आप **यत्**=जब **देवानां दूत्यं यासि**=देवों के दूतकर्म को प्राप्त करते हैं अर्थात् जब प्रभु ज्ञान का सन्देश प्राप्त कराते हैं तो **सिन्धोः**=समुद्र की **प्रस्वनितासः ऊर्मयः इव**=गर्जती हुई लहरों की भाँति **अग्नेः**=इस प्रगतिशील जीव की **अर्चयः**=ज्ञानदीप्तियाँ **भ्राजन्ते**=चमक उठती हैं। २. प्रभु तेजस्वी हैं परन्तु उनका तेज स्नेह से युक्त है, अतः वह तेज कभी सन्तापक नहीं होता। ३. वे प्रभु सभी के पुरोहित हैं—सभी के सामने आदर्शरूप से स्थित हैं। हमें अपने पिता प्रभु का ही तो अनुरूप पुत्र बनना है। ४. ये प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं, हृदयस्थ होकर हमें ज्ञान दे रहे हैं। ५. इस प्रकार जब हमें प्रभु के ज्ञान का यह सन्देश प्राप्त होता है तो हमारी ज्ञान की दीप्तियाँ इस प्रकार चमकती हैं मानो समुद्र की गर्जती हुई लहरें हों। इस उपमा का सौन्दर्य इस बात में है कि ज्ञान अग्नि के समान देदीप्यमान है तो जल के समान शान्ति देनेवाला भी है। लहरों की उच्चता ज्ञान की उच्चता का संकेत कर रही है।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमें दीप्त व शान्त बनानेवाला है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—पथ्याबृहती । स्वरः—मध्यमः ।

श्रुत्-कर्ण

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम् ॥१३॥

१. हे **श्रुत्कर्ण**=हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले तथा हमारे कष्टों को विकीर्ण (कॄ विक्षेपे) करनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **श्रुधि**=आप हमारी प्रार्थना को सुनिए । २. आपकी कृपा से **वह्निभिः**=हमें मोक्षरूप लक्ष्य तक पहुँचानेवाले **सयावभिः**=सदा साथ प्राप्त होनेवाले अर्थात् जो सदा इकट्ठे ही रहते हैं, एक के प्राप्त होने पर दूसरे भी प्राप्त हो ही जाते हैं, उन **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ **बर्हिषि**=हमारे हृदयान्तरिक्षों में **मित्रः**=स्नेह का भाव **अर्यमा**=दान का भाव (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति अथवा अरीन् नियच्छति) या संयम की भावना—ये सब **आसीदन्तु**=आसीन हों । प्रभुकृपा से हमारे हृदय दिव्य गुणों के अधिष्ठान बनें । ३. हम सब **अध्वरम्**=यज्ञों के प्रति **प्रातर्यावाणः**=प्रातः से जानेवाले हों । हमारा प्रतिदिन का प्रारम्भ यज्ञात्मक कर्मों से ही हो ।

भावार्थ—प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनते हैं, हमें दिव्यगुणों को प्राप्त कराते हैं । हम प्रातः से ही यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व, ऋतावृध्

शृण्वन्तु स्तोमं मरुतः सुदानवोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः ।
पिबतु सोमं वरुणो धृतव्रतोऽश्विभ्यामुषसा सजूः ॥१४॥

१. **स्तोमं शृण्वन्तु**=प्रभु के स्तुतिसमूहों को सुनें ! प्रभुगुणों के प्रतिपादक वचनों को सुनकर उनके अनुसार अपने जीवनों को बनाएँ ! ऐसा करने में ही जीवन की सार्थकता है । मैं प्रभु का कीर्तन 'दयालु' नाम से करूँ, और व्यवहार में क्रूर बनूँ तो सब कोई यही कहेगा कि 'इसने क्या कीर्तन सुना व किया ?' २. वास्तव में प्रभु-कीर्तन को सुननेवाले ये व्यक्ति (क) **मरुतः**=(मितराविणः, महद् द्रवन्ति, निरु० ११।१३) मितरावी=कम बोलनेवाले और खूब क्रियाशील होते हैं (ख) **सुदानवः**=उत्तम दानशील, वासनाओं का लवण करनेवाले (दाप् लवणे) और अपना शोधन करनेवाले (दैप् शोधने) होते हैं (ग) **अग्निजिह्वाः**—(अग्निवद् विद्याशब्दप्रकाशिका जिह्वा येषां ते—द०) अग्नि के समान ज्ञानप्रकाश देनेवाली वाणीवाले होते हैं (घ) **ऋतावृधः**=अपने जीवन में ऋत=यज्ञ व उत्तम कर्मों का वर्धन करनेवाले होते हैं । ३. इस प्रकार सच्चे रूप में प्रभुस्तवन का श्रवण करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह **वरुणः**=ईर्ष्या-द्वेष आदि का निवारण करनेवाला **धृतव्रतः**=व्रतों का धारण करनेवाला बनकर **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों तथा **उषसा सजूः**=उषःकाल के साथ **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे, शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला बने । शक्ति की ऊर्ध्वगति के लिए चार बातों का यहाँ संकेत है—(क) हम वरुण बनें, द्वेषादि से बचें; (ख) व्रती जीवनवाले हों; (ग) प्राणापान का संयम करने के लिए प्रतिदिन प्राणायाम करें; (घ) प्रातःजागरण की वृत्तिवाले हों । ४. वस्तुतः सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति ही स्तोमों का ठीक प्रकार से श्रवण कर पाता है । यह 'मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व और ऋतावृध' बनता है ।

भावार्थ – हम प्रभु के स्तवन का श्रवण करते हुए 'मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व व ऋतावृध्' बनें। वरुण व धृतव्रत होकर प्राण-साधना व प्रातःजागरण के अभ्यासी बनकर सोम का पान करें, शक्ति का शरीर में ही रक्षण करें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ सत्सङ्ग द्वारा ज्ञान व धन की प्रार्थना से होता है (१)। ज्ञानवर्धन के लिए सात्त्विक अन्न का ही सेवन करें (२)। प्रभु 'धूमकेतु' हैं—हमारी कामवासनाओं को दूर करके हमें यज्ञशील बनाते हैं (३)। इसलिए हमारा प्रत्येक प्रातःकाल प्रभुस्तवन से ही प्रारम्भ हो (४)। प्रभु-स्तवन का हम दृढ़ निश्चय करें (५)। वे प्रभु 'सुशंस, मधुजिह्व और स्वाहुत' हैं (६)। 'होता तथा विश्ववेदस्' हैं (७)। मेधावी व सशक्त बनकर हम प्रभु के स्वागत की तैयारी करें (८)। वे प्रभु ही सब यज्ञों के रक्षक हैं (९)। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में हम इस प्रभु का दर्शन करने के लिए तैयार हों (१०)। ज्ञान-साधना करते हुए प्रभु को हृदय में धारण करें (११)। उस प्रभु के शान्त व दीप्त ज्ञान को सिद्ध करें (१२)। प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें, इसके लिए हम प्रातः से ही यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ (१३)। 'मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व व ऋतावृध्' बनें (१४)। ऐसा बनने के लिए 'वसु, रुद्र व आदित्य' लोगों के सम्पर्क में आएँ—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

किनका सङ्ग

त्वम॑ग्ने वसूँ॑रि॒ह रु॒द्राँ आ॑दि॒त्याँ उ॒त। यजा॑ स्वध्व॒रं जनं॒ मनु॑जातं घृत॒प्रुष॑म् ॥१॥

१. हे अग्ने=परमात्मन्! त्वम्=आप इह=इस जीवन में यज=हमारे साथ सङ्गत कर—उन लोगों को जोकि (क) **वसून्**=वसु हैं—प्रथम कोटि के ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने निवास को उत्तम बनाते हैं, स्वस्थ शरीरवाले होते हैं, (ख) **रुद्रान्**=जो मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रभु-स्तवनपूर्वक कर्मों में सदा प्रवृत्त रहते हैं (रोरूयमाणो द्रवति) और इस प्रकार काम, क्रोध, लोभादि वासनाओं को विनष्ट करते हुए रुलानेवाले होते हैं (रोदयन्ति) **उत**=और (ग) **आदित्यान्**=जो उत्तम कोटि के ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सब ज्ञानों व उत्तमताओं को अपने में ग्रहण करनेवाले होते हैं (आदानात् आदित्यः)। २. हे प्रभो! हमारे साथ उन मनुष्यों को संगत कीजिए जोकि (क) **स्वध्वरम्**=उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करनेवाले हैं; (ख) **जनम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले हैं; (ग) **मनुजातम्** (मनुषु जातः, मनुमेव अनुभवितुं जातः), ज्ञान के उत्पादन के लिए जिनका जन्म हुआ है अर्थात् जो सदा ज्ञानप्राप्ति में प्रवृत्त हैं; और (घ) **घृतप्रुषम्**=(मुष् स्नेहनसेचनपूरणेषु, घृतेन पुष्णाति, घृ क्षरणदीप्त्योः) मन की निर्मलता तथा ज्ञान की दीप्ति से जो सबको स्निग्ध, सिक्त व पूरित करनेवाले हैं।

भावार्थ—'वसु, रुद्र, आदित्य, स्वध्वर, जन, मनुजात व घृतप्रुट्' लोगों के सम्पर्क में आकर हम भी इन जैसे ही बनने के लिए सयत्न हों।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

तेतीस देव

श्रु॒ष्टी॒वानो॒ हि दा॒शुषे॑ दे॒वा अ॑ग्ने॒ विचे॑तसः। तान् रो॑हिदश्व गिर्वण॒स्त्रय॑स्त्रिंशत॒मा व॑ह ॥२॥

१. **अग्ने**=परमात्मन् ! **विचेतसः**=विशिष्ट ज्ञानवाले **देवाः**=दिव्यवृत्तिवाले लोग **हि**=निश्चय से **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **श्रुष्टीवानः**=उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाले हैं (श्रुष्टिः प्रेरणार्थः, सा०; श्रुष्टिं वनन्ति, भजन्ति)। विचेतस् देवलोग अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति को सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। २. हे **रोहिदश्व**=सदा वर्धमान व व्यापक प्रभो ! (रुह प्रादुर्भाव, अश् व्याप्तौ) अथवा हमारे इन्द्रियाश्वों के वर्धन करनेवाले प्रभो ! **गिर्वणः**=वेदवाणियों से सम्भजनीय प्रभो ! आप **तान्**=उन **त्रयस्त्रिंशतम्**=तेतीस-के-तेतीस दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। बाह्यजगत् में तेतीस देव हैं, ये ही तेतीस देव हमारे शरीर में भी प्रतिष्ठित हैं—'**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते**'। इन तेतीस देवों के शरीर में ठीक रूप से प्रतिष्ठित होने पर मनुष्य देव बन जाता है। इन देवों के साथ हमारा सम्पर्क हो, ताकि हम भी 'देव' बनने के लिए प्रवृत्त हों।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में आकर उनसे प्रेरणा को प्राप्त होते हुए हम भी देव बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'प्रियमेध-अत्रि-विरूप व अङ्गिरस'='प्रस्कण्व' जीवन का सन्मार्ग

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्। अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ ! **महिव्रत**=महनीय व्रतों व कर्मोंवाले प्रभो ! आप **प्रस्कण्वस्य**=मुझ मेधावी की **हवम्**=पुकार को, प्रार्थना को **श्रुधी**=सुनिए। उसी प्रकार सुनिए **इव**=जिस प्रकार (क) **प्रियमेधवत्**=प्रियमेध की प्रार्थना को आप सुनते हैं। 'प्रिय है मेधा जिसको' उस ज्ञान की रुचिवाले, बुद्धि का सम्पादन करनेवाले व्यक्ति की प्रार्थना को प्रभु अवश्य सुनते हैं। (ख) **अत्रिवत्**=जिस प्रकार आप 'अत्रि' की प्रार्थना को सुनते हैं। 'अविद्यमानास्त्रयो यस्मिन्'—'काम-क्रोध व लोभ' ये तीनों, गीता के शब्दों में नरक के द्वार—जिसमें नहीं हैं, उस व्यक्ति की प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है। (ग) **विरूपवत्**=जिस प्रकार आप विरूप की प्रार्थना को सुनते हैं। स्वास्थ्य, मन की निर्मलता व ज्ञान के द्वारा जिसका चेहरा चमकता है, उसकी प्रार्थना को प्रभु सुनते हैं। मैं भी विरूप बनूँ जिससे मेरी प्रार्थना भी सुनी जाए। (घ) **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति मेरी प्रार्थना को भी सुनिए। जो व्यक्ति आसमन्तात् उत्तम व्यायामादि को अपनाकर युक्ताहार-विहार से अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय बनाये रखता है, उसकी प्रार्थना को ही प्रभु सुनते हैं। स्वास्थ्य का ध्यान न करके, युक्ताहार-विहार को न करते हुए हम यदि शरीर को सूखे काठ की भाँति जीर्णशक्ति कर लेते हैं तो हम प्रभु के प्रिय नहीं बन सकते। प्रभु के दिये हुए इस शरीर-मन्दिर को सुन्दर बनाये रखना आवश्यक है।

भावार्थ—हम 'प्रियमेध, अत्रि, विरूप व अङ्गिरस' बनें—इसी में हमारी प्रस्कण्वता=मेधाविता व समझदारी है। हम ऐसा बनेंगे तभी प्रभु के प्रिय होंगे। प्रभु हमारी प्रार्थना को, हमारे ऐसा बनने के लिए यत्नशील होने पर ही सुनेंगे। प्रभु 'जातवेद व महिव्रत' हैं। हम भी ज्ञानी व सुव्रती बनने का ध्यान करें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः

महिकेरु-प्रियमेध

महिकेरव ऊतये प्रियमेधा अहूषत। राजन्तमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा ॥४॥

१. **महिकेरवः**=महनीय=उत्तम कर्मों को सुन्दरता से करनेवाले **प्रियमेधः**=प्रिय बुद्धि व यज्ञोंवाले लोग **अध्वराणाम्**=यज्ञों की **ऊतये**=रक्षा के लिए **शुक्रेण**=देदीप्यमान **शोचिषा**=तेजस्विता

व ज्ञान की दीप्ति से **राजन्तम्**=चमकते हुए **अग्निम्**=सब उत्तम कर्मों को आगे ले-चलनेवाले उस प्रभु को **अहूषत**=पुकारते हैं। २. 'विश्वामित्र' यज्ञ करते थे तो 'राम' उस यज्ञ के रक्षण के लिए उपस्थित थे। यज्ञ न होता तो रक्षण किस वस्तु का होता ? इसी प्रकार हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं तो उस प्रभु को उन यज्ञों के रक्षण के लिए पुकारने के पात्र होते हैं। ३. 'महिकेरु-प्रियमेध' लोग यज्ञ करते हैं और शुक्र-शोचि से देदीप्यमान प्रभु उस यज्ञ का रक्षण करते हैं। ४. मनुष्य का आदर्श यही है कि वह 'महिकेरु-प्रियमेध' हो—महनीय, उत्तम कर्मों को करनेवाला, बुद्धि को प्रियवस्तु समझनेवाला व यज्ञरुचि हो।

भावार्थ—हम यज्ञ करें, प्रभु हमारे यज्ञों के रक्षक हों।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

रक्षा-कीर्ति-अन्न व धन

घृताहवन सन्त्येमा उ षु श्रुधी गिरः। याभिः कण्वस्य सूनवो हवन्तेऽवसे त्वा ॥५॥

१. 'घृत' शब्द 'मन की निर्मलता व ज्ञान की दीप्ति' का वाचक है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। वे प्रभु इस घृत से ही 'आहूयमान' होते हैं—पुकारे जाते हैं। प्रभु को पुकारने का अधिकार उसी व्यक्ति को होता है जोकि इस घृत का सम्पादन करता है। हे **घृताहवन**=घृत से आहूयमान प्रभो! **सन्त्य**=(सन संभक्तौ) उत्तमोत्तम पदार्थों को देनेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभो! **इमाः गिरः**=इन प्रार्थनावाणियों को **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **श्रुधि**=सुनिए **याभिः**=जिन वाणियों से **कण्वस्य**=मेधावी के **सूनवः**=पुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी 'प्रस्कण्व' लोग **त्वा**=आपको **अवसे**=रक्षा (protection), कीर्ति (fame), अन्न (food) व धन (riches) के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। २. सम्पूर्ण अन्न व धन तथा रक्षण व यश प्रभु से ही प्राप्त होता है। प्रभु ने ज्ञान की वाणियों के द्वारा इनके साधन के लिए उपदेश दिया है। समझदार लोग अपने मनों को निर्मल करके इन ज्ञानीजनों की वाणियों से उन साधनों को जानकर क्रियान्वित करते हैं और वे प्रभु उन कर्मों के अनुसार हमें उन्नति के लिए आवश्यक उत्तमोत्तम पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। एवं क्रम यह होता है कि (क) हम जानें, (ख) उसके अनुसार करें, और (ग) तब फलों को प्राप्त हों।

भावार्थ—हम जब वेदवाणियों में प्रतिपादित ज्ञान का अनुष्ठान करते हैं तो प्रभु हमें 'अन्न, धन, यश व रक्षण' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

चित्रश्रवस्तम अग्नि

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः। शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोळ्हवे ॥६॥

१. 'श्रवस्' शब्द के यश (Glory), धन (Wealth), स्तोत्र (A hymn) व प्रशस्त कर्म (Praise-worthy action) ये अर्थ हैं। हे **चित्रश्रवस्तम**=अद्भुत व अतिशयित (अत्यन्त) यश, धन, स्तोत्र व प्रशस्त कर्मोंवाले प्रभो! **पुरुप्रिय**=पालक-पूरक व प्रीणयिता प्रभो! **अग्ने**=सब अग्रगतियों के साधक प्रभो! **विक्षु त्वाम्**=सब प्राणियों में निवास करनेवाले आपको, जो आप **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान ज्ञानरश्मियोंवाले हैं, उन आपको **जन्तवः**=संसार में जन्म लेनेवाले लोग **हव्याय वोळ्हवे**=हव्य=उत्तम पदार्थों को प्राप्त कराने के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। २. प्रभु सचमुच अद्भुत यशवाले हैं, उनकी महिमा का पूर्ण गायन किसी के लिए भी सम्भव नहीं। वे अनन्त धनवाले हैं, सब धनों को प्राप्त करानेवाले वे ही हैं। वेदवाणियों में उनके अद्भुत स्तोत्रों का प्रतिपादन हुआ है, उनकी कृतियाँ सचमुच अत्यन्त प्रशस्त हैं। देदीप्यमान

ज्ञानरश्मियोंवाले वे प्रभु 'शोचिष्केश' हैं। ३. वे प्रभु हमें शरीर देते हैं। इस शरीर में वे प्रभु भी अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। सब प्रजाओं में उनका निवास है **'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशन्'**। ४. ये प्रभु ही जीवों को सब हव्य पदार्थ प्राप्त कराते हैं। इन पदार्थों को प्राप्त कराके वे हमारा 'पालन, पूरण व प्रीणन' कर रहे हैं।

भावार्थ—हम उस चित्रश्रवस्तम, शोचिष्केश, पुरुप्रिय-अग्नि' का आराधन करें। वे ही हमें सब हव्यपदार्थ प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ज्ञानयज्ञ द्वारा उपासना

नि त्वा होतारमृत्विजं दधिरे वसुवित्तमम्। श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं विप्रा अग्ने दिविष्टिषु ॥७॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **दिविष्टिषु**=ज्ञानयज्ञों में **त्वा**=आपको **निदधिरे**=निश्चय से धारण करते हैं। प्रभु का उपासन विप्रलोग करते हैं, यह उपासन ज्ञानयज्ञों में चलता है। **दिव्**=प्रकाश, **इष्टि**=यज्ञ। इस प्रकार ज्ञानयज्ञों में प्रभु का उपासन चलता है। २. उस प्रभु का जोकि (क) **होतारम्**=सब उत्तम पदार्थों के देनेवाले हैं, सृष्टियज्ञ के होता हैं। (ख) **ऋत्विजम्**=ऋतु-ऋतु में, प्रत्येक समय उपासना के योग्य हैं। (ग) **वसुवित्तमम्**=सब उत्तम वसुओं के प्राप्त करानेवालों में सर्वाधिक हैं। वस्तुतः वे प्रभु ही निवास के लिए आवश्यक सब धनों को देते हैं। (घ) **श्रुत्कर्णम्**=हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले हैं और हमारे कष्टों व पापों को विकीर्ण करनेवाले हैं। (ङ) **सप्रथस्तमम्**=अधिक-से-अधिक विस्तारवाले हैं अथवा अत्यन्त विस्तृत यशवाले हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञों में उस प्रभु का उपासन करते हैं जोकि 'होता, ऋत्विज्, वसुवित्तम, श्रुत्कर्ण व सप्रथस्तम' है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अग्निर्देवाः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सुतसोम आचार्य

आ त्वा विप्रा अचुच्यवुः सुतसोमा अभि प्रयः। बृहद्भा बिभ्रतो हविरग्ने मर्ताय दाशुषे ॥८॥

१. **अग्ने**=हे परमात्मन्! **विप्राः**=ज्ञानी लोग—विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग **त्वा**=आपको **अभि अचुच्यवुः**=जीवनकाल में और इस जीवन की समाप्ति पर प्राप्त करते हैं। कौन-से ज्ञानी लोग? (क) **सुतसोमाः**=जो अपने शरीर में सोम का सम्पादन करते हैं। भोजन से उत्पन्न सोम-शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रखते हैं। (ख) जो **दाशुषे मर्ताय**=दाश्वान्, अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **प्रयः**=अन्न को **बृहद्भाः**=उत्कृष्ट ज्ञानज्योति को तथा **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को **बिभ्रतः**=धारण करते हैं, अर्थात् वे आचार्य प्रभु को प्राप्त करते हैं जोकि उनके समीप आये हुए विद्यार्थियों को शरीर-धारण के लिए आवश्यक अन्न प्राप्त कराते हैं, ज्ञान की ज्योति देते हैं तथा उनके मन में दानपूर्वक अदन की वृत्ति को उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—अपने अन्दर शक्ति का उत्पादन व रक्षण करनेवाले आचार्य विद्यार्थियों को 'अन्न, ज्ञान व त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति' प्राप्त कराते हैं। ये आचार्य इस प्रकार कर्तव्यपालन करते हुए प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—अग्निर्देवाः । छन्दः—विराडनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

सोमपान से सहस् की उत्पत्ति

प्रातर्याव्णः सहस्कृत सोमपेयाय सन्त्य । इहाद्य दैव्यं जनं बर्हिरा सादया वसो ॥९॥

१. हे **सहस्कृत**=सहस् के द्वारा उत्पन्न अर्थात् जिन आपका प्रादुर्भाव हमारे हृदयों में तभी होता है जबकि हम 'सहस्' वाले बनते हैं। आनन्दमय कोश की शक्ति का नाम ही 'सहस्' है; प्रभु का दर्शन 'सहस्' से ही होता है। निर्बल व चिड़चिड़े पुरुष को प्रभु का प्रकाश प्राप्त नहीं होता। हे **सन्त्य**= उत्तमोत्तम साधनभूत वस्तुओं के प्राप्त करानेवाले प्रभो ! आप **इह**=इस मानव-जीवन में **अद्य**=आज और अब **सोमपेयाय**=सोम का पालन करने के लिए, सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखने के लिए **दैव्यं जनम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों को **बर्हिः**=यज्ञों में **आसादय**=प्राप्त कराइए। वस्तुतः यज्ञों में लगे रहना ही वह उपाय है जोकि मनुष्यों को वासनाओं का शिकार नहीं होने देता और इस प्रकार उसे सोम का रक्षण करने के योग्य बनाता है। हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो ! आप **प्रातर्याव्णः**= प्रातः से ही कर्मों में लगनेवाले इन लोगों को **बर्हिः आसादय**=यज्ञों में प्राप्त कराइए। यह कहा जा चुका है कि सोमरक्षण के लिए कर्मशीलता—यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना आवश्यक है। उसी बात पर बल देने के लिए 'प्रातर्याव्णः' शब्द का प्रयोग है—प्रातः से ही कर्मों में व्यापृत हो जाना—कर्मों में लग जाना इसलिए नितान्त आवश्यक है कि ज़रा खाली हुए और वासनाओं का आक्रमण हुआ। साथ ही प्रातः जागरण भी आवश्यक है। वेद में अन्यत्र कहा गया है कि प्रातः सोये हुओं के तेज को सूर्य अपहृत कर लेता है। ३. 'प्रातः उठना व यज्ञादि कर्मों में लगे रहना' ही मनुष्य को 'सोमपान' करनेवाला बनाता है। सोमपान से शक्ति व सहस् उत्पन्न होता है। इस सहस् की उत्पत्ति से हमें प्रभुदर्शन होता है।

भावार्थ—हम प्रातः उठें, कार्यों में लगे रहें (=समारम्भ ही हमारा ध्येय हो)। सोम-रक्षण द्वारा सहस्वाले बनें। हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश होगा।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—अग्निर्देवाः । छन्दः—विराडनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

देव-सङ्ग

अर्वाञ्चं दैव्यं जनमग्ने यक्ष्व सहूतिभिः । अयं सोमः सुदानवस्तं पात तिरोअह्न्यम् ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! आप कृपा करके **अर्वाञ्चम्**=(अर्वाग् अञ्चति) अन्तर्मुख यात्रावाले, बाह्य विषयों की ओर न जानेवाले **दैव्यं जनम्**=देववृत्ति के लोगों को **सहूतिभिः**=समान पुकारों से **यक्ष्व**=संगत कीजिए अर्थात् आपकी कृपा से हमारे साथ अन्तर्मुख वृत्तिवाले देव लोगों का सम्पर्क हो और उन सब देववृत्ति के लोगों की एक ही पुकार व आराधना हो कि २. हे **सुदानवः**=उत्तम दानशील पुरुषो ! उत्तमता से वासनाओं को विनष्ट करनेवाले (दा लवणे) पुरुषो ! इस प्रकार जीवन का सुन्दर शोधन (दैप् शोधने) करनेवालो ! **अयं सोमः**=यह सोम है—प्रभु की व्यवस्था के द्वारा तुम्हारे शरीरों में रसादि के क्रम से इसका उत्पादन हुआ है। **तम्**=उस सोम को **पात**=शरीर में ही इस प्रकार सुरक्षित करो कि **तिरः**=शरीर में ही अन्तर्हित हो जाए। **अह्न्यम्**=(अह व्याप्तौ) रुधिर में ही इस प्रकार व्याप्त हो जाए जैसेकि दही में घृत अथवा तिलों में तेल व्याप्त होता है। ३. वस्तुतः वासना की उष्णता ही सोम को रुधिर से पृथक् करती है। उसके अभाव में सोम शरीर में सुरक्षित रहेगा ही। इस वासना-विनाश के लिए आवश्यक है कि हमें सदा उत्तम पुरुषों का सङ्ग प्राप्त होता रहे, जिनसे हमें सदा 'सोमपान' की प्रेरणा प्राप्त होती रहे। यह सोमपान ही हमें उस 'सोम' प्रभु का दर्शन कराएगा।

भावार्थ—हमें सदा देवपुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो और हम उनसे सत्प्रेरणा को प्राप्त होते हुए वासनाओं से दूर रहकर सोमपान-क्षम बनें।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि हमें 'वसु, रुद्र व आदित्यों' का सम्पर्क प्राप्त हो (१)। देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देव बनें (२)। हम 'प्रियमेध, अत्रि, विरूप व अङ्गिरस्' हों (३)। हम यज्ञ करें, प्रभु हमारे यज्ञों के रक्षक हों (४)। वेदज्ञान के अनुसार हम अनुष्ठान करें और प्रभु से 'अन्न, धन, यश व रक्षण' प्राप्त करें (५)। प्रभु ही हमें सब हव्य पदार्थों के देनेवाले हैं (६)। ज्ञान-यज्ञों के द्वारा हम उस प्रभु का उपासन करें (७)। सुतसोम आचार्यों का सम्पर्क हमें प्राप्त हो (८)। हम प्रातः उठें और यज्ञों में प्रवृत्त हो जाएँ (९)। देवपुरुषों के सम्पर्क, सत्प्रेरणा को प्राप्त होते हुए सोमरक्षण के लिए यत्नशील हों (१०)। प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना के लिए सन्नद्ध हों—

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अश्विनौ का स्तवन

एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥१॥

१. मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व निश्चय करता है कि **एषा उ**=निश्चय से यह **उषाः**=उषःकाल **अपूर्व्या**='जो पहलेपहल ही उदय हुआ हो' ऐसी बात नहीं, अर्थात् जो सदा से प्रकट होता चला आ रहा है, ऐसा यह उषःकाल **व्युच्छति**=अन्धकार को दूर करता है। बाह्य अन्धकार को ही क्या, यह तो मेरे हृदयान्धकार को भी नष्ट करता है। यह उषःकाल **दिवः प्रिया**=प्रकाश के द्वारा सबकी प्रीति का हेतु है, अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश से सबके हृदयों को आनन्दित करता है। २. इस उषःकाल में मैं प्रस्कण्व हे **अश्विना**=प्राणापानो ! **वाम्**=आपका **बृहत् स्तुषे**=खूब ही स्तवन करता हूँ। मैं प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना के लिए उद्यत होता हूँ।

भावार्थ—यह सदा प्रकट होनेवाली उषा बाह्य अन्धकार को दूर करती हुई मेरे हृदयान्धकार को भी दूर करे और मैं तैयार होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त होऊँ। प्राणसाधना मेरा प्रथम कर्तव्य हो।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दस्रा वसुविदा

या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा ॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार मैं उषःकालों में जागकर उन प्राणापान का स्तवन करता हूँ **या**=जो **दस्रा**=सब रोग व वासनारूप दुःखों के नष्ट करनेवाले हैं। प्राणायाम के द्वारा रोग तो नष्ट होते ही हैं, वासनाओं का भी विनाश होता है, शरीर भी स्वस्थ होता है, मन भी। २. **सिन्धुमातरा**=ये प्राणापान शरीर के सारे नाड़ी-संस्थान में, रुधिर में व्याप्त होकर प्रवाहित होनेवाले (स्यन्दन्ते) रेतःकणों का निर्माण करनेवाले हैं। प्राणसाधना से ही रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। ३. **मनोतरा**=(मनसा तारयितारौ), ज्ञान की वृद्धि से ये हमें वासनाओं से तरानेवाले हैं। ये हमें वासनाओं में फँसने से बचाते हैं। ४. **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा ये प्राणापान **रयीणाम्**=धनों के **देवा**=देनेवाले हैं (देवो दानात्) तथा **वसुविदा**=उत्तम निवासस्थानभूत शरीर को प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना के द्वारा मनुष्य की

क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति बढ़ती है। इनसे जहाँ यह उत्तम धनों का संग्रह कर पाता है, वहाँ इस शरीर को नीरोग व सक्षम बनाकर अपने निवास को सुन्दर व स्पृहणीय बना लेता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से रोग नष्ट होते हैं, वासनाओं का विलय होता है। हमारा शरीर में निवास सुन्दर होता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

स्वर्ग में रथ का विचरण

वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि। यद्वां रथो विभिष्पतात् ॥३॥

१. **यत्**=जब **वाम्**=हे अश्विदेवो! आपका **रथः**=शरीररूपी रथ **विभिः**=इन्द्रियाश्वों से जुता हुआ **जूर्णायाम्**=अत्यन्त स्तुत **अधिविष्टपि**=स्वर्गलोक में **पतात्**=गति करता है तब **वाम्**=आपकी **ककुहासः**=स्तुतियाँ **वच्यन्ते**=उच्चरित होती हैं। २. गत मन्त्र में कहा था कि ये प्राणापान 'दस्र' हैं, आधि-व्याधियों को समाप्त करनेवाले हैं। मनोतरा=ज्ञान के द्वारा वासनाओं से तरानेवाले हैं, धनों के प्राप्त करानेवाले हैं (धिया रयीणां देवा)। एवं ये प्राणापान शरीर व मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराके हमारे इस निवास को स्वर्ग-सा बना देते हैं। उस स्वर्ग में हमारा यह शरीररूप रथ इन्द्रियाश्वों से विचर रहा होता है। यह स्वर्ग-निवास स्तुत्य व प्रशंसनीय तो होता ही है (जूर्णायाम्)। ३. 'इस स्वर्ग में रहते हुए जीव को गर्व न हो जाए' इस दृष्टिकोण से कहते हैं कि हे प्राणापानो! आपकी स्तुतियाँ उच्चरित होती हैं अर्थात् आप निरन्तर प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हो ताकि यह हमें भूल न जाए कि यह सब-कुछ प्रभुकृपा का ही परिणाम है। प्रभुकृपा से ही हम इस पार्थिव निवास को स्वर्ग बना पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में निवास स्वर्गोपम बनता है, परन्तु उस स्वर्ग का हमें गर्व नहीं हो जाता।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूर्य का रक्षण व मार्गदर्शन

हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा। पिता कुटस्य चर्षणिः ॥४॥

१. हे **नरा**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! जब हम आपकी साधना करते हैं तो यह **अपां जारः**=जलों को, वाष्पीभूत करके उड़ाने के द्वारा, जीर्ण करता हुआ सूर्य **हविषा**=अग्नि में आहुतियों के द्वारा **पिपर्ति**=प्रजा का पालन करता है। प्राणसाधना से हम विलास की वृत्ति से ऊपर उठकर यज्ञिय वृत्तिवाले बनते हैं। इन यज्ञों के करने पर ये हविः-पदार्थ छोटे-छोटे कणों में विभक्त होकर सूर्य तक पहुँचता है [**अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**—मनु०]। वहाँ ये सूक्ष्म कण वृष्टि-बिन्दुओं का केन्द्र बनकर बरसने पर पौष्टिक अन्न के उत्पादन का हेतु होते हैं। एवं यह सूर्य हवि के द्वारा हमारा पालन करता है। इसी से यह **पपुरिः**=पालन व पूरण करनेवाला कहलाता है। २. यह सूर्य **पिता**=सबका रक्षक है और **कुटस्य**=मार्ग की कुटिलता का **चर्षणिः**=दिखानेवाला है और इस प्रकार उसमें संलिप्त होने से हमें बचानेवाला है, परन्तु यह सब होता तभी है जबकि हम प्राणों की साधना करते हैं; उसके अभाव में न यज्ञिय वृत्ति होती है और न ही सूर्य हमें कोई लाभ पहुँचा पाता है। प्राणसाधना के अभाव में हम सूर्यप्रकाश में भी कुटिल मार्ग से ही चलते रहते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक के लिए सूर्य रक्षा करनेवाला होता है तथा उसे गन्तव्य मार्ग से भटकने नहीं देता।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः— निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

नासत्या—मतवचसा

आदारो वां मतीनां नासत्या मतवचसा। पातं सोमस्य धृष्णुया ॥५॥

१. हे **नासत्या**=(न असत्या) जिनकी साधना से जीवन में असत्य नहीं रहता, **मतवचसा**=मननीय वचनोंवाले अर्थात् जिनकी साधना से प्रत्येक शब्द ज्ञानपूर्वक उच्चरित होता है, ऐसे प्राणापानो! आप **धृष्णुया**=वासनारूप शत्रुओं के तथा रोगों के धर्षण के दृष्टिकोण से **सोमस्य पातम्**=सोम का रक्षण करो। उस सोम का, जोकि **वाम्**=आपकी **मतीनाम्**=बुद्धियों का **आदारः**=प्रेरक है (प्रेरकः—सा०, दृ आदरे)। २. प्राणसाधना से मन की पवित्रता होकर मन में सत्य का ही निवास होता है। इससे ये प्राणापान 'नासत्या' हैं। इस साधना से हमारा ज्ञान निर्मल होता है और हमारे वचन ज्ञानपूर्वक ही बोले जाते हैं, अतः प्राणापान को मन्त्र में 'मतवचसा' कहा गया है। ३. प्राणसाधना से होनेवाले सब लाभ सोमरक्षण के द्वारा ही होते हैं। प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है। यह सुरक्षित सोम रोग व वासनारूप शत्रुओं का धर्षण करता है और बुद्धियों को प्रेरित करता है। सोमरक्षण से बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय को भी ग्रहण करने लगती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होने पर हमारे (क) मनों में सत्य होगा, (ख) वाणी में ज्ञानपूर्ण वचन होंगे, तथा (ग) रोग व वासनाओं का धर्षण होकर बुद्धियाँ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों का भी ग्रहण करनेवाली होंगी।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सात्त्विक अन्न

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम् ॥६॥

१. पाँचवें मन्त्र के अनुसार सोमपान के लिए आवश्यक है कि हमारा अन्न सात्त्विक हो, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **ताम् इषम्**=उस अन्न को **रासाथाम्**=दीजिए **या**=जो इट्—अन्न **नः**=हमें **पीपरत्**=वासनाओं से पार लगानेवाला हो (पारयेत्)। जिस अन्न से हममें सात्त्विक भाव जागरित हों, अर्थात् हमारा आहार ऐसा शुद्ध हो कि हमारा अन्तःकरण भी शुद्ध ही बने। हम इस बात को न भूलें कि 'जैसा अन्न, वैसा मन', 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'। २. हमें वह इट्—अन्न प्राप्त कराइए जोकि **ज्योतिष्मती**=बुद्धि को सात्त्विक व ज्योतिर्मय बनाये, **तमः तिरः**=हमारे सब अन्धकार को तिरोहित करनेवाला हो। सात्त्विक अन्न के सेवन से बुद्धि भी सात्त्विक हो, जिससे हमारे जीवन में ज्ञान का प्रकाश ही प्रकाश हो, वहाँ अन्धकार का नामावशेष भी न रहे।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न के सेवन से हम वासनाओं से पार हो जाते हैं और सात्त्विक बुद्धि-प्रकाश को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

नाव या रथ

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥७॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म तो बनाते ही हो, आप **मतीनां**

नावा=इन बुद्धियों की नौका के साथ **नः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त होओ। आपकी कृपा से बुद्धि हमारे लिए नौका के रूप में हो जोकि **पाराय गन्तवे**=इस भवसागर से पार जाने के लिए हमारा साधन बने। संसार समुद्र है तो प्रभु ने यह बुद्धि हमें नाव के रूप में दी है। प्राणसाधना से यह नाव ठीक-ठाक बनी रहेगी, तो हम भवसागर से अवश्य ही पार उतर पाएँगे। २. हे प्राणापानो! **रथं युञ्जाथाम्**=शरीररूप रथ को इन्द्रियाश्वों से युक्त करो। प्राणसाधना से इस शरीररूप रथ में उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों का संयोजन होता है और हम इस जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाते हैं। जीवनयात्रा की पूर्णता के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है और प्राणसाधना के बिना शक्ति व क्रियाशीलता सम्भव ही नहीं होती। एवं ये अश्विनौ इस शरीर को भवार्णव के तैरने के लिए नौका का रूप देते हैं तो इस संसार-कान्तार को पार करने के लिए रथ का।

भावार्थ—हमारा यह शरीर एक सुन्दर नाव के समान हो जोकि हमें भवसागर से पार उतारनेवाली हो, तथा यह शरीर वह रथ हो जोकि जीवनयात्रा की पूर्ति में सहायक हो।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ज्ञान का विस्तृत चप्पू

अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः ॥८॥

१. हे अश्विदेवो! **वाम्**=आपका **रथः**=यह शरीररूपी रथ **सिन्धूनां तीर्थे**=समुद्रों के अवतारण प्रदेश में **दिवः**=ज्ञान का **पृथु**=विस्तृत **अरित्रम्**=चप्पू है, अर्थात् प्राणसाधना से मनुष्य की बुद्धि सूक्ष्म व विस्तृत होती है, और यह बुद्धि ही संसार-समुद्र को तैरने के लिए ज्ञान का विस्तृत चप्पू बनती है तथा हमारी जीवन-नौका को भवसिन्धु से पार लगाती है। स्थल में जो रथ था, जल में वह नौका बन जाती है। इन्द्रियाँ इस नाव की चप्पू हैं। २. इस बुद्धि व ज्ञान के रहस्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **इन्दवः**=सोमकण **धिया**=बुद्धि से **युयुज्रे**=युक्त होते हैं अर्थात् ये सोमकण ही सुरक्षित होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं और सूक्ष्मबुद्धि को उत्पन्न करते हैं। 'योगाङ्गों' के अनुष्ठान से विश्लेषणात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है और हमारा ज्ञान चमक उठता है, एवं योगाङ्गों के अनुष्ठान से सोम का भी रक्षण होता है और सोम का रक्षण होकर दीप्त बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। प्राणायाम से सोमरक्षण तथा सोमरक्षण से बुद्धि की उत्पत्ति—यह क्रम है। इस सूक्ष्म बुद्धि से यात्रा की पूर्ति होती है, चूँकि यह प्रभुदर्शन का कारण बनती है। प्रभुदर्शन के बाद जीवन की आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः मनुष्य का जीवन सार्थक हो जाता है।

भावार्थ—अश्विनी देवों की साधना मानवजीवन-नौका के लिए ज्ञान के विस्तृत चप्पू को प्राप्त कराती है। प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है और सोमरक्षण से ज्ञान की दीप्ति।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः- षड्जः।

अपरा व परा विद्या

दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूनां पदे। स्वं वव्रिं कुह धित्सथः ॥९॥

१. **कण्वासः**=कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करनेवाले मेधावी पुरुषो! **इन्दवः**=हे सोमकणों के रक्षण से शक्तिशाली बननेवाले पुरुषो! **दिवः वसु**=ज्ञान के धन को तथा **स्वं वव्रिम्**=आत्मा के वरणीय स्वरूप को **सिन्धूनां पदे**=ज्ञान के समुद्रभूत आचार्यों के (तपोऽतिष्ठन्तप्यमानः समुद्रे) चरणों में

बैठकर **कुह**=किस समय व कहाँ **धित्सथः**=धारण करना चाहते हो। २. कण्व एवं इन्दु पुरुष ही ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त किया करते हैं। 'कण्व' शब्द मेधाविता व कण-कण करके संग्रह की श्रमशीलता का संकेत करता है और 'इन्दु' शब्द सोम के रक्षण का भाव दे रहा है। ये सब बातें ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। ३. 'अपरा विद्या' का संकेत 'दिवः वसु' से दिया गया है और 'परा विद्या' का प्रतिपादन 'स्वं वव्रिम्' शब्द प्रकट कर रहे हैं। यह दोनों प्रकार का ज्ञान उन आचार्यों के चरणों में विनीततापूर्वक बैठकर प्राप्त होता है जोकि स्वयं ज्ञान के समुद्र हैं। ४. न जाने कब प्रभुकृपा होगी और हम इस ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करने में प्रवृत्त होंगे ? इस प्रश्न में ही ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा की भावना निहित है। इस प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में दिया गया है।

भावार्थ—हम कण्व व इन्दु बनकर, आचार्य-चरणों में बैठकर अपरा व परा विद्या का अध्ययन करें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ब्रह्मदर्शन किसे ?

अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वयासितः ॥१०॥

१. गत मन्त्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **उ**=निश्चय से **अंशवे**=(one who divides) जो बाँटकर खाता है, उसके लिए **भाः**=ज्ञान की दीप्ति **अभूत् उ**=होती ही है। ज्ञानप्राप्ति के लिए सबसे प्रथम साधन 'बाँटकर खाना' है। असुर वे हैं जो स्वयं सारा खा जाते हैं, **'स्वेष्वास्येषु जुह्वतश्चेरुः'**=अपने ही मुखों में आहुति देते हुए विचरते हैं। इसके विपरीत 'देव' देनेवाले होते हैं। देवों को ही ज्ञान-ज्योति प्राप्त होती है, असुरों को नहीं। २. **सूर्यः**=(सरति) जो निष्कामभाव से अपने नियत कर्मों के पालन में तत्पर रहते हैं, कभी अकर्मण्य नहीं होते, वे ही व्यक्ति **हिरण्यं प्रति**=हितरमणीय ज्ञान के प्रति अग्रसर होते हैं। ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम सूर्य की भाँति क्रियाशील हों, कभी अकर्मण्य न हो जाएँ। ३. **जिह्वया अ-सितः**=जो पुरुष जिह्वा से बद्ध नहीं है अर्थात् जिसे जिह्वा का व्यसन नहीं लगा, वही व्यक्ति **व्यख्यत्**=(प्रकाशितवान्) अपने हृदयदेश में उस प्रभु को प्रकाशित करता है। इन्द्रियों के व्यसनों से ऊपर उठा हुआ मनुष्य ही प्रभु के प्रकाश को देख पाता है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्ति व ब्रह्मदर्शन का अधिकारी वह होता है जोकि (क) बाँटकर खाता है, यज्ञशेष का सेवन करता है, (ख) निष्कामभाव से कर्तव्यकर्म में लगा रहता है, तथा (ग) जिसे जिह्वा का चस्का नहीं लगा अर्थात् जो जितेन्द्रिय है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ऋत का मार्ग

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः ॥११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'बाँटकर खाना, निष्कामभाव से कर्तव्य कर्म में लगे रहना तथा जिह्वा आदि के विषयों में न फँसना'—यह मार्ग ही 'ऋत का मार्ग' है। **ऋतस्य पन्थाः**=ऋत का यह मार्ग **साधुया**=समीचीनता से **पारम् एतवे**=संसार-सागर से पार जाने के लिए **अभूत् उ**=निश्चय से होता है। इस मार्ग पर चलते हुए मनुष्य संसार-सागर से पार हो जाता है। २. इस मार्ग पर चलने से **दिवः**=प्रकाश की **विस्रुतिः**=(प्रसृता दीप्तिः—सा०) विस्तृत दीप्ति **वि अदर्शि**=दीखती है, अर्थात् ऋत के मार्ग पर चलने से ज्ञान की ज्योति भी बढ़ती है।

भावार्थ—हम ऋत के मार्ग पर चलें। यह मार्ग हमें जन्म-मरण के चक्र से बचानेवाला होगा और हमारी ज्ञान की दीप्ति को बढ़ाएगा।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अङ्ग-प्रत्यङ्ग का अलंकरण

तत्तदिदश्विनोरवो जरिता प्रति भूषति। मदे सोमस्य पिप्रतोः ॥१२॥

१. **जरिता**=स्तोता **मदे**=हर्ष के निमित्त **सोमस्य पिप्रतोः**=(पूरयतो) सोमशक्ति का पूरण करनेवाले **अश्विनोः**=प्राणापानों के **तत् तत् इत्**=निश्चय से उस-उस **अवः**=रक्षण को **प्रतिभूषति**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सुभूषित करता है। २. प्रभु का स्तवन करनेवाला प्राणसाधना करता है। यह प्राणसाधना शरीर में सोम के रक्षण का कारण बनती है। सोमरक्षण से एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्ति से सुभूषित हो उठता है।

भावार्थ—प्राणापान अङ्ग-प्रत्यङ्ग का रक्षण करते हैं, जिससे प्रत्येक अङ्ग शक्ति से अलंकृत हो उठता है और स्तोता को एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

शम का भावन

वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा। मनुष्वच्छंभू आ गतम् ॥१३॥

१. **शम्भू**=शान्ति व कल्याण के उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **मनुष्वत्**=(मनौ इव) विचारशील की भाँति **विवस्वति**=परिचरण व उपासना करनेवाले यजमान में **वावसाना**=निवास करनेवाले आप **सोमस्य पीत्या**=सोम के पान के हेतु से तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के हेतु से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ। २. 'मनुष्वत् तथा विवस्वति'—ये शब्द इस भाव को सुव्यक्त कर रहे हैं कि प्राणसाधनावाला मनुष्य 'ज्ञानसम्पन्न व उपासनावाला' बनता ही है। ३. 'शम्भू' शब्द प्राणसाधना से रोगों व वासनाओं के शान्त होने का संकेत कर रहा है। ४. प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है (सोमस्य पीत्या) और ज्ञान की वृद्धि होती है (गिरा)।

भावार्थ—प्राणसाधना से रोग व वासनाएँ शान्त होती हैं, ज्ञान व उपासना की वृद्धि होती है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

श्री-ऋत+अक्तु

युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत्। ऋता वनथो अक्तुभिः ॥१४॥

१. हे प्राणापानो! **परिज्मनोः युवोः**=शरीर में सर्वत्र गति करनेवाले आपके **अनु**=अनुपात में ही **उषाः**=उषःकाल **श्रियम्**=शोभा को **उपाचरत्**=समीपता से प्राप्त होता है। उषःकाल में जागरण स्वयं मनुष्य के लिए हितकर है, उसे स्वस्थ बनानेवाला एवं तेजस्विता प्राप्त करानेवाला है, परन्तु यह सब-कुछ होता तभी है जबकि मनुष्य प्राणसाधना करता है। २. हे प्राणापानो! आप **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के साथ **ऋता**=सत्यों व यज्ञों का **वनथः**=सम्भजन—सेवन करते हो अथवा (वन्=win) विजय करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर 'श्री'-सम्पन्न होता है, मन 'ऋत'=सत्य से युक्त होता है और मस्तिष्क 'अक्तु' ज्ञान की रश्मियों से परिपूर्ण होता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अनिन्दित रक्षण

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः ॥१५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **उभा**=दोनों **पिबतम्**=सोम का पान करो। प्राणापान की साधना से सोम का शरीर में ही व्यापन होता है। २. **उभा**=आप दोनों **नः**=हमारे लिए **शर्म**=कल्याण व सुख को **यच्छतम्**=प्रदान करो। वस्तुतः प्राणसाधना आधि-व्याधियों से मुक्त करके हमारा कल्याण करती है। ३. हे प्राणापानो! आप हमारे लिए **अविद्रियाभिः**=अनिन्दित **ऊतिभिः**=रक्षणों से युक्त होओ। प्राणापान का रक्षण हमारे लिए सदा प्रशस्त हो। यह रक्षण सोम के पान से ही होता है। सोम की रक्षा से ही शरीर नीरोग व मन निर्मल बनता है।

भावार्थ—प्राणायाम से (क) सोमरक्षण होता है, (ख) नीरोगता व निर्मलता के द्वारा कल्याण होता है, (ग) अनिन्दित रक्षण प्राप्त होता है।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि हम उषःकाल में ही तैयार होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों (१)। ये प्राण रोगों को नष्ट कर हमारे निवास को सुन्दर बनाते हैं (२)। प्राणसाधना से शरीर में हमारा निवास स्वर्गोपम बनता है (३)। प्राणसाधक के लिए सूर्य रक्षा करनेवाला होता है (४)। प्राणसाधना से हमारे मनों में सत्य होता है और वाणी में ज्ञानपूर्ण वचन (५)। प्राणसाधक के लिए आवश्यक है कि वह सात्त्विक अन्न का ही सेवन करे (६)। तब हमारा यह शरीर एक नाव व रथ के समान होगा (७)। इस नाव के चप्पू देदीप्यमान ज्ञान के बने होंगे (८)। अपरा व परा विद्या के अध्ययन की हममें उत्कण्ठा होगी (९)। इन्द्रियविषयों से मुक्त होकर हम प्रभुदर्शन के योग्य होंगे (१०)। हम ऋत के मार्ग से ही चलेंगे (११)। हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्ति से सुभूषित होगा (१२)। ज्ञान व उपासना की हममें वृद्धि होगी (१३)। हमारा शरीर 'श्री'-सम्पन्न, मन सत्य से युक्त तथा मस्तिष्क ज्ञानरश्मि-सम्पन्न होगा (१४)। सोमरक्षण के द्वारा हमें अनिन्दित रक्षण प्राप्त होगा (१५)। 'यह सोम मधुमत्तम है'—इस वर्णन से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

॥ इति प्रथमाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ प्रथमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

मधुमत्तम सोम

अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोम ऋतावृधा।
तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका—आपके ही द्वारा जिसका रक्षण होता है, वह **मधुमत्तमः**=अत्यन्त माधुर्यवाला **सोमः**=सोम—वीर्यशक्ति **सुतः**=उत्पन्न हुई है। २. **तम्**=

उस सोम को **ऋतावृधा**=सोम के रक्षण के द्वारा ऋत का वर्धन करनेवाले अश्विदेवो! **पिबतम्**=इस प्रकार शरीर में ही पीने—व्याप्त करने का प्रयत्न करो कि **तिरः अह्न्यम्**=यह इस प्रकार रुधिर में तिरोहित हो जाए जैसे कि तिलों में तेल अथवा दही में घृत (अह व्याप्तौ)। यह सोम सारे रुधिर में व्याप्त हुआ-हुआ हो। ३. हे अश्विदेवो! आप **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **रत्नानि धत्तम्**=रत्नों का धारण करिए। वस्तुतः प्राणसाधना में तत्पर पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाता है। यह सोम उसके जीवन के लिए मधुमत्तम होता है और सब रमणीय शक्तियों का पोषण करनेवाला होता है। इस प्रकार प्राणापान दाश्वान् के प्रति रत्नों का धारण करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—जीवन को रमणीय व मधुर बनाने के लिए प्राणसाधना द्वारा सोम का रक्षण आवश्यक है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

त्रिवन्धुर रथ

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा रथेना यातमश्विना।
कण्वासो वां ब्रह्म कृण्वन्त्यध्वरे तेषां सु शृणुतं हवम्॥२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **त्रिवन्धुरेण**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि='घोड़े, लगाम व सारथि'—ये तीनों जिसमें बड़े सुन्दर हैं, **त्रिवृता**=धर्म, अर्थ और काम—तीनों में समरूप से प्रवृत्त होनेवाले **सुपेशसा**=स्वास्थ्य व व्यायाम के कारण सुन्दर रूपवाले **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **आयातम्**=आप हमें प्राप्त होओ। प्राणसाधना से ही वस्तुतः 'इद्रियाँ, मन व बुद्धि' तीनों बड़े सुन्दर बनते हैं, मानसवृत्ति धर्मपूर्वक ही धन कमाने व उचित आनन्दों को ही प्राप्त करने की बनी रहती है तथा नीरोगता व स्वास्थ्य से इस शरीर-रथ का सौन्दर्य बना रहता है। २. **कण्वासः**=मेधावी लोग **वाम्**=आप दोनों के **ब्रह्म**=स्तोत्रों को **कृण्वन्ति**=करते हैं। प्राणापान की महिमा का गायन करते हुए वे इनकी साधना में प्रवृत्त होते हैं। ३. हे प्राणापानो! आप **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ के निमित्त **तेषाम्**=उन उपासकों व साधकों की **हवम्**=पुकार को **सुश्रृणुतम्**=उत्तमता से सुनिए अर्थात् आप उनके जीवनों को यज्ञमय बनाने में सहायक होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'त्रिवन्धुर, त्रिवृत् व सुपेश' बनता है। प्राणसाधना जीवन को यज्ञमय बनाती है अर्थात् यह साधक इस शरीर के लिए कोई क्रूर कर्म नहीं करता।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

ऋतावृध-प्राणापान

अश्विना मधुमत्तमं पातं सोममृतावृधा।
अथाद्य दस्रा वसु बिभ्रता रथे दाश्वांसमुप गच्छतम्॥३॥

१. हे **ऋतावृधा**=ऋत का—यज्ञ का व जो कुछ ठीक है, उसका वर्धन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मधुमत्तमम्**=हमारे जीवनों को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **सोमम्**=सोम का, वीर्यशक्ति का **पातम्**=पान—रक्षण करो। आपकी साधना से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होकर हमारा जीवन माधुर्यमय बने। २. हे **दस्रा**=सब रोगों व बुराइयों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **अथ**=इस सोमपान के बाद **अद्य**=अब **रथे**=इस शरीररूप रथ में **वसु**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों को **बिभ्रता**=धारण करते हुए आप **दाश्वांसम्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले को, अर्थात् अपने

उपासक व साधक को **उपागच्छतम्**=समीपता से प्राप्त होओ। प्राणापान की साधना शरीर में निवास को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक सब वसुओं=धनों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होकर जीवन मधुर बनता है तथा शरीररूपी रथ में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कण्व-सुतसोम-अभिद्यु

त्रिषधस्थे बर्हिषि विश्ववेदसा मध्वा यज्ञं मिमिक्षतम्।
कण्वासो वां सुतसोमा अभिद्यवो युवां हवन्ते अश्विना ॥४॥

१. **विश्ववेदसा**=हे सम्पूर्ण धनोंवाले **अश्विना**=अश्विनी देवो=प्राणापानो! **त्रिषधस्थे**=जिसमें 'प्रकृति, जीव व परमात्मा'—तीनों साथ-साथ स्थित हैं अर्थात् जो तीनों का ध्यान करता है, उस **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय के होने पर **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **मिमिक्षतम्**=आप सिक्त कर दीजिए, अर्थात् प्राणसाधना से हमारा हृदय वासनाशून्य हो (बर्हिषि)। उसमें प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का विचार हो, धर्मार्थ-काम—तीनों की ओर यह समरूप से प्रवृत्त हो (त्रिषधस्थे), इस प्रकार हमारा जीवन माधुर्यमय हो (मध्व)। २. **कण्वासः**=कण-कण करके ज्ञान का संचय करनेवाले मेधावी लोग, **सुतसोमाः**=सोम-शक्ति का उत्पादन करनेवाले **अभिद्यवः**=प्रकाश की ओर चलनेवाले लोग **वाम्**=आपको **युवाम्**=आपको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं, अर्थात् प्राणसाधना से ही मनुष्य 'कण्व, सुतसोम व अभिद्यु' बन पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर हमारे जीवन में धर्मार्थ-काम तीनों साथ-साथ रहते हैं। हम बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न व प्रकाशमय जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

शुभ के रक्षक प्राणापान

याभिः कण्वमभिष्टिभिः प्रावतं युवमश्विना।
ताभिः ष्व१स्माँ अवतं शुभस्पती पातं सोममृतावृधा ॥५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **याभिः**=जिन **अभिष्टिभिः**=अपेक्षित रक्षणों से अथवा रोगादि पर आक्रमणों के द्वारा **कण्वम्**=मेधावी पुरुष को **प्रावतम्**=सुरक्षित करते हो **ताभिः**=उन्हीं रक्षणों से **अस्मान्**=हमें भी **सु अवतम्**=खूब अच्छी तरह सुरक्षित करो। एक मेधावी पुरुष प्राणसाधना के महत्त्व को समझता है और उसमें प्रवृत्त होता है। हम भी मेधावी बनकर इस प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, प्राणसाधना के महत्त्व को समझें और उसका अनुष्ठान करें। २. हे **शुभस्पती**=जीवन में सब अच्छाइयों का रक्षण करनेवाले प्राणापानो! **ऋतावृधा**=ऋत का—जो कुछ ठीक है उसका वर्धन करनेवाले आप **सोमपातम्**=सोम का रक्षण करिए। वस्तुतः शरीर में इस सोम (=शक्ति) के रक्षण से ही सब अच्छाइयाँ सुरक्षित होती हैं, इसी से हमारे जीवनों में ऋत का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणापान ही हमारा रक्षण करते हैं और शक्ति की ऊर्ध्वगति के द्वारा सब शुभों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्ति। स्वरः—पञ्चमः।

प्रसाद व प्रकाश

सुदासे दस्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षो वहतमश्विना।
रयिं समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्तं पुरुस्पृहम् ॥६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **दस्रा**=आप दोनों सब बुराइयों का विनाश करनेवाले हो। **रथे**=रथ में **वसु बिभ्रता**=निवास के लिए आवश्यक धनों को धारण करते हुए आप **सुदासे**=उत्तम तथा गतिशील पुरुष में **पृक्षः**=प्रभु-सम्पर्क के कारणभूत अन्न को **वहतम्**=प्राप्त कराइए। सात्त्विक अन्न से बुद्धि सात्त्विक होती है और सात्त्विक बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है एवं यह सात्त्विक अन्न 'पृक्षः' (सम्पर्क का कारणभूत) कहलाता है। २. हे प्राणापानो! आप **समुद्रात्**=सदा आनन्द से युक्त हृदय से **उत वा**=तथा **दिवस्परि**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **पुरुस्पृहम्**=पालन व पूरण करनेवाले तथा स्पृहणीय **रयिम्**=धन को **अस्मे**=हमारे लिए **धत्तम्**=धारण कीजिए। हृदय का धन 'प्रसाद' व 'नैर्मल्य' है तथा मस्तिष्क का धन 'ज्ञान' व 'प्रकाश' है। प्राणायाम की साधना से यह मनःप्रसाद तथा मस्तिष्क का प्रकाश—दोनों ही प्राप्त होते हैं। ३. यदि प्राणसाधना के साथ सात्त्विक अन्न का सेवन जुड़ जाता है तो हमारा हृदय निर्मल होकर प्रसादयुक्त हो जाता है और मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से चमक उठता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में चलें, सात्त्विक अन्न का सेवन करें, इससे हमारे हृदय प्रसन्न होंगे और मस्तिष्क चमक उठेंगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सूर्योदय के साथ प्राणसाधना

यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अधि तुर्वशे।
अतो रथेन सुवृता न आ गतं साकं सूर्यस्य रश्मिभिः ॥७॥

१. हे **नासत्या**=जिनके कारण पाप नहीं रहता, ऐसे प्राणापानो! **यत्**=यदि **परावति**=दूर देश में **स्थः**=हो, **यत् वा**=या **तुर्वशे**=(अन्तिकनाम—नि० २।१६) समीपता में **अधिस्थः**=आधिक्येन हो, अति समीप हो अर्थात् आप चाहे दूर हों चाहे पास **अतः**=उस स्थान से **सुवृता**=शोभन वर्तनवाले अर्थात् प्रत्येक सुन्दर कर्म के अधिष्ठानभूत **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **नः**=हमें **सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्**=सूर्योदय के साथ ही **आगतम्**=प्राप्त होओ। २. यहाँ यह स्पष्ट है कि सूर्योदय के साथ ही प्राणसाधना करना आवश्यक है; वह प्राणायाम के लिए सर्वोत्तम समय है। ३. 'प्राणों का दूर व अधिक-से-अधिक समीप होना'—इस बात का संकेत कर रहा है कि 'रेचक' प्राणायाम में हम प्राणों को दूर-से-दूर फेंकते हैं और 'पूरक' में उसे अधिक-से-अधिक समीप प्राप्त कराते हैं। ४. इस प्राणायाम का मुख्य लाभ शरीर-रूप रथ का शोभन वर्तन अर्थात् उत्तमता से युक्त होना है। प्राणसाधना अंग-प्रत्यंग को सशक्त व सुडौल बनाती है।

भावार्थ—सूर्योदय के साथ ही प्राणसाधना करते हुए हम शरीररूप रथ को सुन्दर बनानेवाले हों।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

सुकृत्-सुदानु

अर्वाञ्चा वां सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप ।
इषं पृञ्चन्ता सुकृते सुदानव आ बर्हिः सीदतं नरा ॥८॥

१. **अध्वरश्रियः**=यज्ञों की शोभावाले **सप्तयः**=इन्द्रियरूप अश्व **वाम्**=आप दोनों प्राणापानों को **सवना इत्**=निश्चय से यज्ञों के **अर्वाञ्चा**=अभिमुख **उपवहन्तु**=समीपता से प्राप्त कराएँ अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियरूप अश्व सदा हिंसाशून्य अतएव उत्तमकर्मों में व्याप्त रहें। २. **नरा**=साधकों को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाले प्राणापानो ! आप **सुकृते**=उत्तम कर्म करनेवाले **सुदानवे**=उत्तम दानशील पुरुष के लिए **इषं पृञ्चन्ता**=उत्तम अन्न का सम्पर्क करते हुए **बर्हिः**=यज्ञ में **आसीदतम्**=सर्वथा निषण्ण होओ, अर्थात् प्राणसाधना करने पर हम (क) उत्तम कर्मों के करनेवाले बनते हैं, (ख) उत्तम दान की प्रवृत्तिवाले होते हैं, (ग) उत्तम अन्न का सेवन करते हैं, और (घ) सदा यज्ञिय वृत्तिवाले बने रहते हैं।

भावार्थ--प्राणसाधना से हम 'सुकृत् व सुदानु' बनते हैं, उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए सदा यज्ञशील बनते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—विराट् पथ्या बृहती । स्वरः—मध्यमः ।

सूर्यत्वच् रथ

तेन नासत्या गतं रथेन सूर्यत्वचा ।
येन शश्वदूहथुर्दाशुषे वसु मध्वः सोमस्य पीतये ॥९॥

१. हे **नासत्या**=जिनके कारण असत्य नहीं रहता, ऐसे प्राणापानो ! **तेन**=उस **सूर्यत्वचा**=(सूर्यरश्मिसदृशेन) सूर्यरश्मियों के समान चमकनेवाले **रथेन**=शरीररूपी रथ से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **येन**=जिससे **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **शश्वत्**=सदा **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से यह शरीररूपी रथ सूर्य की भाँति चमकनेवाला बनता है, शरीर में निवास के लिए सब आवश्यक वसुओं=तत्त्वों की प्राप्ति से शारीरिक स्वास्थ्य बिलकुल ठीक बना रहता है। २. हे प्राणापानो ! आप **मध्वः सोमस्य**=शहद की भाँति सब भोजनों के सारभूत सोम के **पीतये**=पान व रक्षण के लिए होओ। प्राणसाधना से शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है और यह सुरक्षित सोम हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर सूर्य के समान दीप्त बनाती है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—उषा । छन्दः—सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

उक्थों व अर्कों से प्राणों का उपासन

उक्थेभिरर्वागवसे पुरूवसू अर्कैश्च नि ह्वयामहे ।
शश्वत्कण्वानां सदसि प्रिये हि कं सोमं पपथुरश्विना ॥१०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो ! **पुरूवसू**=बहुत अथवा पालक व पूरक धनोंवाले आपको **अवसे**=रक्षण के लिए **उक्थेभिः**=स्तोत्रों से **च**=तथा **अर्कैः**=अर्चन-साधन मन्त्रों से **अर्वाक्**=अपने अभिमुख

निह्वयामहे=पुकारते हैं। ज्ञानप्रधान वाणियाँ **'उक्थ'** हैं, स्तुतिप्रधान वाणियाँ **'अर्क'**। उक्थों व अर्कों से प्राणापानों को पुकारने का अभिप्राय यह है कि प्राणायाम के गुण-धर्मों को हम अच्छी प्रकार समझें और उनकी साधना करें। समझना ही उक्थों से पुकारना है और इनकी साधना करना ही 'अर्कों' से उपासन है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो ! आप **शश्वत्**=सदा **कण्वानाम्**=मेधावी पुरुषों के **प्रिये सदसि** इस कान्त व सुन्दर शरीररूप गृह में **कम्**=सब आनन्दों के देनेवाले **सोमम्**=सोम को—वीर्यशक्ति को **पपथुः**=पीते हो, अर्थात् सोम को शरीर में सुरक्षित करते हो। यह सुरक्षित सोम सब प्रकार के आनन्द व सुख का कारण बनता है। वस्तुतः सुरक्षित सोम ही शरीर को कान्त बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शरीर को स्वस्थ एवं सुन्दर बनाता है।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि सुरक्षित सोम जीवन को अत्यन्त मधुर बनाता है (१)। प्राणसाधना से ही शरीर सुन्दराकृति का बनता है (२)। ये प्राणापान जीवन में ऋत का वर्धन करते हैं (३)। इस प्राणसाधना से ही हम बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न व प्रकाशमय जीवनवाले होते हैं (४)। प्राणापान ही हमें सब शुभों को प्राप्त कराते हैं (५)। उन्हीं से मनःप्रसाद व मस्तिष्क का प्रकाश प्राप्त होता है (६), अतः हमें सूर्योदय के साथ ही प्राणसाधना आरम्भ करनी चाहिए (७)। इस साधना से हम सुकृत् व सुदानु बनते हैं (८)। सूर्य के समान दीप्त शरीररूप रथवाले होते हैं (९)। अतः हम उक्थों से प्राणापान के गुणधर्मों को जानें तथा अर्कों से प्राणोपासन में प्रवृत्त हों (१०)। ऐसा करने पर उषा हमारे अन्धकारों को दूर करनेवाली होगी—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सुन्दर ज्ञान व धन

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती ॥१॥

१. हे **दिवः दुहितः**=प्रकाश का प्रपूरण करनेवाली **उषः**=उषःकाल ! **वामेन सह**=सब सुन्दर वस्तुओं के साथ **नः**=हमारे लिए **व्युच्छ**=तू अन्धकार को दूर करनेवाली हो, अर्थात् उषःकाल हमें सुन्दर-ही-सुन्दर वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला हो। २. हे **विभावरि**=प्रकाशयुक्त उषे ! तू **बृहता**=वृद्धि की कारणभूत **द्युम्नेन सह**=ज्योति के साथ अथवा अन्न के साथ हमारे लिए उदित हो। हमें इस उषःकाल में वह ज्योति प्राप्त हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने। हम उस अन्न को प्राप्त करें जो हमारी वृद्धि को सात्त्विक बनाए। ३. **देवि**=प्रकाशवाली अथवा सब उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाली उषे ! **दास्वती**=तू दानवती हुई-हुई **राया**=धन के साथ हमारे लिए उदित हो, अर्थात् हमें इस उषःकाल में वह धन प्राप्त हो जोकि हमसे दानादि में विनियुक्त हो (दा दाने)।

भावार्थ—हमें उषःकाल में सब सुन्दर वस्तुएँ, ज्ञान तथा धन प्राप्त हों।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सूनृतवाणी-कार्यसाधक धन

अश्वावतीर्गोमतीर्विश्वसुविदो भूरि च्यवन्त वस्तवे।
उदीरय प्रति मा सूनृता उषश्चोद राधो मघोनाम् ॥२॥

१. प्रभुकृपा से **वस्तवे**=उत्तम निवास के लिए **अश्वावतीः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली, **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली **विश्वसुविदः**=सब उत्तम धनों को प्राप्त करानेवाली उषाएँ हमें **भूरि**=खूब ही **अवन्त**=प्राप्त हों। हे **उषः**=उषःकाल ! **मा प्रति**=मेरे प्रति **सूनृताः**=उत्तम, दुःख का परिहाण करनेवाली, ऋत (ठीक) वाणियों को **उदीरय**=प्रेरित करिए, अर्थात् मैं सूनृत वाणियों को ही बोलूँ। ३. हे उषः ! तू **मघोनाम्**=(मघ=मख, अथवा मा+अघ) यज्ञशील पुरुषों के अथवा पापशून्य पुरुषों के **राधः**=धनों को **चोद**=हमारे प्रति प्रेरित कर। हम सुपथ से धनार्जन करके उन धनों का यज्ञों में व लोकहित के कार्यों में विनियोग करें।

भावार्थ—हमारे लिए उषःकाल उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराये। हम सूनृतवाणी को बोलें और पुण्यार्जित धनों को यज्ञों में विनियुक्त करें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्रभुप्रेम नकि धनासक्ति

उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।
ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः ॥३॥

१. **उषाः**=उषःकाल ने **उवास**=आज तक भी अन्धकार को दूर किया है **च नु**=और अब भी **देवी**=प्रकाशयुक्त उषःकाल **उच्छात्**=अन्धकार को नष्ट करती है। २. यह उषःकाल **रथानां जीरा**=रथों की प्रेरक है। उषः के होते ही हमारे शरीररूपी रथ कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। ३. **ये**=जो भी व्यक्ति **अस्याः**=इस उषःकाल के **आचरणेषु**=समन्तात् गति करने पर **दध्रिरे**=अपनी इन्द्रियों व मन का धारण करते हैं अर्थात् चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग में प्रवृत्त होते हैं, वे **समुद्रे**=(स मुद्रे) उस आनन्दस्वरूप प्रभु में निवास करते हैं। ये लोग **न श्रवस्यवः**=(श्रवस=wealth) धन की कामनावाले नहीं होते। प्रभु और धन—दोनों की सेवा एकसाथ सम्भव नहीं। अच्छे व्यक्ति वे ही हैं, जोकि उषा के होते ही क्रियाशील बनते हैं और इन्द्रियों व मन का निरोध करते हुए प्रभु में विचरते हैं, धन के प्रति आकृष्ट नहीं होते।

भावार्थ—उषा हमारे वासनान्धकार को दूर करे। हम इसके निकलते ही क्रियाशील बनें। चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा आत्मरूप में स्थित हों। प्रभु का ध्यान करें; धनासक्त न हो जाएँ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

योग व जप

उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः।
अत्राह तत्कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् ॥४॥

१. हे **उषः**=प्रातःकाल ! **ये**=जो **ते**=तेरे **प्रयामेषु**=प्रकृष्ट प्रहरों में अर्थात् प्रातःकाल के शुभमुहूर्त में **मनः**=अपने मनों को **दानाय**=(दाप् लवणे) वासनाओं के खण्डन के लिए **युञ्जते**=निरुद्धवत्तिवाला करते हैं (योगश्चित्तवित्तिनिरोधः) वे ही **सूरयः**=विद्वान् लोग हैं। समझदार मनुष्य प्रातः के शुभमुहूर्त में सोये नहीं रह जाते। उस समय को वे अन्य कार्यों में भी व्यर्थ व्यतीत नहीं करते। उनका यह समय योग=चित्तवृत्ति के निरोध के अभ्यास में ही व्यतीत होता है। २. **अत्र**=इस जीवन में **अह**=निश्चय से **एषां नृणाम्**=इन मनुष्यों में **कण्वः**=वही मेधावी है **कण्वतमः**=अत्यन्त मेधावी है जोकि **तत् नाम**=प्रभु के उस पवित्र नाम 'ओ३म् का **गृणाति**=उच्चारण करता है। यह प्रभुनाम का

उच्चारण ही तो हमारे जीवनों को पवित्र बनाने का महान् साधन होता है। जहाँ इस नाम का उच्चारण है, वहाँ वासनाओं का प्रवेश नहीं। जहाँ महादेव है, वहाँ कामदेव नहीं।

भावार्थ—वासनाओं के विनाश के लिए प्रातः प्रभु का स्मरण करना व चित्तवृत्तिनिरोध का अभ्यास करना आवश्यक है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—निचृत्पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सूनरी योषा

आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।
जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः॥५॥

१. **सूनरी**=घर का उत्तम सञ्चालन करनेवाली **योषा इव**=अवगुणों का पृथक्करण व गुणों का मिश्रण करनेवाली स्त्री की भाँति यह **उषाः**=प्रातःवेला भी **घ**=निश्चय से **आयाति**=आती है। उषा भी उसी गृहिणी की भाँति हमारे कार्यों का उत्तम प्रणयन करनेवाली है तथा हमें अभद्र से दूर करके भद्र से जोड़नेवाली है। २. **प्रभुञ्जती**=यह उषा हमारा उत्कृष्ट पालन करनेवाली है। भौतिक दृष्टिकोण से भी यह समय इसलिए अधिक उपयुक्त होता है कि इस समय वायुमण्डल में ओज़ोन गैस का प्राचुर्य होता है। यह वायु रक्तशोधन के द्वारा शक्तिवर्धक है। ३. यह उषा **वृजनम्**=पाप को (वर्ज्यते) **जरयन्ती**=जीर्ण करनेवाली है। उषा का अध्यात्म-लाभ यह है कि इस समय जागकर प्रभु-स्मरण से वासनाओं का विनाश होता है। प्रभुस्मरण के लिए यह उपयुक्ततम समय होता है। ४. इस उषा के आने पर **पद्वत्**=सब पाँवोंवाला प्राणिसमूह **ईयते**=गतिशील होता है। वस्तुतः यह उषा सबको उठाकर कार्य में लगने की प्रेरणा देती है, **पक्षिणः**=पक्षियों को भी **उत्पातयति**=घोंसलों से बाहर होकर आकाश में उड़नेवाला बनाती है। एवं यह उषःकाल सब तम को दूर करता हुआ मानस-तम (अन्धकार) को भी दूर करता है और सभी को क्रियाशील बनाता है। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही यह उषा प्रभुञ्जती=सबका पालन करती है और सब पापों को जीर्ण करती है। इस प्रकार यह उषा हमारे जीवन का उत्तम प्रणयन करती है। इस प्रकार क्रम यह है (क) क्रियाशीलता (उत्पातयति), (ख) पालन (प्रभुञ्जती), (ग) पापविनाश (वृजनं जरयन्ती), (घ) जीवन का उत्तम प्रणयन (सूनरी)।

भावार्थ—यह उषा सूनरी योषा के समान है—'प्रभुञ्जती, वृजनं, जरयन्ती तथा उत्पातयन्ती'। उत्तम गृहिणी भी पति को सदा उत्तम कार्यों में व्यस्त रखती है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वाजिनीवती

वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेत्योदती।
वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति॥६॥

१. **ओदती**=वाष्पकणों से (ओस के रूप में) घास आदि को क्लिन्न (गीला) करनेवाली उषा वह है **या**=जोकि **समनम्**=(सम्+अन्) सम्यक् चेष्टावान् पुरुषों को (समीचीनचेष्टावन्तम्—सा०) **विसृजति**=विविध उत्तम कार्यों में प्रेरित करती है, अर्थात् इस उषा के उदित होने पर उपासक लोग उपासना आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। २. **अर्थिनः**=प्रार्थनाशील पुरुषों को भी यह उषा **वि** (सृजति)=विविध रूप से प्रार्थनाओं में प्रेरित करती है। ३. यह उषा **पदं न वेति**=स्थान को, रुकने को

नहीं चाहती (कामयते=वेति), अर्थात् शीघ्रता से आगे बढ़ती है। इसी प्रकार इस उषःकाल में सब कोई गति की कामनावाला होता है। ४. हे **वाजिनीवति**=प्रशस्त क्रियाओं (वज गतौ) शक्तियों (वाज=बल) व अन्नोंवाली उषे! **ते व्युष्टौ**=तेरे उदित होने पर **पप्तिवांसः**=उड़नेवाले **वयः**=पक्षी **नकिः आसते**=बैठे नहीं रह जाते, पक्षी भी क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाते हैं, तो समझदार मनुष्य क्यों न अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त होंगे?

भावार्थ—उषःकाल में सब अपने-अपने कार्यों में उत्तमता से लग जाते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सुभगा उषा

एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान् ॥७॥

१. **एषा**=यह **सुभगा**=उत्तम भग (ऐश्वर्य व सौन्दर्य) से युक्त **उषाः**=उषा **परावतः**=सुदूर स्थान में वर्तमान **सूर्यस्य**=सूर्य के **उदयनात्**=उदय होने से **अधि**=ऊपर अर्थात् पहले ही **अयुक्त**=अपने रथ को जोतती है और **शतम्**=सौ-के-सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् मानवजीवन की पूर्ण अवधि तक **रथेभिः**=अपने रथों से **इयम्**=यह उषा **मानुषान्**=विचारपूर्वक कार्य करनेवाले (मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति) पुरुषों की **अभि**=ओर **वियाति**=विशेष रूप से प्राप्त होती है। २. विचारशील पुरुष सदा, आजीवन सूर्योदय से पूर्व प्रातः ही उठते हैं और उठकर अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। एक गृहिणी को भी उषा के समान सूर्योदय से पूर्व ही उठकर कार्यों में लग जाना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह घर के लिए उषा के समान अन्धकार को दूर करनेवाली होती है। वस्तुतः सौ वर्ष पर्यन्त जीवन के लिए भी यह उषःजागरण आवश्यक ही है।

भावार्थ—हम सदा सूर्योदय से पूर्व ही उषःकाल में जागनेवाले बनें। जागकर प्रार्थना, ध्यानादि-पूर्वक अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाएँ। ऐसा करने पर ही यह उषा हमारे लिए 'सुभगा' उत्तम सौभाग्य को प्राप्त करानेवाली होगी।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मघोनी

विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।
अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्रिधः ॥८॥

१. **अस्याः**=इस उषा के **चक्षसे**=प्रकाश के लिए **विश्वं जगत्**=सम्पूर्ण संसार **नानाम**=प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है। 'वस्तुतः रात्रि के अन्धकार को समाप्त करके किस प्रकार उषःकाल प्रकाश को देता हुआ, और न केवल प्रकाश को अपितु प्राणशक्ति को भी बढ़ाता हुआ आता है'—यह सब विचार करनेवाला पुरुष उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है। प्रभु की विभूतियों में उषा का भी एक विशिष्ट स्थान है। उषा की लालिमा प्रभु की महिमा का गायन करती प्रतीत होती है। (२) **सूनरी**=संसार के कार्यों का उत्तम प्रणयन करनेवाली उषा **ज्योतिः कृणोति**=चारों ओर प्रकाश कर देती है। यह उषा बाह्य प्रकाश के साथ हृदय के अन्तस्तल को भी प्रकाशित करती है और इस प्रकार हमें उत्तम मार्ग से ले-चलनेवाली होती है। (३) **मघोनी**=प्रकाशरूप मघ=ऐश्वर्यवाली यह उषा **द्वेषः**=द्वेष की भावनाओं

को हमारे हृदय से **अप उच्छत्**=दूर करनेवाली हो। द्वेष अज्ञानान्धकार में ही पनपता है। उषा अन्धकार को दूर करती हुई द्वेष को भी दूर करती है। (४) यह **दिवः दुहिता**=प्रकाश का पूरण करनेवाली **उषाः**=उषा **स्रिधः**=(स्रिधु शोषणे) हृदय की शोषक कामवासना को भी **अप उच्छत्**=हमारे हृदयों से दूर करे। वस्तुतः उषःकाल में प्रभु के प्रति नतमस्तक होता हुआ व्यक्ति इन वासनाओं को विनष्ट ही कर डालता है।

भावार्थ—उषःकाल प्रकाश को करता हुआ द्वेष व रागात्मक वासना को हमसे दूरे कर दे। राग-द्वेष से ऊपर उठकर हम जीवन को सुन्दरता से बितानेवाले हों।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

आह्लादक (दीप्ति) प्रकाश

उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु ॥९॥

१. **दिवः दुहितः**=प्रकाश का पूरण करनेवाली **उषः**=उषो देवते! तू **चन्द्रेण**=आह्लाद के साधनभूत **भानुना**=प्रकाश से **आभाहि**=समन्तात् प्रकाश करनेवाली हो। उषा का प्रकाश अत्यन्त तीव्र न होने से सचमुच आह्लाद को देनेवाला है। (२) यह उषा **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भूरि**=खूब अथवा पालक व पोषक (भृञ्=धारण, पोषण) **सौभगम्**=सौभाग्य को—ऐश्वर्य को **आवहन्ती**=प्राप्त करानेवाली हो। हम प्रातःकाल को इस प्रकार सुन्दरता से प्रभु-उपासन व स्वाध्यायादि उत्तम कार्यों में बिताएँ कि हमारा सौभाग्य बढ़े। (३) यह उषा **दिविष्टिषु**=(दिवः इष्टिषु) प्रकाश की कामना होने पर **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को पूर्णरूप से दूर करनेवाली होती है। नींद से उठा हुआ प्राणी कार्यों को सुचारु रूप से कर सकने के लिए प्रकाश को चाहता है। यह उषःकाल उसे वह प्रकाश प्राप्त कराता है।

भावार्थ—उषःकाल मनुष्य को सौभाग्य व वाञ्छनीय प्रकाश का देनेवाला है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्राणनं जीवनम्

विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।
सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम् ॥१०॥

१. हे **सूनरि**=उत्तमता से कार्यों का प्रणयन करानेवाली तथा प्रातःजागरणशील पुरुषों को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाली उषे! **यत्**=जब तू **व्युच्छसि**=विशेषरूप से उदित होती है और अन्धकार को नष्ट करती है तब **विश्वस्य**=सम्पूर्ण संसार का **प्राणनम्**=प्रकृष्टरूपेण प्राणों का धारण करना तथा **जीवनम्**=उत्तम जीवन को प्राप्त करना **हि**=निश्चय से **त्वे**=तुझमें ही आश्रित होता है, अर्थात् यह उषा सबको जीवन व प्राणशक्ति प्राप्त कराती है। उषा के समय सोये हुए का तेज क्षीण हो जाता है। (२) **सा विभावरि**=हे उषा! वह प्रकाशवाली तू **चित्रामघे**=अद्भुत ऐश्वर्यवाली! **बृहता रथेन**=सब प्रकार की शक्तियों के वर्धनवाले शरीररूप रथ से **नः**=हमें प्राप्त हो और **हवम्**=हमारी प्रार्थना वाणी को **श्रुधि**=सुन। उषा की कृपा से हमें बाह्यप्रकाश की भाँति अन्तःप्रकाश भी प्राप्त हो। यह उषा 'जीवन व प्राणन' के रूप में अद्भुत ऐश्वर्य प्राप्त कराये। प्रातःकाल उठकर अपने आवश्यक कृत्यों को करते हुए हम शरीररूप रथ को प्रवृद्ध शक्तियोंवाला बनाएँ (बृहता रथेन)। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान के ऐश्वर्य

को प्राप्त करें (चित्रामघे)। प्रातः की इस पुण्य वेला में प्रभु की प्रार्थना में प्रवृत्त हों (हवं श्रुधि)।

भावार्थ—उषा हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न दीर्घ जीवन प्राप्त कराती है। यह हमारे शरीररूप रथ को दृढ़ व सुन्दर बनाती है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—निचृत्पथ्या बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सुकृत् वह्नि=पुण्यशाली कर्तव्यपरायण

उषो वाजं हि वंस्व यश्चित्रो मानुषे जने।
तेना वह सुकृतो अध्वराँ उप ये त्वा गृणन्ति वह्नयः ॥११॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! तू **हि**=निश्चय से **वाजम्**=शक्ति, धन व ज्ञान को **वंस्व**=प्राप्त करा। उस 'वाज' को **यः**=जोकि **मानुषे जने**=विचारशील पुरुषों में **चित्रः**=अद्भुत है। विचारशील पुरुष को प्राप्त होनेवाले अद्भुत वाज को यह उषा हमें प्राप्त कराये। (२) हे उषः! तू **तेन**=उस वाज के द्वारा उन **सुकृतः**=सुकृत्, पुण्यशाली पुरुषों को **ये**=जोकि **वह्नयः**=अपने कर्तव्यभार का वहन करनेवाले **त्वा**=आपका **उपगृणन्ति**=उपासन करते हैं, अर्थात् जो प्रातः के समय प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होते हैं, उन पुण्यात्माओं को **अध्वरान् आवह**=यज्ञों को प्राप्त करा। ये 'सुकृत् वह्नि' पुरुष प्रातः प्रभु की प्रार्थना करते हुए पवित्र, हिंसाशून्य, (अ-ध्वर) कार्यों में ही प्रवृत्त हों।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होनेवाले हम 'वाज' (शक्ति, धन व ज्ञान) को प्राप्त करें और पुण्यशाली कर्तव्यपरायण बनकर हिंसाशून्य पवित्र कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

दिव्य गुण व सौम्य भोजन

विश्वान्देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम्।
सास्मासु धा गोमदश्वावदुक्थ्य१मुषो वाजं सुवीर्यम् ॥१२॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! **त्वम्**=तू **सोमपीतये**=शरीर में ही सोम के रक्षण के लिए **अन्तरिक्षात्**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्य-मार्ग में चलने के द्वारा **विश्वान् देवान् आवह**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त करा। मध्य-मार्ग में चलना कारण है और दिव्य गुणों का विकास उसका कार्य। दिव्य गुणों का विकास कारण है और वासना-विनाश उसका कार्य। वासना-विनाश कारण है और सोमरक्षण उसका कार्य। (२) इस सोमरक्षण के लिए ही हे **उषः**=उषा! तू **अस्मासु**=हममें **वाजम्**=उस अन्न को **धा**=धारण कर जोकि (क) **गोमत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है, (ख) **अश्वावत्**=कर्मेन्द्रियों को उत्तम बनानेवाला है, (ग) **उक्थ्यम्**=स्तोत्रों में उत्तम है अर्थात् हमारी चित्तवृत्ति को प्रभुस्तवनपरायण बनानेवाला है तथा (घ) **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्यवाला है। वस्तुतः सौम्य भोजनों से शीतवीर्य की उत्पत्ति होती है और उसका शरीर में रक्षण सुगम होता है, अतः ये भोजन 'सुवीर्य' कहलाते हैं।

भावार्थ—हम मध्यमार्ग में चलते हुए अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास करें और सात्त्विक भोजन करते हुए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—उषा । छन्दः—निचृत्पथ्या बृहती । स्वरः—मध्यमः ।

'विश्ववार-सुपेशस्-सुग्म्य' रयि

यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रति भद्रा अदृक्षत ।
सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसमुषा ददातु सुग्म्यम् ॥१३॥

१. **यस्याः**=जिस उषःकाल की **अर्चयः**=दीप्तियाँ **रुशन्तः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाली—पवित्र भावनाओं को जगानेवाली तथा **भद्राः**=कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाली **प्रति-अदृक्षत**=प्रतिदिन दिखती हैं **सा**=वह उषा **नः**=हमें **रयिं ददातु**=उस ऐश्वर्य को दे जो ऐश्वर्य (क) **विश्ववारम्**=सबसे वरणीय—चाहने योग्य है अथवा सब कष्टों का निवारण करनेवाला है, (ख) **सुपेशसम्**=सुन्दर आकृतिवाला है, शोभन रूपोपेत है, हमें बेडौल (कु-वेर) शरीरवाला नहीं बना डालता, तथा (२) **सुग्म्यम्**=जो उत्तम साधनों से प्राप्त करने योग्य है (सु+गमः) अथवा सुख का साधनभूत है ।

भावार्थ—उषा हमारे जीवनों को प्रकाशमय करती है और हम वरणीय धनों को सुपथ से सिद्ध करते हुए सुखी होते हैं ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—उषा । छन्दः—विराट् सतः पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

राधस् व शुक्रशोचिः

ये चिद्धि त्वामृषयः पूर्व ऊतये जुहूरेऽवसे महि ।
सा नः स्तोमाँ अभि गृणीहि राधसोषः शुक्रेण शोचिषा ॥१४॥

१. हे **महि**=महनीय **उषः**=उषो देवते ! **ये चित् हि**=जो निश्चय से **पूर्वे, ऋषयः**=अपना पूरण करनेवाले, अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं, वे **ऊतये**= रोगों से अपने रक्षण के लिए तथा **अवसे**=मानस विकारों से अपने को बचाने के लिए **त्वां, जुहूरे**=तुझे पुकारते हैं अर्थात् ये ऋषि प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभु की महिमा का गायन करते हुए अपने जीवन को आधि-व्याधियों से शून्य बनाते हैं । उषा का पुकारना यही है कि उषःकाल में प्रभु का स्मरण करना । (२) हे **उषः**=उषःकाल ! **सा**=वह तू **राधसा**=कार्य-साधक धन के हेतु से तथा **शुक्रेण शोचिषा**=चमकती हुई ज्ञानदीप्ति के हेतु से **नः**=हमारे **स्तोमान्**=स्तुतिसमूहों का **अभिगृणीहि**=उच्चारण करा, अर्थात् हम उषःकाल में प्रभु-नामों व स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए अपने को इस प्रकार पवित्र जीवनवाला बनाएँ कि संसार में हमें अन्न-रस के प्राप्त करानेवाले धन की कमी न रहे और हम उत्कृष्ट ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त करनेवाले बनें ।

भावार्थ—हमारा उषःकाल प्रभुस्तवन में बीते । हम कार्यसाधक धन तथा दीप्त ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करें ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—उषा । छन्दः—पथ्या बृहती । स्वरः—मध्यमः ।

अवृक-पृथु 'छर्दि'

उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः ।
प्र नो यच्छतादवृकं पृथु च्छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः ॥१५॥

१. हे **उषः**=उषःकाल ! **यत्**= जब **अद्य**=आज ही **भानुना**=दीप्ति से **दिवः द्वारौ**=ज्ञान के दोनों द्वारों को—अपरा व परा विद्या को, प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को तू **वि ऋणवः**=विश्लिष्टरूपेण

प्राप्त होती है अर्थात् जब हमारा प्रत्येक उषःकाल ज्ञान के दोनों द्वारों को खोलनेवाला होता है—हम उषःकाल में प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, २. तो यह उषा **नः**=हमें वह **छर्दिः**=घर **प्रयच्छतात्**=प्रकर्षेण प्राप्त कराये जोकि **अवृकम्**=हिंसकभावों से रहित हो अथवा लोभ की भावना से रहित हो (वृक आदाने) **पृथु**=जो घर विशाल हो। घर में रहनेवालों के भाव हिंसा व लोभ से ऊपर उठे हुए हों। न तो उनमें हिंसा की भावना हो और न ही वे लोभ से आक्रान्त हों। ३. हे **देवि**=ज्ञान को देनेवाली तथा उत्तम घर को प्राप्त करानेवाली उषे ! तू **गोमतीः**=उत्तम गोदुग्धों से सम्पन्न **इषः**=अन्नों को **प्र** (यच्छतात्) हमें देनेवाली हो। हम सदा गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करें।

भावार्थ—हमें प्रकृति व आत्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त हो। हमारा घर हिंसा व लोभ से रहित व विशाल हो। हम गोदुग्ध व वनस्पति का ही सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—उषा। छन्दः—निचृत्सतः पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

धन-गौ-ज्ञान-अन्न

सं नो॑ रा॒या बृ॑ह॒ता वि॒श्वपे॑शसा मिमि॒क्ष्वा समिळा॑भि॒रा।
सं द्यु॒म्नेन॑ विश्व॒तुरो॑षो महि॒ सं वाजै॑र्वाजिनीवति ॥१६॥

१. हे **उषः**=उषःकाल ! तू **नः**=हमें **राया**=धन से **संमिमिक्ष्व**=संगत कर, सिक्त करने की इच्छा कर। उस धन से जोकि **बृहता**=हमारी वृद्धि का कारण बनता है और **विश्वपेशसा**=सम्पूर्ण सुन्दर रूपोंवाला है अर्थात् जो धन हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क को तथा व्यक्ति व समाज दोनों को सुन्दर बनाता है। २. हे उषे ! तू हमें **इळाभिः आ (मिमिक्ष्व)**=गौओं से युक्त कर (इडा=गौ—नि०) अथवा तू हमें वेदवाणियों से युक्त कर। हम प्रातःकाल इन ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करें। ३. इन गोदुग्धों के सेवन से तथा ज्ञान की वाणियों के स्वाध्याय से हमें **द्युम्नेन**=उस ज्ञान-ज्योति से सिक्त कर जोकि **विश्वतुरा**=हमारी सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला है। ज्ञान वह अग्नि है जिसमें सब मल भस्म हो जाते हैं। ४. हे **वाजिनीवति**=उत्तम अन्नोंवाली, अन्न-साधनभूत क्रियाओंवाली उषे ! हे **महि**=(मह पूजायाम्) पूजावाली महनीय उषे ! तू **वाजैः**=शक्ति को देनेवाले अन्नों से **सम्**=हमें संगत कर।

भावार्थ—हम उषःकाल में निश्चय करें कि (क) वृद्धि के कारणभूत—शरीर, मन व मस्तिष्क को सुन्दर बनानेवाले धन को प्राप्त करेंगे, (ख) गोदुग्ध का सेवन करते हुए, ज्ञान की वाणियों को पढ़ते हुए हम उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे जो सब बुराइयों को भस्म कर देता है, (ग) हम शक्तिप्रद अन्नों का ही सेवन करेंगे।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि उषःकाल हमें सब सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त कराये (१), सूनृतवाणी व कार्यसाधक धन भी दे (२)। हम चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा आत्मा में स्थित हों (३)। योग व जप में हमारी रुचि हो। यह उषा हमारे लिए 'सूनरी योषा' हो (५)। इसमें हम अपने कार्यों में उत्तमता से लग जाएँ (६)। यह हमारे लिए 'सुभगा' हो (७), 'मघ' वाली हो (८)। आह्लादक दीप्ति को प्राप्त कराये (९)। यह हमें प्राण और जीवन देनेवाली हो (१०)। हम इसमें पुण्यशील व कर्त्तव्यपरायण बनें (११)। हम अपने में दिव्यगुणों का विकास करें (१२)। यह उषा हमें वरणीय धन दे (१३)। हमारा उषःकाल प्रभुस्तवन में बीते (१४)। हमारा घर हिंसा व लोभ से रहित तथा विशाल हो (१५)। उषा हमें धन, गौ, ज्ञान व अन्न प्राप्त कराये (१६)। इसी बात को अब

इस रूप में कहते हैं कि हे उषे ! तू सब भद्र वस्तुओं के साथ हमें प्राप्त हो—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—उषा । छन्दः—निचृदनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

भद्र की प्राप्ति

उषो भद्रेभिरा गहि दिवश्चिद्रोचनादधि । वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम् ॥१॥

१. हे **उषः**=उषःकाल ! **रोचनात्**=देदीप्यमान **दिवः**=ज्ञान के द्वारा **चित्**=निश्चय से **भद्रेभिः**=भद्र वस्तुओं के साथ **अधि आगहि**=तू हमें आधिक्येन प्राप्त हो । जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, उतना-उतना हम अभद्र से दूर और भद्र के समीप होते जाते हैं । इन उषःकालों में हम स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाएँ और इस प्रकार अपना सम्पर्क भद्रताओं के साथ करते चलें । २. **अरुणप्सवः**=(प्सान्ति भक्षयन्तीति प्सवः अश्वाः, अरुणः=अव्यक्तरागः) नहीं प्रकट हुआ है राग जिनमें, ऐसे इन्द्रियरूप अश्वोंवाले अर्थात् विषयों में अनासक्त इन्द्रियोंवाले **सोमिनः**=सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले पुरुष **त्वा**=तुझे **गृहम्**=अपने घर में **उपवहन्तु**=प्राप्त करानेवाले हों अर्थात् प्रत्येक उषःकाल में हमारा यह निश्चय हो कि हमें इन्द्रियों को विषयों में नहीं फँसने देना और वीर्य की रक्षा करनी है । वस्तुतः ऐसा होने पर ही तो उषा हमें सब भद्रों के प्राप्त करानेवाली होगी ।

भावार्थ—हमारा ज्ञान बढ़े और वह हमें अभद्र से हटाकर भद्र की ओर ले-चले । हम विषयों में आसक्त न हों और सोम का रक्षण करनेवाले बनें ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—उषा । छन्दः—निचृदनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

सुपेशस्—सुखरथ

सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम् । तेना सुश्रवसं जनं प्रावाद्य दुहितर्दिवः ॥२॥

१. हे **उषः**=प्रातःकाल ! **त्वम्**=तू **यम्**=जिस **सुपेशसम्**=स्वास्थ्य के कारण सुन्दर आकृतिवाले, **सुखम्**=सब सुन्दर छेदोंवाले—स्वस्थ इन्द्रिय द्वारोंवाले **रथम्**=हमारे शरीररूप रथ में **अध्यस्थाः**=अधिष्ठित हुई है, **तेन**=उस शरीररूप रथ से **सुश्रवसं जनम्**=इस उत्तम यश व उत्तम कर्मोंवाले (fame, praiseworthy action) मनुष्य को हे **दिवः दुहितः**=प्रकाश का पूरण करनेवाली उषे ! **अद्य**=आज **प्राव**=प्रकर्षेण रक्षित करनेवाली हो । २. (क) हम प्रातः सबसे पहले शरीर के स्वास्थ्य व इन्द्रियों की प्रशस्तता का ध्यान करें । हमारे उत्तम शरीररूप रथ पर यह उषःकाल आरूढ़ हो । (ख) दूसरे स्थान में हम यशस्वी कर्मों के द्वारा जीवन को प्रशस्त बनाने का संकल्प करें । (ग) यह प्रकाश का पूरण करनेवाली उषा हमें भी ज्ञान के प्रकाश से पूरित करनेवाली हो और हमें सब प्रकार से सुरक्षित करे ।

भावार्थ—हमारा शरीर स्वास्थ्य के सौन्दर्यवाला व प्रशस्तेन्द्रिय हो । हम यशस्वी व प्रशस्त कार्यों को ही करनेवाले हों ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—उषा । छन्दः—निचृदनुष्टुप् । स्वरः—गान्धारः ।

अर्जुनी उषा

वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि । उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥३॥

१. **अर्जुनि उषः**=शुभ्र प्रकाशवाली उषे ! **ते ऋतून् अनु**=तेरी नियमित गतियों के अनुसार अर्थात् यथासमय तेरे उदित होने पर **दिवः अन्तेभ्यः परि**=आकाश के सुदूर प्रान्तों से **पतत्रिणः वयः**=पंखोंवाले ये पक्षी **चित्**=भी और **द्विपत्**=दो पाँवोंवाले मनुष्य तथा **चतुष्पत्**=चार पाँववाले गौ आदि पशु **प्रारन्**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। २. उषा का प्रकाश होते ही मनुष्य, पशु, पक्षी सभी गतिवाले हो जाते हैं। उषा सबको जगाने व कर्म में लगने की प्रेरणा देती है। उषा अर्जुनी=शुभ्र प्रकाशवाली है। उसका अनुसरण करनेवाला व्यक्ति भी इसी प्रकार शुभ्रप्रकाश का अर्जन करता है।

भावार्थ—उषा के होते ही हमें गतिमय जीवनवाला होने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—उषा। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

वसूयवः कण्वाः

व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम्। तां त्वामुषर्वसूयवो गीर्भिः कण्वा अहूषत ॥४॥

१. हे **उषः**=उषःकाल ! तू **हि**=निश्चय से **रश्मिभिः**=प्रकाश की किरणों से **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को **रोचनम्**=खूब दीप्ति के साथ **आभासि**=प्रकाशित करती है। २. हे उषे ! **तां त्वा**=उस तुझको **वसूयवः**=उत्तम निवासक तत्त्वों की कामनावाले **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **गीर्भिः**=वाणियों से **अहूषत**=पुकारते हैं अर्थात् मेधावी पुरुष प्रातःकाल जागकर स्वाध्याय के लिए तैयारी करते हैं और ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करते हुए अपने निवास को उत्तम बनाते हैं। इस निवास के उत्तम होने पर जीवन में उसी प्रकार प्रकाश का अनुभव होता है जैसेकि उषा अपने प्रकाश से जगत् को प्रकाशित करती है।

भावार्थ—हम उषःकाल में स्वाध्याय के द्वारा अपने अन्दर उसी प्रकार प्रकाश को प्राप्त करें जैसेकि उषा बाह्य जगत् को प्रकाश प्राप्त कराती है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि उषा हमें भद्रताओं को प्राप्त कराए (१)। हमारा शरीररूप रथ स्वास्थ्य के सौन्दर्यवाला और प्रशस्तेन्द्रियोंवाला हो (२)। यह उषा हमें गतिमय जीवन की प्रेरणा दे (३)। यह हमारे अन्तर्जगत् को भी उसी प्रकार प्रकाशित करे जैसेकि बाह्य जगत् को (४)। अब उषा के पश्चात् सूर्योदय होता है—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूर्योदय

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१॥

१. **केतवः**=प्रकाशक रश्मियाँ—प्रकाश के द्वारा मार्ग को दिखानेवाली सूर्यकिरणें **विश्वाय दृशे**=सम्पूर्ण पदार्थों के दर्शन के लिए अर्थात् 'सब पदार्थ ठीक रूप में दीख सकें' इस प्रयोजन से **उ**=निश्चय से **त्यम्**=उस **सूर्यम्**=सूर्य को **उद्वहन्ति**=आकाश में ऊपर धारण करती हैं, जो सूर्य **जातवेदसम्**=सब प्रज्ञानों व धनों को प्राप्त करानेवाला है तथा **देवम्**=प्रकाश से देदीप्यमान होता हुआ (दिव्=द्युति) सम्पूर्ण प्राणशक्ति को देनेवाला है (देव=दानात्)। २. सूर्य जातवेदस् है—सम्पूर्ण धनों व ज्ञानों का स्रोत है। सूर्यकिरणें ही पृथिवी में उत्पादन-शक्ति की वृद्धि का कारण हैं। इस उत्पादन-शक्ति

से पृथिवी सब वनस्पति-ओषधियों को जन्म देती हुई 'वसुन्धरा' कहलाती है। वसुन्धरा को यह सूर्य ही वसुओं का धारण करनेवाली बनाता है। इस प्रकार वस्तुतः ही सूर्य 'जातवेदस्' है। प्रकाश का देनेवाला यह सूर्य 'जातवेदस्' तो है ही। ३. यह सूर्य 'देव' है, देदीप्यमान होता हुआ प्रकाश व प्राणशक्ति को देनेवाला है। इस सूर्य के रथ को ये किरणरूप अश्व आकाश में आगे और आगे ले-चलते हैं और सम्पूर्ण संसार के पदार्थों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—सूर्योदय से प्रकाश, ओषधियाँ, प्राणशक्ति एवं सकल पदार्थ प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

नक्षत्रों का अपयान

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे ॥२॥

१. **विश्वचक्षसे**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले **सूराय**=सूर्य के लिए अर्थात् मानो उसके आगमन के लिए स्थान को रिक्त करने के दृष्टिकोण से **त्ये नक्षत्रा**=वे सब, रात्रि में चमकनेवाले नक्षत्र उसी प्रकार **अक्तुभिः**=रश्मियों के साथ **अपयन्ति**=दूर चले जाते हैं **यथा**=जैसेकि **तायवः**=रात्रि के अन्धकार में चोरी करनेवाले चोर, रात्रि की समाप्ति के साथ, इधर-उधर तिरोहित हो जाते हैं। २. सूर्य आता है, नक्षत्र अस्त हो जाते हैं। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी ज्ञान का सूर्य उदय होने पर तुच्छ वासनाओं के नक्षत्र अस्त हो जाते हैं। ये सब इच्छा-नक्षत्र रात्रि के अन्धकार के समान अज्ञानान्धकार में ही उदित होते हैं। ये वासना-नक्षत्र हमारी शक्तियों का हरण करने के कारण सचमुच चोरों के समान हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञानसूर्य का उदय हो और वासना-नक्षत्रों का अस्त हो।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

देदीप्यमान अग्नि

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥३॥

१. **अस्य**=इस उदित हुए-हुए सूर्य की **केतवः**=प्रज्ञापक—प्रकाश को देनेवाली **रश्मयः**=प्रकाश की किरणें **जनाँ अनु**=मनुष्यों का लक्ष्य करके **वि अदृश्रम्**=इस प्रकार विशिष्टरूप से दिखती हैं **यथा**=जैसेकि **भ्राजन्तः अग्नयः**=चमकती हुई अग्नियाँ। २. सूर्य के उदित होने पर जैसे सूर्य की किरणें सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और जीवन प्रकाशमय हो जाता है। यह प्रकाश देदीप्यमान अग्नि के समान होता है। इसमें सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय हो और हमारी सब बुराइयाँ अन्धकार के समान विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

त्रिविध स्वास्थ्य

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम् ॥४॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! तू **तरणिः**=हमें रोगों से तारनेवाला है। उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों

को नष्ट करता है और इस प्रकार हमें नीरोग बनाता है। **विश्वदर्शतः**=(विश्वं दर्शतं द्रष्टव्यं यस्य) सूर्य सारे संसार का पालन करता है (दृश्=to look after)। **ज्योतिः कृत् असि**=यह सूर्य सर्वत्र प्रकाश करनेवाला है। **विश्वं रोचनम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को **आभासि**=समन्तात् भासित कर देता है। सूर्य के उदय होते ही सम्पूर्ण अन्तरिक्ष सब ओर से चमक उठता है। २. सूर्य शरीर को रोगों से रहित करके स्वस्थ बनाता है (तरणिः), मस्तिष्क को यह ज्योतिर्मय करता है (ज्योतिष्कृत्) और हृदयान्तरिक्ष को सब मलिनताओं से रहित करके चमका देता है। एवं सूर्य के प्रकाश का प्रभाव 'शरीर, मस्तिष्क व मन' सभी को सौन्दर्य प्रदान करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य हमें 'शरीर, मन व मस्तिष्क' के त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—यवमध्या विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'देव व मानुष बनना'-ब्रह्मदर्शन

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥५॥

१. हे सूर्य! तू **देवानां विशः प्रत्यङ्**=देवों की प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ **उदेषि**=उदित होता है अर्थात् सूर्य का प्रकाश प्रजाओं को दिव्य गुणोंवाला व दैवीवृत्तिवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले लोग दिव्य गुणोंवाले बनते हैं। सूर्य का प्रकाश मन पर अत्यन्त स्वास्थ्यजनक प्रभाव डालता है। २. **मानुषान् प्रत्यङ् उदेषि**=मानुषों के प्रति गति करता हुआ यह सूर्य उदय होता है। सूर्य हमें मानुष बनाता है। 'मानुष' वह है जोकि 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' विचारपूर्वक कर्म करता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले व्यक्ति समझ से काम करनेवाले बनते हैं। अथवा सूर्य **मानुषान् प्रत्यङ् उदेषि**=(मानुष=Humane) दयालुओं के प्रति उदय होता है। सूर्यप्रकाश मनुष्य की मनोवृत्ति को अक्रूर बनाता है। सामान्यतः हिंसावृत्ति के पशु व असुर रात्रि के अन्धकार में ही कार्य करते हैं, सूर्य का प्रकाश उनके लिए अरुचिकर होता है। **स्वः दृशे**=उस स्वयं राजमान ज्योति 'ब्रह्म' के दर्शन के लिए तू **विश्वं प्रत्यङ्**=सबके प्रति गति करता हुआ उदय होता है। इस उदय होते हुए सूर्य में द्रष्टा को प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। यह सूर्य उसे प्रभु की विभूति के रूप में दिखता है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश हमें देव व मानुष बनाता है और प्रभु का दर्शन कराता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

भुरण्यन्—लोकभरण करनेवाला

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि ॥६॥

१. हे **पावक**=प्रकाश से जीवनों को पवित्र करनेवाले! **वरुण**=सब रोगों व आसुर भावनाओं के निवारण करनेवाले सूर्य! **त्वम्**=तू **जनान् भुरण्यन्तम्**=लोगों का भरण व पोषण करनेवाले को—लोकों के धारणात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुष को **येन चक्षसा**=जिस प्रकाश से **अनुपश्यसि**=अनुकूलता से देखता है, उसी प्रकाश को हम प्राप्त करें। वही प्रकाश हमसे स्तुति के योग्य हो। २. जो लोग द्वेष का निवारण करके (वरुण), अपने हृदयों को पवित्र बनाकर (पावक) लोकहितकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (भुरण्यन्तम्)—उनके लिए सूर्य का प्रकाश सदा हितकारी होता है। वस्तुतः हमारी वृत्ति उत्तम होती है तो संसार भी हमारे लिए उत्तम होता है। हमारी वृत्ति में न्यूनता आने पर ये प्रकृति के देवता भी हमारे लिए उतने हितकर नहीं रहते। अन्यत्र मन्त्र में कहा है कि जल व ओषधियाँ द्वेष करनेवाले के लिए

हितकर नहीं होतीं—**'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।'**

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश उनके लिए हितकर होता है जो लोकों का भरण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दिन-रात्रि का निर्माण

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥७॥

१. हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर सरण करनेवाले आदित्य! तू **द्याम्**=इस विस्तृत द्युलोक में **वि एषि**=विशेष रूप से प्राप्त होता है। द्युलोक में सूर्य का उदय होता है और वह सूर्य इस द्युलोक में आकर **पृथु रजः**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक में आगे-और-आगे बढ़ता है। २. इस गति के द्वारा **अक्तुभिः**=रात्रियों के साथ **अहा**=दिनों को **मिमानः**=यह निर्मित करता है। ३. इस प्रकार दिन व रात्रि के निर्माण से यह सूर्य **जन्मानि**=सब जन्म लेनेवाले प्राणियों को **पश्यन्**=देखता है अर्थात् सब प्राणियों का पालन करता है। यदि केवल दिन-ही-दिन होता तो मनुष्य कार्य करते-करते श्रान्त होकर समाप्त हो जाता और रात्रि-ही-रात्रि होती तो मनुष्य को आराम करते-करते ज़ंग ही खा जाता। एवं यह दिन-रात्रि का चक्र मनुष्य का सुन्दरता से पालन कर रहा है। इस क्रम के द्वारा सूर्य सब प्राणियों का ध्यान (रक्षण) करता है।

भावार्थ—सूर्य उदित होकर अन्तरिक्ष में आगे बढ़ता हुआ दिन-रात्रि के निर्माण द्वारा हमारा पालन करता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सप्ताश्व

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण ॥८॥

१. **देव**=द्योतमान, हृदयों को निर्मल करके दीप्त करनेवाले! **सूर्य**=निरन्तर सरणशील! सभी को कार्यों में प्रवृत्त करनेवाले! **विचक्षण**=विशिष्ट प्रकाशवाले! सबके मस्तिष्कों को ज्ञानज्योति से रोशन करनेवाले सूर्य! **त्वा**=तुझे **सप्त हरितः**=सात रंगोंवाली रसहरणशील किरणें **रथे**=रथ में **वहन्ति**=धारण करती हैं। वह तू **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान किरणरूप केशोंवाला है। २. सूर्य की किरण सात प्रकार की हैं। इसी से सूर्य 'सप्ताश्व' है। ये सात किरणें सात प्राणशक्तियों को अपने में धारण करती हैं और ये किरणें इस प्राणशक्ति को हमारे शरीररूप रथ में प्राप्त कराती हैं। इसी प्रकार ये किरणें हमें नीरोग बनानेवाली होती हैं। यह सूर्य शोचिष्केश है। इसकी किरणें हमारी छाती पर पड़ती हैं तो ये अन्दर प्रविष्ट होकर सब रोगकृमियों का संहार करती हैं और हमारे शरीरों का शोधन कर डालती हैं। रोग-हरण करने से भी ये किरणें 'हरित' हैं। इनकी संख्या सात है। वस्तुतः सम्पूर्ण प्राणशक्ति सात भागों में ही विभक्त है। सूर्य अपनी इन किरणों के द्वारा हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का सञ्चार करता है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है। सात प्रकार के प्राणों को हमारे शरीर में सञ्चारित करता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सूर्य चङ्क्रमण

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥९॥

१. **सूरः**=सूर्य **रथस्य**=हमारे शरीररूपी रथों की **नप्त्यः**=न गिरने देनेवाली **सप्त**=सात **शुन्ध्युवः**=शोधक किरणों को **अयुक्त**=रथ में जोतता है। सूर्य की किरणें सात रंगों के भेद से सात प्रकार की हैं। ये हमारे शरीर में प्राणशक्ति का सञ्चार करके हमारे शरीरों का शोधन करती हैं और उन शरीरों को गिरने नहीं देती अर्थात् क्षीणशक्ति नहीं होने देती। २. यह सूर्य **ताभिः**=उन **स्वयुक्तिभिः**=अपने रथ में जुते हुए किरणरूप अश्वों के साथ **याति**=अन्तरिक्ष में आगे और आगे चलता है।

भावार्थ—सूर्य अपनी सातों किरणों के साथ अन्तरिक्ष में आगे-आगे चल रहा है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अग्नि-विद्युत्-सूर्य

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१०॥

१. **वयम्**=हम **तमसः परि**=अन्धकार से परे **उत्**=उत्कृष्ट ज्योति अग्नि को तथा **उत्तरम्**=उद्गततर ज्योति, अधिक उत्कृष्ट **ज्योतिः**=विद्युत् को **पश्यन्तः**=देखते हुए **देवं देवत्रा**=देवों में भी देव, प्रकाशमान पदार्थों में भी प्रकाशमान **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति **सूर्यम्**=सूर्य को **अगन्म**=प्राप्त हों। २. हम अग्नि का ज्ञान प्राप्त करें, विद्युत्-तत्त्व को समझने का यत्न करें और सूर्य के विज्ञान को अपनाएँ। ये ही तीन ज्योतियाँ अध्यात्म में शरीर, हृदय व मस्तिष्क में निवास करती हैं। इन ज्योतियों के अध्यात्म में ठीक कार्य करने पर हमारी वाणी, मन व मस्तिष्क सभी सुन्दर होते हैं।

भावार्थ—अग्नि उत्कृष्ट ज्योति है, विद्युत् उत्कृष्टतर है और सूर्य उत्कृष्टतम है। ये क्रमशः पार्थिव, अन्तरिक्ष व दिव्य ज्योतियाँ हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

हृद्रोग व हरिमा

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्। हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥११॥

१. **मित्रमहः सूर्य**=हे रोगों व मृत्यु से त्राण करनेवाली दीप्ति से युक्त सूर्य! (प्रमीते; त्रायते, महस्=तेज), **अद्य**=आज **उद्यन्**=उदय होते हुए और **उत्तरां दिवं आरोहन्**=ऊपर द्युलोक में आरोहण करते हुए **मम**=मेरे **हृद्रोगम्**=हृद्गत रोग को, हृदय-सम्बन्धी रोग को (Heart disease) **च**=और **हरिमाणम्**=पीलिया रोग (Jaundice) के कारण उत्पन्न चेहरे के वैवर्ण्य को **नाशय**=नष्ट करिए। २. सूर्य का तेज हृद्रोग व हरिमा का नाशक है। प्रातः व सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठने से सूर्य-किरणें हमारे इन रोगों को नष्ट करती हैं। वर्तमान में हृद्रोग की अधिकता का यही कारण है कि हमारे जीवनों में सूर्यसम्पर्क में बैठने का क्रम नहीं रहा।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं अवश्य सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठें ताकि हम हृद्रोग व हरिमा से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

हरिमा निराकरण

शुकेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि। अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं नि दध्मसि ॥१२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सूर्याभिमुख बैठकर ध्यान करते हुए हम **मे हरिमाणम्**=अपनी हरिमा=रोग के कारण उत्पन्न होनेवाली चेहरे की इस पीतिमा को **शुकेषु रोपणाकासु**=तोतों व मैनाओं

में **दध्मसि**=स्थापित कर सकते हैं। यह पीतिमा (yellowish green colour) तोतों व मैनाओं में ही शोभा देती है। इसका स्थान हमारा चेहरा थोड़े ही है? २. **अथ**=और अब **मे हरिमाणम्**=हम अपनी इस हरिमा को **हारिद्रवेषु**=हरिताल द्रुम के पत्तों में **निदध्मसि**=निश्चय से स्थापित करते हैं। इस हरिमा का स्थान हरिताल द्रुम ही हैं, मेरे चेहरे का सम्बन्ध इस हरिमा से नहीं है। यह हरिमा वहीं रहे, मुझे पीड़ित करनेवाली न हो। ३. 'शुक' शब्द शिरीष वृक्ष का वाचक भी है और 'हारिद्रव' कदम्ब वृक्ष का। यह भी सम्भव है कि इन वृक्षों के पत्तों आदि का प्रयोग हरिमा रोग को दूर करने के लिए उपयोगी हो। उस समय 'रोपणाका' (Healing application) लेपविशेष की प्रक्रिया का नाम होगा। शिरीष व कदम्ब वृक्षों का लेप-सा बनाकर प्रयोग होना सम्भव है।

भावार्थ—उचित उपचार से हमारा यह हरिमा रोग दूर हो और हम पुनः कान्ति-सम्पन्न बन पाएँ।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

द्विषद्-रन्धन

उद॑गाद॒यमा॑दि॒त्यो विश्वे॑न॒ सह॑सा स॒ह। द्वि॒षन्तं॒ मह्यं॒ र॒न्धय॒न्मो अ॒हं द्वि॑ष॒ते र॑धम् ॥१३॥

१. **अयं आदित्यः**=रोगों से हमारा खण्डन न होने देनेवाला यह सूर्य **विश्वेन**=सम्पूर्ण **सहसा**=रोगों को पराभूत करनेवाले बल के **सह**=साथ **उद् अगात्**=उदय होता है। उदय होता हुआ यह सूर्य **मह्यं द्विषन्तं रन्धयन्**=मेरे लिए द्वेष करते हुए रोगों को नष्ट करता है, **उ**=और **अहम्**—मैं **द्विषते**=इस द्वेष करनेवाले रोग के लिए **मा रधम्**=हिंसित न हो जाऊँ।

भावार्थ—उदय होते हुए सूर्य की किरणों में वह शक्ति है जो हमारे अप्रिय रोगों का नाश करती है और हमें उन रोगों का शिकार नहीं होने देती।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार होता है कि सूर्योदय होता है और सब पदार्थ ठीक रूप में दिखने लगते हैं (१)। हमारे जीवनों में जब ज्ञान-सूर्य उदय होता है तो वासना-नक्षत्र अस्त हो जाते हैं (२)। ज्ञान-सूर्य के उदय होते ही बुराइयाँ अन्धकार के समान विलीन हो जाती हैं (३)। यह सूर्य हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को स्वस्थ करता है (४)। इस सूर्य में प्रभु की महिमा दिखती है (५)। परार्थ-प्रवृत्त लोग सूर्य से हित प्राप्त करते हैं (६)। यह सूर्य ही दिन-रात्रि के निर्माण से हमारा पालन कर रहा है (७)। अपनी सात किरणों से सप्तविध प्राणशक्ति का हममें सञ्चार करता है (८)। इन सातों किरणों के साथ यह अन्तरिक्ष में आगे और आगे चल रहा है (९)। यह सूर्य उत्कृष्टतम ज्योति है (१०)। यह हृद्रोग व हरिमा को दूर करता है (११)। अपने सहस् द्वारा हमारे अप्रिय रोगों का नाश करता है (१३)। सूर्य के सम्पर्क में रहता हुआ यह ऋषि 'आंगिरस', अङ्ग-अङ्ग में रसवाला बनता है और अपने में शक्तियों का उत्पादन करनेवाला 'सव्य' कहलाता है। यह अपने को पूर्ण स्वस्थ बनाकर प्रभु की ओर अग्रसर होता है।

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

वसु का अर्णव

अ॒भि त्यं मे॒षं पु॑रुहू॒तमृ॒ग्मिय॒मिन्द्रं॑ गी॒र्भिर्म॑दता॒ वस्वो॑ अ॒र्ण॒वम्।
य॒स्य॒ द्यावो॒ न वि॒चर॑न्ति॒ मानु॑षा भु॒जे मंहि॑ष्ठम॒भि विप्र॑मर्चत ॥१॥

१. **मेषम्**=(मेषति=sprinkles) सुखों का सेचन करनेवाले, **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी **ऋग्मियम्**=(ऋग्भिर्मीयते) विज्ञानों के द्वारा जिसकी महिमा का ज्ञान होता है, **त्यम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**—ज्ञान की वाणियों से **अभिमदत**=प्रातः-सायं हर्षित करो। 'अभि' का शब्दार्थ दोनों ओर है। दिन का एक सिरा 'प्रातः' है और दूसरा 'सायम्'। हमें चाहिए कि हम प्रातः-सायं दोनों समय ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करते हुए प्रभु को प्रीणित करनेवाले बनें। वे प्रभु हमपर सुखों का सेचन करते हैं। हम जब भी प्रभु को पुकारते हैं तो वह पुकार हमारा पालन व पूरण करनेवाली होती है। इस प्रभु की महिमा का दर्शन हम तभी करते हैं जब हम विविध विज्ञानों का अध्ययन करते हैं। ये प्रभु परमैश्वर्यशाली है। २. ये प्रभु **वस्वः अर्णवम्**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों के समुद्र हैं। हम उस प्रभु का प्रीणन करें **यस्य**=जिस प्रभु के **मानुषा**=मानव-हितकारी कर्म **विचरन्ति**=सर्वत्र उसी प्रकार फैले हुए हैं **न द्यावः**=जैसे कि सूर्य की किरणें सर्वत्र फैली हैं। ३. हमें चाहिए कि **भुजे**=(भुज पालने) अपने रक्षण के लिए **मंहिष्ठम्**=दातृतमम्=सब पदार्थों के सर्वोत्तम दाता **विप्रम्**=विशेष रूप से हमारा पूरण करनेवाले उस प्रभु का **अभि अर्चत**=प्रातः-सायं अर्चन करें। वस्तुतः उस प्रभु का उपासन ही हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है, जो शक्ति हमारा पालन व पूरण करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्रातः-सायं प्रभु का उपासन जीवन की कल्याणमयता व पूर्णता के लिए आवश्यक है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

मदच्युत्-शतक्रतु

अभीमवन्वन्त्स्वभिष्टिमूतयोऽन्तरिक्षप्रां तविषीभिरावृतम्।
इन्द्रं दक्षास ऋभवो मदच्युतं शतक्रतुं जवनी सूनृतारुहत् ॥२॥

१. **ऊतयः**=मन को वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले अर्थात् मन को निर्मल बनानेवाले, **दक्षासः**=बल के बढ़ानेवाले, अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का वर्धन करनेवाले **ऋभवः**=(उरु भान्ति) मस्तिष्क को दीप्त करनेवाले मरुत् अर्थात् प्राण **इन्द्रं अभि ईम् अवन्वन्**=वासनाओं—वृत्रों से युद्ध करनेवाले जीव को निश्चयपूर्वक आभिमुख्येन सेवित करते हैं अर्थात् वासना-संग्राम में प्राण जीव के सहायक होते हैं। प्राणसाधना से ही तो वासनाओं का क्षय होता है (**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**)—वासना-क्षय होकर ज्ञान की दीप्ति होती है और मनुष्य विवेकशील होता है। २. कैसे इन्द्र को ? **स्वभिष्टिम्**=(शोभनाभ्येषणवन्तम्—सा०) उत्तमता से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले को, **अन्तरिक्षप्राम्**=(अन्तरा क्षि, प्रा पूरणे) सदा मध्यमार्ग में चलने के द्वारा अपना पूरण करनेवाले को, अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले को, **तविषीभिः**=बलों से आवृत्त को, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति-सम्पन्न को, इतना होने पर भी **मदच्युतम्**=गर्व को अपने से दूर रखनेवाले को और अन्त में **शतक्रतुम्**=सौ-के-सौ वर्ष यजमय जीवन बितानेवाले को, सदा कर्मशील को। वस्तुतः यहाँ 'स्वभिष्टि' आदि शब्दों में सर्वत्र प्राणसाधना करनेवाले लोगों का संकेत है। प्राणसाधना से ही जीव इस स्थिति को प्राप्त हो सकता है। ३. सबसे बढ़कर बात यह है कि इस प्राणसाधना को **जवनी**=सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाली, उत्तम कार्यों में प्रेरित करनेवाली **सूनृता**=प्रिय, सत्यात्मिका वाणी **आरुहत्**=आरूढ़ होती है, प्राप्त होती है। यह प्रिय सत्य वाणी ही बोलता है।

भावार्थ—हम मन के दृष्टिकोण से 'ऊतय', शरीर के दृष्टिकोण से 'दक्षासः' तथा मस्तिष्क के

दृष्टिकोण से 'ऋभवः' हों। सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाली सत्य वाणी ही बोलें। 'स्वभिष्टि, अन्तरिक्ष-प्रा, तविषीभिरावृत, मदच्युत व शतक्रतु' बनें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अंगिरस् अत्रि व विमद

त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्।
ससेन चिद्विमदायावहो वस्वाजावद्रिं वावसानस्य नर्तयन् ॥३॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अंगिरोभ्यः**=अंगिरा ऋषियों के लिए **गोत्रम्**=वेदवाणीरूप ज्ञानराशि को **अप अवृणोः**=अपावृत करते हो। जब हम सोम के संयम द्वारा अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय बनाते हैं तभी हम वेदज्ञान के अधिकारी होते हैं। २. **उत**=और हे प्रभो! आप **अ-त्रये**=काम-क्रोध-लोभ—इन तीनों से ऊपर उठनेवाले के लिए **शतदुरेषु**=शत अर्थात् सैकड़ों द्वारोंवाले इस शरीर में निवास करने के समय **गातुवित्**=मार्ग दिखलानेवाले हैं। ३. **विमदाय**=मदशून्य पुरुष के लिए **ससेन**=(सस्येन, ससं, नमः, आयुः=अन्न—नि०) वानस्पतिक भोजनों के द्वारा **वसु**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को **आवह**=प्राप्त कराते हो। मांस-भोजन मनुष्य को क्रोध, अहंकार व ईर्ष्या-द्वेष की ओर ले-जानेवाला है। ४. अंगिरस् बनने पर हमारे लिए वेदवाणी का प्रकाश होता है। इससे हम जीवन के कर्तव्य-मार्ग को देखकर 'अत्रि' बनते हैं। हमें इसी वेदज्ञान से यह भी ज्ञात होता है कि हमें मांस के सेवन से दूर रहना है। यह वानस्पतिक भोजन हमें 'विमद' बनाता है। **वावसानस्य**='अंगिरस्, अत्रि व विमद' बनकर अपने निवास को उत्तम बनानेवाले इस पुरुष के **अद्रिम्**=अविद्या के पर्वत को **आजौ**=वासनाओं के साथ सतत संग्राम होने पर वे प्रभु **नर्तयन्**=नचा देते हैं अर्थात् हिला देते हैं। प्रभुकृपा से इस अविद्या-पर्वत के हिल जाने पर हमारा जीवन अविद्यामूलक क्लेशों से भी रहित हो जाता है।

भावार्थ—हम अंगिरस् बनकर वेदज्ञान को प्राप्त करें, अत्रि बनकर मार्गद्रष्टा हों, विमद बनकर वसु को प्राप्त हों, वावसान बनकर अविद्या-पर्वत को हिला दें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दानुमत् वसु

त्वमपामपिधानावृणोरपाधारयः पर्वते दानुमद्वसु।
वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्यारोहयो दृशे ॥४॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अपाम्**=प्रजाओं की **अपिधाना**=आवरणभूत वासनाओं को **अपावृणोः**=दूर करते हैं। मानव-जीवन सदा विविध वासनाओं से आवृत-सा हुआ रहता है। प्रभुकृपा होती है तो यह वासनाओं का आवरण दूर हो जाता है। २. हे प्रभो! आप ही **पर्वते**=(पूरयितव्ये) सदा पूरण होने के योग्य इस पुरुष में **दानुमत् वसु**=शोभन दान से युक्त धन को **अपाधारयः**=धारण करते हैं। मनुष्य में अल्पता के कारण, कमी स्वभावतः ही आ जाती है। मनुष्य को सदा ही 'अभ्यास व वैराग्य' आदि उपायों से अपना पूरण करना होता है। इसी से मनुष्य को यहाँ 'पर्वत'=पूरयितव्य कहा है। धन उन्नति में सहायक है, परन्तु दानादि से रहित होने पर यही धन लोभवृद्धि का कारण बन जाता है। प्रभु धन देते हैं, साथ ही दान की वृत्ति भी देते हैं। ३. प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों

के अधिष्ठाता बननेवाले पुरुष ! **यत्**=जब **शवसा**=गति के द्वारा, सदा कर्म में लगे रहने के द्वारा (शवतिर्गतिकर्मा) **अहिम्**=(आहन्तारं) सब प्रकार से हिंसित करनेवाले **वृत्रम्**=इस कामरूप वृत्र को **अवधीः**=तू नष्ट करता है **आत् इत्**=तब ही **दृशे**=तत्त्वदर्शन के लिए अथवा आत्म-साक्षात्कार के लिए **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **अरोहयः**=तू आरुढ़ करता हैं। वासनारूप मेघ का आवरण हटने पर ही तो ज्ञान के सूर्य का प्रकाश चमकेगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी वासना विनष्ट हो। हमें ज्ञान प्राप्त हो और हम दानयुक्त धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

मायी vs ऋजिश्वा

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ ॥५॥

१. हे प्रभो ! **त्वम्**=आप **मायिनः**=मायायुक्त, छल-छिद्र से युक्त व्यवहार करनेवाले पुरुष को **मायाभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा अप, **अधमः**=दूर सन्तप्त करते हैं (माया शची इति प्रज्ञानाम—नि०) अथवा **मायाभिः**=माया के द्वारा ही **अपाधमः**=दूर करते हैं। मायावी पुरुषों को जब दूसरे मायावी पुरुषों से टक्कर मिलती है तब वे इस माया की निरर्थकता व हेयता को अनुभव करते हैं। २. ये मायावी पुरुष वे हैं **ये**=जो **स्वधाभिः**=अन्नों के द्वारा **अधिशुप्तौ**—खूब शोभायमान अपने मुखों में ही **अजुह्वत्**=आहुति देते हैं। इसीलिए इनका 'असुर' नाम पड़ गया। **'स्वेष्वास्येषु जुह्वतश्चेरुः'**—ये अपने ही मुखों में आहुति देते हुए विचरण करते थे। वस्तुतः इतना अधिक स्वार्थ न होने की स्थिति में छल-छिद्र की आवश्यकता ही नहीं होती। स्वार्थ के बढ़ने पर ही हमारा झुकाव मायायुक्त कार्यों की ओर होता है। ३. हे **नृमणः**=(नृषु मनो यस्य) लोकहित के विचार से परिपूर्ण प्रभो ! **त्वम्**=आप **पिप्रोः**=इस निरन्तर अपना ही पूरण करनेवाले पिप्रु की **पुरः**=नगरियों को **प्रारुजः**=छिन्न-भिन्न कर देते हो। इसके किलों को तोड़ देते हो। इनकी शक्ति के नष्ट होने से ही सामान्य जनता का कल्याण सम्भव होता है, अन्यथा ये मायावी—आसुरवृत्ति के पुरुष अपने स्वार्थ के लिए सदा ही समाज की हानि करते रहते हैं। ४. हे प्रभो ! **दस्यु-हत्येषु**=इन दस्युओं की हत्या होने पर **ऋजिश्वानम्**=(श्वि गतौ) ऋजु—सरल मार्ग से चलनेवाले पुरुषों का आप **प्राविथ**=प्रकर्षेण रक्षण करते हो। ५. राष्ट्र में राजा का भी यह कर्तव्य है कि वह मायावी पुरुषों को दण्डित करके सामान्य प्रजा को व्यर्थ की हानियों से बचाए।

भावार्थ—हम 'मायावी-पिप्रु-दस्यु' न बनें। 'ऋजिश्वा' बनकर प्रभुरक्षण के पात्र हों।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'शुष्ण, शम्बर व अर्बुद' का संहार

त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे ॥६॥

१. 'शुष्ण' काम-असुर का नाम है। यह मनुष्य का शोषण करनेवाला है। काम से शक्ति का क्षय होकर मनुष्य का शोषण हो जाता है। 'कुत्स' वह ऋषि है जो काम की हिंसा के लिए सदा यत्नशील होता है ('कुथ' हिंसायाम्), परन्तु यह कुत्स स्वयं काम को थोड़े ही जीत पाता है ! **'त्वया ह स्विद् युजा**

वयम्'=उस प्रभु से मिलकर ही यह उसका संहार करता है, अतः कहते हैं—हे प्रभो ! **त्वम्**=आप ही **शुष्णहत्येषु**=इस शोषक कामासुर का संहार होने पर **कुत्सम्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले इस ऋषि को **आविथ**=सुरक्षित करते हो। २. शम्बर शान्ति को आवृत कर डालनेवाला असुर है। यह 'राग-द्वेष, घृणा व क्रूरता' के रूप में मनुष्य में उद्भूत होता है। हे प्रभो ! आप **अतिथिग्वाय**=अतिथिग्व के लिए **शम्बरम्**=इस शम्बरासुर को **अरन्धयः**=नष्ट कर डालते हैं, चीर-फाड़ देते हैं (to rend)। अतिथिग्व वह व्यक्ति है जोकि 'विद्वान् व्रात्य' अतिथियों के स्वागत के लिए सदा गतिशील होता है। वस्तुतः जिस घर में 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' विद्वान् आते-जाते रहते हैं, उस घर में लोगों की मनोवृत्ति ईर्ष्या-द्वेष से मलिन नहीं होती। ३. 'अर्बुद' (अर=Little, बुन्दति Sees) वह असुर है जो औरों को सदा छोटा ही देखता है, अपने को बड़ा मानता है। एवं जिस व्यक्ति में अभिमान कूट-कूटकर भरा हो वही 'अर्बुद' है। हे प्रभो ! आप **महान्तं चित् अर्बुदम्**=धन-धान्यादि के दृष्टिकोण से अत्यन्त बढ़े हुए भी इस अभिमानी पुरुष को **पदा निक्रमीः**=पाँवों तले कुचल देते हो। यह उक्ति ही बन गई है कि 'अभिमानी का सिर नीचा' (Pride goeth before a fall) ४. इस प्रकार हे प्रभो ! आप **सनात् एव**=सदा से ही **दस्युहत्याय**=इन काम, ईर्ष्या व अभिमान' आदि नाशक वृत्तियों ये ध्वंस के लिए **जज्ञिषे**=होते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'काम, ईर्ष्या व अभिमान' से ऊपर उठें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

काम का व्रश्चन

त्वे विश्वा तविषी सध्र्यग्घिता तव राधः सोमपीथाय हर्षते।
तव वज्रश्चिकिते बाह्वोर्हितो वृश्चा शत्रोरव विश्वानि वृष्ण्या ॥७॥

१. हे प्रभो ! **त्वे**=आपमें **विश्वा तविषी**=सम्पूर्ण बल **सध्र्यक्** (सहाञ्चति)=साथ गति करनेवाला होकर **हिता**=निहित है, आप सर्वशक्तिमान् हैं। २. **तव राधः**=आपकी अराधना करनेवाला (राध्+अच्) **सोमपीथाय**=सोम के रक्षण के लिए **हर्षते**=उत्कण्ठित होता है। वस्तुतः सोम के रक्षण से ही प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है। ३. हे प्रभो ! **तव वज्रः**=आपका यह वज्र **बाह्वोः हितः**=भुजाओं में रखा हुआ **चिकिते**=जाना जाता है। आपने हमारी भुजाओं में क्रियाशीलता को रखा है। यह क्रियाशीलता ही वह वज्र है (वज् गतौ) जोकि अशुभ वृत्तिरूप असुरों का संहार करता है। ४. आप कृपा करके **शत्रोः**=हमारा शातन व संहार करनेवाले कामादि असुरों के **विश्वानि वृष्ण्या**=सब बलों को **अववृश्च**=सुदूर विनष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम सदा क्रियाशील बने रहें। क्रियाशीलता से हम अशुभ वृत्तियों की शक्ति को क्षीण करनेवाले हों।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

राजा का कर्तव्य

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥८॥

१. गत मन्त्र में वर्णन था कि प्रभुकृपा से हमारे शत्रु नष्ट होते हैं। राष्ट्र में राजा का भी यह कर्तव्य होता है कि वह दस्युओं का नाश और आर्यों का रक्षण करे। वस्तुतः राजा प्रभु का प्रतिनिधि ही होना चाहिए। राजा के द्वारा प्रभु प्रजा का कल्याण करते हैं। इसीलिए राजा के लिए कहा गया है कि

'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'—राजा तो नररूप में महादेव ही है। उस राजा के लिए प्रभु कहते हैं कि हे राजन् ! तू **आर्यान् विजानीहि**=अपने राष्ट्र के आर्यपुरुषों को जान। 'ऋ गतौ' से बना आर्य शब्द यह संकेत करता है वह अपने कर्तव्य कर्म में सदा लगा रहे। २. हे राजन् ! तू उन पुरुषों को **च**=भी जान **ये दस्यवः**=जो दस्यु हैं—जो निर्माणात्मक कार्यों में न लगकर ध्वंसात्मक कार्यों में ही रुचि रखते हैं। ३. आर्यों और दस्युओं को जानकर तू **शासत्**=शासन करता हुआ **बर्हिष्मते**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **अव्रतान्**=कुत्सित कर्मों में लगे हुए पुरुषों को **रन्धय**=विनष्ट कर। तेरे राष्ट्र में अव्रती पुरुषों की प्रबलता न हो जाए। 'यज्ञशील पुरुष ही राष्ट्र में फूलें-फलेंगे' तभी तो राष्ट्र का उत्थान होगा। ४. **शाकी भव**=हे राजन् ! तू राष्ट्र के शासन के लिए शक्तिशाली बन। निर्बल राजा के राष्ट्र में तो 'मात्स्यन्याय' ही प्रवृत्त होता है। हे राजन् ! तू शक्तिशाली बनकर शासन करता हुआ **यजमानस्य**= यज्ञशील पुरुषों का **चोदिता**=प्रेरक बन, उन्हें उत्साहित करनेवाला हो। ५. **सधमादेषु**=(सह माद्यन्ति अत्र) मिलकर प्रसन्नतापूर्वक स्तवनादि कार्यों को करने के स्थलों में **ते**=तेरे **ता**=उन 'दस्यु-रन्धन व यजमान-वर्धन' आदि **विश्वा इत्**=सभी कार्यों को **चाकन**=दीप्त करते हैं अर्थात् उन कार्यों का शंसन करते हैं। सज्जनों की रक्षा व दस्युओं के दूरीकरण से ही राजा प्रशंसित होता है। एक शब्द में राजा का कार्य 'प्रजा-पालन' ही तो है। इस प्रजा-पालन के लिए उसे राष्ट्र के भीतर के दस्युओं को दण्ड देना होता है और प्रजा-पालन के लिए ही राष्ट्र के बाह्य शत्रुओं से युद्ध आवश्यक हो जाता है। सब दण्डन व युद्ध प्रजा-पालन के उद्देश्य से ही होते हैं। इस कर्तव्य को शक्तिशाली शासक ही निभा सकता है।

भावार्थ—राजा अपने को प्रभु का प्रतिनिधि समझे और राष्ट्र में आर्यों के वर्धन के लिए दस्युओं को दण्डित करे। वह शक्तिशाली बने जिससे सभाओं में सर्वत्र उसके कार्यों का प्रशंसन ही हो।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

आदर्श शासक

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतानाभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो वि जघान संदिहः ॥९॥

१. राष्ट्र में **अनुव्रताय**=अनुकूल व्रतवालों के लिए, राष्ट्र के नियमों के अनुसार चलनेवालों के लिए **अपव्रतान्**=नियम भंग करनेवाले पुरुषों को **रन्धयन्**=नष्ट करता हुआ, पीड़ित करता हुआ और २. **आभूभिः**=(आभिमुख्येन भवन्तीति आभुवः स्तोतारः—सा०) अपने को सदा प्रभु के समक्ष जानकर उत्तम कार्य ही करनेवाले स्तोताओं के हेतु से **अनाभुवः**=(न आभिमुख्येन भवन्ति) नास्तिक व आसुरी-वृत्तिवाले लोगों को **श्नथयन्**=हिंसित करता हुआ **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक तथा स्वयं जितेन्द्रिय राजा ३. **वृद्धस्य चित्**=बढ़े हुए भी राष्ट्र का **वर्धतः**=वर्धन करनेवाले पुरुष का तथा **द्याम्, इनक्षतः**=(इनक्षतिर्गत्यर्थः) प्रकाश व ज्ञान के मार्ग पर चलनेवाले का **स्तवानः**=स्तवन करता हुआ अर्थात् इनको उचित प्रशंसा प्राप्त कराता हुआ और इस प्रकार ४. **सन्दिहः**=(दिह उपचये) राष्ट्र का उपचय करनेवाला **वम्रः**= उद्गिरणशील, अर्थात् प्रजा से लिये हुए कर का प्रजाहित के लिए ही दे डालनेवाला राजा **विजघान**= राष्ट्र के शत्रुओं का नाश करता है (हन् हिंसा) अथवा विशिष्ट गतिवाला होता है (हन् गतौ)।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में 'अनुव्रत, आभू' पुरुषों का रक्षण करे, राष्ट्रवर्धक ज्ञानियों को प्रशंसित करे। राष्ट्रवर्धन के लिए ही सम्पूर्ण कर-प्राप्त धन का विनियोग करे। ऐसा ही राजा राष्ट्र के शत्रुओं का नाशक व उत्तम गतिवाला होता है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

ज्ञान व यश की ओर

तक्षद्यत्त उशना सहसा सहो वि रोदसी मज्मना बाधते शवः।
आ त्वा वातस्य नृमणो मनोयुज आ पूर्यमाणमवहन्नभि श्रवः॥१०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जिस समय राजा अपव्रतों को दूर करके अनुव्रतों को उत्तम परिस्थिति प्राप्त कराता है, तब **यत्**=यदि **उशना**=सर्वलोकहित की कामनावाला वह प्रभु **सहसा**=सब बुराइयों का पराभव करनेवाले बल के द्वारा **ते सहः**=तेरे बल को **तक्षत्**=तीव्र करता है, तो **शवः**=तेरा यह बल **मज्मना**=अपनी शोधक शक्ति से (मस्ज् शुद्धौ) **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **विबाधते**=विशिष्ट रूप से आलोडित करनेवाला होता है। सारा संसार भी उसके विरोध में हो तो वह पराजित नहीं होता और सम्पूर्ण संसार में एक हलचल मचा देता है, जोकि संसार का शोधन करनेवाली होती है। २. हे **नृमणः**=(नृषु मनो यस्य) लोकहित की भावनायुक्त मनवाले! **त्वा**=शोधक शक्ति से संसार को आलोडित करनेवाले तुझे **आपूर्यमाणम्**=प्रभु के द्वारा शक्ति से पूर्ण किये जाते हुए तुझे **वातस्य**=आत्मा के **मनोयुजः**=मन से युक्त ये इन्द्रियरूप अश्व **श्रवः अभि**=ज्ञान व यश के प्रति **आवहन्**=प्राप्त करानेवाले हों। आत्मा को यहाँ 'वात' शब्द से कहा गया है। 'वा' धातु से 'वात' शब्द बना है, 'अत्' धातु से 'आत्मा'। दोनों धातुओं का अर्थ गति है। आत्मा को स्वाभाविक रूप से गतिशील होना ही चाहिए। यह आत्मा रथी है। इसके शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप अश्व जुते हैं। ये इन्द्रियरूप अश्व मन-रूपी लगाम से युक्त हैं। जब ये घोड़े लगाम द्वारा काबू में होते हैं, तो ये ज्ञान और उत्तम कर्मों द्वारा यश का वर्धन करनेवाले होते हैं। ३. यह सब होता तभी है जबकि सबका हित चाहनेवाले प्रभु अपने बल से जीव को बलयुक्त करते हैं। प्रभु के तेज से तेजस्वी बनकर यह प्रभुभक्त अपने जीवन को तो शुद्ध बनाता ही है, इसी बल के द्वारा यह सम्पूर्ण संसार में भी उस हलचल को पैदा करता है, जोकि सारे संसार की शोधक होती है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम तेजस्वी बनकर, शोधक बल से संसार को शुद्ध करनेवाले हों। वशीभूत इन्द्रियाँ हमें ज्ञान व यश की ओर ले चलें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

शुष्णासुर-पुरी का विनाश

मन्दिष्ट यदुशने काव्ये सचाँ इन्द्रो वङ्कू वङ्कुतराधि तिष्ठति।
उग्रो ययिं निरपः स्रोतसासृजद्वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत्पुरः॥११॥

१. **यद्**=जब **उशने**=प्राणिमात्र के हित की कामना करनेवाले **काव्ये**=क्रान्तदर्शी प्रभु में यह **मन्दिष्टः**=आनन्द का अनुभव करता है। सम्पूर्ण चित्तवृत्ति को एकाग्र करके प्रभु में स्थित होने पर समाधिस्थ व्यक्ति को अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होता ही है। २. **सचान्**=उस प्रभु के साथ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वंकू वंकुतरा**=कुटिल से भी कुटिल मार्गों पर जानेवाले भी इन इन्द्रियाश्वों को **अधितिष्ठति**=काबू कर लेता है। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। विषयों में प्रवृत्त इन इन्द्रियों को रोकना सुगम नहीं; परन्तु जब जीव उस प्रभु के साथ होता है तो उस प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर यह इन इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाला होता है। ३. प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बना हुआ यह **उग्रः**=बड़ा तेजस्वी

होता है। तेजस्वी बनकर **ययिम्**=मार्ग को [यायतेऽस्मिन्] **नि**=निश्चय से **स्रोतसा**=उस मूलस्रोत प्रभु के साथ **असृजत्**=जोड़ता है अर्थात् उस मार्ग पर चलता है जो उसे प्रभु की ओर ले-जाता है। ४. इस प्रकार **अपः**=कर्मों को भी उस मूलस्रोत प्रभु से जोड़ता है अर्थात् सब कर्मों का कर्ता उस प्रभु को ही मानता है। उस प्रभु की शक्ति से होते हुए इन कार्यों के कर्तृत्व का वह अहंकार नहीं करता। नर बनकर कार्यों को करता है। अपने को प्रभु का निमित्तमात्र जानता है। ५. इस प्रकार निरहंकार होकर यह **शुष्णस्य**=ईर्ष्या, द्वेष व क्रोधरूप शोषक असुर के **दृंहिता पुरः**=सुदृढ़ नगरों को **वि ऐरयत्**=विशेष रूप से कम्पित कर देता है। अहंकारशून्य होने पर इसे कर्मफल की कामना नहीं रहती। इस फल की भावना के अभाव में ईर्ष्या-द्वेषादि सम्भव ही नहीं रहती।

भावार्थ—हम प्रभु में स्थित होकर आनन्द का अनुभव करें। प्रभु के साथ मिलकर इन अत्यन्त चंचल इन्द्रियों को वशीभूत करें। तेजस्वी बनकर प्रभु के मार्ग पर चलें। सब कर्मों का प्रभु के प्रति अर्पण करें। फल की इच्छा से ऊपर उठकर ईर्ष्या-द्वेषादि के दृढ़ किलों को भी तोड़ डालें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

सोमरक्षण के साधन व परिणाम

आ स्मा रथं वृषपाणेषु तिष्ठसि शार्यातस्य प्रभृता येषु मन्दसे।
इन्द्र यथा सुतसोमेषु चाकनोऽनर्वाणं श्लोकमा रोहसे दिवि ॥१२॥

१. गत मन्त्र में जीव के इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का उल्लेख था। उसी का विस्तार करते हुए कहते हैं कि **वृष-पाणेषु**=सोम के पान के निमित्त **स्म**=निश्चय से **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **आतिष्ठसि**=तू पूर्णरूप से अधिष्ठित करता है। वस्तुतः अपने पर पूर्ण काबू किये बिना शरीर में उत्पन्न सोम का रक्षण सम्भव भी तो नहीं। २. ये सोमकण **शार्यातस्य**=(शरितुं हिंसितुं योग्याः कामादयः, तान् अतति आक्रामति) नष्ट करने योग्य कामादि पर आक्रमण करनेवाले के जीवन में ही **प्रभृताः**=प्रकर्षेण भृत होते हैं। सोमकणों की रक्षा वही कर पाता है जोकि कामादि पर निरन्तर आक्रमण करके इन्हें नष्ट करने के लिए यत्नशील रहता है। **येषु**=जिन सोमकणों के सुरक्षित होने पर **मन्दसे**=तू हर्ष का अनुभव करता है अथवा जिन सोमकणों की रक्षा के निमित्त तू प्रभु का स्तवन करता है (मन्द्=to praise)। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **यथा**=जैसे तू **सुतसोमेषु**=इन उत्पन्न सोमकणों में **चाकनः**=कामनावाला होता है, उसी प्रकार तू **दिवि**=प्रकाश में **अनर्वाणम्**=हिंसित न होनेवाले **श्लोकम्**=यश को **आरोहसे**=प्राप्त करता है। वस्तुतः जितनी-जितनी सोम की रक्षा होती है, उतना-उतना ही ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है और मनुष्य यशस्वी कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम शरीररूपी रथ पर पूर्ण नियन्त्रण रखें, कामादि वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले हों, प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले हों। सोमरक्षण का परिणाम होगा कि हमारे ज्ञान का प्रकाश बढ़ेगा और हम यशस्वी जीवनवाले होंगे।

ऋषिः - सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

अर्भा-वृचया व मेना की प्राप्ति (विवाहत्रयी)

अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या ॥१३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! **महते वचस्यवे**=महान् वचस्यु के लिए आपने **अर्भाम्**=अर्भा को **अददाः**=दिया । **सुन्वते कक्षीवते**=सुन्वन् कक्षीवान् के लिए **वृचयाम्**=वृचया को दिया । **मेना**=मेना **वृषणश्वस्य**=वृषणश्व की **अभवः**=हुई । हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो ! **ते**=आपके **ता**=वे **विश्वा इत्**=सारे ही कर्म **सवनेषु**=जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायन्तन सवनों में **प्रवाच्या**=प्रकर्षेण शंसन के योग्य हुए । २. जीवन के प्रातःसवन में—प्रथम २४ वर्षों में हम महान् वचस्युओं को अर्भा प्राप्त हुई । माध्यन्दिन सवन में—अगले ४४ वर्षों में हम 'सुन्वन् कक्षीवान्' बने और वृचया को प्राप्त हुए । सायन्तन सवन में—जीवन के अन्तिम ४८ वर्षों में हम वृषणश्व बनकर मेना को प्राप्त हुए । यह सब उत्तम ही हुआ । ३. प्रातःसवन ब्रह्मचर्यकाल है, बाल्यकाल । उसमें हमें चाहिए कि हम महान् बनें, 'मह पूजायाम्'—पूजा करनेवाले बनें, बड़ों का आदर करें । माता-पिता व आचार्यों को देव समझ उनको मान दें । इस प्रकार आदर देने की भावनावाले होकर वचस्यु बनें, खूब उच्चारण करनेवाले बनें । गुरु व अध्यापक जो कुछ बोलें, उसका अनुवचन करते हुए उस-उस ज्ञान को अपनाने का प्रयत्न करें । प्रभु-कृपा से इस काल में हमें 'अर्भा' की प्राप्ति हो । हम अर्भा=छोटेपन को प्राप्त हों, विनीत बने रहें । जितने विनीत होंगे, उतने ही तो ज्ञानी बनेंगे । **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'**—ज्ञान तो प्रणिपात से ही प्राप्त होता है । जिस नल का सिर जलाशय से ऊपर उठा होता है उसमें पानी नहीं आता । इसी प्रकार अकड़नेवाला विद्यार्थी भी ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता । ४. जीवन का मध्याह्न गृहस्थकाल है । इसमें हमें सुन्वन्=यज्ञशील बनना है । पञ्चमहायज्ञों को करनेवाला गृहस्थ ही सद्गृहस्थ है । इन यज्ञों को करने के लिए सदा कक्षीवान्=कमर कसे हुए तैयार पर तैयार होना है—आलस्यशून्य । जब विवाह किया (वि-वह्) इतना बोझ उठाया तो पुरुषार्थ के लिए कमर तो कसनी ही है । इस सुन्वन् कक्षीवान् को प्रभु **वृचया**=(वृच्=to choose) वरणयोग्य पत्नी प्राप्त करते हैं, तभी तो घर स्वर्ग बनता है । ५. जीवन का सायन्तन सवन 'वानप्रस्थ' है । इस समय भी मुझे 'वृषणश्व' बने रहना है—शक्तिशाली इन्द्रियाश्वोंवाला । वस्तुतः इस समय हम सशक्त होते हैं तभी तो लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हो सकते हैं । वृषणव बनकर हम मेना को प्राप्त करते हैं ('मन्यते' इति मेना)—अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक बढ़ाते हैं । 'मेना' की भावना (मानयन्ति) उपासना की भी है, प्रभु का शंसन करना । वस्तुतः इस सायन्तन सवन में हमें ज्ञान व शंसन को ही अपनाना है—अधिक-से-अधिक ज्ञान को प्राप्त करना और प्रभु का शंसन करना । ६. प्रभुकृपा से हमारा जीवन इसी प्रकार का बनता है और हम प्रभु-शंसन करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! आपने सचमुच बड़ी कृपा की और हमारे जीवनों को इस प्रकार सुन्दर बनाया ।

भावार्थ—हम अपने जीवन में क्रमशः 'अर्भा, वृचया व मेना' को प्राप्त करनेवाले बनें ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्रभुस्तवन का महत्त्व

इन्द्रो॑ अश्रायि सु॒ध्यो॑ निरे॒के प॒ज्रेषु॒ स्तोमो॒ दुर्यो॒ न यूपः॑ ।
अ॒श्व॒युर्ग॒व्यू रथ॒युर्व॑सू॒युरिन्द्र॒ इद्रा॒यः क्षय॑ति प्रय॒न्ता ॥१४॥

१. **निरेके**=(नितरां रेचनम्) सब प्रकार के मलों व रोगों के विरेचन व दूरीकरण के लिए **सुध्यः**=(सुष्टु ध्यातुं योग्यः) उत्तमता से ध्यान करने योग्य **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अश्रायि**=सेवन किया जाता है । हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो वस्तुतः ध्यान करने योग्य है, सर्वशक्तिमान् व सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला है । इस प्रभु का स्तवन इसलिए आवश्यक है कि

इससे हम नीरोग व निर्मल बन पाएँगे। २. **पज्रेषु**=(पन् स्तुतौ+रक् न=ज) स्तुति करनेवालों में **स्तोमः**=यह प्रभुस्तवन **दुर्यः**=दुर (door) में—द्वार में होनेवाले **यूपः न**=स्तम्भ के समान है। जैसे स्तम्भ द्वार के आधार होते हैं, इसी प्रकार स्तोता के जीवन में प्रभुस्तवन जीवन का आधार होता है। ३. हमसे स्तुति किये गये वे प्रभु ही **अश्वयुः**=(अश्वं यौति) हमारे साथ उत्तम कर्मेन्द्रियों के जोड़नेवाले होते हैं, **गव्युः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों का हमारे साथ सम्पर्क करते हैं, **रथयुः**=वे प्रभु हमें उत्तम शरीररूप रथ को देनेवाले हैं, **वसूयुः**=उत्तम निवासक तत्त्वों व धनों को प्राप्त कराते हैं। ४. **इन्द्रः इत्**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही निश्चय से **रायः क्षयति**=सब धनों के स्वामी हैं (क्षयति=to be master of) **'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः'**—प्रभु कहते हैं कि सब धनों का मुख्य पति तो मैं ही हूँ। वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **प्रयन्ता**=इन धनों को हमें श्रम व आवश्यकता के अनुसार देनेवाले हैं।

भावार्थ—आधि-व्याधियों के दूरीकरण के लिए प्रभुस्तवन आवश्यक है। प्रभु-स्तवन हमारे जीवन का आधार है। वे प्रभु हमें अश्व, गौवें, रथ व वसु प्राप्त कराते हैं। वे सब धनों के स्वामी हैं और सब धनों के दाता हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु की शरण में

इ॒दं नमो॑ वृष॒भाय॑ स्व॒राजे॑ स॒त्यशु॑ष्माय त॒वसे॑ऽवाचि।
अ॒स्मिन्नि॑न्द्र वृ॒जने॒ सर्व॑वीराः॒ स्मत्सू॒रिभि॒स्तव॒ शर्म॑न्त्स्याम ॥१५॥

१. **इदं नमः**=यह नमन **अवाचि**=हमसे किया जाता है, यह स्तुतिवचन हमसे उच्चारण किया जाता है। उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं जोकि **वृषभाय**=हमपर सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **स्वराजे**=जो स्वयं देदीप्यमान हैं, जिनकी दीप्ति से ही सूर्य, विद्युत् व अग्नि देदीप्यमान हो रहे हैं; **सत्यशुष्माय**=जो सत्यबलवाले हैं, जिनका बल कभी भी वितथ व व्यर्थ नहीं होता और जो **तवसे**=अत्यन्त प्रवृद्ध हैं—सब गुणों के दृष्टिकोण से अधिक-से-अधिक बढ़े हुए हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक, सर्वशक्तिमान् प्रभो! **अस्मिन् वृजने**=इस आध्यात्मिक संग्राम में हम **सर्ववीराः**=सब 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर' नामक शत्रुओं को विशेषरूप से ईरित व कम्पित करनेवाले हों। आपके स्तवन से शक्तिसम्पन्न बनकर हम शत्रुओं का नाश कर सकें। ३. **स्मत्**=उत्तम **सूरिभिः**=विद्वानों के साथ, उनके संग में जीवन-यापन करते हुए और इस प्रकार अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए हम **तव**=आपकी **शर्मन्**=शरण में **स्याम**=सदा रहनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह प्रभुस्तवन हमें सब शत्रुओं को कम्पित करनेवाला बनाये। हम उत्तम विद्वानों के सम्पर्क से ज्ञानवर्धन करते हुए प्रभु की शरण में रहनेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि वे प्रभु वसु के अर्णव हैं (१)। प्रभु-कृपा से हम शरीर में दक्ष व प्रवृद्ध शक्तिवाले, मन में ऊति=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले तथा मस्तिष्क में 'ऋभु' ज्ञान से दीप्त बनते हैं (२)। हम वेदज्ञान को प्राप्त करें, जीवनमार्ग के द्रष्टा बनें, वसुओं का अर्जन करें, अविद्या के पर्वत को जड़ से हिला दें (३)। दानयुक्त धनवाले हों (४)। माया से दूर रहते हुए सरल वृत्ति को अपनाएँ (५)। काम, ईर्ष्या व अभिमान से ऊपर उठें (६)। क्रियाशीलता से अशुभ वृत्तियों की शक्ति को क्षीण करनेवाले हों (७)। हमारे राष्ट्र में राजा आर्यों के वर्धन के लिए दस्युओं को उचित रूप से दण्डित करे (८)। राजा अनुव्रतों के वर्धन के लिए अपव्रतों को समाप्त करने

का यत्न करे (९)। इस सुव्यवस्थित राष्ट्र में हम ज्ञान व यश की ओर चलें (१०)। प्रभु-उपासना के द्वारा कुटिलता से दूर हों (११)। सोम-रक्षण के द्वारा ज्ञान व यश को बढ़ाएँ (१२)। जीवन के तीन सवनों में हमारा क्रमशः 'अर्भा, वृचया व मेना' से सम्पर्क हो (१३)। प्रभु-स्तवन द्वारा आधि-व्याधियों को दूर करें (१४)। विद्वानों के सम्पर्क से प्रभु की शरण में रहने के अभ्यासी हों (१५)। 'हम अपने शरीररूप रथ को प्रभु की ओर ले चलें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुमेष-स्वर्विद

त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभ्वः साकमीरते।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमेन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः॥१॥

१. **त्यम्**=उस **सु-मेषम्**=अत्यन्त उत्तम क्रियाओंवाले अथवा हमारे कामादि शत्रुओं के साथ संग्राम करनेवाले और इस प्रकार **स्वर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाले अथवा (सुष्ठु अरणीयम्) उत्तम धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु को तू **महया**=पूजित करनेवाला हो। २. उस प्रभु का तू पूजन कर **यस्य**=जिसके पूजन में **सुभ्वः**=(सु+भूः) उत्तम स्थितिवाले लोग **शतम्**=सौ वर्ष के लम्बे जीवन तक अर्थात् आजीवन **साकम्**=मिलकर, घर के सब-के-सब सभ्य एकत्र होकर **ईरते**=प्रवृत्त होते हैं। ३. मैं अपने **रथम्**=इस जीवन-रथ को **अवसे**=रक्षण के लिए तथा **सुवृक्तिभिः**=खूब अच्छी प्रकार पापों के वर्जन के हेतु से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **आववृत्याम्**=आवृत्त करूँ। मैं इस शरीर-रथ से प्रभु की ओर चलूँ, न कि प्रकृति की ओर। यह मेरा शरीररूप रथ **हवनस्यदम्**=प्रभु के पुकारने के साथ गतिशील हो (हवन=पुकारना, स्यन्द=गतौ)। मैं प्रभु का स्मरण करूँ और क्रिया में प्रवृत्त रहूँ। **अत्यं न**=मेरा यह रथ (अत सातत्यगमने) सतत गतिशील घोड़े के समान सदा क्रियाशील हो और इस क्रियाशीलता से ही **वाजम्**=शक्ति का पुञ्ज हो। निर्बल व निष्क्रिय शरीर से प्रभु-पूजन नहीं होता।

भावार्थ—मेरा यह शरीररूप रथ प्रभु की ओर चले। यह सबल व सतत गतिशील हो। वे प्रभु हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाले तथा प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

पर्वत के समान अचल

स पर्वतो धरुणेष्वच्युतः सहस्रमूतिस्तविषीषु वावृधे।
इन्द्रो यद् वृत्रमवधीन्नदीवृतमुब्जन्नर्णांसि जर्हृषाणो अन्धसा॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हम अपने शरीररूप रथ को प्रभु की ओर मोड़ते हैं तो **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **यत्**=चूँकि (क) **अर्णांसि**=जलों को, रेतःकणों के रूप में शरीरस्थ जलों को **उब्जन्**=(keep under check) संयम में रखता है। (ख) **अन्धसा**=इस सुरक्षित सोम (रेतःकण) से **जर्हृषाणः**=अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है और (ग) **नदीवृतम्**=(नन्दनं नदी=praise) प्रभु-स्तवन पर पर्दा डाल देनेवाले **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को **अवधीत्**=नष्ट करता है। २. **सः**=वह इन्द्र **पर्वतः न**=पर्वत के समान **धरुणेषु अच्युतः**=धारणात्मक कर्मों में स्थिर होता है। यह उत्तम

कर्मों के मार्ग पर दृढ़ता से चलता है। **सहस्रम्, ऊतिः**=हजारों प्रकार से अपना रक्षण करनेवाला होता है और **तवीषीषु**=बल में **वावृधे**=बढ़ता है।

भावार्थ—हम वासनाओं को जीतें, सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण से जीवन में आनन्द का अनुभव करें। धारणात्मक कर्मों में स्थिर हों। सब प्रकार से अपना रक्षण करते हुए शक्तियों को बढ़ाएँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

सर्वमहान् रक्षक

स हि द्वरो द्वरिषु वव्र ऊधनि चन्द्रबुध्नो मदवृद्धो मनीषिभिः।
इन्द्रं तमह्वे स्वपस्यया धिया मंहिष्ठरातिं स हि पप्रिरन्धसः ॥३॥

१. गतमन्त्र का इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र' उस परमैश्वर्यशाली 'इन्द्र'=प्रभु को पुकारता हुआ कहता है कि **सः**=वह प्रभु **हि**=निश्चय से **द्वरिषु**=(to cover) आपत्तियों से सुरक्षित रखनेवालों में **द्वरः**=सर्वमहान् आवरक=अपनी गोद में ढक लेनेवाले हैं। २. **ऊधनि**=हमारे हृदयों में ही **वव्रः**= संभक्त व व्याप्त होकर रह रहे हैं। ३. **चन्द्र-बुध्नः**=सब प्रजाओं के लिए आह्लादक मूलवाले हैं (बुध्नः= bottom), अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दों के स्रोत हैं। ४. **मनीषिभिः**=मन को वश में करनेवालों से **मदवृद्धः**= (माद्यन्त्यनेन इति मदः=सोमः) सोम के द्वारा इसका वर्धन होता है। वस्तुतः सोम के रक्षण से ही उस 'महान् सोम'=प्रभु का दर्शन होता है। ५. मैं भी **स्वपस्यया**=(सु+अपस्) उत्तम कर्मों के करने योग्य **धिया**=बुद्धि से **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अह्वे**=पुकारता हूँ। वे प्रभु **मंहिष्ठरातिम्**= अत्यन्त प्रवृद्ध दानवाले हैं। हमें जीवन में उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। ६. **सः हि**=वे प्रभु ही **अन्धसः**=सब अन्नों के **पप्रिः**=पूरयिता हैं। जीवन की रक्षा के लिए सब अन्नों को वे प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। इन अन्नों से उत्पन्न होनेवाला 'सोम' ही अन्धस् कहलाता है। इस सोम के द्वारा प्रभु हम सबका पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु को जब हम 'सोम के द्वारा रक्षण करनेवाले' के रूप में स्मरण करते हैं तो हमें सोम के महत्त्व का ध्यान आता है और हम मनीषी बनकर इसके रक्षण के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु रक्षकों में सर्वमहान् रक्षक हैं। वे सोम=वीर्य के द्वारा हमारा पूरण करते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

समुद्र में नदियों के समान प्रभु में

आ यं पृणन्ति दिवि सद्मबर्हिषः समुद्रं न सुभ्वः स्वा अभिष्टयः।
तं वृत्रहत्ये अनु तस्थुरूतयः शुष्मा इन्द्रमवाता अहुतप्सवः ॥४॥

१. **यम्**=जिस प्रभु को **दिवि**=प्रकाश होने पर **सद्मबर्हिषः**=(सद्मनि बर्हिः यज्ञो येषाम्) घरों में सदा यज्ञ करनेवाले ज्ञानी पुरुष उसी प्रकार **आपृणन्ति**=अपने से पूरित करते हैं **न**=जैसे **सुभ्वः**= (शोभना भूः याभिः) नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को। ज्ञानी व यज्ञशील व्यक्ति उसी प्रकार प्रभु को प्राप्त होता है जैसे नदियाँ समुद्र में। यह ज्ञानी व यज्ञशील पुरुष **स्वाः**=प्रभु के आत्मीय हो जाते हैं—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः'**। **अभिष्टयः**=ये सदा प्रभु की ओर आभिमुख्येन जानेवाले होते हैं। इनका लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होता है। २. **तं इन्द्रम्**=उस प्रभु को **वृत्रहत्ये**=वासना का विनाश होने पर ही **अनुतस्थुः**= लक्ष्य करके स्थित होते हैं। कौन ? (क) **ऊतयः**=अपना रक्षण करनेवाले, रोगादि से अपने को आक्रान्त

न होने देनेवाले, (ख) **शुष्माः**=शत्रुओं के शोषक बल से युक्त, (ग) **अवाताः**=प्राणापान की गति को रोककर प्राणायाम में लगे हुए (अ-वात), (घ) **अह्रुतप्सवः**=अकुटिलरूप जिनके विचारों में किसी प्रकार की कुटिलता व छल-छिद्र नहीं है।

भावार्थ—हम ज्ञानी व यज्ञशील बनकर प्रभु को प्राप्त करें। शरीरों को रोगों से बचाते हुए, प्राणमय कोश को सबल बनाते हुए, मनोमय कोश को प्राणायाम द्वारा निरुद्ध चित्तवृत्ति करके, निश्चल सत्यज्ञानवाले हम प्रभु के आत्मीय बन जाएँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

वल-परिधि-ओदन अथवा असुरों से युद्ध

अभि स्ववृ॑ष्टिं॒ मदे॑ अस्य यु॒ध्य॑तो र॒घ्वीरि॑व प्रव॒णे स॑स्रुरू॒तयः॑।

इन्द्रो॒ यद्व॒ज्री धृ॒षमा॑णो॒ अन्ध॑सा भि॒नद्व॒लस्य॑ परि॒धीँरि॑व त्रि॒तः॥५॥

१. **स्ववृष्टिम्, अभि**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति के आनन्द की वृष्टि का लक्ष्य करके **मदे**=सोम के मद में **युध्यतः, अस्य**=वासनाओं से युद्ध करते हुए इस प्रभु-भक्त की ओर **ऊतयः**=सब रक्षण इस प्रकार **सस्रुः**=प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **प्रवणे**=निम्न प्रदेश में **रघ्वी**=वेग से बहती हुई नदियाँ। जब मनुष्य आनन्द-प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाकर, वासनाओं से युद्ध करता है तो इसे प्रभु-कृपा से सब प्रकार के रक्षण प्राप्त होते हैं। २. ये सब रक्षण उसे प्राप्त तभी होते हैं **यत्**=जब **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **वज्री**=क्रियाशील हाथोंवाला बनकर (वज गतौ) **धृषमाणः**=शत्रुओं का धर्षण करता हुआ **अन्धसा**=सोमरक्षण के द्वारा **त्रितः**='ज्ञान, कर्म व उपासना'—तीनों का विस्तार करनेवाला **वलस्य**=ज्ञान पर परदा डाल देनेवाले (वल veil) काम की **परिधीन् इव**=परिधियों के समान 'काम, क्रोध, लोभ' को **भिनत्**=विदीर्ण कर देता है। ३. 'काम, क्रोध, लोभ'—ये तीनों इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर इस प्रकार पर्दा-सा डाल देते हैं कि काम से इन्द्रियशक्तियाँ जीर्ण हो जाती हैं, क्रोध से मानस स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और लोभ बुद्धि को विचलित कर देता है। ये ही 'असुरों के तीन घेरे' कहलाते हैं। असुरों के इन दुर्गों को नष्ट करनेवाला व्यक्ति भी 'त्रित' (त्रीणि तरति) कहलाता है। इन दुर्गों के विदीर्ण करनेवाले, असुरों से युद्ध करनेवाले पुरुष को प्रभु-रक्षण प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम त्रित बनकर असुरों की तीन परिधियों को नष्ट करते हैं तो उस आसुर-युद्ध में हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त हो जाता है। इस प्रभु-प्राप्त रक्षण से ही वस्तुतः हम असुरों को जीत पाते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

काम की दुर्ग्रहणीयता

परीं॑ घृ॒णा च॑रति तित्वि॒षे शवो॒ऽपो वृ॒त्वी रज॑सो बु॒ध्नमाश॑यत्।

वृ॒त्रस्य॒ यत्प्र॑व॒णे दु॒र्गृभि॑श्वनो निज॒घन्थ॒ हन्वो॑रिन्द्र॒ तन्य॒तुम्॥६॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मन्! **यत्**=जब तू **वृत्रस्य**=ज्ञान पर परदा डालनेवाले काम के **हन्वोः**=जबड़ों पर **तन्यतुम्**=प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशीलतारूप वज्र को **निजघन्थ**=प्रहृत करता है, उस काम के जबड़ों पर जोकि **प्रवणे**=प्रकर्षेण वननीय, उपासना के योग्य स्थल, हृदय में **दुर्गृभिश्वनः**=दुर्ग्रहव्याप्तिवाला है। चाहिए तो यह कि हृदयों में प्रभु का ध्यान करें, परन्तु होता यह है कि उस हृदय को यह वासना आ घेरती है और इस वासना का काबू करना कठिन हो जाता है। यह

काम वह है जोकि **अपः**=प्रजाओं को **वृत्वी**=आवृत्त ज्ञानवाला करके अथवा (अपः=कर्म) हमारे सब कर्तव्य कर्मों पर पर्दा डालकर, हमें कर्तव्य कर्मों से विमुख करके **रजसो बुध्नम्**=हृदयान्तरिक्ष के मूल में **आशयत्**=निवास करता है। २. इस काम की जड़ बड़ी गहराई तक पहुँच जाती है, इसे उखाड़ना सम्भव नहीं होता; परन्तु जब भी कभी हम प्रभुस्मरणपूर्वक क्रियाशीलता को अपनाकर इस वासना के जबड़ों को तोड़ देते हैं अर्थात् इसके वेग को समाप्त कर देते हैं तो **ईम्**=निश्चय से **घृणा**=ज्ञानदीप्ति **परिचरति**=चारों ओर व्याप्त हो जाती है और **शवः**=बल **तित्विषे**=चमक उठता है। काम ने ही ज्ञान पर पर्दा डाला हुआ था, यही हमारी शक्ति की क्षीणता का कारण बन रहा था। इसके नष्ट होते ही ज्ञान चमक उठता है और हम शक्ति से परिपूर्ण हो जाते हैं।

भावार्थ—काम को जीतना कठिन है, परन्तु जब भी प्रभुस्मरणपूर्वक क्रियाशील बनकर हम इस काम को जीत लेंगे तो हमारा ज्ञान व बल दोनों ही चमक उठेंगे।

ऋषि—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुस्तवन व काम-संहार

ह्रदं न हि त्वा न्यृषन्त्यूर्मयो ब्रह्माणीन्द्र तव यानि वर्धना।
त्वष्टा चित्ते युज्यं वावृधे शवस्ततक्ष वज्रमभिभूत्योजसम् ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **ब्रह्माणि**=प्रभु के स्तोत्र **हि**=निश्चय से **न्यृषन्ति**=नम्रता के साथ उसी प्रकार प्राप्त होते हैं (नि—ऋषन्ति) **न**=जैसे कि **ऊर्मयः**=तरंगें **ह्रदम्**=एक बड़ी भारी झील को प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार झील व समुद्र में बड़ी-बड़ी तरंगें उठती हैं उसी प्रकार तेरे मानस में भी प्रभु के स्तोत्र उमड़ते हैं। ये स्तोत्र वे हैं **यानि**=जो **तव वर्धना**=तेरे वर्धन का कारण हैं। इनसे तेरे सामने भी एक ऊँची लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है और तू जीवन में ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है। २. इन स्तोत्रों से तेरा सम्बन्ध उस प्रभु से होता है और वे **त्वष्टा**=सम्पूर्ण क्रियाओं के करनेवाले प्रभु **चित्**=निश्चय से **ते**=तेरे **युज्यं शवः**=योग्य बल को **वावृधे**=बढ़ाते हैं अथवा **युज्यम्**=प्रभु-सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाले बल को बढ़ाते हैं। सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत प्रभु हैं; प्रभु से मेरा मेल होगा तो मुझमें भी शक्ति का प्रवाह क्यों न प्रवाहित होगा? ३. वे त्वष्टा प्रभु हम भक्तों के लिए **अभिभूत्योजसम्** शत्रुओं को पराभूत करनेवाले बल से युक्त **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूपी वज्र को **ततक्ष**=बनाते हैं। प्रभु-सम्पर्क से हमें वह क्रियाशक्ति प्राप्त होती है जोकि हमारे काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं के लिए वज्र का काम देती है और हमें इन शत्रुओं को पराजित करने के योग्य बनाती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमारा वर्धन करनेवाला हो। प्रभु हमारे बल को बढ़ावें और हम क्रियाशीलता के द्वारा काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले हों।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वासना-विनाश व क्रियामय जीवन

जघन्वाँ उ हरिभिः संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातुयन्नपः।
अयच्छथा बाह्वोर्वज्रमायसमधारयो दिव्या सूर्यं दृशे ॥८॥

१. हे **संभृतक्रतो**=अपनें अन्दर कर्म-संकल्प व ज्ञान का संभरण करनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष तू **मनुषे**=उस प्रभु के मनन के लिए **गातुयन्**=मार्ग को चाहता हुआ **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से

वृत्रम्=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **उ**=निश्चय से **जघन्वान्**=मारता है (हन्=हिंसा) तथा **अपः**=कर्मों को **जघन्वान्**=प्राप्त होता है (इन=गति)। वस्तुतः वृत्र के विनाश के लिए कर्म करना आवश्यक ही है। अकर्मण्यता वासना के प्रादुर्भाव के लिए उर्वरा भूमि है। २. तू **बाह्वोः**=प्रयत्न में व्यापृत भुजाओं में **आयसं वज्रम्**=लोहे के बने हुए वज्र को **अयच्छथाः**=(अग्रहीः—सा०) ग्रहण करता है। 'आयस् वज्र को धारण करने का अभिप्राय अनथक रूप से श्रम करना है'—तू कर्म करता हुआ थकता नहीं। ३. **दृशे**=चलने योग्य मार्ग के दर्शन के लिए अथवा करने योग्य कर्मों के ज्ञान के लिए तू **दिवि**=अपने मस्तिष्क में **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **आ अधारयः**=सब प्रकार से धारण करता है। ज्ञान के अभाव से ही तो मनुष्य भटक जाता है और अकार्यों को करने लगता है, अतः ज्ञान की आवश्यकता अत्यन्त स्पष्ट है। यह तो सूर्य है जिसके प्रकाश में हमें मार्ग दिखता है।

भावार्थ—हम वासना का विनाश करें, कर्मशील बनें। हाथों में कर्मरूप वज्र हो और मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुस्तवन प्राणसाधना

बृहत्स्वश्चन्द्रममवद्यदुक्थ्य१मकृण्वत भियसा रोहणं दिवः।
यन्मानुषप्रधना इन्द्रमूतयः स्वर्नृषाचो मरुतोऽमदन्ननु ॥९॥

१. **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **स्वश्चन्द्रम्**=स्वकीय आह्लादक प्रकाश से युक्त **अमवत्**=शत्रु-विनाशक बलवाले **दिवः रोहणम्**=स्वर्ग के आरोहण के साधनभूत **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य उस प्रभु को **यत्**=जब **भियसा**=कामादि असुरों के भय से **अकृण्वत**=हृदय में प्रतिष्ठित करते हैं अर्थात् अध्यात्म-संग्राम में जब काम-क्रोधादि वासनाओं का प्रबल आक्रमण होता है तो उस आक्रमण-भय से भयभीत स्तोता उस प्रभु का स्तवन करते हैं। ये प्रभु ही स्तोता की वृद्धि का कारण होते हैं, उसे आह्लादक प्रकाश से युक्त करते हैं, वासनाओं से लड़ने की शक्ति प्राप्त कराते हैं और उसके जीवन को स्वर्गमय बनाते हैं। २. यह स्तवन का समय वह होता है **यत्**=जबकि **इन्द्रम्**=जीव को **मरुतः**=प्राण **ननु**=निश्चय से **अमदन्**=हर्षित करते हैं। वे प्राण जोकि **मानुष-प्रधनाः**=मानव-हितसाधक संग्राम को करते हैं, **स्वः ऊतया**=प्रकाश का रक्षण करनेवाले हैं और **नृषाचः**=उन्नति पथ पर चलनेवाले मनुष्यों का सेवन करते हैं। प्राणसाधना से यह अध्यात्म-संग्राम मनुष्य के लिए हितकर होता है, क्योंकि वासनाओं का पराजय व हमारी विजय इस प्राणसाधना पर ही तो आश्रित है। वासनाओं का विनाश करके ये प्राण ज्ञान पर पर्दे को नहीं आने देते और इस प्रकार हमारा जीवन दीप्त बना रहता है। प्राणों की यही सबसे बड़ी सेवा है कि वे हमारी बुद्धियों को सुस्थिर रखते हैं। ३. एवं प्रभुस्तवन के साथ प्राणसाधना जुड़ जाती है तो हमें कामादि शत्रुओं का भय नहीं रहता। प्रभुस्तवन का हमारे जीवन में वही स्थान है जोकि रामायण में हनुमान् का। राम के बिना रामायण का कोई आधार ही नहीं, उसी प्रकार प्रभुस्तवन ही जीवन का भी मूलाधार है। जैसे हनुमान् के बिना रामायण अधूरी ही रहती है, वैसे ही प्राणसाधना के बिना जीवन भी अधूरा रह जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभुस्तवन और प्राणसाधना का समन्वय करके चलें, यही स्वर्ग-प्राप्ति का अभय मार्ग है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

वासनाशिरोभेदन व स्वस्थ प्रज्ञा

द्यौश्चिदस्यामवाँ अहेः स्वनादयोयवीद् भियसा वज्र इन्द्र ते ।
वृत्रस्य यद्बद्बधानस्य रोदसी मदे सुतस्य शवसाभिनच्छिरः ॥१०॥

१. **अस्य अहेः**=(आहन्ति इति) इस प्रबल रूप से आक्रमण करनेवाले वृत्र=कामासुर के **स्वनात्**=गर्जन से अर्थात् जब यह कामासुर गर्जना करता हुआ आक्रमण करता है तब **अमवान्**=शक्ति से युक्त **द्यौः चित्**=ज्ञान का प्रकाश भी **भियसा अयोयवीत्**=भय के कारण हमसे पृथक् हो जाता है (यु अमिश्रण) अर्थात् काम के आक्रमण से बड़े-बड़े ज्ञानी भी ज्ञान को खो बैठते हैं। वासना के आक्रमण से बचना आसान नहीं है। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जो **ते वज्रः**=तेरा क्रियामय जीवनरूप वज्र है वही **सुतस्य मदे**=शरीर में उत्पन्न सोम=वीर्यकणों के हर्ष में **शवसा**=बल के द्वारा **वृत्रस्य**=इस कामासुर के **शिरः अभिनत्**=सिर को विदीर्ण करता है। उस वृत्र के सिर को जोकि **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को—मस्तिष्क व शरीर दोनों को ही **बद्बधानस्य**=अत्यन्त पीड़ित करनेवाला है। ३. वासना ज्ञान पर तो पर्दा डाल ही देती है यह शरीर की शक्तियों को भी क्षीण कर देती है। क्रियाशीलता के द्वारा ही इस वासना का सिर कुचला जाता है और तभी हमारी बुद्धि सुस्थिर हो पाती है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा वासना का विनाश करें और स्वस्थ बुद्धिवाले हों।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराड् जगती । स्वरः—निषादः ।

दशयुजि पृथिवी

यदिन्न्विन्द्र पृथिवी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टयः ।
अत्राह ते मघवन्विश्रुतं सहो द्यामनु शवसा बर्हणा भुवत् ॥११॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत् इत् नु**=जब निश्चय से **पृथिवी**=यह तेरा शरीर (पृथिवी शरीरम्) **दशयुजिः**=दस इन्द्रियों से विषयों के उचित अभ्यवहरण (खाने) के द्वारा पालने के योग्य होता है [भुज पालनाभ्यवहारयोः] २. और **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **विश्वा अहानि**=सब दिन (=प्रतिदिन) **ततनन्त**=अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं। वस्तुतः शक्तियों का विस्तार होता तभी है जबकि सब इन्द्रियाँ शरीर के रक्षण के दृष्टिकोण से ही विषयों का ग्रहण करें। ऐसा होने पर मनुष्य 'दशरथ' बनता है। इन्द्रियाँ भोगों में ही आसक्त हो जावें तो हम 'दशानन' बन जाते हैं। जिह्वा उन्हीं रसों को उतनी मात्रा में ले जो शरीर के लिए पोषक हों तो शरीर का वर्धन ही वर्धन होता है। ३. **अत्र अह**=इस समय ही निश्चय से हे **मघवन्**=(मघ=मख) यज्ञमय जीवनवाले पुरुष! **ते सहः**=तेरा बल **विश्रुतम्**=विशेष प्रसिद्धिवाला होता है। यह **द्याम् अनु**=ज्ञान के अनुसार **शवसा**=गति के द्वारा [शवतिर्गतिकर्मा] **बर्हणा भुवत्**=[सर्वसुखदायिकया क्रियया—द०] सब सुखों को सिद्ध करनेवाली क्रिया से युक्त होता है। वस्तुतः जीवन में सुख तभी होता है। जबकि हमारी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक हों। प्रभु की सर्वव्यापकता के ज्ञान के साथ होनेवाली क्रियाएँ सदा पवित्र होती हैं और मानुष सुख की साधिका होती हैं।

भावार्थ—हमारी सब इन्द्रियाँ पोषण के दृष्टिकोण से ही विषयों का ग्रहण करनेवाली हों। इस प्रकार हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें। हमारी सब क्रियाएँ ज्ञान के अनुसार हों ताकि सुख की वृद्धि हो।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रजोगुण के पार

त्वम॒स्य पा॒रे रज॑सो॒ व्यो॑मनः॒ स्वभू॑त्योजा॒ अव॑से धृषन्मनः।
च॒कृ॒षे भूमिं॑ प्र॒तिमा॑न॒मोज॑सो॒ऽपः स्वः॑ परि॒भूरे॒ष्या दिव॑म् ॥१२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हमारी सब इन्द्रियाँ शरीर के पालन के दृष्टिकोण से ही विषयों को ग्रहण करनेवाली होती हैं तब हम 'धृषन्मना' बनते हैं—वासनाओं का धर्षण करनेवाले मनवाले होते हैं, उस समय हम **स्वभूत्योजाः**=(स्वः भूति-ओजस्) आत्मिक ऐश्वर्य व ओज को धारण करते हैं और उस समय हम विषयों की रुचिवाले रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित होते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि हे **धृषन्मनः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं के धर्षक मनवाले जीव! **स्वभूति-ओजाः**=आत्मिक ऐश्वर्य व ओजस्वितावाला **त्वम्**=तू **अस्य**=इस **रजसो व्योमनः पारे**=रजोगुणयुक्त आकाश के पार हो जाता है। रजोगुण से ऊपर उठकर तू सत्त्वगुण में अवस्थित होता है। २. सत्त्वगुण में अवस्थित होकर तू **भूमिम्**=इस निवासस्थानभूत शरीर को (भवन्ति जना यस्याम्=जिसमें मनुष्य निवास करते हैं), **ओजसः प्रतिमानम्**=बल का प्रतिनिधि **चकृषे**=करता है, शरीर को तू अत्यन्त सबल बनाता है। **अपः**=हृदयान्तरिक्ष को [अपः इति अन्तरिक्षनाम] तू **स्वः**=प्रकाशमय करता है और **दिवम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **परिभूः**=चारों ओर से ग्रहण करनेवाला होता हुआ अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानों को प्राप्त करता हुआ **आ एषि**=सब प्रकार से प्रभु के समीप प्राप्त होता है। ३. सत्त्वगुण में अवस्थित होने के ये परिणाम होने ही चाहिएँ कि (क) हमारा शरीर स्वस्थ व सबल हो, (ख) हृदय वासना के मल से रहित होकर प्रकाशमय हो, (ग) मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान की ज्योति से जगमगाए।

भावार्थ—हम सदा सत्त्वगुण में अवस्थित हों और शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को स्वस्थ बनाएँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अनन्यसदृश प्रभु

त्वं भु॑वः प्र॒तिमा॑नं पृथि॒व्या ऋ॒ष्ववी॑रस्य बृह॒तः पति॑र्भूः।
विश्व॒माप्रा॑ अ॒न्तरि॑क्षं महि॒त्वा स॒त्यम॒द्धा नकि॑र॒न्यस्त्वावा॑न् ॥१३॥

१. गत मन्त्र का **'स्वभूत्योजाः'** आत्मिक ऐश्वर्य व तेजवाला व्यक्ति प्रभु का उपासन करता हुआ कहता है कि **त्वम्**=आप ही **पृथिव्याः**=इस सम्पूर्ण पृथिवी के **प्रतिमानं भुवः**=परिमाण को करनेवाले हैं। इस पृथिवी का निर्माण आप ही करते हैं। २. इस **बृहतः**=विशाल **ऋष्ववीरस्य**=[**ऋष्व**=दर्शनीय, वीर 'वि ईर' विशिष्ट गतिवाले लोक-लोकान्तर] अनन्त दर्शनीय लोक-लोकान्तरों से पूर्ण अन्तरिक्ष के **पतिः भूः**=रक्षक हैं। 'यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः' प्रभु ही अन्तरिक्ष में विशेष मानपूर्वक लोकों का निर्माण करते हैं। ३. **महित्वा**=अपनी महिमा से **विश्वं अन्तरिक्षम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को **आप्राः**=आप पूर्ण किये हुए हैं। आप सर्वव्यापक हैं। ४. **सत्यम् अद्धा**=वास्तव में ही **त्वावान्**=आप जैसा **अन्यः नकिः**=और कोई नहीं है। अपनी महिमा से आप 'अनन्य' ही हो। इसी से कहते हैं कि 'एकमेवाद्वितीयम्' आप एक ही हो, अद्वितीय हो।

भावार्थ—वे त्रिलोकी के पति प्रभु अपनी महिमा से अद्वितीय हैं। इस प्रभु का उपासक भी महिमाशाली जीवनवाला होता है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

प्रभु की अनुकूलता में

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥१४॥

१. गत मन्त्र के स्तवन को ही करता हुआ, ऋषि कहता है कि प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनके **व्यचः**=विस्तार को **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड भी **न अनु**=(आनशाते) नहीं व्याप्त कर सकता । उस प्रभु के **अन्तम्**=अवसान व समाप्ति को **रजसः**=इस अन्तरिक्षलोक के **सिन्धवः**=स्यन्दनशील [बहनेवाले] जल भी **न आनशुः**=नहीं प्राप्त कर सकते । २. **मदे**=आनन्द-प्राप्ति के निमित्त **युध्यते**=युद्ध करते हुए पुरुष के लिए **अस्य**=इस प्रभु की, इस प्रभु से की जानेवाली **स्ववृष्टिम्**=धन की वर्षा को **उत**=भी **न** [आनशे] कोई व्याप्त नहीं कर पाता । वासनाओं से संग्राम करनेवाले पुरुष के लिए प्रभु की देन अनन्त हैं, प्रभु उसे किसी प्रकार की कमी अनुभव नहीं होने देते । ३. वे प्रभु **एकः**=अकेले ही **अन्यत्, विश्वम्**=शेष सब संसार को **आनुषक् चकृषे**=सम्बद्ध व अनुकूल कर देते हैं । वस्तुतः एक ओर प्रभु हैं, दूसरी ओर संसार; जो प्रभु को अपनाता है प्रभु उसके लिए सम्पूर्ण संसार को भी अनुकूल कर देते हैं, परन्तु प्रभु की उपेक्षा करके संसार को अपनानेवाला उस संसार से ही कुचला जाता है । अर्जुन कृष्ण को लेकर विजयी होता है, दुर्योधन सारे सैन्य को लेकर भी पराजित हो जाता है ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा लोकत्रय से व्याप्त नहीं की जा सकती । हम प्रभु को अपनाते हैं तो प्रभु सारे संसार को हमारे अनुकूल कर देते हैं ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

संग्राम में प्रभु-अर्चन

आर्चन्नत्र मरुतः सस्मिन्नाजौ विश्वे देवासो अमदन्ननु त्वा ।
वृत्रस्य यद् भृष्टिमता वधेन नि त्वमिन्द्र प्रत्यानं जघन्थ ॥१५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो ! **अत्र**=इस जीवन-यात्रा में **सस्मिन् आजौ**=सम्पूर्ण संग्रामों में **मरुतः**=[मितराविणः] कम बोलनेवाले मुनि **आ अर्चन्**=सर्वथा आपका ही अर्चन करते हैं । वस्तुतः आपकी अर्चना से ही उन्हें वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि वे संग्रामों में विजयी बनते हैं । २. हे प्रभो ! **विश्वे**=सब **देवासः**=देववृत्ति के लोग **त्वा अनु**=आपकी ही अनुकूलता में **अमदन्**=हर्ष का अनुभव करते हैं । वस्तुतः प्रभु अनुकूल हैं तो सारा संसार ही अनुकूल होता है और परिणामतः आनन्द का अनुभव होता है । ३. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो ! सब शक्ति के कार्यों को करनेवाले प्रभो ! **यत्**=क्योंकि **भृष्टिमता**=शत्रुओं को भून डालनेवाले **वधेन**=वज्र से **त्वम्**=आप ही **वृत्रस्य आनम्**=[आननम्] वृत्र व कामासुर के मुख को **प्रति आ जघन्थ**=लक्ष्य करके प्रहार करते हैं । वृत्र के विनाशक आप ही हैं और वृत्र के नाश से देवों को आप ही आनन्दित करते हैं । संग्राम में आपके कारण ही देव विजयी बनते हैं ।

भावार्थ—संग्राम में प्रभु-कृपा से ही विजय प्राप्त होती है । ये प्रभु ही हमें आनन्दित करते हैं ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि मेरा यह शरीररूप रथ प्रभु की ओर चले (१) । प्रभु का उपासक धारणात्मक कर्मों में पर्वत के समान अविचल होता है (२) । वे प्रभु ही सर्वमहान्

रक्षक हैं (३)। हम इस प्रभु के आत्मीय बनने का प्रयत्न करें (४)। असुरों से युद्ध में हमें प्रभु की सहायता सदा प्राप्त रहे (५)। हमारे लिए तो यह कामासुर अत्यन्त दुर्ग्रहणीय है (६)। प्रभुस्तवन से ही काम-संहार सम्भव है (७)। हमारे हाथों में कर्मरूप वज्र हो, मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य (८)। प्रभुस्तवन व प्राणसाधना का हम समन्वय करें (९)। इस प्रकार वासना का विनाश करके ही हम स्वस्थ बुद्धिवाले होंगे (१०)। स्वस्थ बुद्धि होने पर ही हमारा यह शरीर दसों इन्द्रियों से उचित भोजनों के द्वारा सुरक्षित होगा (११) तथा हम रजोगुण से पार होकर सत्त्व में अवस्थित होंगे (१२), उस अनन्य-सदृश प्रभु का स्तवन करेंगे (१३), प्रभु की अनुकूलता में चलेंगे (१४) और प्रभु की अर्चना से संग्राम में अवश्य विजयी होंगे (१५)। प्रभु-प्रार्थना करते हुए 'सव्य आङ्गिरस' ऋषि कहते हैं कि—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

पुरुषार्थ से प्राप्त धन का दान

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ॥१॥

१. **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाले यजमान के **सदने**=घर में **महे इन्द्राय**=उस महान् शत्रु-विद्रावक व परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए **वाचम्**=प्रार्थनावाणी को तथा **गिरः**=स्तुतिवचनों को **सु**=उत्तमता से **उ**=निश्चयपूर्वक **नि प्रभरामहे**=नम्रता से अतिशयेन (खूब) प्राप्त कराते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने घर को स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान की किरणों से परिपूर्ण करे और सदा यज्ञों को करता हुआ घर को 'यजमान का घर' बना दे। इस घर में सदा प्रभु के प्रति प्रार्थनावाणी उच्चारित हो और प्रभु की स्तुतिवाणियाँ ही सुनाई पड़ें। २. वे प्रभु **नू चित् हि**=शीघ्र ही निश्चय से **ससताम् इव**=सोते-से पुरुषों के अर्थात् अकर्मण्य व आलसी पुरुषों के **रत्नम्**=रमणीय धनों को **अविदत्**=प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् छीन लेते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सदा पुरुषार्थी रहे, उसके चेहरे से भी स्फूर्ति का आभास मिले। उद्योगी=आलस्यशून्य के लिए ही लक्ष्मी है। ३. पुरुषार्थ से धन को प्राप्त करके **द्रविणोदेषु**=धन को दान में देनेवालों के विषय में **दुष्टुतिः**=निन्दा **न शस्यते**=नहीं की जाती है, अर्थात् धन के दान करनेवालों की सदा प्रशंसा ही होती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। पुरुषार्थी होकर धनार्जन करें और धनों का दान करते हुए प्रशंसा के पात्र हों।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

सब धनों का दाता व स्वामी

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि ॥२॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अश्वस्य दुरः असि**=घोड़ों के देनेवाले हैं, **गोः दुरः असि**=गौवों के देनेवाले हैं। क्षात्र की वृद्धि के लिए घोड़ा आवश्यक है तो ज्ञान की वृद्धि के लिए गौ की आवश्यकता है। अथवा 'अश्व' शब्द कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों का वाचक है और 'अर्थों का

ज्ञान देनेवाली' ज्ञानेन्द्रियों का वाचक 'गौ' शब्द है। प्रभु हमें जीवन-यात्रा में उन्नति के लिए इन कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप ही **यवस्य दुरः**=यव=जौ के देनेवाले हैं। **'यवे ह प्राण आहितः'** इस जौ में प्राणशक्ति की स्थापना हुई है। यवों के प्रयोग से आप ही हमें प्राण-शक्ति-सम्पन्न करते हैं। यह 'यव' सचमुच यव है। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' दोषों का अमिश्रण करता हुआ अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है। ३. हे प्रभो! आप ही **वसुनः**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों के **इनः**=स्वामी व **पतिः**=रक्षक हैं। स्वामी व रक्षक ही नहीं अपितु **शिक्षानरः** [शिक्ष-तिर्दानकर्मा, शिक्षाया दानस्य नेतासि—सा०] इन धनों के दान का नेतृत्व भी करनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही हमें निवास के लिए आवश्यक धनों की प्राप्ति होती है। ४. **प्रदिवः**=आप सनातन पुराण पुरुष हैं [प्रगता दिवो दिवसा यस्मिन्], **अकामकर्शनः**=[न कामान् सत्संकल्पान् कर्शयति] हमारे सत्संकल्पों को कभी नष्ट न होने देनेवाले हैं। **सखिभ्यः सखा**=हम मित्रों के लिए आप सच्चे मित्र हैं, अतः **तम्**=उस आपके प्रति ही **इयम्**=इस प्रार्थनावचन को **गृणीमसि**=उच्चारित करते हैं। आपसे की गई प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं हो सकती।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं। वही सब धनों के स्वामी व दाता सनातन पुरुष हैं। उन्हीं की प्रार्थना करनी उचित है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

प्रभुभक्त को कमी कहाँ?

शचींव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः ॥३॥

१. **शचीवः**=हे प्रज्ञावन्! [शची=प्रज्ञा] **'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'** सब बुद्धिमानों की बुद्धि आप ही हैं। शची=Power, strength, energy=सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत वे प्रभु ही हैं। **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! सब ऐश्वर्यों के स्वामी आप ही हैं। **पुरुकृत्**=पालन व पोषण करनेवाले प्रभो! माता-पिता आदि के द्वारा सबकी पालन-व्यवस्था आप ही कर रहे हैं। **द्युमत्तम**=हे अत्यन्त ज्योतिर्मय प्रभो! **इदम्**=यह **अभितः**=आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे सर्वत्र वर्तमान **वसु**=धन **तव इत्**=आपका ही **चेकिते**=जाना जाता है। यह सम्पूर्ण धन आपका ही है। इसके वास्तविक स्वामी आप ही हैं। २. **अतः**=इस धन में से **संगृभ्यः**=ग्रहण करके, अपने हाथों में लेकर हे **अभिभूते**=हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! **आभर**=हमारी झोलियों को भर दीजिए। **'उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व'** दोनों हाथों से भर-भरके धनों को हमें दीजिए। ३. **त्वायतः**=[त्वाम् आत्मन इच्छतः] आपको अपनाने के इच्छुक **जरितुः**=स्तोता की **कामम्**=कामना को **मा ऊनयीः**=अपूर्ण मत कीजिए। मैं आपका स्तवन करनेवाला हूँ। आपकी कृपा से मेरी सब आवश्यकताएँ पूर्ण हों ही। वस्तुतः प्रभुभक्तों के योग-क्षेम को प्रभु चलाया ही करते हैं—'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'।

भावार्थ—सम्पूर्ण धनों के स्वामी प्रभु ही हैं। प्रभुभक्तों की कामनाएँ पूर्ण होती ही हैं।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में सच्चे प्रभुभक्त के लक्षण प्रभु के सम्बोधक शब्दों द्वारा इस प्रकार सूचित हुए हैं—(१) **शचीवः**=प्रभुभक्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिसम्पन्न होता है। (२) **इन्द्र**=वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है और इस प्रकार प्राणमय कोश पर इसका पूर्ण प्रभुत्व होता है। (३) **पुरुकृत्**=

मनोमयकोश में यह सदा पालन व पोषण की लोकहित की भावनाओंवाला होता है और (४) **द्युमत्तम**=विज्ञानमयकोश में यह ज्योतिर्मय होता है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

उत्तम जीवन

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥४॥

१. हे प्रभो! आपकी कृपा से हममें से प्रत्येक व्यक्ति **एभिः द्युभिः सुमनाः**=इन आपसे दी गई ज्ञान-ज्योतियों से उत्तम मनवाला हो। ज्ञान को प्राप्त करके ही मनुष्य मन की मैल को दूर कर पाता है। ज्ञान ही आन्तर पवित्रता का साधन है। २. आपकी कृपा से हमारे सब व्यक्ति **एभिः इन्दुभिः**=इन सोमकणों से **अमतिम्**=बुद्धि की मन्दता को **निरुन्धानः**=रोकनेवाले हों। सोम की रक्षा से इन सोमकणों से दीप्त हुई-हुई प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि दीप्त हो। हममें कोई भी मन्दबुद्धि न हो। यह बुद्धि-मान्दता ही सब अवनतियों का मूल हुआ करती है ३. **गोभिः**=गोदुग्ध के सेवन से **अश्विना**=प्राणापान की शक्ति के वर्धन से तथा **इन्द्रेण**=जितेन्द्रियता से **दस्युं दरयन्तः**=दास्यव वृत्ति को विदीर्ण करते हुए हों। हममें तोड़-फोड़ की भावना न पनपे, हम सदा निर्माण की वृत्तिवाले हों। ४. **इन्दुभिः**=इन सोमकणों की रक्षा से हम **युतद्वेषसः**=परस्पर द्वेष से रहित हों (युत=अनिश्चिते)। ५. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करें कि हम **इषा**=आपकी प्रेरणा से ही **संरभेमहि**=प्रत्येक कार्य को आरम्भ करें। 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इन मनु-शब्दों के अनुसार अन्तःस्थित आपको जो प्रिय हो वही कार्य हम करें।

भावार्थ—ज्ञान को प्राप्त करना, सोमकणों का रक्षण करना, गोदुग्ध का प्रयोग तथा प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्य करना—ये बातें हैं जिनसे हम 'प्रशस्त मनवाले, तीव्र बुद्धिवाले, दास्यव वृत्ति से शून्य व निर्द्वेष' बनते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

सम्पत्ति-शक्ति-सुमति

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥५॥

१. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभो! **राया संरभेमहि**=हम धनों से संगत हों। धन के बिना जीवनयात्रा में एक भी पग रखना सम्भव नहीं होता। **इषा संरभेमहि**=आपकी प्रेरणा से हम संगत हों। धन के साथ हमें आपकी प्रेरणा भी प्राप्त हो। आपकी प्रेरणा के अनुसार ही हम धनों का विनियोग करनेवाले हों। उस प्रेरणा के अभाव में यह धन हमारे निधन का ही कारण हो जाता है। आपकी प्रेरणा के अनुसार धनों का सद्विनियोग करते हुए हम जीवनों में 'धन्य' बना करते हैं। २. **वाजेभिः सम्**=हम शक्तियों से युक्त हों। धनों का ठीक ही विनियोग करेंगे तो शक्ति तो हमें प्राप्त होगी ही। ये शक्तियाँ **पुरुश्चन्द्रैः**=पालन व पूरण करनेवाली हों तथा सबके आह्लाद का कारण बनें। **अभि द्युभिः**=ये शक्तियाँ दोनों ओर ज्योति से युक्त हों। इन शक्तियों के एक ओर प्रकृति का विज्ञान हो तो दूसरी ओर ब्रह्म का ज्ञान, अर्थात् शक्ति ज्ञान से शून्य न हो, क्योंकि ज्ञानशून्य शक्ति राक्षसी हो जाती है और वह संहार-ही-संहार का कारण बनती है। ३. हम उस **देव्या**=दिव्यगुणों से युक्त अथवा प्रकाशमय

प्रमत्या=प्रकृष्ट मति से **संरभेमहि**=संगत हों जोकि **वीरशुष्मया**=[वि, ईर, शुष्म] कामादि शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले बल से युक्त है, **गो अग्रया**=जिसमें ज्ञानेन्द्रियों को प्रमुखता प्राप्त है और जो **अश्वावत्या**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली है। ज्ञानेन्द्रियों की प्रशस्तता बुद्धिवर्धन में सहायक होती है और उस बुद्धि के अनुसार सत्कार्यों में कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त होना होता है। इन दोनों इन्द्रियों के ठीक से कार्य करने पर हमारे जीवन में वासनाओं के लिए स्थान ही नहीं रह जाता।

भावार्थ—हमें धन के साथ प्रभुप्रेरणा प्राप्त हो, शक्ति के साथ पालक वृत्ति का ज्ञान प्राप्त हो, प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाली तथा वासनाओं को कम्पित करनेवाली प्रमति प्राप्त हो।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मद-वृष्ण्य व सोम

ते त्वा मदा अमदन्तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते।
यत्कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः ॥६॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपको हमारे **ते**=वे **मदाः**=हर्ष, मानस आह्लाद **अमदन्**=प्रफुल्ति करनेवाले हों। पुत्र के विजयोल्लास को देखकर पिता को प्रसन्नता होती है। गत मन्त्र के अनुसार जब हम 'वीरशुष्मा प्रमति' के द्वारा शत्रुओं को पराजित करते हैं तो हमारे ये विजयोल्लास प्रभु को प्रसन्न करनेवाले होते हैं। २. **तानि वृष्ण्या**=वे हमारे शक्तिसम्पन्न कार्य आपको प्रसन्न करनेवाले हों अथवा प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले कार्य आपको प्रसन्न करें। इन पुत्रों के द्वारा किये जानेवाले लोकहितात्मक कार्य आपकी प्रसन्नता का कारण बनें। ३. **वृत्रहत्येषु**=वासनाओं की हत्या हो जाने पर **ते सोमासः**=वे शरीर में ही सुरक्षित सोमकण आपकी प्रसन्नता का कारण बनें। हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! आपको हमारे 'विजयोल्लास, वीरतापूर्ण कार्य तथा सोमकणों का रक्षण' प्रसन्नता देनेवाले हों। वस्तुतः सज्जन व्यक्ति वही है जोकि (क) शत्रुओं को जीतकर मानस प्रसाद से परिपूर्ण है, (ख) जो शक्तिशाली कार्यों द्वारा लोकहित में प्रवृत्त है तथा (ग) सोमों के रक्षण का पूर्ण ध्यान करता है। ४. ऐसा हो तभी पाता है **यत्**=जबकि हे प्रभो! आप **कारवे**=कलापूर्ण ढंग से, सुन्दरता से सब कार्यों को करनेवाले **बर्हिष्मते**=यज्ञशील पुरुष के लिए **दश सहस्राणि**=इन अनन्त व सहस्रों रूपोंवाले **वृत्राणि**=ज्ञान के आवरणभूत वासनात्मक भावों को **अप्रति**=शत्रुओं के लिए अप्रतिरथ योद्धा के समान **निबर्हयः**=पूर्णरूप से विध्वस्त कर देते हैं। हम सब कार्यों को कुशलता से करने में लगे रहें, यज्ञशील बनें तो प्रभुकृपा से हमारी सब वासनाएँ स्वतः नष्ट हो जाती हैं। वासनाओं के विनाश का सर्वोपरि सुन्दर साधन यही है कि 'अपने कर्तव्य कर्मों में अप्रमाद से लगे रहना'।

भावार्थ—हम 'मनः प्रसाद, लोकहितात्मक कर्मों व सोमरक्षणों' से प्रभु को प्रसन्न करें। प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

नमुचि-निबर्हण

युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण की शक्ति से युक्त होकर **युधा**

युधम्=एक युद्ध से दूसरे युद्ध को **घ इत्**=निश्चय से **उपैषि**=समीपता से प्राप्त होता है। तेरा सारा जीवन इन वासनाओं के साथ संघर्ष में ही बीतता है। वस्तुतः इस अध्यात्म-संग्राम में युद्धमय जीवन से तू प्रभु का उपासक बनता है। २. तू **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **इदं पुरा पुरम्**=एक नगरी के बाद असुरों की दूसरी नगरी को **सं हंसि**=सम्यक्तया नष्ट करता है। 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में बसाये गये असुरों के निवासस्थानभूत नगरों का तुझे विध्वंस करना है। **'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'**—इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इस काम के अधिष्ठान बन जाते हैं। इन पुरियों का विध्वंस करके हमें इन्हें देवों का आवास बनाना है। ३. यह सब तब होता है **यत्**=जबकि हे **इन्द्र** ! तू **नम्या**=नम्रता के साथ **सख्या**=उस प्रभुरूप मित्र की सहायता से **मायिनम्**=अत्यन्त मायावी, कपटी **नमुचिम् नाम**=पीछा न छोड़नेवाले 'नमुचि' नामक इस अभिमानरूप शत्रु को **परावति**=सुदूर देश में **निबर्हयः**=निश्चित रूप से विध्वस्त करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन अध्यात्म-संग्राम में चले, हम त्रिपुरारी बनें, अहंकार को जीतें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'करञ्ज-पर्णय व वंगृद' विनाश

त्वं कर॑ञ्जमु॒त प॒र्णयं॑ वधी॒स्तेजि॑ष्ठयातिथि॒ग्वस्य॑ वर्त॒नी।
त्वं श॒ता वङ्गृ॑दस्याभिन॒त्पुरो॑ऽनानु॒दः परि॑षूता ऋ॒जिश्व॑ना ॥८॥

१. गत मन्त्र में नमुचि के निबर्हण का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में 'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' के वध का प्रतिपादन है। करञ्ज शब्द की व्युत्पत्ति आचार्य दयानन्द के शब्दों में **'किरति विक्षिपति धार्मिकान्'** है, जो धार्मिक लोगों को पीड़ित करता है, वह 'करञ्ज' है। **'पर्णानि परप्राप्तानि वस्तूनि याति'** इस व्युत्पत्ति से पर्णय शब्द को आचार्य ने चोर का वाचक माना है। **'वंगृन् वक्रान् विषादीन् पदार्थान् ददाति'** इस व्युत्पत्ति से वंगृद का अर्थ विषादि का देनेवाला कुटिल व्यक्ति है। २. 'अतिथिग्व' वह व्यक्ति है जोकि 'अतिथीन् गच्छति' सदा अतिथियों को प्राप्त करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **त्वम्**=गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का मित्र बननेवाला तू **करञ्जम्**=धार्मिकों को दुःख देनेवाले को **उत**=और **पर्णयम्**=परपदार्थों का हरण करनेवाले को **वधीः**=नष्ट करता है अर्थात् तू अपने में धार्मिकों को कष्ट देने की वृत्ति को तथा परद्रव्यहरण की चौर्यवृत्ति को पनपने नहीं देता। तू सदा धार्मिकों का मान करता है और श्रम से ही धनार्जन करता है। ३. इन करञ्ज व पर्णय की अशुभ वृत्तियों को तू **अतिथिग्वस्य**=अतिथि की **तेजिष्ठया वर्तनी**=अत्यन्त तीव्र सत्क्रिया से (वर्ततेऽनया) **वधीः**=नष्ट करता है। अतिथिग्व वह है जो सदा अतिथियों के प्रति आदरभाव से जाता है। इस अतिथिग्व का अतिथियों के प्रति वर्तन अत्यन्त नम्रता व आदर को लिये हुए होता है। यह अतिथियज्ञ इसके जीवन में अशुभ भावनाओं को कभी पनपने नहीं देता। यह अतिथि-सत्क्रिया वह तीव्र अस्त्र है जो 'करञ्ज व पर्णय' जैसे शत्रुओं को पराजित करने में सफल होता है। ४. **त्वम्**=तू **अनानुदः**=शत्रुओं से न धकेला जाता हुआ **ऋजिश्वना**=[ऋजुना श्वपति] ऋजु मार्ग से गति करनेवाले के द्वारा **परिषूताः**=चारों ओर से घेर लिये गये **वंगृदस्य**=विषादि देनेवाले असुर के **शता पुरः**=सैकड़ों नगरों को **अभिनत्**=विदीर्ण करता है। लोक में औरों का घात-पात करके अपने ऐश्वर्यों को बढ़ानेवाले व्यक्ति अपनी सैकड़ों कोठियाँ बना लेते हैं। प्रभु इनकी इन कोठियों को क्षणभर में नष्ट कर डालते हैं [विज इवामिनाति]। प्रभु 'अनानुद' हैं, किसी से भी पराजित न किये जानेवाले

हैं। वंगृद के ये पुर ऋजिश्वा से परिषूत होते हैं। ऋजुमार्ग से बढ़नेवाला व्यक्ति अन्ततः इनको अवष्टब्ध कर लेता है। अन्तिम विजय ऋजिश्वा की ही होती है।

भावार्थ—हम 'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' न बनकर ऋजिश्वा बनें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शतशः प्रवाहोंवाली वासना-सरित्

त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥९॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **जनराज्ञः**=मनुष्यों पर शासन करनेवाली **एतान्**=इन **द्विर्दश**=बीस [दो बार दस] अशुभ वृत्तियों को **नि अवृणक्**=निश्चित रूप से दूर करते हो। ये अशुभ वृत्तियाँ यहाँ बीस कही गई हैं। 'दस इन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय—इन बीस के साथ इनका सम्बन्ध है। इनके साथ सम्बद्ध शुभ वृत्तियाँ तो बीस ही हैं। अशुभ वृत्तियाँ भी इनकी विरोधी होती हुई मुख्यरूप से बीस हैं, परन्तु अशुभ व असत्य की संख्या तो अनन्त हो जाती है, अतः यहाँ **षष्टिं सहस्रा**=इनकी संख्या साठ हजार कही गई है। **नवतिं नव**=इन्हें ९९ वर्ष पर्यन्त दूर करने का प्रयत्न करते रहना है, न जाने इनका आक्रमण कब हो जाए। २. ये अशुभवृत्तियाँ **अबन्धुना**=संसार में अपने को न बाँधनेवाले **सुश्रवसा**=उत्तम ज्ञान व कीर्तिवाले के साथ भी **उप जग्मुषः**=आ भिड़ती हैं। इनका आक्रमण किस पर नहीं होता। ३. इनके आक्रमण को **श्रुतः**=सम्पूर्ण ज्ञान का स्वामी अथवा जिसकी वाणी एक भक्त के द्वारा सुनी जाती है, वे प्रभु ही **दुष्पदा**=धर्म के दुर्गम [दुरत्यय] मार्ग पर चलनेवाले **रथ्या**=शरीररूप रथ में होनेवाले **चक्रेण**=गतिरूप, क्रियाशीलतारूप पहिये से **नि अवृणक्**=निश्चय से दूर करते हैं। प्रभुकृपा के बिना मनुष्य पर शासन करनेवाली इन वासनाओं के आक्रमण को निष्फल करना सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम अनन्त प्रवाहों में बहनेवाली इस वासना-नदी को तैर पाते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु किसकी रक्षा करते हैं?

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम्।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ॥१०॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **तव ऊतिभिः**=अपनी रक्षण-प्रक्रियाओं से **सुश्रवसम्**=उत्तम ज्ञानी को अथवा आपकी प्रेरणा को सुननेवाले को **आविथ**=रक्षित करते हो। २. हे इन्द्र! आप **तव त्रामभिः**=अपने रक्षण-साधनों से **तूर्वयाणम्**='तूर्व याति' हिंसक कामादि वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले को रक्षित करते हो। प्रभु की रक्षा का पात्र 'सुश्रवस' और 'तूर्वयाण' है। उत्तम ज्ञान प्राप्त करना और सब प्रकार की अवनति की कारणभूत वासनाओं पर आक्रमण करना'—ये ऐसे कार्य हैं जोकि हमें प्रभु के प्रिय बनाते हैं। इन कार्यों को करते हुए ही हम प्रभु से रक्षित होते हैं। ३. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्मै**=इस **महे**=महान्, पूजा के योग्य, **राज्ञे**—सारे संसार को Regulate व्यवस्थित करनेवाले **यूने**=दोषों के अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाले प्रभु के लिए अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिए **कुत्सम्**=सब दोषों का संहार करनेवाले **अतिथिग्वम्**=अतिथियों के प्रति आदरभाव से जानेवाले **आयुम्**=गतिशील पुरुष को **अरन्धनायः**=तैयार करते हैं, उसे इन्द्रियों को वश में करने-

वाला बनाते हैं। यह जितेन्द्रिय, शान्तमानस पुरुष ही प्रभु से वरण किया जाता है, यही प्रभु का दर्शन कर पाता है।

भावार्थ=हम 'सुश्रवा, तूर्वयाण, कुत्स, अतिथिग्व व आयु' बनें ताकि प्रभु के प्रीतिपात्र हों और प्रभुदर्शन कर सकें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—सतः पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

विज्ञान का अध्ययन

य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥११॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो हम **उदृचि**=**'उत्कृष्टा ऋचो यस्मिन्नध्ययने—** दया०' उत्कृष्ट ऋचाओंवाले अध्ययन में अर्थात् विज्ञान का उत्तम अध्ययन करते हुए **देवगोपाः**=[देवा गोपा येषाम्] सूर्यादि देवों को अपना रक्षक बनानेवाले **ते सखायः**=आपके मित्र, **शिवतमाः**=अत्यन्त कल्याणमय स्थितिवाले **असाम**=हों। प्रभु के बनाये हुए इस संसार को समझने के लिए विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। यही बात यहाँ 'उदृचि' शब्द से स्पष्ट की गई है। विज्ञान का अध्ययन ठीक से होने पर ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ हमारा कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली होती हैं। इनका ठीक उपयोग करनेवाले हम प्रभु के सच्चे मित्र-बनते हैं और शिवतम स्थिति को प्राप्त करते हैं। २. उस समय हमें इन रचनाओं में प्रभु की महत्ता का अनुभव होने लगता है और हम हे प्रभो! **त्वां स्तोषाम**=आपका स्तवन करते हैं। **त्वया सुवीराः**=आपके सम्पर्क में आने से हम उत्तम वीर बनते हैं और **द्राघीयः**=दीर्घ तथा **प्रतरम्**=उत्कृष्ट **आयुः**=जीवन को **दधानाः**=धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम विज्ञान द्वारा सूर्यादि देवों को समझें। इनके ठीक प्रयोग से कल्याण को सिद्ध करें। इनमें प्रभु-महिमा को देखकर प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु-सम्पर्क से वीर बनें तथा दीर्घ व उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार है कि हम पुरुषार्थ से धनार्जन कर दान देनेवाले हों (१)। वस्तुतः सब धनों के स्वामी व दाता प्रभु ही हैं (२)। प्रभुभक्तों को किसी प्रकार की कमी नहीं रहती (३)। अमति व द्वेष को दूर करके हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनें (४)। हम सम्पत्ति, शक्ति व सुमति को प्राप्त करें (५)। मनःप्रसाद, हितकर कार्यों तथा सोमरक्षण से हम प्रभु को प्रसन्न करें (६)। अहंकार को जीतें (७)। परपीड़न, चौर्य व कुटिल कार्यों से बचें (८)। शतशः प्रवाहोंवाली वासना-सरित् को तरें (९)। अपने को प्रभु द्वारा रक्षण का पात्र बनाएँ (१०)। विज्ञान के अध्ययन से देवों को अपना रक्षक बनाएँ और प्रभु के भक्त बनें (११)। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे—

[५४] चतुपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

अनन्त-शक्ति प्रभु का स्मरण

मा नो अस्मिन्मघवन्पृत्स्वंहसि नहि ते अन्तः शवसः परीणशे।
अक्रन्दयो नद्यो३ रोरुवद्वना कथा न क्षोणीर्भियसा समारत ॥१॥

१. हे **मघवन्**=[मघ=मख] सम्पूर्ण ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **अस्मिन्**

अंहसि=इस कष्ट के कारणभूत पाप में तथा **पृत्सु**=इन वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में **मा**=मत **अक्रन्दयः**=रुलाइए। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही तो मैं इन पापों व वासनाओं को पराजित कर पाऊँगा। २. **ते**=आपके **शवसः**=बल का **अन्तः**=अन्त **नहि परीणशे**=नहीं प्राप्त किया जा सकता। **नद्यः**=नदियों को **अक्रन्दयः**=आप ही शब्दयुक्त करते हैं। वस्तुतः गड़गड़ाती हुई व तीव्रगति से चलती हुई ये नदियाँ आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं। **वना**=वनों को भी **रोरुवत्**=आप ही शब्दयुक्त करते हैं। इन वनों के सघन वृक्षों में से जब वायु बहती है तो उनकी शाखाओं व पत्तों से होनेवाली मर्मर-ध्वनि में आपका ही स्तवन सुनाई पड़ता है। ३. हे प्रभो ! ऐसी स्थिति में **क्षोणीः**=इन पृथिवियों में निवास करनेवाले प्राणी **भियसा**=भय से **कथा**=क्योंकर **न समारत**=संगत न हों। जैसे पिता की उपस्थिति में पुत्र एक आदरयुक्त भय (awe) को अनुभव करता हुआ अशुभ कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, इसी प्रकार नदियों व वनादि में सर्वत्र आपकी शक्ति का दर्शन करनेवाला व्यक्ति पाप व वासनाओं में नहीं फँसता; सर्वत्र प्रभु की शक्ति व महिमा का दर्शन करनेवाला पापों से सदा ऊपर उठा रहता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अपने में शक्ति का संचार करके वासना-संग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

'शक्ति व प्रज्ञा के निरतिशय आधार' प्रभु

अर्चा॑ श॒क्राय॑ शा॒किने॒ शची॑वते शृ॒ण्वन्त॒मिन्द्रं॑ म॒हय॑न्न॒भि ष्टु॑हि।
यो धृ॒ष्णुना॒ शव॑सा॒ रोद॑सी उ॒भे वृषा॑ वृष॒त्वा वृ॑ष॒भो न्यृ॒ञ्जते॑ ॥२॥

१. हे जीव ! तू **शक्राय**=सब कार्यों को करने की शक्ति से सम्पन्न प्रभु के लिए **अर्च**=अर्चना कर। **शाकिने**=वे प्रभु अपने भक्तों को शक्तिसम्पन्न करनेवाले हैं [शाकयति]। प्रभु के सम्पर्क में प्रभु-भक्त उसी प्रकार शक्तिसम्पन्न हो जाता है जैसे कि अग्नि के सम्पर्क में लोह-शलाका शक्तिसम्पन्न हो जाती है। २. **शचीवते**=वे प्रभु प्रज्ञावाले हैं। जैसे वे प्रभु शक्ति के आधार हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान के आधार भी वे प्रभु ही हैं। प्रभुभक्त शरीर से शक्तिसम्पन्न बनता है तो मस्तिष्क में वह प्रज्ञासम्पन्न होता है। ३. ये प्रभु अपने भक्तों की प्रार्थना को सदा सुनते हैं। इस **शृण्वन्तम्**=प्रार्थना को सुननेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाले प्रभु को **महयन्**=पूजित करता हुआ तू **अभिष्टुहि**=दिन के प्रारम्भ में भी और अन्त में भी स्तुत करनेवाला बन। प्रातः-सायं दोनों समय तेरे जीवन में प्रभुस्तवन चले। यह प्रभुस्तवन ही तो तुझे तेरे जीवन के लक्ष्य का स्मरण कराएगा। ४. ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **धृष्णुना, शवसा**=सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बल से **वृषा**=अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए और **वृषत्वा**=इस शक्तिशालिता से **वृषभः**=हमपर सब सुखों का वर्षण करनेवाले होते हुए **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **नि ऋञ्जते**=नितरां प्रसाधित करते हैं। वे प्रभु हमारे पृथिवीरूप शरीरों को सुदृढ़ करते हैं तो मस्तिष्करूप द्युलोक को भी ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कर देते हैं। शक्ति व प्रज्ञा के निरतिशय आधारभूत वे प्रभु हमें भी शक्ति व प्रज्ञा का आधार बना देते हैं। हमारा शरीर शक्ति से शोभित होता है तो मस्तिष्क ज्ञान का निधान बन जाता है। इस शक्ति व प्रज्ञा के समन्वय से हमारे सब पाप व कष्ट दूर हो जाते हैं। शक्ति व्याधियों को दूर करती है तो प्रज्ञा आधियों को।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति देकर स्वस्थ शरीर बनाएँ और प्रज्ञा देकर स्वस्थ मनवाला करें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

प्रभुरूप रथ

अर्चा दिवे बृहते शूष्यं१ वचः स्वक्षत्रं यस्य धृषतो धृषन्मनः ।
बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः पुरो हरिभ्यां वृषभो रथो हि षः ॥३॥

१. **दिवे**=उस प्रकाशमय **बृहते**=शक्ति से बढ़े हुए प्रभु के लिए **अर्च**=तू अर्चन करनेवाला बन । तेरा यह **वचः**=स्तुति-वचन **शूष्यम्**=बल का वर्धन करनेवाला है । वह तू इन्द्र के लिए अर्चना करनेवाला बन **यस्य धृषतः**=जिस शत्रुओं के धर्षण करनेवाले का **धृषत्**=शत्रुधर्षक **मनः**=मन **स्वक्षत्रम्**=आत्मबल-सम्पन्न है । वस्तुतः प्रभु की सच्ची उपासना वही करता है जोकि अपने मन को आत्मबल-सम्पन्न बनाकर शत्रुभूत वासनाओं को कुचल देता है । प्रभु-उपासना का यह परिणाम होना ही चाहिए । यदि उपासक बनकर भी एक व्यक्ति वासनाओं के वशीभूत होता रहे तो उस उपासना का लाभ ही क्या हुआ ? २. वे प्रभु **बृहत् श्रवाः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के आधार हैं, **असुरः**=(असून् राति) प्राणशक्ति देनेवाले हैं । वे प्रभु अपने भक्त को वह ज्ञान व प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं जोकि उसकी उन्नति का कारण बनते हैं । ३. इस भक्त के द्वारा वे प्रभु **बर्हणा**=वृद्धि के दृष्टिकोण से **पुरः कृतः**=आगे किये जाते हैं । एक प्रभुभक्त प्रभु को अपने जीवन का आदर्श बनाता है, 'पुरो-हित' बनाता है । प्रभु के गुणों का स्मरण करता हुआ उन गुणों को अपने में धारण करने का प्रयत्न करता है । ४. वे प्रभु **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा **वृषभः**=हमपर ज्ञान व शक्ति का वर्षण करते हैं । ज्ञानेन्द्रियाँ देकर वे हमें ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं और कर्मेन्द्रियों के द्वारा हमें शक्तिसम्पन्न करते हैं । इस प्रकार **हि**=निश्चय से **सः**=वे प्रभु **रथः**=रंहणशील हैं, जीवन-यात्रा में हमें तीव्रता से आगे ले-जाते हैं । वे प्रभु हमारे रथ बनते हैं, जिसके द्वारा हम यात्रा को पूर्ण कर लेते हैं । **'भ्रामयन् सर्वभूतानि'** इन गीता-शब्दों में इसी भाव की ध्वनि मिलती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से हमारी शक्ति बढ़ती है । ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न होकर हम जीवन-यात्रा में आगे बढ़ते हैं । प्रभु हमारे रथ हो जाते हैं ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराड्जगती । स्वरः—निषादः ।

'गभस्ति-अशनि'

त्वं दिवो बृहतः सानु कोपयोऽव त्मना धृषता शम्बरं भिनत् ।
यन्मायिनो व्रन्दिनो मन्दिना धृषच्छितां गभस्तिमशनिं पृतन्यसि ॥४॥

१. हे प्रभो ! **त्वम्**=आप **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **बृहतः**=उपभोग के द्वारा शान्त होने की अपेक्षा और अधिक बढ़ते चले जानेवाले कामरूप पर्वत के **सानु**=शिखर को **कोपयः**=(अकम्पयः) कम्पित करते हो अर्थात् ज्ञानाग्नि में इस काम को आप भस्म करनेवाले हो । २. **धृषता**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाली शक्ति से **शम्बरम्**=शान्ति को आवृत्त करनेवाले इस ईर्ष्यारूप शत्रु को **त्मना**=आप स्वयं **अवभिनत्**=विदीर्ण करते हो । हम प्रभु का स्मरण करते हैं और प्रभु-कृपा से हमारा हृदय ईर्ष्या-द्वेष व क्रोधादि की उन भावनाओं से ऊपर उठ जाता है जोकि हमारे हृदय की शान्ति को भंग करनेवाली हैं । ३. इस वृत्र (काम) व शम्बर का विदारण आप तब करते हो **यत्**=जबकि **मायिनः**=इस मायावाले छल-कपट से युक्त **व्रन्दिनः**=समूह में रहनेवाले अर्थात् समुदायरूप से आक्रमण करनेवाले असुरों के प्रति

मन्दिनः=आनन्दयुक्त **धृषत्**=(धृषता) शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हृदय से **शिताम्**=अत्यन्त तीव्र **गभस्तिम्**=ज्ञान की रश्मियों से युक्त **अशनिम्**=वज्र को (अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्तिरूप अस्त्र को **पृतन्यसि**=शत्रुसैन्य को जीतने की इच्छा से प्रेरित करते हो। वस्तुतः आसुर भावनाएँ मायायुक्त हैं, मन को आकृष्ट करनेवाली हैं, समुदाय में आक्रमण करती हैं अर्थात् एक के साथ दूसरी, दूसरी के साथ तीसरी, इस रूप में ये जुड़ी हुई हैं। इनको जीतने के लिए मन में उत्साह होना आवश्यक है, उत्साह के साथ बल का होना भी अनिवार्य है, तभी तो हम इनका धर्षण कर सकेंगे। इनके धर्षण के लिए 'गभस्ति व अशनि' नामक अस्त्र हैं। 'गभस्ति' ज्ञानरश्मियों का नाम है और 'अशनि' कर्मों में व्याप्तिरूप वज्र है जोकि इन्द्र का प्रधान अस्त्र है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान व कर्म के द्वारा ही इन शत्रुओं का संहार होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम मन में प्रसन्न व शत्रुधर्षक बल से सम्पन्न हों। ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृति के द्वारा सब शत्रुओं को दूर भगा दें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

शुष्णासुर के मस्तक पर वज्रप्रहार

नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना।
प्राचीनेन मनसा बर्हणावता यदद्या चित्कृणवः कस्त्वा परि ॥८॥

१. **यत्**=जब **व्रन्दिनः**=समूह में आक्रमण करनेवाले **श्वसनस्य**=तीव्रश्वास के कारणभूत **शुष्णस्य**=अपने आक्रमण से सुखा डालनेवाले इस काम=वृत्रासुर के **मूर्धनि**=मस्तक पर **चित्**=भी **निवृणक्षि**=वज्रप्रहार को प्राप्त कराता है। 'काम' समूह में आक्रमण करनेवाला है, यह आसुर वृत्तियों की सेना का सेनापति है। इसके साथ सभी अशुभ वृत्तियाँ मनुष्य को आ घेरती हैं। कामाभिभूत मनुष्य का श्वास तीव्र गति से चलता है, अतः इसे 'श्वसन' कहा गया है। कामी पुरुष को यह काम सन्तप्त करके सुखा डालता है, अतः यह 'शुष्ण' है। २. तू इस वृत्र पर वज्रप्रहाररूप कार्य को **यत्**=यदि **अद्यचित्**=आज भी **रोरुवद्वना**=वननीय, सम्भजनीय, सेवनीय प्रभु-नामों का उच्चारण करते हुए **प्राचीनेन** (प्र अञ्च)=निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले **बर्हणावता**=द्वेषादि शत्रुओं के उद्बर्हण-[विनाश]-वाले **मनसा**=मन से **कृणवः**=करता है तो **कः**=वह आनन्दमय प्रभु **त्वा परि**=(उपरि) तेरे ऊपर हैं अर्थात् उस समय उस आनन्दमय प्रभु की छत्रछाया तुझे सदा प्राप्त रहती है। ३. यह स्पष्ट है कि काम को नष्ट करने के लिए (क) मन में प्रभु के सम्भजनीय नामों का जप करना चाहिए, (ख) मन में सदा आगे बढ़ने की भावना हो, (ग) मन से द्वेषादि मलों के उद्बर्हण करने का प्रयास किया जाए।

भावार्थ—शुष्णासुर के मस्तक पर आक्रमण तभी होता है जब हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें और हमारे मनों में आगे बढ़ने की भावना हो।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु की रक्षा के पात्र

त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो।
त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव ॥९॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नर्यम्**=[गत मन्त्र के अनुसार वासना को जीतकर] नर=लोकहित के कार्यों में तत्पर मनुष्य का **आविथ**=रक्षण करते हैं। **'सर्वभूतहिते रताः'** व्यक्ति ही सच्चे प्रभुभक्त हैं।

ऐसे ही व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं। २. हे प्रभो ! आप **तुर्वशम्**=त्वरा से, शीघ्रता से (तूर्वनि इति तुरः) कामादि हिंसक शत्रुओं को वश में करनेवाले मनुष्य की रक्षा करते हैं। निघण्टु में 'तुर्वश' शब्द मनुष्य का नाम है। मनुष्य का नाम इसलिए है कि वह शीघ्रता से शत्रुओं को वश में रखनेवाला है। प्रभु के प्रिय ये ही लोग होते हैं, कामाभिभूत पुरुष नहीं। ३. हे प्रभो ! आप **यदुम्**=यत्नशील पुरुष की रक्षा करते हो। संसार में 'गिरना' दोष व निन्दा का कारण नहीं है। निन्दनीय बात तो यह है कि हम गिरकर फिर उठने का प्रयास ही न करें। हम कामादि आन्तर शत्रुओं के आक्रमण से बार-बार आक्रान्त होने पर भी इस आन्तर शत्रु के साथ युद्ध को समाप्त न कर दें। यदि 'युधिष्ठिर' बनेंगे तो अन्ततः हमारी 'अनन्त विजय' निश्चित ही है। ४. **त्वम्**=आप **तुर्वीतिम्**='तुर्वति हिनस्ति' शत्रुओं का संहार करनेवाले का रक्षण करते हैं। तेजस्वी बनकर जैसे हम बाह्य शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले बनें, उसी प्रकार मन को ओजस्वी व बलवान् बनाकर कामादि शत्रुओं का भी अपने पर आक्रमण न होने दें। ५. हे **शतक्रतो**= अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो ! आप **वय्यम्**=(वयते इति वयः, तत्र साधुः) गतिशील पुरुषों में उत्तम की अर्थात् उत्कृष्ट गतिवाले की रक्षा करते हो। अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु का प्रिय नहीं होता। ६. **त्वम्**= आप **कृत्व्ये धने**=करनेयोग्य अर्थात् उपार्जन के योग्य धन के निमित्त **रथम्**=रंहणस्वभाववाले, गतिशील, आलस्यशून्य पुरुष को तथा **एतशम्**=[प्राप्तविद्यम्, अश्ववद् बलिष्ठम्—द० ऋ० ४।३०।६] प्राप्तविद्य बलिष्ठ व्यक्ति को रक्षित करते हो। ७. **त्वम्**=आप शम्बर आदि असुरों के **नवतिं नव**=निन्यानवे **पुरः** =नगरों को **दम्भयः**=नष्ट करते हैं। असुरों के नगरों का संहार करके आप देवनगरों की स्थापना करते हैं। हमारे शरीरों को आप असुरनगर नहीं बनने देते हो। जब हममें ओज व बल की कमी हो जाती है तो हमारी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को असुर अपना अधिष्ठान बना लेते हैं।

भावार्थ—'नर्य, तुर्वश, यदु, तुर्वीति, वय्य, रथ व एतश' प्रभु की रक्षा के पात्र होते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

उन्नति का मार्ग

स घा राजा सत्पतिः शूशुवज्जनो रातहव्यः प्रति यः शासमिन्वति।
उक्था वा यो अभिगृणाति राधसा दानुरस्मा उपरा पिन्वते दिवः ॥७॥

१. **स घ जनः**=वह मनुष्य ही निश्चय से **शूशुवत्**=[आत्मानं वर्धयति—सा०] अपना वर्धन कर पाता है **यः**=जो **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित (Regulated) करता है अथवा ज्ञान को प्राप्त करके जो अपने जीवन को दीप्त बनाता है। २. **सत्पतिः**=जो अपने जीवन में 'सत्' का रक्षण करता है। गीता के शब्दों में सत्कर्म सद्भाव व साधुभाव से किया जाने पर सत् कहलाता है। यह भी उत्तम भावना से और उत्तम प्रकार से ही उत्तम कार्यों को करता है, अतः सत्पति कहलाने का अधिकारी होता है। ३. **रातहव्यः**=यह सदा हव्य का देनेवाला होता है। देवताओं को यह उनका भोजन अवश्य प्राप्त कराता है। देवताओं को देकर बचे हुए को खाने से यह हवि का ग्रहण करनेवाला होता है। इस हवि से ही यह प्रभु का पूजन करता है—'**कस्मै देवाय हविषा विधेम**'। ४. **यः**=जो **प्रतिशासम्**=प्रभु के एक-एक उपदेश को **इन्वति**=व्याप्त करता है—प्रभु की वेदोक्त प्रत्येक आज्ञा का पालन करने का प्रयत्न करता है। ५. **यः वा**=और जो **राधसा**=सिद्धि के हेतु से—इन्द्रिय-नियमन में सफलता की प्राप्ति के उद्देश्य से **उक्था** =स्तोत्रों का **अभिगृणाति**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में दोनों ओर उच्चारण करता है। यह प्रातः-सायं किया गया प्रभु का आराधन उपासक को शक्तिशाली बनाता है और इस प्रकार यह इन्द्रियों व मन को

वश करने में समर्थ होता है। ६. **अस्मै**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **दानुः**=अभिमत फलों का देनेवाला वह प्रभु **उपरा दिवः**=मेघतुल्य ज्ञानों का **पिन्वते**=पूरण करता है। 'उपर' शब्द निघण्टु में मेघ का वाचक है। जैसे मेघ वृष्टिजल के द्वारा सन्तप्त प्राणियों को सुखी करता है, इसी प्रकार प्रभु इसे वह मेघतुल्य ज्ञान देता है जो ज्ञान इसके सब सन्तापों का हरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपने वर्धन के लिए उद्यत होंगे तो प्रभु भी हमें वह ज्ञान देंगे जोकि हमें शान्ति व सुख प्राप्त कराने में साधक होगा।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अनुपम बल व बुद्धि

असमं क्षत्रमसमा मनीषा प्र सोमपा अपसा सन्तु नेमे।
ये त इन्द्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं स्थविरं वृष्ण्यं च ॥८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके प्रति **ददुषः**=अपना अर्पण करनेवाले होते हैं उनका **क्षत्रम्**=बल **असमम्**=असाधारण होता है, **मनीषा**=उनकी बुद्धि भी **असमा**=असाधारण होती है। **नेमे**=ये **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले **अपसा**=यज्ञादि कर्मों के द्वारा **प्रसन्तु**=खूब बढ़े हुए हों। वस्तुतः प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवालों का झुकाव विषय-वासनाओं की ओर नहीं रहता। परिणामतः वे सोम का रक्षण करनेवाले होते हैं, और यह सुरक्षित सोम उनके बल और बुद्धि का कारण बनता है। ये सोम का शरीरों में ही पान और व्यापन करनेवाले लोग खूब क्रियाशील होते हैं। इनको आलस्य व अकर्मण्यता नहीं घेरते। यह क्रियाशीलता ही इनके उत्थान का कारण बनती है। २. ये लोग अपने में **महि क्षत्रम्**=महनीय, यशस्वी बल को **च**=तथा **स्थविरम् वृष्ण्यम्**=स्थूल अर्थात् प्रवृद्ध (great) पुंस्त्व को, शक्तिशालिता को **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं। इनका बल यशस्वी होता है। बल से ये अन्याय को दूर करने के कार्यों को करते हुए सबके प्रिय होते हैं, चारों ओर इनका यश फैलता है। इस 'महि क्षत्र' के साथ ये बढ़ी हुई वीरतावाले होते हैं। इस वीरता के कारण ही ये घबराते नहीं और वीरतापूर्ण कार्यों के द्वारा सबपर सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले लोग सोमरक्षण के द्वारा अनुपम बल व बुद्धि का सम्पादन करते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सोम का रक्षण व दान की वृत्ति

तुभ्येदेते बहुला अद्रिदुग्धाश्चमूषदश्चमसा इन्द्रपानाः।
व्यश्नुहि तर्पया काममेषामथा मनो वसुदेयाय कृष्व ॥९॥

१. गत मन्त्र के 'सोमपाः' से प्रभु कहते हैं कि **तुभ्य इत् एते**=तेरे लिए ही निश्चय से **चमसाः**=[चम्यन्ते] शरीर में ही जिनका आचमन किया जाता है ऐसे ये सोमकण हैं, वे **बहुलाः**=बहुत मात्रा में हैं अथवा अनेक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं [बहून् अर्थान् लान्ति]। इनके कारण ही शरीर की नीरोगता, मन की निर्मलता तथा बुद्धि की तीव्रता को जन्म मिलता है। **अद्रिदुग्धाः**=(अद्रि=A tree) इस शरीररूप **'ऊर्ध्वमूल-अवाक् शाखः'** वृक्ष के लिए इन सोमकणों का दोहन व पूरण हुआ है। **चमूषदः**=शरीररूप चमू ही इनके बैठने का स्थान है, अर्थात् शरीर में ही इनकी स्थिति है। **इन्द्रपानाः**=जितेन्द्रिय

पुरुष से ही इनका रक्षण होता है और जितेन्द्रिय पुरुष से रक्षित होकर ये उसका रक्षण करनेवाले होते हैं। वह इनका रक्षण करता है, ये उसका। इस प्रकार इन्द्र व सोमकणों का भावन चलता है। इससे इनका परम कल्याण होता है। २. हे इन्द्र ! तू **व्यश्नुहि**=विशिष्टरूप से इन्हें शरीर में व्याप्त करनेवाला बन। इन सोमकणों के शरीर में व्यापन के द्वारा **एषाम्**=इन इन्द्रियों का **कामं तर्पय**=तू खूब तर्पण करनेवाला बन। इन्द्रियों की शक्ति का पोषण सोमकणों के रक्षण पर ही निर्भर करता है। ३. भोग-विलास की वृत्ति सोम-विनाश का कारण बनती है और सोम-विनाश से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती हैं। भोगविलास की वृत्ति से ऊपर आने के लिए आवश्यक है कि तू **अथ**=अब **मनः**=अपने मन को **वसुदेयाय**=धन के देने के लिए **कृष्व**=कर। दानवृत्ति वासनाओं का भी दान (लवन=काटना) करती है और जीवन को शुद्ध (दैप् शोधने) बनाती है।

भावार्थ—सोमकण शरीर में रक्षित करने के लिए ही हैं। ये रक्षित होकर इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करते हैं। इसी उद्देश्य से हम मन को दान की वृत्ति से युक्त करें, क्योंकि यह दान हमें भोग-विलास से ऊपर उठाकर 'सोम-रक्षण-क्षम' बनाएगा।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

रूपसम्पन्न, पर विनीत

अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमोऽन्तर्वृत्रस्य जठरेषु पर्वतः।
अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणा हिता विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते ॥१०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब मन को धन के दान की वृत्तिवाला करते हैं तो लोभ के नष्ट होने से **अपाम्**=प्रजाओं का **धरुणह्वरम्**=[धरुण=प्रजापति, ह्वृ=to deceive] प्रभु से वञ्चित करनेवाला **तमः**=अन्धकार **अतिष्ठत्**=रुक जाता है (to stop, to cease)। जब तक मनुष्य लोभोपहतचित्त-वाला होता है तब तक वह अपने सम्भाव्य कर्तव्य को भी ठीक से नहीं देख पाता, प्रभुदर्शन का तो उस समय प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मन दान की वृत्तिवाला बना तो लोभ नष्ट हो जाता है और हमें प्रभुदर्शन से वञ्चित करनेवाला अज्ञान का आवरण भी दूर हो जाता है। प्रभुदर्शन से वञ्चित करनेवाला अज्ञान-अन्धकार अब नहीं रह जाता। २. यह पञ्च पर्वोंवाली अविद्या का **पर्वतः**=अज्ञान-पर्वत **वृत्रस्य**=काम के **जठरेषु अन्तः**=उदरों में ही तो रहता है। 'काम' गया, तो अविद्या अब रहे कहाँ ? ३. अविद्या नष्ट होते ही **ईम्**=अब निश्चय से **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अभि**=इस व्यक्ति की ओर आता है अर्थात् इसे प्रभु का दर्शन होता है। ४. **नद्यः**=[नदनात्] ये प्रभु का स्तवन करनेवाले लोग **वव्रिणा**=तेजस्विता से **हिताः**=धारण किये जाते हैं। इनका रूप तेजस्वी होता है। प्रभुदर्शन करनेवाला निस्तेज हो ही नहीं सकता। ५. ये **विश्वाः अनुष्ठाः**=सब स्तोता शास्त्रानुकूल मार्ग में स्थित होनेवाले होते हैं। इनका जीवन शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल होता है। ये शास्त्रविधि को छोड़कर कर्मों में व्यापृत नहीं होते। ६. **प्रवणेषु जिघ्नते**=ये सदा निम्न मार्गों से अर्थात् नम्रतावाले मार्गों से गति करते हैं। इनके जीवन में अभिमान नहीं होता। यही तो दैवी-सम्पत्ति की पराकाष्ठा है।

भावार्थ—दानवृत्ति से अज्ञान का तम दूर होता है, हम प्रभु के प्रिय बनते हैं, उत्तम रूपवाले होते हुए शास्त्रानुकूल अनुष्ठानवाले बनकर नम्रता के मार्ग से आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

धन+सन्तान व अन्न

स शेवृधमधि धा द्युम्नमस्मे महि क्षत्रं जनाषाळिन्द्र तव्यम् ।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीन् राये च नः स्वपत्या इषे धाः ॥११॥

१. हे परमात्मन् ! **सः**=वे आप **अस्मे**=हमारे लिए **द्युम्नम्**=[अन्नम्—नि० ५।५] उस अन्न को **अधिधाः**=आधिक्येन धारण कीजिए जोकि **शेवृधम्**=[रोगाणां शमने सति यद्वर्धते—सा०] रोगों को शान्त करने के द्वारा वृद्धि का कारण होता है। राजस अन्न दुःख, शोक व रोग को देनेवाले होते हैं। सात्त्विक अन्न रोगों को शान्त करके सुख की वृद्धि का कारण बनते हैं। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो ! उस **क्षत्रम्**=बल को भी धारण करिए जोकि **महि**=महत् व महनीय है, जो रक्षा में विनियुक्त होकर हमारे यश का कारण बनता है, **जनाषाट्**—शत्रुओं का पराभव करनेवाला है और **तव्यम्**=प्रवृद्ध है, अथवा वृद्धि का कारणभूत है। ३. इस प्रकार उत्तम अन्न द्वारा शक्ति देकर हे प्रभो ! आप **नः**=हमारे **मघोनः**=[मघ=मख] यज्ञशील पुरुषों का **रक्ष च**=रक्षण भी करिए और **सूरीन् पाहि**=विद्वानों की रक्षा कीजिए। वस्तुतः प्रभु के रक्षण के पात्र यज्ञशील विद्वान् ही हुआ करते हैं। ४. हे प्रभो ! आप हमें **राये**=दान देनें योग्य धनों के लिए **स्वपत्यै**=उत्तम सन्तानों के लिए **च**=तथा **इषे**=अन्न के लिए अथवा आपकी प्रेरणा को सुनने के लिए **धाः**=धारण करिए। एक सद्गृहस्थ में निर्धनता, अनपत्यता व अन्नाभाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

भावार्थ—हमें सात्त्विक अन्नों के सेवन से नीरोगता का सुख प्राप्त हो। हमारी शक्ति महनीय हो। हम यज्ञशील विद्वान् बनें। धन, सन्तान व अन्न को धारण करनेवाले हों।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु की उपस्थिति में जीव एक आदरयुक्त भय [awe] का अनुभव करता है और पाप से बचता है (१)। वे प्रभु शक्ति व प्रज्ञा के निरतिशय आधार हैं (२)। वे प्रभु ही वस्तुतः हमारे रथ हैं (३)। उस प्रभु की कृपा से ही हम प्रसन्न व शक्तिसम्पन्न बनते हैं (४)। इस प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए ही हम शुष्णासुर के मस्तक पर आक्रमण करते हैं (५), नर्य व तुर्वश बनकर प्रभु की रक्षा के पात्र होते हैं (६)। उन्नति का मार्ग यही है कि हम प्रभु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करें (७)। इससे हम बल व बुद्धि में अद्वितीय बनेंगे (८)। इस दृष्टिकोण से हमें चाहिए कि हम सोम का रक्षण करें और मन को दान की वृत्तिवाला बनाएँ (९)। यह सोमरक्षण हमें रूपसम्पन्न व विनीत बनाएगा (१०)। ऐसा बनने के लिए साधनभूत 'धन, सन्तान व अन्न' को हम प्राप्त करेंगे (११)। अनन्त विस्तारवाले वे प्रभु ही हमारे जीवनों को दीप्त बनाते हैं—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

भीमः तुविष्मान्

दिवश्चिदस्य वरिमा वि पप्रथ इन्द्रं न मह्ना पृथिवी चन प्रति ।
भीमस्तुविष्माञ्चर्षणिभ्य आतपः शिशीते वज्रं तेजसे न वंसगः ॥१॥

१. **अस्य**=इस प्रभु का **वरिमा**=उरुत्व व विस्तार **दिवः चित्**=द्युलोक से भी **विपप्रथे**=विशिष्ट विस्तारवाला होता है। द्युलोक से भी महान् वे प्रभु हैं। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का

मह्ना=[महिम्ना] महिमा की दृष्टि से **पृथिवी चन**=यह अनन्त विस्तारवाला अन्तरिक्ष भी **प्रति न**=प्रतिनिधित्व करनेवाला नहीं हो सकता। ३. वे प्रभु **भीमः**=अनुपम शक्ति के कारण शत्रुओं के लिए भयंकर है, **तुविष्मान्**=ज्ञानवान् व बलवान् हैं। ऐसे ये प्रभु **चर्षणिभ्यः**=श्रमशील मनुष्यों के लिए **आतपः**=समन्तात् दीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं। श्रमशील पुरुष ही प्रज्ञा व पौरुष को प्रवृद्ध कर पाता है और प्रज्ञा व पौरुष से दीप्त होकर यह पुरुष **वंसगः न**=वननीय=सुन्दर गतिवाले वृषभ की भाँति **तेजसे**=तेजस्वितापूर्ण कार्यों के लिए **वज्रम्**=अपने क्रियाशीलतारूप वज्र को **शिशीते**=तीक्ष्ण करता है। ४. वस्तुतः क्रियाशीलता ही वह वज्र है (वज गतौ) जिससे कि इन्द्र [जीवात्मा] सब असुरों [आसुर वृत्तियों] का संहार करता है। यहाँ 'वननीय गतिवाले वृषभ' की उपमा इस बात का संकेत कर रही है कि हमें भी अपनी क्रियाशीलता में सौन्दर्य लाने का प्रयत्न करना है। इस बात का ध्यान रखना है कि हमारी ये क्रियाएँ औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाली हों।

भावार्थ—अत्यन्त विस्तार व महिमावाले वे प्रभु हैं। वे क्रियाशील पुरुषों को दीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

सरित्पति प्रभु

सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः प्रति गृभ्णाति विश्रिता वरीमभिः।
इन्द्रः सोमस्य पीतये वृषायते सनात्स युध्म ओजसा पनस्यते ॥२॥

१. **सः**=वह प्रभु **न**=जैसे **समुद्रियः**=समुद्र की ओर जानेवाली **वरीमभिः**=विस्तारों से **विश्रिताः**=विविध स्थानों का आश्रय करनेवाली **नद्यः**=नदियों को (नदीः) **अर्णवः**=समुद्र **प्रतिगृभ्णाति** ग्रहण करता है, उसी प्रकार सारी प्रजाओं को ग्रहण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण नदियों का पति समुद्र है, इसी प्रकार सारी प्रजाओं का पति प्रभु है। २. इस प्रभु की प्रजा बना हुआ **इन्द्रः**=जीव **सोमस्य पीतये**=सोमशक्ति का शरीर में पान के द्वारा **वृषायते**=शक्तिशाली पुरुष की भाँति आचरण करता है। इसके कार्य शक्तिसम्पन्न होते हैं। ३. **सः**=वह **सनात्**=सनातन जीव **युध्मः**=वासनाओं के साथ युद्ध करनेवाला योद्धा बनकर **ओजसा**=काम-संहार आदि ओजस्वी कार्यों के द्वारा **पनस्यते**=प्रभु के स्तवन को करना चाहता है। जीव का सच्चा प्रभुस्तवन यही है कि वह इस जीवन में योद्धा बने और वासनारूप शत्रुओं का निराकरण करनेवाला बने।

भावार्थ—वे प्रभु सब प्रजाओं के पति हैं, जैसे समुद्र नदियों का। जीव को चाहिए कि युद्ध में वासना-संहाररूप ओजस्वी कार्य के द्वारा वह प्रभु का सच्चा स्तोता बनें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

उग्रः, पुरोहितः

त्वं तमिन्द्र पर्वतं न भोजसे महो नृम्णस्य धर्मणामिरज्यसि।
प्र वीर्येण देवताति चेकिते विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः ॥३॥

१. **इन्द्रः**=वासनारूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हे जीव! **त्वम्**=तू **तं पर्वतम्**=उस पाँच पर्वोंवाली अविद्या के **भोजसे न**=पालन के लिए नहीं होता, अपितु तू अविद्या को दूर करने का प्रयत्न करता है। २. अविद्या को दूर करने के द्वारा ही **महः नृम्णस्य**=महनीय धन [श० १४.२.२.३०] का

तथा **धर्मणाम्**=धारणात्मक कर्मों का **इरज्यसि**=ऐश्वर्य करनेवाला अर्थात् ईश्वर होता है। अविद्या के प्रबल होने पर मनुष्य अन्याय-मार्ग से भी धन कमाता है और तोड़-फोड़ के कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है। अविद्या के दूर होते ही धन इसका साध्य नहीं रहता और वह अन्याय से इसके उपार्जन को व्यर्थ समझता है। साथ ही वह आलोचना करते रहने की अपेक्षा कुछ निर्माण में सहयोग देने को ही ठीक समझता है। ३. इस प्रकार वह **देवता**=दिव्य गुणोंवाला पुरुष **प्रवीर्येण**=प्रकृष्ट वीर्य के कारण **अतिचेकिते**=अतिशयेन जाना जाता है अर्थात् उत्कृष्ट वीर्यवाला होता है। यह अपने वीर्य के कारण प्रसिद्ध होता है। ४. **विश्वस्मै कर्मणे**=सब कर्मों के लिए यह **उग्रः**=तेजस्वी होता है और औरों के लिए **पुरोहितः**=सामने रखा हुआ होता है अर्थात् औरों के लिए आदर्श का काम करता है। इसे देखकर अन्य लोग अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ=हम अपने जीवनों में अविद्या को न पनपने दें, महनीय धन व धर्म के स्वामी हों। वीर्य के अतिशयवाले तथा श्रेष्ठ कर्मों को तेजस्विता के साथ करनेवाले हों, औरों के लिए आदर्श वनें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

यज्ञों द्वारा उपासन

स इद्वने नमस्युभिर्वचस्यते चारु जनेषु प्रब्रुवाण इन्द्रियम्।
वृषा छन्दुर्भवति हर्यतो वृषा क्षेमेण धेनां मघवा यदिन्वति ॥४॥

१. **स इत्**=वह प्रभु ही **वने**=एकान्त देश में **नमस्युभिः**=नमन की इच्छावालों से, स्तोताओं से **वचस्यते**=(स्तूयते) स्तुति किया जाता है। २. यह प्रभु **जनेषु**=शक्तियों का विकास करनेवाले मनुष्यों में **चारु इन्द्रियम्**=सुन्दर शक्ति को **प्रब्रुवाणः**=(प्रकटयन्) प्रकट करनेवाले होते हैं। ३. **वृषा**=शक्ति के प्रकाश के द्वारा ये इस भक्त पर सुखों का वर्षण करते हैं तथा **हर्यतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों की कामनावाले पुरुष का यह **छन्दुः**=[उपच्छन्दयिता] यज्ञों में रुचि पैदा करनेवाला **भवति**=होता है। ४. इस रुचि को वह तब पैदा करता है **यत्**=जबकि **वृषा**=वह सुखवर्षक शक्तिशाली प्रभु **क्षेमेण**=प्रजाओं के क्षेम के हेतु से **मघवा**=ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाला होता हुआ **धेनाम्**=इस वेदवाणी को **इन्वति**=प्राप्त करता है। इस वेदवाणी के द्वारा ही प्रभु यज्ञात्मक कर्मों का उपदेश करते हैं। अनुष्ठित हुए-हुए ये यज्ञ हमारे क्षेम का साधन बनते हैं, वस्तुतः प्रभु इसी प्रकार हमपर सुखों का वर्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें, प्रभु हमारी शक्तियों का वर्धन करेंगे। प्रभुकृपा से हम यज्ञ-रुचि बनते हैं। वेदवाणी में इन कल्याणकर यज्ञों का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

पवित्रता व ओजस्विता

स इन्महानि समिथानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः।
अधा चन श्रद्दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम् ॥५॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **इत्**=निश्चय से **महानि समिथानि**=बड़े-बड़े संग्रामों को, वासनाओं से चलनेवाले युद्धों को **मज्मना**=शोधन के दृष्टिकोण से **कृणोति**=करते हैं। इन वासनाओं से संग्राम में हम तो विजय पा नहीं सकते। प्रभु ही युद्ध करते हैं और इन वासनाओं को पराभूत करके हमारे हृदयों का शोधन करनेवाले होते हैं। २. वे प्रभु ही **जनेभ्यः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों के लिए

ओजसा=ओज के हेतु से **युध्मः**=योद्धा वनते हैं। योद्धा बनकर प्रभु कामादि को भस्म कर देते हैं और मनुष्य का जीवन चमक उठता है। ३. **अध चन**=अव इस विजय के वाद ही लोग **त्विषीमते**=दीप्तिवाले **इन्द्राय**=शत्रुनाशक प्रभु के लिए **श्रद्दधति**=श्रद्धा करते हैं और समझते हैं कि प्रभु ही इन कामादि के **वधम्**=हनन के साधनभूत **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **निघनिघ्नते**=खूब ही प्रहृत करते हैं। 'प्रभु ही इन कामादि का नाश करते हैं', यह भावना भक्त को प्रभु के प्रति श्रद्धान्वित करती है।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभादि के साथ चलनेवाले संग्राम को हमारे लिए प्रभु ही जीतते हैं। वे ही हमारे योद्धा हैं। इन वासनाओं को जीतकर प्रभु हमें शुद्ध, पवित्र व ओजस्वी बनाते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

कृत्रिम सदन विनाश

स हि श्र॑व॒स्युः सद॑नानि कृ॒त्रिमा॑ क्ष्म॒या वृ॑धा॒न ओज॑सा वि॒ना॒शय॑न्।
ज्योतीं॑षि कृ॒ण्वन्न॑वृ॒का॒णि॒ यज्य॒वेऽव॑ सु॒क्रतुः॒ सर्त॒वा अ॒पः सृ॑जत्॥६॥

१. **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **श्रवस्युः**=हमारे लिए उत्तम अन्न व यश की कामना करते हैं। प्रभुकृपा से हमें उत्तम अन्न प्राप्त होता है और उसके ठीक प्रयोग से हमारा जीवन यशस्वी बनता है। २. इस उत्तम अन्न को प्राप्त करके जीव **क्ष्मया**=शत्रुओं को कुचल डालनेवाले बल से [क्षमूष् सहने, षह मर्षणे] **वृधानः**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **ओजसा**=ओजस्विता से **कृत्रिमा सदनानि**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में कृत्रिम रूप से बने हुए असुरों के घरों को **विनाशयन्**=नष्ट करता हुआ होता है। स्वाभाविक रूप में तो यह शरीर देवमन्दिर व ऋषियों का आश्रम है [सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते, सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे]। परन्तु असुरों का राजा वृत्र=काम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आक्रान्त करके इनमें अपना अधिष्ठान बनाता है। सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला व्यक्ति बल को बढ़ाकर इन अधिष्ठानों को तोड़ डालता है। यह 'त्रि-पुर विनाश' है। ३. इस प्रकार असुरों के अधिष्ठानों के विनाश के द्वारा **अवृकाणि**=आवरण से रहित **ज्योतींषी**=ज्ञान की ज्योतियों को **कृण्वन्**=उत्पन्न करता है। काम ने ही तो इन अन्तर्ज्योतियों पर पर्दा डाला हुआ था। काम नष्ट हुआ और ज्योति चमक उठी। ३. इस **यज्यवे**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा अपने साथ मेल करनेवाले पुरुष के लिए **सुक्रतुः**=वह उत्तम कर्मों और प्रज्ञानोंवाला प्रभु **सर्तवा**=गतिशीलता के लिए **अपः**=व्यापक कर्मों को **अवसृजत्**=उत्पन्न करता है। प्रभु सदा इस ज्ञानी पुरुष को उत्तम व्यापक कर्मों में लगे रहने की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। ४. प्रभुकृपा से सात्त्विक अन्न प्राप्त होने पर हम वासनाओं के अधिष्ठानों को समाप्त करके ज्ञान के आवरण को दूर करते हैं और प्रभु-प्रेरणा के अनुसार व्यापक कार्यों में जीवन को लगाते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन हमें ओजस्वी व दीप्तज्ञान बनाएगा। ऐसा बनकर हमें उत्तम कर्मों में सदा व्यापृत रहना है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

अन्तर्मुख

दा॒नाय॒ मनः॑ सोमपावन्नस्तु॒ तेऽर्वाञ्चा॒ हरी॒ वन्दनश्रुदा कृ॑धि।
यमि॑ष्ठा॒सः॒ सार॑थयो॒ य इ॑न्द्र ते॒ न त्वा॒ केता॒ आ द॑भ्नुव॒न्ति॒ भूर्ण॑यः॥७॥

१. हे **सोमपावन्**=सोम-[वीर्य]-कणों को शरीर में ही व्याप्त करानेवाले जीव! **ते मनः**=

तेरा मन **दानाय**=दान के लिए **अस्तु**=हो। तेरी वृत्ति सदा दान देने की हो। **'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत्'**—यह वृत्ति ही तेरे मलों का नाश करके जीवन के शोधन का कारण बनेगी। २. हे **वन्दनश्रुत्**=प्रातः-सायं प्रभु-वन्दना का श्रवण करनेवाले जीव ! तू **हरी**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **अर्वाची**=अन्तर्मुखवाला **आकृधि**=सर्वथा करनेवाला हो। ये इन्द्रियाश्व बाह्य विषयों में ही न चरते रह जाएँ। इनको रोककर तू इन्हें मन में स्थिर कर, जिससे कि तू आत्मस्वरूप को देखनेवाला बने। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! **ये**=जो **ते**=तेरे **सारथयः**=बुद्धिरूप सारथि हैं वे **यमिष्ठासः**=अतिशयेन उत्कृष्ट नियन्ता हैं। ये मनरूप लगाम के द्वारा इन्द्रियाश्वों को पूर्णतया काबू करने में समर्थ हों। ४. **न**=ऐसा न हो कि **भूर्णयः**=पालन-पोषण-सम्बन्धी **केताः**=ज्ञान ही **त्वा**=तुझे **आदभ्नुवन्ति**=सब ओर से हिंसित करनेवाले हों। तुझे सदा खान-पान की बातें ही न सूझती रहें, तेरी इन्द्रियाँ सदा विषयों व खेलों में ही न भागती रहें। तेरा जीवन विकृत होते-होते Polo-playing ही न हो जाए।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें, प्रभुस्तवन करते हुए इन्द्रियों को अन्तर्मुख करें। हमारी बुद्धि प्रकर्षेण मन द्वारा नियन्त्रण करें। हम खान-पान में ही समाप्त न हो जाएँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

क्षयरहित धन

अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोरषाळ्हं सहस्तन्वि श्रुतो दधे।
आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः ॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार मन के दान की वृत्तिवाला होने पर तू **हस्तयोः**=हाथों में **अप्रक्षितम्**=क्षयरहित **वसु**=धन को **बिभर्षि**=धारण करता है। दान से धन कभी क्षीण नहीं होता, 'दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्'—दान से तो यह धन सातगुणा बढ़कर हमें प्राप्त होता है। २. दान की वृत्ति से लोभ के नष्ट होने पर मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, **श्रुतः**=शास्त्र के श्रवणवाला, ज्ञान को प्राप्त करनेवाला तू **तन्वि**=शरीर में **अषाळ्हम्**=शत्रुओं से न कुचले जाने योग्य **सहः**=बल को **दधे**=धारण करता है। विषय-वासनाएँ ही तो शक्ति को क्षीण करती हैं; ज्ञान होने पर इनकी कामना नष्ट हो जाती है और इस ज्ञानी का बल स्थिर रहता है। ३. बल की स्थिरता के कारण तेरे शरीर **कर्तृभिः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के कर्तृत्वों से **आवृतासः**=सदा आवृत रहें, उसी प्रकार आवृत रहें **न**=जैसे कि **अवतासः**=कुएँ जल-ग्रहणेच्छु पुरुषों से आवृत रहते हैं। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! **ते तनूषु**=तेरे शरीरों में **भूरयः**=बहुत अथवा लोक-पोषणात्मक **क्रतवः**=प्रज्ञान व कर्म ही हो। तू सदा धारणात्मक कर्मों में लगा रहे। वस्तुतः इस संसार के विषयों में न फँसने का यही प्रमुख साधन है।

भावार्थ—हमारे हाथों में अक्षय धन हो। ज्ञानी होते हुए हम बल को धारण करें। हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ अनन्त विस्तारवाले प्रभु के स्मरण से होता है (१)। वे प्रभु सब प्रज्ञानों के पति हैं (२)। इस प्रभु के रक्षण में हम तेजस्वितापूर्ण कर्मों को करनेवाले होकर औरों के लिए अपने जीवन को आदर्श बनाएँ (३)। प्रभुकृपा से हम यज्ञात्मक कर्मों में रुचिवाले हों (४)। प्रभु हमें शुद्ध, पवित्र व ओजस्वी बनाएँ (५)। हम असुरों के कृत्रिम सदनों का नाश करें (६)। मन को दानाभिमुख बनाएँ (७)। अक्षय धन व अपराजेय बल को प्राप्त हों (८)। 'हमारा यह शरीररूपी रथ प्रभु की ओर चलनेवाला हो' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

रथ का प्रत्यावर्तन

एष प्र पूर्वीरव तस्य चम्रिषोऽत्यो न योषामुदयंस्त भुर्वणिः ।
दक्षं महे पाययते हिरण्ययं रथमावृत्या हरियोगमृभ्वसम् ॥१॥

१. **एषः**=गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार सदा ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगा रहनेवाला यह जीव **तस्य चम्रिषः**=उसके अर्थात् अपने [चमूषु अवस्थिताः] शरीररूप पात्रों में स्थित **पूर्वीः**=पूरणता के कारणभूत सोमकणों को **प्र अव उदयंस्त**=प्रकर्षेण रक्षित करता हुआ उन्नत करता है अर्थात् इन सोमकणों की ऊर्ध्वगति करनेवाला होता है । उसी प्रकार उन सोमकणों को उन्नत करता है **न**=जैसेकि **अत्यः**=सतत गतिशील अर्थात् पुरुषार्थी व्यक्ति **योषाम्**=पत्नी की उन्नति का कारण बनता है । आलसी व्यक्ति पत्नी की दुर्गति का ही कारण हुआ करता है । २. सोमकणों की ऊर्ध्वगति से यह पुरुष **भुर्वणिः**=अपना भरण करता है और प्रभु का संभजन करनेवाला होता है । यह **महे**=महत्त्व की प्राप्ति के लिए **दक्षम्**=सब प्रकार की उन्नति के कारणभूत सोम को **पाययते**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पिलाता है अर्थात् उन सोमकणों का शरीर में ही व्यापन करता है । ३. यह व्यक्ति **हिरण्ययं रथम्**=अपने ज्योतिर्मय शरीररूप रथ को विषयों से **आवृत्य**=हटाकर **हरियोगम्**=सब दुःखों के हरण करनेवाले प्रभु से मेलवाला तथा **ऋभ्वसम्**=(उरु भासमानम्) खूब दीप्त बनाता है ।

भावार्थ—सोमकणों की ऊर्ध्वगति से हम प्रभु-प्रवण होते हैं ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

तेजस्विता व प्रभु-प्राप्ति

तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणसः समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः ।
पतिं दक्षस्य विदथस्य नू सहो गिरिं न वेना अधि रोह तेजसा ॥२॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को [अधिरोहन्ति] प्राप्त होते हैं वे व्यक्ति जोकि—(क) **गूर्तयः**=[गृणन्ति] स्तुति करनेवाले हैं अथवा [गुरी उद्यमने] उद्योगशील हैं, (ख) **नेमन् इषः**=[नमन्तः इष्यन्ति] नम्रता से उसके चरणों में आनेवाले अथवा [नीताः इषः यैः] हवि को प्राप्त करनेवाले (ग) **परिणसः**=[परितो नसन्ति] चारों ओर कर्मों में व्याप्त गतिवाले हैं । ये प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त होते हैं **न**=जैसेकि **सनिष्यवः**=व्यापार आदि से धनों को प्राप्त करने की कामनावाले **संचरणे**=व्यापार [Transactions] के निमित्त **समुद्रम्**=समुद्र को प्राप्त होते हैं । यहाँ प्रसङ्गवश धन-वृद्धि के लिए देश-देशान्तर से व्यापार का सुन्दर संकेत है । २. हे जीव ! तू **दक्षस्य**=सम्पूर्ण वृद्धियों के, शक्तियों के तथा **विदथस्य**=ज्ञानों के **पतिम्**=स्वामी **सहः**=बल के पुञ्ज उस प्रभु को **तेजसा**=तेजस्विता के द्वारा, तेजस्विता को सिद्ध करके **अधिरोह**=आरूढ़ [प्राप्त] होनेवाला बन । **न**=जिस प्रकार **वेनाः**=पुष्पादि की कामनावाली स्त्रियाँ **गिरिम्**=पर्वत पर आरूढ़ होती हैं । फूलों के चयन के लिए जिस प्रकार वे पर्वत को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार तू बल [दक्ष] तथा ज्ञान [विदथ] की प्राप्ति के लिए उस प्रभु को प्राप्त कर । प्रभु-प्राप्ति के लिए तू तेजस्वी बन । प्रभु-प्राप्ति भी पर्वतारोहण की भाँति कठिन है, उसके लिए शक्ति का सम्पादन आवश्यक है । निर्बल व्यक्ति प्रभु को प्राप्त नहीं किया करता ।

भावार्थ—स्तोता, हविष्मान् व व्यापक कर्मोंवाले बनकर तेजस्विता को सिद्ध करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

काम-क्रोध को क़ैद में करना

स तु॒र्वणि॑र्म॒हाँ अ॑रे॒णु पौंस्ये॑ गि॒रेर्भृ॒ष्टिर्न भ्रा॑जते तु॒जा शवः॑।
येन॒ शुष्णं॑ मा॒यिन॑माय॒सो मदे॑ दु॒ध्र आ॒भूषु॑ रा॒मय॒न्नि दाम॑नि ॥३॥

१. **सः**=वे प्रभु **तुर्वणिः**=(शत्रूणां हिंसिता, क्षिप्रकारी वा—सा०, तुर्वी हिंसार्थः, तूर्णवनिर्वा) शत्रुओं की हिंसा करनेवाले हैं, या शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं। **महान्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से प्रवृद्ध हैं। २. **पौंस्ये**=वीर पुरुषों के करने योग्य संग्रामों में **शवः**=इस प्रभु का बल **अरेणु**=अनवद्य—प्रशस्त तथा **तुजा**=शत्रुओं का हिंसक होता हुआ इस प्रकार **भ्राजते**=चमकता है **न**=जैसेकि **गिरेः भृष्टिः**=पर्वत का शिखर। पर्वत-शिखर जैसे उन्नत होता हुआ चमकता है, उसी प्रकार प्रभु का शत्रु-हिंसक बल भी देदीप्यमान होता है। ३. **येन**=जिस बल से **आयसः**=अयोमय कवचवाला—लोहतुल्य दृढ़ शरीरवाला **दुध्रः**=दुष्ट शत्रुओं का [धर्ता] रोकनेवाला होता हुआ इन्द्रः=प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न जीव **मदे**=सोमपान (वीर्यरक्षण) से उत्पन्न हर्ष में **मायिनम्**=इस अत्यन्त मायावी **शुष्णम्**=शोषण के कारणभूत काम को **आभूषु**=कारागृहों में **दामनि**=बन्धक निगड़ में [रस्सी में] **निरामयत्**=[न्यवासयत्] रखता है। जब जीव प्रभु की शक्ति से अपने को शक्तिसम्पन्न करता है तो उसका शरीर लोहतुल्य दृढ़ हो जाता है, कामादि शत्रुओं का वह रोकनेवाला बनता है। सोम के रक्षण से वह इस वासना को इस प्रकार वश में कर लेता है जैसेकि शत्रु को कैदखाने में निगड़ित करके रख लिया जाए। काम-क्रोध इसके वशीभूत हो जाते हैं, इसकी क़ैद में रहते हुए इसकी सेवा करनेवाले हो जाते हैं। व्यासजी के शब्दों में **'चरणौ संनवाहतुः'** काम-क्रोध इसके चरणों को दबाते हैं। यह काम-क्रोध का क़ैदी न होकर उन्हें अपना क़ैदी बना लेता है।

भावार्थ—प्रभुशक्ति पर्वत के शिखर के समान चमकती है। इस शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही हम काम-क्रोध को क़ैद कर पाते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

देवी तविषी

दे॒वी यदि॒ तवि॑षी॒ त्वावृ॑धो॒तय॒ इन्द्रं॒ सिष॑क्त्यु॒षसं॒ न सूर्यः॑।
यो धृ॒ष्णु॒ना शव॑सा॒ बाध॑ते॒ तम॒ इय॑र्ति॒ रे॒णुं बृ॒हद॑र्हरि॒ष्वणिः॑ ॥४॥

१. हे प्रभो! **यदि**=यदि **देवी**=दिव्यगुणसम्पन्न अथवा दिव्यता का वर्धन करनेवाली, शत्रुओं को पराजित करने की कामनावाली **त्वावृधा**=आपका वर्धन करनेवाली अर्थात् आपकी ओर झुकाव उत्पन्न करनेवाली **तविषी**=शक्ति **ऊतये**=रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **सिषक्ति**=सेवन करती है, प्राप्त होती है (समवैति), उसी प्रकार **न**=जैसेकि **उषसम्**=उषाकाल को **सूर्यः**=सूर्य प्राप्त होता है। वह सूर्य **यः**=जोकि **धृष्णुना शवसा**=धर्षक बल से **तमः बाधते**=अन्धकार को बाधित कर देता है और **रेणुम्**=धूल को **इयर्ति**=गतिमय करता है, आँधियों का कारण बनता है, उसी प्रकार यह शक्ति भी **बृहत्**=खूब **अर्हरिष्वणिः**=(अर्-हर्-स्वन, गच्छन्तो हरन्ति, तेषां स्वनयिता)

गति से हरण करनेवाले शत्रुओं को सन्तपन के द्वारा रुलानेवाली होती है। २. जिस समय जीव को प्रभु की शक्ति प्राप्त हो जाती है तो यह जीव सब शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला होता है। यह शत्रुओं को इसी प्रकार पीड़ित करता है जैसे सूर्य का प्रकाश अँधेरे को। सूर्य की गर्मी से आँधियों का प्रसङ्ग होता है और धूल उड़कर कहीं-की-कहीं पहुँच जाती है। इस प्रकार प्रभु की शक्ति के प्राप्त होने पर जीव भी इन वासनाओं की रेणु को उड़ाकर दूर भगा देता है। प्रभु सूर्य हैं तो जीव उषःकाल के समान है। प्रभु की शक्ति से जीव उसी प्रकार शक्ति-सम्पन्न बनता है जिस प्रकार सूर्य की एकाध किरण से उषःकाल प्रकाशमय हो जाता है। ३. जीव को जब यह शक्ति प्राप्त हो जाती है तो कामादि शत्रुओं का संहार तो होता ही है, साथ ही यह शक्ति प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती है, 'त्वावृधा'=जीव में यह प्रभु-प्रवणता को उत्पन्न करती है। निर्बल व्यक्ति प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ—शक्ति दिव्य होती है, यह हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वृत्र-विनाश

वि यत्तिरो धरुणमच्युतं रजोऽतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा।
स्वर्मीळ्हे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन्वृत्रं निरपामौब्जो अर्णवम् ॥५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तूने **यत्**=जब **धरुणम्**=शरीर की शक्तियों को धारण करनेवाले **अच्युतम्**=जिससे मनुष्य-शरीर में स्थिति से विगलित नहीं होता अर्थात् मृत्यु से बचनेवाले **रजः**=(उदकम्—नि० ४।१९) वीर्य को (अपः=रेतः) **दिवः आतासु**=मस्तिष्क की दिशाओं में **तिरः**=अन्तर्हित करके **वि अतिष्ठिपः**=विशेष रूप से स्थापित किया अर्थात् जब इस वीर्य की ऊर्ध्वगति करके तूने इस शरीर में ही इस प्रकार तिरोहित किया जैसेकि दधि में घृत तिरोहित होता है और इस वीर्य को तूने ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाया तो तूने यह सब **बर्हणा**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के दृष्टिकोण से ही किया। शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक—सब प्रकार की उन्नति इस वीर्य-रक्षण पर ही निर्भर करती है। २. हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष **यत्**=जब **मदे**=इस सोमरक्षण के कारण उत्पन्न उल्लास में **हर्ष्या**=बड़ी प्रसन्नता व उत्साह से **स्वर्मीळ्हे**=संग्राम में **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अहन्**=तूने नष्ट किया तो उस समय **अपां अर्णवम्**=ज्ञान के जलों के समुद्र को **निर् औब्जः**=निश्चय से अपने अनुकूल कर लिया। वेद में अन्यत्र **'रायः समुद्राँश्चतुरः'** इन शब्दों में वेदज्ञान को समुद्र ही कहा है। आवरण के नष्ट होने पर ज्ञान का सूर्य क्यों न चमकेगा?

भावार्थ—हम शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। यही सब उन्नतियों का मार्ग है। जब हम संग्राम में काम-वृत्र का संहार कर पाते हैं तो हमारे ज्ञान का समुद्र उमड़ पड़ता है। वृत्र ही तो उसका प्रतिबन्धक था।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वासना के जाल का विदारण

त्वं दिवो धरुणं धिष ओजसा पृथिव्या इन्द्र सदनेषु माहिनः।
त्वं सुतस्य मदे अरिणा अपो वि वृत्रस्य समया पाष्यारुजः ॥६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **माहिनः**=प्रभु की पूजावाला बनकर **दिवः धरुणम्**=

प्रकाश व ज्योति को धारण करनेवाले इस सोम को **पृथिव्याः**=शरीर के **ओजसा**=ओज (बल) के दृष्टि-कोण से **सदनेषु**=इन कोशों में ही **धिषे**=धारण करता है। सोम की रक्षा का सर्वोत्तम साधन 'खाली समय में प्रभु का स्मरण' ही है। इससे वृत्ति वासनामयी नहीं होती; वासनामयी वृत्ति ही सोमनाश का कारण बनती है। यह सोम शरीर में प्रकाश का मूलाधार है, ज्ञानाग्नि का तो यह एकमात्र ईंधन है। इसीलिए इस सोम को अन्नमयादि कोशों में ही धारण करना आवश्यक है। २. हे सोम के रक्षण व पान करनेवाले इन्द्र ! **त्वम्**=तू **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम के **मदे**=उल्लास में **आपः अरिणाः**=कर्मों को प्राप्त होता है; अर्थात् तेरा जीवन शक्तिशाली बनकर उल्लास से परिपूर्ण होता है और तू आलसी नहीं होता। ३. इसलिए तू **वृत्रस्य पाश्या**=ज्ञान की आवरणभूत इस कामवासना के (पाश्या) जलसमूह को **समया**=प्रभु की समीपता के द्वारा **वि अरुजः**=विशेषरूप से छिन्न-भिन्न करता है। काम का जाल प्रभु-उपासन के बिना टूट नहीं सकता। सोमरक्षण के लिए इस जाल का तोड़ना आवश्यक है।

भावार्थ—शरीर में सोम के रक्षण से जहाँ ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, वहाँ शरीर का ओज बढ़ता है। इस सोम के रक्षण के लिए वासना के जाल को तोड़ना आवश्यक है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम इस शरीररूप रथ को विषय-व्यावृत्त करके प्रभु की ओर ले-चलें (१)। तेजस्विता को सिद्ध करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें (२)। काम-क्रोध को कैद में रखें (३)। शक्ति वस्तुतः दिव्य वस्तु है, यही हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है (४)। वृत्र का विनाश होने पर ज्ञान का समुद्र उमड़ आता है (५)। सोम के रक्षण से शरीर ओजस्वी बनता है। इस सोम के रक्षण के लिए वासना के जाल का विदारण आवश्यक है (६)। वासना-जाल के विदारण के लिए प्रभु-स्मरण आवश्यक है।

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

विश्वायु राधः

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥१॥

१. मैं **मंहिष्ठाय**=[दातृतमाय] अधिक-से-अधिक देनेवाले, **बृहते**=गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए, **बृहद्रये**=अत्यन्त प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाले, **सत्यशुष्माय**=सत्य के बलवाले **तवसे**=स्थान के दृष्टिकोण से भी बढ़े हुए अर्थात् सर्वव्यापक—प्रभु के लिए **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट स्तुति को **भरे**=धारण करता हूँ। प्रभु के स्तवन से मुझे उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति होगी। प्रभु के गुणों का स्मरण मेरे सामने एक लक्ष्यदृष्टि को पैदा करेगा। उस लक्ष्मीपति की उपासना से मुझे लक्ष्मी की भी कमी न रहेगी। उस 'सत्यशुष्म' की उपासना से मैं भी सत्य के बलवाला होऊँगा तथा उस प्रवृद्ध प्रभु का उपासन मुझे भी व्यापक पृथिवीरूप परिवारवाला बनाएगा। २. मैं उस प्रभु का उपासन करता हूँ **यस्य**=जिसका बल उसी प्रकार **दुर्धरम्**=शत्रुओं से असह्य होता है **इव**=जिस प्रकार **प्रवणे**=निम्न प्रदेश की ओर **अपाम्**=जलों का वेग रोकने के योग्य नहीं होता। निम्न स्थल की ओर जल तीव्र वेग से बहते हैं, उनका रोकना सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार उस प्रभु की शक्ति दुर्धर है। प्रभु के कार्यों में कोई रुकावट नहीं डाल सकता। ३. उस प्रभु का **विश्वायु राधः**=पूर्ण जीवन को देनेवाला धन **शवसे**=शक्ति की वृद्धि के लिए **अपावृतम्**=सबके लिए खुला हुआ है। प्रभु के धन को सब कोई प्राप्त कर सकता है। उस धन का

अधिकार समान रूप से सबके लिए है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण बनाने की कामना करता है तथा शक्ति की वृद्धि के लिए यत्न करता है, वह प्रभु के उस धन को अवश्य प्राप्त करता है। वास्तव में जब इस धन को हम प्रभु का न समझकर अपना समझने लगते हैं, तभी हम उस धन को भोग-विलास में व्यय करते हैं और भोग-विलास में आसक्त करनेवाला यह धन हमें 'विश्वायु' के स्थान पर क्षीणायु कर देता है।

भावार्थ—प्रभु दातृतम हैं, प्रभु की शक्ति दुर्धर है। उसका धन हमें विश्वायु=पूर्ण जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

'हर्यत-हिरण्यय-श्नथिता' वज्र

अध॑ ते॒ विश्व॒मनु॑ हासदि॒ष्टय॒ आपो॑ नि॒म्नेव॒ सव॑ना ह॒विष्म॑तः।
यत्पर्व॑ते॒ न स॒मशी॑त ह॒र्य॒त इन्द्र॑स्य॒ वज्रः॒ श्नथि॑ता हि॒र॒ण्ययः॑ ॥२॥

१. **अध**=अब जबकि गत मन्त्र के अनुसार आपका धन हमारे लिए 'विश्वायु' बनता है, न कि 'क्षीणायु' **ते विश्वम्**=तेरा यह संसार **ह**=निश्चय से **अनु असत्**=अनुकूल होता है। भोग-विलास की वृत्ति से ऊपर उठे हुए व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण संसार अनुकूल होता है २. और इन **हविष्मतः**=हविष्मान् व्यक्तियों के **सवना**=यज्ञ **इष्टये**=आपकी प्राप्ति के लिए होते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **आपः**=जल निम्न स्थलों को प्राप्त होने के लिए होते हैं। भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति यज्ञशील बनता है और इन यज्ञों के द्वारा आपको प्राप्त करनेवाला होता है। ३. यह होता तभी है **यत्**=जबकि **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **हर्यतः**=गतिवाला, चाहने योग्य अथवा शोभन [कान्त] **हिरण्ययः**=चमकता हुआ, ज्ञान की दीप्तिवाला **श्नथिता**=शत्रुओं का संहार करनेवाला **वज्रः**=वज्र **पर्वते**=पञ्च पर्वोंवाली अविद्या पर **न समशीत**=सोया हुआ नहीं होता, अपितु सतत जागरित होता है, अर्थात् जब इन्द्र वज्र के द्वारा अविद्या के पर्वत का विदारण कर देता है तभी वह हविष्मान् बनकर यज्ञों के द्वारा उस प्रभु को प्राप्त करता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है। क्रियाशीलता ही [वज् गतौ] उसका वज्र है। यह वज्र 'हर्यत, हिरण्यय व श्नथिता' है, शोभन, दीप्त व शत्रु-संहारक है। इस इन्द्र की क्रियाएँ शोभन [चाहने योग्य] होती हैं। यह अवाञ्छनीय क्रियाओं को नहीं करता। इसकी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होने से पवित्र होती हैं। ज्ञान ही पवित्रता के द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम भोगप्रवणता से ऊपर उठकर सारे संसार को अपने अनुकूल बना लेते हैं। उस समय हमारे यज्ञ हमें प्रभु को प्राप्त कराते हैं। हम शोभन क्रियाओं के द्वारा अज्ञान को नष्ट करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

'धाम-नाम-ज्योति'

अ॒स्मै भी॒माय॒ नम॑सा॒ सम॑ध्व॒र उषो॒ न शु॑भ्र॒ आ भ॑रा॒ पनी॑यसे।
यस्य॒ धाम॒ श्रव॑से॒ नामे॑न्द्रि॒यं ज्योति॒रका॑रि ह॒रितो॒ नाय॑से ॥३॥

१. हे **शुभ्रे उषः**=अत्यन्त उज्ज्वल व शुभ्र उषःकाल! तू **अस्मै भीमाय**=इन शत्रुओं के लिए भयंकर **पनीयसे**=स्तुत्य प्रभु के लिए **न**=[सम्प्रति] अब **नमसा**=नमन के द्वारा **अध्वरे**=हिंसारहित

कर्मों में **समाभरा**=हमें प्राप्त करा। हम प्रातःकाल 'नमस् (सन्ध्या) व अध्वर (यज्ञ) करने की वृत्तिवाले हों। ये दोनों बातें हमें प्रभु की ओर ले-चलेंगी। उषःकाल जैसे अन्धकार को दग्ध करके चमक उठता है, उसी प्रकार हम भी लोभादि को नष्ट करके दीप्तहृदय हों। इस उषःकाल में हम ध्यान व यज्ञ से प्रभु की ओर चलनेवाले बनें। २. प्रभु की ओर चलने से क्या होगा ? इस बात का उत्तर देते हुए कहते हैं कि ये प्रभु वे हैं (क) **यस्य**=जिनका **धाम**=तेज **श्रवसे**=हमारे यश के लिए होता है। प्रभु के तेज से तेजस्वी बनकर हम शत्रुओं का संहार करते हैं और यशस्वी होते हैं। (ख) ये प्रभु वे हैं जिनका **नाम**=नामोच्चार **इन्द्रियम्**=शक्ति को देनेवाला है। जहाँ प्रभु के नाम का उच्चारण होता है, वहाँ काम आदि शत्रु भयभीत होकर आते ही नहीं, यही नामस्मरण की महिमा है। (ग) उस प्रभु की **ज्योतिः**=ज्ञान की ज्योति **अयसे**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के लिए **अकारि**=ठीक उसी प्रकार होती है **न हरितः**=जैसे कि घोड़े लक्ष्यस्थान पर पहुँचाने में सहायक होते हैं। प्रभु से प्राप्त कराये गये ज्ञान के प्रकाश में भटकने की आशंका नहीं रहती।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्मरण करें जिसकी तेजस्विता हमें यशस्वी बनाती है, जिसका नाम-स्मरण हमें तेजस्वी बनाता है और जिसकी ज्योति हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाकर लक्ष्यस्थान पर पहुँचाती है।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

हम तो आपके ही हैं

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥४॥

१. हे **पुरुष्टुत**=[पुरु स्तुतं यस्य] पालक व पूरक है स्तवन जिसका, जिसके स्तवन से हमारा रक्षण होता है और हमारी न्यूनताएँ दूर होती हैं, ऐसे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **इमे वयम्**=ये हम **ये**=जोकि **त्वा आरभ्य**=आपका ही आश्रय करके **चरामसि**=संसार की सब क्रियाओं को कर रहे हैं, **ते**=वे हम **ते**=आपके ही हैं। वस्तुतः प्रभु को आधार बनाकर चलनेवाला व्यक्ति ही सच्चा प्रभुभक्त है। २. हे **प्रभूवसो**=प्रभूत-धन, अनन्त ऐश्वर्यवाले **गिर्वणः**=वेदवाणियों के द्वारा उपासनीय प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति **गिरः**=हमारी स्तुतिवाणियों को **न हि सघत्**=नहीं प्राप्त करता है अर्थात् हम आपके सिवा किसी अन्य का उपासन नहीं करते। ३. **नः**=हमारे **तत् वचः**=उन स्तुतियों को **क्षोणीः इव**=पृथिवी की भाँति **प्रतिहर्य**=स्वीकार कीजिए। यह पृथिवी जैसे हमारी पुकार को सुनती है और हमारी पुकार को सुनकर हमें अन्न आदि से पालित करती है, उसी प्रकार आप हमारी स्तुतिवाणियों को सुनिए और हमारे कर्मों में पवित्रता का सञ्चार करिए। वस्तुतः हम आपको न भूलकर कार्य करेंगे तो उन कर्मों में अपवित्रता का प्रवेश तो होगा ही नहीं, साथ ही हमें उन कर्मों का घमण्ड भी तो नहीं होगा।

भावार्थ—प्रभु का आश्रय करके कार्यों को करते हुए हम प्रभु के हो जाएँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—मध्यमः।

शक्ति व ऐश्वर्य

भूरि त इन्द्र वीर्यं१ तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन्काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे॥५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् व सब बल के कार्यों को करनेवाले प्रभो ! **ते**=आपका **वीर्यम्**=बल व पराक्रम **भूरि**=बहुत अधिक है अथवा पालन व पोषण करनेवाला है [भृ धारणपोषणयोः] । हम भी **तव स्मसि**=आपके ही हैं। आपका बल हमारा रक्षण क्यों न करेगा ? हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो ! **अस्य स्तोतुः**=मैं जो आपका स्तोता हूँ उसकी **कामम्**=कामना को **आपृण**=पूर्ण कीजिए । आपके पास ऐश्वर्य की कमी नहीं और मैं आपका स्तवन करता हुआ अपने को पात्र बनाने का प्रयत्न करता हूँ, अतः आप मुझे ऐश्वर्य प्रदान करने की कृपा कीजिए । ३. यह **बृहती द्यौः**=विशाल आकाश **ते वीर्यम्**=आपकी शक्ति को ही **अनुममे** [अन्वमंस्त]=आदृत करता है। इस आकाश में स्थित एक-एक लोक आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रहा है **च**=और **इयं पृथिवी**=यह पृथिवी **ते ओजसे नेमे**=आपके ओज के लिए नतमस्तक होती है। क्या द्युलोक और क्या पृथिवीलोक दोनों ही आपकी महिमा को कह रहे हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु की महिमा का वर्णन कर रहे हैं। प्रभु की शक्ति व ऐश्वर्य अनन्त हैं। ये प्रभु ही सच्चे स्तोताओं की कामना को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

ज्ञानप्रवाह व आनन्दप्रद सहस्

त्वं तमि॑न्द्र॒ पर्व॑तं म॒हामु॒रुं वज्रे॑ण वज्रि॒न्पर्व॒शश्च॑कर्तिथ ।
अवा॑सृजो॒ निवृ॑ताः॒ सर्त॒वा अ॒पः स॒त्रा विश्वं॑ दधिषे॒ केव॑लं॒ सहः॑ ॥६॥

१. प्रभु अपने स्तोता को प्रेरणा देते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष ! हे **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलतारूपी वज्र को धारण करनेवाले ! **त्वम्**=तू **वज्रेण**=इस क्रियाशीलतारूपी आयुध से इस **महाम्**=महान् **उरुम्**=विशाल **पर्वतम्**=अविद्या के पाँच पर्वोंवाले पर्वत को **पर्वशः**=एक-एक पर्व करके **चर्कतिथ**=काट डालता है। अज्ञान का पर्वत पाँच पर्वोंवाला है। इन्हीं पर्वों को 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश' ये नाम दिये जाते हैं। इन्द्र क्रियाशीलता के द्वारा इस पर्वत का विनाश करता है। २. अविद्या के पर्वत को काटकर तू **निवृताः**=अज्ञान से आवृत हुए-हुए **अपः**=ज्ञान के जलों को **सर्तवा**=फिर से प्रवाहित होने के लिए **अवासृजः**=खुला छोड़ता है। आत्मा में ज्ञान तो है ही, उस ज्ञान को अविद्या का पर्वत रोके हुए है। यह पर्वत कटा और ज्ञान के जल का फिर से प्रवाह होने लगा। ३. **सत्रा**=यह भी सत्य है कि इस अविद्या-पर्वत के नष्ट हो जाने पर तू **विश्वम्**=व्यापक तथा **केवलम्**=आनन्द में विचरण करनेवाले शुद्ध **सहः**=बल को **दधिषे**=धारण करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से अविद्या-पर्वत के नष्ट होने पर ज्ञान-जल का सुप्रवाह होता है और आनन्दप्रद शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को दातृतम कहा है (१)। पर प्रभु का धन हमारे लिए विलास की वस्तु न बनेगा तो सारा संसार हमारे अनुकूल होगा (२)। प्रभु से हमें 'यश, बल व ज्योति' प्राप्त होगी (३), अतः हमें चाहिए कि हम प्रभु को अपना आधार बनाकर ही प्रत्येक कर्म करें (४)। हम प्रभु के ही हों जिसकी महिमा को द्युलोक व पृथिवीलोक गाते हैं (५)। क्रियाशीलता से हम अविद्या के पर्वत का विदारण करें (६)। 'पर्वत का विदारण करने पर हम कैसे बनेंगे' यह वर्णन अगले सूक्त में किया गया है—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

सहस्वी व अमृत [नीरोग]

नू चित्सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद्दूतो अभवद्विवस्वतः ।
वि साधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति ॥१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अविद्या-पर्वत के विदारण होने पर हमें सब इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त होगी । हम पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों में जिह्वा के दोनों ओर होने से संख्या में नौ-की-नौ इन्द्रियों के धारण करनेवाले (नोधा=नवधा) होंगे और इनके उत्तम होने से 'गौतम' प्रशस्त इन्द्रियोंवाले होंगे । नोधा गौतम बनकर हम ५८ से ६४वें सूक्त तक के मन्त्रों के ऋषि होंगे । यह 'नोधा गौतम' **नू चित्**=शीघ्र ही **सहोजाः**=सहस् में प्रादुर्भूत होनेवाला होता है । गत मन्त्र की समाप्ति 'दधिषे केवलं सहः'—इन शब्दों पर हुई थी । इस मन्त्र का प्रारम्भ इसी भावना से हुआ है । यह गौतम शक्तिसम्पन्न होता है । यह जन्मजात शक्ति से युक्त होता है । (२) इसी का यह परिणाम है कि **अमृतः**=यह रोगरूप शतसंख्याक मृत्युओं का शिकार नहीं होता । यह स्वस्थ होता हुआ **नितुन्दते**=निश्चय से गतिवाला होता है अथवा नम्रता से गतिवाला होता है । वास्तविकता तो यह है कि यह सारी गति को प्रभुशक्ति से होता हुआ मानता है और कभी किसी भी कार्य का अभिमान नहीं करता है (३) **होता**=यह होता बनता है, दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है, यज्ञशेष का सेवन करता है और **यत्**=जो **विवस्वतः**=उस ज्ञान की किरणों-वाले प्रभु का **दूतः**=सन्देशहर **अभवत्**=होता है । यज्ञशेष का सेवन करनेवाला ही प्रभु का दूत बन सकता है । ४. यह **साधिष्ठेभिः**=अधिक-से-अधिक लोकहित का साधन करनेवाले **पथिभिः**=मार्गों से चलता हुआ **रजः**=हृदयान्तरिक्ष को **विममे**=बहुत सुन्दर बनाता है और **देवताता**=जिसमें दिव्य गुणों का विकास होता है या जो दिव्य गुणोंवालों से विस्तृत किये जाते हैं, उन यज्ञों में **हविषा**=हवि के द्वारा, दानपूर्वक अदन के द्वारा **आविवासति**=उस प्रभु की परिचर्या करता है । प्रभु की परिचर्या वस्तुतः यही है कि हम साधिष्ठ मार्गों से चलते हुए हवि का सेवन करनेवाले बनें ।

भावार्थ—हम शक्तिसम्पन्न व नीरोग बनकर नम्रता से गतिमय जीवनवाले हों । देने की वृत्ति-वाले बनकर प्रभु के सन्देश को सर्वत्र फैलाएँ । साधिष्ठ मार्गों से चलते हुए हृदयान्तरिक्ष को उत्तम बनाएँ । यज्ञों में हवि द्वारा प्रभु का अर्चन करें ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराड्जगती । स्वरः—निषादः ।

मानव-भोजन व अजीर्णशक्तिता

आ स्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्वविष्यन्नतसेषु तिष्ठति ।
अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत् ॥२॥

१. मन्त्र का ऋषि 'नोधा गौतम' **स्वं अद्म**=अपने भोजन को अर्थात् मनुष्योचित भोजन को—फल-मूल-वनस्पति, न कि मांस को **आयुवमानः**=सब प्रकार से अपने साथ सम्मिश्रित करनेवाला होता है । वस्तुतः इसकी सब प्रकार की उन्नतियों का मूल यही है कि यह अमानवीय भोजन से बचा रहता है । २. **अजरः**=भोजन की मर्यादा के पालन से अर्थात् फल-मूल आदि को भी मर्यादित-[शरीर के लिए जितना आवश्यक है]-रूप में लेने से यह अजीर्णशक्ति बना रहता है । ३. **तृषु**=[Thirsting for] भोजन

की अत्यन्त प्रबल इच्छा होने पर ही यह **अविष्यन्**=खाने के स्वभाववाला होता है [अविष्यन्= अत्तिकर्मा]। वस्तुतः भूख के प्रबल होने पर ही अन्न ग्रहण किया जाए तो ठीक रहता है। आमाशय चाहे तो उसे देना, अन्यथा नहीं। ४. **अतसेषु**=[वायुषु, अतति इति] खूब खुली हवावाले स्थानों में **तिष्ठति**= निवास करता है। ५. इस प्रकार के आहार-विहार के परिणामस्वरूप **प्रुषितस्य**=शक्ति से सिक्त इस पुरुष का **पृष्ठम्**=ऊपर का भाग—बाह्यभाग **अत्यः न**=एक घोड़े के समान **रोचते**=चमकता है। यह बड़ा तेजस्वी प्रतीत होता है। ६. **दिवः न सानु**=ज्ञान का तो मानो यह पर्वतशिखर ही हो जाता है, अर्थात् अपने ज्ञान को यह अत्यन्त उन्नत करता है और ७. **स्तनयन्**=प्रभु के नामों का उच्च स्वर से उच्चारण करता हुआ **अचिक्रदत्**=उस प्रभु का आह्वान करता है। प्रभु-नामोच्चारण ही उसके कण्ठ का व्यायाम हो जाता है। इस प्रकार के जीवन से यह गौतम=प्रशस्तेन्द्रिय तो बनता ही है।

भावार्थ—हम मानवोचित भोजन करते हुए अजीर्णशक्ति हों; ज्ञान के शिखर पर आरूढ़ हों और हमारी जिह्वा प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली हो।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उत्तम संग व उत्तम जीवन

क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निषत्तो रयिषाळमर्त्यः।
रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ॥३॥

१. यह 'नोधा गौतम' **रुद्रेभिः वसुभिः**=ज्ञान देनेवाले [रुत्+र] तथा अपने निवास को उत्तम बनानेवाले पुरुषों के साथ **क्राणा**=कर्मों का करनेवाला होता है। इसका सङ्ग सदा उत्तम पुरुषों के ही साथ रहता है। २. यह **पुरोहितः**=औरों के सामने [पुरः] आदर्श जीवनवाले के रूप में अपने को स्थापित करता है [हितः]। अपने जीवन को औरों के लिए आदर्श बनाने का प्रयत्न करता है। ३. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। यह देने के बाद सदा यज्ञशेष को ही खाता है। ४. **निषत्तः**=प्रातः-सायं नम्रता से प्रभु-चरणों में बैठता है। ५. **रयिषाट्**=धन का पराभव करनेवाला बनता है अर्थात् धन को अपना स्वामी नहीं बनने देता, सदा धन का स्वामी बना रहता है। यह धन पर आरूढ़ होता है, धन इसपर आरूढ़ नहीं हो जाता। ६. **अमर्त्यः**=यह विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाला नहीं होता। ७. **विक्षु**=प्रजाओं में **रथः न**=यह रथ के समान होता है। जैसे रथ हमें उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार यह अपने को उद्दिष्ट स्थान पर ले-जानेवाला होता है। जीवनयात्रा में आगे और आगे बढ़ता है। ८. **आयुषु ऋञ्जसानः**=गतिशील पुरुषों में यह कार्यों को सिद्ध करनेवाला व जीवन को अलंकृत करनेवाला होता है, गतिशील होता है और जीवन को सुन्दर बनाता है। ९. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला व दान की वृत्तिवाला बनता हुआ यह **आनुषक्**=निरन्तर **वार्या**=वरणीय धनों को **ऋण्वति**=प्राप्त होता है। इससे चाहने योग्य धन सदा प्राप्त होते हैं। यह उन धनों का प्रयोग देव की भाँति करता है, न कि एक असुर की भाँति, अर्थात् सब स्वयं नहीं खा जाता, देकर बचे हुए को ही खाता है।

भावार्थ—हमारा सङ्ग रुद्रों व वसुओं के साथ हो। हम देववृत्तिवाले बनकर वरणीय धनों को प्राप्त करें। उत्तम सङ्ग से हमारा जीवन भी उत्तम हो।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

प्रभु का मार्ग आकर्षक है

वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः ।
तृषु यदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजर ॥४॥

१. यह 'नोधा गौतम' **अतसेषु**=वायुओं में, खुली हवाओं में **वितिष्ठते**=विशेषरूप से स्थित होता है । इसका जीवन प्रायः खुली हवा में ही बीतता है । **वातजूतः**=यह वायु से प्रेरित होता है, वायु से प्रेरणा प्राप्त करता है और वायु की भाँति स्वाभाविकरूप से क्रियाशील होता है । २. **वृथा**—अनायास इच्छापूर्वक **जुहूभिः**=त्याग की वृत्तियों से और **सृण्या**=गतिशीलता से अर्थात् त्याग और गति के साथ **तुविष्वणिः**=यह महान् स्तवनवाला होता है, उस प्रभु के नामों का खूब ही उच्चारण करता है । ३. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! **यत्**=चूँकि आप **वनिनः**=उपासकों को **तृषु**=शीघ्र ही **वृषायसे**=शक्तिशाली कर देते हैं । आपकी उपासना से भक्त शक्तिशाली बनता है, अतः **रुशदूर्मे**=दीप्तज्ञान की ज्वालावाले **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो ! **ते एम**=आपका मार्ग **कृष्णम्**=आकर्षक है इसलिए ज्ञानी का आपके मार्ग की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है । ज्ञानी पुरुष सदा प्रभु की ओर झुकते हैं । वे यह समझते हैं कि यह मार्ग हमें शक्तिशाली बनानेवाला है और यदि हम प्रकृति की ओर झुक गये तो क्षीणशक्ति ही होंगे । प्रकृति के भोग सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण ही तो करते हैं ।

भावार्थ—उत्तम जीवन तो यही है कि खुली हवा में रहा जाए, त्याग व क्रियाशीलता के साथ प्रभु का नाम-कीर्तन हो । प्रभु अपने भक्तों को शक्तिशाली बनाते हैं ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

अक्षयलोक की ओर

तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः ।
अभिव्रजन्नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः ॥५॥

१. **तपुर्जम्भः**=तपस्यायुक्त है मुख जिसका, अर्थात् जिसे खान-पान का कोई चस्का नहीं है, **बने**=उस प्रभु की उपासना में **आवातचोदितः**=सब प्रकार से वायु से प्रेरणा को प्राप्त किया हुआ अर्थात् जो प्रभु का ध्यान करता है और वायु की भाँति क्रियाशील बना रहता है, यह व्यक्ति **यूथे**=गौवों के झुण्ड में **वंसगाः**=वननीय गतिवाले **साह्वान्**=प्रतिस्पर्धियों का पराभव करनेवाले वृषभ की भाँति **अववाति**=विषयों से दूर हो जाता है । विषय गोयूथ के समान हैं, यह तपुर्जम्भ उनमें विचरनेवाले वृषभ की भाँति है । इन विषयों में विचरता हुआ यह काम-क्रोध-लोभादि प्रतिस्पर्धियों से पराभूत नहीं होता । कामादि को पराभूत करके ही यह विषयों का यथायोग्य सेवन करता है । २. इस प्रकार विषयों का यथायोग्य सेवन करता हुआ यह **पाजसा**=शक्ति के द्वारा **अक्षितं रजः**=अक्षयलोक की **अभिव्रजन्**=ओर जानेवाला होता है । ३. **पतत्रिणः**=कामादि शत्रुओं पर प्रबल आक्रमण करनेवाले इस 'गौतम' से **स्थातुः चरथम्**=सारा स्थावर व जंगम संसार **भयते**=भयभीत होता है, अर्थात् उसके वशवर्ती होकर उसकी अनुकूलता में चलता है । जिसने काम आदि को जीत लिया वह सारे संसार को ही जीत लेता है ।

भावार्थ—हम स्वादेन्द्रिय को जीतें, वायु की भाँति स्वाभाविक क्रियावाले हों । विषयवासना से ऊपर उठकर विचरें । शक्तिसम्पन्न होकर अक्षय लोक की ओर चलें । काम आदि पर आक्रमण करनेवाले हमसे सारा लोक भयभीत हो ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

भृगु द्वारा प्रभु का धारण

द॒धुष्ट्वा॒ भृग॑वो॒ मानु॑षे॒ष्वा र॒यिं न चारुं॑ सु॒हवं॒ जने॑भ्यः ।
होता॑रमग्ने॒ अति॑थिं॒ वरे॑ण्यं मि॒त्रं न शेवं॑ दि॒व्याय॒ जन्म॑ने ॥६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो ! **त्वा**=आपको **मानुषेषु**=मनुष्यों में **भृगवः**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले लोग ही **आदधुः**=सर्वथा धारण करते हैं । वस्तुतः ज्ञान से मनुष्य प्रभु को पाता है और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए भृगु=तपस्वी बनना आवश्यक है । २. आप उपासकों के लिए **चारुं रयिं न**=सुन्दर धन के समान हैं । प्रभु से बढ़कर सुन्दर धन क्या हो सकता है ! वे प्रभु तो लक्ष्मीपति हैं । लक्ष्मीपति के प्राप्त होने पर लक्ष्मी तो प्राप्त हो ही जाती है । इन भक्तों का योग-क्षेम तो स्वयं प्रभु चलाते हैं । ३. ये प्रभु **जनेभ्यः**=लोगों के लिए **सुहवम्**=सुगमता से पुकारने योग्य हैं । हम पुकारते हैं तो प्रभुरक्षण के लिए विद्यमान होते हैं । पुत्र के लिए पिता के समान हमारे लिए वे प्रभु 'सूपायन' हैं—हम उनके समीप सुगमता से पहुँच सकते हैं । ४. **होतारम्**=आप सब-कुछ देनेवाले हैं । सृष्टि-यज्ञ के आप होता हैं । इस सृष्टि को बनाकर उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों को वे प्राप्त कराते हैं । ५. **अतिथिम्**=हमारे हित के लिए सदा हमें प्राप्त होनेवाले हैं [अत सातत्यगमने] । ६. **वरेण्यम्**=वे प्रभु ही वरने योग्य हैं । प्रकृति को न चुनकर हमें प्रभु को ही चुनना चाहिए । प्रकृति हमें पाँव-तले कुचल देगी, प्रभु के हम कन्धों पर स्थित होंगे । ७. **मित्रं न शेवम्**=वे प्रभु एक मित्र के समान कल्याण करनेवाले हैं । ये प्रभु ही हमारे **दिव्याय जन्मने**=दिव्य जन्म के लिए होते हैं । प्रभुकृपा से ही हम जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठते हैं और इस चक्र से ऊपर उठकर हम मुक्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—हम भृगु बनकर प्रभु का ध्यान करें । वे प्रभु ही हमारे सच्चे धन हैं और मित्र के समान कल्याण करनेवाले हैं ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

अध्वररूप रमणीय जीवन

होता॑रं स॒प्त जु॒ह्वो॒३॑ यजि॑ष्ठं॒ यं वा॒घतो॑ वृ॒णते॑ अध्व॒रेषु॑ ।
अ॒ग्निं विश्वे॑षामर॒तिं वसू॑नां सप॒र्यामि॒ प्रय॑सा॒ यामि॒ रत्न॑म् ॥७॥

१. मैं **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **सपर्यामि**=पूजता हूँ । उस प्रभु को **यं होतारं यजिष्ठम्**=जिस सब पदार्थों के देनेवाले सर्वोत्तम पूज्य को **सप्त**=सात **जुह्वः**=ज्ञान की आहुति देनेवाले **वाघतः**=ज्ञान का वहन करनेवाले **अध्वरेषु**=यज्ञों में **वृणते**=वरते हैं । **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**—ये सात ज्ञानेन्द्रियाँ ही यहाँ 'जुहू' या 'वाघत्' कही गई हैं । ये ही **'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**—इस मन्त्र में सात ऋषि कहलाये हैं । २. ये सप्त ऋषि हिंसारहित कर्मों के निमित्त उस प्रभु का वरण करते हैं जोकि **विश्वेषां वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक सब पदार्थों के **अरतिम्**=प्राप्त करानेवाले हैं । ३. मैं भी **प्रयसा**=उद्योग से, श्रमपूर्वक कर्म करते रहने से अथवा हविर्लक्षण अन्न से **सपर्यामि**=उस प्रभु का पूजन करता हूँ और **रत्नं यामि**=उस प्रभु से रमणीय वस्तुओं की याचना करता हूँ [यामि=याचामि] । प्रभु का आराधन दो प्रकार से होता है—एक तो कर्म में लगे रहने से, स्वकर्म के पालन के द्वारा, और दूसरे हवि के सेवन से—दानपूर्वक अदन से । इस प्रभु का आराधन करनें से हमारी वृत्ति सुन्दर बनती है और

वह हिंसारहित कर्मों में प्रकट होती है। इन अध्वरों के निमित्त ही तो हम प्रभु का वरण करते हैं। प्रभु से दूर रहनेवाले लोगों में ही ध्वर व हिंसा पनपती है। ऐसे लोग परस्पर हिंसात्मक युद्धों में प्रवृत्त रहते है और एक-दूसरे का गला काटते रहते हैं। कितना अशान्त व भीषण यह निवास होता है—सब रमणीयताओं से दूर!

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु का ही वरण करें ताकि हमारा जीवन अध्वररूप व वरणीय हो जाए।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अच्छिद्र शर्म

अच्छिद्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोतृभ्यो मित्रमहः शर्म यच्छ।
अग्ने गृणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात्पूर्भिरायसीभिः ॥८॥

१. हे **सहसः सूनो**=सहस् के, बल के पुत्र, शक्ति के पुतले, सर्वशक्तिमान् प्रभो! हे **मित्रमहः**=[प्रमीतेः त्रायते, महस्=तेज] पाप से बचानेवाली दीप्तिवाले प्रभो! **नः स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **अद्य**=आज **अच्छिद्रा शर्म**=छिद्र व विच्छेद से रहित, निरन्तर, सुखों को **यच्छ**=प्राप्त कराइए। प्रभु शक्ति व ज्ञान के भण्डार हैं, अतः उनके कार्यों में कौन रुकावट डाल सकता है! हे प्रभो! आप अपनी कृपा से हमें सतत कल्याण को दीजिए। २. हे **अग्ने**=हमारी अग्रगतियों के साधक प्रभो! **गृणन्तम्**=आपका स्तवन करनेवाले मुझको आप **अंहसः**=पाप से **उरुष्य**=बचाइए। वस्तुतः प्रभुस्तवन मनुष्य को पापवृत्ति से ऊपर उठाता है। स्तवन से प्रभु के गुणों के धारण की वृत्ति पैदा होती है। ३. हे **ऊर्जो नपात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभो! आप **आयसीभिः पूर्भिः**=लोहवत् दृढ़ शरीरों से हमारा रक्षण करिए। हमारे शरीर लोहवत् दृढ़ हों और वे किसी रोग से आक्रान्त न हो सकें।

भावार्थ=हम उस प्रभु का स्तवन करनेवाले हों जोकि शक्ति के पुञ्ज हैं, पाप से बचानेवाली दीप्ति से युक्त हैं। यह प्रभुस्तवन हमें पाप से बचाए। हमारे शरीर लोहवत् दृढ़ हों और रोगों से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वरूथ व शर्म

भवा वरूथं गृणते विभावो भवा मघवन्मघवद्भ्यः शर्म।
उरुष्याग्ने अंहसो गृणन्तं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥९॥

१. हे **विभावः**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभो! आप **गृणते**=स्तुति करनेवाले के लिए **वरूथम्**=अनिष्टनिवारक गृह अथवा कवच **भव**=होओ। स्तोता के प्रभु कवच बनते हैं और उस स्तोता को सब पापों व रोगों से बचाते हैं। २. हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाले प्रभो! आप **मघवद्भ्यः**=ऐश्वर्यवालों व ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवालों के लिए **शर्म**=कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाले होते हैं। वस्तुतः ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग ही कल्याण का मार्ग है, अन्यथा ये ऐश्वर्य हमें विलास व अभिमान की ओर ले-जाते हैं और मानव-पतन का कारण बन जाते हैं। ३. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **गृणन्तम्**=आपका स्तवन करनेवाले मुझको **अंहसः**=पाप से **उरुष्य**=बचाइए। प्रभुस्तवन हममें उच्चवृत्ति को पैदा करके हमें निम्नमार्ग की ओर जाने से बचाता है। ४. हमें **प्रातः**=प्रातःकाल **मक्षु**=शीघ्र

ही **धियावसुः**=[धी ज्ञान व कर्म] ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा वसुओं को [निवास के लिए आवश्यक धनों को] प्राप्त करानेवाला प्रभु **जगम्यात्**=प्राप्त हो। हम प्रातःकाल प्रभु का 'धियावसुः' के रूप में ध्यान करें और उससे प्रेरणा व शक्ति को लेकर ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—प्रभु हमारे कवच हैं, हमारा कल्याण करनेवाले हैं, पाप से निवारक हैं और ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा वसुओं के देनेवाले हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ शक्ति व नीरोगता की प्राप्ति से है (१)। इसके लिए हम मानवोचित भोजन करते हुए अजीर्णशक्ति बनें (२)। उत्तम सङ्ग से जीवन को उत्तम बनाएँ (३)। प्रभु का मार्ग आकर्षक है (४)। स्वादेन्द्रिय को जीतकर ही इस अक्षयलोक की ओर चला जा सकता है (५)। मनुष्यों में अपना परिपाक करनेवाले भृगु ही प्रभु का धारण करते हैं (६)। प्रभु-कृपा से हमें अध्वररूप रमणीय जीवन प्राप्त हो (६)। हमारे कल्याण अच्छिद्र हों (८) प्रभु हमारे वरूथ हों (९)। 'यह प्रभु ही महादेव हैं, अन्य देव तो इसके शाखामात्र हैं' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[५९] एकोनषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—अग्निर्वैश्वानरः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अग्नियों का अग्नि

व॒या इद॑ग्ने अ॒ग्नय॑स्ते अ॒न्ये त्वे विश्वे॑ अ॒मृता॑ मादयन्ते।
वैश्वा॑नर॒ नाभि॑रसि क्षि॒तीनां॒ स्थूणे॑व॒ जनाँ॑ उप॒मिद्य॑यन्थ ॥१॥

१. **अग्ने**=अग्रेणी परमात्मन्! **अन्ये अग्नयः**=सूर्य, विद्युत्, वह्नि इत्यादि अन्य अग्नियाँ **वयाः इत्**=निश्चय से तेरी शाखामात्र हैं। जैसे शाखाओं की स्थिति मूल के होने पर ही है, उसी प्रकार ये सब अग्नियाँ उस महान् अग्नि पर आश्रित हैं और उसी की दीप्ति से दीप्त हो रही हैं—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। २. **विश्वे अमृताः**=सब अमृतपुरुष=जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठे हुए मुक्तात्मा **त्वे मादयन्ते**=आपमें ही हर्ष का अनुभव करते हैं। मुक्तात्माओं के लिए उपनिषद् ने यही कहा है कि **'सह ब्रह्मणा विपश्चिता'**—ये उस विपश्चित् ब्रह्म के साथ विचरते हैं—**'तृतीये धामन्नध्यैरयन्त'** वे सब प्रकृति व जीव से परे तृतीय धाम प्रभु में विचरते हैं। आनन्द प्रभु में ही है। उसके सम्पर्क में आनेवालों को ही आनन्द का अनुभव होता है। ३. हे **वैश्वानर**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभो! आप **क्षितीनाम्**=पृथिवी पर निवास करनेवाले सब प्राणियों के **नाभिः असि**=केन्द्र हैं अथवा परस्पर बाँधनेवाले हैं। आपने सभी को समान पितृत्व के सम्बन्ध से बाँध दिया है। तत्त्वद्रष्टा पुरुष आपको ही सबका पिता जानते हुए सबके साथ एकत्व का अनुभव करते हैं। ४. हे प्रभो! आप ही **उपमित्**=उपस्थापयिता हैं अथवा समीपता से हृदयदेश में ही स्थित हुए-हुए हममें ज्ञान को डालनेवाले हैं। उपमित् रूप से आप **जनान्**=सब लोगों का **ययन्थ**=उसी प्रकार नियमन व धारण कर रहे हैं **इव**=जिस प्रकार **स्थूणा**=गृह-मध्य में स्थापित स्तम्भ सारे घर की छत का धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु से ही सब अग्नियों को अग्नित्व प्राप्त है। सब मुक्तात्मा इस प्रभु में ही आनन्दित होते हैं। वे वैश्वानर प्रभु सब मनुष्यों की नाभि हैं, परस्पर बाँधनेवाले हैं और सबके धारक हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निर्वैश्वानरः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः

देव को देव का दर्शन [देवो भूत्वा यजेद्देवान्]

मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः ।
तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय ॥२॥

१. **अग्निः**=यह सब अग्नियों में अग्नित्व की स्थापना करनेवाला महान् अग्नि **दिवः मूर्धा**=द्युलोक की मूर्धा है, सिर की भाँति प्रधान है और **पृथिव्याः**=पृथिवी का **नाभिः**=बन्धन करनेवाला है, पृथिवीस्थ सब प्राणियों को परस्पर सम्बद्ध करनेवाला है । २. **अथ**=इस प्रकार द्युलोक की मूर्धा और पृथिवी की नाभि होता हुआ यह प्रभु **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का **अरतिः**=स्वामी **अभवत्**=हो गया है । ३. हे **वैश्वानर**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु ! **तम्**=उस **देवम्**=द्योतमान प्रकाश के पुञ्ज **त्वा**=तुझे **देवासः**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होनेवाले लोग ही **अजनयन्त**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं अर्थात् देव का साक्षात्कार देव बनकर ही किया जाता है । ४. ये प्रभु **आर्याय**=आर्य के लिए=श्रेष्ठ वृत्तिवाले पुरुष के लिए **इत्**=निश्चय से **ज्योतिः**=प्रकाश हैं । आर्य के लिए प्रभु पथ-प्रदर्शक हैं । 'कर्तव्य कर्म को करना, अकर्तव्य को न करना, प्रकरणप्राप्त आचार में स्थित होना' ही आर्यत्व है । ऐसी वृत्तिवाले पुरुष को प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है । उस प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ यह सदा प्रकाश में स्थित होता है, कभी अन्धकार का अनुभव नहीं करता ।

भावार्थ—प्रभु ही ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं । उस देव का दर्शन देव बनने से ही होता है ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निर्वैश्वानरः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

वसुमान [प्रभु]

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि ।
या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा ॥३॥

१. **न**=जैसे **आ रश्मयः**=ये चारों ओर वर्तमान रश्मियाँ **सूर्ये**=सूर्य में **ध्रुवासः**=ध्रुव होकर स्थापित हैं, जैसे सूर्य से ये किरणें कभी पृथक् नहीं की जा सकती, उसी प्रकार **वैश्वानरे**=मानवमात्र के हितकारी सर्व अग्रणी प्रभु में **वसूनि**=यब धन—निवास के लिए आवश्यक तत्त्व **आदधिरे**=स्थापित हैं । प्रभु से वसुओं को अलग नहीं किया जा सकता । २. **या**=जो वसु **पर्वतेषु**=पर्वतों में स्थित हैं, जो वसु **ओषधिषु**=ओषधियों में विद्यमान हैं, **या अप्सु**=जो वसु जलों में वर्तमान हैं अथवा **मानुषेषु**=जो धन मनुष्यों के पास हैं **तस्य राजा असि**=उस सबके राजा आप ही हो । उस-उस पदार्थ में स्थित वसु के उस-उसमें स्थापित करनेवाले आप ही हैं । सब वसुओं का अधिपति प्रभु ही है । प्रभु से ही अन्यत्र वसु प्राप्त कराये जाते हैं ।

भावार्थ—प्रभु वसुमान हैं, वसुमान प्रभु से हमें भी वसु प्राप्त होते हैं ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवत—अग्निर्वैश्वानरः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

पूर्वी-यह्वी-[गीः] गिराएँ

बृहतीइव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो३न दक्षः ।
स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वीर्वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः ॥४॥

१. 'सूयते' इस व्युत्पत्ति से 'सूनु' का अर्थ पुत्र है तो 'सूते' इस व्यत्पत्ति से 'सूनु' शब्द जन्म देनेवाले पिता का वाचक हो जाता है। प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक के जन्म देनेवाले 'सूनु' हैं अथवा द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु की महिमा को प्रकट करते हैं, अतः प्रभु इनका सूनु हो जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **सूनवे**=अपने जन्मदाता वैश्वानर के अवस्थान के लिए **बृहती इव**=बढ़े हुए-से हैं। अनन्त विस्तृत प्रतीयमान इन द्यावापृथिवी में प्रभु की स्थिति है। वस्तुतः अपने अवस्थान से प्रभु ही इनको विभूति प्राप्त करा रहे हैं। ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विभूति व श्री का अंश उस प्रभु की सत्ता के कारण ही है। २. **दक्षः**=कार्य करने में कुशल, **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **मनुष्यः न**=एक विचारशील पुरुष की भाँति **पूर्वीः**=हमारे जीवनों का पूरण करनेवाली **यह्वीः**=महान्, अर्थपूर्ण **गिरः**=वाणियों को उस प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करता है जोकि **स्वर्वते**=प्रकाशवाले हैं, **सत्यशुष्माय**=सत्य के बलवाले व सत्य पराक्रमबाले हैं तथा **नृतमाय**=सर्वोत्तम नेतृत्व करनेवाले हैं। ३. प्रभुस्तवन का लाभ यह होता है कि हम भी 'स्वर्वान्, सत्यशुष्म व नृतम' बनेंगे। इस प्रभु की प्राप्ति के लिए वेद-वाणियों का, ज्ञान की वाणियों का प्रयोग अपेक्षित है। ये ज्ञान की वाणियाँ 'पूर्वी व यह्वी' हैं—हमारा पूरण करनेवाली व अर्थ के दृष्टिकोण से महान् अर्थात् प्रचुर अर्थवाली हैं। इनका अध्ययन 'दक्ष, होता व विचारशील' पुरुष ही कर पाते हैं।

भावार्थ—ये द्युलोक व पृथिवीलोक तो प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर ही रहे हैं। हम वेद-वाणियों का भी अध्ययन करें जोकि हमारे जीवनों का पूरण करती हैं तथा अर्थ-गौरव से पूर्ण हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—अग्निर्वैश्वानरः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

युद्ध द्वारा दैवीसम्पत्ति की प्राप्ति

दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम्।
राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥५॥

१. हे **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का नेतृत्व करनेवाले [विश्वान् नरान् नयति] **जातवेदः**=सम्पूर्ण धनों व ऐश्वर्यों के उत्पत्तिस्थान प्रभो! [जातं वेदो यस्मात्] **ते महित्वम्**=आपकी महिमा **बृहतः दिवः चित्**=इस बढ़े हुए व्यापक द्युलोक से भी **प्ररिरिचे**=प्रवृद्ध है। यह द्युलोक आपकी महिमा का व्यापन नहीं कर सकता; यह सब आपके एक देश में आ जाता है—**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'**। २. **मानुषीणाम्**=विचारशील व मानव-हितकारिणी **कृष्टीनाम्**=श्रमशील प्रजाओं के **राजा असि**=आप राजा हैं। इनके जीवनों को आप ही व्यवस्थित करते हैं। इनके जीवनों में व्यवस्था [Regulation] के द्वारा आप ही दीप्ति [राज् दीप्तौ] को स्थापित करनेवाले है। आपसे शासित ये प्रजाएँ आसुरवृत्तियों के साथ संघर्ष करती हैं। इस सात्त्विक संग्राम को करनेवाले, इस संग्राम में विजय-प्राप्ति की कामनावाले [दिव्=विजिगीषा] **देवेभ्यः**=देववृत्ति पुरुषों के लिए **युधा**=युद्ध के द्वारा **वरिवः**=धनों को **चकर्थ**=आप करते हैं। युद्ध में देवों को विजय आपकी कृपा से ही प्राप्त होती है। उस विजय से उन्हें वह आत्मिक धन=दैवीसम्पत्ति, जिसका कि असुरों ने अपहरण कर लिया था, फिर से प्राप्त हो जाती है। यह विजय प्रभुकृपा से ही होती है। दैवीसम्पत्ति का लाभ प्रभुकृपा के बिना सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्रभु द्युलोक से महान् हैं। मानवहित-साधक श्रमशील पुरुषों के प्रभु राजा हैं। असुरों के साथ संग्राम में विजय प्राप्त कराके प्रभु ही दैवी सम्पत्ति को पुनः प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निर्वैश्वानरः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

शम्बर विदारण

प्र नू म॑हि॒त्वं वृ॑ष॒भस्य॑ वोचं॒ यं पू॒रवो॑ वृत्र॒हणं॒ सच॑न्ते ।
वै॒श्वा॒न॒रो दस्यु॑म॒ग्निर्ज॑घ॒न्वाँ अधू॑नो॒त्काष्ठा॒ अव॒ शम्ब॑रं भेत् ॥६॥

१. **नु**=अब **वृषभस्य**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले शक्तिशाली प्रभु की **महित्वम्**=महिमा को **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ—**वृत्रहणम्**=वासनाओं के नष्ट करनेवाले **यम्**=जिस परमात्मा को **पूरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **सचन्ते**=सेवन करते हैं। प्रभु का सच्चा भक्त वही है जो शरीर को रोगों से रक्षित करने के लिए यत्नशील होता है और काम-क्रोध से आ जानेवाली न्यूनताओं को दूर करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार का यत्न करनेवाले लोग ही 'पूरवः' कहलाते हैं। ये प्रभु का उपासन करते हैं, प्रभु इनकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं। इन वासनाओं से ही ज्ञान का प्रकाश आवृत हो रहा था। वासना के नष्ट होते ही चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। २. वह **वैश्वानरः अग्निः**=सब नरों का हितकारी अग्नि **दस्युम्**=शरीर का नाश कर डालनेवाली कामवृत्ति को **जघन्वान्**=मार देते हैं। महादेव के तृतीय नेत्र की ज्योति से काम जल जाता है। कामध्वंस से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती ३. ये प्रभु **काष्ठा**=[Extremeties] सिरों को **अधूनोत्**=कम्पित करके हमसे दूर करते हैं। हम अति में न जाकर सदा मध्यमार्ग में चलनेवाले बनते हैं। काष्ठा में जाना ही लोभ करना है, प्रभु हमें लोभ से बचाते हैं। लोभ बुद्धि को नष्ट करता है, लोभ के नाश से हमारी बुद्धि स्थिर होती है। ४. प्रभु **शम्बरम्**=शान्ति को ढक लेनेवाले 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' को भी **अवभेत्**=सुदूर विदीर्ण करते हैं। ईर्ष्या-द्वेषादि के नष्ट होने पर ही मानस शान्ति उपलब्ध होती है। ईर्ष्यालु का मन मृतप्राय ही होता है, यह किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर पाता।

भावार्थ—प्रभु हमारे काम-लोभ व क्रोध को नष्ट कर देते हैं। इससे हमारा शरीर, हमारी बुद्धि व हमारा मन सुस्थिर व दृढ़ होता जाता है। शरीर दृढ़, मस्तिष्क उज्ज्वल व मन पवित्र बन जाता है।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निर्वैश्वानरः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

शातवनेय के १०० यज्ञ

वै॒श्वा॒न॒रो म॑हि॒म्ना वि॒श्वकृ॑ष्टिर्भ॒रद्वा॑जेषु यज॒तो वि॒भावा॑ ।
शा॒त॒व॒ने॒ये श॒तिनी॑भिर॒ग्निः पु॑रूणी॒थे ज॑रते सू॒नृता॑वान् ॥७॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का नेतृत्व व पथ-प्रदर्शन करनेवाला **महिम्ना**=अपनी महिमा से **विश्वकृष्टिः**=[विश्वे कृष्टयो यस्य] सब मनुष्यों के परिवारवाला अथवा संसार का निर्माण करनेवाला **भरद्वाजेषु**=अपने में शक्ति का भरण करनेवालों में **यजतः**=यष्टव्य, संगतिकरण-योग्य अर्थात् सशक्त पुरुषों में वास करनेवाला, **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाला वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **सूनतावान्**=प्रिय-सत्यात्मिका वेदवाणीवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सदा प्रिय सत्यवाणी से प्रेरणा प्राप्त कराते रहते हैं। २. ये प्रभु **शातवनेये**=[शातं क्रतून् वनति सम्भजति] सौ-के-सौ वर्ष यज्ञों का सेवन करनेवाले अथवा शत-संख्याक यज्ञों को करनेवाले **पुरूणीथे**=पालक और पूरक है नेतृत्व जिसका ऐसे पुरुष में **शतिनीभिः**=शत वर्ष पर्यन्त चलनेवाली क्रियाओं से **जरते**=स्तुत होता है अर्थात् सौ-के-सौ वर्ष क्रियामय जीवन बिताते

हुए ये पुरुष उस प्रभु का स्तवन करते हैं। इनका तो जीवन ही क्रियामय हो जाता है और क्रिया के द्वारा ही प्रभु का आराधन होता है, **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**।

भावार्थ—हम सौ वर्ष के दीर्घ जीवन को 'शातवनेय' का जीवन बनाएँ। हमारे ये सौ यज्ञ ही प्रभु का आराधन हो जाएँ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि वे प्रभु अग्नियों के अग्नि हैं (१)। उस देव का दर्शन देव बनकर ही हो सकता है (२)। वे प्रभु सच्चे वसुमान् हैं (३)। उस सत्यशुष्म प्रभु का ही हमारी वाणियाँ स्तवन करें (४)। हम सात्त्विक युद्ध के द्वारा ही दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं (५)। प्रभुकृपा से हमारे काम-क्रोध व लोभ का निवारण होता है (६) और हम 'शातवनेय' बनकर शतयज्ञमय जीवन से प्रभु का आराधन करें (७)। आराधन का स्वरूप अगले मन्त्र में कहते हैं—

[६०] षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्राणसाधना व ज्ञान-परिपाक

वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योअर्थम्।
द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा ॥१॥

१. 'मातरिश्वा' शब्द 'मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति'—इस व्युत्पत्ति से वायु का वाचक है। यह वायु ही शरीर में प्राण के रूप में रहता है—**'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्'**। यह **मातरिश्वा**= प्राण **भृगवे**=ज्ञान से अपने को परिपक्व करनेवाले व्यक्ति के लिए उस प्रभु को **भरत्**=धारण, प्राप्त कराता है। प्राणसाधना प्रभु-प्राप्ति का प्रमुख साधन है। प्राणसाधना 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' स्वास्थ्य को जन्म देकर हमें प्रभुदर्शन के लिए तैयार कर देती है। २. उस प्रभु के दर्शन के लिए जोकि (क) **वह्निम्**=जगती के भार का वहन करनेवाले हैं, विष्णुरूपेण सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं, (ख) **यशसम्**=यशस्वी हैं, ब्रह्माण्ड के कण-कण में उस प्रभु की महिमा का दर्शन होता है, (ग) **विदथस्य केतुम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा' नामक ऋषियों के हृदयों में ज्ञान का प्रकाश करनेवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सभी को ज्ञान की प्रेरणा दे रहे हैं, (घ) **सुप्राव्यम्**=(सु, प्र अव् य) बड़ी उत्तमता व प्रकर्ष से हमारा रक्षण करनेवाले हैं; रोगों व पापों से बचानेवाले वे प्रभु ही हैं, (ङ) **दूतम्**=अपने भक्तों को कष्ट की अग्नि में सन्तप्त करके निर्मल करनेवाले हैं, (च) **सद्यः अर्थम्**=[अर्थं अरणं गमनम्] शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं, (छ) **द्विजन्मानम्**=ज्ञान और भक्ति के समन्वय से प्रकट होनेवाले हैं, उस प्रभुरूप वह्नि के प्रकाश के लिए 'मूर्धा' एक अरणि होती है तो 'हृदय' दूसरी अरणि। एवं ये प्रभु 'मूर्धा व हृदय के सम्मिलित मन्थन' से प्रादुर्भूत होते हैं, (ज) वे प्रभु हमारे **प्रशस्तं रयिं इव**=प्रशंसनीय धन के समान हैं। प्रभु ही सर्वोत्तम धन हैं, (झ) वे प्रभु **रातिम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं। ३. इस प्रभु को प्राप्त करने के लिए हमें भृगु बनना है—अपने को ज्ञान से परिपक्व करना है और साथ ही प्राणसाधना का नैत्यिक अभ्यास करना है।

भावार्थ—प्राणसाधना और ज्ञान-परिपक्वता—ये प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

हविष्मान् व उशिज्

अस्य शासुरुभयासः सचन्ते हविष्मन्त उशिजो ये च मर्ताः ।
दिवश्चित्पूर्वो न्यसादि होतापृच्छ्यो विश्पतिर्विक्षु वेधाः ॥२॥

१. **अस्य शासुः**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक प्रभु का **उभयासः**=दोनों ही **सचन्ते**=सेवन व उपासन करते हैं **ये**=जो **मर्ताः**=मनुष्य **हविष्मन्तः**=हविवाले हैं अर्थात् यज्ञ में पदार्थों का विनियोग करके सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हैं **च**=और जो **उशिजः**=मेधावी हैं अर्थात् जो सदा ज्ञान-प्राप्ति की कामना करते हुए अपने को ज्ञान-परिपक्व करते हैं। वस्तुतः प्रभु का जीव के लिए यही अनुशासन है कि वह ज्ञानी बने और ज्ञानपूर्वक यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाला हो—उशिक् बने, हविष्मान् बने। जो भी उशिक् व हविष्मान् बनता है वह प्रभु के शासन का सेवन करता है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम ज्ञानी बनें और यज्ञशील हों। २. वे प्रभु **दिवः चित् पूर्वः**=प्रकाश से पहले ही **न्यसादि**=हमारे हृदयों में विराजमान हैं। ऊपर आये हुए मल के आवरण के हटते ही हम हृदयस्थ प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। ३. वे प्रभु **होता**=इस सृष्टि-यज्ञ के करनेवाले व सम्पूर्ण पदार्थों के देनेवाले हैं। ४. **आपृच्छ्यः**=एक-एक पदार्थ में जिज्ञास्य हैं। जिज्ञासु को प्रत्येक पदार्थ में उस प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। अन्यत्र प्रभु को **'तं संप्रश्नम्'**=इस रूप में कहा गया है। 'कौन सूर्य को चमका रहा है, किसकी ज्योति से तारागण ज्योतिर्मय हो रहे हैं, कौन ऋतुचक्र का चालक है, कौन विविध वनस्पतियों को जन्म दे रहा है।' इस प्रकार वे प्रभु आपृच्छ्य हैं। ५. वे प्रभु ही **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं और **विक्षु**=सब प्रजाओं में **वेधाः**=कर्मानुसार अभिमत फलों के विधाता व कर्ता हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'हविष्मान्' व 'उशिक्' बनकर ही होती है। वे प्रभु ही आपृच्छ्य हैं, जिज्ञास्य हैं। प्रभु-ज्ञान ही जीवन का उद्देश्य है।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान्, आयु

तं नव्यसी हृद आ जायमानमस्मत्सुकीर्तिर्मधुजिह्वमश्याः ।
यमृत्विजो वृजने मानुषासः प्रयस्वन्त आयवो जीजनन्त ॥३॥

१. **नव्यसी**=अत्यन्त नवीन व अतिशयेन स्तुति करनेवाली (नु स्तुतौ), **अस्मत् सुकीर्तिः**=हमारी यह प्रभुगुणों की कीर्ति—प्रभु के गुणों का उच्चारण **तम्**=उस **हृदः आजायमानम्**=हृदयदेश में प्रादुर्भूत होनेवाले **मधुजिह्वम्**=अत्यन्त माधुर्यमयी जिह्वावाले, मधुरता से प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **अश्याः**=प्राप्त हो। हम प्रभु का स्तवन करें, हमें प्रभु-प्रेरणा प्राप्त हो। २. उस प्रभु को हमारी स्तुति प्राप्त हो **यम्**=जिसको **वृजने**=इस जीवन-संग्राम में, एक-एक करके पापों का वर्जन करनेवाले जीवन में **ऋत्विजः**=ऋतु-ऋतु में यज्ञ करनेवाले, **मानुषासः**=विचारपूर्वक मानवमात्र के हितकारी कार्यों को करनेवाले **प्रयस्वन्तः**=हविर्लक्षण अन्नों से युक्त **आयवः**=सदा गतिशील—आलस्यशून्य, कर्मनिष्ठ व्यक्ति **जीजनन्त**=अपने हृदयों में प्रकाशित करते हैं। हृदयस्थ प्रभु का दर्शन 'ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान् व आयु' को ही होता है।

भावार्थ—वे प्रभु मधुजिह्व हैं। 'ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान् व आयु' बनकर हम उस प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

उशिक् पावक

उशिक्पावको वसुर्मानुषेषु वरेण्यो होताधायि विक्षु ।
दमूना गृहपतिर्दम आँ अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणाम् ॥४॥

१. वे प्रभु **उशिक्**=[कामयमानः] अपने सखा जीव का हित चाहनेवाले हैं। उसका हित करने के लिए ही **पावकः**=उसके जीवन को पवित्र बनानेवाले हैं। जीव को पवित्र बनाकर **वसुः**=उनके निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। २. **मानुषेषु**=विचारशील पुरुषों में **वरेण्यः**=वरण के योग्य हैं। जब हम विचार नहीं करते तो ग़लती से प्रकृति का वरण कर बैठते हैं, विचारशील पुरुष प्रभु का ही वरण करते हैं। ३. **होता**=वे प्रभु इस मित्र जीव को उन्नति के साधन प्राप्त कराने के लिए इस सृष्टियज्ञ के होता बनते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि जीव की उन्नति के साधनार्थ ही बनाई गई है। ये प्रभु **विक्षु अधायि**=सब प्रजाओं के हृदयदेश में स्थित हैं। हृदयस्थ होकर सब पदार्थों के 'यथायोग' के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। इन पदार्थों का 'अयोग' तो हमें लाभ ही क्या दे सकता है, 'अतियोग' हानिकर हो जाता है, 'यथायोग' के लिए प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं। ४. **दमूनाः**=[दम इति गृहनाम तन्मनः—निरु०] वे प्रभु इस शरीररूप घर में ही मनवाले हैं, इसे सुन्दर बनाने का ही सतत ध्यान कर रहे हैं। **गृहपतिः**=इस गृह के रक्षक हैं। वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दमे आभुवत्**=इस घर में सदा रहते हैं और **रयीणां रयिपतिः**=सर्वोत्कृष्ट धनों के स्वामी हैं। इन उत्कृष्ट धनों से इस शरीररूप गृह को धन्य व अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—वे महान् मित्र प्रभु हमारा हित चाहते हैं, सदा इस शरीरगृह में सावधान होकर इसका रक्षण व अलंकरण करते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—अग्निः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

गोतम का प्रभुशंसन

तं त्वा वयं पतिमग्ने रयीणां प्र शंसामो मतिभिर्गोतमासः ।
आशुं न वाजम्भरं मर्जयन्तः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥५॥

१. हे **अग्ने**—सर्वाग्रणी प्रभो ! **रयीणाम् पतिम्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी **तं त्वा**=उस तुझको **वयम्**=हम **गोतमासः**=अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनानेवाले लोग **मतिभिः**=मननीय स्तोत्रों से **प्रशंसामः** प्रशंसित करते हैं। धनों की याचना करते रहने का क्या लाभ ? प्रभु प्राप्त होंगे तो सब धन तो स्वयं प्राप्त हो ही जाएँगे। सब धनों के स्वामी वे प्रभु ही तो हैं। प्रभु का शंसन हमें इन सांसारिक विषयों में फँसने से बचाकर पवित्र बनाये रखता है, अन्यथा ये इन्द्रियाँ विषय-पंक में फँसकर अपवित्र हो जाती हैं। ३. ये गोतम उस प्रभु का शंसन करते हैं जोकि इस जीवन-यात्रा में मार्ग का शीघ्रता से व्यापन करनेवाले **आशुं न**=[अश्वमिव] घोड़े के समान हैं। प्रभु के अवलम्बन से ही तो यात्रा पूर्ण होगी। **वाजम्भरम्**=वे प्रभु हममें शक्ति को भरनेवाले हैं। समय-समय पर प्रभु-सम्पर्क से शक्ति-सम्पन्न बनकर हम जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ते हैं। ४. इस प्रभु का शंसन वे गोतम करते हैं जोकि **मर्जयन्तः**=निरन्तर अपना शोधन करते हैं। वस्तुतः प्रभु का शंसन यही है कि प्रभु के आदेशों का पालन करते हुए हम संसार के पदार्थों का यथायोग करते हुए सब इन्द्रियों को पवित्र बनाए रखें। ५. प्रभु-कृपा से हमें **प्रातः**=दिन

के आरम्भ में ही **मक्षु**=शीघ्र ही **धियावसुः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से वसुओं को प्राप्त करनेवाले मनुष्य **जगम्यात्**=प्राप्त हों। इनके सम्पर्क में रहते हुए हम भी 'धियावसु' बनें।

भावार्थ—प्रशस्तेन्द्रिय—अपना शोधन करनेवाले ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। ये प्रभु हमारी जीवन-यात्रा में हमारे लिए वाजम्भर अश्व के समान हैं। सत्सङ्ग से हम जीवन को सुन्दर बनाएँ और प्रभु को पाएँ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राण-साधना व ज्ञान-परिपाक के संकेत से होता है (१)। हविष्मान् व उशिज् ही प्रभु को प्राप्त करते हैं(२)। प्रभु का प्रकाश 'ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान् व आयु' के हृदय में होता है (३)। वे प्रभु हमारे जीवनों को पवित्र बनाते हैं (४)। पवित्र बने हुए ये पवित्रेन्द्रिय लोग प्रभु का शंसन करते हैं (५)। शंसन करते हुए कहते हैं कि—

[६१] एकषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इन्द्र का 'स्तुति व हवि' से परिचरण

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥१॥

१. **इत् उ**=निश्चय से **अस्मै तवसे**=इस प्रवृद्ध—सब गुणों व आकार के दृष्टिकोण से बढ़े हुए, **तुराय**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले अथवा शत्रुओं का संहार करनेवाले [तुर्वित्रे], **माहिनाय**=महिमा से सम्पन्न और अतएव पूजा के योग्य **ऋचीषमाय**=[ऋचा समः] जितनी भी स्तुति की जाए उससे अधिक, **अध्रिगवे**=अप्रतिहत गमन व कर्मवाले, जिसके मार्ग में कोई भी रुकावट उत्पन्न नहीं कर सकता, ऐसे **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **ओहम्**=[वहनीयं, प्रापणीयम्]वहन के योग्य, अत्यन्त उत्कृष्ट **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **प्रहर्मि**=प्रकर्षेण प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार प्राप्त करता हूँ **न**=जैसे **प्रयः**=अन्न को प्राप्त करते हैं। जैसे मैं भोजन करता हूँ, भोजन करना जैसे मेरा स्वभाव हो गया है, उसी प्रकार स्तवन भी मेरे लिए स्वाभाविक है। यह मेरा अध्यात्म-भोजन ही हो गया है। २. मैं इस ब्रह्म के लिए ही, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही **राततमा**=अतिशयेन देने योग्य **ब्रह्माणि**=हविर्लक्षण अन्नों को भी प्राप्त करता हूँ, सदा यज्ञों का करनेवाला बनकर यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बनता हूँ। यज्ञशेष के सेवन से ही प्रभु का परिचरण [सेवा] होता है।

भावार्थ—मैं स्तुति और हवि के द्वारा प्रभु का परिचरण करता हूँ।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

हृदय, मन व बुद्धि का समन्वित प्रयत्न

अस्मा इदु प्रयइव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥२॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही निश्चय से **प्रयः इव**=अन्न की भाँति—जिस प्रकार तू अन्न का सेवन करता है, उसी प्रकार **प्रयंसि**=अपने को देता है अर्थात् प्रभु के लिए तू आत्मार्पण करता है। जैसे प्रातः-सायं तू अन्न खाता है उसी प्रकार प्रातः-सायं तू अपने को प्रभुचरणों में उपस्थित करता

है। २. तू यह निश्चय कर कि मैं **बाधे**=शत्रुओं के बाधन में समर्थ काम, क्रोध, लोभादि को दूर करनेवाले **सुवृक्ति**=कामादि के उत्तम वर्जनवाले **आंगूषम्**=स्तोत्रात्मक आघोष को—प्रभु के गुणों के उच्चारण को **भरामि**=करता हूँ। यह प्रभु-गुणगान हमारे जीवनों में से दोषों को दूर करता है। ३. ज्ञानी लोग सदा **इन्द्राय**=इस शक्तिशाली कार्यों को करनेवाले प्रभु के लिए, प्रभु-प्राप्ति के लिए **हृदा**=हृदय से, श्रद्धा से **मनसा**=अन्तःकरण की प्रबल इच्छा से तथा **मनीषा**=बुद्धि से—विवेकपूर्वक **धियः**=प्रज्ञा व कर्मों को **मर्जयन्त**=शुद्ध करते हैं। प्रज्ञापूर्वक किये गये कर्मों से ही प्रभु का पूजन होता है। यह पूजन हृदय की श्रद्धा, मन की इच्छा तथा बुद्धि के विवेक की अपेक्षा करता है। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए यह मार्जन=शोधनक्रम चलता है जोकि **प्रत्नाय**=सनातन है **पत्ये**=सबका रक्षक है। इस सनातन पति की प्राप्ति के लिए विवेकी पुरुष अपनी बुद्धियों का खूब परिमार्जन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हृदय, मन व बुद्धि का समन्वित प्रयत्न अभीष्ट है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

उपम-स्वर्षा-आंगूष

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्येन।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै ॥३॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही **त्यम्**=उस **उपमम्**=(उपमीयते अनेन) समीपता से मापन करनेवाले, [हमारे किसी भी स्तोत्र से प्रभु का पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता, प्रभु शब्दातीत हैं, हमारी वाणी उनके समीप तक पहुँच सकती है, उन तक नहीं] उस प्रभु के गुणों का अधिक-से-अधिक प्रतिपादन करनेवाले **स्वर्षाम्**=(स्वः सनोति) प्रकाश व सुख देनेवाले [प्रभु का गुणगान हमारे जीवन में ज्योति दिखानेवाला और हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाला है], **आंगूषम्**=स्तोत्र को **आस्येन**=मुख से **भरामि**=करता हूँ। **मतीनां अच्छोक्तिभिः**=ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतियों के उत्तम वचनों से, बनावट से रहित वचनों से तथा **सुवृक्तिभिः**=अशुभ के सम्यक् परित्यागों से **मंहिष्ठम्**=उस दातृतम—महान् दाता **सूरिम्**=विपश्चित्—ज्ञानी व हृदयस्थ होकर प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **वावृधध्यै**=बढ़ाने के लिए होता हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि मुझमें प्रभु की दिव्यभावनाओं का वर्धन हो। इसी उद्देश्य से मैं प्रभु का स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए स्तवन, उत्तम वचन व पापवर्जन साधन बनते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

स्तोम तथा हवि

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥४॥

१. मैं **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही **स्तोमम्**=स्तुति को **संहिनोमि**=प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार प्राप्त करता हूँ **इव**=जैसे **तत्सिनाय**=(तेन रथेन सिनमन्नं यस्य) रथ के द्वारा आजीविका चलानेवाले रथ-स्वामी के लिए जैसे **तष्टा रथं न**=बढ़ई रथ को प्राप्त कराता है। बढ़ई रथ का निर्माण करके उस रथ को स्वामी के लिए रख देता है, इसी प्रकार मैं स्तोमों का निर्माण करके इन स्तोमों को प्रभु के लिए प्राप्त कराता हूँ, सब स्तोमों के स्वामी प्रभु ही हैं। वस्तुतः स्तवन प्रभु का ही करना चाहिए, प्रभु

से अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति की स्तुति ठीक नहीं। २. मैं **गिर्वाहसे**=वेदवाणियों के धारण करनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **गिरः**=स्तुतिवाणियों को प्रेरित करता हूँ **च**=और ३. उस **मेधिराय**=मेधावी व मेधा के देनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **सुवृक्ति**=शोभनतया पापों का वर्जन करनेवाली **विश्वमिन्वम्**=विश्वव्यापक, सर्वत्र फैल जानेवाली हवि को प्राप्त करता हूँ। यज्ञों में हवि देकर यज्ञशेष का ही मैं सेवन करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए 'स्तोमों का उच्चारण व हवि प्रदान करना' प्रमुख साधन हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वाणी के साथ स्तोत्रों का वर्गीकरण

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥५॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही **श्रवस्या**=ज्ञान व यश की प्राप्ति के हेतु से **अर्कम्**=स्तोत्र को **जुह्वा**=आह्वान-साधन वागिन्द्रिय से **समञ्जे**=समक्त करता हूँ—मिला देता हूँ। उसी प्रकार मिला देता हूँ **इव**=जैसे कि **श्रवस्या**=अन्न-प्राप्ति की कामना से जानेवाला **सप्तिम्**=घोड़े को रथ में जोड़ता है। मेरी वाणी प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है, मेरी वाणी के साथ स्तोत्रों का एकीकरण हो जाता है। मैं सदा स्तोत्रों का जाप करता हूँ और मेरा जीवन ज्ञान व यश से पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार वाणी से स्तोत्रों को युक्त करके मैं उस प्रभु के **वंदध्यै**=वन्दन के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ जो प्रभु **वीरम्**=वीर हैं, हमारे शत्रुओं का नाश करने में कुशल हैं, **दानौकसम्**=दान के तो घर ही हैं, हमें सब-कुछ देनेवाले हैं, **गूर्तश्रवसम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं और **पुराम्**=असुरों की तीन पुरियों के **दर्माणम्**=विदारण करनेवाले हैं। प्रभु-स्तवन से काम, क्रोध व लोभ ने जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि में अपने किले बनाये हैं, उनका भंग हो जाता है। इसलिए प्रभु को त्रिपुरारि कहा जाता है। इन असुरों के दुर्गों का भंग करके प्रभु हमारे इन मृत शरीरों का ही विदारण कर देते हैं। हमें फिर इन शरीरों के लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमारे जीवन को ज्ञानयुक्त व यशस्वी बनाता है। वे प्रभु अन्ततः हमें इस शरीर-बन्धन से ऊपर उठाते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

स्वपस्तम स्वर्य वज्र

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद्वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय।
वृत्रस्य चिद्विदद्येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥६॥

१. **त्वष्टा**=वह देवशिल्पी—सब दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाला प्रभु **अस्मै इत् उ**=इस जीव के लिए निश्चय से ही **स्वपस्तमम्**=अत्यन्त शोभन कर्मोंवाले **स्वर्यम्**=(सु अर्य) वासनारूप शत्रुओं पर उत्तम आक्रमण करनेवाले, स्तुत्य व (स्वर् य) स्वर्गप्रद—सुखमय स्थिति को देनेवाले **वज्रम्**=काम-क्रोधादि के वर्जक आयुध को **तक्षत्**=बनाता है। २. इस आयुध को क्यों बनाता है? **रणाय**=अन्तःकरण में चलनेवाले देवासुर-संग्राम के लिए। दैवी वृत्ति व आसुरी वृत्तियों में चल रहे संग्राम में विजय के लिए अथवा रमणीयता के लिए—आसुरवृत्ति के पराजय के द्वारा जीवन को सुन्दर बनाने के लिए। ३. उस

वज्र को बनाता है **तुजता येन**=शत्रुओं की हिंसा करते हुए जिस वज्र से **तुजन्**=शत्रु का संहार करता हुआ **ईशानः**=ऐश्वर्यवान् तथा **कियेधाः**=(क्रियमाणधाः—निरु०) आक्रमण करते हुए शत्रुबल को धारण करने-(रोकने)-वाला यह जीव **वृत्रस्य**=ज्ञान के आवरणभूत कामात्मतारूप शत्रु के **मर्मचित्**=मर्मस्थल को ही **विदत्**=प्राप्त करता है अर्थात् मर्मस्थल पर चोट करनेवाला होता है। इस वृत्र को समाप्त करके ही इन्द्र अपने राज्य को स्वर्ग का राज्य बना पाता है। इस प्रकार यह वज्र सचमुच 'स्वर्य' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें कर्मशीलतारूप वज्र दिया है। हम इससे वासना को विनष्ट करके जीवन को स्वर्ग बनाएँ।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

(वज्र से) वराह का वेधन

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥७॥

१. **अस्य मातुः इत्**=गत मन्त्र के अनुसार इस वज्र का निर्माण करनेवाले प्रभु के ही **सवनेषु**=उत्पादन के निमित्त—प्रभु के प्रकाश को अपने हृदय में देखने के उद्देश्य से **सद्यः**=शीघ्र ही **महः पितुम्**=(महस् Power) तेजस्विता के रक्षक सोम को **पपिवान्**=अपने अन्दर ही पीने का प्रयत्न करता है। इस शरीर में ही सुरक्षित किया हुआ यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और यह दीप्त ज्ञानाग्नि हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। २. **विष्णुः**=व्यापक उन्नति करनेवाला जीव 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नति करता हुआ और इस प्रकार तीन पग रखता हुआ यह 'त्रिविक्रम' जीव **चारु अन्ना**=सुन्दर सात्त्विक अन्नों से **पचतम्**=परिपक्व वीर्यरूप धन का **मुषायत्**=अपहरण करता हुआ **सहीयान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का अतिशयेन पराभूत करनेवाला होता है। प्रभु ने अन्नों में वीर्य को छिपाकर रखा है। इन अन्नों से आँतें रस को लेती हैं, उस रस के परिपाक से रुधिर, उसके परिपाक से मांस, इसी प्रकार उस-उस धातु का परिपाक होते हुए मेदस्, अस्थि, मज्जा व अन्त में वीर्य बनता है। यह वीर्य पूर्ण परिपक्व धातु है। इसे यहाँ 'पचतं' परिपक्व धन कहा गया है। व्यापक उन्नति का इच्छुक जीव इसे सुन्दर अन्नों में से मानो चुराने का प्रयत्न करता है और वीर्यवान् बनकर शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। ३. यह **वराहं विध्यत्**=वराह का वेधन करता है। निघण्टु [१।१०] में वराह का अर्थ मेघ किया है। मेघ सूर्य को आवृत करके प्रकाश को विलुप्त करता है, इसी प्रकार अध्यात्म में वासना ज्ञान को आवृत करती है और इसी कारण उसका नाम 'वृत्र' पड़ गया है। मेघ के नामों में भी यह वृत्र शब्द आया है, एवं वराह व वृत्र पर्याय हैं। विष्णु बनने के लिए इस वृत्र व वराह का वेधन आवश्यक है। ४. वृत्र व वराह का वेधन करके यह विष्णु **अद्रिम्**=अविद्या के पर्वत को **तिरः अस्ता**=(तिरस् Across, beyond, over) सुदूर, सात समुद्र पार के प्रदेश में फेंकनेवाला होता है, अर्थात् अपनी अविद्या को दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रकाश के निमित्त सोम का पान आवश्यक है। सात्त्विक अन्नों के सेवन से हमें सोम का उत्पादन करना है। इस सोम को अपने में सुरक्षित करके हम ज्ञान की आवरणभूत वासना को निरुद्ध करके नष्ट करें और अविद्या-पर्वत को उखाड़ फेंकें।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

ग्नाः देवपत्नी व अहिहत्या

अ॒स्मा इदु॒ ग्नाश्चि॑द्दे॒वप॑त्नी॒रिन्द्रा॑या॒र्कम॑हि॒हत्य॒ ऊवुः ।
परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी ज॑भ्र उ॒र्वी नास्य॒ ते म॑हि॒मानं॒ परि॑ ष्टः ॥८॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस शत्रुओं का संहार करनेवाले इन्द्र के लिए ही **अहिहत्ये**=(आहन्ति इति अहिः) निरन्तर आघात करनेवाले कामरूप शत्रु के विनाश के निमित्त **देवपत्नीः**=दिव्य गुणों का रक्षण करनेवाली **ग्नाः चित्**=छन्दोरूप वेदवाणियाँ (ग्नाः=वाङ्नाम—१।११, छन्दांसि वै ग्नाः, छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति—शत० ५।५।५।७) **अर्कम्**=स्तोत्र को **ऊवुः**=सन्तत करती हैं। सब वेदवाणियाँ प्रभु के गुणों का प्रतिपादन करती हैं। ये दिव्य वाणियाँ मुझमें दिव्य गुणों को रक्षित करनेवाली होती हैं और मुझे स्वर्गमय लोक में पहुँचाती हैं। मैं इन वाणियों से प्रभु का स्तवन करता हूँ। २. वह प्रभु **उर्वी द्यावापृथिवी**=इन विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक को **परिजभ्रे**=सब प्रकार से वशीभूत कर लेता है (हृ win over) अथवा सब ओर ले-जाता है (to lead)। ब्रह्माण्ड में सारी गति उस प्रभु के ही कारण से तो है—**'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'**। ३. **ते**=वे द्यावापृथिवी **अस्य महिमानम्**=इस प्रभु की महिमा को **न परि स्तः**=चारों ओर से व्याप्त नहीं कर सकते। प्रभु की महिमा अनन्त है, ये द्यावापृथिवी प्रभु के एक देश में ही समाये हुए हैं—**'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'**।

भावार्थ—हम छन्दोरूप वेदवाणियों से प्रभु का स्तवन करते हैं और वासना को विनष्ट करने की शक्ति का लाभ करते हैं। वे प्रभु द्यावापृथिवी को गति दे रहे हैं और ये द्यावापृथिवी प्रभु के एक देश में हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

वह 'अमत्र' प्रभु

अ॒स्येदे॒व प्र रि॑रिचे महि॒त्वं दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः पर्य॒न्तरि॑क्षात् ।
स्व॒राळिन्द्रो॒ दम॒ आ वि॒श्वगू॑र्तः स्व॒रिरम॑त्रो ववक्षे॒ रणा॑य ॥९॥

१. **अस्य इत् एव**=इस परमात्मा की ही **महित्वम्**=महिमा **दिवः**=द्युलोक से **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक से **प्ररिरिचे**=अतिरिक्त है, बढ़ी हुई है, **अन्तरिक्षात् परि**=अन्तरिक्ष से भी इसकी महिमा ऊपर है। वह प्रभु इन तीनों लोकों से व्याप्त नहीं किया जा सकता। २. **दमे**=दमन करने के विषय में वह **इन्द्रः**=शक्तिशाली कार्यों को करनेवाला प्रभु **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान है। अपना शासन स्वयं करता हुआ वह औरों का शासन करता है। ३. **विश्वगूर्तः**=अपने सब कार्यों के करने में सदा उद्यत है (गुदी उद्यमने)। **स्वरिः**=शत्रुओं पर उत्तमता से आक्रमण करनेवाला है। **अमत्रः**=गति के द्वारा सबका त्राण करनेवाला है (अम+त्र), अथवा अमात्र (अ+मात्र) इयत्ता से रहित है, सीमा में नहीं आता। ४. ये प्रभु **रणाय**=युद्ध के लिए अथवा रमणीयता के सम्पादन के लिए **आववक्षे**=सब प्रकार से शक्तिशाली होते हैं। इस प्रभु की शक्ति से ही वस्तुतः शक्तिसम्पन्न बनकर हम युद्धों में विजयी होते हैं और जीवनों को रमणीय बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा इन लोकों से अतीत है। वे प्रभु ही हमें शक्ति देते हैं और हमें युद्धों में विजयी कराते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

अवनि-मोचन

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद्वज्रेण वृत्रमिन्द्रः ।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः ॥१०॥

१. **अस्य इत् एव**=इस परमात्मा के ही **शवसा**=बल से **शुषन्तम्**=सूखते हुए **वृत्रम्**=वासनात्मक भाव को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **विवृश्चत्**=विशेष करके काट डालता है, नष्ट कर देता है । जीव की अपनी शक्ति नहीं कि वह वासना को विनष्ट कर सके । जीव प्रभु का स्मरण करता है और इस नाम-स्मरण से वासना सूख जाती है । महादेव के सामने कामदेव की शक्ति मन्द हो जाती है । मन्दशक्ति कामदेव को जीव क्रियाशीलता के द्वारा नष्ट किया करता है । कामदेव को मारते तो प्रभु हैं, मरते हुए कामदेव के माथे पर जीव भी क्रियाशीलतारूप वज्र का प्रहार कर देता है । २. वृत्र के विनाश के द्वारा **गाः न व्राणाः**=वाड़े में घिरी हुई गौओं के समान अर्थात् जैसे वाड़े को खोलकर गौओं को स्वतन्त्रता प्राप्त कराई जाती है उसी प्रकार **व्राणाः अवनीः**=वासना से आवृत रक्षण-हेतुभूत वीर्य-शक्तियों को **अमुञ्चत्**=इस वासना के घेरे से मुक्त करता है अर्थात् इन वीर्यकणों को वासना का शिकार नहीं होने देता । ३. **दावने**=अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करनेवाले के लिए **सचेताः**=सदा सचेत हुए-हुए प्रभु **श्रवः अभि**=उसे ज्ञान के प्रति ले-चलते हैं । जो भी व्यक्ति वृत्र के विदारण के लिए दृढ़निश्चयी होता है, वह प्रभुभक्त बनता है, प्रभु को पुकारता है । प्रभु इस समर्पक को सदा रक्षित करते हैं और ज्ञानाभिमुख ले-चलते हैं ।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी वासना का विनाश करते हैं और हमें ज्ञान की ओर ले-चलते हैं ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

सरस्वती का पुनः प्रवाह

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद्वज्रेण सीमयच्छत् ।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन्तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥११॥

१. **यत्**=जब **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **सीम्**=निश्चय से **परि अयच्छत्**=वृत्र-रूप वासना को पूर्णरूप से काबू कर लेता है तो **अस्य इत् उ**=इस प्रभु की ही **त्वेषसा**=ज्ञानदीप्ति से **सिन्धवः**=ज्ञानप्रवाह **रन्त**=फिर से रमण करने लगते हैं । प्रभु 'ब्रह्मा' हैं, ज्ञान उनकी पत्नी 'सरस्वती' के रूप में है । पुत्र को पिता से जैसे सम्पत्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार उस ब्रह्म से जीव को ज्ञान प्राप्त होता है । जीव में भी सरस्वती की एक धारा बहने लगती है । यह धारा वासना के सन्ताप की प्रबलता में सूख जाती है । वासना नष्ट हुई और यह प्रवाह फिर से बहने लगा । २. इस ज्ञानप्रवाह के बहने से मनुष्य इन्द्रियों को वशीभूत करने के लिए प्रवृत्त होता है । वह विषयों का दास नहीं बना रहता । इस प्रकार प्रभु इस भक्त को **ईशानकृत्**=ईशान बना देते हैं और **दाशुषे**=इस दाश्वान्=भोगासक्त न होकर देने की वृत्तिवाले के लिए **दशस्यन्**=प्रभु सब-कुछ देते हैं । प्रभुकृपा से दाश्वान् को किसी बात की कमी नहीं होती । ३. वे **तुर्वणिः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले व शत्रुओं के संहारक प्रभु **तुर्वीतये**=कामादि शत्रुओं पर विजय पानेवाले व्यक्ति के लिए **गाधं कः**=प्रतिष्ठा (गाधृ प्रतिष्ठायाम्) को करते हैं । इस तुर्वीति का जीवन अप्रतिष्ठ—निराधार नहीं रहता, अथवा प्रभु तुर्वीति के लिए **गाधं कः**=नदी-जल को

अगाध नहीं रहने देते। इसके लिए प्रभु वासना-सरित् को उथला कर देते हैं ताकि यह उसे सुगमता से पार कर सके।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हममें ज्ञानप्रवाह जोकि शुष्ण=वासना के कारण शुष्क हो गये थे, फिर से चलने लगते हैं। हम ईशान व दाश्वान् बनते हैं। प्रभु हमारे लिए वासना-सरित् की गहराई को दूर कर देते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

गो-पर्व-विदारण

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥१२॥

१. हे परमात्मन्! **तूतुजानः**=शीघ्रता से कार्यों को करते हुए अथवा शत्रुओं का संहार करते हुए **ईशानः**=सबका शासन करनेवाले **कियेधाः**=कियत् प्रमाण अनिर्वचनीय बल को धारण करनेवाले अथवा क्रममाण शत्रुओं को रोकनेवाले आप **अस्मै वृत्राय**=इस ज्ञान के आवरणभूत वासनारूप शत्रु के लिए **इत् उ**=निश्चय से **वज्रम्**=वज्र को **प्रभर**=प्रहृत कीजिए। वृत्र को वज्रप्रहार से नष्ट करके इस भक्त के जीवन को प्रकाशमय बनाइए। २. **गोः न पर्व**=गो=पृथिवी के पर्वों की भाँति वेदवाणी के पर्वों को **विरदा**=विश्लिष्ट करनेवाले होओ। एक-एक शब्द को विच्छिन्न करके—उसका निर्वचन करके **तिरश्चा**=(तिरः=अञ्चति) छिपकर अन्दर गति करनेंवाले **अर्णांसि**=ज्ञानजलों को **इष्यन्**=प्राप्त कराते हुए आप **अपां चरध्यै**=सरस्वती नदी के ज्ञानजलों के चरण के लिए हों। वासना के कारण सरस्वती नदी का जो प्रवाह सूख गया था, वह वासनात्मक वृत्र के विनाश के द्वारा फिर से प्रवाहित होने लगे। आप हमें ऐसी शक्ति प्राप्त कराइए कि हम एक-एक शब्द के अन्दर निहित भाव को उसके विश्लेषण से देखनेवाले बनें। शब्दों की व्युत्पत्ति को समझें और ज्ञान में व्युत्पन्न हो सकें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी वासना नष्ट हो और हम शब्दों के विश्लेषण के साथ अपने ज्ञान को उज्ज्वल कर सकें।

नोट—यहाँ **'गोर्न पर्व विरदा'**—इस वाक्य से गौओं के पर्वों के विदारण का शब्दशः अर्थ लेकर पाश्चात्यों को आर्यों के गोमांस-भक्षण का सन्देह हो गया। वस्तुतः यहाँ वाणी के विश्लेषण से ज्ञानवृद्धि का संकेत है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

आयुधों की प्राप्ति

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥१३॥

१. **अस्य**=इस **तुरस्य**=(त्वर्) शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले अथवा (तुर्वी) शत्रु-संहारक **नव्यः**=स्तुति के योग्य प्रभु के **पूर्व्याणि**=जीव की पूर्णता के साधक **कर्माणि**=कार्यों को **इत् उ**=ही **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **प्रब्रूहि**=प्रतिपादन कर। २. **यत्**=चूंकि प्रभु ही **युधे**=युद्ध के लिए, वासनात्मक वृत्र के साथ संग्राम के लिए **आयुधानि**=क्रियाशीलता व ज्ञान आदि आयुधों को **इष्णानः**=प्राप्त कराते हुए **ऋघायमाणः**=शत्रुओं की हिंसा के हेतु से **शत्रून् निरिणाति**=शत्रुओं के अभिमुख जाते हैं। शत्रुओं

पर आक्रमण प्रभु ही करते हैं। हमारे लिए इनपर आक्रमण करते हुए वे प्रभु हमें विजयी बनाते हैं। प्रभु के ये शत्रु-संहारात्मक कर्म पूर्व्य हैं, हमारा पूरण करनेवाले हैं। इन कर्मों के स्तवन से हमें प्रेरणा मिलती है और हममें शक्ति का सञ्चार होता है। इन अध्यात्म-शत्रुओं के साथ युद्ध के लिए हम उत्साहित होते हैं और इन शत्रुओं को परास्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें कामादि शत्रुओं के साथ युद्ध के लिए ज्ञान व कर्मरूप अस्त्रों को प्राप्त कराते हैं। हमें इस युद्ध के लिए उत्साहयुक्त करते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु के शक्तिशाली गुणों का गायन

अ॒स्येदु॑ भि॒या गि॒रय॑श्च दृ॒ळ्हा द्यावा॑ च॒ भूमा॑ ज॒नुष॑स्तुजेते।
उपो॑ वे॒नस्य॒ जोगु॑वान ओ॒णिं स॒द्यो भु॑वद्वी॒र्या॑य नो॒धाः ॥१४॥

१. **अस्य इत् उ**=इस प्रभु के ही **भिया**=भय से **दृळ्हाः गिरयः**=ये अत्यन्त दृढ़ पर्वत **च**=और प्रभु से **जनुषः**=प्रादुर्भूत (निर्मित) हुए-हुए **द्यावा च भूमा**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **तुजेते**=काँप उठते हैं। इस अनन्तशक्ति प्रभु के भय से ही सम्पूर्ण संसार अपनी मर्यादा में चल रहा है—**'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥'** क्या अग्नि और क्या सूर्य, क्या इन्द्र व क्या वायु और मृत्यु भी इसी के भय से अपना-अपना कार्य करते हैं। २. **नोधाः**=(नवधाः) स्तुति को धारण करनेवाला अथवा इन्द्रियनवक को धारण करनेवाला [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, वाणी के दोनों ओर होने से कुल नौ] **वेनस्य**=उस मेधावी, कान्त प्रभु के **ओणिम्**=शत्रुओं के अपनयन, दूरीकरणरूप कार्य को **जोगुवानः**=अनेक सूक्तों से गाता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **वीर्याय उप उ भुवत्**=शक्ति के लिए समीप ही होता है। प्रभु के शक्तिशाली कर्मों के गायन से इसे भी शक्ति प्राप्त होती है। शक्तिशाली का उपासक शक्तिशाली क्यों न बनेगा? शक्तिसम्पन्न होकर यह पर्वततुल्य विघ्नों का भी विदारण करनेवाला होता है और विरोध में उपस्थित सारे संसार को भी कम्पित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के शक्तिशाली कर्मों का गायन करते हुए हम भी शक्तिसम्पन्न हों और पर्वतों व सम्पूर्ण संसार को भी कम्पित करके आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ईश्वरप्रणिधान व सूर्य से स्पर्धा

अ॒स्मा इदु॒ त्यद॑नु॑ दाय्येषा॒मेको॒ यद्व॒व्ने भूरे॒रीशा॑नः।
प्रैत॑शं॒ सूर्ये॑ पस्पृधा॒नं सौव॑श्व्ये॒ सुष्वि॑माव॒दिन्द्रः॑ ॥१५॥

१. **यत्**=चूँकि **एकः**=वह प्रभु अकेले ही **वव्ने**=(वन्=to win) इन सब सम्पत्तियों को जीतते हैं और वे ही **भूरेः**=हमारा पालन-पोषण करनेवाली सम्पत्ति के भी (भृ—धारणपोषण) **ईशानः**=ईशान हैं—**'अहं धनानि संजयामि शश्वतः'**, इसलिए **एषाम्**=इन (गत मन्त्रों में वर्णित) नोधा नामक भक्तों का **त्यत्**=वह-वह कर्म **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही **अनुदायि**=दिया जाता है अर्थात् प्रभु के अर्पण किया जाता है। वेदों का सार यही है कि **'कुरु कर्म'** कर्म कर और **'त्यजेति च'** उसे प्रभु के लिए त्यागता चल। प्रभु की शक्ति से होते हुए इन कर्मों का गर्व करना ठीक भी तो नहीं। यह ईश्वरार्पण ही 'ईश्वरप्रणिधान' है। २. जब हम इस प्रकार ईश्वरार्पण करते हैं तो **इन्द्रः**=वे प्रभु **प्र आवत्**=प्रकर्षेण

हमारी रक्षा करते हैं। जो हम (क) **एतशम्**=(एति श्यति) गतिशील बनते हैं और गतिशीलता के द्वारा मलों को क्षीण करते हैं, (ख) जो हम **सौवश्व्ये**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होने में **सूर्यं पस्पृधानम्**=सूर्य में/से स्पर्धा करते हैं। सूर्य सप्ताश्व है, हम भी **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखों व मुखरूप सात अश्वोंवाले हैं। ये सात ही सप्तर्षि कहलाते हैं। इन सप्तर्षियों को क्रियाशील व निर्मल बनाना ही सूर्य के सात अश्वों से स्पर्धा करना है। सूर्य के सप्ताश्व जैसे चमकते हैं, उसी प्रकार ये सात इन्द्रियाँ भी चमकें। 'सूर्य की सात प्रकार की किरणों से इन सात इन्द्रियों की चमक अधिक हो'—यही सूर्य से स्पर्धा करना है; (ग) इस स्पर्धा में विजयी होने के लिए हम **सुष्विम्**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करते हैं (षु=अभिषव)। इस सोम का रक्षण ही हमारी इन्द्रियों को सबल बनाता है और हम चमक में सूर्य की स्पर्धा करने के योग्य होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाला अपने को दीप्त बनाता है, दीप्ति में सूर्य के साथ स्पर्धा करनेवाला होता है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

विश्वपेशस् धी (संसार को सुन्दर बनानेवाली प्रज्ञा)

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥१६॥

१. हे **हारियोजन**=हमारे शरीररूप रथ में इन्द्रियाश्वों को जोड़नेवाले और इस प्रकार हमें जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए सक्षम बनानेवाले तथा **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **गोतमासः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष **ते एव**=आपके ही **सुवृक्ति**=उत्तमता से दोषों का वर्जन करनेवाले अथवा आपके आवर्जक अर्थात् आपकी कृपादृष्टि को प्राप्त करनेवाले **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **अक्रन्**=करते हैं। आपका स्तवन हमारे दोषों को दूर करता है और हमें आपकी कृपादृष्टि प्राप्त कराता है। २. हे प्रभो! **एषु**=आप इन प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषों में **विश्वपेशसम्**=संसार को सुन्दर बनानेवाली **धियम्**=प्रज्ञा को **आधाः** स्थापित करिए। हमें उत्तम बुद्धि प्राप्त हो और उस बुद्धि से हम संसार को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। ३. हे प्रभो! आपकी कृपा से **प्रातः मक्षु**=प्रातः शीघ्र ही **धियावसुः**=प्रज्ञापूर्वक कर्म के द्वारा उत्तम निवासवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो, अर्थात् हमें इन पुरुषों का सत्सङ्ग मिले और हम धियावसु बन पाएँ।

भावार्थ – हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें वह बुद्धि दे जोकि हमें संसार को सुन्दर बनाने में समर्थ करे तथा प्रभुकृपा से हमें धियावसु पुरुषों का संग प्राप्त हो।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि हम स्तुति व हवि के द्वारा प्रभु का परिचरण करें (१)। हम प्रभुप्राप्ति के लिए 'हृदय, मन व बुद्धि' तीनों का समन्वय करें (२)। स्तवन, उत्तम वचन व पापवर्जन हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाएँ (३)। स्तोम व हवि ही तो हमें प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाते हैं (४)। वाणी के साथ स्तोत्रों का एकीकरण हो जाने पर प्रभु हमें शरीर-बन्धन से ऊपर उठाते हैं (५)। प्रभु हमें उत्तम कर्मशीलतारूप वज्र प्राप्त कराते हैं (६)। इस वज्र से हमें ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करना है (७)। इसी उद्देश्य से हम प्रभुस्तवन द्वारा शक्तिलाभ करते हैं (८)। वे प्रभु ही शक्ति देकर हमें युद्ध में विजयी करते हैं (९)। वास्तव में प्रभु ही हमारी वासना का विनाश करते हैं (१०)। प्रभुकृपा से ही वासना के विनाश से हममें पुनः सरस्वती का प्रवाह बहने लगता

है (११)। हम वाणी का विश्लेषण करते हुए अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं (१२)। वासनाओं से युद्ध के लिए हमें कर्म व ज्ञानरूप अस्त्र प्राप्त होते हैं (१३)। प्रभु के पराक्रमपूर्ण कर्मों का गायन करके हम भी शक्ति-सम्पन्न हों (१४)। दीप्ति में हम सूर्य के साथ स्पर्धा करनेवाले हों (१५) और विश्वपेशस् धी को धारण करें (१६)। 'प्रभु का ही स्तवन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

॥ इति प्रथमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

स्तवन से शक्ति व माधुर्य की प्राप्ति

प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे अङ्गिरस्वत्।
सुवृक्तिभिः स्तुवत ऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय ॥१॥

१. **शवसानाय**=शक्तियुक्त कार्यों को करनेवाले **गिर्वणसे**=वेदवाणियों से संभजनीय प्रभु के लिए **आंगूषम्**=स्तोत्र का **प्रमन्महे**=प्रकर्षेण मनन करते हैं, जो स्तोत्र **शूषम्**=शत्रुशोषक बल को प्राप्त करानेवाला है और **आङ्गिरसवत्**—हमारे एक-एक अङ्ग को रसमय बनानेवाला है। प्रभु के स्तवन से शक्ति व माधुर्य प्राप्त होता है। २. **सुवृक्तिभिः**=उत्तमता से दोषों के वर्जन के हेतु से **स्तुवते**=स्तूयमान, **ऋग्मियाय**=ऋचाओं से अर्चनीय [**'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**] **नरे विश्रुताय**=नरों में जिसकी वाणी सुनाई पड़ती है, उस प्रभु के लिए **अर्कम्**=स्तुतिमन्त्र का **अर्चाम्**=उच्चारण करते हुए पूजन करें। ३. नरों में ही प्रभुवाणी सुनाई पड़ती है। हृदयस्थरूपेण प्रभु हमें बुरे कर्मों में सन्नद्ध देखकर 'भय, शंका व लज्जा' के भाव को उत्पन्न करते हैं और अच्छे कामों में लगने पर आनन्द और उत्साह प्राप्त कराते हैं। इस प्रभु की वाणी ही इन लोगों के लिए धर्मज्ञान का मुख्य साधन होती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमें 'शक्ति व माधुर्य' देता है। इस स्तवन से ही हमारे पाप दूर होते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदार्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

आङ्गूष्य साम

प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥२॥

१. **वः**=तुम सब **महे**=उस महान् प्रभु के लिए **महि नमः**=महनीय नमन **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण धारण करो। जितना-जितना उस महान् प्रभु के प्रति हम नमन धारण करते हैं, उतना-उतना ही हमारा जीवन महनीय बनता है। २. **शवसानाय**=शक्ति के पुञ्ज उस प्रभु के लिए **आंगूष्यम्**=(आघोषयोग्यम्) ऊँचे उच्चारण के योग्य **साम**=स्तोत्र व स्तवन को धारण करो। वस्तुतः उस शक्तिशाली प्रभु का स्तवन हमें भी शक्तिशाली बनाता है। यह साम वह है **येन**=जिससे **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले—न्यूनताओं को सदा दूर करनेवाले **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगनेवाले **पदज्ञाः**=मार्ग को जाननेवाले

अर्चन्तः=प्रभु की पूजा करते हुए और इस प्रकार **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चारवाले लोग **गाः**=ज्ञान की रश्मियों या वाणियों को **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। स्तवन के द्वारा मनुष्य हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता है। प्रभु के उपासक का चित्रण 'पूर्वे, पितरः, पदज्ञाः, अर्चन्तः व आंगिरसः' इन शब्दों से हो रहा है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें। ये स्तोत्र हमें न्यूनताओं को दूर करने में सहायक होंगे और हमारे जीवन को महनीय बनाएँगे।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

बुद्धि का स्वाध्यायरूपी भोजन

इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ विदत्सरमा तनयाय धासिम्।
बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः समुस्रियाभिर्वावशन्त नरः ॥३॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **च**=और अतएव **अङ्गिरसाम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस-सञ्चार-वाले पुरुषों के **इष्टौ**=प्रभुपूजन के होने पर **सरमा**=(स+रमा) आत्मा के साथ रमण करनेवाली बुद्धि, आत्मारूपी रथी के साथ सारथिरूपेण रहनेवाली बुद्धि **तनयाय**=अपने विस्तार के लिए (तनु विस्तारे) **धासिम्**=भोजन को **विदत्**=प्राप्त करती है। नवीन-नवीन ग्रन्थों का स्वाध्याय ही वह भोजन है जोकि बुद्धि का विस्तार करता है। २. स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि का विस्तार करनेवाला यह **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति **अद्रिम्**=अज्ञान के पर्वत को **भिनत्**=विदीर्ण करता है। अज्ञान-पर्वत को विदीर्ण करके **गाः विदत्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है। ३. **नरः**=(नृ नये) ये नर लोग—अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले लोग **उस्रियाभिः**=प्रकाश की किरणों के निमित्त **संवावशन्त**—(वाशृ शब्दे) प्रभु की स्तुतियों का उच्चारण करते हैं अथवा 'वश कान्तौ' प्रभुस्तुति की कामना करते हैं। ४. बुद्धि के परि-पोषण के लिए आवश्यक है कि हम (क) जितेन्द्रिय बनें [इन्द्रस्य), (ख) अङ्गों को रसमय बना दें अर्थात् यथासम्भव स्वस्थ हों, (ग) प्रभुपूजन की वृत्तिवाले हों [इष्टौ], (घ) बुद्धि को स्वाध्यायरूप भोजन अवश्य प्राप्त कराएँ [धासिम्]।

भावार्थ—हम नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि को उचित भोजन प्राप्त कराएँ और इस प्रकार बुद्धि का ठीक परिपोषण करें।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अविद्या-पर्वत-विदारण

स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो३ नवग्वैः।
सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः ॥४॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता **शक्र**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले जीव! **सः**=वह तू **अद्रिम्**=अविद्या के पर्वत को, जिसका कि विदारण बड़ा कठिन है (अ+दृ), **वलम्**=जो ज्ञान पर एक आवरण के रूप में है, **फलिगम्**=(फल्गुम्) जो असत्य है, साररहित है, उसे **दरयः**=तू विदीर्ण करता है। २. अविद्यापर्वत को तू नष्ट करता है, अतएव **स्वर्यः**=(स्वः याति) सुख व प्रकाशमय स्थिति को प्राप्त करनेवाला होता है। अविद्या ही सम्पूर्ण क्लेशों का मूल है **'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्'**। अविद्या के नाश से क्लेशों का नाश होता है और सुखमय स्थिति प्राप्त होती है—यही है 'स्वर्य' बनना। ३. पर यह

अविद्या का विदारण होता कैसे है ? (क) **सुष्टुभा**=उत्तम स्तोत्र से, प्रभु के स्तोत्रों का उत्तमता से उच्चारण करने से, (ख) स्तुभा=(Stop) काम, क्रोध, लोभ को रोकने के प्रयत्न से, (ग) **सप्त**=सात **विप्रैः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्राणों से; प्राणसाधना के द्वारा शरीर नीरोग बनता है, मन निर्मल होता है और बुद्धि तीव्र होती है, एवं ये प्राण हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले 'विप्र' हैं। (घ) **स्वरेण**=(स्वृ शब्दोपतापयोः) प्रभु के गुणवाचक शब्दों के उच्चारण से अथवा अपने को तप की अग्नि में तपाने से (ङ) **नवग्वैः**=नव दशक पर्यन्त अर्थात् ९० वर्ष तक जानेवाली **दशग्वैः**=दशम दशक तक स्वस्थ-रूप से चलनेवाली **सरण्युभिः**=(स र=गति, ण=ज्ञान Knowledge) गति व ज्ञान में उत्तम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों से तथा **रवेण**=प्रभु-नामोच्चारण से अथवा आत्मप्रेरणा करने से तू अज्ञान के पर्वत का विदारण करता है। अथवा रवेण=ऊँचे शब्द से अर्थात् ऊँचे-ऊँचे अपने को यह कहने से कि 'मुझे अवश्य ही अविद्यापर्वत का विलय करना है'—यह आत्मप्रेरणा भी मनुष्य को शक्तिशाली बनाती है।

भावार्थ—अविद्या के पर्वत के विदारण में 'स्तुति, वासना-विलयार्थ प्रयत्न, प्राणसाधना, तप, प्रभु-नामोच्चारण, स्वस्थ इन्द्रियाँ तथा आत्मप्रेरणा' साधन हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदार्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अन्धकार-निरसन (उषसा, सूर्येण गोभिः)

गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः॥५॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय व (दसु उपक्षये) हमारे सब कष्टों को नष्ट करनेवाले प्रभो ! आप **अङ्गिरोभिः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले, पूर्ण स्वस्थ पुरुषों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए उनके **अन्धः**= अन्धकार को **विवः**=दूर करते हो (व्यवृणोः व्यनाशय—सा०)। किस प्रकार ? (क) **उषसा**=(उष दाहे) कामादि वासनाओं के दहन के द्वारा। ये वासनाएँ ही तो ज्ञान पर परदा डाले रखती हैं। (ख) **सूर्येण**= (सरति) निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा। प्रभु ने वेद में जीव को सतत क्रियाशीलता की प्रेरणा दी है। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'**, 'कर्मासि'। इस क्रियाशीलता से वासनाओं को पनपने का अवसर नहीं मिलता। २. **गोभिः**=ज्ञान की किरणों से अथवा उत्तम इन्द्रियों से अथवा गोदुग्ध के प्रयोग से। हृदयस्थ प्रभु ज्ञान-रश्मियों से हमारे अविद्या-अन्धकार को दूर करते हैं। उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके ज्ञानवृद्धि द्वारा वे हमें अन्धकार के छिन्न-भिन्न करने में सहायक होते हैं। गोदुग्ध हमारी बुद्धियों को सात्त्विक व सूक्ष्म बनाता है और इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ता है। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो ! आप ही **भूम्याः**= भूमि के **सानु**=समुच्छ्रित (उन्नत) प्रदेश को **वि अप्रथयः**=विशेष रूप से विस्तृत करते हैं। भूमि का उन्नत प्रदेश ही रहने योग्य होता है। निम्न भूभागों में सील आदि के कारण अस्वास्थ्य की आशंका रहती है। यह उन्नत प्रदेश इतना विस्तृत है कि हम बड़े प्रेम से भाई-भाई की भाँति उसपर खुले में रह सकते हैं। यह विचार हमें युद्धों से ऊपर क्यों न उठाएगा। ३. **दिवः**=द्युलोक में स्थित **रजः**=लोकसमूह को भी वे प्रभु ही विस्तृत करते हैं। ये अनन्त लोक-लोकान्तर कर्मानुसार हमारे निवासस्थान बनते हैं। ४. प्रभु ने ही **उपरम्**=मेघ को (उपलम्) **अस्तभाय**=अन्तरिक्ष में थामा है। यह द्युलोकस्थ सूर्य किरणों द्वारा भूमिस्थ जलों को ऊपर ले-जाकर अन्तरिक्ष में बादलरूप में करने की व्यवस्था प्रभु की सर्वमहती व्यवस्था है। इसपर ही हमारा जीवन निर्भर करता है, अन्यथा हमें एक गिलास जल के लिए समुद्र की ओर जाना

पड़ता। पानी तो बहकर समुद्र में जा ही रहा है, प्रभु ही उसे अन्तरिक्ष में ले-जाकर पुनः पर्वत-शिखरों पर बरसाते हैं। इस प्रकार हमारे लिए पानी सुलभ बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्धकार को दूर करते हैं, जीवन के लिए भी वे ही सब व्यवस्था करते हैं।

ऋषि—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मेघ-निर्माण

तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः।
उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्य१श्चतस्रः ॥६॥

१. गतमन्त्र में मेघ के अन्तरिक्ष में थामने का उल्लेख था। प्रभु के इस कार्य के विषय में ही कहते हैं कि **तत् उ**=वह ही **अस्य**=इस प्रभु का **प्रयक्षतमम्**=अत्यन्त आदर के योग्य **कर्म**=कार्य है। **दस्मस्य**=उस दर्शनीय व दुःखों को दूर करनेवाले प्रभु का यह मेघ-निर्माण ही **चारुतमम्**=सबसे सुन्दर **दंसः**=कार्य **अस्ति**=है। इस कर्म का महत्त्व गत मन्त्र में स्पष्ट है। २. इस कार्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **उपह्वरे**=(उपह्वरन्ति गच्छन्त्यस्मिन्) गन्तव्य अन्तरिक्ष प्रदेश में (**निष्क्रमणं प्रवेशनमिति आकाश-लिंगानि**), सब गतियाँ जिस देश में हो रही हैं, उस अन्तरिक्ष-प्रदेश में **यत्**=जो **उपराः**=मेघरूप **मध्वर्णसः**=मधुर जलवाली **चतस्रः**=चारों दिशाओं में होनेवाली, अतएव चार **नद्यः**=नदियों को **अपिन्वत्**=जल से परिपूर्ण किया। प्रभु ने अन्तरिक्ष में मेघों को स्थापित किया है। ये मेघ मधुर जल से पूर्ण चार नदियों के समान हैं। इनका जल सचमुच 'मधु'=अत्यन्त मधुर है, मधु के समान ही गुणकारी है। चारों दिशाओं में होनेवाले बादल यहाँ जल की चार नदियों के समान कहे गये हैं। अन्यथा चतस्रः का अर्थ चत्=to go से गतिवाली भी होता है। ये मेघ मधुर जलवाली गतिशील नदियों के समान हैं। ये नदियाँ सदा अन्तरिक्ष में इधर-उधर चलती रहती हैं।

भावार्थ—मेघ-निर्माण प्रभु का सर्वमहान् कार्य है। ये मेघ मधुर जल से परिपूर्ण गतिशील नदियों के समान हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

द्युलोक एवं पृथिवीलोक की स्थापना

द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः ॥७॥

१. **अयास्यः**=(Indefatigable) अनन्त शक्तिमत्ता के कारण कभी न थकनेवाला वह प्रभु **द्विता**=दो प्रकार से **विवव्रे**=विवृत करता है अर्थात् द्युलोक व पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् स्थापित करता है, जो द्युलोक व पृथिवीलोक **सनजा**=(नित्यजाते) सनातन काल से उत्पन्न हैं, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न होते हैं। **सनीळे**=ये दोनों सनीड़ हैं, समान प्रभुरूपी नीड़वाले हैं, दोनों ही प्रभु में स्थित हैं। इन लोकों के निर्माण में प्रभु थकते नहीं। थकावट शक्ति के विपरीत अनुपात में होती है। शक्ति एक तो थकावट सौ। शक्ति सौ तो थकावट एक। शक्ति दो सौ तो थकावट १/२ तथा शक्ति अनन्त तो थकावट १/अनन्त अर्थात् ० (शून्य)। एवं प्रभु की शक्ति अनन्त होने से थकावट शून्य होती है, इसलिए प्रभु 'अयास्य' हैं। २. प्रभु इनको **स्तवमानेभिः**=स्तुति करनेवाले, गुणधर्मों का प्रतिपादन करनेवाले **अर्कैः**=मन्त्रों से इनका निर्माण करते हैं अर्थात् मन्त्रात्मक शब्दों से ही प्रभु इस सृष्टि की रचना

करते हैं **'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'**। ग्रीक साहित्य में इसलिए Logos सृष्टि का मूल तत्त्व है। 'प्रभु ने कहा और सृष्टि हो गई' इस वाक्य में प्रभु की 'अयास्यता' स्पष्ट है। २. **भगः न**=जो भग के समान है, जो भग अर्थात् ऐश्वर्य का पुञ्ज ही है वह **सुदंसाः**=उत्तम कर्मोंवाला प्रभु **मेने**=मननीय, जिसमें स्थित एक-एक लोक में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है, उस **परमे व्योमन्**=परम उत्कृष्ट व्योम में (आकाश देश में) **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **अधारयत्**=धारण करता है। द्युलोक वह स्थान है जहाँ का मुख्य देवता सूर्य है, पृथिवीलोक का मुख्य देवता अग्नि है। प्रभु दोनों लोकों को 'परम व्योम' में स्थापित करते हैं। व्योम विस्तृत आकाश है। इस आकाश में ही सम्पूर्ण लोकों की स्थिति है।

भावार्थ—प्रभु बिना किसी थकावट के परम व्योम में द्युलोक व पृथिवीलोक का निर्माण व धारण करते हैं। प्रभु कहते हैं और लोक हो जाते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

दिन-रात का चक्र

सनादिवं परि भूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती स्वेभिरेवैः।
कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या॥८॥

१. **विरूपे**=परस्पर विपरीत रूपवाले अथवा विशिष्ट रूपवाले **पुनः भुवा**=प्रतिदिन फिर-फिर होनेवाले **युवती**=हमें अच्छाइयों से सम्पृक्त तथा बुराइयों से विपृक्त करनेवाले उषा व रात्रि **सनात्**=सनातनकाल से **दिवं भूमा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक में **स्वेभिः एवैः**=अपनी गतियों से **परिचरतः**=पर्यावृत होते रहते हैं। उषा आती है, दिन के रूप में परिवर्तित होकर, आगे बढ़ती हुई रात्रि के लिए स्थान ख़ाली कर देती है। रात्रि भी अपने यौवन से आगे बढ़कर वृद्ध होती है और उषा के लिए स्थान बनाकर चली जाती है। ये सृष्टि के आरम्भ से फिर-फिर आ ही रही हैं। ये कभी वृद्ध होकर समाप्त हो जाएँगी और आना बन्द कर देंगी—ऐसी बात नहीं है। ये युवती हैं। २. **कृष्णेभिः वपुर्भिः अक्ता**=अन्धकारमय अतएव कृष्ण शरीरों से रात्रि आती है तो **रुशद्भिः**=चमकते हुए प्रकाशमय शरीरों से **उषाः**=उषःकाल आता है। इस प्रकार ये रात्रि और उषा **अन्यान्या**=परस्पर व्यतिहारेण **आचरतः**=इस संसार में गतिवाली होती हैं। रात्रि जाती है तो उषा आती है और उषा जाती है तो रात्रि का आगमन होता है। यह दिन-रात का चक्र हमें शक्ति से युक्त तथा श्रान्ति से वियुक्त करने के लिए आवश्यक है। दिन कर्म के द्वारा हमारी शक्ति को बढ़ाता है तो रात्रि हमारी थकावट को दूर करके हमें फिर से शक्ति-सम्पन्न करती है।

भावार्थ—यह दिन-रात्रि का चक्र हमारी उन्नति के लिए अद्भुत महत्त्व रखता है, पर रात्रि उससे कम आवश्यक नहीं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदार्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अमृततुल्य दुग्ध

सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः सूनुर्दाधार शवसा सुदंसाः।
आमासु चिद्दधिषे पक्वमन्तः पयः कृष्णासु रुशद्रोहिणीषु॥९॥

१. **स्वपस्यमानः**=सदा (सु+अपस्) उत्तम, अद्भुत कर्मों को करता हुआ **सूनुः**=सदा उत्तम प्रेरणा देता हुआ **शवसा**=बल के कारण **सुदंसाः**=सदा उत्तम कर्मोंवाला प्रभु जीव की **सनेमि**=पुराण-

सनातन **सख्यम्**=मैत्री को **दाधार**=धारण करता है। प्रभु जीव के सनातन मित्र हैं, जीव के लिए अद्भुत सृष्टि-निर्माण आदि कर्मों को करनेवाले हैं। उसे उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। प्रभु के कर्म शक्तिशाली हैं। २. ये प्रभु **आमासु चित्**=अपरिपक्व आयुष्यवाली गौओं के **अन्तः**=अन्दर भी **पक्वं पयः**=पूर्ण परिपक्व दूध **दधिषे**=धारण करते हैं। गौ का ताज़ा दूध खूब गरम होता है। यह दूध अमृत ही होता है। ३. **कृष्णासु**=काले वर्णवाली गौओं में भी तथा **रोहिणीषु**=लाल रंग की गौओं में भी **रुशत् पयः**=चमकते हुए सफेद दूध को आप धारण कराते हैं। यह दूध स्वयं में प्रभु की एक विभूति है और जीव की सात्त्विकता के लिए यह दूध अनन्य साधन है।

भावार्थ—प्रभु जीव के पुराणमित्र हैं। उसके हित के लिए वे गौओं के अमृतदुग्ध को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

कर्म-व्यापृत अंगुलियाँ

सनात्सनीळा अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः।
पुरू सहस्रा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम् ॥१०॥

१. **सनात्**=सनातन काल से **सनीळाः**=एक ही हाथरूप आश्रय में रहनेवाली **अवाताः**=(वातः A faithless lover) जोकि एक अविश्वसनीय प्रेमी के समान नहीं हैं अर्थात् सदा विश्वसनीय रूप से साथ देनेवाली हैं अथवा (वायति to be dried up, to be extinguished) जिनकी शक्ति शुष्क नहीं हो जाती, जो बुझी हुई अग्नि के समान नहीं हो जातीं। **अमृताः**=जो कार्य करने में कभी मृत नहीं होतीं, सदा सजीव होकर कार्य में लगी रहती हैं, ऐसी **अवनीः**=ये अंगुलियाँ **सहोभिः**=अपनी शक्तियों से **व्रता रक्षन्ते**=व्रतों का रक्षण करती हैं। इन अंगुलियों का नाम 'दीधिति' भी है। ये 'धीयन्ते कर्मसु' कर्मों में नियुक्त की जाती हैं। अंगुलियाँ सदा व्रतों=पुण्य कार्यों में लगी रहती हैं, इसीलिए तो इनका नाम यहाँ 'अवनि'—रक्षा करनेवाली दिया गया है। क्रियाशीलता के द्वारा ये सदा रक्षण-कार्य में व्याप्त रहती हैं। २. ये **स्वसारः**=(स्वयं सरन्ति) सदा स्वयं कार्य में व्यापृत रहनेवाली अंगुलियाँ **अह्रयाणम्**=(अह्रीतयानम्) प्रशस्त गति व कर्मोंवाले पुरुष का उसी प्रकार **पुरु दुवस्यन्ति**=खूब उपासन करती हैं **न**=जैसेकि **सहस्रा**=सदा प्रसन्न रहनेवाली, Smiling face वाली **जनयः**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली **पत्नीः**=पत्नियाँ पतियों की सेवा करती हैं। पत्नी पति की पूरिका होती है। इसी प्रकार ये कर्मशील अंगुलियाँ हमारी पूरक हैं, हमारी न्यूनताओं को दूर कर ये हमारा रक्षण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हाथों में अंगुलियों की स्थापना इसलिए की है कि इनके द्वारा निरन्तर कार्य होते रहें और हमारे जीवन में किसी प्रकार की कमी न आये।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुरूप पति

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः।
पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः ॥११॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय तथा दुःखों व पापों का विध्वंस करनेवाले प्रभो! **सनायुवः**=सनातन आपकी कामना करनेवाले, अनित्य पदार्थों को छोड़कर नित्य आपकी प्राप्ति की कामनावाले **नव्यः**=

(नु स्तुतौ) स्तुति करनेवालों में उत्तम **वसूयवः**=वसुओं—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों की कामना करनेवाले **मतयः**=बुद्धिमान्, विचारशील पुरुष **नमसा**=नमन के द्वारा तथा **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों के द्वारा **दद्रुः**=निरन्तर आपकी ओर गतिवाले होते हैं। आपकी प्राप्ति से सब वसुओं की प्राप्ति हो ही जाती है। २. **उशतीः**=चाहती हुई **पत्नीः**=पत्नियाँ **उशन्तं पतिम्**=चाहते हुए पति को **न**=जैसे **स्पृशन्ति**=आलिंगन करती हैं, उसी प्रकार हे **शवसावन्**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो ! **मनीषाः**=बुद्धि की परिपूर्णतावाले पुरुष **त्वा**=आपका **स्पृशन्ति**=स्पर्श करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष पत्नी के स्थानापन्न होकर प्रभु को अपना पति जानते हैं। उन्हें प्रभु के उपासन में ही आनन्द आता है। ये 'आत्मक्रीड़, आत्मरति' बन जाते हैं। इनका मन प्रभु के उपासन में ही लगता है।

भावार्थ—विचारशील पुरुष प्रभु को ही अपना पति मानते हैं, उसकी ही वे उपासना करते हैं। प्रभु के आराधन से ही सब वसुओं की प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। प्रभु इनके लिए 'दस्म' सब दुःखों के हरनेवाले होते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

द्युमान् + क्रतुमान्

सनादेव तव रायो गभस्तौ न क्षीयन्ते नोप दस्यन्ति दस्म।
द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः ॥१२॥

१. हे **दस्म**=सर्वदुःख-क्षयकारक प्रभो ! **तव गभस्तौ**=आपके हाथ में **रायः**=धन **सनात् एव**=सनातनकाल से ही **न क्षीयन्ते**=नष्ट नहीं होते हैं और अपने भक्तों के लिए निरन्तर दिये जाते हुए ये धन **न उप दस्यन्ति**=क्षीण नहीं होते अथवा आपसे दिये गये ये धन नाश करनेवाले नहीं होते। प्रभु का धन अनन्त है, उसमें कमी आने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। साथ ही, प्रभु से दिये गये धन हमारा कभी नाश नहीं करते, वे हमारे अकल्याण के लिए नहीं होते। सुपथ से अर्जित धन प्रभु से दिये गये हैं तथा विपथ से सञ्चित धन कामदेव की देन हैं, ये धन तो मनुष्य को मारते ही हैं। २. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो ! **द्युमान् असि**=आप ज्योतिर्मय हैं, साथ ही **क्रतुमान्**=कर्मोंवाले हैं। आपमें ज्ञान व कर्म का सनातन समुच्चय है। वस्तुतः आप ही **धीरः**=बुद्धिमान् हैं। हे **शचीवः**=शक्तिसम्पन्न प्रभो ! **तव शचीभिः**=आप अपनी शक्ति व कर्मों से **नः**=हमें **शिक्ष**=शक्तिशाली बनाने की कामनावाले होओ।

भावार्थ—प्रभु का धन अक्षीण है। प्रभु ज्योति व कर्म के पुञ्ज हैं। वे धीर प्रभु हमें भी ज्योति व कर्मशीलता के द्वारा शक्ति सम्पन्न करें।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षी त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

नव्य ब्रह्म (नव-नव स्तवन)

सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय।
सुनीथाय नः शवसान नोधाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥१३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! **सनायते**=सनातन की भाँति आचरण करनेवाले अर्थात् शाश्वतकाल से चले आनेवाले **हरियोजनाय**=इन्द्रियरूप अश्वों को हमारे शरीर-रथ में जोड़नेवाले **सुनीथाय**=उत्तम मार्ग से ले-चलनेवाले आपके लिए **नोधाः**=इन इन्द्रियरूप नवद्वारों को धारण करनेवाला **गोतमः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **नव्यम्**=अतिशयेन स्तुति के लिए उत्तम **ब्रह्म**=स्तोत्र का **अतक्षत्**=निर्माण

करता है; 'नोधा गोतम' प्रतिदिन नवीन मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करता है। इससे अधिक-से-अधिक मन्त्रों का उसे स्मरण भी होता है और पुराणापन (Staleness) जाता रहता है। स्तुति में नवीनता व सरसता प्रतीत होती है। २. हे **शवसान**=बलवान् इन्द्र ! आप ऐसी कृपा करिए कि **नः**=हमें **प्रातः**=दिन के प्रारम्भ में ही **मक्षु**=शीघ्र **धियावसुः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों को करने के द्वारा निवास को उत्तम बनानेवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो। उत्तम पुरुषों के संग से ही तो हमारा जीवन उत्तम बन सकेगा।

भावार्थ—हम सदा नवीन-नवीन स्तोत्रों से प्रभु का स्तवन करें और हमें उत्तम पुरुषों का प्रातः-प्रातः ही संग प्राप्त हो।

विशेष - सूक्त के आरम्भ में कहा गया है कि स्तवन से शक्ति व माधुर्य की प्राप्ति होती है (१)। प्रभु के स्तोत्र हमारे जीवन की न्यूनताओं को दूर करते हैं (२)। नैत्यिक स्वाध्याय से हम बुद्धि का परिपोषण करें (३)। स्तुति आदि साधनों से अविद्या-पर्वत का विदारण करें (४)। प्रभुकृपा से हमारा अन्धकार दूर हो (५)। उस प्रभु ने हमारे जीवन के लिए मेघों की व्यवस्था की है (६), द्युलोक व पृथिवीलोक की स्थापना की है (७), दिन व रात के चक्र का निर्माण किया है (८)। प्रभ से बनाई गई गौएँ हमें अमृततुल्य दुग्ध देती हैं (९)। प्रभुकृपा से हमारी अंगुलियाँ कर्मव्यापृत रहकर हमारा रक्षण करें (१०)। प्रभु को ही हम अपना पति जानें (११)। वे प्रभु द्युमान् एवं ऋतुमान् हैं (१२)। हम प्रभु का स्तवन करें और प्रभुकृपा से हमें सज्जन-संग प्राप्त हो (१३)। 'ये प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का निर्माण करते हैं', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वे महान् शक्तिशाली प्रभु

त्वं म॒हाँ इ॑न्द्र॒ यो ह॒ शुष्मै॒र्द्यावा॑ जज्ञा॒नः पृ॑थि॒वी अमे॑ धाः।
यद्ध॑ ते॒ विश्वा॑ गि॒रय॑श्चि॒दभ्वा॑ भि॒या दृ॒ळ्हासः॑ कि॒रणा॒ नैज॑न् ॥१॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! **त्वम्**=आप ही **महान्**=पूजा के योग्य हैं। आपसे भिन्न की पूजा ही मनुष्यों के परस्पर द्वेष का कारण बन जाती है। आप वे हैं **यः**=जो **ह**=निश्चय से **शुष्मैः**=अपने शत्रु-शोषक बलों से **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **जज्ञानः**=प्रकट करते हैं और **अमे**=गति व शक्ति में **धाः**=धारण करते हैं। आप ही सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं और इन समस्त लोक-लोकान्तरों को गतिमय बनाते हो। इन लोकों की उस-उस शक्ति के कारण आप ही हो। २. **यत्**=जो भी **ह**=निश्चय से **विश्वा**=सब उत्पन्न हुए पदार्थ और **अभ्वा**=महान् **गिरयः चित्**=पर्वत भी हैं, वे **दृळ्हासः**=अत्यन्त दृढ़ होते हुए भी **ते भिया**=आपके भय से उसी प्रकार **एजन्**=कम्पित होते हैं **न**=जैसेकि **किरणाः**=किरणें कम्पित होती प्रतीत होती हैं। किरणों की भाँति पर्वतों में भी कम्पन होता है।

भावार्थ—प्रभु ही द्यावापृथिवी को दृढ़ बनाते हैं और प्रभु के भय से दृढ़-से-दृढ़ पर्वत भी काँप उठते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

निरन्तर क्रियाशीलता

आ यद्धरी इन्द्र विव्रता वेरा ते वज्रं जरिता बाह्वोर्धात् ।
येनाविहर्यतक्रतो अमित्रान्पुर इष्णासि पुरुहूत पूर्वीः ॥२॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! **यत्**=जो आप **विव्रता**=विविध व्रतोंवाले, भिन्न-भिन्न कार्यों को करनेवाले **हरी**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **आवेः**=शरीररूप रथ में युक्त करते हैं (रथे योजयसि—सा०) तब **ते**=आपका **जरिता**=स्तोता **बाह्वोः**=भुजाओं में **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूपी वज्र को **आधात्**=धारण करता है । प्रभु विविध क्रियाओं को करने के लिए इन्द्रियाँ देते हैं और जीव सच्चा प्रभुभक्त होता हुआ उन इन्द्रियों से सदा उचित कार्य को करनेवाला बनता है । २. स्तोता उस व्रत को धारण करता है **येन**=जिससे **अविहर्यतक्रतो**=अनभिलषित कर्मन्=अभिलाषा से शून्य कर्मोंवाले प्रभो ! आप **अमित्रान्**=शत्रुओं के प्रति **इष्णासि**=जाते हैं, उनपर आक्रमण करते हैं और हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे आप **पूर्वीः पुरः**=असुरों की बहुत-सी नगरियों को तोड़ने के लिए **इष्णासि**=प्रवृत्त होते हैं । प्रभु ने हमें इन्द्रियाँ दी हैं, यदि हम उनसे ज्ञानप्राप्ति व यज्ञादि कर्मों में लगे रहते हैं तो प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं और आसुरपुरियों का विध्वंस कर देते हैं । संक्षेप में अभिप्राय यह है कि यदि हमें आसुर भावनाओं के आक्रमण से बचना है तो हमें सदा ज्ञानप्राप्ति व यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना चाहिए । खाली हुए और असुरों का आक्रमण हुआ ।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीररथ में ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े जोते हैं, सो हम सदा इस रथ से आगे और आगे बढ़ें । आसुरभावों के आक्रमण से बचने का यही उपाय है ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

'शुष्ण' का हनन

त्वं सत्य इन्द्र धृष्णुरेतान्त्वमृभुक्षा नर्यस्त्वं षाट् ।
त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ यूने कुत्साय द्युमते सचाहन् ॥३॥

१. **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो ! शक्तिशाली कार्यों को करनेवाले प्रभो ! **त्वं सत्यः**=आप ही सत्य हो (सत्सु भवः) सज्जनों में आपका निवास है, **धृष्णुः**=इन सज्जनों के काम-क्रोधादि शत्रुओं का आप ही पराभव करनेवाले हैं, **ऋभुक्षाः**=आप महान् हैं अथवा ऋत—नियमितता, व्यवस्थित जीवन से चमकनेवालों में (ऋतेन भान्तीति ऋभवः, तेषु क्षियति) निवास करनेवाले हैं । **त्वम्**=आप ही **नर्यः**=नर-हितकारी हैं, अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवालों का आप ही हित करनेवाले हैं । **त्वम्**=आप ही **एतान्**=इन शत्रुओं का **षाट्**=पराभव करनेवाले हैं । २. पूर्वार्द्ध में कही बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **त्वम्**=आप ही **वृजने**=संग्राम में—काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले युद्ध में **पृक्षे**=जो युद्ध सम्पर्चनीय है, अन्ततः इस युद्ध करनेवाले को आपके साथ सम्पृक्त करनेवाला है तथा **आणौ**=(अण् to sound) जिस युद्ध में योद्धा आपके नामों का उच्चारण करते हैं (जैसेकि शिवाजी के योद्धा 'हर-हर महादेव' बोलकर युद्ध करते थे) । इस युद्ध में आप ही **यूने**=अपने साथ गुणों का मिश्रण व दोषों का अमिश्रण करनेवाले **कुत्साय**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले और अतएव **द्युमते**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले पुरुष के लिए **सचा**=उसके साथ मिलकर **शुष्णम्**=शोषण कर देनेवाले कामासुर को

अहन्=मारते हैं। काम-क्रोधादि का संहार वस्तुतः प्रभु की शक्ति से ही होता है। यह संग्राम तो है ही **'आणि'**=जिसमें प्रभु का निरन्तर नामोच्चारण हो। प्रभुस्मरण से 'कुत्स' को शक्ति मिलती है, वह उत्साहित होता है, प्रभु को अपने साथ जानकर वह शक्ति का अनुभव करता है और काम-क्रोधादि का संहार कर पाता है। यह क्या संहार करता है, संहार तो सब प्रभुकृपा से ही होता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वासना का प्रारम्भ में ही नाश [Nip the evil in the bud]

त्वं ह त्यदिन्द्र चोदीः सखा वृत्रं यद्वज्रिन्वृषकर्मन्नुभ्नाः।
यद्ध शूर वृषमणः पराचैर्वि दस्यूँर्योनावकृतो वृथाषाट् ॥४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सखा**=सच्चे मित्र होते हुए **त्वम्**=आपने **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस प्रसिद्ध यश, धन व ज्ञान को **चोदीः**=अपने भक्तों के प्रति प्रेरित किया है। कब? **यत्**=जबकि हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **वृषकर्मन्**=शक्तिशाली व सबपर सुखों की वर्षा-रूप कर्म करनेवाले प्रभो! आपने **वृत्रम्**=वृत्र को **उभ्नाः**=हिंसित किया। प्रभुकृपा से हमारा कामरूप शत्रु नष्ट होता है और हमें उज्ज्वल यश, धन व ज्ञान प्राप्त होता है। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **वृषमणः**=सबपर सुखों की वर्षा करने की भावना से युक्त मनवाले प्रभो! **यत् ह**=जब आप निश्चय से **दस्यून्**=हमारा नाश करनेवाले कामादि शत्रुओं को **पराचैः**=दूर गमनों के द्वारा, दूर भगाने के द्वारा **योनौ**=मूल, उत्पत्ति-स्थान में ही **व्यकृतः**=विशेषेण छिन्न-भिन्न कर देते हैं, तब आप हमें यश, धन व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ३. हे प्रभो! आप **वृथाषाट्**=अनायास ही इन कामादि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। मैं तो अपनी पूरी शक्ति से भी इन कामादि को न कुचल सकता; आपके मित्र हो जाने पर इस वृत्र का विनाश हुआ करता है। आप इन वासनाओं को मूल में ही विनष्ट कर देते हैं (Nip evil in the bud) और आपकी इस कृपा से मेरा यश, धन व ज्ञान बढ़ता है।

भावार्थ—वे प्रभु 'वज्री, वृषकर्मा, शूर, वृषमण व वृथाषाट्' हैं। वे हमारे मित्र हैं और हमारे शत्रुभूत वृत्र का विनाश करते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी जगती। स्वरः—निषादः।

सर्वतोमुखी उन्नति

त्वं ह त्यदिन्द्रारिषण्यन्दृळ्हस्य चिन्मर्तानामजुष्टौ।
व्य१स्मदा काष्ठा अर्वते वर्घनेव वज्रिञ्छ्नथिह्यमित्रान् ॥५॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=हमारे उस ज्ञान, धन व यश को **अरिषण्यन्**=(हिंसितुमनिच्छन्) नष्ट न होने देने के लिए चाहते हुए **दृळ्हस्य चित्**=अत्यन्त प्रबल भी कामादि रूप शत्रु को **अस्मत्**=हमसे **वि**=पृथक् करते हो। काम के नाश से ही तो वस्तुतः हमारा ज्ञान, धन व यश सुरक्षित होता है। २. **मर्तानाम्**=मनुष्यों की **अजुष्टौ**=अप्रीति के होने पर **अमित्रान्**=समाज के साथ स्नेह न रखनेवाले, समाजद्वेषी, स्वार्थियों को हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त-प्रभो! आप **घना इव**=वज्र से दृढ़ पर्वत को तोड़ने की भाँति **श्नथिहि**=हिंसित करते हो। राजा को निमित्त बनाकर इन समाजद्वेषियों को आप ही उचित दण्ड देते हो। ३. इस प्रकार हमारे वैयक्तिक व

सामाजिक विघ्नों को दूर करके आप **अर्वते**=हमारी इन्द्रियों के लिए **काष्ठाः**=दिशाओं को **विवः**=खोल देते हो, अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों से उचित कार्यों को करते हुए सब दिशाओं में आगे बढ़ पाते हैं। इस सर्वतोमुखी उन्नति में कामादिरूप शत्रु व स्वार्थप्रधान व्यक्ति ही तो विघ्न हुआ करते हैं। उन्हें हे प्रभो ! आप दूर करते हैं और हमें उन्नति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे ज्ञान, धन व यश को नष्ट न होने देना चाहते हुए हमारे कामादि शत्रुओं को तथा समाज-द्वेषियों को नष्ट करते हैं और इस प्रकार हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए मार्ग को प्रशस्त कर देते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडार्षी बृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्रभुरक्षण से युद्धविजय

त्वां ह त्यदिन्द्रार्णसातौ स्वर्मीळ्हे नर आजा हवन्ते।
तव स्वधाव इयमा समर्य ऊतिर्वाजेष्वतसाय्या भूत्॥६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! **त्वां ह**=आपको ही **त्यत्**=वह **अर्णसातौ**=(अर्णानां सातिर्यस्मिन्) गतिशीलता को प्राप्त करानेवाले—युद्ध के समय सबकी क्रिया बढ़ जाती है **स्वर्मीळ्हे**=स्वर्ग-सुख का सेचन करनेवाले **आजौ**=संग्राम में **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले व्यक्ति **हवन्ते**=पुकारते हैं। युद्ध में विजय के लिए आपकी ही आराधना करते हैं। युद्धों में क्रियाशीलता तो बढ़ ही जाती है, युद्धों में पीठ न दिखाकर मृत्यु होने पर स्वर्ग मिलता है। इन युद्धों में विजय के लिए प्रभु का आराधन करने से उत्साह बना रहता है। २. हे **स्वधावः**=आत्मधारण-शक्ति से युक्त प्रभो ! **समर्ये**=संग्राम में **तव इयं ऊतिः**=आपकी यह रक्षणक्रिया **वाजेषु**=शक्तियों की प्राप्ति के निमित्त **अतसाय्या**=प्रातव्य **आभूत्**=सर्वथा होती है। वस्तुतः आपका यह रक्षण ही योद्धाओं को शक्तिशाली बनाता है और वे युद्ध में विजय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से ही युद्धों में विजय प्राप्त होती है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

'पुरुकुत्स, सुदास् व पूरु'

त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त युध्यन्पुरो वज्रिन्पुरुकुत्साय दर्दः।
बर्हिर्न यत्सुदासे वृथा वर्गंहो राजन्वरिवः पूरवे कः॥७॥

१. हे **इन्द्र**=बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो ! **वज्रिन्**=हे वज्रहस्त प्रभो ! **त्वं ह**=आप ही **युध्यन्**=युद्ध करते हुए **त्यत् सप्त पुरः**=उन असुरों की सात नगरियों को **पुरुकुत्साय**=पुरुकुत्स के लिए **दर्दः**=विदीर्ण करते हो। **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**—इस मन्त्रभाग में 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' मिलकर सात ऋषियों का वर्णन हुआ है। ये सातों जिस समय असुरों के आक्रमण से वैषयिक वृत्ति के होकर पतन की ओर जाते हैं तो असुरों के सात पुर बन जाते हैं। जो भी व्यक्ति पुरुकुत्स बनता है, अपना पालन व पूरण करता है और बुराइयों का हिंसन करता है, उसके लिए प्रभु इन असुरों से युद्ध करते हुए इन असुर-पुरियों का विदारण करते हैं। २. हे प्रभो ! आप **सुदासे**=सुदास के लिए—उत्तमता से बुराइयों का अपक्षय करनेवाले के लिए **बर्हिः न**=घास की भाँति **वृथा**=अनायास ही **यत् अंहः**=जो पाप है उसको **वर्क्**=नष्ट कर देते हो (अवृणक्)। हम सुदास बनें, प्रभु हमारे

लिए पापों को नष्ट करनेवाले होंगे। ३. हे **राजन्**=संसार के सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी प्रभो! आप **पूरवे** =औरों का पालन व पूरण करनेवाले के लिए, सारे का सारा स्वयं न खा जानेवाले के लिए **वरिवः**=धन को **कः**=करते हैं। जो पूरु बनता है, उसे ही प्रभु धन का पात्र समझते हैं।

भावार्थ=प्रभु पुरुकुत्स के लिए कान, नाक, आँखें व मुख आदि को पवित्र बनाये रखते हैं। सुदास के लिए वासनाओं को विनष्ट करते हैं। पूरु के लिए धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सादा खाना, पानी पीना (वानस्पतिक भोजन व पानी)

त्वं त्यां न इन्द्र देव चित्रामिषमापो न पीपयः परिज्मन्।
यया शूर प्रत्यस्मभ्यं यंसि त्मनमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै ॥८॥

१. हे **इन्द्र**=वृष्टि आदि कर्मों को करनेवाले! **देव**=अन्नादि सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **चित्राम्**=(चित्+रा) ज्ञान का वर्धन करनेवाले **इषम्**=अन्न को **परिज्मन्**=इस सूर्य के चारों ओर घूमनेवाली अथवा परितः व्याप्त—विस्तृत भूमि पर **पीपयः**=(प्रावर्धयः) खूब ही प्रवृद्ध करिये। उसी प्रकार प्रवृद्ध करिए **न**=जैसेकि **आपः**=जलों को आपने प्रवृद्ध किया है। हे प्रभो! जैसे आप इस पृथिवी पर वर्तमान हम लोगों को जलों को प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार ज्ञानवर्धक सात्त्विक अन्नों को भी प्राप्त कराइए। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हमें वह अन्न प्राप्त कराइए **यया**=जिससे **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **त्मनम्**—आत्मतत्त्व को **प्रतियंसि**= प्राप्त कराते हो। आत्मतत्त्व को उसी प्रकार प्राप्त कराते हो **न**=जैसेकि **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को प्राप्त कराते हो। हे **विश्वधः**=विश्व को धारण करनेवाले प्रभो! हमें वे अन्न प्राप्त कराइए जो **क्षरध्यै** मलों का क्षरण करनेवाले हों। हमें ऐसे अन्न प्राप्त कराइए जो मलों को सञ्चित करने के स्थान में क्षरित करनेवाले हों। ऐसे अन्न ही स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वे अन्न प्राप्त हों जोकि (क) बुद्धि=ज्ञानवर्धक हो [चित्राम्], (ख) आत्मतत्त्व का दर्शन करानेवाले हों, (ग) ऊर्जम्=बल और प्राणशक्ति को प्राप्त करनेवाले हों, (घ) मलों के क्षरण करनेवाले हों।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षी पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभुस्तवन व सज्जनसङ्ग

अकारि त इन्द्र गोतमेभिर्ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम्।
सुपेशसं वाजमा भरा नः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥९॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **गोतमेभिः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुषों से **ते**=तेरा स्तवन **अकारि**=किया जाता है। उन गोतमों से **नमसा**=बड़े नमन के साथ, विनयपूर्वक **हरिभ्याम्**=कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा **ब्रह्माणि**=स्तुतिवचन **आ उक्ता**=सदा कहे गये हैं। 'मिट्ठा बोलुन, निव चलन, हत्थों वी कुछ देव'—ये हैं वे कर्म जिनके द्वारा प्रभु का स्तवन होता है। इस प्रकार प्रभुस्तवन करनेवाले **नः**=हमारे लिए **सुपेशसम्**=सुन्दर आकृति को उत्पन्न करनेवाले **वाजम्**=बल को **आभर**=सर्वथा भरिए (प्राप्त कराइए)। ३. साथ ही यह भी कृपा कीजिए कि **प्रातः**=प्रातः **मक्षु**=शीघ्र ही **धियावसुः**=

ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा निवास को उत्तम बनानेवाला पुरुष **जगम्यात्**=हमें प्राप्त हो। इसके सङ्ग से हम भी 'धियावसु' बन पाएँगे।

भाव[illegible] [illegible] का स्तवन करें। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँ और सज्जनसङ्ग की सुविधा दें। [illegible]ञ्जिभिर्वः

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि वे प्रभु महान् व शक्तिशाली हैं (१)। प्रभु का स्तोता क्रियाशील होता है (२)। वे प्रभु ही हमारे शोषक शत्रु काम व शुष्ण का विनाश करते हैं (३)। वासना का विनाश गर्भ में ही कर देना ठीक है (४)। वे प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमारे लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं (५)। प्रभुरक्षण से ही युद्ध में विजय प्राप्त होती है (६)। इस विजय को करनेवाले 'पुरुकुत्स, सुदास् व पूरु' बनते हैं (७)। हम उस सात्त्विक अन्न का प्रयोग करें जोकि ज्ञानवर्धक हो (८) और गोतम बनकर सदा प्रभुस्तवन करनेवाले हों (९)। अब प्रभु की उपासना से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६४] चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

प्राणायाम व प्रभु का उपासन

वृष्णे शर्धाय सुमखाय वेधसे नोधः सुवृक्तिं प्र भरा मरुद्भ्यः।
अपो न धीरो मनसा सुहस्त्यो गिरः समञ्जे विदथेष्वाभुवः ॥१॥

१. हे **नोधः**=इन्द्रियनवक का धारण करनेवाले! [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ=९, क्योंकि जिह्वा दोनों ओर है], तू उस प्रभु के लिए **सुवृक्तिम्**=उत्तमता से आवर्जित करनेवाले स्तोत्र को **प्रभर**=प्रकर्षेण सम्पादित कर, जो प्रभु **वृष्णे**=सुखों की वृष्टि करनेवाले हैं, **शर्धाय**=(शर्ध=Strength, power) जो शक्ति के पुञ्ज हैं, **सुमखाय**=सृष्टिरूप उत्तम यज्ञ को करनेवाले हैं, **वेधसे**=विधाता हैं, सृष्टिनिर्माता हैं व बुद्धिमान् हैं। २. **मरुद्भ्यः**=(मरुतः प्राणाः) प्राणों का भी स्तवन कर। अथवा इन प्राणों के द्वारा तू अपने अन्दर **सुवृक्तिम्**=उत्तमता से पापवर्जन करनेवाला हो। प्राणसाधना से बुराइयों को दूर कर। **न**=जैसे **धीरः**=धैर्यवान् और ज्ञानी बनकर **सुहस्त्यः**=उत्तम हाथोंवाला होता हुआ **अपः**=कर्मों को तू **मनसा**=मन से धारण करे, उसी प्रकार **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **आभुवः**=सब विषयों में होनेवाली अर्थात् सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली **गिरः**=वेदवाणियों को **समञ्जे**=मैं तुझे व्यक्त करता हूँ। जितना-जितना हम धीर व सुहस्त बनकर कर्म करते हैं, उतना-उतना प्रभु हमें ज्ञान देनेवाले होते हैं। अकर्मण्य को ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—(क) हम प्रभु का स्तवन करें, (ख) प्राणसाधना करें, (ग) धीर व सुहस्त्य बनकर कर्म करें, (घ) प्रभु हमारे लिए वेदवाणियों का उपदेश करेंगे।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

दिवः—घोरवर्पसः (प्रकाशमय—तेजस्वी)

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्याइव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ॥२॥

१. **ते**=[गतमन्त्र के अनुसार साधना करनेवाले] वे लोग **जज्ञिरे**=विकसित होकर निम्न विशेषणों से युक्त बन जाते हैं—(क) **दिवः**=प्रकाशमय। दैनिक स्वाध्याय के कारण इनका जीवन ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठता है। (ख) **ऋष्वासः**=इनका जीवन दर्शनीय हो[illegible] [illegible]य (ऋष्=to go तथा to kill) गतिशीलता के द्वारा बुराइयों का नाश करनेवाले होते हैं। (ग) [illegible]दि को [illegible]=अपनी गतिशीलता से सबपर सुखों का सेचन करनेवाले होते हैं। (घ) **रुद्रस्य मर्याः**=ये ज्ञान के देनेवाले (रुत्+र) प्रभु के बन्दे होते हैं; ये प्रकृति की ओर बहुत झुके हुए नहीं होते। (ङ) **असुराः**=सर्वत्र प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले बनते हैं। (च) **अरेपसः**=इनका जीवन रेपस् अर्थात् दोषों से रहित होता है। (छ) **पावकासः**=अपने शरीर व निवासस्थानों को पवित्र रखनेवाले होते हैं। (ज) **शुचयः**=संसार में धन को पवित्र साधनों से ही उपार्जित करते हैं—**'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः'**। (झ) **सूर्याः इव**=ये सूर्य की भाँति होते हैं, इनके जीवन से औरों को प्रकाश प्राप्त होता है; (ञ) **सत्वानः**=सत्त्वगुण-सम्पन्न होते हैं; (ट) **न द्रप्सिनः**=(दृप्=मोहने) मोह से ऊपर उठे हुए और (ठ) **घोरवर्पसः**=तेजस्वी रूपवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासकों का जीवन मन्त्रोक्त बारह गुणों से युक्त होता है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

युवानः पर्वता इव

युवा॑नो रु॒द्रा अ॒जरा॑ अ॒भो॒ग्घनो॑ वव॒क्षुरध्रि॑गावः॒ पर्व॑ता इव।
दृ॒ळ्हा चि॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि॒ पार्थि॑वा॒ प्र च्या॑वयन्ति दि॒व्यानि॑ म॒ज्मना॑ ॥३॥

१. गत मन्त्र के प्रकरण को ही आगे ले-चलते हुए कहते हैं कि ये प्रभुभक्त (क) **युवानः**=अपने से दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाले होते हैं (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। (ख) इसके लिए **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए सदा कर्मों में लगे रहते हैं, (ग) इसलिए **अजराः** = कभी जीर्ण नहीं होते। (घ) **अभोग्घनः**=(न भोजयन्ति) ये औरों को न खिलाकर स्वयं खा जाने की वृत्ति को नष्ट करनेवाले होते हैं; 'अभोग्घन्' होने के कारण ही **ववक्षुः**=ये सर्वाङ्गीण उन्नति करनेवाले होते हैं (wax=वक्ष्=to grow)। (ङ) **अध्रिगवः**=ये अधृतगमन होते हैं, इनके कार्यों में कोई विघ्न नहीं डाल सकता। बड़े-से-बड़े विघ्नों को भी दूर करके ये आगे बढ़ते चलते हैं। (च) **पर्वता इव**=ये पर्वतों के समान होते हैं। जैसे समुद्र-तरंगों के थपेड़े पर्वतों को विदीर्ण नहीं कर पाते वैसे ही संसार के प्रलोभन इन्हें विचलित नहीं कर पाते। (छ) **दृळ्हा चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **विश्वा**=सब **पार्थिवा भुवनानि**=पार्थिव भुवनों को **प्रच्यावयन्ति**=ये विचलित करनेवाले होते हैं, अर्थात् बड़े जबरदस्त पार्थिव प्रलोभनों के भी ये वशीभूत नहीं होते। बड़े-से-बड़े धन व यश का प्रलोभन इन्हें विचलित नहीं कर पाता। (ज) **मज्मना**=अपने शोधक बल से ये **दिव्यानि**=दिव्य प्रलोभनों को भी कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। योगमार्ग पर चलते हुए जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, ये सिद्धियाँ भी इसे मार्ग से विचलित नहीं कर पातीं, एवं पार्थिव व दिव्य प्रलोभनों से ये ऊपर उठ जाते हैं। शुद्धान्तःकरणवाले बनकर ये सिद्धियों की तुच्छता को समझते हैं और इन्हें भी प्रभुप्राप्ति के मार्ग में विघ्नरूप में ही जानते हैं, अतः न तो ये पार्थिव सम्पत्तियों में फँसते हैं और न दिव्य सिद्धियों में।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा दोषों को दूर करते हुए गुणों को अपने साथ सम्बद्ध करते हैं। शोधक बल को प्राप्त करके पार्थिव व दिव्य प्रलोभनों में नहीं फँसते।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराड्जगती । स्वरः—निषादः ।

मरुतः

चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे ।
अंसेष्वेषां नि मिमृक्षुर्ऋष्टयः साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः ॥४॥

१. 'मरुत्' देवता के ये मन्त्र हैं । 'मरुत्' शब्द सैनिकों के लिए प्रयुक्त होता है, 'म्रियन्ते'=मर जाते हैं परन्तु रणांगण में ये पीठ नहीं दिखाते । ये मरुत् **चित्रैः**=अद्भुत **अञ्जिभिः**=सुन्दररूप को व्यक्त करनेवाले आभूषणों से **वपुषे**=शरीर की शोभा के लिए **व्यञ्जते**=अपने को अलंकृत करते हैं । ये क्षत्रिय लोग केयूर, अङ्गदादि आभूषणों को धारण करते हैं । २. **वक्षःसु**=अपनी छातियों पर **रुक्मान्**=सोने के चमकते हुए हारों को अथवा स्वर्णपदकों को (Gold medals) **शुभे**=शोभा के लिए **अधि येतिरे**=(उपरि चक्रिरे) अपने वस्त्रों पर धारण करते हैं । ३. **एषाम्**=इन वीर सैनिकों के **अंसेषु**=कन्धों पर **ऋष्टयः**=शत्रुसंहारक (ऋष् to kill) अस्त्र **निमिमृक्षुः**=चमकते हुए स्थित होते हैं (निमृष्टाः स्थिता बभूवुः—सा०) । ३. ये **दिवः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) **नरः**=सदा आगे बढ़नेवाले मरुत् **स्वधया साकम्**=आत्मधारण शक्ति के साथ **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत होते हैं अथवा **स्व**=अपने देश को **धा**=धारण करने की शक्ति के **साकम्**=साथ **जज्ञिरे**=विकसित होते हैं ।

शरीर में मरुत् प्राणों का वाचक है । ये प्राण **चित्रैः**=ज्ञान को देनेवाले **अञ्जिभिः**=पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करनेवाले ज्ञानों से **वपुषे**=शरीर की शोभा के लिए **अञ्जते**=मानव-जीवन को अलंकृत करते हैं । २. **वक्षःसु**=हृदयों में **रुक्मान्**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान शुद्ध भावों को **अधि येतिरे**=(उपरि चक्रिरे) प्रबल करते हैं ताकि **शुभे**=जीवन की शोभा बढ़े । ३. **एषाम्**=इन प्राणों के **अंसेषु**=कन्धों पर **ऋष्टयः**=सब प्रकार की गतियाँ **निमिमृक्षुः**=शुद्ध होकर स्थित होती हैं अर्थात् प्राणसाधना से सब क्रियाएँ पवित्र हो जाती हैं । ४. ये प्राण **दिवः**=प्रकाशमय हैं, बुद्धि को दीप्त करनेवाले हैं, **नरः**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं तथा **स्वधया**=आत्मतत्त्व को धारण की शक्ति के **साकम्**=साथ **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत होते हैं । प्राणसाधना से ही आत्मस्वरूप के दर्शन की योग्यता उत्पन्न होती है ।

भावार्थ—देश की रक्षा में जो स्थान सैनिकों का है वही स्थान शरीर में प्राणों का है । प्राण-साधना उतनी ही आवश्यक है जितनी कि देशरक्षा के लिए सैन्यशक्ति ।

ऋषिः—नोधा गौतमः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

ईशानकृतो धुनयः

ईशानकृतो धुनयो रिशादसो वातान्विद्युतस्तविषीभिरक्रत ।
दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयो भूमिं पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः ॥५॥

१. **ईशानकृतः**=ये मरुत्=प्राण हमें ईशान बनानेवाले हैं । प्राणसाधना से हम इन्द्रियों को अपने अधीन करते हैं । **धुनयः**=ये प्राण हमारी वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं । **रिशादसः** 'ऋश हिंसायाम्' नाशक तत्त्वों को खा जानेवाले हैं, भस्मीभूत कर देनेवाले हैं । **तविषीभिः**=बलों से ये अपने साधक को **वातान्**=वायुसम वेगवान् व बली तथा **विद्युतः**=विशिष्ट ज्ञानदीप्तिवाला **अक्रत**=बनाते हैं, एवं प्राणसाधना से (क) मन वासनाशून्य व निर्मल बनता है, (ख) शरीर वायुसम बलवान् तथा (ग) मस्तिष्क ज्योतिष्मान् । २. ये **धूतयः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्राण **ऊधः**=

वेदवाणी रूप गौ के ऊधस् से **दिव्यानि**=अलौकिक प्रकाशों का **दुहन्ति**=दोहन करते हैं। वासना को विनष्ट करके वेदमन्त्रों के द्रष्टृत्व को प्राप्त कराके हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाते हैं। ३. **परिज्रयः**=शरीर में सर्वत्र गति करनेवाले ये प्राण **भूमिम्**=इस शरीर को **पयसा**=(पयः सोमः—शत० १२.७.३.१३) सोम के द्वारा **पिन्वन्ति**=बढ़ाते हैं, अर्थात् सोम के रक्षण से शरीर की शक्तियों को बढ़ाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मन वासनाशून्य बनता है, शरीर शक्तिशाली और मस्तिष्क ज्योतिर्मय। प्राणसाधना से ज्ञान बढ़ता है, शरीर पुष्ट होता है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः - विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

प्राणसाधना का महत्त्व

पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः पयो घृतवद्विदथेष्वाभुवः।
अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम्॥६॥

१. **मरुतः**=प्राण **अपः पिन्वन्ति**=शरीर में रेतस् के रूप में रहनेवाले जलों को पीते हैं। इन प्राणों की साधना से रेतःकणों की ऊर्ध्व गति होती है। यही मरुतों का अपों का पान है। २. शरीर में रेतःकणों की रक्षा के द्वारा ये मरुत् **सुदानवः**=सब रोग-कृमियों या मनःस्थित द्वेषादि भावनाओं का उत्तमता से खण्डन करनेवाले होते हैं। इस प्रकार ये मरुत् हमें आधि-व्याधियों से बचाते हैं। ३. ये **आभुवः**=(आभवन्ति) शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य करनेवाले मरुत् **विदथेषु**=ज्ञानों के निमित्त **घृतवत्**=ज्ञान की दीप्तिवाले तथा मलों के क्षरणवाले (घृ=क्षरणदीप्त्योः) **पयः**=आप्यायन को प्राप्त कराते हैं। मलों के क्षरण से शरीर व मन का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप मस्तिष्क के स्वास्थ्य से ज्ञान की दीप्ति होती है और जीवन में ज्ञानयज्ञ का प्रभाव अविच्छिन्न रूप से चलता है। **अत्यम् न**=सततगामी घोड़े के समान गतिशील **वाजिनम्**=इस शक्तिशाली पुरुष को **मिहे**=लोक में सुख-वर्षण के लिए **विनयन्ति**=ये प्राण शिक्षित करते हैं। प्राणसाधना करनेवाला पुरुष (क) गतिशील होता है (ख) शक्तिशाली बनता है और (ग) उसकी सब क्रियाएँ लोकहित के लिए होती हैं। ४. ये प्राण **स्तनयन्तम्**=गर्जना करते हुए **अक्षितम्**=कभी क्षीण न होनेवाले **उत्सम्**=ज्ञान के स्रोत का **दुहन्ति**=दोहन करते हैं। प्राणसाधना से चित्त अवरुद्ध होकर प्रभु का ध्यान व दर्शन करता है और तब उस प्रभु से दिये जाते हुए ज्ञान को प्राप्त करता है। हृदय में स्थित प्रभु सदा उन ज्ञान के शब्दों की गर्जना कर रहे हैं। यह प्रवाहित होती हुई ज्ञान की नदी सरस्वती गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही है। इसका ज्ञान-जल कभी क्षीण नहीं होता। हमारे लिए इस ज्ञानस्रोत का दोहन ये प्राण ही करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) वीर्यरक्षा होती है (ख) मलों के क्षरण व दीप्ति के द्वारा सब प्रकार का आप्यायन होता है (ग) ज्ञान की वृद्धि होती है (घ) गतिशीलता व शक्ति की वृद्धि के द्वारा लोकहित की भावना उत्पन्न होती है (ङ) हम अन्तःस्थित ज्ञान-स्रोत का दोहन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

महिष व मायी

महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः।
मृगाइव हस्तिनः खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम्॥७॥

१. गत मन्त्र में वर्णित मरुतों=प्राणों की साधना करनेवाले पुरुष **महिषासः**=महान् होते हैं,

प्रभु की पूजा करनेवाले होते हैं (मह पूजायाम्)। २. **मायिनः**=प्रज्ञावान् होते हैं। ३. **चित्रभानवः**=अद्भुत दीप्तिवाले होते हैं। ४. **गिरयः न**=(गृणाति इति गुरुः=गिरिः) ज्ञान देनेवाले गुरुओं के समान **स्वतवसः**=आत्मिक बलवाले होते हैं। ज्ञान के साथ ये अध्यात्म-वृत्तिवाले होते हैं। ५. **रघुष्यदः**=शीघ्र गमनवाले अर्थात् प्रत्येक कार्य को स्फूर्ति से करनेवाले होते हैं। ६. **मृगाः इव**=मृगों की भाँति **हस्तिनः**=हाथियों की भाँति **वना**=वानस्पतिक भोजनों को ही **खादथ**=सेवन करते हैं। इन वानस्पतिक भोजनों से इनके जीवन में भी मृगों की स्फूर्ति और हाथियों का बल प्रविष्ट होता है। ७. ये 'महिष व मायी, चित्रभानु व स्वतवस् तथा रघुष्यद्' व्यक्ति वे ही हैं **यदारुणीषु**=जिनकी अरुणवर्णा अर्थात् तेजस्वी इन्द्रिय-रूप गौवों में हे मरुतो! आप **तविषीः**=बलों को **अयुग्ध्वम्**=जोतते हो, युक्त करते हो। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ बलसम्पन्न होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना मनुष्य को 'महिष, मायी, चित्रभानु, स्वतवस् व रघुष्यद्' बना देती है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

शक्ति व ज्ञान के समन्वयवाले

सिंहाइव नानदति प्रचेतसः पिशाइव सुपिशो विश्ववेदसः।
क्षपो जिन्वन्तः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित्सबाधः शवसाहिमन्यवः ॥८॥

१. प्राणसाधक पुरुष **सिंहाः इव नानदति**=सिंहों के समान गर्जना करनेवाले होते हैं। इनकी वाणी से भी शक्ति प्रकट होती है। भीष्म पितामह युद्ध के प्रारम्भ में 'सिंहनादं विनद्योच्चैः' उच्चस्वर से सिंहगर्जना करके ही शंखध्वनि करते हैं। २. **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, प्राणसाधक शक्तिशाली होते हैं, शक्ति के साथ वे ज्ञान का भी सम्पादन करते हैं। ३. **पिशाः इव**=शरीरगत श्वेत बिन्दुओं से अलंकृत रुरु मृगों की भाँति ये **सुपिशः**=शोभन शरीर-अवयवोंवाले तथा ज्ञानादि सुन्दर अलंकारोंवाले होते हैं। ज्ञानादि से सुभूषित होकर ये 'सुपिश्' होते हैं। **विश्ववेदसः**=शरीर व मस्तिष्क की सम्पत्तियों के साथ ये सम्पूर्ण धनोंवाले होते हैं। आवश्यक धनों की इन्हें कमी नहीं रहती। ५. **क्षपः**=सब शत्रुओं का ये संहार करनेवाले होते हैं, **जिन्वन्तः**=धार्मिकों को प्रीणित करनेवाले होते हैं। ६. **पृषतीभिः**=लोकों पर सुखों का सेचन करनेवाले **ऋष्टिभिः**=अस्त्रों से **समित् सबाधः**=(सम्+इ) मिलकर शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले ये व्यक्ति **शवसा**=बल के साथ **अहिमन्यवः**=अहीन ज्ञानवाले होते हैं। इनमें शक्ति व ज्ञान का समन्वय होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष शक्ति व ज्ञान से समन्वित जीवनवाले होकर, मिलकर शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले तथा लोकों पर सुखों की वर्षा करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

स्वस्थ व ज्ञानी

रोदसी आ वदता गणश्रियो नृषाचः शूराः शवसाहिमन्यवः।
आ वन्धुरेष्वमतिर्न दर्शता विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः ॥९॥

१. हे **गणश्रियः**=सात-सात के सात गणों में अवस्थित होकर, कुल ४९ भागों में विभक्त होकर शरीर की श्री को अभिवृद्ध करनेवाले प्राणो! आप **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आवदत**=मेरे जीवन में प्रकट करो। मेरा मस्तिष्क द्युलोक की भाँति तेजस्वी और मेरा शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ हो। इस

प्रकार मेरा जीवन द्युलोक व पृथिवीलोक को प्रकट कर रहा हो। २. **नृषाचः**=मनुष्यों का आप सेवन करनेवाले हो। रामायण में जो स्थान हनुमान का है, वही स्थान आपका इस शरीर में है। आप यहाँ रहते हुए **शूराः**=सब शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हो। रोगकृमियों का संहार करके शरीर को नीरोग बनाते हो तो मन को भी द्वेषादि से रहित करके पवित्र करते हो। **शवसा**=शक्ति के साथ **अहिमन्यवः**=आप अहीन ज्ञानवाले हो। आप शक्ति व ज्ञान दोनों का वर्धन करते हो। ३. हे **मरुतः**=प्राणो ! आपका साधक पुरुष **वः**=आपके **वन्धुरेषु**=(Beautiful) सुन्दर, सुगठित (सुबद्ध) **रथेषु**=इन शरीर-रथों पर **अमतिः न**=उत्तम रूपवाले के समान तथा **दर्शता विद्युत् न**=दर्शनीय विद्युत् के समान **आतस्थौ**=स्थित होता है। स्वास्थ्य के कारण प्राणसाधक का रूप सुन्दर होता है और ज्ञानवृद्धि के कारण वह विद्युत् के समान चमकता है, एवं मरुत् साधक को स्वास्थ्य का सौन्दर्य व ज्ञान की दीप्ति प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से स्वस्थ व ज्ञानी बनें।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

ज्ञान+धन+बल का वर्धन

विश्ववेदसो रयिभिः समोकसः संमिश्लासस्तविषीभिर्विरप्शिनः।
अस्तार इषुं दधिरे गभस्त्योरनन्तशुष्मा वृषखादयो नरः॥१०॥

१. प्राणों की साधना करनेवाले पुरुष **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानोंवाले होते हैं। इनकी बुद्धि सूक्ष्म होकर इनके ज्ञान का वर्धन होता है। २. **रयिभिः समोकसः**=धनों से ये समान निवासस्थानवाले होते हैं, अर्थात् ये धनों के प्राप्त करनेवाले होते हैं। ३. **तविषीभिः संमिश्लासः**=बलों से ये मिश्रित व युक्त होते हैं और ४. इस प्रकार ज्ञान, धन व बल से सम्पन्न होकर ये **विरप्शिनः**=महान् बनते हैं। **अस्तारः**=(असु क्षेपणे) ये शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाले होते हैं। काम-क्रोधादि को अपने समीप नहीं फटकने देते। **गभस्त्योः**=अपनी दोनों भुजाओं में **इषुम्**=बाण को **दधिरे**=धारण करते हैं। कामादि शत्रुओं को इन बाणों से विद्ध करके दूर भगा देते हैं। भुजाओं में बाणों का संकेत **'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'**—इस मन्त्रभाग में इस प्रकार हुआ है कि दक्षिण हस्त का बाण 'कृत व पुरुषार्थ' है और वाम-हस्त का बाण 'जय' है। यह सदा पुरुषार्थ में लगा हुआ काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित कर विजय-लाभ करता है। इस विजयलाभ के कारण ही यह महान् है। ४. **अनन्तशुष्माः**=इस प्रकार 'कृत व जय'-रूप बाणों को धारण करते हुए ये लोग खूब शक्तिशाली बनते हैं। **वृषखादयः**=(वृषः सोमः खादिः भोजनं येषाम्) सोम इनका भोजन होता है। सोम को ये शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं और इसलिए **नरः**=नर होते हैं, 'नृ नये'—अपने को उन्नतिपथ पर निरन्तर आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे 'ज्ञान, धन व बल' सभी को बढ़ाती है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

पयोवृधः

हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्यो३ न पर्वतान्।
मखा अयासः स्वसृतो ध्रुवच्युतो दुध्रकृतो मरुतो भ्राजदृष्टयः॥११॥

१. **मरुतः**=प्राण व प्राणसाधना करनेवाले 'मितराविणः' मितरावी पुरुष **पयोवृधः**=दूध आदि सात्त्विक आहारों से अपना वर्धन करनेवाले होते हैं और **हिरण्ययेभिः**=हित-रमणीय व स्वर्णिम **पविभिः**=

वाणियों से **उज्जिघ्नन्तः**=मार्ग में आनेवाले विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट करनेवाले होते हैं, **न**=जैसेकि **आपथ्यः**=मार्ग पर जानेवाला कोई व्यक्ति **पर्वतान्**=पर्वतों को दूर फेंक देता है। मरुत् भी पर्वततुल्य महान् विरोधियों को भी हितरमणीय वाणियों से अनुकूल बना लेते हैं। २. **मखाः**=इनका जीवन यज्ञमय होता है, **अयासः**=ये निरन्तर गतिशील होते हैं, **स्व-सृतः**=आत्मतत्त्व की ओर (स्व) बढ़नेवाले होते हैं। ३. **ध्रुवच्युतः**=अत्यन्त स्थिर अर्थात् दृढ़मूल शत्रुओं को भी च्युत करनेवाले होते हैं। स्वभाव में परिणत हो गये काम-क्रोध को भी ये अपने से पृथक् करनेवाले होते हैं। **दुध्रकृतः**=शत्रुओं के लिए अपने को दुर्धषणीय बनाते हैं। शत्रु इनका पराभव नहीं कर पाते। ऐसे ये **मरुतः**=प्राणसाधक **भ्राजदृष्टयः**=(भ्राजा दृष्टिर्येषाम्) देदीप्यमान दृष्टिवाले होते हैं अथवा **भ्राजत्+ऋष्टयः**=देदीप्यमान गतियोंवाले होते हैं (ऋष् गतौ)।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें यज्ञशील व देदीप्यमान दृष्टिवाला बनाती है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

मारुत-गण

घृषुं पावकं वनिनं विचर्षणिं रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि।
रजस्तुरं तवसं मारुतं गणमृजीषिणं वृषणं सश्चत श्रिये ॥१२॥

१. शरीर में मरुत् ४९ भागों में विभक्त होकर कार्य कर रहे हैं। ये ४९ मरुत् मिलकर यहाँ 'मारुत-गण' के रूप में स्मरण किये गये हैं। **श्रिये**=शोभा के लिए **मारुतं गणम्**=इन मरुतों के गण को **सश्चत**=प्राप्त करो। इनके साथ अपना सम्बन्ध बनाओ (cling to) अथवा इनका उपासन करो (worship)। उन मारुतगणों को उपासित करो जोकि **घृषुम्**=शत्रुओं का धर्षण कर देनेवाला है, **पावकम्** पवित्र करनेवाला है, **वनिनम्**=विजय को प्राप्त करानेवाला है (वन्=to win)। ३. **विचर्षणिम्**=विशेषरूप से हमारा ध्यान करनेवाला है अथवा हमें कर्षणि=श्रमशील बनानेवाला है। **रुद्रस्य**=उस परमात्मा के **सूनुम्**=प्रेरक मारुतगण को **हवसा**=आह्वान-साधनभूत स्तोत्रों से **गृणीमसि**=स्तुत करते हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्तिनिरोध होकर हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है, अतः यह मारुतगण 'रुद्रसूनु' कहलाया है। ४. **रजस्तुरम्**=यह मारुतगण रजोगुण का, राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला है अथवा कर्मों को त्वरा से करनेवाला है। **तवसम्**=हमें अत्यन्त बलवान् व प्रवृद्ध करनेवाला है, **ऋजीषिणम्**=ऋजुमार्ग से धनार्जन करनेवाला है और **वृषणम्**=सबपर सुखों का वर्षण करनेवाला है। इस मारुतगण के सेवन से हमारी शोभा क्यों न बढ़ेगी?

भावार्थ—हम प्राणसंघ का स्तवन करें। ये प्राण शरीर के रोगों को नष्ट करेंगे और हमारी वृत्तियों को उत्तम बनाएँगे।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

अतिक्रमण (अति समं क्राम)

प्र नू स मर्तः शवसा जनाँ अति तस्थौ व ऊती मरुतो यमावत।
अर्वद्भिर्वाजं भरते धना नृभिरापृच्छ्यं क्रतुमा क्षेति पुष्यति ॥१३॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **सः मर्तः**—वह मनुष्य **यम्**=जिसको आप **वः ऊती**=अपने रक्षण द्वारा **आवत**=रक्षित करते हो **जनान्**=लोगों को **नु**=निश्चय से **शवसा**=बल के दृष्टिकोण से **प्र अति तस्थौ**=

प्रकर्षेण लाँघकर स्थित होता है। प्राणों का रक्षण प्राप्त होने पर इस साधक का बल सामान्य मनुष्य के बल से बहुत अधिक हो जाता है। शक्ति के दृष्टिकोण से यह औरों का अतिक्रमण कर जाता है। २. यह **अर्वद्भिः**=अपने इन्द्रियरूप अश्वों से अपने में **वाजम्**=ज्ञान व बल को **भरते**=भरता है, ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान को तथा कर्मेन्द्रियों से कर्म द्वारा शक्ति को। ३. यह प्राणसाधक संसार-यात्रा के सञ्चालन के लिए आवश्यक **धना**=धनों को भी प्राप्त करता है। ४. इन धनों के द्वारा **क्रतुम्**=उन उत्तम यज्ञों को **आक्षेति**=(आप्नोति—सा०) सर्वथा प्राप्त करता है जोकि **नृभिः आपृच्छ्यम्**=मनुष्यों से चाहने योग्य होते हैं। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह उन कर्मों को कर सके जिनसे उसका यश हो। यह धनों के द्वारा उन क्रतुओं को करनेवाला बनता है और इस प्रकार **पुष्यति**=अपना वास्तविक पोषण करता है। यज्ञों के द्वारा ही तो वस्तुतः हमारा पोषण होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक (क) अत्यधिक बल का सम्पादन करता है, (ख) अपने में ज्ञान व शक्ति भरता है, (ग) धनों का सम्पादन करके यज्ञशील बनता है, (घ) इन यज्ञों से अपना वास्तविक पोषण करता है।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

कैसा तोक व तनय

चर्कृत्यं मरुतः पृत्सु दुष्टरं द्युमन्तं शुष्मं मघवत्सु धत्तन।
धनस्पृतमुक्थ्यं विश्वचर्षणिं तोकं पुष्येम तनयं शतं हिमाः॥१४॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि प्राणसाधना करनेवाला धनों का अर्जन करता है और धनार्जन करके उसे यज्ञों में विनियुक्त करता है। इन **मघवत्सु**=(मघ=मख) ऐश्वर्य का यज्ञों में विनियोग करनेवाले पुरुषों में **मरुतः**=हे प्राणो! **तोकम्**=पुत्र को, **तनयम्**=पौत्र को **धत्तन**=धारण करो। कैसे पुत्र-पौत्र को, (क) **चर्कृत्यम्**=खूब कार्य करनेवाले, सर्वकर्मकुशल, (ख) **पृत्सु दुष्टरम्**=संग्रामों में शत्रुओं से न तैरने योग्य, अर्थात् संग्राम में शत्रुओं के लिए अजेय, (ग) **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय, (घ) **शुष्मम्**=शत्रुओं के शोषक अर्थात् बलवान्, (ङ) **धनस्पृतम्**=धनों का स्पर्श करनेवाले अर्थात् खूब कमानेवाले, (च) **उक्थ्यम्**=स्तुतियों में उत्तम, (छ) **विश्वचर्षणिम्**=(सर्वस्य द्रष्टारम्—सा०) सबका ध्यान करनेवाले पुत्र को **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हुए **पुष्येम**=पुष्ट करें। २. एवं प्रस्तुत मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि जिस घर में धनों का विनियोग यज्ञों में होता है, उस घर में सन्तान उत्तम होते हैं तथा उस घर के व्यक्ति शतवर्ष के दीर्घजीवी होते हैं।

भावार्थ—धनों का यज्ञों में विनियोग करते हुए हम उत्तम सन्तान व दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—नोधा गौतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

कैसा धन

नु ष्ठिरं मरुतो वीरवन्तमृतीषाहं रयिमस्मासु धत्त।
सहस्रिणं शतिनं शूशुवांसं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥१५॥

१. **नु**=अब हे **मरुतः**=मरुतो! **अस्मासु**=हममें **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण करो। कैसे धन को?—(क) **स्थिरम्**=जो धन स्थिर है, चञ्चलतारहित है, हमारे पास स्थिर होकर रहनेवाला है, (ख) **वीरवन्तम्**=(वीर्योपेतम्—सा०) शक्ति से युक्त है, हमें निर्बल बनानेवाला नहीं है, (ग) **ऋती-**

षाहम्=(गन्तॄणां शत्रूनामभिभवितारम्—सा०) जो धन शत्रुओं का पराभव करनेवाला है, हमें निर्बल बनाकर शत्रुओं के वशीभूत करनेवाला नहीं है, (घ) **सहस्रिणम्**=(स+हस्) जो धन आनन्द से युक्त है, हमें क्षीणशक्ति करके निरानन्द जीवनवाला नहीं कर देता; (ङ) **शतिनम्**=जो हमें सौ वर्ष का आयुष्य प्राप्त करानेवाला है, (च) **शूशुवांसम्**=जो गति व वृद्धि का कारण है, जिस धन को प्राप्त करके हम क्रियामय जीवनवाले बने रहते हैं और जो धन हमारी वृद्धि का कारण बनता है। २. ऐसे धन को प्राप्त करके हम उत्तम जीवनवाले ही बने रहें, इसके लिए हे प्रभो ! आप ऐसी कृपा कीजिए कि हमें **प्रातः मक्षु**=प्रातः शीघ्र ही **धियावसुः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा निवास के लिए आवश्यक धनों को जुटानेवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो अर्थात् उत्तम पुरुषों के सङ्ग से हम धनों की सम्भावित हानियों से बचे रहें।

भावार्थ—हमें वृद्धि के कारणभूत धन प्राप्त हों और सत्सङ्ग प्राप्त हो ताकि धन के कारण हमारा जीवन विलासमय न बन जाए।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है कि हम प्रभु के उपासक बनें (१)। उपासक ज्ञानी व तेजस्वी होते हैं (२)। ये शोधकबल प्राप्त करके पार्थिव व दिव्य प्रलोभनों में नहीं फँसते (३)। प्राण-साधना उतनी ही आवश्यक है जितनी कि देशरक्षा के लिए सैन्य शक्ति (४)। प्राणसाधना से ज्ञान बढ़ता है, शरीर पुष्ट होता है (५)। इस प्राणसाधना से हम अन्तःस्थित ज्ञानस्रोत का दोहन करनेवाले बनते हैं (६)। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ बलसम्पन्न होती हैं (७)। प्राणसाधक पुरुष शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले तथा लोकों पर सुखों की वर्षा करनेवाले होते हैं (८), स्वस्थ व ज्ञानी बनते हैं (९), ज्ञान, धन व बल तीनों का वर्धन करते हैं (१०)। प्राणसाधना हमें यज्ञशील व देदीप्यमान दृष्टिवाला बनाती है (११)। प्राण शरीर के रोगों को नष्ट करते हैं और वृत्तियों को उत्तम बनाते हैं (१२)। इस साधना से हम औरों को लाँघ जाते हैं (१३), उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं (१४), वृद्धि के कारणभूत धन के भागी होते हैं (१५)।

नोट—५८ से ६४ तक सूक्त 'नोधा गौतम' ऋषि के हैं। एक सूक्त को छोड़कर सब सूक्त **'प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्'** इस प्रार्थना पर ही समाप्त हुए हैं। वस्तुतः सत्सङ्ग ही हमें 'नोधा गौतम'—इन्द्रियों का धारण करनेवाला व प्रशस्तेन्द्रिय बनाता है। यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष अब 'पराशर शाक्त्य' बनता है—शक्ति का पुञ्ज, शत्रुओं को सुदूर मार भगानेवाला। यह प्रभु का इस प्रकार आराधन करता है—

[६५] पञ्चषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

धीर, सजोष व यजत्र

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्।
सजोषा धीराः पदैरनु ग्मन्नुप त्वा सीदन्विश्वे यजत्राः ॥१॥

१. **पश्वा न**=(पश्यति) सबके द्रष्टारूप से **तायुम्**=सबका पालन करनेवाले प्रभु को **अनुग्मन्**=प्राप्त करते हैं। प्रभु सबका ध्यान करते हैं (Look after), सबकी आवश्यकताओं को जानते हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सबका पालन करते हैं। २. वे प्रभु **गुहा चतन्तम्**=हृदयरूप गुहा में गति करते हैं, 'गुहा-चरन् नाम'। हमारे हृदयों में निवास के कारण हमारी सब परिस्थितियों को ठीक समझते हैं। वास्तविकता तो यह है कि अल्पज्ञता के कारण हम अपने को उतना नहीं जानते, जितना

कि प्रभु । ३. **नमः युजानम्**=सब प्रकार के अन्नैश्वर्यों को अपने साथ जोड़ते हुए उस प्रभु को प्राप्त करते हैं । सम्पूर्ण अन्नों व ऐश्वर्यों के स्वामी वे प्रभु ही हैं । **नमः वहन्तम्**=इस अन्न व ऐश्वर्य को वे जीवों को यथोचित रूप से प्राप्त कराते हैं । ४. इस प्रभु को **धीराः**=(धियि रमते) बुद्धि में रमण करनेवाले, ज्ञान-प्रधान रुचिवाले लोग प्राप्त करते हैं । वे धीरपुरुष जोकि **सजोषाः**=अपने कर्तव्यकर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं (जुषी प्रीतिसेवनयोः) । ५. वे प्राप्त करते हैं **पदैः**=शब्दों से, ज्ञान की वाणियों से तथा 'पद् गतौ' गतियों से, कर्मों से । 'धीराः' का सम्बन्ध ज्ञान की वाणियों से है और 'सजोषाः' का सम्बन्ध कर्मों से । ६. हे प्रभो ! **विश्वे**=सब **यजत्राः**=यज्ञ के द्वारा अपना त्राण करनेवाले लोग **त्वा**=आपके **उप**=समीप **सीदन्**=आसीन होते हैं । **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** उस यज्ञपुरुष प्रभु की उपासना यज्ञों द्वारा ही होती है । यज्ञ के अन्तर्गत 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' ही प्रमुख धर्म हैं—**'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** इन धर्मों के पालन से हम प्रभु के समीप होते हैं ।

भावार्थ—धीर, सजोष व यजत्र ही प्रभु की प्राप्ति करते हैं । प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम ज्ञान में रमण करें (धीर), अपने कर्तव्यों का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों (सजोष), यज्ञात्मक कर्मों के द्वारा अपना रक्षण करें (यज्ञत्र) ।

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

पृथिवी को स्वर्ग बनाना

ऋतस्य॑ दे॒वा अनु॑ व्र॒ता गुर्भुव॒त्परि॑ष्टि॒र्द्यौर्न भूम॑ ।
वर्ध॑न्ती॒माप॑: प॒न्वा सुशि॑श्विमृ॒तस्य॒ योना॒ गर्भे॒ सुजा॑तम् ॥२॥

१. **देवाः**=संसार-यात्रा में विजिगीषावाले लोग **ऋतस्य**=ऋत के **व्रता**=व्रतों का **अनुगुः**=पालन करते हैं । ऋत का पालन करनेवाला व्यक्ति कभी असफल नहीं होता । ऋत का अभिप्राय है प्रत्येक बात को ठीक समय व ठीक स्थान पर करना । सूर्य-चन्द्रमा की भाँति अपनी दिनचर्या में नियमित होना ही ऋत का पालन करना है । २. इनके जीवन में **परिष्टिः**=(Searching all round) सर्वत्र सत्य का अन्वेषण **भुवत्**=होता है । इनका जीवन ही 'Experiments with truth' सत्य का अन्वेषण हो जाता है । इनकी सब क्रियाएँ सत्य के परीक्षण के लिए होती हैं । ३. इस प्रकार ये नियमित दिनचर्यावाले व सत्यान्वेषण में लगे हुए लोग **भूम**=इस पृथिवी को **द्यौः न**=स्वर्ग की भाँति बना देते हैं । पृथिवी को स्वर्ग बना देने में ही मानव-जीवन की सफलता है । ४. इस पृथिवी को स्वर्ग बनाने के लिए ही **आपः**=आप्त लोग अथवा प्रजाएँ [आपो वै नरसूनवः] **ईम्**=निश्चय से इस प्रभु को **पन्वा**=स्तुति के द्वारा **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं अर्थात् इस प्रभु की स्तुति करते हैं जोकि (क) **सुशिश्विम्**=(श्वि गतिवृद्धचोः) उत्तमता से गति के द्वारा संसार का वर्धन कर रहे हैं, (ख) **ऋतस्य योनौ**=ऋत के गृह में **सुजातम्**=प्रादुर्भूत होते हैं अर्थात् प्रभु का प्रकाश उसी गृह में होता है जहाँ ऋत का पालन होता है अथवा जो ऋत के मूल में हैं अर्थात् ऋत का उत्पत्तिस्थान हैं, ऋत को जन्म देनेवाले हैं । (ग) **गर्भे सुजातम्**=वे प्रभु हमारे अन्दर ही—हृदय में ही प्रादुर्भूत होनेवाले हैं, हृदय में ही उनका दर्शन होता है ।

भावार्थ—हम ऋत का पालन करें और प्रभु-दर्शन की योग्यता को सिद्ध करें । यही पृथिवी को स्वर्ग बनाने का मार्ग है ।

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

प्रभु-वरण-विरलता (आश्चर्यो द्रष्टा कुशलानुशिष्टः)

पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु ।
अत्यो नाज्मन्त्सर्गप्रतक्तः सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते ॥३॥

१. वे प्रभु **पुष्टिः न**=पुष्टि के समान **रण्वा**=रमणीय हैं। जिस प्रकार शरीर के पूर्ण पुष्ट व स्वस्थ होने से आनन्द अनुभव होता है, उसी प्रकार उस प्रभु-प्राप्ति का आनन्द है। प्रभु-प्राप्ति का आनन्द वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, वह तो अनुभव की ही वस्तु है। २. **क्षितिः न पृथ्वी**=वे प्रभु सबको निवास देनेवाली भूमि के समान (प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत हैं। वास्तविकता तो यह है कि ऐसी कितनी ही भूमियाँ उस प्रभु के एक देश में समायी हुई हैं—अनन्त विस्तार है उस प्रभु का। ३. **गिरिः न**=पर्वत के समान **भुज्म**=वे प्रभु हमें सब भोग प्राप्त कराके पालन करनेवाले हैं। पर्वतों से नाना प्रकार के फल, धातु व अन्य पदार्थ प्राप्त होकर प्रजाओं का पालन होता है। वे प्रभु ही वस्तुतः सब पालन-व्यवस्थाओं को करनेवाले हैं। पर्वतों से नदियों को प्रवाहित करके सब अन्नों को उपजाते हुए वे प्रभु ही हमारा पालन कर रहे हैं। ४. **क्षोदः न**=जल के समान वे प्रभु **शंभु**=शान्ति देनेवाले हैं। गर्मी से सन्तप्त मनुष्य को जल-शान्ति प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार संसार के दावानल से सन्तप्त मनुष्य को प्रभु ही शान्ति देनेवाले हैं। प्राकृतिक भोग अन्ततः अशान्ति का कारण बनते हैं, उस समय प्रभु ही शान्ति को पुनः प्राप्त करानेवाले होते हैं। ४. **अज्मन्**=संग्राम में **सर्गप्रतक्तः**=स्वभाव से ही प्रेरित हुए-हुए **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान हैं। जैसे संग्राम में अश्व विजय का कारण होता है, वैसे ही प्रभु हमारे लिए इस संसार-संग्राम में विजय का कारण बनते हैं। प्रभु जीव की सहायता किसी कारण से करते हों यह बात नहीं, यह तो उनका स्वभाव ही है। ५. **सिन्धुः न क्षोदः**=(स्यन्दते इति सिन्धुः) वे प्रभु निरन्तर बहनेवाले जल के समान आगे और आगे चलनेवाले हैं (क्षुद् to move on), प्रभु को अपने कार्यों में कोई रोकनेवाला नहीं है। उसके कर्म अबाध गति से होते ही रहते हैं। **कः ईम् वराते**=(क) कौन इसे अपने कार्यों में रोकता है? अर्थात् प्रभु के कार्यों में कोई रुकावट पैदा नहीं कर सकता, अथवा (ख) कौन है जो उस प्रभु का वरण करता है? संसार में कोई एक-आध व्यक्ति ही प्रभु की ओर झुकता है।

भावार्थ—प्रभु का वरण विरला ही व्यक्ति करता है।

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराट् पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

प्रभु का वरण करनेवाला

जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्रामिभ्यान्न राजा वनान्यत्ति ।
यद्वातजूतो वना व्यस्थादग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्याः ॥४॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा गया था कि कोई विरला व्यक्ति ही उस प्रभु का वरण करता है, उसी का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—यह प्रभु का वरण करनेवाला **सिन्धूनां जामिः**=स्यन्दनशील जलों का बन्धु होता है, अर्थात् यह भी जलों की भाँति स्वाभाविक गतिवाला होता है अथवा शरीर में रेतःरूप में रहनेवाले जलों का यह अपने में प्रादुर्भाव करनेवाला होता है। २. **स्वस्रां भ्राता इव**=यह इस लोक में बहनों के लिए भाई के समान होता है। जिस प्रकार भाई बहन को कुछ देता ही है, उसका कुछ छीनने का स्वप्न नहीं लेता, उसी प्रकार यह औरों का कुछ सहायक ही होता है, औरों के

धन को छीननेवाला नहीं होता। ३. **न**=जैसे **राजा**=राजा **इभ्यान्**=(भियं यन्ति) शत्रुओं को **अत्ति**=समूल नष्ट करता है, इसी प्रकार यह कामादि अन्तःशत्रुओं को नष्ट करनेवाला होता है। ४. यह **वनानि**=वानस्पतिक पदार्थों को ही **अत्ति**=खाता है, अर्थात् मांसभोज से सदा दूर रहता है। ५. **यत्**=जब **वातजूतः**=वायु से प्रेरणा प्राप्त हुआ-हुआ अर्थात् वायु की भाँति निरन्तर गति करता हुआ **वना**=(वन संभक्तौ) उपासना में **व्यस्थात्**=विशेषरूप से स्थित होता है अर्थात् प्रभु का उपासक होता हुआ कर्मों में लगा रहता है। ६. यह **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला जीव **पृथिव्याः**=पृथिवी के **रोम**=रोमतुल्य ओषधि-वनस्पतियों को **ह**=ही **दाति**=काटता है, इन्हें ही अपना भोज्य पदार्थ समझता है। इन ओषधियों को भी मूल से हिंसित नहीं करता 'ओषध्यास्ते मूलं मा हिँसिषम्'। इस प्रकार करुणात्मक स्वभाववाला व्यक्ति ही प्रभु का प्रिय होता है। प्रभु का प्रिय बनने के लिए ही इसने इस प्रकार अपने जीवन को सुन्दर बनाया है।

भावार्थ=प्रभु का वरण करनेवाला (क) जलप्रवाह की भाँति गतिशील होता है, (ख) सबका भला करता है, किसी का कुछ छीनता नहीं, (ग) कामादि शत्रुओं को नष्ट करता है, (घ) वानस्पतिक भोजन करता है, (ङ) वायु के समान कर्मशील होता है, (च) निष्कामभाव से प्रभु की उपासना करता है [उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः]

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

उपासन

श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुषर्भुत्।
सोमो न वेधा ऋतप्रजातः पशुर्न शिश्वा विभुर्दूरेभाः॥५॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि प्रभु का वरण करनेवाला उपासना में स्थित होता है। वह निम्न शब्दों में उपासना करता है—ये प्रभु **अप्सु**=प्रजाओं में **श्वसिति**=प्राणधारण करते हैं—**'यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते'**—इन केनोपनिषद् के शब्दों के अनुसार प्राणों के आधार प्रभु ही हैं, वे ही हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। २. ये प्रभु **हंसः न**=हंस के समान **सीदन्**=हमारे हृदयों में स्थित हैं। हंस जैसे नीर-क्षीर-विवेक कर डालता है, उसी प्रकार हृदयस्थरूपेण ये प्रभु हमें निरन्तर पाप-पुण्य का विवेक प्राप्त करा रहे हैं। पाप के लिए भय और पुण्य के लिए उत्साह प्रभु की ओर से ही प्राप्त होता है। ३. **क्रत्वा**=अपने ज्ञान से वे प्रभु **चेतिष्ठः**=हमें अधिक-से-अधिक चेतनायुक्त करनेवाले हैं। **विशाम्**=सब प्रजाओं के लिए **उषर्भुत्**=उषःकाल में बोध देनेवाले हैं (उषसि बोधयति)। इसीलिए इस समय को ब्राह्ममुहूर्त नाम दिया गया है। यह समय ब्रह्म के समीप बैठने का है। ४. **सोमः न वेधाः**=यह प्रभु सोम के समान विधाता है। अत्यन्त शान्तभाव से अपने सृष्टिनिर्माण, धारण व प्रलयादि कार्यों में वे संलग्न हैं। ५. **ऋतप्रजातः**=(क) 'ऋतं प्रजातं यस्मात्' ऋत को जन्म देनेवाले हैं। **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** ऋत और सत्य उस प्रभु के देदीप्यमान तप से ही उत्पन्न हुए हैं। अथवा (ख) ऋत के द्वारा उस प्रभु का आविर्भाव होता है 'ऋतेन प्रजातं यस्य'। हम ऋत का पालन करते हैं तो प्रभु के दर्शन के अधिकारी बनते हैं। ६. **पशुः न शिश्वा**=जैसे बछड़े आदि शिशुओं के साथ गवादि पशु का स्वाभाविक स्नेह है, उसी प्रकार प्रभु का हमसे स्वाभाविक स्नेह है। पशु बच्चों से प्रत्युपकार के विचार से प्रीति नहीं करते, इसी प्रकार प्रभु का जीव के प्रति प्रेम स्वाभाविक है। ७. वे प्रभु **विभुः**=सर्वव्यापक हैं और **दूरेभाः**=दूर-से-दूर प्रदेश में भी उनकी दीप्ति है। सर्वत्र प्रभु का प्रकाश है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**—उसी के प्रकाश से सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे प्राण हैं, धर्माधर्म का ज्ञान देनेवाले हैं। सम्पूर्ण ज्ञान प्रभु से ही प्राप्त होता है। शान्तभाव से प्रभु अपना कार्य करते हैं। ऋत के पालन से प्रभु-दर्शन होता है। वे प्रभु व्यापक व प्रकाशरूप हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि 'धीर, सजोष व यजत्र' पुरुष प्रभु को प्राप्त करते हैं (१)। वे ऋत के पालन से पृथिवी को स्वर्ग बना देते हैं (२)। कोई विरला ही होता है जो उस प्रभु का वरण करता है (३)। प्रभु का वरण वानस्पतिक भोजन करनेवाला ही करता है (४)। यह प्रभु को व्यापक व प्रकाशमय-रूप में देखता है (५)। प्रभु को ही यह अपना अद्भुत धन बनाता है—

[६६] षट्षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अद्भुत धन

र॒यिर्न चि॒त्रा सूरो॒ न सं॒दृगायु॒र्न प्रा॒णो नित्यो॒ न सू॒नुः।
तक्वा॒ न भूर्णि॒र्वना॑ सिषक्ति॒ पयो॒ न धे॒नुः शुचि॒र्वि॒भावा॑ ॥१॥

१. पराशर ऋषि कहता है कि वे प्रभु मेरे लिए **चित्रा रयिः न**=अद्भुत धन के समान हैं, चायनीय=पूजनीय धन के तुल्य हैं। जैसे धन का संग्रह किया जाता है, उसी प्रकार वे प्रभु मेरे द्वारा संग्रहणीय हैं। २. **सूरः न**=सूर्य के समान वे **संदृक्**=सम्यक् प्रकाश करनेवाले हैं। सूर्योदय होते ही सम्पूर्ण अन्धकार लुप्त हो जाता है, इसी प्रकार प्रभु-सूर्य के उदय होने पर मेरे हृदय का अन्धकार विनष्ट हो जाता है। उपनिषद् के शब्दों में उस प्रभु के ज्ञात होने पर सब-कुछ ज्ञात हो जाता है। ३. **आयुः न**= आयु की भाँति **प्राणः**=वे प्रभु मेरे प्राण हैं। वस्तुतः 'स उ प्राणस्य प्राणः' प्राण के भी प्राण वे प्रभु ही हैं। वास्तविक जीवन को देनेवाले वे प्रभु ही हैं। ४. **नित्यः न**=(नि=In) सदा अन्दर होनेवाली वस्तु की भाँति अर्थात् सदा हृदयस्थ होते हुए वे **सूनुः**=(षू प्रेरणे) प्रेरणा देनेवाले हैं। ५. **तक्वा न**=गतिशील घोड़े की भाँति **भूर्णिः**=वे मेरा भरण करनेवाले हैं। घोड़ा पीठ पर बैठे मनुष्य को स्थान से स्थानान्तर पर ले-जाता है, इसी प्रकार वे प्रभु मेरी जीवन-यात्रा में मुझे लक्ष्य तक पहुँचानेवाले हैं। ६. **पयः न**= आप्यायन करनेवाले दूध की भाँति वे प्रभु **धेनुः**=प्रीणित करनेवाले हैं। ७. ये **शुचिः**=पूर्ण पवित्र **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु **वना**=उपासकों को (वन संभक्तौ) **सिषक्ति**=(समवैति) प्राप्त होते हैं। मैं प्रभु का उपासक होता हूँ, वे प्रभु मुझे प्राप्त होते हैं। मुझे वे मन में 'शुचि' और मस्तिष्क में 'विभावा' बनाते हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु को ही अपना धन समझूँ। प्रभु की शरण में जाने से ही मेरी यात्रा पूर्ण होगी। मैं 'शुचि' व 'विभावा' बनूँगा।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

क्षेम का धारक

दा॒धार॒ क्षेम॒मोको॒ न र॒ण्वो यवो॒ न प॒क्वो जेता॒ जना॑नाम्।
ऋषि॒र्न स्तुभ्वा॑ वि॒क्षु प्र॒श॒स्तो वा॒जी न प्री॒तो वयो॑ दधाति ॥२॥

१. वे प्रभु **क्षेमं दाधार**=प्राणिमात्र के कल्याण का धारण करते हैं। वे **ओकः न**=घर के समान **रण्वः**=रमणीय हैं। जैसे एक मनुष्य घर में आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार उस प्रभु में स्थित

व्यक्ति एक अवर्णनीय आनन्द पाता है। २. **यवः न पक्वः**=यव के समान वे प्रभु पूर्ण परिपक्व हैं। यव की विशेषता है—'बुराइयों को दूर करनेवाला तथा अच्छाइयों को मिलानेवाला'। वे प्रभु भी इसी प्रकार सब बुराइयों से दूर व अच्छाइयों से युक्त हैं। अपने उपासक के लिए वे इस पक्व यव के समान हैं। **जनानां जेतां**=लोगों के विजेता हैं अर्थात् लोगों की प्रत्येक विजय को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु ही हैं। सब बुराइयों पर विजय दिलाकर प्रभु ही अपने भक्तों के जीवनों को सुन्दर बनाते हैं। ३. **ऋषिः न**= एक तत्त्वद्रष्टा के समान वे **स्तुभ्वा**=(स्तुभ् to stop, to suppress) सब कष्टों का निवारण करनेवाले हैं। तत्त्वज्ञान देकर भक्तों के कष्टों का अन्त कर देते हैं। **विक्षु**=प्रजाओं में **प्रशस्तः**=वे प्रशस्त हैं। तत्त्वज्ञान देकर ही वस्तुतः प्रजाओं के जीवन को वे सुन्दर बनाते हैं। ४. **वाजी न**=एक शक्तिशाली घोड़े के समान वे **प्रीतः**=प्रीणित करनेवाले हैं। शक्ति देकर प्रीति (प्रसन्नता) उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार **वयः**= उत्कृष्ट जीवन को **दधाति**=धारण करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ही वस्तुतः हमारा कल्याण करते हैं। हमारी बुराइयों को दूर करते हैं, शक्ति व ज्ञान देकर जीवन को प्रशस्त बनाते हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

दुर्लभ दीप्तिवाले प्रभु

दुरोकशोचिः क्रतुर्न नित्यो जायेव योनावरं विश्वस्मै।
चित्रो यदभ्राट्छ्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी त्वेषः समत्सु ॥३॥

१. वे प्रभु **दुरोकशोचिः**=(उच समवाये=ओक) दुर्लभ दीप्तिवाले हैं। गीता में कहा है कि **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥** हज़ारों सूर्यों की दीप्ति आकाश में उठ खड़ी हो तो शायद उस प्रभु की दीप्ति के कुछ तुल्य हो सके। २. **क्रतुः न**=संकल्प के समान अथवा ज्ञान की भाँति वह **नित्यः**=अन्दर से होनेवाला है। जैसे संकल्प हृदय में स्थित है, उसी प्रकार वे प्रभु सदा हमारे हृदय में स्थित हैं। ३. **योनौ**=गृह में **इव**=जिस प्रकार **जाया**=पत्नी **विश्वस्मै अरम्**=सबके लिए, सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समर्थ होती है व सब सन्तानों के जीवन को अलंकृत करती है, उसी प्रकार प्रभु सब भक्तों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं और सब भक्तों के जीवनों को गुणालंकृत करते हैं। ४. वे प्रभु **चित्रः**=अद्भुत हैं। **यत् अभ्राट्**=जब चमकते हैं अर्थात् अद्भुत दीप्तिवाले हैं। **विक्षु**=प्रजाओं में **श्वेतः न**=अत्यन्त शुभ्र के समान हैं। वस्तुतः जब प्रभुभक्तों के हृदयों में दीप्त होते हैं तो उनके जीवनों को अत्यन्त शुद्ध बना देते हैं। ५. वे प्रभु **रथो न रुक्मी**=एक स्वर्ण के रथ (Golden chariot) के समान हैं। जो भी जीव इस स्वर्णरथ पर आरोहण करता है, वह अपनी यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण कर पाता है। वे प्रभु इस भक्त के लिए **समत्सु**=संग्रामों में **त्वेषः**= दीप्ति के समान हैं। वासनाओं के साथ संग्राम में इस प्रभु के तेज से ही तेजस्वी होकर हम विजय प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अत्यन्त दुर्लभ दीप्तिवाले हैं। वे ही हमारे जीवनों को दीप्ति से दीप्त करते हैं और संग्रामों में विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कनीनां जारः

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥४॥

१. वे प्रभु अपने भक्त के अन्तःकरण में **अमं दधाति**=शक्ति को उसी प्रकार धारण करते हैं **इव**=जिस प्रकार **सृष्टा सेना**=प्रेरित की हुई सेना बल को धारण करती है। २. प्रभु की उपासना से उपासक की शक्ति **अस्तुः**=अस्त्र फेंकनेवाले की **त्वेषप्रतीका**=दीप्त मुखवाली **दिद्युत् न**=वज्र के समान होती है। जैसे वज्र शत्रुओं का संहार करता है, वैसे ही उपासक की शक्ति वासनारूप शत्रुओं का संहार करती है। ३. उपासक के लिए **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ह**=निश्चय से **जातः**=प्रादुर्भूत हुए हैं। **यमः**= वह नियन्ता प्रभु ही **जनित्वम्**=उपासक की शक्तियों के विकास के कारण हैं। वे प्रभु **कनीनां जारः**= (कनयति=to lessen) न्यूनताओं को जीर्ण करनेवाले हैं तथा **जनीनाम्**=विकासों के **पतिः**=रक्षक हैं अर्थात् वे प्रभु न्यूनताओं को दूर करके हमारे विकास का कारण बनते हैं।

भावार्थ—उपासना से शक्ति प्राप्त होती है, जीवन का विकास होता है, न्यूनताएँ दूर होती हैं तथा विकास की वृद्धि व रक्षण होता है।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

स्वर्दृशीक प्रभु

तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्।
सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनोन्नवन्त गावः स्वर्दृशीके ॥५॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को जो **इद्धम्**=ज्ञानज्योति से सर्वतः दीप्त हैं, **वयम्**=हम उसी प्रकार प्राप्त होते हैं **न**=जैसे **गावः**=गौएँ **अस्तम्**=घर को। 'किस साधन से प्राप्त होते हैं'— इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **वः**=तुम्हारे **चराथा**=(चरन्त्या पश्वाहुत्या—निरु० १०।२१) अत्यन्त तीव्र गतिवाले काम-क्रोधादि पशुओं की आहुति से, अर्थात् सामान्यतः मनुष्यों में जो काम-क्रोधादि पाशविक वृत्तियों का निवास है, जो वृत्तियाँ मनुष्य को अत्यन्त अशान्त बना देती हैं, इनकी आहुति देने से। काम-क्रोधादि के भस्मीकरण से ही हम उस प्रभु को प्राप्त करते हैं। (ख) **वसत्या**=(निवसन्त्यौषधाहुत्या— निरु०)उत्तम निवास के कारणभूत यव व व्रीहि (जौ-चावल)आदि औषधों(व्रीहियवौ दिवस्पुत्रौ अमृत्यौ) की आहुति से, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के लिए हम व्रीहि-यवादि सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हैं। इस प्रकार प्रभु-प्राप्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(क) काम-क्रोधादि को भस्म करना और (ख) जौ-चावल आदि सात्त्विक अन्नों का सेवन करना। २. जब हम इस प्रकार प्रभु को प्राप्त करते हैं तो वे प्रभु **सिन्धुः न क्षोदः**=स्यन्दनशील जल की भाँति **नीचीः**=(नितरामञ्चतीः) अत्यन्त उद्गत होती हुई ज्ञान की ज्वालाओं को **प्र ऐनोत्**=हमारे हृदयदेशों में प्रेरित करता है। जिस प्रकार जलधारा का प्रवाह स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार हममें ज्ञानधाराओं का प्रवाह स्वाभाविक हो जाता है। वस्तुतः **गावः**= सम्पूर्ण ज्ञानरश्मियाँ **स्वर्दृशीके**=आदित्य के समान दर्शनीय (आदित्यवर्णम्) प्रभु में **नवन्त**=संगत होती हैं। सम्पूर्ण ज्ञानरश्मियाँ उस प्रभु में हैं और जो भी प्रभु को प्राप्त करता है, वह इन ज्ञानरश्मियों से अपने को दीप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए काम-दहन व सात्त्विक अन्न सेवन आवश्यक हैं। वे प्रभु हमें अपनी ज्ञानरश्मियों से दीप्त करते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि—वे प्रभु हमारे अद्भुत धन हैं (१)। वे ही क्षेम के धारक हैं (२)। दुर्लभ दीप्तिवाले हैं (३)। हमारी न्यूनताओं को दूर करते हैं और (४) हमें ज्ञान की किरणों को प्राप्त कराते हैं (५)। वे प्रभु उपासकों में ही प्रादुर्भूत होते हैं—

[६७] सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

हव्यवाट् प्रभु

वनेषु जायुर्मर्तेषु मित्रो वृणीते श्रुष्टिं राजेवाजुर्यम्।
क्षेमो न साधुः क्रतुर्न भद्रो भुवत्स्वाधीर्होता हव्यवाट् ॥१॥

१. वे प्रभु **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) अथवा एकान्त देशों में **जायुः**=प्रादुर्भूत होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं परन्तु उस प्रभु के प्रकाश को उपासक ही देखता है। एकान्त स्थान में ध्यान करनेवाला ही उस हृदयस्थ प्रभु का साक्षात्कार करता है। २. वे प्रभु **मर्तेषु**=मनुष्यों में **मित्रः**=उन्हें पाप से बचानेवाले (प्रमीतेस्त्रायते) साथी हैं। वे प्रभु **श्रुष्टिम्**=शीघ्रता से, अनालस्य भाव से कार्यों को सम्पन्न करनेवाले यज्ञशील पुरुष को ही **वृणीते**=वरते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे **राजा**=एक राजा **अजुर्यम्**=जीर्णता से रहित दृढ़ाङ्ग पुरुष को वरता है। ३. वे प्रभु **क्षेमः न**=कल्याण करनेवाले की भाँति **साधः**=हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं और **क्रतुः न**=कर्म करनेवाले के समान **भद्रः**=कल्याण करनेवाले हैं। वे प्रभु **स्वाधीः**=(सु+अधी) सदा उत्तम कर्मों और प्रज्ञानोंवाले **भुवत्**=हैं। ४. वे प्रभु ही **होता**=इस सृष्टियज्ञ के करनेवाले तथा **हव्यवाट्**=हव्य=उत्तम पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु के उपासक बनकर हम हव्य पदार्थों को क्यों न प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—उपासक के हृदय में प्रभु का प्रादुर्भाव होता है। वे प्रभु ही सब पदार्थों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ज्ञानपूर्वक स्तवन

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद् गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियन्धा हृदा यत्तष्टान्मन्त्राँ अशंसन् ॥२॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को हव्यवाट् कहा था। उसी का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि—वे प्रभु **हस्ते**=अपने हाथ में **विश्वानि**=सब **नृम्णा**=धनों को **दधानः**=धारण करते हुए और **गुहा निषीदन्**=अन्तःकरणरूप गुहा में स्थित हुए-हुए **देवान्**=ज्ञानपूर्वक स्तुति करनेवाले सब दिव्य पुरुषों को **अमे**=बल में **धात्**=धारण करते हैं। जो भी प्रभु को हृदयस्थरूपेण अनुभव करता है वह अपने में शक्ति का अनुभव करता है। प्रभुभक्त को किन्हीं भी आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। २. **अत्र**=यहाँ, इस मानव-जीवन में **धियं धाः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों का धारण करनेवाले **नरः**=उन्नतिशील पुरुष **ईम्**=निश्चय से **विदन्ति**=उस प्रभु को जानते हैं, पर जानते तब हैं **यत्**=जब **हृदा**=हृदय से, अत्यन्त श्रद्धा से **तष्टान्**=अतिसूक्ष्म रीति से विवेचित किये हुए, जिन्हें समझने का प्रयत्न किया गया है उन **मन्त्रान्**=वेदमन्त्रों क

अशंसन्=स्तवन के लिए उच्चारण करते हैं। एवं प्रभु-प्राप्ति के लिए 'ज्ञान, कर्म (धी) व उपासन तीनों ही आवश्यक हैं। यदि इनको अपने में समन्वित करके हम प्रभु को प्राप्त करते हैं तो वे प्रभु हमारे लिए सब धनों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन ही साधन है। वे प्रभु हमारे लिए सब धनों को हाथ में लिये हुए हैं। स्तोताओं को वे शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ब्रह्माण्ड का धारक प्रभु

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥३॥

१. **अजः न**=गति के द्वारा सब अवाञ्छनीय तत्त्वों को दूर करनेवाले के समान (अज गति-क्षेपणयोः) **क्षाम्**=सबको निवास देनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को वे प्रभु **दाधार**=धारण करते हैं। वे प्रभु ही **सत्यैः मन्त्रेभिः**=सत्य मन्त्रों के द्वारा, अपने पूर्ण शुद्धज्ञान से **द्यां तस्तम्भ**=द्युलोक को थामते हैं। पृथिवी व द्युलोक का धारण गति व ज्ञान के द्वारा प्रभु ही कर रहे हैं। २. जिस प्रकार जड़ जगत् में द्युलोक से पृथिवीलोक तक सारे ब्रह्माण्ड को प्रभु धारण कर रहे हैं, उसी प्रकार अपने मित्र जीव में आप **प्रिया पदानि**='वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' नामक तीनों प्रिय पदों की **नि पाहि**=रक्षा करें। आपकी कृपा से आपका भक्त 'सबका हित करनेवाला' बने (वैश्वानर), हित कर सकने के लिए वह तेजस्वी और ज्ञानी हो (तैजस्-प्राज्ञ)। ३. आप इस मित्र में **पश्वः**=काम-क्रोधादि पशुओं को भी **नि पाहि**=निश्चय से सुरक्षित करिए। ये पशु उच्छृङ्खलता से घूमते न रहें अपितु पिंजरे में कैद हुए सिंहादि की भाँति ये भी सुनियन्त्रित होकर शरीर की शोभा बढ़ानेवाले हों। इस प्रकार आप अपने इस मित्र को **विश्वायुः**=पूर्ण-जीवन प्राप्त करानेवाले हों। ४. **अग्ने**=हे प्रकाशस्वरूप अग्रणी प्रभो! आप **गुहा गुहं गाः**=बुद्धि के भी अत्यन्त गूढ़ स्थान में गये हुए हो अर्थात् आपका दर्शन तो अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से होता है—**'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**।

भावार्थ—प्रभु अपनी गति व ज्ञान से ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं, जीव को उन्नत स्थिति प्राप्त कराते हैं और सूक्ष्म बुद्धि से देखे जाते हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वसु-प्रवचन

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद्वसूनि प्र ववाचास्मै ॥४॥

१. **यः**=जो पुरुष **गुहा भवन्तम्**=बुद्धिरूपी गुहा में निवास करनेवाले प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **चिकेत**=जानता है और **यः**=जो **ऋतस्य धाराम्**=ऋत की वाणी को, सत्य ज्ञान की प्रतिपादिका वेद-वाणी को **आससाद**=सर्वथा प्राप्त करता है अर्थात् जो चित्तवृत्ति के निरोध से हृदय में प्रभु-दर्शन करता है और वेदवाणी के अध्ययन से सत्यज्ञान को प्राप्त करता है, २. और ऋत की धाराओं को प्राप्त करने से **ये**=जो **ऋता**=सत्य व यज्ञों का **सपन्तः**=सेवन करते हुए **विचृतन्ति**=अविद्या-ग्रन्थियों का विकिरण या विक्षेपण करते हैं **अस्मै**=इस व्यक्ति के लिए **आत् इत्**=ठीक इसके पश्चात्, बिना किसी विलम्ब के

वसूनि=वसुओं का **प्रववाच**=वे प्रभु उपदेश करते हैं। निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों का इसे वे प्रभु ज्ञान प्राप्त कराते हैं और सब ऐश्वर्यों को इसे प्रदान करते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु को हम जानें, सत्य की प्रतिपादिका वेदवाणी को प्राप्त करें और ऋत का सेवन करते हुए अविद्या-ग्रन्थि को विनष्ट करें। प्रभु हमारे लिए वसुओं का प्रवचन करेंगे।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः ।। देवता—अग्निः । छन्दः—विराट् पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

प्रभुरूप गृह में

वि यो वीरुत्सु रोधन्महित्वोत प्रजा उत प्रसूष्वन्तः ।
चित्तिरपां दमे विश्वायुः सद्मेव धीराः संमाय चक्रुः ॥५॥

१. **यः**=जो प्रभु **वीरुत्सु**=इन प्रतानिनी (फैलनेवाली) लताओं में **महित्वा**=अपनी महिमा से **विरोधत्**=विविध पुष्पादिकों को उत्पन्न करते हैं **उत**=और **प्रजाः**=इन फलों को उत्पन्न करते हैं, **उत**=तथा **प्रसूषु अन्तः**=माताओं में—मातृगर्भों में **प्रजाः**=सन्तानों को प्रकट करते हैं। २. जो प्रभु **अपाम्**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) प्रजाओं के लिए **चित्तिः**=ज्ञान देनेवाले हैं। सर्गारम्भ में प्रभु ही तो ज्ञान देनेवाले हैं—'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। ३. वे प्रभु **दमे**=दमन के होने पर **विश्वायुः**=पूर्णायु देनेवाले हैं। प्रभु ने शरीर में वीर्य आदि धातुओं की उत्पत्ति की ऐसी सुव्यवस्था की है कि यदि मनुष्य संयम द्वारा इनका अपव्यय न होने दे तो शरीर पूरी सौ वर्ष की आयु तक चलता है। ४. इस प्रभु का **धीराः**=ज्ञानी पुरुष **सद्म इव संमाय**=घर-सा बनाकर अर्थात् प्रभु को ही जीवन का आधार बनाकर **चक्रुः**=जीवन के कार्यों को करते हैं। प्रभुरूप गृह में रहते हुए उन्हें किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं होती। विघ्नों से न घबराते हुए ये उत्साह से अपने कार्यों में लगे रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा लताओं पर विकसित होनेवाले पुष्पों व फलों में दीखती है, यही महिमा मातृगर्भ में विकसित होनेवाली सन्तान में प्रकट होती है। ये प्रभु ही ज्ञान देनेवाले हैं, संयमी को पूर्णायु प्राप्त कराते हैं। धीर पुरुष प्रभु को ही घर बनाकर कार्यों में लगे रहते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को हव्यवाट् कहा है (१)। उस प्रभु का ही हमें ज्ञानपूर्वक स्तवन करना चाहिए (२)। प्रभु ही ब्रह्माण्ड के धारक हैं (३)। हमें इस प्रभु को जानने का प्रयत्न करना चाहिए (४)। प्रभु को ही घर बनाकर, ब्रह्मस्थ होकर कार्यों में लगे रहना चाहिए (५)। 'अपने को परिपक्व करनेवाला प्रभु का ही उपासन करता है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६८] अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

उपस्थान से परिपाक

श्रीणन्नुप स्थाद्दिवं भुरण्युः स्थातुश्चरथमक्तून्व्यूर्णोत् ।
परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवानां महित्वा ॥१॥

१. **श्रीणन्**=(श्री पाके) अपना परिपाक करनेवाला **उपस्थात्**=(उपतिष्ठेत्) प्रभु का उपासन करे। प्रभुनिष्ठ व्यक्ति अपने जीवन का सुन्दर परिपाक कर पाता है। आचार्य को 'मृत्यु' कहते हैं। यह आचार्य विद्यार्थी का ज्ञानाग्नि द्वारा परिपाक करता है (भ्रस्ज पाके)। प्रभु भी **दिवं भुरण्युः**=ज्ञान का

भरण करनेवाले हैं। इस ज्ञान से ही तो भक्त के जीवन का परिपाक करते हैं। २. वह प्रभु **स्थातुः चरथम्**=स्थावर-जंगम, चराचर—उभयात्मक जगत् को **व्यूर्णोत**=विशेषरूप से आच्छादित करते हैं। सारे ब्रह्माण्ड को वे अपने में धारण करते हैं और ब्रह्माण्ड को धारण करते हुए जीवों के हृदयों में **अक्तून्**=ज्ञान की रश्मियों को प्रकाशित करते हैं। हृदयों को ज्ञानरश्मियों से प्रकाशित करके इन जीवों को वे जीवनमार्ग के दर्शन के योग्य बनाते हैं। ३. वास्तविकता तो यह है **यत्**=कि वे **एकः देवः**=अद्वितीय मुख्य देव प्रभु ही **एषां विश्वेषां देवानाम्**=इन सब देवों के **महित्वा**=(महत्वानि) महत्त्वों को **परिभुवत्**=परितः व्याप्त करके वर्तमान हो रहे हैं। इन सब देवों को प्रभु ही देवत्व प्राप्त कराते हैं **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** उस देव की दीप्ति से ही ये सब देव दीप्त हो रहे हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**।

भावार्थ—जीवन के परिपाक के लिए प्रभु का उपस्थान आवश्यक है। प्रभु ही सबको देवत्व प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

'क्रतु, देवत्व व अमृत' (मोक्षमार्ग)

आदित्ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद्यद्देव जीवो जनिष्ठाः।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः॥२॥

१. हे **देव**=ज्ञानज्योति से देदीप्यमान प्रभो! **यत्**=जब **शुष्कात्**=(धर्मानुष्ठानतपसः—द०) उपवास व व्रतादि धर्मों के अनुष्ठानरूप तप से शरीरस्थ अवाञ्छनीय तत्त्वों का शोषण होता है तो आप **जीवः**=नवजीवन को देते हुए **जनिष्ठाः**=प्रादुर्भूत होते हो। तपस्या से हृदय निर्मल होकर उसमें प्रभु का प्रकाश होता है। **आत् इत्**=इसके ठीक पश्चात् **ते विश्वे**=वे सब तपस्वी लोग **क्रतुं जुषन्त**=ज्ञान व कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। ज्ञान व कर्म का प्रसङ्ग तो उनके जीवन में पहले भी चलता था, परन्तु अब प्रभु का प्रकाश होने पर इन ज्ञानपूर्वक कर्मों में उनकी प्रीति पहले से अधिक हो जाती है। ब्रह्मविदां वरिष्ठ लोग—ब्रह्मज्ञानी लोग अधिक क्रियामय जीवनवाले हो जाते हैं—**'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'**। २. ये **विश्वे**=सब **नाम सपन्तः**=आपके नाम का सेवन करते हुए और **ऋतं सपन्तः**=यज्ञादि उत्तम सत्यकर्मों का सेवन करते हुए **देवत्वं भजन्त**=देवत्व को प्राप्त करते हैं। देवत्व-प्राप्ति का मार्ग नाम और ऋत का सेवन ही है। इनके सेवन से हृदय शुद्ध बना रहता है। 'अकर्मण्यता व प्रभुभक्ति का अभाव' ही मनुष्य को असुर बनानेवाले हैं। २. ये देवत्व को प्राप्त करनेवाले लोग **एवैः**=क्रियाशीलता के द्वारा **अमृतम्**=नीरोगता का भी लाभ करते हैं। कर्म में लगे रहने से शरीर की शक्ति स्थिर रहती है, हृदय में बुरे विचार उत्पन्न नहीं होते, एवं इस गतिमयता से शरीर व मन दोनों का स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—तपस्या से प्रभु का प्रकाश होता है और इससे जीवन में ज्ञान व कर्म का विकास होता है। नाम व ऋत (यज्ञ) के सेवन से देवत्व की प्राप्ति होती है और क्रियाशीलता से नीरोगता बनी रहती है।

नोट—प्रस्तुत मन्त्र में 'क्रतु, देवत्व व अमृत'—शब्दों का यह क्रम सूचित करता है कि ज्ञानपूर्वक कर्मों से (क्रतु) ही देवत्व की प्राप्ति होती है। देव बनकर मनुष्य अमर हो जाता है। यही मोक्ष-मार्ग है।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः । देवता—अग्निः । छन्दः—पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

ऋत

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः ।
यस्तुभ्यं दाशाद्यो वा ते शिक्षात्तस्मै चिकित्वान् रयिं दयस्व ॥३॥

१. हे प्रभो ! आपकी कृपा से हमारे जीवनों में सदा **ऋतस्य**=ऋत की, सत्य की ही **प्रेषाः**= प्रेरणाएँ प्राप्त हों। हम अन्तःस्थित आपसे दी जानेवाली सत्य की प्रेरणाओं को सुनें। हम **ऋतस्य धीतिः**= ऋत का ध्यान व पान करनेवाले बनें। हमारा जीवन ऋतमय हो। अनृत को छोड़कर हम सत्य को प्राप्त करें। **विश्वायुः**=आप ही हमें सम्पूर्ण जीवन को प्राप्त करानेवाले हैं। २. आपमें ही **विश्वे**=सब **अपांसि**= कर्मों को **चक्रुः**=करते हैं—**'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'**—जीव प्रभु में ही कर्मों को धारण करता है। वस्तुतः क्रियामात्र प्रभु की शक्ति से हो रही है, जीव को अज्ञानवश कर्तृत्व का अहंकार हो जाता है। ज्ञानी पुरुष तो सब कर्मों को प्रभु-अर्पण करके ही संसार में चलते हैं। ३. हे प्रभो ! **यः**=जो भी **तुभ्यम् दाशात्**=आपके प्रति अपने को दे डालता है, **वा यः**=या जो **ते शिक्षात्**=आपसे शक्तिसम्पन्न होने की कामना करता है अथवा आपसे ज्ञान ग्रहण करना चाहता है **तस्मै**=उसके लिए **चिकित्वान्**=पूर्ण ज्ञानी होते हुए आप **रयिम्**=धनों को **दयस्व**=दीजिए (दय=दान)। आप अपने ज्ञान से 'उसके लिए क्या हितकारक है' यह जानते ही हैं। बस, उसी हितकर धन को आप शरणागत व्यक्ति को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन ऋतमय हो। हम प्रभु में स्थित होकर कार्य करनेवाले बनें। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु हमें आवश्यक धन अवश्य प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

ज्ञानी में प्रभु का निवास

होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासां पती रयीणां ।
इच्छन्त रेतो मिथस्तनूषु सं जानत स्वैर्दक्षैरमूराः ॥४॥

१. वह **होता**=सब आवश्यक पदार्थों का देनेवाला प्रभु **मनोः अपत्ये**=ज्ञानी की सन्तानों अर्थात् अत्यन्त ज्ञानी पुरुषों में **निषत्तः**=निश्चय से आसीन होता है। सर्वव्यापकता के कारण प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव करनेवाला ही उसकी सत्ता का लाभ उठा पाता है। २. यह अनुभवी ही यह समझता है कि **सः**=वह प्रभु **चित् नु**=ही **आसां रयीणाम्**=इन धनों के **पतिः**=स्वामी हैं। इस तत्त्वद्रष्टा को अपने सब कोशों के पूर्ण होने पर भी इन कोशों के धनों का गर्व नहीं होता। ३. ये लोग **तनूषु**=शरीरों के निमित्त अर्थात् सन्तान को जन्म देने के निमित्त **रेतः**=शक्ति को **मिथः**=परस्पर सम्बद्ध होकर पुत्ररूप में परिणत हुई **इच्छन्त**=चाहते हैं। इस शक्ति के संमिश्रण से उत्पन्न हुए शरीर में भी ये प्रभु की महिमा को देखते हैं। ४. **अमूराः**=ज्ञानी लोग अथवा (अम गतौ) कर्मनिष्ठ लोग **स्वैः दक्षैः**=आत्मबलों के साथ **संजानत**=संज्ञानवाले होते हैं, आत्मिक बल से युक्त होते हैं और उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त किये हुए होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग प्रभु को हृदयस्थरूपेण देखते हैं। उसी को सब धनों का स्वामी समझते हैं। शक्तियों के मेल से उत्पन्न होनेवाली सन्तान में उन्हें प्रभु की महिमा दिखती है और ये आत्मिक बल व ज्ञान से युक्त होकर क्रियाशील जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः । देवता—अग्निः । छन्दः—पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

सच्चे पुत्र

पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्ये अस्य शासं तुरासः ।
वि राय और्णोद्दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः ॥५॥

१. **पितुः पुत्राः न**=जो व्यक्ति पिता के सच्चे पुत्रों के समान होते हैं वे **क्रतुं जुषन्त**=यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। पुत्र वही है जो सुचरितों से पिता को प्रीणित करता है। इसी प्रकार प्रभु का सच्चा पुत्र वही जीव है जोकि प्रभु के यज्ञात्मक जीवन बिताने के आदेश को पालता है। **ये**=जो **अस्य**=इस पिता के **शासम्**=आदेश को **श्रोषन्**=सुनते हैं [**सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा प्रोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्** ॥—प्रभु ने यज्ञसहित प्रजाओं को उत्पन्न करके यही तो कहा कि इस यज्ञ से तुम फूलो-फलो, यह यज्ञ तुम्हारी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो।] जो भी व्यक्ति प्रभु के इस आदेश को सुनते हैं वे **तुरासः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले होते हैं। २. [ते]=वे **पुरुक्षुः**=(क्षु =अन्न) पालक और पूरक अन्नवाले प्रभु भी इस यज्ञात्मक जीवन बितानेवाले सच्चे पुत्र के लिए **रायः दुरः**=धन के द्वारों को **वि और्णोत्**=खोल देते हैं, अथवा **दुरः**=यज्ञ के द्वारभूत—साधनभूत धनों को **वि और्णोत्**=प्राप्त करानेवाले होते हैं। इन यज्ञात्मक जीवन बितानेवाले पुरुषों के लिए ही **दमूनाः**=सम्पूर्ण संसार का शासक **नाकम्**=द्युलोक को **स्तृभिः**=सितारों [Stars] से **पिपेश**=अलंकृत कर देता है। इन यज्ञशील पुरुषों का जन्म इन विविध लोकों में होता है। **'स्वर्गकामो यजेत'** यज्ञ के द्वारा ये इन स्वर्गभूत लोकों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सच्चा पुत्र वही है जो प्रभु के यज्ञात्मक जीवन बिताने के आदेश का पालन करता है। प्रभु इसे यज्ञार्थ धन प्राप्त कराते हैं और ज्योतिर्मय लोकों में जन्म देते हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि जीवन के परिपाक के लिए उपस्थान आवश्यक है (१)। ज्ञानपूर्वक कर्मों से देवत्व की प्राप्ति होती है (२)। हम यही चाहते हैं कि हमारा जीवन 'ऋतमय' हो (३)। प्रभु का निवास ज्ञानी पुरुषों में ही होता है (४)। प्रभु के सच्चे पुत्र यज्ञात्मक जीवन बिताते हैं, इन यज्ञों से वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं (५)। 'वे प्रभु ही हमारे पिता हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६९] एकोनसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः शक्तिपुत्रः । देवता—अग्निः । छन्दः—पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

पुत्र होते हुए पिता

शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः ।
परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् ॥१॥

१. वे प्रभु **शुक्रः**=अत्यन्त शुद्ध हैं, **शुशुक्वान्**=भक्तों के जीवनों को शुद्ध व दीप्त बनानेवाले हैं, **उषः न**=जैसे उषःकाल आकर अन्धकार को जीर्ण कर देता है, उसी प्रकार वे प्रभु हमारे हृदयान्धकारों को **जारः**=जीर्ण करनेवाले हैं। २. वे प्रभु **दिवः न**=द्युलोक के समान **समीची**=(सम् अञ्च) परस्पर मिलकर गति करनेवाले **ज्योतिः पप्रा**=ज्योति से पूर्ण कर देते हैं। 'समीची' शब्द का अर्थ भाष्यों में द्यावापृथिवी

किया गया है। **'द्यौरहं पृथिवी त्वम्'** इस वाक्य के अनुसार द्यावापृथिवी से यहाँ पति-पत्नी का ही ग्रहण है। वे पति-पत्नी जो बड़े प्रेम के साथ परस्पर सामञ्जस्यपूर्वक जीवन बिताते हैं। इनके जीवनों को प्रभु उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से भर देते हैं, जैसेकि इस द्युलोक से पृथिवीलोक तक व्यापक आकाश को प्रकाश से। ३. **क्रत्वा**=यज्ञों व ज्ञान से **प्रजातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए ये प्रभु **परिबभूथ**=चारों ओर व्याप्त हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु प्रभु-दर्शन हमें तभी होता है जबकि हम अपने जीवन में यज्ञ व ज्ञान को स्थान देते हैं। ४. वे प्रभु यज्ञशेष का सेवन करनेवाले (हविर्भुक्=देव) अथवा प्रकाशमय जीवन बिताने-वाले (दिव्=द्युति) **देवानाम्**=देवों के **पुत्रः सन्**=पुत्र होते हुए **पिता**=पिता हैं। 'पुत्र होते हुए पिता' इन शब्दों में विरोधाभास अलंकार है। इसका परिहार इस प्रकार है कि पुत्र का अर्थ 'पुनाति त्रायते'—पवित्र करता है और त्राण करता है, इस प्रकार कर लेने पर यह हो जाता है—'वे प्रभु देवों के जीवनों को पवित्र करते हैं और उनका त्राण करते हैं और इस प्रकार वे उनके पिता=पालयिता हैं।

भावार्थ—वे प्रभु दीप्त हैं, दीप्त करनेवाले हैं, देवों को पवित्रता व त्राण प्राप्त कराते हुए उनके पालयिता हैं।

ऋषिः—पराशरः शक्तिपुत्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वेधा व अदृप्त

वेधा अदृप्तो अग्निर्विजानन्नूधर्न गोनां स्वाद्मा पितूनाम्।
जने न शेवं आहूर्यः सन्मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे ॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु द्वारा रक्षित व्यक्ति **वेधाः**=विधाता—निर्माता होता है। वह राष्ट्र में कुछ-न-कुछ निर्माण का कार्य करता है, परन्तु **अदृप्तः**=वह उन कर्मों का गर्व नहीं करता। कर्म करता है और उन्हें प्रभु-अर्पण करता चलता है। इस प्रकार वह **'कुरु कर्म त्यजेति च'**—इस वैदिक सिद्धान्त का पालन करता है। इस सिद्धान्त पर आचरण करनेवाला यह व्यक्ति **अग्निः**=अग्रणी—आगे और आगे चलनेवाला प्रगतिशील होता है। यह विघ्नों से घबरा नहीं जाता। २. ऐसा बनने के लिए यह **गोनां ऊधः न**=गौओं के ऊधस् की भाँति, गौओं से प्राप्त दूध की भाँति **पितूनाम्**=अन्नों के **स्वाद्म**=स्वादों को **विजानन्**=विशेषरूप से जाननेवाला होता है। इसे गौओं के दूध के स्वाद का पता होता है और अन्नों के स्वाद को यह जानता है। मद्य-मांसादि के स्वाद से यह अनभिज्ञ होता है अर्थात् उन पदार्थों का यह कभी प्रयोग नहीं करता। वस्तुतः इस सात्त्विक आहार का ही यह परिणाम है कि यह अहंकारशून्य व प्रगतिशील होता है। ३. इस प्रकार सात्त्विक वृत्तिवाला यह व्यक्ति **जने**=लोगों में **शेवः न**=सुखकर की भाँति **आहूर्यः**=आह्वान के योग्य होता है। यह सब लोगों के हित की बात सोचता है और इसी से सब आपद्ग्रस्त मनुष्य समय-समय पर इसे ही पुकारते हैं। ४. आह्वातव्य **सन्**=होता हुआ यह **मध्ये निषत्तः**=लोगों के मध्य में आसीन होता है। यह संसार को माथापच्ची व मायाजाल समझकर दूर एकान्त स्थानों को ही नहीं ढूंढता रहता। यह **दुरोणे**=गृह में **रण्वः**=रमणीय होता है। घर की इसके कारण शोभा बढ़ती है। 'दुरोणे' का अर्थ (दुर् ओण्=अपनयन) 'बुराई का अपनयन होने पर'—यह भी हो सकता है कि बुराई को दूर कर यह रमणीय जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम कर्म करें परन्तु उन कर्मों का गर्व न करें और अपने जीवन को निर्दोष व रमणीय बनाएं।

ऋषिः—पराशरः शक्तिपुत्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रीतः वाजी

पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्।
विशो यदह्वे नृभिः सनीळा अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्याः ॥३॥

१. प्रभुभक्त **जातः पुत्रः न**=उत्पन्न हुए-हुए पुत्र के समान **दुरोणे**=गृह में **रण्वः**=रमणीय होता है। इसके सुन्दर जीवन से सबको प्रसन्नता का अनुभव होता है। **वाजी न**=शक्तिशाली पुरुष की भाँति **प्रीतः**=प्रसन्न स्वभाववाला यह **विशः**=सब प्रजाओं को **वितारीत्**=कष्टों से पार करता है। निर्बल व क्षीण-शक्ति पुरुष ही चिड़चिड़े स्वभाव का होता है। यह औरों का हित करने में भी समर्थ नहीं होता। (वितारीत्=दुःखात् सन्तारयते—द०)। शक्तिशाली पुरुष प्रसन्न स्वभाववाला होता है तथा औरों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है। ३. **विशः**=प्रजाओं को **यत्**=जब **अह्वे**=(आह्वयामि) पुकारता हूँ, उनको सम्बोधित करके कुछ कहता हूँ तो यही कहता हूँ कि तुम **नृभिः सनीळाः**=सब मनुष्यों के साथ समान नीडवाले हो, तुम सबका समान गृह प्रभु है, तुम सब प्रभु के पुत्र हो। ३. इस प्रकार उपदेश देने और समझानेवाला व्यक्ति ही **अग्निः**=अग्रणी है, उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला है। यह **विश्वानि देवत्वा**=सब दिव्य गुणों को **अश्याः**=प्राप्त होता है (अश्नुते व्याप्नोति—सा०)। अग्नि वही है जोकि सभी में प्रभु का वास देखता है और सबको प्रभु में देखता है।

भावार्थ—हमारा जीवन रमणीय हो। हम शक्तिशाली व प्रसन्न चेता बनकर औरों के दुःखों को दूर करें। सभी को एक ही बात कहें कि 'सब एक ही प्रभुरूप घर में रहनेवाले हो।' इस भावना के द्वारा अपने में दिव्यत्व बढ़ाएँ।

ऋषिः—पराशरः शक्तिपुत्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

व्रतपालन व क्लेशविनाश

नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टिं चकर्थ।
तत्तु ते दंसो यदहन्त्समानैर्नृभिर्यद्युक्तो विवे रपांसि ॥४॥

१. हे प्रभो! यह ठीक है **यत्**=कि जो भी **ते**=आपके **एता व्रता**=इन व्रतों को – वेदोपदिष्ट पुण्यकर्मों को **नकिः मिनन्ति**=नष्ट नहीं करते हैं, आप **एभ्यः नृभ्यः**=इन प्रगतिशील व्यक्तियों के लिए **श्रुष्टिम्**=सुख को **चकर्थ**=करते हैं। जो मनुष्य व्रतमय जीवन बिताते हैं, प्रभु उन्हें सुख देते हैं। पुण्य का परिणाम क्लेशों का नाश है। २. **तत्**=वह **तु**=तो **ते**=आपका **दंसः**=दर्शनीय कर्म है **यत्**=कि आप **अहन्**=सब विघ्नों को—विघ्नभूत व्यक्तियों को नष्ट करते हैं। आपकी कृपा से सब शुभ कर्म पूर्ण हुआ करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **समानैः**=सबमें सम वृत्तिवाले अथवा (सम् आनयति) सबको उत्साहित करनेवाले **नृभिः**=पुरुषों से **यत् युक्तः**=जब युक्त होते हैं तो उन्हें निमित्त बनाकर **रपांसि**=सब दोषों को **विवेः**=दूर करते हैं। आप इन पुरुषों के द्वारा प्रजा में इस प्रकार उत्साहयुक्त प्रेरणा प्राप्त कराते हैं कि उन प्रजाओं के जीवनों से दोष दूर होकर उनमें शुभ गुणों का संचार होता है।

भावार्थ—व्रतपालन से क्लेश नष्ट होते हैं।

ऋषिः—पराशरः शक्तिपुत्रः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराट् पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

प्रभुभक्त का दीप्त जीवन

उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै ।
त्मना वहन्तो दुरो व्यृण्वन्नवन्त विश्वे स्वर्दृशीके ॥५॥

१. **उषः न जारः**=जैसे उषःकाल उदित होकर अन्धकार को जीर्ण कर देता है, वैसे ही यह प्रभुभक्त भी अज्ञानान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता है। २. उसके लिए **विभावा**=स्वयं विशिष्ट दीप्तिवाला बनता है। स्वयं के पास ज्ञान न होने पर वह औरों को क्या ज्ञान देगा ! **उस्रः**=यह सबको निवास देनेवाला होता है अर्थात् ज्ञान देने की प्रक्रिया में यह इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि यह उनको वह ज्ञान दे जिससे उनका निवास उत्तम बने। ३. **संज्ञातरूपः**=यह संज्ञात रूपवाला होता है। यह माया व चालाकी के कारण लोगों के लिए पहेली नहीं बना रहता। सरल होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति इसे समझता है। इसके मन, वाणी और कर्म में एकरूपता होती है। **अस्मै चिकेतत्**=इसके लिए प्रभु जानते हैं, अर्थात् प्रभु इसके लिए सब अभिमत फल प्राप्त कराते हैं। इसके योग-क्षेम में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। ४. ये लोग **त्मना**=स्वयं **वहन्तः**=अपना बोझ वहन करते हैं। ये आत्मनिर्भर होते हैं, औरों पर आश्रित होना इसके स्वभाव में नहीं होता। ५. ये **दुरः**=मोक्षद्वारों को **विऋण्वन्**=विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। 'शम, विचार, सन्तोष एवं साधुसंगम' रूप मोक्षद्वारों को ये अपने जीवन में विशेष स्थान देते हैं और इसी का यह परिणाम होता है कि ये **विश्वे**=सब **दृशीके**=दर्शनीय **स्वः**=उस प्रकाशस्वरूप प्रभु में **नवन्त**=(गच्छन्ति) जानेवाले होते हैं, ये प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—स्वयं अपने जीवन को 'दीप्त, सरल व आत्मनिर्भर' बनाकर हम 'शम, विचार, सन्तोष व साधुसंगम' रूप मोक्षद्वारों को प्राप्त करें और प्रभु-दर्शन के योग्य बनें।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में काव्यमय भाषा में कहा है कि प्रभु हमारे पुत्र हैं और हम पिता हैं (१)। इस प्रभु का सच्चा पुत्र दूध व अन्नों का ही स्वाद जानता है, मद्य-मांस के स्वाद को नहीं (२)। यह प्रजाओं में एकत्व का प्रचार करता है (३)। व्रतपालन करते हुए क्लेशों का नाश करता है (४)। दीप्त जीवनवाला बनकर लोगों को भी ज्ञान देता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन करता है (५)। 'हम अपने जीवनों को पूर्ण बनाकर प्रभु का उपासन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराट् पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

'अग्नि व सुशोक' प्रभु का उपासन

वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः ।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म ॥१॥

१. **पूर्वीः**=अपने जीवन को पूरण करनेवाले हम—शरीर को नीरोग और मन को न्यूनताओं से रहित बनानेवाले **वनेम**=उस प्रभु का सम्भजन करें जोकि (क) **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **अर्यः**=गन्तव्य हैं। वे सब भूत में गूढ प्रभु सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा सूक्ष्मबुद्धि से ही द्रष्टव्य हैं; (ख) **अग्निः**=वे अग्रणी हैं, गुणों के दृष्टिकोण से वे अग्रस्थान में स्थित हैं; वस्तुतः प्रत्येक गुण की वे चरमसीमा हैं; (ग)

सुशोकः=उत्तम दीप्तिवाले हैं, उनका ज्ञान देदीप्यमान है, निर्भ्रान्त ज्ञानवाले हैं; (घ) **विश्वानि अश्याः**= सब भूतों में वे व्याप्त हैं। २. वे प्रभु **दैव्यानि**=सूर्यादि देवों से सम्बद्ध **व्रतानि** व्रतों को **आचिकित्वान्** पूर्णरूप से जानते हैं। प्रत्येक देव की गति प्रभु के ज्ञान का विषय है। उसके शासन में ही तो ये अपने-अपने मार्ग पर आक्रमण कर रहे हैं। ३. वे प्रभु **मानुषस्य जनस्य**=मानुष जन के **जन्म**=जन को भी **आ** (चिकित्वान्) पूर्णरूप से जानते हैं। इनके कर्मों को ठीक-ठीक जानते हुए ही वे इन्हें कर्मानुसार विविध फल प्राप्त कराते हैं। जड़-चेतन कोई भी प्रभु के ज्ञान-क्षेत्र को लाँघ नहीं पाता।

भावार्थ—हम उस प्रभु का भजन करें जोकि बुद्धि के द्वारा दर्शनीय हैं, अग्नि व सुदीप्त होते हुए सबको व्याप्त किये हुए हैं। वे प्रभु सूर्यादि देवों के व्रतों को जानते हुए मानव के जन्म को भी पूर्णतया जानते हैं।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

चराचर में व्यापक प्रभु

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः ॥२॥

१. **यः**=जो प्रभु **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं के मध्य में अवस्थित हैं और **वनानाम्**=ज्ञानरश्मियों के **गर्भः**=मध्य में स्थित हैं। सब प्रजाओं के मध्य में, उनके हृदयों में स्थित हुए-हुए उनको ज्ञान देनेवाले हैं। २. वे प्रभु **स्थाताम्**=स्थावर पदार्थों के **गर्भः**=मध्य में स्थित हैं **च**=तथा **चरथां गर्भः**=जंगम पदार्थों के भी मध्य में स्थित हैं। इस चराचर सम्पूर्ण जगत् में वे प्रभु व्याप्त हैं। ३. **अस्मै**=गत मन्त्र में वर्णित उपासक के लिए वे प्रभु **अद्रौ चित् अन्तः**=पर्वत के अन्दर भी विद्यमान हैं और **दुरोणे**=गृह में भी व्याप्त हैं। क्या पर्वतों में और क्या घरों में, सर्वत्र यह प्रभु की महिमा को देखता है। ४. **विशां न विश्वः** (न इति चार्थे) सब प्रजाओं का वे प्रभु निवासस्थान हैं। **'विशन्ति भूतानि यस्मिन् सर्वेषु विशतीति वा'**—सब प्रजाओं में वे प्रभु प्रविष्ट हैं और सब प्रजाएँ उसी में निविष्ट हैं। **अमृतः**=वे प्रभु अमृत हैं, सब उपासकों को अमृतत्व प्राप्त करानेवाले हैं और **स्वाधीः**=उत्तम ध्यान व कर्म से युक्त हैं। सब प्राणियों का ध्यान करते हैं और उनके कल्याण के लिए सब आवश्यक कर्मों को करनेवाले हैं (धी=ज्ञान व कर्म)। प्रभु के न ज्ञान में कमी है, न कर्म में। इस प्रभु का ही हम भजन करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम सर्वव्यापक, अमृत, सर्वज्ञ प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

क्षपावान् व रयि-प्रदाता

स हि क्षपावाँ अग्नी रयीणां दाशद्यो अस्मा अरं सूक्तैः।
एता चिकित्वो भूमा नि पाहि देवानां जन्म मर्तांश्च विद्वान् ॥३॥

१. **सः**=वे प्रभु **हि**=निश्चय से **क्षपावान्**=सब राक्षस-वृत्तियों के संहार करनेवाले हैं (क्षपयति, Throws away), उपासक के हृदय से सब अशुभवृत्तियों को दूर करते हैं। इस प्रकार वे **अग्निः**=अग्रणी हैं। इन उपासकों को जीवन-पथ पर आगे और आगे ले चलते हैं। २. **रयीणां दाशत्**=धनों के देनेवाले हैं, उस व्यक्ति के लिए **यः**=जोकि **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **सूक्तैः**=(सु+उक्त) उत्तम मधुर शब्दों के द्वारा **अरम्**=अपने जीवन को सुभूषित करते हैं (अरं=भूषण), इसे शक्तिशाली बनाते हैं (अरं

=शक्ति) अथवा जो सूक्तों के द्वारा अपने जीवनों से द्वेष को दूर करते हैं (अरं=वारण)। सूक्तों को बोलने के लिए ही प्रभु ने हमें संसार में भेजा है—'सूक्ता ब्रूहि'। यदि हम प्रभु के आदेश का पालन करते हुए चलते हैं तो सब आवश्यक धनों के पात्र बनते हैं। ३. हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ प्रभो! **भूम**=इस पृथिवी पर **एता**=इन प्राणियों का—आपके सूक्तवचन बोलनेरूप आदेश का पालन करनेवालों का **नि पाहि**=निश्चय से आप रक्षण कीजिए। **देवानां जन्म**=सूर्यादि देवों के जन्म को **च**=और **मर्तान्**=मनुष्यों को **विद्वान्**=आप जानते हैं। कोई भी वस्तु आपके ज्ञानक्षेत्र से परे नहीं हैं। सर्वज्ञ होने के कारण आपके रक्षण में कमी हो भी कैसे सकती है! आप धनों से भौतिक जीवनों की उन्नति में सहायक होते हैं और राक्षसवृत्तियों के संहार के द्वारा अध्यात्म-उन्नति में।

भावार्थ—जो भी अपने जीवन को सूक्तों से अलंकृत करता है, प्रभु उसे आवश्यक रयि=धन देते हैं और उसकी राक्षसवृत्तियों का संहार कर देते हैं।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सच्चा स्तोता

वर्धान्यं पूर्वीः क्षपो विरूपाः स्थातुश्च रथमृतप्रवीतम्।
अराधि होता स्व१र्निषत्तः कृण्वन्विश्वान्यपांसि सत्या॥४॥

१. **यम्**=जिस प्रभु को **पूर्वीः**=आपना पूरण करनेवाली, शरीर को नीरोग और मन को स्वस्थ बनानेवाली **क्षपः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाली **विरूपाः**=विशिष्ट रूपवाली प्रजाएँ **वर्धान्**=बढ़ाती हैं। प्रभु के स्तवन के द्वारा प्रभु के प्रकाश को ये प्रजाएँ चारों ओर फैलानेवाली होती हैं। २. **ऋतप्रवीतम्**=(वी=गति) ऋतपूर्वक गति करनेवाला **स्थातुः च रथम्**=यह जड़-चेतन जगत् भी, चराचर सम्पूर्ण संसार भी **यं वर्धान्**=जिस प्रभु की महिमा का वर्धन कर रहा है। इस ब्रह्माण्ड का एक-एक पिण्ड नियमित रूप से अपने-अपने मार्ग पर आक्रमण करता हुआ उस प्रभु की महिमा का विस्तार कर रहा है। ३. वस्तुतः उस प्रभु का **अराधि**=आराधन वही व्यक्ति करता है (कर्तरि लुङि व्यत्ययेन च्लेः चिण्—सा०) जोकि (क) **होता**=दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष का सेवन करता है, सारे-का-सारा स्वयं नहीं खा लेता; (ख) **स्वः निषत्तः**=जो सदा प्रकाश में स्थित होता है तथा (ग) **विश्वानि अपांसि**=सब कर्मों को **सत्या कृण्वन्**=सत्य करता हुआ होता है, जिसके कर्मों में असत्य का अंश नहीं होता। इसके कर्म हृदय की सद्भावना से किये जाते हैं, उत्तम प्रकार से किये जाते हैं और इसके कर्म स्वयं अपने में उत्तम होते हैं—**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥**

भावार्थ—प्रभु का स्तवन वस्तुतः वे ही करते हैं जोकि (क) अपना पूरण करें, (ख) बुराइयों का संहार करें, (ग) तेजस्विता से विशिष्ट रूपवाले बनें, (घ) यज्ञशेष का सेवन करें, (ङ) प्रकाश में स्थित हों, ज्ञान-प्रधान जीवनवाले हों, (च) सत्यकर्मों को ही करें। यह ऋतपूर्वक गति करता हुआ सारा ब्रह्माण्ड ही प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अध्यात्म-सम्पत्ति की प्राप्ति

गोषु प्रशस्तिं वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्णः।
वि त्वा नरः पुरुत्रा संपर्यन्पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त॥५॥

१. हे प्रभो ! आप ही **वनेषु**=उपासकों में **गोषु**=ज्ञानेन्द्रिय-विषयक **प्रशस्तिम्**=उत्तमता को **धिषे**=स्थापित करते हैं अथवा आप ही **वनेषु**=हमारी ज्ञानरश्मियों में तथा **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में प्रशस्ति को स्थापित करते हैं। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान उज्ज्वल होता है और ज्ञान की उज्ज्वलता के लिए ही आप हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाते हैं। पवित्र व उत्तम बनी हुई **विश्वे**=ये सब इन्द्रियाँ—ये सब देव (विश्वे देवाः) **नः**=हमारे लिए **स्वः बलिम्**=प्रकाश की भेंट को **भरन्त**=प्राप्त कराती हैं। २. इस प्रकार ज्ञान को प्राप्त करानेवाले **नरः**=प्रगतिशील लोग **त्वा**=आपको **पुरुत्रा**=सर्वत्र, सब कार्यों में **विसपर्यन्**=विशेष रूप से पूजते हैं, कर्मों के द्वारा आपका अर्चन करते हैं, कर्मों को करते हुए उन्हें आपको अर्पित कर देते हैं। ज्ञान उन्हें निरहंकार बनाता है। ३. इस प्रकार आपके सच्चे पुत्र बनकर ये ज्ञानी लोग आपसे उसी प्रकार **वेदः**=अध्यात्म-सम्पत्ति को **विभरन्त**=अपने में भरते हैं **न**=जैसे कि **जिव्रेः पितुः**=वृद्ध पिता से उनके सुपुत्र **वेदः**=धन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारी ज्ञानरश्मियाँ प्रशस्त हों, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम हों। ज्ञानी बनकर हम अपने कर्मों को प्रभु-अर्पण करते हुए प्रभु की अर्चना करें और उस परमपिता प्रभु से अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—याजुषी पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अध्यात्म-सम्पत्ति

साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु ॥६॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि ज्ञानी पुरुष कर्मों के द्वारा प्रभु का उपासन करता हुआ अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करता है। प्रस्तुत मन्त्र में उस अध्यात्म-सम्पत्ति का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—यह व्यक्ति **साधुः**=(साध्नोति परकार्यम्) सदा परहित को सिद्ध करनेवाला होता है। **'परोपकाराय सतां विभूतयः'**—इस उक्ति के अनुसार इसके ऐश्वर्य परोपकार के लिए ही होते हैं। **न गृध्नुः**=यह धनों में लालचवाला नहीं होता। धन में लालच होने पर उनका परोपकार में विनियोग सम्भव नहीं रहता। **अस्ता इव**=यह लोकहित के लिए इन धनों को 'असु क्षेपणे' क्षिप्त करनेवाला होता है। अपनी आवश्यकताओं को फेंकता जाता है, कम और कम करता जाता है और इस प्रकार लोकहित के कार्यों में धन देनेवाला हो पाता है। **शूरः**=यह दानशूर होता है। धन के उचित विनियोग से दुःखियों के दुःख को शीर्ण करनेवाला होता है। ३. **याता इव**=यह सदा आक्रान्ता की भाँति बना रहता है। कष्टों व बुराइयों के साथ सदा इसका युद्ध चलता है। यह उस युद्ध में बुराइयों पर प्रबल आक्रमण करता है और **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है। इन **समत्सुः**=संग्रामों में यह **त्वेषः**=खूब दीप्ति=चमकवाला होता है। इन युद्धों में यह पूर्ण उत्साहवाला होता है। लोककष्टों से संग्राम करता हुआ यह अधिक-से-अधिक चमकता है। यह 'सर्वभूतहितेरतार्थं' ही तो अध्यात्म-सम्पत्ति की पराकाष्ठा है। यह औरों के लिए जीता है, इसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं होती।

भावार्थ—साधुत्व, अलोलुपता, त्याग, शूरवीरता, बुराइयों पर आक्रमण, शत्रु के लिए भयंकरता, संग्राम-दीप्ति—ये सब मिलकर अध्यात्म-सम्पत्ति कहलाती हैं।

विशेष—हम 'अग्नि व सुशोक' प्रभु का उपासन करें (१)। वे प्रभु चराचर में व्यापक हैं (२)। क्षपावान् व रयिप्रदाता हैं। (३)। प्रभु का सच्चा उपासक कर्मों में सत्यता लाता है (४)। ज्ञानपूर्वक कर्मों को करता हुआ उन्हें प्रभु के प्रति अर्पण करता है (५)। परहित में लगा रहकर यह अध्यात्म-सम्पत्ति

का सञ्चय करता है (६)। 'हम प्रभुरूप पति की कामना करनेवाले हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुरूप पति की प्राप्ति

उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः।
स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रञ्चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः ॥१॥

१. **उशन्तम्**=उस हित की कामनावाले **नित्यं पतिं न**=शाश्वतकाल से रक्षक के रूप में वर्तमान उस पतिरूप प्रभु को **उशतीः**=चाहती हुई **जनयः**=अपना विकास करनेवाली **सनीळाः**=प्रभुरूप एक ही आश्रय में निवास करनेवाली **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली प्रजाएँ **उप**=उस प्रभु की उपासना करती हुई **प्रजिन्वन्**=तृप्ति को अनुभव करती हैं—उपासना में एक अवर्णनीय आनन्द को प्राप्त करती हैं। २. ये प्रजाएँ 'नित्य पति' प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त होती हैं **न**=जैसेकि **श्यावीम्**=(श्यैङ् गतौ) सदा नियम से आगमनवाली **अरुषीम्**=आरोचमान **चित्रं उच्छन्तीम्**=अद्भुत प्रकार से अन्धकार को दूर करती हुई **उषसम्**=उषा को **गावः**=किरणें **अजुष्रन्**=प्राप्त होती हैं—सेवन करती हैं। जैसे उषा को किरणें नियम से प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार आत्मतत्त्व की ओर झुकाववाली प्रजाएँ उस प्रभु की नियमितरूप से उपासना करती हैं। उषा जैसे अन्धकार को दूर करती है, उसी प्रकार ये उपासना करनेवाली प्रजाएँ भी अपने हृदय-अन्धकार को दूर करके प्रकाशमय जीवन को बिताती हुई एक अद्भुत तृप्ति का अनुभव करती हैं।

भावार्थ—प्रभु को मैं उसी प्रकार चाहूँ जैसे पत्नी पति को चाहती है। मुझे प्रभु की उपासना उसी प्रकार प्राप्त हो, जैसेकि उषा को किरणें प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अद्रि-भङ्ग

वीळु चिद्दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः ॥२॥

१. **नः**=हममें से **पितरः**=अपना रक्षण करनेवाले, वासनाओं से अपने को आक्रान्त न होने देनेवाले और अतएव **अङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस के सञ्चारवाले व्यक्ति **वीळु चित्**=अत्यन्त शक्तिवाले भी **दृळ्हा**=दृढ़ **अद्रिम्**=पाँच पर्वोंवाले अविद्या-पर्वत को **उक्थैः**=स्तोत्रों से तथा **रवेण**=नाम के उच्चारण से **रुजन्**=भग्न व विदीर्ण कर देते हैं। अविद्या के पर्वत को नष्ट करना सुगम नहीं, तथापि प्रभुस्तवन व प्रभु-नामोच्चारण हमें इस प्रकार शक्ति प्राप्त कराता है कि हम इस पर्वत के विदारण में समर्थ होते हैं। ये विदारण करनेवाले व्यक्ति ही वस्तुतः पितर व अङ्गिरस हैं। २. अविद्या-पर्वत का विदारण करके ये पितर **अस्मे**=हमारे लिए **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत प्रकाश के **गातुम्**=मार्ग को **चक्रुः**=करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में ये जीवन के मार्ग को स्पष्ट देखते हैं और उसी मार्ग पर चलते हैं। ३. ये मार्ग पर चलनेवाले लोग **अहः**=(अह व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभु को **स्वः**=प्रकाश व सुख को,

केतुम्=ज्ञान को तथा **उस्राः**=इन्द्रियरूप गौओं को **विविदुः**=प्राप्त करते हैं। मार्ग पर चलते-चलते अन्त में लक्ष्यस्थान पर पहुँचते ही हैं। यह लक्ष्यस्थान प्रभु ही हैं। इस मार्ग पर चलते हुए ये सुखी होते हैं—**'मार्गस्थो नावसीदति'**=मार्गस्थ दुःखी थोड़े ही होता है, मार्ग से भटकने पर ही काँटे चुभते हैं। मार्ग पर चलने से बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती अपितु ज्ञानवृद्धि होती है तथा इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहती हैं।

भावार्थ—अविद्या-पर्वत के विदारण का परिणाम यह होता है कि मार्ग पर चलते हुए हम अन्ततः प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मार्ग

दधंन्नृतं धनयंन्नस्य धीतिमादिदुर्यो दिंधिष्वो३ विभृंत्राः।
अतृंष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयंसा वर्धयंन्तीः॥३॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि प्रभु के स्तोता ज्ञान के प्रकाश में मार्ग को देखते हैं। वह मार्ग यह है—ये लोग **ऋतम्**=ऋत को **दधन्**=धारण करते हैं। जो ठीक है उसी का पालन करते हैं। प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं (ऋत=Right)। ऋत शब्द यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये यज्ञ को धारण करते हैं। यज्ञात्मक जीवन बिताते हुए २. **अस्य**=इस प्रभु के **धीतिम्**=ध्यान को **धनयन्**=(धनमकुर्वन्) अपना धन बनाते हैं, प्रभु-ध्यान ही इनका धन हो जाता है। ३. **आत् इत्**=ऐसा करने के अनन्तर ये **अर्यः**=स्वामी बनते हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं, **दिधिष्वः**=मन को एक स्थान में धारण करनेवाले होते हैं, **विभृत्राः**=ज्ञान का भरण करनेवाले बनते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों, मन व बुद्धि को स्वाधीन करके उन्हें ठीक मार्ग से कार्यों में व्यापृत करते हैं। ४. **अतृष्यन्तीः**=अब विषयों की प्यास से ऊपर उठे हुए ये लोग **अपसः अच्छ यन्ति**=कर्मों की ओर चलनेवाले होते हैं, सदा अपने कर्त्तव्य-पालन का ध्यान करते हैं। ५. इस प्रकार **प्रयसा**=प्रकृष्ट यत्न के द्वारा अथवा हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा ये **देवान्**=दिव्य गुणों को तथा **जन्म**=मानवोचित विकासों को **वर्धयन्तीः**=अपने अन्दर बढ़ानेवाले होते हैं। **प्रयस्**=प्रयत्न व हवि दिव्यगुणों के विकास का साधन होता है और हमें विकसित जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—'ऋत का धारण, प्रभु-ध्यान को ही धन समझना, 'जितेन्द्रिय—एकाग्र मन व ज्ञान का धारण करनेवाला' बनना, विषयतृष्णा से ऊपर उठना, कर्त्तव्य का पालन व यत्नपूर्वक दिव्यगुणों का विकास'—यही मार्ग है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वैश्वानर अग्नि का प्राण द्वारा मन्थन

मथीद्यदीं विभृंतो मातरिश्वा गृहेगृंहे श्येतो जेन्यो भूत्।
आदीं राज्ञे न सहींयसे सचा सन्ना दूत्यं१ भृगंवाणो विवाय॥४॥

१. **यत्**—जब **ईम्**=निश्चय से **विभृतः**=शरीर में 'प्राणापान-व्यान-समान-उदान' आदि रूप से विभक्त होकर धारण किया गया यह **मातरिश्वा**=वायु **मथीत्**=अग्नि का मन्थन करता है, अर्थात् प्राणवायु से जाठराग्नि प्रदीप्त की जाती है। जाठराग्नि ही सबका हित करनेवाली होने से 'वैश्वानर' अग्नि कही गई है। यह प्राणापान से युक्त होकर ही चतुर्विध अन्न का पाचन करती है। २. एवं वायु

जब इस जाठराग्नि को मन्थन द्वारा प्रचण्ड बनाता है तो यह **गृहे गृहे**=प्रत्येक शरीररूप गृह में **श्येतः**=(श्यैङ् गतौ) गतिवाली होती है और **जेन्यः**=रोगों व मलों का पराजय करनेवाली होती है। ३. **आत् ईम्**=अब निश्चय से यह **भृगवाणः**=(भ्रस्ज पाके) रोगों को भून डालनेवाली अग्नि **सचा सन्**=सदा इस प्राण-वायु के साथ होती हुई **दूत्यम्**=शत्रु-सन्तापनरूप कार्य को **आविवाय**=सम्यक् प्राप्त करती है। जाठराग्नि ठीक हो, प्राणायाम की साधना चलती हो तो फिर रोगों की आशंका नहीं रहती। यह अग्नि रोग-पराभव के लिए इस प्रकार सहायक होती है **न**=जैसेकि **सहीयसे राज्ञे**=शत्रु-पराभवकारी राजा के लिए उसका सैन्य सहायक होता है।

भावार्थ=प्राणायाम द्वारा जाठराग्नि प्रदीप्त होकर रोगरूप शत्रुओं का पराभव करती है, जैसेकि बलवान् राजा के लिए उसका सैन्य शत्रुओं का पराभव करता है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रस व अनासक्ति

म॒हे यत्पि॒त्र ईं॒ रसं॑ दि॒वे कर॒व त्स॑रत्पृश॒न्य॑श्चिकि॒त्वान्।
सृ॒जदस्ता॑ धृष॒ता दि॒द्युम॑स्मै॒ स्वायां॑ दे॒वो दु॑हि॒तरि॒ त्विषिं॑ धात्॥५॥

१. **यत्**=जब **महे**=उस महान् **दिवे**=प्रकाशमय **पित्रे**=सबके पालक प्रभु की प्राप्ति के लिए **ईम्**=निश्चय से **रसम्**=अपनी वाणी में माधुर्य को **कः**=उत्पन्न करता है। २. तथा **पृशन्यः**=(पृशन्=Attachment) आज तक संसार में आसक्त हुआ-हुआ यह **चिकित्वान्**=ज्ञानी बनकर, अपने अनुभव से संसार को समझकर **अवत्सरत्**=इस संसार के बन्धन से दूर होता है। ३. तब **अस्मै**=इस साधक के लिए वे प्रभु **दिद्युम्**=दीप्यमान ज्ञान के वज्र को **सृजत्**=उत्पन्न करते हैं। इस **धृषता**=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले ज्ञानवज्र से वह साधक **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है। ४. जितना-जितना यह जीव शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है, उतना-उतना ही **देवः**=वह ज्ञानज्योति से दीप्यमान प्रभु इस **स्वायां दुहितरि**=अपना प्रपूरण करनेवाले व्यक्ति में (दुह प्रपूरणे) **त्विषम्**=दीप्ति को, तेजस्विता को **धात्**=धारण करते हैं। ५. मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि (क) हम अपने जीवन में रस व माधुर्य को पैदा करें, (ख) संसार के तत्त्व को समझकर आसक्ति से ऊपर उठें, (ग) प्रभुकृपा से हमें ज्ञानवज्र प्राप्त होगा, और (घ) जितना-जितना इस वज्र से कामादि शत्रुओं का धर्षण करके हम अपना पूरण करेंगे उतना-उतना तेजस्वी बन पाएँगे।

भावार्थ—वाणी का माधुर्य व अनासक्ति हमें प्रभु की ओर ले-चलती हैं। कामादि शत्रुओं को जीतकर हम तेजस्वी बनते हैं।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शरीररूप रथ व धन

स्व आ यस्तुभ्यं॒ दम॒ आ वि॒भाति॒ नमो॑ वा॒ दाशा॑दु॒शतो॒ अनु॒ द्यून्।
वर्धो॑ अग्ने॒ वयो॑ अस्य द्वि॒बर्हा॒ यास॑द्रा॒या स॒रथं॒ यं जु॒नासि॑॥६॥

१. **यः**=जो भी व्यक्ति **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **स्वे दमे**=अपने इस शरीररूप गृह में **आविभाति**=सब ओर चमकता है अर्थात् अपने एक-एक कोश को अत्युत्तम बनाता है। प्रभु-प्राप्ति उसी को तो होती है जो अपने इस शरीररूप गृह को सचमुच **दम**=दमन से युक्त बनाता है—जो इन्द्रियों, मन

व बुद्धि को ठीक से वश में रखता है। २. **वा**=या जो **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **उशतः**=हित की कामनावाले आपके प्रति **नमः दाशत्**=नमन को प्राप्त कराता है। प्रातः-सायं प्रभु के चरणों में नतमस्तक होनेवाला व्यक्ति प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनता ही है। ३. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **द्विबर्हा**=आप शारीरिक व आत्मिक उभयविध वर्धन के कारण हैं। आप **अस्य**=इस नमन करनेवाले के **वयः**=जीवन को **वर्धा उ**=बढ़ाते ही हैं। प्रभुकृपा से यह उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता ही है। शारीरिक व आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की उन्नतियों का प्रभु कारण बनते हैं। ४. हे प्रभो! **यं जुनासि**=जिसको भी आप प्रेरित करते हैं वह **सरथम्**=शरीररूप रथ के साथ **राया**=ऐश्वर्य के साथ **यासत्**=(संगच्छते) संगत होता है। वह उत्तम शरीररूप रथ और धन को प्राप्त होनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस शरीररूप रथ को दीप्त बनाएँ, प्रतिदिन प्रभु के प्रति नमनवाले हों। प्रभु हमारे जीवन को बढ़ाएँगे, हमें उत्तम शरीररूप रथ व धन प्राप्त होगा।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञानप्रधान न कि भोगप्रधान जीवन

अ॒ग्निं विश्वा॑ अ॒भि पृक्षः॑ सचन्ते समु॒द्रं न स्र॒वतः॑ स॒प्त य॒ह्वीः।
न जा॒मिभि॒र्वि चि॑किते॒ वयो॑ नो वि॒दा दे॒वेषु॒ प्रम॑तिं चि॒कि॒त्वान्॥७॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहे गये (राया यासत्) शब्दों का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **अग्निम्**=इस प्रगतिशील जीव को **विश्वाः**=सब **पृक्षः**=अन्न (नि० २।७) **अभिसचन्ते**=सब ओर से प्राप्त होते हैं। इसे किसी प्रकार से अन्नों की कमी नहीं होती। इसे उसी प्रकार अन्न प्राप्त होते हैं **न**=जैसेकि **सप्त**=सर्पणशील **यह्वीः**=महान् **स्रवतः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को प्राप्त होती हैं। २. **नः वयः**=हमारा जीवन **जामिभिः**=केवल सन्तानों को जन्म देनेवाली ज्ञानशून्य स्त्रियों के साथ ही **न विचिकिते**=(कित् to live) नहीं बिता दिया जाता, अर्थात् केवल भोगविलास तक ही हम अपने जीवन को समाप्त नहीं कर देते। ३. **चिकित्वान्**=समझदार पुरुष **देवेषु**=विद्वानों में **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट मति को **विदाः**=प्राप्त करता है, विद्वानों के सम्पर्क में आकर वह अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है। इस प्रकार इसका जीवन भोगप्रधान न बीतकर ज्ञानप्रधान ही बीतता है।

भावार्थ—प्रगतिशील प्रभुभक्त को खान-पान की कमी नहीं रहती। यह भोगप्रधान जीवन न बिताकर ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

तेजस्वितामय सुन्दर जीवन

आ यदि॒षे नृ॒पतिं॒ तेज॒ आन॒ट् छुचि॒ रेतो॒ निषि॑क्तं॒ द्यौर॒भीके॑।
अ॒ग्निः शर्ध॑मनव॒द्यं युवा॑नं स्वा॒ध्यं॑ जनयत्सू॒दय॑च्च॥८॥

१. **यत्**=जब **नृपतिम्**='ना चासौ पतिश्च' प्रगतिशील व इन्द्रियों के स्वामी व्यक्ति को **इषे**=अन्न पाचन के लिए **आनट्**=जाठरग्निरूप **तेजः**=तेज **आ**=सर्वथा प्राप्त होता है। यह **रेतः**=शक्ति **अभीके**=संग्राम में **द्यौः**=(दिव्=विजिगीषा) सब काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाली होती है। संक्षेप में (क) नृपति को अन्नपाचन के लिए जाठराग्नि का तेज प्राप्त होता है, (ख) अन्न-परिपाक से उत्पन्न शक्ति उसके शरीर में ही सिक्त होती है, (ग) इस शक्ति से यह क्रोधादि पर विजय

पाता है। २. पूर्वोक्त तीन पद रखनेवाला **अग्निः**=प्रगतिशील जीव अपने को **शर्धम्**=बलवान् **अनवद्यम्**=प्रशस्त जीवनवाला **युवानम्**=तरुण अथवा बुराइयों से अपने को दूर करनेवाला तथा अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाला **स्वाध्यम्**=शोभनयज्ञ व शोभन कर्मोंवाला **जनयत्**=बनाता है **च**=और **सूदयत्**=अपने को सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करता है।

भावार्थ—अग्नि=प्रगतिशील जीव तेजस्विता का सम्पादन करके अपने जीवन को प्रशस्त बनाता है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अमृतरक्षण

मनो न योऽध्वनः सद्य एत्येकः सत्रा सूरो वस्व ईशे।
राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा॥९॥

१. गत मन्त्रानुसार तेजस्विता को व्याप्त करनेवाला व्यक्ति वह होता है **यः**=जो **सूरः**=बुद्धिमान् **मनः न**=मन के समान **अध्वनः**=(अध्वनः पारम्) मार्ग के पार को **सद्यः एति**=शीघ्रता से प्राप्त होता है, **एकः**=यह अकेला ही कर्तव्य-मार्ग पर आगे बढ़ता है, औरों के चलने की प्रतीक्षा नहीं करता। 'और चल रहे हैं या नहीं' यह नहीं देखता रहता, बड़ी स्फूर्ति के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करता है। **सत्रा**=एक होता हुआ भी यह सदा अपने को परमात्मा के साथ (सत्रा=सह) अनुभव करता है। इसी से तो यह अव्याकुलता के साथ आगे बढ़ता है। **वस्वः ईशे**=यह सब वसुओं का ईश बनता है। प्रभु को अपना मित्र जानते हुए कर्तव्यपथ पर आगे बढ़ते जाना ही तो वसुओं की प्राप्ति का मार्ग है। २. एक घर में उपर्युक्त वृत्तिवाले पति-पत्नी **राजाना**=(क) इन्द्रियों के शासक होते हैं, (ख) दीप्त जीवनवाले होते हैं, (ग) व्यवस्थित (Regulated) क्रियाओंवाले होते हैं। ये **मित्रावरुणा**=प्राणपान की साधनावाले अथवा सबसे प्रेम करनेवाले व द्वेष से दूर रहनेवाले होते हैं। **सुपाणी**=उत्तम हाथोंवाले अर्थात् हाथों से सदा उत्तम कर्मों को उत्तमता से करनेवाले होते हैं। ये पति-पत्नी **गोषु**=अपनी इन्द्रियों में **प्रियम्**=आनन्द के जनक **अमृतम्**=अमृतत्व को **रक्षमाणा**=रक्षित करनेवाले होते हैं अर्थात् इनकी इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं के पीछे नहीं भागतीं, उनमें आसक्त नहीं होतीं, अतः एक आनन्द की अनुभूति का कारण बनती हैं।

भावार्थ—हम अपने कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ें। इस बात का ध्यान करें कि हमारी इन्द्रियाँ विषय-प्रवण न हो जाएँ।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

बुढ़ापे से पूर्व ही

मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कविः सन्।
नभो न रूपं जरिमा मिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि॥१०॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **नः**=हमारी **पित्र्याणि सख्या**=पिता-सम्बन्धी मित्रताओं को—पिता को पुत्र के साथ जैसे स्वाभाविक प्रेम होता है, उसी प्रकार मुझे जो तुझसे प्रेम है, उस प्रेम को **मा प्रमर्षिष्ठाः**=नष्ट मत होने दे! **अभि**=दोनों ओर **विदुः**=ज्ञानी, ज्ञानी ही नहीं **कविः**=क्रान्तदर्शी **सन्**=होता हुआ तू इन मित्रताओं को नष्ट मत कर। प्रभु की मित्रता को छोड़कर प्रकृति में फँसने का क्या परिणाम है, इसे भी तू समझता है, और प्रकृति से अनासक्त होकर प्रभु की मैत्री के आनन्द को भी तू जानता है। इस प्रकार दोनों को जानता हुआ तू प्रेय में न फँसकर श्रेय का ही

अवलम्बन करना । २. **न**=जैसे **रूपम्**=एक (Robe) वस्त्र के तुल्य बादल **नभः**=आकाश को आवृत कर लेता है, उसी प्रकार **जरिमा**=बुढ़ापा **रूपम्**=सब सौन्दर्य को **मिनाति**=हिंसित कर देता है । **तस्याः अभिशस्तेः पुरा**=इस मुसीबत से पहले ही **अधीहि**=तू ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बन, अपने स्वरूप को पहचाननेवाला बन । यदि **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'**—यहाँ ही तूने अपने रूप को जान लिया तो ठीक है, **'न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः'**—और यदि यहाँ नहीं जाना तो सिवाय महाविनाश के कुछ भी नहीं है ।

भावार्थ—हम प्रभु व प्रकृति की तुलना करते हुए प्रभु की मैत्री को अपनाएँ । बुढ़ापे से पूर्व ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम प्रभुरूप पति को प्राप्त करें (१) । वासना-रूप पर्वत का विदारण करें (२) । ऋत के मार्ग पर चलें (३) । प्राणायाम द्वारा जाठराग्नि को ठीक रखें (४) । मधुरभाषी व अनासक्त बनें (५) । शरीररूप रथ ठीक हो तथा धन को प्राप्त करें (६) । हमारा जीवन ज्ञानप्रधान हो न कि भोगप्रधान (७) । हम तेजस्वितामय सुन्दर जीवन को प्राप्त करें (८) । अमृतत्व का रक्षण करें (९) । बुढ़ापे से पूर्व ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें (१०) । 'ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु के सनातन काव्य वेद को अपनाएँ'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

चार बातें

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि ।
अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ॥१॥

१. गत सूक्त की समाप्ति पर कहा था कि 'ज्ञान को प्राप्त कर' । उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यह **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **वेधसः**=इस ज्ञानपुञ्ज विधाता प्रभु के **शश्वतः काव्या**=इन सनातन काव्यरूप वेदों को **नि कः**=निश्चय से अपने हृदय में स्थापित करता है, प्रभु की इस सनातन वाणी का अध्ययन करता है और अपने ज्ञान को बढ़ाता है । २. ज्ञानवृद्धि के साथ यह **हस्ते**=अपने हाथों में **पुरूणि**=पालन व पूरणात्मक **नर्या**=नरहितकारी कार्यों को **दधानः**=धारण करता है । इसके सब कार्य लोकहितात्मक, यज्ञरूप ही होते हैं । ३. यह अग्नि **रयीणां रयिपतिः**=उत्तम धनों का पति **भुवत्**=होता है । इसे अपने इन लोकहितात्मक कार्यों के लिए धन की कमी नहीं रहती । ४. इसके साथ यह **सत्रा**=सदा प्रभु के साथ विचरता हुआ—प्रभु को न भूलता हुआ **विश्वा**=सब **अमृतानि**=अमृतत्वों को **चक्राणः**=करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपनी इन्द्रियों की इस प्रकार साधना करता है कि यह कभी भी विषयों के पीछे नहीं मरता । इसकी इन्द्रियाँ विषयों में अनासक्त भाव से ही विचरण करती हैं ।

भावार्थ—अग्नि वेदवाणी से ज्ञान प्राप्त करता है, लोकहित के कार्यों में व्यापृत रहता है, धनों का ईश बनता है और विषयों में आसक्त नहीं होता ।

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्रभु-प्राप्ति

अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः ।
श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः ॥२॥

१. **अस्मे**=हममें **वत्सम्**=निवास करते हुए और **परिषन्तम्**=चारों ओर, सर्वत्र, कण-कण में व्याप्त उस प्रभु को **इच्छन्तः विश्वे**=चाहनेवाले सब **न विन्दन्**=प्राप्त नहीं करते। प्रभुप्राप्ति की इच्छा तो प्रायः सभी को होती है, परन्तु इच्छामात्र से उस प्रभु को पाया तो नहीं जा सकता। वे प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं। हमारे अन्दर ही निवास कर रहे हैं। ऐसा होते हुए भी हम उस प्रभु को प्राप्त नहीं कर पाते। कारण यही है कि इस प्रकृति की चमक से हमारी आँखें चुँधियायी रहती हैं और उस सत्यस्वरूप प्रभु को हम देख नहीं पाते। २. जो भी व्यक्ति **अमृताः**=इन विषयों के पीछे मरते नहीं और अतएव **अमूराः**=मूढ नहीं बन गये **श्रमयुवः**=श्रम को अपने साथ जोड़नेवाले हैं अर्थात् श्रम के स्वभाववाले हैं, **पदव्यः**=मार्ग पर चलनेवाले हैं और **धियन्धाः**=ज्ञान व कर्म को धारण करनेवाले हैं, वे **अग्नेः**=उस सर्वाग्रणी प्रभु के **परमेपदे**=सर्वोत्कृष्ट स्थान मोक्ष में **चारु तस्थुः**=सुन्दरता से स्थित होते हैं। उस प्रभु को पाने के लिए आवश्यक है कि हम 'विषयों से अनाकृष्ट, समझदार, श्रमशील, मार्गस्थ तथा ज्ञान व कर्म का धारण करनेवाले' बनें। उस प्रभु का वह सर्वोत्कृष्ट स्थान ही हमारा लक्ष्य है, वहीं हमें पहुँचना है। विषयों के पीछे मरते रहे तो क्यों वहाँ पहुँच पाएंगे।

भावार्थ—आश्चर्य है कि अपने ही भीतर वर्तमान प्रभु को हम जानते नहीं। उसे जानने के लिए हम विषयों के पीछे मूढ न बनें।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

तीन वर्ष तक

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचिं घृतेन शुचयः सपर्यान्।
नामानि चिद्दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्वः सुजाताः ॥३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=जो **तिस्रः शरदः**=तीन वर्ष तक निरन्तर **शुचिम्**=अत्यन्त पवित्र **त्वाम्**=आपकी **शुचयः**=पवित्र जीवनवाले बनकर **इत्**=निश्चय से **घृतेन**=मलों के क्षरण से तथा ज्ञान की दीप्ति से **सपर्यान्**=पूजा करते हैं तथा **यज्ञियानि**=संगतिकरण योग्य अथवा पूज्य (पवित्र) **नामानि चित्**=नामों को भी **दधिरे**=धारण करते हैं अर्थात् आपके पवित्र नामों का उच्चारण करते हैं तो वे **सुजाताः**=उत्तम विकासवाले व्यक्ति **तन्वः**=अपने शरीरों को **असूदयन्त**=(Throw away) सुदूर फेंक देते हैं अर्थात् वे फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसते। २. इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जन्म-मरण के चक्र से बचने के लिए साधन के रूप में दो बातें उपस्थित की गई हैं—(क) एक तो यह कि तीन वर्ष तक निरन्तर अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हुए उस पवित्र प्रभु का प्रातः-सायं उपासन करें और (ख) दूसरा यह कि खाली समय में प्रभु के पवित्र नामों का उच्चारण करें। इन दोनों साधनों के अवलम्बन से हमारे जीवन का उत्तम विकास होगा और जीवन का उद्देश्य पूर्ण होकर पुनः जन्म लेना अनावश्यक हो जाएगा। हम मुक्ति के योग्य हो जाएँगे।

भावार्थ—साधना के लिए हम तीन वर्ष तक अविच्छिन्नरूप से प्रतिदिन प्रभु की उपासना करें और प्रभु के पवित्र नामों का उच्चारण करें।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु-प्राप्ति के चार साधन

आ रोदसी बृहती वेविदानाः प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियासः।
विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसम् ॥४॥

१. **बृहती**=वृद्धि के कारणभूत अर्थात् सब प्रकार से विकसित **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **आवेविदानाः**=सब प्रकार से प्राप्त करते हुए (विद् लाभे), शरीर और मस्तिष्क दोनों का समुचित विकास करते हुए **रुद्रियाः**=प्राणसाधना करनेवाले (रुद्राः प्राणा तेषु साधवः), **यज्ञियासः**=यज्ञों में उत्तम लोग **अग्निम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **प्रजभ्रिरे**=प्रकर्षेण ग्रहण करनेवाले होते हैं। प्रभु की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(क) शरीर व मस्तिष्क का समुचित विकास, (ख) प्राणसाधना, (ग) यज्ञशीलता। २. **चिकित्वान् मर्तः**=समझदार मनुष्य **नेमधिता**=संग्राम के द्वारा (नेम का शब्दार्थ आधा है, संग्राम में सेना दो भागों में बँटी होती है, आधी एक ओर आधी दूसरी ओर, इसलिए 'नेमधित्' संग्राम का नाम है)। हमारे हृदयक्षेत्र में भी देव व असुर वृत्तियों का संग्राम चलता ही है। **परमे पदे तस्थिवांसम्**=परम पद में स्थित **अग्निम्**=उस परमात्मा को **विदत्**=प्राप्त करता है। एवं पूर्वार्ध के तीन साधनों के साथ यह 'संग्राम' प्रभु-प्राप्ति का चौथा साधन होता है। इन्हीं वासनाओं के साथ किये जानेवाले संग्राम से प्रभु का पूजन पुराणों में उपदिष्ट है—**'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च यजामो विष्णुमीश्वरम्'**।

भावार्थ—'शरीर व मस्तिष्क का समुचित विकास, प्राणसाधना, यज्ञशीलता व वासनाओं के साथ संग्राम'—इन चार साधनों से परमेष्ठी प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सखा के सन्दर्शन में

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः॥५॥

१. गत मन्त्र में वर्णित साधनों से **संजानानाः**=सम्यग्ज्ञानवाले होते हुए ज्ञानी पुरुष **पत्नीवन्तः**=पत्नियोंवाले अर्थात् अपनी-अपनी पत्नियों के साथ **अभिज्ञु**=अभिगत जानु होकर—घुटनों को मिलाकर—आसन पर बैठते हुए **उपसीदन्**=आपकी उपासना करते हैं। प्रभु की उपासना में स्थित हुए ये **नमस्यं**=**त्वाम्**=नमस्कार के योग्य आपको **नमस्यन्**=पूजित करते हैं। २. **रिरिक्वांसः**=अपने शरीरों को रोगों से तथा मनों को मलों से रहित करते हुए ये लोग **तन्वः**=अपने शरीरों को **स्वाः**=आत्मीय **कृण्वन्त**=करते हैं। नीरोग शरीर व निर्मल मन प्रभु के अधिष्ठान बनते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए शरीर व मन का विरेचन द्वारा शोधन आवश्यक है। ३. इस प्रकार ये शोधन करनेवाले व्यक्ति **सखा**=उस प्रभु के मित्र होते हैं (सख्यः) और **सख्युः निमिषि**=उस सनातन मित्र प्रभु के दर्शन में **रक्षमाणाः**=अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। प्रभु के दर्शन में किसी प्रकार से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—गृहस्थ पत्नी के साथ प्रभु का उपासन व पूजन करें। अपने को निर्मल बनाकर हम प्रभु के हो जाएँ। प्रभु के मित्र बनते हुए हम उस मित्र के सन्दर्शन में अपने को पापों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

(सात गुणा तीन) इक्कीस यज्ञ

त्रिः सप्त यद्गुह्यानि त्वे इत्पदाविदन्निहिता यज्ञियासः।
तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातॄञ्चरथं च पाहि॥६॥

१. **अग्ने**=परमात्मन् ! **यत्**=जो **त्रिः सप्त**=तीन गुणा सात—सात पाक यज्ञ, सात हविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञ—इस प्रकार कुल इक्कीस **गुह्यानि**=अत्यन्त रहस्यमय **पदा**=यज्ञ हैं (पद्यते गम्यते स्वर्ग एभिः) वे **त्वे इत्**=आप में ही **निहिता**=निहित हैं, उनके आधार आप ही हैं—**'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'**—सर्वव्यापक (अह व्याप्तौ) प्रभु ही सब यज्ञों के भोक्ता और प्रभु हैं। 'ये त्रिषप्ताः०' इन अथर्व-शब्दों में मनुष्य के २१ बलों का उल्लेख है। ये इक्कीस यज्ञ उन सब बलों को उत्पन्न व विकसित करनेवाले हैं। इन यज्ञों का लाभ मनुष्य के ज्ञान का पूर्णतया विषय नहीं बनता। देखने में तो अग्नि में डाले गये घृत व अन्य पदार्थ नष्ट-से होते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ये यज्ञ कुछ रहस्यमय-से ही हैं। २. **यज्ञियासः**=यज्ञिय वृत्तिवाले धार्मिक लोग उन यज्ञों को **अविदन्**=जानते हैं व उनका अनुष्ठान करते हैं। वस्तुतः इन यज्ञों का निर्देश प्रभु ने ब्रह्म (वेद) में किया है। इन यज्ञों को करके हम प्रभु की ही प्रतिष्ठा कर रहे होते हैं—**'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'**। ३. **तेभिः**=इन यज्ञों से **सजोषाः**=(सजोषसः) प्रीतिपूर्वक यज्ञों का सेवन करनेवाले ये यज्ञिय लोग **अमृतम्**=नीरोगता का **रक्षन्ते**=रक्षण करते हैं। **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**—प्रभु कहते हैं कि अग्निहोत्र में डाली गई हवि के द्वारा मैं तुझे सब ज्ञात और अज्ञात रोगों से मुक्त करता हूँ। ४. प्रभु कहते हैं कि हे जीव ! तू इन यज्ञों के द्वारा **पशून् च**=गौ आदि पशुओं को **स्थातॄन्**=स्थावर वृक्षादि को **चरथं च**=और पशु-व्यतिरिक्त अन्य गतिशील प्राणियों को **पाहि**=सुरक्षित कर। यज्ञ से सारा वातावरण ही सुन्दर बनता है। उस शुद्ध वातावरण में सभी स्थावर-जंगम, चराचर ठीक से विकास को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—इक्कीस प्रकार के यज्ञ हैं, यज्ञों के स्वामी प्रभु हैं। इन यज्ञों से चराचर का कल्याण होता है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

देवयानमार्ग का उपदेश

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धाः।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्॥७॥

१. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो ! आप **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के **वयुनानि**=प्रज्ञानों व कर्मों को [ऋ० ५।४८।२ पर द०] **विद्वान्**=जानते हुए **शुरुधः**=(क्षुद्रूपस्य शोकस्य रोधयित्रीरिषः—सा०) भूखरूपी शोक को दूर करनेवाले अन्नों को **आनुषक्**=निरन्तर **जीवसे**=जीवन के लिए **विधाः**=विशेषरूप से धारण करते हैं। प्रभु हमारे कर्मों और प्रज्ञानों को जानते हुए उनके अनुसार ही हमें अन्न प्राप्त कराते हैं जिनका प्रयोग करते हुए हम अभाव के कष्ट से ऊपर उठकर जीवन को उन्नत करने में समर्थ होते हैं। २. हे प्रभो ! **अन्तः**=अन्तःस्थित हुए-हुए आप **देवयानान् अध्वनः**=देवताओं से चलने योग्य मार्गों को **विद्वान्**=जानते हुए **अतन्द्रः**=आलस्यशून्य, **दूतः**=उन मार्गों का सन्देश देनेवाले **अभवः**=होते हैं। हृदयस्थरूपेण वे प्रभु हमें निरन्तर उत्तम मार्गों का ज्ञान दे रहे हैं। इस प्रेरणारूप कार्य में प्रभु कभी आलस्य व प्रमाद नहीं करते। वे प्रभु इन मार्गों का ज्ञान देते हुए, मार्गस्थ व्यक्तियों के लिए **हविः वाट्**=हवि को प्राप्त कराते हैं। इन व्यक्तियों के लिए प्रभुकृपा से यज्ञिय पदार्थों की कभी कमी नहीं रहती।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें उत्तम अन्न प्राप्त होते हैं। प्रभु हमें देवयान-मार्गों का उपदेश करते हैं और हमें हविर्द्रव्य प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—भुरिक्पंक्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

ज्ञानैश्वर्य और सात महान् द्वार

स्वाध्यो॑ दि॒व आ स॒प्त य॒ह्वी रा॒यो दुरो॒ व्यृ॑त॒ज्ञा अ॑जानन् ।
वि॒दद्गव्यं॑ स॒रमा॑ दृ॒ळ्हमू॒र्वं येना॒ नु कं॒ मानु॑षी॒ भोज॑ते॒ विट् ॥८॥

१. **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यानवाले **ऋतज्ञाः**=सत्य ज्ञानवाले पुरुष **दिवः रायः**=ज्ञानप्रकाशरूप ऐश्वर्य के **सप्त**=सात **यह्वीः**=महान् **दुरः**=द्वारों को **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** **वि आ अजानन्**=विशेष रूप से, पूर्णतया जानते हैं । ध्यान व सत्य ज्ञान को अपनानेवाले पुरुष 'कानों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुख' को ज्ञानप्राप्ति के सात महान् द्वारों के रूप में जानते हैं । इन द्वारों से वे ज्ञानप्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं । २. इन ध्यानी व ज्ञानी पुरुषों की **सरमा**=(सरान् बोधान् मिमीते इति सरमा—द०) बुद्धि **गव्यम्**=इन्द्रियों सम्बन्धी **दृळ्हम्**=प्रबल **ऊर्वम्**=दोष-हिंसन को **विदत्**=प्राप्त करती है । ये बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को निर्दोष बनाते हैं । वस्तुतः बुद्धि का व्यापार ठीक होने पर मन व इन्द्रियाँ भी निर्दोष बनी रहती हैं । बुद्धि मन का शासन करती है, मन इन्द्रियों का । इस प्रकार इन्द्रियाँ विषय-पङ्क में फँसने से बची रहती हैं । ३. यह इन्द्रियदोष-हिंसन जीवन में उस उत्तम स्थिति को पैदा करता है **येन**=जिससे **मानुषी विट्**=यह मानुषी प्रजा **नु**=अब, इस जीवन में **कम्**=सुख को **भोजते**=भोगती है । वस्तुतः इन्द्रियों की निर्दोषता ही 'सुख' है-**सु**=उत्तम **ख**=इन्द्रियाँ । इन्द्रियों का दूषित होना ही दुःख का कारण बनता है । बुद्धि इनके दोष का हिंसन करती है । इसलिए बुद्धि को शुद्ध रखने के लिए ही हमारा प्रयत्न होना चाहिए ।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानरूप ऐश्वर्य का द्वार बनें । बुद्धि की शुद्धता इन्द्रियों के दोषों को दूर करे और हमारे जीवनों को सुखमय बनाए ।

ऋषिः—पराशरः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

माता व पुत्र

आ ये विश्वा॑ स्वप॒त्यानि॑ त॒स्थुः कृ॑ण्वा॒नासो॑ अमृत॒त्वाय॑ गा॒तुम् ।
म॒ह्ना म॒हद्भिः॑ पृ॒थि॒वी वि त॑स्थे मा॒ता पु॒त्रैरदि॑ति॒र्धाय॑से॒ वेः ॥९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार इन्द्रिय-दोष दूर हो जाने के कारण, **ये**=जो भी लोग **विश्वा**=सब **सु अपत्यानि**=शोभन, अपतनहेतुभूत कार्यों को **आतस्थुः**=अनुष्ठित करते हैं वे **अमृतत्वाय**=मोक्षप्राप्ति के लिए **गातुम्**=मार्ग को **कृण्वानासः**=करनेवाले होते हैं । उत्तम कार्यों के परिणामस्वरूप मोक्ष-प्राप्ति होती है । इन उत्तम कर्मों के द्वारा **महद्भिः**=प्रभु का पूजन करनेवाले लोगों से (मह पूजायाम्) **पृथिवी**=यह पृथिवी **मह्ना**=महिमा के साथ, गौरव के साथ **वितस्थे**=विशेष रूप से स्थित होती है । पृथिवी का धारण इन पवित्र कर्मों के करनेवाले लोगों से ही होता है । पृथिवी इन लोगों से इस प्रकार गौरव से स्थित होती है जिस प्रकार कि **माता पुत्रैः**=एक माता अपने गुणी पुत्रों से गौरव का अनुभव करती हुई स्थित होती है । २. **अदितिः**=अदीना देवमाता **धायसे**=इनके धारण के लिए **वेः**=इन्हें प्राप्त होती है । यहाँ 'अदितिः' का अर्थ पृथिवी (नि० १।१) लिया जाए तो यह अर्थ होता है कि पृथिवी इनको धारण करने के लिए प्राप्त होती है । ये पृथिवी का धारण करते हैं, पृथिवी इनका धारण करती है । जैसे पहले माता पुत्रों का धारण करती है और फिर पुत्र माता का, इसी प्रकार ये लोग पृथिवी का धारण करते हैं और पृथिवी इनका ।

भावार्थ—शोभन, अपतन के हेतुभूत कर्मों को करनेवाले ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। पृथिवी इन्हीं से गौरवान्वित होती है। इन्हीं का पृथिवी धारण करती है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञान के दो चक्षु

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन्दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्।
अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन् ॥१०॥

१. **यत्**=जब **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले देववृत्ति के पुरुष **दिवः**=ज्ञान की **अक्षी**= आँखों को **अकृण्वन्**=खोलते हैं। यहाँ 'अपरा विद्या' एक आँख है और 'परा विद्या' दूसरी आँख। इसी 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' के विचार से ही यहाँ 'अक्षी' इस द्विवचन शब्द का प्रयोग है। जब विषयों से अनाक्रान्त पुरुष ज्ञान की इन दो आँखों को खोलते हैं तो **अस्मिन्**=इस जीवन में **चारु श्रियम्**=सुन्दर शोभा को **अधिनिदधुः**=आधिक्येन धारण करते हैं। 'अपराविद्या' रूप आँख उन्हें रोगों व मृत्यु से बचाकर स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्रदान करती है और 'पराविद्या' रूप आँख उन्हें संसार के स्वादों में फँसने से बचाती है। २. **अध**=अब **सृष्टाः सिन्धवः न**=उत्पन्न हुई-हुई जलधाराओं के समान इनके ज्ञानप्रवाह **नीचीः**= (नितरां अञ्चन्ति) निरन्तर क्रियाशील होकर **अग्ने**=आगे और आगे **प्रक्षरन्ति**=(संचलन्ति) चलते हैं। ये अमृतपुरुष **अरुषीः**=आरोचमान ज्ञानप्रवाहों को **अजानन्**=जाननेवाले होते हैं। इनका ज्ञान सर्वतः दीप्त होता है।

भावार्थ—जीवन का सौन्दर्य ज्ञानप्राप्ति में ही है। 'प्रकृतिविद्या' उस सुन्दर शरीर की एक आँख है तो 'आत्मविद्या' दूसरी। शोभा दोनों आँखों के मेल में ही है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ 'अग्नि' के लक्षण से होता है (क)—यह वेदवाणी से ज्ञान को प्राप्त करता है (ख), लोकहित के कार्यों में व्यापृत रहता है (ग), धनों का ईश बनता है और (घ) विषयों में आसक्त नहीं होता (१)। ये अमूढ पुरुष ही प्रभु को प्राप्त करते हैं (२)। तीन वर्ष तक निरन्तर अभ्यास से साधना सम्भव होती है (३)। 'शरीर और मस्तिष्क का समुचित विकास, प्राणसाधना, यज्ञशीलता व वासनाओं के साथ संग्राम'—ये चार प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं (४)। प्रभु के मित्र बनते हुए हम उसके संदर्शन में पापों से बचें (५)। इक्कीस यज्ञों के अनुष्ठान से हम अमृतत्व का रक्षण करें (६)। अन्तःस्थित प्रभु से देवयान के मार्ग का सन्देश सुनें (७)। इन्द्रियों को ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति का द्वार बनाएँ (८)। अपतन के हेतुभूत कर्मों को करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें (९)। 'परा व अपरा'-विद्यारूप ज्ञान की दो आँखों का सम्पादन करते हुए अधिक शोभा को धारण करें (१०)। 'प्रभु ही उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७३] त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उपासक का वर्धन

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो होतेव सद्म विधतो वि तारीत् ॥१॥

१. वे प्रभु **यः**=जो **पितृवित्तः रयि नः**=पिता से प्राप्त धन की भाँति **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन के देनेवाले हैं, वे **विधतः**=उपासक के **सद्म**=घर को **वितारीत्**=विशेषेण प्रवृद्ध करनेवाले हैं। पिता से धन प्राप्त हो जाने पर सन्तान को अपना समय व्यर्थ धनार्जन में विनष्ट नहीं करना पड़ता। वह आत्मिक उन्नति में आगे बढ़ता हुआ जीवन को बड़ा सुन्दर बना पाता है। इस प्रकार पिता से प्राप्त धन जीवन को उत्कृष्ट बनाने में सहायक हो जाता है। २. वे प्रभु **सुप्रणीतिः**=उत्तमता से हमें आगे ले-जानेवाले हैं **न**=जैसेकि **चिकितुषः**=एक ज्ञानी पुरुष का **शासुः**= शासन व उपदेश। ज्ञानी पुरुष का उपदेश हमारी अग्रगति का कारण होता है, इसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा हमें निरन्तर आगे ले-चलती है। २. **स्योनशीः**=सुख के आधारभूत वे प्रभु हैं—'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'—वे प्रभु रस हैं, उस रस को प्राप्त करके हमारा जीवन भी आनन्दमय बनता है। **अतिथिः न प्रीणानः**=अतिथि के समान वे प्रभु तर्पणीय हैं। जैसे घर में आये अतिथि का 'अर्घ्य, पाद्य, आचमनी व मधुपर्क' आदि से आतिथ्य किया जाता है, इसी प्रकार हमें उस प्रभु का अपने कर्मों के अर्पण द्वारा अर्चन करना चाहिए। वे प्रभु तो **होता इव**=होता के समान हैं। वे हमारे लिए सब-कुछ देनेवाले हैं। उस प्रभु का अर्चन हमारी ही वृद्धि का कारण होगा।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवन को उत्तम बनाने में सहायक होते हैं, हमें उत्तम मार्ग से ले-चलते हैं। वे सुख के आधार हैं और उपासक की वृद्धि करनेवाले हैं।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सत्यमन्मा प्रभु

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत्॥२॥

१. **यः**=जो प्रभु **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=सूर्य की **न**=भाँति **सत्यमन्मा**=सत्यज्ञानवाले हैं। सूर्य का प्रकाश जैसे अन्धकार को निवृत्त करके वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक दिखलाता है, उसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा हमें सत्यमार्ग का दर्शन कराती है। २. वे प्रभु **क्रत्वा**=हृदयस्थरूपेण दिये गये ज्ञान के द्वारा **विश्वा**=सब **वृजनानि**=(वृजनं-बलनाम, नि० २।९) बलों को **निपाति**=निश्चय से हममें सुरक्षित करते हैं। ज्ञान के द्वारा सत्य मार्ग पर आक्रमण से हम पापाचार से दूर रहते हुए अपनी शक्तियों का रक्षण कर पाते हैं। ३. **अमतिः न**=सुन्दर स्वरूपवाला होने के समान **सत्यः**=वे सत्य हैं। प्रभु जैसे सुन्दर हैं, वैसे सत्य भी हैं। वास्तविकता तो यह है कि सत्य ही सुन्दर होता है। वे प्रभु **पुरु प्रशस्तः**=अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। ४. **आत्मा इव शेवः**=आत्मा की भाँति वे सुख देनेवाले हैं। जिस प्रकार 'मैं' अथवा आत्मा मधुरतम वस्तु है, इसी प्रकार प्रभु मनुष्य के लिए अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं। इसी कारण वे प्रभु **दिधिषाय्य**=(धारणीयः) धारण के योग्य **भूत्**=होते हैं। जो भी प्रभु का धारण करेगा वह अत्यन्त आनन्दमय स्थिति में होगा।

भावार्थ—वे प्रभु सत्य ज्ञानवाले हैं, हमारे बलों का रक्षण करते हैं, अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं, अतएव धारणीय हैं।

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

अनवद्या पतिजुष्टा नारी

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा ।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी ॥३॥

१. **यः**=जो प्रभु **देवः न**=एक दाता=देनेवाले की भाँति 'देवो दानात्', **विश्वधायाः**=सबके धारण करनेवाले हैं, वे **हितमित्रः राजा न**=हित करनेवाले स्नेही राजा की भाँति **पृथिवीम्**=इस पृथिवी पर **उपक्षेति**=निवास करते हुए क्रियाशील हैं। २. इस प्रभु के **पुरः सदः**=सामने रहनेवाले, प्रभु की आँख से ओझल न होनेवाले **शर्मसदः न**=सुख में रहनेवालों की भाँति **वीराः**=वीर होते हैं। सुखी भी होते हैं, वीर भी होते हैं। ३. प्रभु को न भूलनेवाले, प्रभु की आँख से अपने को ओझल न करनेवाले व्यक्ति **पतिजुष्टा नारी इव**=पति को प्रेम से उपासित करनेवाली नारी की भाँति **अनवद्या**=अनिन्दित होते हैं। पतिव्रता नारी की पवित्रता प्रोवर्बियल (लोकप्रसिद्ध) है। यही पवित्रता उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जो प्रभु से अपने को ओझल नहीं करता। प्रभु पति होते हैं, वह पत्नी का स्थान ग्रहण करता है—पूर्ण पातिव्रत्य का पालन करनेवाली पत्नी का। रहस्यवाद की भाषा में यह प्रभु को पति के रूप में वरण करनेवाला होता है। प्रभु की शक्ति को प्राप्त करके जैसे प्रकृति सूर्य-चन्द्रादि को जन्म देती है, उसी प्रकार प्रभु से शक्ति प्राप्त करके यह 'यज्ञ, दान, तप, आदि उत्तम कर्मों को जन्म देता है।

भावार्थ—प्रभु विश्वधाया है, हितमित्र राजा के समान हैं। हमें प्रभु की 'अनवद्या पतिजुष्टा नारी' बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—पराशरः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

ज्योतिर्मय जीवन

तं त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु ।
अधि द्युम्नं नि दधुर्भूर्यस्मिन्भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम् ॥४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! **तं त्वा**=उन आपको **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग **ध्रुवासु क्षितिषु**=उपद्रवरहित ग्रामों में **दमे**=अपने-अपने घरों में **आ सचन्त**=सदा उपासित करते हैं। उस प्रभु को उपासित करते हैं जोकि **नित्यं इद्धम्**=सदा प्रदीप्त हैं। वस्तुतः सदा दीप्त प्रभु के उपासन से ही वे अपने जीवन को दीप्तिमय बना पाते हैं। राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह प्रजाओं के लिए देश को शत्रुभय से अनाक्रान्त रखे (क्षितिषु ध्रुवासु) और प्रजाओं का यह कर्तव्य है कि वे इन निरुपद्रव स्थानों में रहते हुए अपने घरों को दमन व संयमवाला बनाएँ (दमे)। २. जब ये नर प्रभु का उपासन करते हैं तो **अस्मिन्**=इस संयमयुक्त गृह में **भूरि द्युम्नम्**=पालन-पोषण के लिए साधनभूत ज्ञान को **अधिनिदधुः**=आधिक्येन स्थापित करते हैं। यह घर प्रकाशमय व ज्ञानमय होता है। ३. हे प्रभो ! इस प्रकार आप **विश्वायुः भव**=पूर्ण जीवन को देनेवाले होते हैं और **रयीणां धरुणः**=धनों के धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु-उपासकों के घर में ज्ञानपूर्ण जीवन व धन की स्थापना होती है।

भावार्थ—हम शान्त वातावरण में स्थित घरों में प्रभु के उपासक बनें। हमारे घर प्रकाशमय, पूर्ण जीवनवाले व धनों के धारक हों।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

यज्ञ व उत्तम अन्न

वि पृक्षो अग्ने मघवानो अश्युर्वि सूरयो ददतो विश्वमायुः।
सनेम वाजं समिथेष्वर्यो भागं देवेषु श्रवसे दधानाः॥५॥

१. **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **मघवानः**=(मघः=ऐश्वर्यं, मघ=मख) अपने ऐश्वर्यों का यज्ञ में विनियोग करनेवाले लोग **पृक्षः**=उत्तम अन्नों को **वि अश्युः**=विशेष रूप से प्राप्त करते हैं। यज्ञशील राष्ट्र में उत्तम अन्नों की ही उत्पत्ति होती है। २. **ददतः सूरयः**=दानशील ज्ञानी लोग **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **वि**=(अश्युः) विशेष रूप से प्राप्त करते हैं। दान से धन बढ़ता ही है, दान से धन में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। ज्ञानी लोग इस तत्त्व को समझते हुए दानशील होते हैं। यह दानशीलता उनके जीवनों को पवित्र बनाये रखती है। पवित्रता जीवन की दीर्घता का कारण बनती है। ३. **समिथेषु**=संग्रामों में—काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले युद्धों में **अर्यः**=(ऋ गतौ) उस सर्वत्र प्राप्त प्रभु की **वाजम्**=शक्ति को **सनेम**=हम प्राप्त करें। प्रभु की शक्ति से ही तो हम इन शत्रुओं को पराजित कर सकेंगे। ४. हम **देवेषु**=विद्वानों में **श्रवसे**=ज्ञानप्राप्ति के लिए **भागम्**=(भज सेवायाम्) सेवा व उपासना को **दधानाः**=धारण करनेवाले हों। विद्वानों की सेवा से हमारा ज्ञान बढ़ेगा—**'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'**। यह ज्ञान ही हमें कामादि शत्रुओं को दग्ध करने की शक्ति देगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर उत्तम अन्नों को प्राप्त करें, दानशील ज्ञानी बनकर पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। अध्यात्म-संग्रामों में प्रभु से शक्ति प्राप्त करके विजयी बनें। विद्वत्संग से ज्ञान को बढ़ाएँ।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ऋत की धेनुएँ

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः।
परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्॥६॥

१. **ऋतस्य**=सत्यज्ञान के दुग्ध को पिलानेवाली **धेनवः**=वेदवाणीरूपी गौएँ **हि**=निश्चय से **पीपयन्त**=हमारा आप्यायन करती हैं। ये वाणियाँ हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क की शक्तियों का वर्धन करनेवाली हैं। **वावशानाः**=ये वेदवाणीरूप धेनुएँ हमारे अत्यन्त हित की कामनावाली हैं, **स्मदूध्नीः**=इनका ऊधस् सदा ज्ञानदुग्ध से परिपूर्ण है अथवा बहुदुग्ध-प्रापिका हैं; **द्युभक्ताः**=ज्ञानप्रकाश का सेवन करनेवाली हैं। जैसे गौएँ सूर्यप्रकाश में विचरण करती हुई तेजस्विनी होती हैं, इसी प्रकार से ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ ज्ञानप्रकाश से तेजस्विनी हैं। २. इन ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणियों के धारण करनेवाले आचार्य 'अद्रि' हैं—आदरणीय हैं (निरु० ९।८)। जैसे **सिन्धवः**=बहनेवाली नदियाँ **परावतः**=सुदूर देश से **अद्रिम् समया**=पर्वत के समीप **विसस्रुः**=बहती हैं, उसी प्रकार **सिन्धवः**=गतिशील विद्यार्थी **सुमतिं भिक्षमाणाः**=कल्याणी मति की याचना करते हुए **परावतः**=सुदूर देशों से **अद्रिम्**=आदरणीय आचार्यों के **समया**=समीप **विसस्रुः**=विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। पर्वतों से नदियों को जल प्राप्त होता है, इसी प्रकार आचार्यों से विद्यार्थी को ज्ञानजल प्राप्त होता है। आचार्य का विद्यार्थी आदर करता है,

आचार्य के प्रति विनीत बनता है, तभी वह ज्ञान प्राप्त कर पाता है **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'**। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए यहाँ आचार्य के लिए 'अद्रि' शब्द का प्रयोग है। विद्यार्थी को आलस्यशून्य और सदा क्रियाशील होना चाहिए—इस भाव को 'सिन्धवः' शब्द व्यक्त कर रहा है। ज्ञानप्राप्ति के लिए विद्यार्थी का आचार्य के समीप रहना आवश्यक है—यह भाव 'समया' शब्द से सूचित होता है।

भावार्थ—वेदवाणी सत्यज्ञान देनेवाली है। विद्यार्थी आचार्यों के समीप रहकर इनके अध्ययन से सुमति को प्राप्त होता है।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

कृष्ण व अरुण वर्ण का सन्धान

त्वे अ॑ग्ने सु॒म॒तिं भिक्ष॑माणा दि॒वि श्रवो॑ दधिरे य॒ज्ञिया॑सः।
नक्ता॑ च च॒क्रुरु॒षसा॒ विरू॑पे कृ॒ष्णं च॒ वर्ण॑मरु॒णं च॒ सं धुः॑ ॥७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सुमतिं भिक्षमाणाः**=कल्याणी मति की भिक्षा करते हुए **त्वे**=तुझमें निवास करते हैं। ज्ञानप्राप्ति के इच्छुकों के लिए यह आवश्यक है कि वे प्रभु का उपासन करनेवाले हों। ये प्रभु के उपासक आचार्य व शिष्य **यज्ञियासः**=परस्पर संगतिकरणवाले होते हैं। इनमें विद्यार्थी आचार्यों का देवतुल्य पूजन करते हैं और आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान का दान देते हैं (यज=संगतिकरण—देवपूजा—दान)। इस प्रकार यज्ञिय बनकर ये **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **श्रवः**=ज्ञान को **दधिरे**=धारण करते हैं। २. ये आचार्य व विद्यार्थी **नक्ता उषसा च**=(उषःकालोपलक्षितमहः—सा०)दिन और रात को **विरूपे**=विशिष्ट रूपवाला **चक्रुः**=करते हैं। जो दिन और रात ज्ञान-प्राप्ति में बीतते हैं, वे उत्कृष्ट रूपवाले तो होते ही हैं। आचार्य व विद्यार्थी का यही कर्तव्य है कि वे दिन-रात ज्ञान-प्राप्ति में ही लगे रहें। इस ज्ञान के द्वारा उनके दिन-रात चमक उठें। ३. ये विद्यार्थी व आचार्य **कृष्णं वर्णं च**=काले रंग को तथा **अरुणम्**=अरुण वर्ण को **सन्धुः**=मिलानेवाले होते हैं। (क) विद्यार्थी ने कृष्णवर्ण का मृगचर्म पहना हुआ है 'कार्ष्णं वसाना' और आचार्य ने अरुणवर्ण के वस्त्र धारण किये हुए हैं। (ख) विद्यार्थी का अज्ञान कृष्णवर्ण से सूचित होता है और आचार्य का ज्ञान अरुणवर्ण से। (ग) ज्ञानप्राप्ति के क्रम में 'पूर्वपक्ष' कृष्णवर्ण है, तो 'उत्तरपक्ष' अरुणवर्ण है। ज्ञानप्राप्ति के लिए दोनों का प्रतिपादन आवश्यक होता है। (घ) एक निर्णय पर पहुँचने के लिए साधर्म्य का प्रतिपादन अरुणवर्ण है तो वैधर्म्य का प्रतिपादन कृष्णवर्ण है। किसी भी वस्तु के निश्चय के लिए Pros and cons का सोचना आवश्यक होता है। Comparison and contrast से बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। बस, यही कृष्ण और अरुण वर्ण का सन्धान है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) प्रभु-उपासन हो, (ख) आचार्य व विद्यार्थी परस्पर पूजन व प्रेमवाले हों, (ग) दिन-रात अध्ययन चले, (घ) पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का खूब विचार हो।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

धनसम्पन्न व यज्ञशील

यान् रा॒ये मर्ता॒न्त्सुषू॑दो अग्ने॒ ते स्या॑म म॒घवा॑नो व॒यं च॑।
छा॒येव॒ विश्वं॒ भुव॑नं सिसक्ष्याप॒प्रिवान् रोद॑सी अ॒न्तरि॑क्षम् ॥८॥

१. हे **अग्ने**=आगे ले-जानेवाले प्रभो ! **यान् मर्तान्**=जिन मनुष्यों को आप **राये**=ऐश्वर्यों के लिए **सुषूदः**=उत्तमता से प्रेरित करते हैं, **ते वयम्**=वे हम **स्याम**=हों, **च**=और **मघवानः**=(मघ= ऐश्वर्य तथा मघ=यज्ञ) ऐश्वर्य का यज्ञों में विनियोग करनेवाले हों। हम उन मनुष्यों में से हों जो प्रभु-कृपा से ऐश्वर्यों के स्वामी होते हैं और उन ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करते हैं। २. हे प्रभो ! आप **रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आपप्रिवान्**=पूर्ण किये हुए हैं, सब लोक-लोकान्तरों में व्याप्त हैं तथा **विश्वं भुवनम्**=सब प्राणियों को **छाया इव**=छाया की भाँति **सिसक्षि**=समवेत (संयुक्त) करते हैं। जैसे छाया पदार्थों को छोड़कर दूर नहीं होती, उसी प्रकार प्रभु सब प्राणियों के साथ समवेत हैं। प्रभु प्राणियों का साथ नहीं छोड़ते। हम प्रभु को भूल जाएँ तो भूल जाएँ, परन्तु प्रभु हमें कभी नहीं भूलते।

भावार्थ—हम धनसम्पन्न व यज्ञशील बनें। हमें प्रभुकृपा सदा प्राप्त रहे।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले वीर नर

अर्वद्भिरग्ने अर्वतो नृभिर्नॄन्वीरैर्वीरान्वनुयामा त्वोताः।
ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः ॥९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **त्वा**=आपसे **ऊताः**=रक्षित किये हुए हम (क) **अर्वद्भिः**=अपने घोड़ों से **अर्वतः**=शत्रु के घोड़ों को **नृभिः नॄन्**=अपने नेताओं से शत्रुओं के नेताओं को तथा **वीरैः वीरान्**=अपने वीरों से शत्रुओं के वीरों को **वनुयाम**=जीतनेवाले हों। (ख) अथवा 'एक से बढ़कर एक को' इस वाक्यविन्यास के अनुसार अच्छे घोड़ों से भी अच्छे घोड़ों को, अच्छे-से-अच्छे नेतृत्व करनेवाले पुरुषों को तथा अच्छे वीरों से भी अच्छे वीरों को हम **वनुयाम**=प्राप्त करनेवाले हों। २. हम **पितृवित्तस्य रायः** माता-पिता से प्राप्त धनों के **ईशानासः**=स्वामी हों। इन धनों के स्वामी होकर हम आत्मिक उन्नति में सारे समय को लगा सकें—**'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते'** के अनुसार हमारा जन्म पवित्र व सम्पन्न घरों में हो। हम सारा समय आत्मिक उन्नति में लगाते हुए 'अच्छे-से-अच्छे इन्द्रियाश्वोंवाले, 'नर' पुरुषों की वृत्तिवाले वीर बन पाएँ।' ३. ऐसा जीवन बनाने के लिए **शतहिमाः**=सौ-के-सौ वर्ष **सूरयः**=ज्ञानी, प्रेरक, विद्वान् **नः**=हमें **वि अश्युः**=विशेष रूप से प्राप्त हों। इन ज्ञानियों के सम्पर्क में हमारा जीवन उन्नत और अधिक उन्नत होता चले।

भावार्थ—हम धनी घरों में जन्म लें ताकि सारा समय अध्यात्म-उन्नति में लगाकर हम उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले (अर्वा) वीर नर बन सकें।

ऋषिः—पराशरः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वेदवचनों का मनन व उनके प्रति श्रद्धा

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च।
शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो देवभक्तं दधानाः ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! **वेधः**=प्रज्ञाप्रद प्रभो ! **एता**=ये **ते**=आपके **उचथानि**=वेदवचन **मनसे**=मेरे मन के लिए **हृदे च**=और हृदय के लिए **जुष्टानि सन्तु**=प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों अर्थात् मैं इन वेदवचनों का मनन करनेवाला बनूँ और इन वाक्यों के लिए श्रद्धावाला होऊँ। २. हे प्रभो ! **सुधुरः**

उत्तम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को धारण करनेवाले हम **ते**=आपके **यमम्**=जीवन को नियमित करनेवाले **देवभक्तम्**=देवों व विद्वानों से सेवित **श्रवः**=ज्ञान को **अधिदधानः**=आधिक्येन धारण करते हुए **रायः**=धनों को **शकेम**=प्राप्त करने में समर्थ हों। ज्ञान हमारे जीवन में नियमितता को पैदा करता है। ज्ञान को प्राप्त करके जब हम धनार्जन करते हैं तो धन के कारण होनेवाली बुराइयों से बचे रहते हैं। इसलिए आवश्यकता है कि हमारा सारा अवकाश का समय वेदमन्त्रों के मनन में बीते, ज्ञान-प्राप्ति में हम अवकाश का विनियोग करें।

भावार्थ—हमें ज्ञान प्रिय हो। ज्ञान को धारण करते हुए हम धनों का अर्जन करनेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि पिता से प्राप्त धन हमें अध्यात्म-उन्नति के लिए पर्याप्त अवकाश देकर हमारे जीवन को उत्कृष्ट करे (१)। वे प्रभु सत्यज्ञानवाले हैं, अतएव धारणीय हैं (२)। प्रभु की आंखों से ओझल न होते हुए हम पतिव्रता नारी के समान आनन्दित जीवनवाले हों (३)। हम ज्योतिर्मय जीवनवाले हों (४)। यज्ञशील बनकर हम उत्तम अन्नों को प्राप्त करें (५)। आदरणीय आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करें (६)। पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष के विचार से हमारा ज्ञान परिष्कृत हो (७)। हम धनसम्पन्न व यज्ञशील हों (८)। उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले वीर नर हों (९)। वेदमन्त्रों का हम मनन करें व उनके प्रति श्रद्धावाले हों (१०)। 'प्रभु की उपासना करते हुए मन्त्रों का उच्चारण करें' —इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७४] चतुःसप्तितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः - षड्जः।

यज्ञ व स्तवन

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते ॥१॥

१. गत सूक्त के साथ पराशर ऋषि के द्वारा द्रष्ट मन्त्र समाप्त होकर 'गोतम राहूगण' ऋषि द्वारा द्रष्ट मन्त्र आरम्भ होते हैं। पराशर=शत्रुओं का सुदूर संहार करनेवाले का गोतम=प्रशस्तेन्द्रिय-वाला बनना स्वाभाविक ही है। यह गोतम 'रह त्यागे' त्यागवालों में भी उत्तमकोटि में गिना जाता है, अतः 'राहूगण' कहलाता है। २. गोतम राहूगण बने रहने के लिए यह प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करें कि हम **अध्वरं उपप्रयन्तः**=सदा हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के समीप प्राप्त होते हुए **अग्नये**=अग्नि के लिए **मन्त्रं वोचेम**=मन्त्रों का उच्चारण करें। मन्त्रों में उन यज्ञों के लाभों का वर्णन होता है। इस प्रकार यज्ञों के प्रति श्रद्धा का बढ़ना स्वाभाविक है। आचार्य के शब्दों में इस प्रकार मन्त्रों का रक्षण भी होता है। ३. यज्ञों को करते हुए हम प्रभु का स्तवन भी करते रहें तो भौतिक लाभों के साथ आध्यात्मिक लाभ जुड़ जाता है। साथ ही उन यज्ञों का हमें अहंकार भी नहीं होता। हमें यह ध्यान रहता है कि हमारे माध्यम से प्रभुशक्ति ही इन यज्ञों को सिद्ध कर रही है, हम तो निमित्तमात्र हैं। हम उस प्रभु के लिए मन्त्रों का उच्चारण करें जोकि **आरे च**=सुदूर स्थान में भी अर्थात् दूर और पास सर्वत्र **अस्मे**=हमारी प्रार्थना को **शृण्वते**=सुनते हैं। प्रभु से हमारी प्रार्थना कभी अश्रुत नहीं होती।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों तथा प्रभु के स्तवन के लिए मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले हों। ये प्रभु दूर और समीप सर्वत्र हमारी प्रार्थना को सुनते हैं। इस प्रकार हमारे जीवनों में यज्ञ व स्तवन का समन्वय हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

दाश्वान् को गय की प्राप्ति

यः स्नीहितीषु पूर्व्यः संजग्मानासु कृष्टिषु । अरक्षद्दाशुषे गयम् ॥२॥

१. **यः**=वह प्रभु **स्नीहितीषु**=(स्नेहयति वधकर्मा) काम-क्रोधादि का वध करनेवाली **संजग्मानासु**=परस्पर प्रेम से संगत होनेवाली **कृष्टिषु**=प्रजाओं में **पूर्व्यः**=पूरण करनेवाला है । प्रभु उन लोगों का पूरण करते हैं जो (क) काम-क्रोधादि के संहार के लिए प्रयत्नशील हों, (ख) परस्पर प्रेम व मेल से चलें, (ग) कृष्टिरूप श्रमवाले कार्यों को करनेवाले हों । २. ये प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—अपना समर्पण करनेवाले के लिए **गयम्**=धन को (नि० २।१०) **अरक्षत्**=रक्षित करते हैं । प्रभुकृपा से दाश्वान् को जीवन-यात्रा के लिए पर्याप्त धन मिलता है । धन के अभाव के कारण उसके कार्य रुके नहीं रह जाते ।

भावार्थ—हम कामादि शत्रुओं का संहार करें, परस्पर प्रेमवाले हों, श्रमशील हों, प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले बनें—प्रभु हमें पर्याप्त धन देंगे ही ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

धनञ्जय

उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि । धनञ्जयो रणेरणे ॥३॥

१. **जन्तवः**=शरीरधारी मनुष्य **उत**=खूब ही **ब्रुवन्तु**=उस प्रभु के गुणों व गुणवाचक नामों का उच्चारण करें । यह गुणों का स्मरण उन्हें उन गुणों के धारण की प्रेरणा देनेवाला होगा **उत**=और इस प्रकार धीरे-धीरे उन गुणों के अपनाते चले जाने पर वह **वृत्रहा**=ज्ञान के आवरणभूत सब मलों का—वासनाओं का नष्ट करनेवाला **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अजनि**=उनके हृदयों में प्रकट होता है । २. इस प्रभु का प्रादुर्भाव होने पर यह स्तोता **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धनञ्जयः**=धनों का विजय करनेवाला बनता है । प्रभु के साथ होने पर पराजय का क्या काम ? प्रभु के साथ होने पर विजय ही विजय होती है, पराजय तो उनसे अलग होने पर ही होती है ।

भावार्थ—हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें । प्रभु को हृदय में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करें, परिणामतः प्रत्येक संग्राम में हम विजयी होंगे ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराड् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सुन्दर—शिब जीवन के लिए तीन बातें

यस्य दूतो असि क्षये वेषि हव्यानि वीतये । दस्मत्कृणोष्यध्वरम् ॥४॥

१. हे प्रभो ! आप **यस्य**=जिसके **क्षये**=घर में **दूतः**=ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले **असि**=होते हैं, अर्थात् जो इधर-उधर न भटकता हुआ हृदयस्थ आपके सन्देश को सुन पाता है, २. जिसे आप **वीतये**=अज्ञानान्धकार के नाश के लिए अथवा भोजन के लिए (वी=असन व खादन) **हव्यानि**=हव्य, यज्ञिय, सात्त्विक पदार्थों को **वेषि**=(वी=गति) प्राप्त कराते हैं, ३. आप उसके लिए **अध्वरम्**=उसके हिंसारहित जीवन-यज्ञ को **दस्मत्**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाला अथवा सर्वथा दर्शनीय **कृणोषि**=करते हैं । ४. जीवन का सौन्दर्य तीन बातों पर निर्भर करता है—(क) हम हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनें । प्रभु ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं, जो प्रभु के सन्देश को नहीं सुनता वह विनाश को प्राप्त

होता है। (ख) हम भोजन में सात्त्विक पदार्थों का ही प्रयोग करें। इससे ही हमारी चित्तवृत्ति का शोधन होगा—**'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। (ग) हम हिंसारहित कर्मों—अध्वरों के ही करनेवाले हों। ये तीन बातें हमारे जीवन को सुन्दर व दुःखशून्य बनाती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के सन्देश को सुनें, सात्त्विक भोजन ग्रहण करें, हिंसारहित कर्मों में प्रवृत्त हों—यही जीवन को सुन्दर व शिव बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुहव्य-सुदेव-सुबर्हिष्

तमित्सुहव्यमङ्गिरः सुदेवं सहसो यहो। जना आहुः सुबर्हिषम् ॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो भी व्यक्ति तीन बातों को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करता है **तम् इत्**=उसको ही **जनाः**=लोग **सुहव्यम्**=उत्तम 'हव्य-यज्ञिय-सात्त्विक' पदार्थोंवाला **आहुः**=कहते हैं। लोगों में उसकी प्रसिद्धि 'सुहव्य' नाम से होती है। २. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! इस सुहव्य के जीवन में भी इन सात्त्विक पदार्थों के सेवन से सचमुच रस का सञ्चार होता है। ये अन्न उसकी 'आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य सुख व प्रीति' के बढ़ानेवाले होते हैं। ये उसके लिए 'रस्य, स्निग्ध, स्थिर व हृद्य' होते हैं। ३. हे **सहसो यहो**=बल के पुत्र (बल के पुतले, शरीरधारी बल) प्रभो! लोग उसे **सुदेवम्**=उत्तम विजिगीषावाला (दिव् विजिगीषा) कहते हैं। सात्त्विक अन्नों के सेवन से उसके जीवन में बल और आरोग्य का वर्धन होता है और जितना-जितना उसका बल बढ़ता है, उतना-उतना वह कामादि शत्रुओं को जीतने की इच्छावाला होता है। इनको जीतकर वह 'सुदेव' बनता है। ४. कामादि को जीतनेवाले इस व्यक्ति को ही **सुबर्हिषम्**=(उद्बर्हण=विनाश) उत्तमता से वासनाओं का विनाश करने के कारण निर्वासन हृदयवाला कहते हैं।

भावार्थ—हम 'अङ्गिर' व 'सहसो यहो' इन नामों से प्रभु का उपासन करते हुए 'सुहव्य, सुदेव व सुबर्हिष्' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सात्त्विक भोजन से दिव्यता का विकास

आ च वहासि ताँ इह देवाँ उप प्रशस्तये। हव्या सुश्चन्द्र वीतये ॥६॥

१. हे **सुश्चन्द्र**=शोभन आह्लादवाले, आनन्दघन प्रभो! आप ही **इह**=इस हमारे जीवन में **तान् देवान्**=उन-उन दिव्यगुणों को **आवहासि**=प्राप्त कराते हैं **च**=और इस प्रकार **उपवहासि**=समीपता से प्राप्त कराते हैं कि **प्रशस्तये**=इन देवों का प्रापण हमारे जीवन की प्रशस्ति के लिए होता है। उन दिव्यगुणों से हमारा जीवन प्रशंसनीय वन जाता है। २. हमारे जीवन को दिव्यगुणों से अलंकृत करने के लिए ही आप **वीतये**=भोजन के लिए, हमारे आहार के लिए **हव्या**=हव्य पदार्थों को, सात्त्विक यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः इस प्रकार सात्त्विक भोजनों के द्वारा मन को दिव्यगुणों से अलंकृत करके ही हम भी अपने जीवन को उत्तम आह्लादवाला बना पाते हैं।

भावार्थ—हम हव्य पदार्थों का ही सेवन करें, इस प्रकार दिव्यगुणों का अपने में विकास करें। यही जीवन को आनन्दमय बनाने का प्रकार है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराड् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

दूत के शब्दों को न सुनना

न योरुपब्दिरश्व्यः शृण्वे रथस्य कच्चन । यदग्ने यासि दूत्यम् ॥७॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे-ही-आगे ले-चलनेवाले प्रभो ! **यत्**=जब **दूत्यं यासि**=वेदवाणी का सन्देश प्राप्त कराने के कर्म को आप स्वीकार करते हैं तो हमारा यह दौर्भाग्य है कि **रथस्य**=हमारी जीवन-यात्रा के लिए रथरूप आपका **उपब्दिः**=सुनने के योग्य शब्द जोकि **अश्व्यः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाला (अश् व्याप्तौ) व हितकर है तथा जो शब्द **योः**=(भयानां यावनम्) हमारे सब भयों को दूर करनेवाला है, वह शब्द **कच्चन**=कभी भी **न शृण्वे**=हमसे सुना नहीं जाता । इस सन्देश-वाक्य को न सुनना ही हमारे सब कष्टों का कारण हुआ करता है । आपका सन्देश-वाक्य सचमुच हमारे लिए हितकर व हमारे सभी भयों का दूर करनेवाला है । हम उसे सुनकर अपने जीवन को बड़ा 'सुभग' बना सकते हैं, पर दौर्भाग्यवश हम उसे सुनते तो नहीं ।

भावार्थ—हम प्रभु के सन्देश को सुनें, इसी में हमारा हित है । इस सन्देश को सुनकर हम सभी भयों से ऊपर उठ पाएँगे ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

आगे और आगे

त्वोतो वाज्यह्रयोऽभि पूर्वस्मादपरः । प्र दाश्वाँ अग्ने अस्थात् ॥८॥

१. हे प्रभो ! **त्वा ऊतः**=आपसे रक्षित किया हुआ व्यक्ति **वाजी**=शक्तिशाली होता है । वस्तुतः इस व्यक्ति में प्रभु की शक्ति का प्रवाह बहता है । २. **अह्रयः**=यह व्यर्थ के संकोच व झिझकवाला नहीं होता । यह उत्साहकपूर्वक अपने क्रियाक्षेत्र में आगे और आगे बढ़ता है । **'स्वं महिमानमायजताम्'**—इस आपके उपदेश के अनुसार अपनी महिमा को समझता हुआ यह कार्यक्षेत्र में घबराता नहीं । ३. **पूर्वस्मात् अपरः अभि**=(अपरम् अभि), पहले आश्रम से अगले आश्रम में यह आगे बढ़ता है । ४. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **दाश्वान्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **प्र-अस्थात्**=आगे और आगे पग रखता है । यह प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु इसका रक्षण करते हैं और शक्ति प्राप्त कराते हैं । इस शक्ति को प्राप्त करके यह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है ।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व उत्साहसम्पन्न होकर निरन्तर आगे बढ़ें ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

ज्योतिर्मय शक्ति

उत द्युमत्सुवीर्यं बृहदग्ने विवाससि । देवेभ्यो देव दाशुषे ॥९॥

१. हमारे जीवनों में **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'**—इस उपनिषद्-वाक्य के अनुसार पाँच वर्ष तक माता का स्थान है, आठ वर्ष तक पिता का, पच्चीस वर्ष तक आचार्य का, तदुपरान्त गृहस्थ में अतिथियों का । इन **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **दाशुषे**=अपना अर्पण करनेवालों के लिए हे **अग्ने**=अग्रेणी **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो ! आप **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **उत**=और **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **विवाससि**=प्राप्त कराते हैं । २. शक्ति के बिना

किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं होती, परन्तु यह शक्ति द्युमत्=ज्योतिर्मय होनी चाहिए। ज्योति के अभाव में शक्ति उन्नति का कारण न होकर अवनति व ह्रास का कारण हो जाती है। ३. यह शक्ति प्राप्त उसी को होती है जोकि माता-पिता आदि देवों के प्रति अपना अर्पण करके चलता है। उनकी आज्ञा व निर्देशों में चलता हुआ व्यक्ति ही ज्योतिर्मय शक्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—माता-पितादि देवों के प्रति अपना अर्पण करने के द्वारा हम ज्योतिर्मय प्रवृद्ध शक्ति को प्राप्त करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि 'यज्ञ व स्तवन' हमारे जीवनों के आवश्यक अङ्ग होने चाहिएँ (१)। प्रभु अर्पणशील को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं (२)। प्रभु-स्मरण करनेवाला प्रत्येक रण में विजयी होता है (३)। सुन्दर शिव जीवन बनाने के लिए हम प्रभु के सन्देश को सुनें, सात्त्विक भोजन करें, हिंसारहित कर्मों में प्रवृत्त हों (४)। सुहव्य, सुदेव, सुबर्हिष् बनें (५)। सात्त्विक भोजनों से दिव्यता का विकास होता है (६)। दुष्ट-वृत्ति का पुरुष देव के सन्देशों को नहीं सुनता (७)। प्रभु से रक्षित व्यक्ति आगे-और-आगे बढ़ता है (८)। देवार्पण करनेवाले व्यक्ति को प्रभु ज्योतिर्मय शक्ति प्राप्त कराते हैं (९)। 'हम हव्य पदार्थों का ही सेवन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[७५] पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः - गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः गायत्री। स्वरः - षड्जः।

सात्त्विक भोजन व ज्ञानप्रवणता

जुषस्व॑ स॒प्रथ॑स्तमं॒ वचो॑ दे॒वप्स॑रस्तमम्। ह॒व्या जुह्वा॑न आ॒सनि॑ ॥१॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **वचः**=उस वेदवाणी का, ज्ञान की वाणी का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर, जो ज्ञान के वचन **सप्रथस्तमम्**=अतिशयेन विस्तार से युक्त हैं अर्थात् जो तेरे हृदय को विशाल बनानेवाले हैं और तेरी वृत्ति को उदार करनेवाले हैं तथा **देवप्सरस्तमम्**=(स्पृ प्रीतिबलयोः) विद्वानों के लिए प्रीतिजनक हैं। शास्त्र-वाक्य ज्यों-ज्यों समझ में आते हैं, त्यों-त्यों रुचि के जनक होते हैं; अथवा ज्ञान के वचन देवों को बलयुक्त करनेवाले हैं। ज्ञान स्वयं में एक महान् शक्ति है। ३. अपनी प्रवृत्ति को ज्ञानप्रवण करने के लिए तू **आसनि**=मुख में **हव्या**=हव्य पदार्थों की ही **जुह्वानः**=आहुति देनेवाला हो। सात्त्विक पदार्थों का ही तू सेवन कर और सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करनेवाला हो। इससे तेरा हृदय विशाल होगा और दिव्यवृत्ति को बल मिलेगा।

भावार्थ—सात्त्विक भोजन करते हुए हम सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर ज्ञान की वाणियों के अध्ययन की ओर प्रवण हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अङ्गिरस्तम-वेधस्तम

अथा॑ ते॒ अङ्गि॑रस्त॒माग्ने॑ वेधस्तम प्रि॒यम्। वो॒चेम॒ ब्रह्म॑ सान॒सि ॥२॥

१. जीव प्रभु-प्रवणवृत्ति की कामना करता हुआ कहता है कि हे **अङ्गिरस्तम**=हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अधिक-से-अधिक शक्ति का सञ्चार करनेवाले **वेधस्तम**=अत्यन्त मेधाविन् **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अथ**=अब; गत मन्त्र के अनुसार हव्य पदार्थों के सेवन से अपनी बुद्धि को सात्त्विक बनाकर हम **ते**=

आपके प्रति **प्रियम्**=प्रीति उत्पादक **सानसि**=सम्भजनीय **ब्रह्म**=ज्ञान के वचनों का **वोचेम**=उच्चारण करें। २. जब हम ज्ञान की इन वेदप्रतिपादित वाणियों का उच्चारण करते हैं तो ये वाणियाँ हमें प्रभु का प्रिय बनाती हैं और सचमुच ये वाणियाँ हमारे जीवनों को उत्तम बनाने के कारण सम्भजनीय हैं। ३. इन वाणियों के अध्ययन का परिणाम यह होगा कि हम शरीर में 'अङ्गिरस्तम' बनेंगे तो मस्तिष्क में 'वेधस्' होंगे। इस प्रकार ये वाणियाँ हमें अधिकाधिक उन्नत करती हुई सचमुच अग्नि बनाएँगी।

भावार्थ—वेदवाणियों के सेवन से हम सशक्त व मेधावी बनेंगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अज्ञेय व अचिन्त्य प्रभु

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः। को ह कस्मिन्नसि श्रितः॥३॥

१. हे प्रभो! **जनानाम्**=मनुष्यों में **कः**=कौन **ते**=तेरा **जामिः**=बन्धु है! जैसे बन्धुओं में कुछ समानता-सी होती है, इस प्रकार हे प्रभो! मनुष्यों में आपके समान कौन है, अर्थात् कोई भी आपकी समता नहीं कर सकता। सामान्य मनुष्य के विषय में तो प्रश्न ही नहीं उठता **'न मुक्तानामपि हरेः साम्यम्'**—इन पुराण-शब्दों के अनुसार मुक्त जीव भी उस प्रभु के सम नहीं हो पाते। **'जगद्व्यापार-वर्जमितरेषामैश्वर्यम्'**—इस वेदान्तसूत्र के अनुसार मुक्त भी प्रभु के समान सृष्टि का निर्माण तो नहीं कर सकते। हे प्रभो! **कः**=कौन आपकी भाँति **दाश्वध्वरः**=(दाशुर्दत्तोऽध्वरो येन) वेदवाणी के द्वारा इन यज्ञात्मक कर्मों का उपदेश देनेवाला है? आप ही सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। ३. **कः ह**=आप निश्चय से कौन हैं? यह किसी से भी जाना नहीं जा सकता। **कस्मिन् श्रितः असि**=किसमें आप आश्रित हैं? कौन आपका आधार है? यह भी तो नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे प्रभु अचिन्त्यस्वरूप व अचिन्त्य महिमावाले हैं। हम आपको पूरा-पूरा जान नहीं सकते। देहधारी के लिए निराकार का जानना कैसे सम्भव हो सकता है?

भावार्थ—परमात्मा अज्ञेय व अचिन्त्य हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रिय मित्र

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः॥४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **जनानां जामिः**=सब लोगों के बन्धु हैं। गुणों में सर्वाधिक होते हुए आप सब लोगों का हित करनेवाले हैं। २. ठीक-ठीक बात तो यह है कि आप ही **प्रियः मित्रः असि**=सबके प्रिय मित्र हैं। सांसारिक मनुष्य किसी के मित्र हैं तो दूसरे के वे शत्रु भी होते है, परन्तु हे प्रभो! आप तो सबके मित्र-ही-मित्र हैं, आपकी किसी से शत्रुता नहीं। **सखिभ्यः**=संसार में सखित्व से चलनेवाले लोगों के लिए **सखा**=मित्र हैं। जो भी व्यक्ति शत्रुता को छोड़कर परस्पर प्रेमभाव से वर्तते हैं, वे प्रभु को प्रिय होते हैं। ये प्रभु **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं, परस्पर सखी-भाव की वृद्धि के लिए प्रभु का स्तवन आवश्यक है। इस स्तवन से 'हम सब एक प्रभु के पुत्र हैं'—यह भावना दृढ़ होती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे प्रिय मित्र हैं। वे ही स्तुति के योग्य हैं। प्रभु-स्तवन से परस्पर बन्धुत्व की भावना दृढ़ होती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता - अग्निः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

मेरा शरीर प्रभु का घर हो

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत् । अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! आप **नः**=हमारे साथ **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को **यज**=संगत कीजिए। आपकी कृपा से हम सबके प्रति स्नेह करनेवाले तथा निर्द्वेषता को धारण करनेवाले हों। २. **देवान् यज**=आप हमारे साथ देवताओं को संगत कीजिए। आपकी कृपा से हममें दिव्य भावनाओं की वृद्धि हो। ३. **बृहत् ऋतम्**=सब प्रकार की वृद्धियों के कारणभूत ऋत का आप हमारे साथ मेल कीजिए। हम अपने जीवन में इस बृहत् ऋत का पालन करनेवाले बनें। ४. हे **अग्ने**=प्रभो ! इस प्रकार मित्र, वरुण, देव व बृहत् ऋत का सम्पर्क होने पर हमारा जीवन बड़ा प्रशस्त बन जाता है और हमारा यह शरीर प्रभु का घर ही बन जाता है, तब हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो ! **स्वं दमम्**=आप अपने घर के साथ **यक्षि**=संगत होओ। हमारा यह शरीर आपका निवासस्थान हो। हम आपका आतिथ्य करनेवाले हों।

भावार्थ=प्रभुकृपा से हम मित्रता, निर्द्वेषता, दिव्यगुण व ऋत को धारण करके अपने इस शरीर को प्रभु का गृह बना पाएँ।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि—हम सात्त्विक भोजन द्वारा ज्ञानप्रवण बनें (१)। वेदवाणियों के सेवन से हम सशक्त मेधावी बनें (२)। प्रभु अज्ञेय व अचिन्त्य हैं (३)। वे हमारे प्रिय मित्र हैं(४)। हम मित्रतादि को धारण करते हुए प्रभु के गृह बनें (५)। 'इस प्रभु का उपगमन (उपासन) हमारे जीवनों को अत्यन्त आनन्दमय बनाता है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७६] षट्सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शान्ति व शक्ति

का त उपेतिर्मनसो वराय भुवदग्ने शंतमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम ॥१॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! **ते उपेतिः**=(उप इतिः)=आपका उपगमन, आपकी उपासना **का**=आनन्द देनेवाली है। यह उपासना **मनसः वराय**=मन की श्रेष्ठता के लिए होती है। उपासना का प्रथम लाभ यह है कि मन श्रेष्ठ बनता है और एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन् ! आपका **मनीषा**=मनन व स्तुति **का**=आनन्द को देनेवाली व **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करानेवाली **भुवत्**=होती है। **कः**=यह आनन्दमय मनोवृत्तिवाला पुरुष **वा**=ही **यज्ञैः**=यज्ञों से—देवपूजा, संगतिकरण व दानात्मक कर्मों से **ते दक्षम्**=आपकी शक्ति को **परि आप**=प्राप्त करता है। प्रभु का उपासक प्रभु की शक्ति को क्यों न प्राप्त करेगा ! जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहे का गोला अग्नि की भाँति चमकने लगता है, वैसे यह उपासक भी प्रभु की शक्ति से दीप्त हो उठता है। ४. हे प्रभो ! हम **केन**=इस आनन्दयुक्त **मनसा**=मन से **वा**=ही **ते दाशेम**=आपके प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु की उपासना आनन्दमय मन से ही होती है। जिसने प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर दिया उसे क्या चिन्ता ? उपासक तो निर्भय व निश्चिन्त होता ही है।

भावार्थ –प्रभु की उपासना से 'आनन्द, पवित्रता, शान्ति, शक्ति, निश्चिन्तता व निर्भीकता' प्राप्त होती है।

ऋषिः – गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु के नेतृत्व में

एह्यग्न इह होता नि षीदादब्धः सु पुरएता भवा नः।
अवतां त्वा रोदसी विश्वमिन्वे यजा महे सौमनसाय देवान्॥२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एहि**=आइए **इह**=इस हमारे शान्त हृदय में **होता**=सब आवश्यक धनों के देनेवाले होकर **निषीद**=विराजमान होओ। हमारा पवित्र व शान्त हृदय प्रभु का निवासस्थान बने। वे प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले हों। २. हे **अदब्धः**=हिंसित न होनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **एता**=चलनेवाले **सुभव**=उत्तमता से होओ। आप ही हमारा उत्तमता से नेतृत्व कीजिए। आपके नेतृत्व में हम जीवन-यात्रा को उत्तमता से पूर्ण करनेवाले बनें। ३. **विश्वं इन्वे**=सबको व्याप्त करनेवाले **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा अवताम्**=(अव=वृद्धि) आपका वर्धन करनेवाले हों। इस द्युलोक व पृथिवीलोक में मुझे आपकी महिमा का दर्शन हो। मैं आपकी भावना को हृदय में दृढ़ता से स्थापित करनेवाला बनूँ। ३. हे प्रभो! इस प्रकार सर्वत्र आपकी महिमा को देखते हुए और आपके भाव को हृदय में बढ़ाते हुए हम **सौमनसाय**=उत्तम मनवाले होने के लिए **देवान्**=देवों को **यजामहे**=उपासित करते हैं, इनके सम्पर्क से दिव्य गुणों को अपने साथ संगत करते हैं और दान की वृत्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा ही हमारा नेतृत्व करे। हम सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें और देवों का संग करते हुए उत्तम मनवाले बनें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः— निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः— धैवतः।

रक्षोविध्वंस (वासना-विनाश) व यज्ञ-रक्षण

प्र सु विश्वान् रक्षसो धक्ष्यग्ने भवा यज्ञानामभिशस्तिपावा।
अथा वह सोमपतिं हरिभ्यामातिथ्यमस्मै चकृमा सुदाव्ने॥३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **विश्वान् रक्षसः**=सब राक्षसवृत्तियों को **प्रसुधक्षि**=अच्छी प्रकार जला देते हैं। आपकी कृपा से मेरा मन राक्षसी वृत्तियों से रहित व पवित्र हो जाता है। २. आप **यज्ञानाम्**=सब उत्तम कर्मों को **अभिशस्तिपावा**=घात-प्रतिघात व विनाश से बचानेवाले **भव**=होते हैं। प्रभुकृपा से ही सब उत्तम कर्म पूर्ण होते हैं। ३. हे जीव! तू **अथ**=अब **सोमपतिम्**=तेरे सोम (वीर्यशक्ति) की रक्षा करनेवाले इस प्रभु को **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा **आवह**=अपने हृदयदेश में प्राप्त कर। ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखना और कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि में प्रवृत्त रहना ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। **अस्मै**=इस **सुदाव्ने**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले प्रभु के लिए **आतिथ्यम्**=आतिथ्य को **चकृमा**=करते हैं। प्रभु को हम हृदय में आसीन करें और इस प्रभु का उचित आतिथ्य करें। प्रभु का सर्वोत्तम आतिथ्य यही है कि अपने को पवित्र बनाएँ। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार में लगी रहें। प्रभु-प्रदत्त वस्तुओं का सदुपयोग ही प्रभु का सच्चा आदर है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं और हमारे यज्ञों को निर्विघ्न पूर्ण किया करते हैं।

नोट—विश्वामित्र के यज्ञ का रक्षण राम ही तो करते हैं। इस रक्षण के लिए वे मारीच व सुबाहु नामक राक्षसों का विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

विकास-प्रापक ज्ञानवचन

प्रजावता वचसा वह्निरासा च हुवे नि च सत्सीह देवैः।
वेषि होत्रमुत पोत्रं यजत्र बोधि प्रयन्तर्जनितर्वसूनाम् ॥४॥

१. हे **यजत्र**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनेवाले प्रभो! मैं **आसा**=मुख से **हुवे**=आपकी आराधना करता हूँ कि आप **प्रजावता वचसा**=(प्र+जन्=प्रादुर्भाव) प्रकृष्ट विकासवाले इन वेद के वचनों से **वह्निः**=हमें सब सुख प्राप्त करानेवाले हैं। वेद-मन्त्रों में दिया गया ज्ञान हमारे विकास का कारण बनता है और हमें सब सुखों को प्राप्त कराता हुआ मोक्ष-सुख तक ले चलता है। २. हे प्रभो! आप **देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **निसत्सि**=हमारे हृदयों में विराजमान होते हैं। हमारा हृदय प्रभु का निवासस्थान बनता है तो वहाँ सब अन्धकार का लोप होकर अदिव्य भावों का भी अन्त हो जाता है। ३. **च**=और हे प्रभो! आप **होत्रम्**=होता से किये जानेवाले कार्य को, अर्थात् सदा देकर बचे हुए यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को **वेषि**=हमें प्राप्त कराते हैं **उत**=और **पोत्रम्**=पोता से किये जानेवाले शोधनात्मक कार्य को आप हमें प्राप्त कराते हैं। आपकी उपासना से हम अपने जीवन को शुद्ध करनेवाले होते हैं। ४. हे **वसूनाम्**=सब उत्तम पदार्थों के **प्रयन्तः**=प्रकृष्ट नियमन करनेवाले तथा **जनितः**=उत्पादन करनेवाले प्रभो! आप **बोधि**=(अस्मान् बोधय) हमें ज्ञानयुक्त कीजिए। इस ज्ञान के द्वारा हम वसुओं को प्राप्त करनेवाले हों और उनका ठीक प्रयोग करते हुए जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की वाणियों से हमें मोक्षसुख तक ले-चलते हैं, दिव्यगुणों के साथ हमारे हृदय में आसीन होते हैं। वे धनों के उत्पादक व दाता हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु के तीन उपदेश

यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवाँ अयजः कविभिः कविः सन्।
एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व ॥५॥

१. प्रभु जीव को गत मन्त्र के 'प्रजावता वचसा' विकास की कारणभूत वेदवाणी से उपदेश देते हैं कि **विप्रस्य मनुषः यथा**=ज्ञानी मनुष्य की भाँति हवि से प्रभु का अर्चन करता हुआ तू **हविभिः**=हवियों के द्वारा—त्यागपूर्वक भोग के द्वारा **देवान् अयजः**=दिव्यगुणों को अपने साथ संगत कर। यज्ञशेष के सेवन से ही दिव्यवृत्तियों का विकास होता है। सारे-का-सारा स्वयं खा जाना ही आसुरभाव है। २. तू **कविभिः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों के साथ **कविः सन्**=कवि बनता हुआ हो, अर्थात् ज्ञानियों के सम्पर्क में तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता जाए। ३. **एव**=जिस प्रकार तू हवि से देवयजन करे, कवि के सम्पर्क से कवि बने, इसी प्रकार हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले और अतएव **सत्यतर**=अधिकाधिक सत्यमय जीवनवाले **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वम्**=तू **अद्य**=आज **मन्द्रया जुह्वा**=कल्याणकर वाणी से **यजस्व**=सबके साथ

संगत हो। सबके साथ तू शुभवाणी को ही बोलनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु का उपदेश है कि (क) त्यागपूर्वक अदन से दिव्यवृत्ति को हम बढ़ाएँ, (ख) विद्वानों के सम्पर्क से हम ज्ञानी बनें, (ग) मधुर-सुखद वाणी को ही हम बोलनेवाले हों।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि उपासना से शान्ति व शक्ति मिलती है (१)। हम प्रभु की प्रेरणा में ही चलें (२)। प्रभु ही रक्षोविध्वंस व यज्ञरक्षण करते हैं (३)। उनकी वेदवाणी हमारे विकास की साधन है (४)। उनके तीन मुख्य उपदेश हैं—त्यागपूर्वक अदन से देवत्व का विकास, विद्वानों के सम्पर्क से ज्ञानप्राप्ति तथा मधुरवाणी बोलना (५)। 'उस प्रभु के प्रति ही हम अपना अर्पण करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[७७] सप्तसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

देव बनना

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत्कृणोति देवान् ॥१॥

१. **कथा**=किस प्रकार **अग्नये दाशेम**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए हम अपना अर्पण करें? हमारी प्रबल कामना यही है कि हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर सकें। **अस्मै**=इस **भामिने**=तेजस्विता के पुञ्ज प्रभु के लिए **देवजुष्टा**=विद्वानों से सेवित **गीः**=वाणी **उच्यते**=उच्चारण की जाती है और यह वाणी **का**=अत्यन्त आनन्द देनेवाली होती है। २. ये तेजस्विता के पुञ्ज प्रभु वे हैं **यः**=जो **मर्त्येषु**=मरणधर्मा पुरुषों में **अमृतः**=कभी नष्ट न होनेवाले हैं। सर्वव्यापक होते हुए वे प्रभु उन सब वस्तुओं में विद्यमान हैं जोकि समय-प्रवाह में नष्ट हो जाती हैं। वे प्रभु ही **ऋतावा**=ऋत का अवन व रक्षण करते हैं, **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं, **यजिष्ठः**=पूज्य, संगतिकरण-योग्य व समर्पणीय हैं। ३. ये प्रभु ही **इत्**=निश्चय से अपने उपासकों को **देवान् कृणोति**=दिव्यवृत्तिवाला बना देते हैं। प्रभुकृपा से हम मनुष्य से ऊपर उठकर देव बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण में ही आनन्द है। वे प्रभु हमें देव बना देते हैं। प्रभु की उपासना ही देव बनने का साधन है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

देवों का सम्पर्क

यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम्।
अग्निर्यद्वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति मनसा यजाति ॥२॥

१. **यः**=जो प्रभु **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञादि उत्तम कर्मों में **शन्तमः**=अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाले हैं, अर्थात् जो भी प्रभु का उपासक होता है वह अध्वर वृत्तिवाला बनता है और प्रभु उसे शान्ति प्राप्त कराते हैं, वे प्रभु **ऋतावा**=ऋत का अवन व रक्षण करनेवाले हैं, **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। **तम् उ**=उस प्रभु को ही **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **आकृणुध्वम्**=अपने अभिमुख करो। **नमस्**—नम्रता के द्वारा हम प्रभु की अनुकूलता का सम्पादन करें। २. **यत्**=जब **अग्निः**=यह अग्रणी **प्रभु मर्ताय**=

मनुष्य के लिए **देवान्**=विद्वानों को **वेः**=(आवहति) प्राप्त कराते हैं तब **सः**=वह मनुष्य **बोधाति**=बोध प्राप्त करता है, **च**=और **मनसा**=मनन-शक्ति से **यजाति**=(संगच्छते) संगत होता है। प्रभुकृपा से ही हमारा सम्पर्क उत्तम ज्ञानियों से होता है और हम बोध प्राप्त करनेवाले तथा मननशील बन पाते हैं।

भावार्थ—हम नमन से प्रभु को अपने अनुकूल करें। वे प्रभु हमें ज्ञानियों के सम्पर्क से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उपासनापूर्वक कार्यों का प्रारम्भ

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते दस्ममारीः ॥३॥

१. **सः हि**=वे प्रभु ही **क्रतुः**=सब कर्मों के करनेवाले हैं। सब उसी की शक्ति से तो हो रहा है, हम तो उसके निमित्तमात्र हैं। **सः मर्यः**=वे प्रभु ही सब मनुष्यों के (मारयिता) समाप्त करनेवाले हैं। **सः साधुः**=वे ही सब कार्यों को सिद्ध करते हैं। वे प्रभु **मित्रः न भूत्**=सूर्य के समान तेजस्वी हैं। **अद्भुतस्य**=आश्चर्यजनक शक्ति के वे **रथीः**=(रंहयिता, प्रापयिता) प्राप्त करानेवाले हैं। २. **तम्**=उस **दस्मम्**=दर्शनीय प्रभु को **आरीः**=जाती हुई **देवयन्तीः विशः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाली प्रजाएँ **मेधेषु**=सब यज्ञों में **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **उपब्रुवते**=स्तुत करती हैं। सब यज्ञों के आरम्भ में उस प्रभु के गुणों का ही उच्चारण करती हैं और वस्तुतः वे प्रजाएँ समझती हैं कि उस प्रभु की कृपा से ही इन यज्ञों की पूर्ति होती है, अतः सब उत्तम कर्मों को वे प्रभु की उपासना से ही प्रारम्भ करते हैं।

भावार्थ—सब यज्ञ प्रभु की कृपा से ही पूर्ण होते हैं, अतः सब उत्तम कर्मों को प्रभु के आराधन से ही प्रारम्भ करना चाहिए।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

नृणां नृतमः

स नो नृणां नृतमो रिशादा अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम्।
तना च ये मघवानः शविष्ठा वाजप्रसूता इषयन्त मन्म ॥४॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हम **नृणाम्**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवालों का (नृ नये) **नृतमः**=अतिशयेन आगे ले-चलनेवाले हैं **रिशादाः**=(रिशतां अत्ता) हिंसक कामादि शत्रुओं के खा जानेवाले हैं, वे प्रभु हमारे नाश के कारणभूत काम-क्रोधादि शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हैं। २. इस प्रकार **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले वे प्रभु **अवसा**=हमारे रक्षण के लिए **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **धीतिम्**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों को अथवा ध्यानवृत्ति को (धारणाम्—द०) **वेतु**=(कामयताम्) चाहें और प्राप्त कराएँ। प्रभु की कृपा से हमें ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त हों, ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्म प्राप्त हों तथा ध्यान की वृत्ति व उपासना प्राप्त हो। ३. **च**=और प्रभु हमें ऐसा बना दें जैसाकि **तना**=विस्तृत धनों से **ये**=जो **मघवानः**=(मघ=मख) यज्ञशील होते हैं, **शविष्ठाः**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न होते हैं तथा **वाजप्रसूताः**=शक्ति व ज्ञान से प्रेरित हुए-हुए जो **मन्म इषयन्त**=स्तोत्रों की कामना करते हैं, शक्तिसम्पन्न व ज्ञानी बनकर जो प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं, बस ऐसा प्रभु हमें बना दें।

भावार्थ—प्रभु ही हमें ज्ञान, कर्म व ध्यानवृत्ति को प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से हम धनों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः – विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

द्युम्नं + वाजं + पुष्टिम्

एवाग्निर्गोतमेभिर्ऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदाः।
स एषु द्युम्नं पीपयत्स वाजं स पुष्टिं याति जोषमा चिकित्वान् ॥५॥

१. **एव**=पूर्वाङ्कित चार मन्त्रों के अनुसार **गोतमेभिः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **विप्रेभिः**=अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुषों से **जातवेदाः**=वह सर्वज्ञ (जातं जातं वेत्ति) **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु जोकि **ऋतावा**=सब ऋतों, सत्यों व यज्ञों का रक्षण करनेवाला है **अस्तोष्ट**=स्तुति किया जाता है। २. **सः**=वे प्रभु ही **एषु**=इन उपासकों में **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योति को **पीपयत्**=आप्यायित करते हैं, बढ़ाते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **वाजम्**=शक्ति को बढ़ाते हैं। उपासक के लिए वे प्रभु ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. **जोषम्**=हमारे प्रीतिपूर्वक सेवन को, हमारी उपासना को **आचिकित्वान्**=सर्वथा जानते हुए **सः**=वे प्रभु **पुष्टिं याति**=हमारे धनों की पुष्टि करते हैं। जहाँ वे प्रभु ज्ञान और शक्ति देते हैं, वहाँ वे हमारे पोषण के लिए आवश्यक धन भी देते हैं।

भावार्थ=प्रभु अपने उपासकों को 'ज्ञान, शक्ति व धन' सभी कुछ प्राप्त कराते हैं।

विशेष – सूक्त का आरम्भ इस प्रकार होता है कि प्रभु हमें मनुष्य से देव बनानेवाले हैं (१)। प्रभुकृपा से ही हमें देवों का सम्पर्क प्राप्त होता है (२)। हमें प्रत्येक कार्य प्रभु की उपासना से ही आरम्भ करना चाहिए (३)। वे प्रभु ही सर्वोत्तम नेता हैं (४)। वे ही हमें 'ज्ञान, शक्ति व धन' प्राप्त कराते हैं (५)। ' 'द्युम्न' के दृष्टिकोण से हम प्रभु के प्रति ही नतमस्तक होते हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७८] अष्टसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

द्युम्नों की प्राप्ति

अभि त्वा गोतमा गिरा जातवेदो विचर्षणे। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः ॥१॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ! **विचर्षणे**=विशेषेण सबके द्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले प्रभो! **गोतमाः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष **गिरा**=वेदवाणियों के द्वारा **त्वा अभि**=आपको ही आभिमुख्येन स्तुत करते हैं, आपका ही लक्ष्य करके स्तुति-मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। वस्तुतः उनके 'गोतम' बन सकने का रहस्य यही है कि वे सदा आपका स्तवन करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें विषय-प्रवणता से बचाये रखता है। जब आप उनका ध्यान रखते हैं तो उनके मार्गभ्रष्ट होने की आशंका ही कैसे हो सकती है! २. हम भी **द्युम्नैः**=द्युम्नों की प्राप्ति के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के आरम्भ में और दिन की समाप्ति पर दोनों ही समयों में आपका खूब ही स्तवन करते हैं। आपका यह स्तवन हमें (क) यश (Splendour, glory, lusture) प्राप्त कराता है, (ख) शक्ति (Energy, strength, power) देनेवाला होता है, (ग) धनी (wealth, property) बनाता है, (घ) अन्तःप्रेरणा (Inspiration) देनेवाला होता है, (ङ) त्याग की वृत्ति-

(Sacrificial offering)-वाला बनाता है। (द्युम्नम् धननाम, नि० २।१०; द्योततेर्यशो वा अन्नं व निरु० ५।५; यशो वै हिरण्यम्—ऐ० ७।१८)

भावार्थ—प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष प्रभु की उपासना करते हैं; वस्तुतः उपासना से ही वे प्रशस्त-इन्द्रिय बनते हैं। हम भी प्रभु का उपासन करके 'यश-शक्ति-धन-अन्तःप्रेरणा व त्यागवृत्ति' को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—षड्जः।

धन

तमु त्वा गोतमो गिरा रायस्कामो दुवस्यति। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः ॥२॥

१. हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको ही **रायस्कामः**=[पशवो वै रायः—श० ३।३।१।८] गौ आदि पशुरूप धनों की कामनावाला **गोतमः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **दुवस्यति**=उपासित करता है। गोतम प्रभु का उपासन करता है और गौ आदि पशुरूप धनों को प्राप्त करता है। २. हम भी उस गोतम का अनुकरण करते हुए, गोतम ही बनने की इच्छा करते हुए **द्युम्नैः**=द्युम्नों के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में दोनों ओर—प्रातः व सायं खूब ही प्रभु का नमन करते हैं। इस नमन के द्वारा हम संसार-यात्रा के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं [द्युम्नमिति धननाम—नि० २।१०]

भावार्थ—उपासक के लिए प्रभु धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

बल

तमु त्वा वाजसातममङ्गिरस्वद्धवामहे। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः ॥३॥

१. हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको ही जोकि **वाजसातमम्**=अधिक-से-अधिक शक्ति के देनेवाले हैं **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु का उपासक ही 'अंगिरा' बनता है। प्रभु की उपासना से ही उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार होता है। इस प्रकार प्रभु उपासक को अधिक-से-अधिक शक्ति प्राप्त कराते हैं, उपासक के लिए वे 'वाजसातम' होते हैं। २. हम भी **द्युम्नैः**=बलों को प्राप्त करने के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में—दोनों ओर—प्रातः-सायं उस प्रभु का खूब ही स्तवन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-उपासना हमें 'अङ्गिरस'=शक्तिशाली बनाती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ज्ञान

तमु त्वा वृत्रहन्तमं यो दस्यूँरवधूनुषे। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः ॥४॥

१. हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको ही जोकि **वृत्रहन्तमम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को पूर्णरूपेण नष्ट करनेवाले हैं। **यः**=जो **दस्यून्**=विनाशक वृत्तियों को **अवधूनुषे**=कम्पित करके दूर करनेवाले हैं, उन आपको **द्युम्नैः**=ज्ञानज्योति के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के आरम्भ व अन्त में, दोनों समय खूब ही प्रणाम करते हैं। २. महादेव की तृतीय नेत्र (ज्ञाननेत्र) की ज्योति से काम का दहन हो

जाता है। हमें भी प्रभुकृपा से वह ज्ञानज्योति प्राप्त हो जिससे हमारी सब वासनाएँ भस्मसात् हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वह ज्ञानज्योति प्राप्त हो जो वासनाओं को दग्ध कर देती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

मधुर वचन

अवोचाम रहूगणा अग्नये मधुमद्वचः। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः ॥५॥

१. **रहूगणाः**=(रह त्यागे) त्याग की वृत्तिवाले अथवा ज्ञानज्योति से वासनाओं का परिहार करनेवाले हम **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए **मधुमत् वचः**=अत्यन्त माधुर्य से युक्त वचन **अवोचाम**=बोलते हैं। वेद में प्रभु का यह बारम्बार उपदेश है कि 'इस संसार में मधुर वाणी को ही बोलना', 'मधुर ही बनना', तुम्हें **'भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः'**—भद्र वचन बोलने के लिए ही भेजा गया है, अतः प्रभु के इस आदेश को पालकर हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। २. **द्युम्नैः**=यश को प्राप्त करने के हेतु से हम **अभिप्रणोनुमः**=प्रातः-सायं प्रभु का खूब ही उपासन करते हैं। प्रभु का आराधन हमें पवित्रता देगा, हमें यशस्वी बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम मधुर शब्द ही बोलें। प्रभु हमें यश व पवित्रता प्राप्त कराएँगे।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि प्रभु का उपासक 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनता है (१)। यह उपासक धन प्राप्त करता है (२)। इसे शक्ति मिलती है (३)। यह वासनाओं का विनाश करनेवाला होता है (४)। प्रभु-प्राप्ति के लिए हम मधुर वचनों को ही अपनाएँ, सब द्युम्नों की प्राप्ति प्रभुकृपा से ही तो होगी (५)। 'ज्ञानज्योति के प्रसार से हमारी राजस भावनाएँ दूर हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७९] एकोनाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता – अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

पुरुष व स्त्री

हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान्।
शुचिभ्राजा उषसो नवेदा यशस्वतीरपस्युवो न सत्याः ॥१॥

१. 'एक गृहस्थ में पुरुष व स्त्री कैसा बनने का प्रयत्न करें'—इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **रजसः**=रजोगुण के **विसारे**=दूर करने में यह पुरुष **हिरण्यकेशः**=हितरमणीय ज्ञान की ज्वालाओंवाला हो। नैत्यिक स्वाध्याय से यह ज्ञानज्योति को इस प्रकार दीप्त करे कि उसकी ज्ञानाग्नि में सब राजसवृत्तियों का दहन हो जाए। २. राजसवृत्तियों को दग्ध करके यह **अहिः**=(न हन्ता) किसी का नाश करनेवाला न हो अथवा (आहन्ति) सब वासनाओं को समाप्त करनेवाला हो; **धुनिः**=इन वासनारूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर करे। ३. ऐसा कर सकने के लिए यह **वातः इव**=वायु के समान **ध्रजीमान्**=गतिमान् हो। जैसे वायु स्वाभाविक रूप से गतिमय है, इसी प्रकार यह सदा कर्मशील बना रहे, क्योंकि कर्मशीलता में ही वासनाएँ पनप नहीं पातीं। आलस्य आया और वासनाओं का साम्राज्य

हुआ। ४. इस गृहस्थ में स्त्रियाँ भी **शुचिभ्राजाः**=पवित्र व दीप्त हों। बिना ज्ञान-दीप्ति के पवित्रता सम्भव ही नहीं, अतः स्त्रियाँ भी वेदज्ञान को प्राप्त कर अति पवित्र जीवनवाली हों। **उषसः**=ये वासनाओं को दग्ध करनेवाली हों (उष दाहे), **न वेदाः**=(न विदन्ति) छल-छिद्र को न जाननेवाली, एकदम निर्दोष (Innocert) हों, बच्चों जैसी (Children like)। ५. **यशस्वतीः**=ये स्त्रियाँ अपने ज्ञान व पवित्रता के कारण यशस्वी जीवनवाली हों। **अपस्युवः**=सदा कर्म करने की इच्छावाली हों, अकर्मण्यता इन्हें छू न जाए। ये न तो लेटी रहें और न गपशप में व्यर्थ ही समय का यापन करनेवाली हों। ६. **अपस्युवः न**=कर्मशील पुरुषों की भाँति ही ये **सत्याः**=सदा सत्य का पालन करनेवाली हों। कर्मशील हों और सत्यवादिनी हों।

भावार्थ—एक सद्गृहस्थ में पुरुष भी क्रियाशील होते हैं और स्त्रियाँ भी। यह क्रियाशीलता उन्हें पवित्र बना देती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वृष्टि व गर्जन

आ ते॑ सु॒प॒र्णा अ॑मिनन्तँ ए॒वैः कृ॒ष्णो नो॑नाव वृ॒ष॒भो यदी॒दम्।
शि॒वाभि॒र्न स्मय॑माना॒भि॒राग॒ात्पत॑न्ति॒ मिह॑: स्त॒नय॑न्त्य॒भ्रा ॥२॥

१. **सुपर्णाः**=उत्तम पालन व पूरणादि कर्मोंवाले **ते**=वे प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **एवैः**=क्रियाशीलताओं के द्वारा **आ, अमिनन्त**=व्यापक ज्ञान को प्राप्त कराते हैं (मि=to measure, observe, perceive)। ज्ञान-प्राप्ति के लिए वस्तुतः यह आवश्यक है कि (क) वासनाओं से अपने को बचाया जाए, मन में ईर्ष्या-द्वेषादि मलिनताओं को न आने दिया जाए (सुपर्णाः), (ख) दूसरी आवश्यक बात यह है कि जीवन क्रियामय हो, आलस्यशून्यता नितान्त आवश्यक है (एवैः)। वासनाशून्यता और क्रियाशीलता के बिना ज्ञानप्राप्ति सम्भव ही नहीं। २. **कृष्णः**=संसार के रंग में अपने को न रंगनेवाला, निर्लेप **वृषभः**=शक्ति-शाली पुरुष ही **नोनाव**=प्रभु का स्तवन करता है। प्रभु की वास्तविक स्तुति यही है कि हम संसार में आसक्त न हो जाएँ और अपनी शक्ति को क्षीण न होने दें। ३. प्रभु कहते हैं कि **यदि इदम्**=यदि तेरे जीवन में यह बात आ जाए तो **शिवाभिः**=कल्याणकारी **न**=(न इति चार्थे) और **स्मयमानाभिः**=मुस्कराहटवाली वाणियों से **आगात्**=तू हमारे समीप आ। प्रभु-प्राप्ति उसी को होती है जो शुभ व प्रसन्नतादायक वाणी का ही उच्चारण करता है। ४. इस प्रकार प्रभु का उपासन होने पर **मिहः पतन्ति**=धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वृष्टियाँ होती हैं और **अभ्रा स्तनयन्ति**=हृदयान्तरिक्ष में प्रभु की वाणीरूप बादल की गर्जना होती है, प्रभु की प्रेरणा सुस्पष्ट सुनाई पड़ती है।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए 'वासनाशून्यता, क्रियाशीलता, निर्लेपता व शक्तिशालिता' की आवश्यकता है। प्रभु का उपासक शुभ वाणी ही बोलता है। उपासना की सिद्धि होने पर आनन्द की वृष्टि होती है और प्रभुप्रेरणा सुस्पष्ट रूप में सुन पड़ती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्द—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मूल स्थान में पहुँचने का मार्ग

यदी॑मृ॒तस्य॒ पय॑सा॒ पिया॑नो॒ नय॑न्नृ॒तस्य॑ प॒थिभी॒ रजि॑ष्ठैः।
अ॒र्य॒मा मि॒त्रो वरु॑णः॒ परि॑ज्मा॒ त्वचं॑ पृञ्च॒न्त्युप॑रस्य॒ योनौ॑ ॥३॥

१. **यत्**=जब मनुष्य **ईम्**=निश्चय से **ऋतस्य**=सत्यविद्याओं की कोशभूत वेदवाणीरूप गौ के **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **पियानः**=अपना आप्यायन करता है और अपने को **ऋतस्य**=सत्य व यज्ञ के **रजिष्ठैः**=ऋजुतम, छल-छिद्र से शून्य **पथिभिः**=मार्गों से **नयन्**=ले-चलता है। २. तो **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) कामादि शत्रुओं का नियन्त्रण करनेवाला, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला **परिज्मा**=(परितः गन्ता) सब क्षेत्रों में अपने कर्तव्य का पालन करनेवाला—ये सब **उपरस्य योनौ**=धर्ममेघ के उत्पत्ति-स्थान में **त्वचं पृञ्चन्ति**=स्पर्श को प्राप्त करते हैं, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक में—'सहस्रार चक्र' के स्थिति-स्थान में ये अपने प्राणों का निरोध करते हैं। यही समाधि की स्थिति है। इस स्थिति में ही प्रभुदर्शन होता है और उस आनन्द का अनुभव होता है जो वाणी के वर्णन का विषय नहीं बनता। ३. 'त्वचं' शब्द ही अंग्रेजी में Touch (टच) रूप में मिलता है, 'पृच्' धातु सम्पर्क अर्थवाली है। इस प्रकार धर्ममेघ समाधि की स्थिति में, इस मेघ के मूलस्थान में पहुँचने का मार्ग यही है कि (क) सत्यज्ञान प्राप्त किया जाए, (ख) सरल मार्ग से चला जाए, (ग) कामादि का वशीकरण हो, (घ) सबके प्रति स्नेह की भावना हो, (ङ) द्वेष न हो तथा (च) अपने कर्तव्यों के करने में प्रमाद व आलस्य न होकर जीवन स्फूर्तिमय हो। इन्हीं बातों को यम-नियमों में समाविष्ट किया गया है। इनपर चलते हुए और इनपर चलने के लिए प्राणायामादि के द्वारा इन्द्रियों व मनोनिरोध के द्वारा ही हम इस सर्वोच्च स्थिति में, ब्राह्मी स्थिति में पहुँच पाते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मी स्थिति में पहुँचने का मार्ग यह है—'ज्ञान, सरलता, संयम, स्नेह, अद्वेष व क्रियाशीलता'। इन बातों को जीवन में लाने के लिए ही 'आसन-प्राणायामादि' योगाङ्गों का अनुष्ठान हुआ करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

महि श्रवः

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी **सहसः यहो**=बल के पुत्र, बल के पुतले, शक्ति के पुञ्ज, **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **गोमतः**=ज्ञान की वाणियोंवाली **वाजस्य**=शक्ति के **ईशानः**=ईशान हैं (गावः=वेदवाचः)। आपमें सम्पूर्ण ज्ञान व सम्पूर्ण शक्ति का समन्वय है और इसी कारण आप अग्रेणी व परमेष्ठी—सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं। ज्ञान व शक्ति के समन्वय में ही उन्नति है। २. आप **अस्मे**=हममें भी **महि श्रवः**=इस महनीय श्रव (ज्ञान) को **धेहि**=धारण करिए। आपकी कृपा से हमें भी यह महनीय ज्ञान प्राप्त हो। शक्ति से युक्त ज्ञान ही महनीय व प्रशंसनीय है। 'शरीर में शक्ति, मस्तिष्क में ज्ञान'—ये ही तो आदर्श पुरुष का निर्माण करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें शक्तियुक्त ज्ञान की प्राप्ति हो। यही ज्ञान हमें उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला होगा।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

धन+ज्ञान

स इधानो वसुष्कविरग्निरीळेन्यो गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥५॥

१. **सः**=वह **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **इधानः**=दीप्त है। सहस्रों सूर्यों के समान उस प्रभु का

प्रकाश है। **वसुः**=वे प्रभु सबको उत्तम निवास देनेवाले हैं, **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञाता के अभाव में सबका कल्याण करना सम्भव भी तो नहीं। ये प्रभु **गिरः**=वेदवाणी के द्वारा **ईळेन्यः**=स्तुति के योग्य हैं। उपासक को चाहिए कि इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा प्रभु का उपासन करें। हे **पुर्वणीक**= (अनीक=Brilliance, lusture) अनन्तज्ञान की दीप्तिवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रेवत्**=धनयुक्त होकर **दीदिहि**=दीप्त होओ, अर्थात् हमें धन भी प्राप्त कराइए और ज्ञान का प्रकाश भी। धन हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनेगा और ज्ञान हमें उस धन के दुरुपयोग से बचाएगा। हम संसार-यात्रा में धन से सब आवश्यक साधनों को जुटा पाएंगे और ज्ञान के द्वारा उस धन के दास नहीं बनेंगे। ज्ञानपूर्वक प्रभु का उपासन ही एकमात्र साधन है जिससे कि यह संसार हमारे लिए दलदल नहीं बन जाता और हम शत्रुओं के दलन की शक्ति से युक्त बने रहते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें ज्ञानयुक्त धन की प्राप्ति हो। हम धनी हों, साथ ही ज्ञानी हों, ताकि धन हमारे निधन का कारण न हो जाए।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

रक्षोदहन

क्षपो॑ राजन्नु॒त त्मनाग्ने॒ वस्तो॑रु॒तोषसः॑। स ति॑ग्मजम्भ र॒क्षसो॑ दह॒ प्रति॑ ॥६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हे **राजन्**=ज्ञान से दीप्त प्रभो! आप हमें ज्ञानयुक्त धन तो दीजिए ही **उत**=और साथ ही **त्मना**=आप स्वयं **रक्षसः**=हमारी राक्षसी वृत्तियों को **क्षपः**=(क्षपय) नष्ट कीजिए। आपकी कृपा के बिना हम इन वृत्तियों को नष्ट न कर सकेंगे—**'त्वया स्विद् युजा वयम्'**—आपके साथ मिलकर ही इनका नाश किया जा सकता है। जीव प्रभु को साथी के रूप में प्राप्त करके ही कामादि का विध्वंस करनेवाला होता है। २. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तिग्मजम्भ**=तीक्ष्ण दंष्ट्रोंवाले प्रभो! **सः**= आप **वस्तोः उत उषसः**=दिन और रात अर्थात् सदा (उषस् यहाँ रात्रि के लिए है), **रक्षसः**=इन राक्षसी वृत्तियों को **प्रतिदह**=एक-एक करके भस्म कर दीजिए। आपके अनुग्रह से ही यह रक्षोदहन हो पाएगा।

भावार्थ—प्रभु-उपासना से प्रभु की शक्ति हममें सञ्चरित होती है और राक्षसी भावों का विनाश करती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

ज्ञान का धारण

अवा॑ नो अग्न ऊ॒तिभि॑र्गाय॒त्रस्य॒ प्रभ॑र्मणि। विश्वा॑सु धी॒षु व॑न्द्य ॥७॥

१. **विश्वासु धीषु वन्द्य**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले सब कर्मों में वन्दना के योग्य **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **गायत्रस्य**=गान करनेवाले का त्राण (रक्षण) करनेवाले ज्ञान के **प्रभर्मणि**=प्रकर्षेण धारण करने के निमित्त **नः**=हमें **ऊतिभिः**=अपने रक्षणों से **अव**=रक्षित करिए। आपकी रक्षा से ही हम ज्ञान-प्राप्ति में निर्विघ्नता से आगे बढ़ सकेंगे। यह ज्ञान हमारा रक्षण करता है, हमें कामादि वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। २. इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए हमें प्रभु की वन्दना करनी चाहिए। प्रत्येक कर्म प्रभुकृपा से ही सफल हुआ करता है। प्रभु की कृपा के बिना छोटे-से-छोटा कार्य भी पूर्ण नहीं होता, अतः वे प्रभु ही सब ज्ञानयुक्त कर्मों के आरम्भ में वन्दना के योग्य होते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी वन्दना करते हुए हम ज्ञानप्राप्ति के कर्म में सफल हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वरेण्य धन

आ नो॑ अग्ने र॒यिं भ॑र सत्रा॒साहं॒ वरे॑ण्यम्। विश्वा॑सु पृ॒त्सु दु॒ष्टर॑म् ॥८॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **नः**=हमारे लिए आप **रयिम्**=धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइए। उस धन को जोकि (क) **सत्रासाहम्**=युगपत् (एकदम) ही हमारी दारिद्रयजनित सब विपत्तियों को समाप्त करनेवाला है, जिस धन से हमारे भूख-प्यासादि से होनेवाले सब कष्ट समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् जो धन हमारी सब भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है, (ख) **वरेण्यम्**=(प्रशस्तगुणकर्मस्वभावकारकम्—द०) जो धन वरण के योग्य है, जोकि उत्तम मार्ग से कमाये जाने के कारण हमारे गुण-कर्म-स्वभाव को प्रशस्त बनानेवाला है और (ग) **विश्वासु पृत्सु**=सब संग्रामों में **दुष्टरम्**=शत्रुओं से दुस्तर है, अर्थात् जिस धन के कारण हम काम-क्रोधादि का शिकार नहीं होते। २. उस धन की क्या उपयोगिता जोकि (क) हमारे कष्टों को दूर न करके उन्हें बढ़ा दे, (ख) जो हमारे गुण-कर्म-स्वभाव को अप्रशस्त बना दे, और (ग) जो हमें कामादि शत्रुओं के साथ संग्राम में जीतने के लिए सक्षम नहीं बनाए। ऐसे धन से रहित होना ही अच्छा है।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त कराएँ जो हमारी क्षुधा आदि से जनित विपत्तियों को दूर करे, हमें श्रेष्ठ बनाए और कामादि के विध्वंस के लिए समर्थ करे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विश्वायुपोषस् रयि

आ नो॑ अग्ने सुचे॒तुना॑ र॒यिं वि॒श्वायु॑पोषसम्। मा॒र्डी॒कं धे॑हि जी॒वसे॑ ॥९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः जीवसे**=हमारे उत्तम जीवन के लिए **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के साथ **रयिम्**=धन को **आधेहि**=धारण करिए। उस धन को जोकि **विश्वायुपोषसम्**=सारे जीवन में पोषण के लिए हो और **मार्डीकम्**=हमारे जीवन को सुखी बनानेवाला हो। २. यहाँ ज्ञानयुक्त धन की प्रार्थना इसलिए ही की कि यह धन हमारी अवनति का कारण न बन जाए। धन से सम्भावित सब अवनतियों को रोकने का काम ज्ञान ही करता है। ज्ञान होने पर हम धन से धन्य बनते हैं, जबकि ज्ञान के अभाव में यह धन हमारे निधन का ही कारण बनता है। ३. धन की मात्रा का संकेत 'विश्वायुपोषस्' शब्द दे रहा है। धन उतना ही ठीक है जोकि पोषण के लिए पर्याप्त हो, अधिक धन तो बोझमात्र है और शरीर में अनुपयुक्त भोजन की भाँति व्याधि का ही कारण बनता है। ४. धनार्जन के प्रकार का संकेत 'मार्डीकम्' शब्द से दिया जा रहा है, अर्थात् जो धनार्जन का प्रकार मानस अशान्ति पैदा करे वह अनुपादेय ही है। सट्टा (Speculation) आदि प्रकार सब जुआ ही हैं। ये व्याकुलता पैदा करते हैं, शान्ति नहीं। इसलिए ये त्याज्य हैं।

भावार्थ—धन ज्ञान से युक्त हो। मात्रा में इतना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। उस प्रकार से कमाया जाए जिससे यह अशान्ति का कारण न बने।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सुम्नयुः

प्र पू॒तास्ति॒ग्मशो॑चिषे॒ वाचो॑ गोतमा॒ग्नये॑। भर॑स्व सुम्न॒युर्गिरः॑ ॥१०॥

१. हे **गोतम**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष ! **सुम्नयुः**=(क) प्रभुस्तवन (Hymn) को चाहता हुआ, (ख) जीवन में आनन्द (Joy, happiness) की कामना करता हुआ, (ग) प्रभुकृपा (Favour, protection) का अभिलाषी होता हुआ, (घ) त्याग (Sacrifice) की वृत्ति को अपनाना चाहता हुआ तू **तिग्मशोचिषे**=अत्यन्त तीव्र ज्ञान की ज्योतिवाले **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए **पूताः वाचः**=पवित्र वचनों तथा **गिरः**=स्तुति-वाणियों को **प्रभरस्व**=प्रकर्षेण धारण करनेवाला बन। २. प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम पवित्र वचनों का उच्चारण करें और प्रभुस्तुति-प्रतिपादक वाणियों को अपनाएँ। वे प्रभु हमें अपनी ज्ञान-ज्योति से दीप्त करेंगे और हमें उन्नति-पथ पर ले-चलेंगे। ३. पवित्र वचनों को अपनाने से हम (क) प्रभुस्तवन कर रहे होंगे, (ख) आनन्द को प्राप्त करेंगे, (ग) प्रभुकृपा के पात्र होंगे और (घ) हममें त्यागवृत्ति पनपेगी।

भावार्थ—पवित्र वचन व स्तुति-वाणियाँ प्रभु को प्रीणित करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

विघ्नों का हटाना

यो नो अग्नेऽभिदासत्यन्ति दूरे पदीष्ट सः। अस्माकमिद्वृधे भव ॥११॥

१. हे **अग्ने**=शत्रुओं का दहन करनेवाले प्रभो ! **यः**=जो कोई **अन्ति**=समीप होता हुआ **नः**=हमें **अभिदासति**=भौतिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से नष्ट करना चाहता है अर्थात् शरीर में व्याधियों और मन में आधियों का कारण बनता है **सः**=वह शत्रु **दूरे पदीष्ट**=हमसे दूर जानेवाला हो, वह सुदूर विनष्ट हो जाए। २. काम-क्रोधादि शत्रु ऐसे हैं कि हमारे अत्यन्त समीप हैं, मन में ही पैदा हो जाते हैं। ये हमारे समीप होते हुए हमारे विनाश का कारण बनते हैं। इनके कारण शरीर में विविध रोग आ जाते हैं और मन में निरन्तर अशान्ति बनी रहती है। ३. हे प्रभो ! आप इन शत्रुओं को हमसे सुदूर नष्ट कर दीजिए और **इत्**=निश्चय से **अस्माकम्**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव**=होओ। इन शत्रुओं के नाश से ही उन्नति सम्भव होती है। ये सब शत्रु उन्नति के विघ्न हैं। विघ्न हटने पर ही हम आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से उन्नति के विघ्नभूत शत्रु दूर हों और हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

सहस्राक्ष अग्नि

सहस्राक्षो विचर्षणिरग्नी रक्षांसि सेधति। होता गृणीत उक्थ्यः ॥१२॥

१. **सहस्राक्षः**=अनन्त ज्ञान-चक्षुओंवाले **विचर्षणिः**=विशेषण सबके द्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले **अग्निः**=अग्रगति के साधक वे प्रभु **रक्षांसि**=हमारी सब राक्षसी वृत्तियों को—आसुर भावनाओं को **सेधति**=हमसे दूर करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हैं, हृदयस्थ होते हुए अशुभ कर्मों से बचने के लिए प्रेरित करते हैं, सदा शुभमार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करते हैं। २. ये **होता**=उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले प्रभु **उक्थ्यः**=स्तोत्रों से स्तुति करने के योग्य हैं और हमसे स्तुति किये जाने योग्य ये प्रभु **गृणीते**=हमें ज्ञान की वाणियों का उपदेश देते हैं। प्रभु ही आद्य गुरु हैं—'**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**'। इनके रक्षण में ही हम कल्याणकारक ज्ञान प्राप्त करते हैं। उत्तम गुरुओं का मिलना भी प्रभुकृपा से ही होता है।

भावार्थ—वे प्रभु सहस्राक्ष, विचर्षणि व अग्नि हैं। वे ही सब राक्षसी वृत्तियों को दूर करते हैं।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि राजसवृत्ति को दूर हटाने के लिए हम हित-रमणीय ज्ञान की ज्वालाओंवाले बनें(१)। प्रभुप्राप्ति के लिए वासनाओं से ऊपर उठें(२)। 'अर्यमा, मित्र, वरुण व परिज्मा' बनें (३)। महनीय ज्ञान को प्राप्त करें (४)। हमारा धन ज्ञान से युक्त हो (५)। प्रभु की शक्ति से हम रक्षोदहन करनेवाले हों (६)। प्रभुवन्दन हमें ज्ञानप्राप्ति में सफल करे (७)। वरेण्य धन की हमें प्राप्ति हो(८)। यह धन विश्वायुपोषस् हो (९)। हम पवित्र वचनों व स्तुति-वाणियों से प्रभु का आराधन करें (१०)। विघ्न दूर हों और हम आगे बढ़ें (११)। वे हृदयस्थ प्रभु हमारे गुरु हों, उपदेष्टा हों (१२)।'हम स्वराज्य=आत्मराज्य की भावना का आदर करें' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

पृथिवी से अहि का दूरीकरण

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि प्रभु गृणते=उपदेश देते हैं। **इत्था**=ऐसा होने पर **हि**=निश्चय से **इत्**=सचमुच **मदे सोमे**=हर्ष उत्पन्न करनेवाले सोम (वीर्य) के सुरक्षित होने पर **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता विद्वान्—प्रकृतिविज्ञान (ऋग्वेद), समाजशास्त्र (यजुर्वेद), अध्यात्मशास्त्र (सामवेद) तथा आयुर्वेद और युद्धवेद (अथर्ववेद)—इन सब विज्ञानों में निपुण व्यक्ति **वर्धनं चकार**=प्रभु के गुणों का वर्धन करनेवाले स्तोत्रों का उच्चारण करता है। हृदयस्थ प्रभु का मूलभूत (First and foremost) उपदेश यह है कि—'इन्द्र बनकर सोमपान करो'। जीवन के चौबीस वर्ष तक के प्रातःसवन में, अगले चवालीस वर्षों के माध्यन्दिन सवन में तथा अन्तिम अड़तालीस वर्षों के सायन्तन सवन में इन्द्र को सोमपान करना है। इस सोम के रक्षण पर ही जीवन का सारा उल्लास निर्भर करता है। इस सात्त्विक उल्लास में वह प्रभु के गुणों का गान करता है। यह प्रभुगुणगान सोमरक्षण में सहायक होता है। इस सोम को ज्ञानप्राप्ति का ईंधन बनाकर यह अपने ज्ञान को बढ़ाता है और ब्रह्मा कहलाने का पात्र होता है। २. प्रभु का उपदेश यही है कि तू **शविष्ठ**=अधिक-से-अधिक शक्तिशाली बन। **वज्रिन्**=तेरे हाथ में क्रियाशीलतारूपी वज्र हो, **ओजसा**=तू अपनी ओजस्विता से **पृथिव्याः**=इस अपने पृथिवीरूप शरीर से **अहिम्**=सूर्य पर आवरण-भूत मेघ के समान ज्ञान पर आवरणभूत वृत्र=कामवासना को **निः शशाः**=बाहर भगा दे। तू **स्वराज्यं अनु**=स्वराज्य का लक्ष्य करके **अर्चन्**=उपासना करनेवाला बन। उपासना ही मनुष्य को आत्मशासन व संयम के योग्य बनाती है। प्रभु का उपासक ही आत्मशासन कर पाता है। प्रभु से दूर होते ही वासनाएँ हमें आ घेरती हैं।

भावार्थ—जीवन का उल्लास वीर्यरक्षण पर आधारित है। वीर्यरक्षण के लिए स्वराज्य=आत्मशासन चाहिए। आत्मशासन के लिए उपासना साधन बनती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

श्येनाभृत सोम [हृदयान्तरिक्ष से वृत्र का विनाश]

स त्वामदद्वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः।
येना वृत्रं निरद्भ्यो जघन्थ वज्रिन्नोजसार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥२॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **सः सोमः**=वह सोम (वीर्य) **त्वा अमदत्**=तुझे आनन्द देनेवाला हो, जो सोम **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला है अथवा जो शक्ति देनेवाला है, जो सोम **मदः**=हर्ष व उल्लास का उत्पादक है। इस सोम का रक्षण न होने पर जीवन उल्लासशून्य हो जाता है। **श्येनाभृतः**=यह सोम श्येन से आभृत होता है (श्यैङ् गतौ)—गतिशील पुरुष के द्वारा यह शरीर में धारण किया जाता है। आलस्य वासनाओं के लिए उर्वराभूमि है, आलस्य में वासनाएँ पनपती हैं और तब सोमरक्षण सम्भव नहीं होता। **सुतः**=यह सोम आहार से रसादि क्रम द्वारा अभिषुत है—आहार से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से मेदस् और मेदस् से सोम का अभिषव होता है। इस 'सुत' सोम का तू रक्षण कर, यह तुझे आनन्दित करेगा। २. हे **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए जीव! तू **येन**=जिस सोम से **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अद्भ्यः**=हृदयान्तरिक्ष से (आपः=अन्तरिक्ष) **निर्जघन्थ**=निकालकर बाहर फेंकता है, वह सोम तुझे आनन्दित करनेवाला हो। ३. इस सोम के रक्षण के लिए ही **स्वराज्यं अनु**=आत्मशासन का लक्ष्य करके **अर्चन्**=तू उपासनावाला बन। उपासना से तू संयमी बनेगा। संयम से सोमरक्षण कर पाएगा। सोमरक्षण से शक्तिशाली बनकर तू वृत्र का विनाश करनेवाला 'इन्द्र' बनेगा। यही तेरे जीवन की सार्थकता होगी।

भावार्थ—सोम का भरण क्रियाशील पुरुष से ही होता है। सोमरक्षण से ओजस्वी बनकर हम हृदय से वासना को दूर भगा पाते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

आक्रमण व धर्षण

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥३॥

१. प्रभु प्रेरणा देते हैं कि प्रेहि (प्र इह) तू प्रकर्षेण गतिवाला हो। तेरा जीवन क्रियाशील हो, अकर्मण्यता तुझे छू न जाए। **अभीहि**=तू कामादि वासनाओं के प्रति आक्रमण के लिए जानेवाला हो। तू वासनाओं पर आक्रमण कर। **धृष्णुहि**=इन वासनाओं का तू धर्षण करनेवाला हो। २. **ते वज्रः**=तेरा यह क्रियाशीलतारूप वज्र (वज् गतौ) **न नियंसते**=शत्रुओं से रोका नहीं जाता, अर्थात् तेरा जीवन कामादि वासनाओं में फँस जाने से अकर्मण्य-सा नहीं हो जाता। ३. हे **इन्द्र**=कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाले जीव! **ते शवः**=तेरा बल **हि**=निश्चय से **नृम्णम्**=(नृणां नामकमभिभावकम्) शत्रुभूत मनुष्यों को पराजित करनेवाला है। इस बल से तू **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आई हुई वासना को **हनः**=नष्ट करता है और **अपः**=रेतःकणों को **जया**=विजय के द्वारा प्राप्त करता है। वासना ही रेतःकणों के नाश का कारण बनती है, वासना को जीत लिया तो रेतःकणों का रक्षण होता ही है। ४. इस सारे कार्य के लिए तू **स्वराज्यमनु अर्चन्**=आत्म-शासन की भावना का आदर करनेवाला हो। आत्मवान् बनकर ही तू उन्नति-पथ पर आगे बढ़ पाएगा।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा वासना को समाप्त करें और रेतःकणों का विजय के द्वारा लाभ करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्राणशक्ति व उत्तम जीवन

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥

१. शरीर में वृत्र 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में अपना अधिष्ठान बनाता है। इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष से प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले! तू **भूम्याः अधि**=इस शरीररूप पृथिवी में से **वृत्रम्**=इस वासना को **निर्जघन्थ**=निकाल भगा। इन्द्रियों में जो इसके दुर्ग बने हुए हैं, उन्हें तू नष्ट कर डाल और इसी प्रकार **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से भी **निः** (जघन्थ)=इसे निकाल ही दे। इसके इन सब दुर्गों का भङ्ग हो जाए और यह तेरे जीवन में से बहिष्कृत हो जाए। २. वृत्र को नष्ट करके तू **इमाः अपः**=इन रेतःकणों को **अवसृज**=वासना के पञ्जे से मुक्त कर ले। ये रेतःकण ही तो **मरुत्वतीः**=प्राणशक्तिवाले हैं अथवा प्राणायाम द्वारा इन्हीं की ऊर्ध्वगति की जाया करती है और **जीवधन्याः**=ऊर्ध्वगतिवाले होकर ये हमारे जीवन को धन्य बनाया करते हैं। ३. ऐसा तू कर तभी सकेगा जबकि **अर्चन अनु स्वराज्यम्**=तू आत्मशासन की भावना का आदर करनेवाला होगा। संयम से ही यह सब साध्य होता है।

भावार्थ—हम शरीर व मस्तिष्क में से वासना को भगा दें, तभी सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारी प्राणशक्ति को बढ़ाएगा और हमारे जीवन को धन्य करनेवाला होगा।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अशान्ति के कारणभूत वृत्र का विनाश

इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः।
अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः सर्माय चोदयन्नर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥

१. वेद में क्रोध को नष्ट करने के स्थान में नियन्त्रित करने का उल्लेख है। इस क्रोध को वश में करके कामादि के प्रति सन्नद्ध करना चाहिए। उस समय यह क्रोध शत्रु पर आक्रमण के लिए उत्साह के रूप में प्रकट होता है। इसके अभाव में कुछ अकर्मण्यता-सी आ जाती है, तो **हीळितः**=कामादि से अनादृत हुआ-हुआ और अतएव उनपर क्रुद्ध हुआ-हुआ, उनपर आक्रमण के लिए उत्साहवाला **इन्द्रः**=यह शत्रुओं का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **दोधतः**=अत्यन्त कम्पित होते हुए अर्थात् प्रबल हलचल करते हुए **वृत्रस्य**=कामवासनारूप शत्रु के **सानुम्**=शिखर को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **अभिक्रम्य**=आक्रमण करके **अवजिघ्नते**=(प्रहरति) प्रहृत करता है। वासना, जोकि हमारे जीवन को अत्यन्त अशान्त बनाये रखती है, उसे यह इन्द्र क्रियाशीलता के द्वारा समाप्त करता है। २. इस प्रकार वासना को समाप्त करके वह **अपः**=रेतःकणों को **सर्माय**=शरीर में प्रसृत होने के लिए **चोदयन्**=प्रेरित करता है। रेतःकण रुधिर के साथ सारे शरीर में व्याप्त होते हैं और शरीर में होनेवाली आधि-व्याधियों को समाप्त कर देते हैं। ३. ऐसा इन्द्र कर तभी पाता है जबकि वह **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का समादर करता है। आत्मशासन की भावना के प्रबल होने पर ही हम वासना को समाप्त करते हैं और रेतःकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त अशान्ति के कारणभूत वासनात्मक वृत्र को हम विनष्ट करें और सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

शतपर्व वज्र

अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा।
मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥६॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **शतपर्वणा**=सौ पर्वोंवाले **वज्रेण**=वज्र से, अर्थात् सौ-के-सौ वर्ष पर्यन्त चलनेवाली क्रियाशीलता से **सानौ अधिनिजिघ्नते**=वृत्र के शिखर पर प्रहार करता है, वासना के सिर पर घातक प्रहार करता है और वासना को समाप्त कर देता है, उसका सिर कुचल देता है। २. वासना को समाप्त कर देने पर यह इन्द्र **अन्धसः**=सोम के रक्षण से **मन्दानः**=जीवन में अद्भुत आनन्द व तृप्ति का अनुभव करता है और इस अनुभव के आधार पर **सखिभ्यः**=अपने सखाओं के लिए भी **गातुं इच्छति**=इसी मार्ग को चाहता है। उन्हें भी वासना को समाप्त करके सोमरक्षण की प्रेरणा देता है। ३. यह सब वह करता तभी है जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=वह आत्मशासन की भावना का पूजन करता है। यही भावना उसके जीवन के उत्थान का कारण बनती है।

भावार्थ—जीवनपर्यन्त क्रियाशील बनकर वासना की समाप्ति से वीर्यरक्षण करते हुए हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

मायीमृग का वध

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले! अतएव **अद्रिवः**=आदरणीय (दृङ् आदरे) अथवा शत्रुओं से अविदारण के योग्य (दृ विदारणे)! **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए जीव! **तुभ्यम्**=ते लिए **इत्**=निश्चय से वह **वीर्यम्**=शक्ति प्राप्त हुई है जोकि **अनुत्तम्**=(न नुद्त) शत्रुओं से तिरस्कृत नहीं की जा सकती, परे नहीं धकेली जा सकती। **यत्**=चूँकि **ह**=निश्चय से **त्वम्**=तूने **तम्**=उस **त्यम्**=छुपकर हृदय में रहनेवाले **मायिनं मृगम्**=छल-कपटवाले, अत्यन्त प्रपञ्चवाले परस्व-अपहर्ता मृग को, चोर को, शक्ति के चुरा लेनेवाले कामादि शत्रुओं को **मायया**=प्रज्ञा के द्वारा **अवधीः**=नष्ट किया है। २. जीवात्मा की शक्ति का रहस्य इसी बात में है कि वह कामवासना को नष्ट कर पाता है। इस कामदेव की माया में विरल व्यक्ति ही नहीं फँसते। यह तो अत्यन्त मायावी है। यह वृत्ति पाशविक होने से यहाँ मृग कही गई है। चोर जैसे ढूँढ-ढूँढकर द्रव्य का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार यह काम भी सुगुप्तरूप से हमारी शक्ति का अपहरण करनेवाला होता है। ३. इस मायीमृग का संहार माया व चिन्तन-प्रज्ञा के द्वारा ही होता है। इसके स्वरूप का विचार करने लगें तो यह भाग खड़ा होता है। विचार से ही हम इस काम से ऊपर उठ पाते हैं। ३. विचारपूर्वक इस मायीमृग को हम मार तभी सकते हैं जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=हम आत्मशासन के महत्त्व का आदर करते हैं। आत्मशासन की भावना ही हमें इस योग्य बनाती है कि हम कामरूप इस मायीमृग से प्रवञ्चित न हों।

भावार्थ—जब हम मायीमृगरूप वासना का चिन्तन के द्वारा वध कर पाते हैं, तभी हमारी शक्ति अतिरस्करणीय होती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

नाव्य वज्र द्वारा प्रभुस्तवन

वि ते वज्रांसो अस्थिरन्नवतिं नाव्याः अनु।
महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥८॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते**=तेरी **नाव्याः**=(नावे हिता नाव्याः) शरीररूप नौका के लिए हितकर **वज्रासः**=गतियाँ (वज् गतौ) **नवतिं अनु**=(नु स्तुतौ) प्रभुस्तवन का लक्ष्य करके **वि अस्थिरन्**=विविध कार्यक्षेत्रों में स्थित होती हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रिय विविध कर्तव्यों का पालन करता हुआ तू प्रभु की दृश्यभक्ति करनेवाला होता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'**। २. इस कर्म के द्वारा होनेवाले प्रभुस्तवन के परिणामस्वरूप **ते वीर्यं महत्**=तेरी शक्ति महनीय होती है और **ते**=तेरी **बाह्वोः**=बाहुओं में **बलं हितम्**=बल स्थापित होता है। अकर्मण्यता से भुजाएँ निर्बल हो जाती हैं। बायें हाथ की निर्बलता का रहस्य इस अकर्मण्यता में ही है। यह left है, इसे सामान्यतः काम से छुट्टी मिली रहती है। ३. यह महत्त्वपूर्ण क्रियाशीलता की भावना हममें पनपती तभी है जबकि हम **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का समादर करते हैं। हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता व आत्मशासन के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। इस क्रियाशीलता से हमारी यह शरीररूपी नाव ठीक रहेगी और वासना को जीतकर हम वीर्यवान् व बलवान् रहेंगे।

भावार्थ—शरीररूपी नाव को ठीक रखने का एक ही मार्ग है कि हम अपने को विविध कर्तव्यों के पालन में लगाये रखें। यह कर्तव्यपालन हमें शक्ति देगा। यह कर्तव्यपालन ही प्रभु की दृश्यभक्ति बन जाएगा।

सूचना—शरीर भवसागर को तैरने के लिए एक नाव है जिसका वर्णन 'सुत्रामाणं' इस मन्त्र में विस्तार से दिया गया है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सहस्रं-विंशतिः-शता

सहस्रं साकमर्चत परि ष्टोभत विंशतिः।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥९॥

१. **सहस्रम्**=(स+हस्) हँसने के साथ अर्थात् अत्यन्त प्रसन्नता के साथ **साकम्**=सब मिलकर, घर में सब पारिवारिक सदस्य एक स्थान में (अस्मिन् सधस्थे) एकत्र होकर **अर्चत**=उस प्रभु का अर्चन करो। प्रातः-सायं सब मिलकर उस प्रभु की अर्चना करें—यही बच्चों को उत्तम बनाने का वास्तविक मार्ग है। २. एकत्र होकर हम सब प्रयत्न करें कि **विंशतिः**=हमारी दस इन्द्रियाँ व दस प्राण मिलकर—ये बीस-के-बीस **परिष्टोभत**=उस प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। उन-उन क्रियाओं को करते हुए ये प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। सब क्रियाएँ प्रभु-स्मरण के साथ ही चलें। इस प्रभु-स्मरण में हम एक आनन्द का अनुभव करें (सहस्रम्)। ३. मेरे जीवन के **शता**=सौ-के-सौ वर्ष **एनम्**=इस परमात्मा को **अन्वनोनवुः** स्तवन करनेवाले हों। मैं प्रभुस्तवन से कभी दूर न होऊँ। मेरी प्रत्येक क्रिया प्रभुस्तवन का रूप धर ले—

मेरी भक्ति कर्ममयी हो। मेरा भोजन भी प्रभु के मन्दिर की मरम्मत के रूप में हो। ऐसा होने पर **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **ब्रह्म**=वे प्रभु **उद्यतम्**=स्वागत के लिए तैयार होते हैं। यह मोक्षलोक वा ब्रह्मलोक में पहुँचता है जहाँ कि इसका अभिनन्दन ब्रह्म के द्वारा किया जाता है। यह सब होता तभी है जबकि हम **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का आदर करते हैं।

भावार्थ—घर में हम सब मिलकर प्रभु-अर्चन करें। हमारी इन्द्रियों व प्राणों से प्रभुस्तवन ही चले। आजीवन हम प्रभुस्तवन से दूर न हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वृत्र-तविषी-हनन

इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः।
महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्रस्य**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आये हुए काम के **तविषीम्**=बल को **निरहन्**=निश्चय से नष्ट करता है। प्रभु की उपासना से वासना का बल अवश्य विनष्ट हो जाता है। पुराण की भाषा में महादेव के सामने काम-देव भस्म हो जाता है। २. यह प्रभु का उपासक इन्द्र **सहसा**=अपने उपासना-जनित बल से शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **सहः**=काम के मर्षक बल को **निरहन्**=समाप्त कर देता है। ३. **अस्य**=इस इन्द्र का **तत्**=वह **पौंस्यम्**=पौरुष का कार्य **महत्**=अत्यन्त महनीय (आदर के योग्य) होता है कि यह **वृत्रं जघन्वान्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करके **असृजत्**=उत्कृष्ट शक्ति का निर्माण करता है। यह होता तभी है जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=यह आत्मशासन की भावना का आदर करता है, आत्मशासन का लक्ष्य करके प्रभु का आराधन करता है।

भावार्थ--प्रभु का उपासक वृत्र के बल का विनाश करके उत्कृष्ट शक्ति का निर्माण करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मही-कम्पन

इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही।
यदिन्द्र वज्रिन्नोजसा वृत्रं मरुत्वाँ अवधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥११॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला, प्राणसाधना करनेवाला बनकर तू **ओजसा**=ओजस्विता से **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरणभूत इस वासनारूप वृत्र को **अवधीः**=नष्ट कर देता है तब **तव मन्यवे**=तेरे क्रोध के लिए अर्थात् तेरे क्रोध करने पर **इमे मही चित्**=ये महान् द्युलोक व पृथिवीलोक भी **भियसा**=भय से **वेपेते**=काँप उठते हैं। २. जितेन्द्रिय पुरुष में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह द्यावापृथिवी को हिलाने में समर्थ हो जाता है। यह शक्ति (ओजसा) उसमें जितेन्द्रिय बनने से उत्पन्न होती है (इन्द्र)। इस जितेन्द्रियता के लिए वह क्रियाशील बनता है (वज्रिन्) और प्राणसाधना को अपनाता है (मरुत्वान्)। ३. यह सब हो तभी पाता है जबकि यह इन्द्र **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का समादर करता है। संयम ही सब शक्तियों व उन्नतियों का मूल है। संयमी पुरुष आत्मविजय के कारण संसार का भी विजय करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता व प्राणसाधना से वासना को विनष्ट करके हम स्वराट् बनें और अपने अन्दर उस शक्ति को उत्पन्न करें जो सारे संसार को प्रभावित करनेवाली हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

इन्द्र की निर्भीकता

न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत्।
अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१२॥

१. अध्यात्म-जीवन में वासनारूप शत्रु का महान् भय बना ही रहता है। यह वासना 'प्रद्युम्न' =प्रकृष्ट बलवाली है—'मारः'=यह असावधान पुरुष को तो मार ही डालनेवाली है, परन्तु जिस समय **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=एक पुरुष संयम की भावना का समादर करता है, उस समय **वृत्रः**=यह ज्ञान की आवरणभूत वासना **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **न वेपसा**=न तो अपने कम्पनों और **न तन्यता**=न ही अपनी गर्जनाओं से **बिबीभयत्**=भयभीत कर पाती है। संयमी पुरुष इस काम से डरता नहीं। काम का अभियान होने पर सब सुकृत पर्वत-कन्दराओं में जा छिपते हैं, परन्तु जब यह इन्द्र संयम की भावना को प्रधानता देता है तो यह वृत्र उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाता। २. इन्द्र का भयभीत होना तो दूर रहा, इस काम की चेष्टाएँ व गर्जन होने पर इन्द्र का **आयसः**=लोहे का बना हुआ **सहस्रभृष्टिः**=शतशः धारोंवाला **वज्रः**=वज्र **एनं अभि**=इस वृत्र को लक्ष्य करके **आयत**=प्राप्त होता है। यह 'आयस वज्र' अनथक क्रियाशीलता ही है। एक व्यक्ति चलने में थकता नहीं तो कहते हैं—'अरे भाई! इसकी टाँगें तो मानो लोहे की बनी हुई हैं।' इस प्रकार कर्म करते हुए भी न थकने पर यह कहा जाएगा कि—'इसके हाथों में तो एक 'आयसवज्र' है। यह आयसवज्र शतशः वासनारूप शत्रुओं का नाश करने के कारण यहाँ सहस्रभृष्टि कहा गया है, हजारों धारों से शत्रुओं को नष्ट करनेवाला।

भावार्थ—हम अनथकरूप से क्रियाशील बनें। यह क्रियाशीलता ही वह वज्र बनेगी जो वासनारूप शत्रुओं का दलन करेगी।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह'

यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः।
अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥१३॥

१. हे **इन्द्र**=वृत्र का संहार करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब **वृत्रम्**=वासनारूप शत्रु का **अशनिम् च**=(अशनि=fire, अग्नि) और वासना-जनित अग्नि (सन्ताप) का **तव वज्रेण**=तू अपनी क्रियाशीलता से **समयोधयः**=सम्यक् रूप से युद्ध में मुकाबिला करता है, उस समय **अहिम्**=(आहन्ति) सब प्रकार से विनाश के कारणभूत इस वृत्र को **जिघांसतः**=मारने की इच्छावाले **ते**=तेरा **शवः**=बल **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **बद्बधे**=बद्ध व अनुस्यूत होता है, अर्थात् जहाँ तेरा ज्ञान का प्रकाश चमक उठता है वहाँ तेरा ज्ञान बल से अनुस्यूत होता है—तेरा ब्रह्म 'क्षत्र' से युक्त होता है। वासना विनष्ट होने पर हमारे ज्ञान व बल की वृद्धि होती है। २. ऐसा होता उसी समय है जबकि यह इन्द्र **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का लक्ष्य करके प्रभु का अर्चन करनेवाला बनता है। प्रभु का अर्चन ही हमें जितेन्द्रिय बनने में समर्थ करता है और तभी हम वृत्र को पूर्णरूप से पराजित कर पाते हैं।

भावार्थ—वृत्र व वासना के नष्ट होने पर हममें ज्ञान में अनुस्यूत बल चमक उठता है। हम उस लोक में पहुँच जाते हैं—**'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह'** (यजु० २०।२५)।

ऋषिः गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वह अद्भुत शक्ति

अभिष्टने ते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते।
त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१४॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय वीर! वृत्र (वासना) के विजेता पुरुष! हे **अद्रिवः**=वज्रवन्—निरन्तर क्रियाशील पुरुष! **ते अभिष्टने**=तेरा सिंहनाद होने पर **यत्**=जो **स्थाः**=स्थावर है **जगत् च**=और जो जंगम है वह सब **रेजते**=काँप उठता है अर्थात् तेरी शक्ति के सामने इस चराचर ब्रह्माण्ड की शक्ति भी तुच्छ होती है। २. और तो और **त्वष्टा चित्**=इस संसार का निर्माता भी **तव मन्यवे**=तेरे क्रुद्ध होने पर **भिया वेविज्यते**=भय से काँप उठता है। प्रभु ने क्या काँपना! हाँ, यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है और इस वर्णन से जितेन्द्रिय पुरुष की अद्भुत शक्ति का शंसन हो रहा है। महाभारत में वेदव्यास ने इसका चित्रण विश्वामित्र के नव-संसार के निर्माण के संकल्प की कथा में किया है। विश्वामित्र नया संसार ही बनाने के लिए उद्यत हो उठता है, तब जैसे-तैसे देवता उसे शान्त करते हैं। हाँ, यह सब होता तभी है जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=यह आत्मशासन की भावना का समादर करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति अद्भुत है। वह चराचर ब्रह्माण्ड को कम्पित करने में सक्षम है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

नृम्णं क्रतु-ओजस्

नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः।
तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सं दधुरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सिंहनाद करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **नु**=अब वृत्र **न हि यात्**=आक्रान्त नहीं करता, उसकी ओर जाने का वह साहस नहीं करता। २. इस पुरुष का जीवन इतना उत्तम होता है कि हम इस जितेन्द्रिय पुरुष को **अधीमसि** (अधि+म=स्मरण) स्मरण करते हैं। इसके उत्तम जीवन को आनेवाली पीढ़ियाँ याद करती हैं। राम को कौन भूल सकता है! कृष्ण का स्मरण सदा रहेगा! दय नन्द का जीवन सदा प्रेरणा प्राप्त करानेवाला होगा! ३. **कः**=कौन **वीर्या परः**=शक्ति के दृष्टिकोण से इस जितेन्द्रिय पुरुष से बढ़कर हो सकता है! **तस्मिन्**=उस इन्द्र में तो **देवाः**=सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र व पृथिव्यादि सब देवों ने **नृम्णम्**=धन को **उतः**=और **क्रतुम्**=कर्म-संकल्प को अथवा ज्ञान को तथा **ओजांसि**=ओजस्विताओं को **सन्दधुः**=स्थापित किया है। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता के कारण यह धन, ज्ञान व बल से सम्पन्न हुआ है। इसीलिए तो यह सबसे आगे बढ़ गया है; इसको कोई लाँघ नहीं सका। यह होता तभी है जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=यह आत्मशासन की भावना का समादर करता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें, वासनाओं को विनष्ट करें। देवानुग्रह से हमें 'नृम्ण, क्रतु व ओजस्' की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—बृहती । स्वरः—मध्यमः ।

अथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१६॥

१. **याम्**=जिस **धियम्**=बुद्धिपूर्वक कर्म (धी=ज्ञान व कर्म) को **अथर्वा**=(न थर्वति) डाँवाडोल न होनेवाला, स्थिरवृत्ति का पुरुष, **मनुः**=मननशील ज्ञानी व्यक्ति, **पिता**=रक्षणात्मक वृत्तिवाला व्यक्ति तथा **दध्यङ्**=ध्यान की वृत्तिवाला पुरुष **अत्नत**=विस्तृत करते हैं, **तस्मिन्**=उस बुद्धिपूर्वक कर्म में ही **ब्रह्माणि**=सब अन्न व धन **समग्मत**=संगत होते हैं (ब्रह्म=अन्न, नि० २।७; ब्रह्म=धन, नि० २।१०), अर्थात् 'स्थितप्रज्ञ, मननशील, रक्षणात्मक वृत्तिवाला, ध्यानी पुरुष बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा उत्तम अन्नों व धनों को पाता है । २. **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **पूर्वथा**=पहले की भाँति अर्थात् जैसे सदा से यह होता ही है कि **उक्था**=प्रभु के स्तोत्र **समग्मत**=संगत होते हैं । जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है; वस्तुतः उसकी जितेन्द्रियता का रहस्य इस स्तवनशीलता में ही है । यह स्तवनशीलता व जितेन्द्रियता उसमें उत्पन्न तभी होती है जबकि वह **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का आदर करता है अथवा आत्मशासन के दृष्टिकोण से प्रभु की अर्चना करता है ।

भावार्थ—हम बुद्धिपूर्वक कर्मों से उत्तम अन्न व धन का सम्पादन करें । हममें प्रभु के स्तोम संगत हों ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार है कि—'शरीररूप पृथिवी से वासनारूप अहि को दूर करो (१) । हृदय से वासना को दूर भगाओ (२) । वृत्र के विनाश के द्वारा रेतःकणों का विजय करो (३) । ये रेतःकण ही प्राणशक्ति व उत्तम जीवन देंगे (४) । अशान्ति के कारणभूत वृत्र का विनाश आवश्यक है (५) । शतपर्व वज्र से वृत्र का विनाश करने पर ही आनन्द का अनुभव होगा (६) । मायामृगरूप वासना का वध आवश्यक है (७) । शरीररूप नाव को ठीक रखने का एक ही मार्ग है कि हम अपने विविध कर्तव्यों के पालन में लगे रहें (८) । हम आजीवन प्रभुस्तवन से दूर न हों (९) । वृत्र के बल का विनाश आवश्यक है (१०) । वृत्रविनाश से वह शक्ति उत्पन्न होती है जो सारे संसार को प्रभावित कर देती है (११) । क्रियाशील इन्द्र ही वज्रपाणि है, वह निर्भीक होता है (१२) । इसमें ज्ञान और शक्ति का समन्वय होता है (१३) । इस जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति चराचर को कम्पित कर सकती है (१४) । इस इन्द्र में देव नृम्ण, क्रतु व ओजस् का धारण करते हैं (१५) । हम बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा अन्न व धन का सम्पादन करें । (१६) 'हमें चाहिए कि हम 'वृत्रहा' बनें'—इन शब्दों से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

॥ इति प्रथमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

हर्ष व शक्ति

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥१॥

१. **नृभिः**=अपने को उन्नति-पथ पर आगे ले-चलनेवाले व्यक्तियों से **वृत्र-हा**=वासनाओं को नष्ट करनेवाला **इन्द्रः**=सब असुरों का—आसुरवृत्तियों का संहारक प्रभु **मदाय**=आनन्द की प्राप्ति के लिए तथा **शवसे**=बल के लिए **वावृधे**=बढ़ाया जाता है। उस प्रभु का स्तवन हर्ष व शक्ति की वृद्धि का कारण है। वे प्रभु स्तुति किये जाने पर हमारी वासनाओं को नष्ट करते हैं। यह वासना-विनाश ही हर्ष व शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। ३. **तम् इत्**=उस प्रभु को ही **महत्सु आजिषु**=बड़े-बड़े संग्रामों में **उत**=और **ईम्**=निश्चय से **अर्भे**=छोटे संग्रामों में **हवामहे**=हम पुकारते हैं। **सः**=वे प्रभु ही पुकारे जाने पर **वाजेषु**=इन संग्रामों में **नः**=हमें **प्र अविषत्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। प्रभुकृपा के बिना संग्राम में विजय सम्भव नहीं। छोटी व बड़ी सफलताएँ प्रभुकृपा से ही प्राप्त होती हैं। अध्यात्म-संग्राम में विजय का तो एकमात्र साधन प्रभुस्तवन ही है। चित्तवृत्तिनिरोध के लिए प्राणायाम को अपनाकर जब हम प्रभु का ध्यान करते हैं तो बड़े-से-बड़े शत्रु को नष्ट करने में सक्षम होते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से हर्ष व शक्ति बढ़ती है। प्रभु ही संग्रामों में हमें विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सैन्य व वसुमान् प्रभु

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः।
असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥२॥

१. हे **वीर**=(वि ईर) हमारे शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सेन्यः**=सेनार्ह—अकेले ही सेना के बराबर **असि**=हैं। अर्जुन इसी विचार से महाभारत में शस्त्रास्त्र से सुसज्जित एक लाख सैन्य को न लेकर निरस्त्र कृष्ण को लेता है। २. हे प्रभो! आप **भूरि**=खूब ही **पराददिः**=शत्रुओं के धनों का आदान—हरण करनेवाले हैं। कामादि का विध्वंस करके उनकी शक्ति अपने भक्तों को प्राप्त कराते हैं। काम-क्रोधादि इनके सेवक बन जाते हैं। ३. हे प्रभो! आप **दभ्रस्य चित्**=छोटे के भी **वृधः**=बढ़ानेवाले **असि**=हैं। **यजमानाय**=शक्तिशाली पुरुष के लिए आप **शिक्षसि**=देने की कामना करते हैं। **सुन्वते**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **ते वसु**=आपका धन **भूरि**=मात्रा में प्रचुर होता है और उनका वस्तुतः भरण-पोषण करनेवाला होता है। यज्ञशील पुरुषों के लिए यह धन उन्नति का कारण बनता है। अयज्ञिय पुरुष इस धन से अपने भोगों को बढ़ाकर उन भोगों का ही शिकार हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को अपनानेवाला कभी पराजित नहीं होता और उसे कभी धन की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

विजय, धन और निरभिमानता

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना।
युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥३॥

१. **यत्**=जब **आजयः**=संग्राम **उदीरत**=उठ खड़े होते हैं तब **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले के लिए **धना**=धन **धीयते**=धारण किये जाते हैं। इसी प्रकार अध्यात्म में भी कामादि का धर्षण करनेवाला व्यक्ति ही शम-दमादि अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करता है। २. इस सम्पत्ति को प्राप्त

कराकर हे प्रभो ! आप कृपा करते हैं तो हमारे इस शरीररूप रथ में **मदच्युता**=शत्रुओं का गर्व नष्ट करनेवाले **हरी**=इन्द्रियरूप अश्वों को **युक्ष्वा**=जोड़ते हैं। हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति व यज्ञादि कर्मों में लगी रहकर हमें कामादि से आक्रान्त होने से बचाती हैं और इस प्रकार ये कामादि के मद को दूर करके हमें विनय के मार्ग पर ले-चलती हैं। ३. हे प्रभो ! आप कर्म-व्यवस्था के अनुसार **कम्**=किसी एक को **हनः**=नष्ट करते हो और **कम्**=किसी दूसरे को **वसौ दधः**=धन में स्थापित करते हो। एक को निधन (मृत्यु) में, एक को धन में। हे **इन्द्र**=परमात्मन् ! **अस्मान्**=हमें तो आप **वसौ दधः**=धन में ही धारण कीजिए। न हम अभिमान करें और न ही धन से क्षीण हों। धन की प्राप्ति जिन्हें अभिमानी बना देती है वे ही लोग पतनोन्मुख होते हैं। हम संग्राम में जीतें और धनों को तो प्राप्त करें ही, परन्तु हमें उन धनों का कभी गर्व न हो ताकि हम आपके दण्ड के पात्र न बनें।

भावार्थ—हम संग्राम में शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनें। इस शत्रुधर्षण से धनी बनें। हमें अभिमान न हो। अभिमानी ही तो प्रभु से दण्डित होकर विनष्ट होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

शिप्री हरिवान्

क्रत्वा॑ म॒हाँ अ॑नुष्व॒धं भी॒म आ वा॑वृधे॒ शवः॑।
श्रि॒य ऋ॒ष्व उ॑पा॒कयो॒र्नि शि॒प्री हरि॑वान्दधे॒ हस्त॑यो॒र्वज्र॑माय॒सम्॥४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **क्रत्वा**=(क्रतु=कर्म, प्रज्ञा) प्रज्ञापूर्वक कर्मों से **महान्**=महनीय व बड़ा होता है। जब हम ज्ञान का सम्पादन करते हैं और उस ज्ञान के अनुसार कर्मों में व्यापृत होते हैं तभी महनीय जीवनवाले होते हैं। २. **अनुष्वधम्**=(अनु स्व+धा) आत्मतत्त्व के धारण के अनुसार तू **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है। जितना-जितना हम आत्मतत्त्व का धारण करते हैं, उतना-उतना शक्ति-सम्पन्न होकर कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं। ३. इन शत्रुओं का संहार करने पर तेरा **शवः**=बल **आवावृधे**=सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है। वस्तुतः काम-क्रोधादि हमारे शारीर व मानस बलों के क्षीण करनेवाले हैं। हम काम-क्रोध को जीत लेते हैं तो अपनी शक्ति की सुरक्षा कर पाते हैं। ४. शक्ति की वृद्धि होने पर—शारीर व मानस दोनों के ठीक स्थापित होने पर **ऋष्वः**=तू दर्शनीय होता है और अब **शिप्री**=उत्तम हनुओं-(जबड़ों)-वाला होता हुआ अर्थात् खाने-पीने में अत्यन्त संयमी होता हुआ तथा **हरिवान्**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला होता हुआ तू **श्रिये**=शोभा के लिए **उपाकयोः**=(उप अञ्च) प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले **हस्तयोः**=इन हाथों में **आयसं वज्रम्**=लोहे से बने हुए वज्र को **निदधे**=स्थापित करता है। हम सब इन्द्रियों को वश में करें और विशेषतः जिह्वा को। यही 'हरिवान् व शिप्री' बनना है। ऐसा बनकर हम हाथों से सदा कर्म करनेवाले बनें। कर्म करने में थकें नहीं। यह न थकना ही 'आयस वज्र' को धारण करना है। यह क्रियाशीलता ही हमारी शोभा का कारण बनेगी—'पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्'—सूर्य की शोभा को देखो जो चलता हुआ थकता ही नहीं। हम भी कर्म करते हुए थकेंगे नहीं तो सूर्य की भाँति शोभावाले होंगे। वस्तुतः कर्मशील को वासनाएँ नहीं सतातीं और वह सुन्दर जीवनवाला बनता है। इस प्रकार ये हाथ हमें वासनाओं से ऊपर उठाकर प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म ही हमें महान् बनाते हैं। आत्मतत्त्व के धारण के अनुपात

में हमारी शक्ति बढ़ती है। शोभा का मार्ग यही है कि हम क्रियाशील बनें। इससे वासनाशून्य बनकर हम प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होंगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अनुपम

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यतेऽति विश्वं ववक्षिथ ॥८॥

१. जीव प्रभु को अपने में धारण करने के लिए उसकी आराधना करता हुआ कहता है कि—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! आपने ही **पार्थिवं रजः**=इस पार्थिव लोक को **आपप्रौ**=समन्तात् पूरित किया हुआ है। हमारे इस पार्थिव शरीर का भी पूरण आप ही करते हैं। २. **दिवि**=द्युलोक में **रोचना**=इन चमकते हुए नक्षत्रों को **बद्बधे**=(बबन्ध) आप ही बाँधते व स्थापित करते हैं। हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी आप ही विज्ञान के नक्षत्रों का उदय करते हैं। ३. हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **न त्वावान् कश्चन**=आपके समान कोई भी नहीं है—**'न त्वत्समोऽसि'**। **न जातः**=आपके समान आजतक कोई उत्पन्न नहीं हुआ है, **न जनिष्यते**=आपके समान कोई उत्पन्न होगा भी नहीं। यह ठीक है कि हम आपके समान न बन सकेंगे, परन्तु हमारा लक्ष्य यही है कि हम आपके समीप पहुँच सकें। ४. हे प्रभो! आप ही **विश्वम्**=इस सम्पूर्ण संसार को **अति**=अतिशयेन—खूब ही **ववक्षिथ**=वहन करने की कामना करते हैं। आप ही इस ब्रह्माण्ड का धारण कर सकते हैं, किसी अन्य के लिए इसका धारण करना कैसे सम्भव हो सकता है? हम भी आपके सच्चे पुत्र बनते हुए धारणात्मक कर्मों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु पृथिवी का पूरण करते हैं, द्युलोक को नक्षत्रों से अलंकृत करते हैं। वे प्रभु अनुपम हैं। वे ही इस ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

वह स्वामी

यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे।
इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः ॥९॥

१. **यः**=जो **अर्यः**=स्वामी—सबके पालक प्रभु **दाशुषे**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **मर्तभोजनम्**=मनुष्य के पालन-पोषण के लिए आवश्यक भोजन **पराददाति**=देते हैं, ये **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिक्षतु**=आवश्यक धन दें। प्रभुकृपा से हमें जीवन की सब आवश्यक सामग्री प्राप्त हो। २. हे प्रभो! **विभजा**=आप भाग के अनुसार धन हमें दीजिए। **भूरि ते वसु**=आपका धन बहुत है, आप अनन्त धनवाले हैं। आप उस धन में से हमारे भाग को हमें दीजिए। **तव राधसः**=आपके धन का **भक्षीय**=भाग प्राप्त करनेवाला मैं बनूँ। कर्मानुसार उस धन का एक देश (भाग) मुझे भी प्राप्त हो और उस धन से मैं अपने जीवन को श्रीसम्पन्न बनानेवाला होऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, दान देनेवाले बनें। प्रभु हमें आवश्यक धन प्राप्त कराएँगे ही।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

धन+बुद्धि

मदेमदे हि नो दुदिर्यूथा गवामृजुक्रतुः ।
सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥७॥

१. प्रभु के स्तवन से जो मस्ती उत्पन्न होती है, वह यहाँ 'मद' नाम से कही गई है। शराब का नशा तामस है, वह चेतना को समाप्त करनेवाला है। प्रभुस्तवन का नशा सात्त्विक है, वह चेतना के प्रकर्ष का कारण बनता है। हे प्रभो! आप **मदेमदे**=चेतना-प्रकर्ष से होनेवाले मदों में **हि**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **गवां यूथा**=गौवों के समूह को **ददिः**=देनेवाले हैं। आपकी कृपा से हमें गो-धनादि सम्पत्ति पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है। २. हे प्रभो! आप **ऋजुक्रतुः**=ऋजुकर्मा हैं—सरल व्यवहारवाले हैं। आपके साम्राज्य में छल-छिद्र का स्थान नहीं है। आपकी उपासना में लगा हुआ मेरा जीवन भी छल-छिद्र से रहित बने। मैं भी ऋजुकर्मा होऊँ। ३. हे प्रभो! आप **पुरु शता**=(पुरूणि शतानि) अनेक सैकड़ों संख्याओंवाले **वसु**=(वसूनि) धनों को **उभया हस्त्या**=दोनों हाथों से **संगृभाय**=सम्यक् ग्रहण कीजिए और **रायः आभर**=हमारे जीवनों में इन धनों को भर दीजिए। ४. हे प्रभो! आप हमें इन धनों से तो पूर्ण कीजिए ही, पर साथ ही **शिशीहि**=हमारी बुद्धि को अत्यन्त तीव्र बनाइए। ये धन हमारी बुद्धि का विलोप करनेवाले न हो जाएँ। हम लक्ष्मी के वाहन उल्लू ही न बन जाएँ। हम लक्ष्मीपति विष्णु के समान बनें।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन के मद का अनुभव करें। प्रभुकृपा से हमें ज्ञानयुक्त धन प्राप्त हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

शवस्+राधस् (शक्ति+सफलता)

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे ।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव ॥८॥

१. हे **शूर**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **सुते**=सोम-(वीर्यशक्ति)-सम्पादन करने पर **सचा**=हमारे साथ होते हुए **मादयस्व**=हमें हर्षित कीजिए। जब हम वासनादि शत्रुओं का दमन करके सोमशक्ति का रक्षण करते हैं, तो हमें प्रभु का सङ्ग प्राप्त होता है। जब वासनाओं से चित्तवृत्ति हटती है, तभी यह प्रभु की ओर लगती है। 'रस'-रूप प्रभु से मेल होने पर हमारे जीवन में भी रस उत्पन्न हो जाता है। उस समय ये प्रभु **शवसे**=हमारी शक्ति और **राधसे**=सफलता के लिए होते हैं। प्रभुकृपा से हमें शक्ति प्राप्त होती है और शक्ति के द्वारा हम जीवन में सफल होते हैं। हे प्रभो! **त्वा**=आपको **हि**=ही हम **पुरूवसुम्**=अनन्त धनवाला अथवा पालक व पूरक धनवाला **विद्म**=जानते हैं। इसलिए **उप**=आपके समीप उपस्थित होकर ही **कामान् ससृज्महे**=अपनी इच्छाओं को सम्पादित करते हैं। **अथ**=अब आप ही **नः**=हमारे **अविता**=प्रीणन करनेवाले **भव**=होओ। आपकी कृपा से हमारी इच्छाएँ पूर्ण हों और हम प्रसन्नता का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें 'शक्ति, सफलता व धन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

वार्यधनों का पोषण

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् ।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन् ! **एते**=ये हम **ते जन्तवः**=तेरे प्राणी हैं । प्रकृति-गृह्य न होकर हम प्रभुगृह्य हैं (गृह्य=पश्य) । आपको अपनानेवाले ये लोग **विश्वम्**=सब **वार्यम्**=वरणीय धनों को **पुष्यन्ति**=प्राप्त करते हैं । 'प्रभु के उपासकों को धन की कमी रहती हो' ऐसी बात नहीं है । हे प्रभो ! आप **हि**=निश्चय से **जनानाम्**=सब लोगों के **अन्तः ख्यः**=अन्तःस्थित होते हुए उनके सब विचारों व आचारों को देखते हैं । आप अन्तर्यामी हैं । **अर्यः**=स्वामी होते हुए आप ही **अदाशुषाम्**=न देनेवालों के **वेदः**=धन को **ख्यः**=देखते ही हैं । **तेषां वेदः**=उनके धनों को **नः, आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए । इस प्रकार ये धन भूमि में न गड़े रहकर अथवा बैंक के लॉकर्स में न पड़े रहकर लोक-हितकारी कार्यों में विनियुक्त हो पाएँगे ।

भावार्थ—हम प्रभु के पक्ष में रहनेवाले हों, वरणीय धनों का पोषण करें और प्रभु से प्राप्त कराये गये धन का दान देनेवाले हों ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि प्रभुस्तवन से हर्ष व शक्ति बढ़ती है (१) । प्रभु को अपनानेवाला कभी पराजित नहीं होता (२) । हम विजयी, धनी व निरभिमान बनें (३) । ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म ही हमें महान् बनाते हैं (४) । वे प्रभु अनुपम हैं (५) । वे प्रभु ही सबके स्वामी हैं (६) । वे हमें धन व बुद्धि देते हैं (७), शक्ति व सफलता प्राप्त कराते हैं (८) । अन्तर्यामी होते हुए दानवृत्तिवालों को धन प्राप्त कराते हैं (९) । 'हे प्रभो ! आप हमारी प्रार्थना सुनिए'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

अनुग्रह

उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मातथाइव ।
यदा नः सूनृतावतः कर आदर्थयास इद्योजा न्विन्द्र ते हरी ॥१॥

१. हे प्रभो ! **उप उ**=हम आपके समीप हों । हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यवन् प्रभो ! **गिरः**=हमारी प्रार्थनावाणियों को **सु**=अच्छी प्रकार **शृणुहि**=सुनिए । आप **अ-तथाः इव मा**=हमारे प्रतिकूल-से मत होओ । हमारा आचरण ऐसा न हो कि हम आपके कृपापात्र न रहें । हमारी सबसे बड़ी कामना यही है कि हम आपके अनुग्रह-भाजन बने रहें । २. **यदा**=जब आप **नः**=हमें **सूनृतावतः**=सूनृत—प्रिय, सत्य वाणीवाला **करः**=करते हैं, **आत्**=तभी **इत्**=वास्तव में **अर्थयासे**=हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो ! आप हमारे इस शरीररूप रथ में **ते हरी**=आपके इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय-रूप घोड़ों को **योजा नु**=जोड़िए ही । सर्वोत्तम प्रार्थना यही है कि हमारे ये ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े इस शरीर-रथ में जुतकर हमें उन्नति-पथपर आगे ले-चलनेवाले हों ।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा के पात्र हों। सूनृत वाणीवाले हों। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति में तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

विप्र (का लक्षण)

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति **विप्राः**=(वि+प्रा पूर्णे) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले होते हैं, वे **अक्षन्**=शरीर-पोषण के लिए भोजन करते हैं और **अमीमदन्त**=एक हर्ष का अनुभव करते हैं। इनके द्वारा भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक किया जाता है। भोजन को भी ये एक यज्ञ का रूप दे देते हैं और **हि**=निश्चय से **प्रियाः**=प्रभु के प्यारे होते हैं और **अव अधूषत**= सब आधि-व्याधियों को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाले होते हैं। इनका सात्त्विक यज्ञिय भोजन शरीर में अनामय (नीरोगता) का कारण बनता है तो मन में यह प्रकाशक होता है। २. **अस्तोषत**= ये प्रभु का स्तवन करते हैं और परिणामतः **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं, **नविष्ठया**=अत्यन्त स्तुत्य **मती**=बुद्धि से युक्त होते हैं। इनके शरीर और मन की भाँति इनकी बुद्धि भी अत्यन्त शुद्ध होती है। हे **इन्द्र**=प्रभो! आप **ते हरी**=अपने इन इन्द्रियाश्वों को **योजा नु**=हमारे शरीररूप रथ में जोड़िए। आप इस रथ को निरन्तर आगे ले-चलनेवाले हों और इस प्रकार हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति में साधक बनें।

भावार्थ— विप्र वह है जो (क) प्रसन्नतापूर्वक सात्त्विक भोजन करता है, (ख) शरीर और मन के मैलों को दूर करता है, (ग) प्रभुस्तवन करता हुआ आत्मप्रकाश को देखने का प्रयत्न करता है, (घ) प्रशस्त बुद्धि से युक्त होता है, (ङ) इन्द्रियों को स्वकार्य में व्यापृत करके जीवन-यात्रा को पूर्ण करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सुसन्दृश व पूर्ण वन्धुर प्रभु

सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णवन्धुरः स्तुतो याहि वशाँ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥३॥

१. हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त प्रभो! **सुसन्दृशम्**=उत्तमता से सबको सम्यक्तया देखनेवाले—सभी का ध्यान करनेवाले **त्वा**=आपका **वयम्**=हम **वन्दिषीमहि**—अभिवादन करते हैं, आपका स्तवन करते हैं। आप २. **नूनम्**=निश्चय से **प्र**=प्रकर्षेण **पूर्णवन्धुरः**=धनादि से पूर्ण रथ-(वन्धुर)-वाले हैं अथवा सृष्टिरचना में ठीक बन्धनों को करनेवाले हैं। इस सृष्टि में प्रत्येक वस्तुविन्यास अपने-अपने स्थान में ठीक प्रकार से हुआ है। ३. **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **वशान्**=अपने मन व इन्द्रियों को वश में करनेवालों को **अनुयाहि**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। 'वश्' धातु का अर्थ चमकना (to shine) भी है। हे प्रभो! आप उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो आपका स्तवन करते हुए अपने जीवन को निर्मल बना पाते हैं। ४. हे **इन्द्र**=प्रभो! आप हमारे इस शरीररूप रथ में **ते हरी**=अपने इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **योजा नु**=जोतिए ही। ये हमें ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न बनाकर यात्रा को पूर्ण कर सकने में समर्थ करें।

भावार्थ—प्रभु सुसन्दृश व पूर्णवन्धुर हैं; वे जितेन्द्रिय पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृदास्तारपङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

'वृषण-गोविद' रथ

स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम् ।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी ॥४॥

१. **सः**=वह पुरुष ही **घ**=निश्चय से **तम्**=उस **वृषणम्**=शक्तिशाली व **गोविदम्**=ज्ञान की वाणियों के प्रकाशक अथवा रश्मियों को प्राप्त करनेवाले **रथम्**=शरीररूप रथ पर **अधितिष्ठति**=अधिष्ठित होता है, **यः**=जोकि **पात्रम्**=(पा रक्षणे) सबके रक्षक अथवा सबके आधारभूत **हारियोजनम्**=जिसका सम्पर्क (योजनम्) सब कष्टों का हरण करनेवाला है (हारि), **पूर्णम्**=जोकि पूर्ण है, उस प्रभु को **'इन्द्रः'**=वह ही परमैश्वर्यवाला है, इस रूप में **चिकेतति**=जानता है । वस्तुतः प्रभु का स्मरण करनेवाला ही इस शरीररूप रथ का ठीक से अधिष्ठातृत्व करता है । वह प्रभुकृपा से कर्मेन्द्रियों से कर्मों में लगा रहकर इसे सशक्त (वृषण) बनाता है और ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति में लगा रहकर इसे गोवित्=प्रकाश की किरणोंवाला बना पाता है । २. इसकी प्रार्थना यही होती है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो ! आप **ते हरी**=अपने इन इन्द्रियाश्वों को **योजा नु**=निश्चय से हमारे शरीररूप रथ में जोतिए । आपकी कृपा से ही ये घोड़े इस रथ को सशक्त व प्रकाशमय बनाएँगे और मुझे उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होंगे ।

भावार्थ—प्रभु को 'पात्र, हारियोजन, पूर्ण'-रूप में स्मरण करते हुए हम इस 'वृषण, गोवित्' शरीर-रथ पर अधिष्ठित हों ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

दक्षिण व सव्य अश्व (जाया-उपयान)

युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्यः शतक्रतो ।
तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञा व कर्मोंवाले प्रभो ! **ते**=आपका **दक्षिणः**=दाहिने पार्श्व में जुतनेवाला अश्व **युक्तः अस्तु**=इस रथ में जुता हुआ हो । 'दक्षिण' शब्द चतुर, कुशल, समझदार, ज्ञानी की भावना को देता हुआ ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व का संकेत दे रहा है । २. हे शतक्रतो ! **उत**=और **सव्यः**=वाम पार्श्व में जुतनेवाला घोड़ा भी युक्त हो । 'षू' धातु से निष्पन्न यह सव्य शब्द उत्पादन व निर्माण का संकेत करता है, एवं यह कर्मेन्द्रियरूप अश्व का बोधक है । ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व 'दक्षिण' है, कर्मेन्द्रियरूप अश्व 'सव्य' है । ३. **तेन**=इस प्रकार दक्षिण व सव्य अश्व से युक्त उस रथ से **प्रियां जायाम्**=प्रीणित करनेवाली वेदवाणीरूप जाया (पत्नी) के **उपयाहि**=समीप प्राप्त हो । वेदवाणी पत्नी हो, तू उसका पति हो । वेदवाणी से ही तेरा परिणय हो जाए । इसी उद्देश्य से तू **अन्धसा**=सोम के द्वारा **मन्दानः**=हर्ष का अनुभव करनेवाला हो । वस्तुतः अध्ययन की वृत्ति हमें वासनाओं से ऊपर उठाती है और सोमरक्षण के योग्य बनाती है । ४. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो ! आप **ते हरी**=अपने इन दक्षिण व सव्य अश्वों को **योजा नु**=हमारे शरीर-रथ में अवश्य जोतिए ही । इनके द्वारा ही हमारी यात्रा पूर्ण होती है ।

भावार्थ—हमारा शरीर-रथ ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त हो । वेदवाणी हमारी जाया हो, हम उसके पति बनें । सोमरक्षण से हम आनन्द का अनुभव करें ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

प्रभु का उपदेश

युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी उप प्र याहि दधिषे गभस्त्योः।
उत्त्वा सुतासो रभसा अमन्दिषुः पूषण्वान्वज्रिन्त्समु पत्न्यामदः ॥६॥

१. गत मन्त्रों में जीव की (योजा न्विन्द्र ते हरी) इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **ते ब्रह्मणा**=(बृहि वृद्धौ) तेरे वर्धन के दृष्टिकोण से मैं **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले इन **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **युनज्मि**=तेरे शरीर-रथ में जोतता हूँ। **उपप्रयाहि**=इस रथ से तू मेरे समीप आनेवाला हो। इसके लिए तू **गभस्त्योः**=अपने हाथों में **दधिषे**=इन घोड़ों की लगामों को धारण करनेवाला **बन**। २. **उत**=और **रभसाः**=शक्ति को देनेवाले (Robust बनानेवाले) **सुतासः**=भोजन से उत्पन्न ये सोमकण **त्वा**=तुझे **अमन्दिषुः**=आनन्दित करें। सोमकणों के रक्षण से तू आनन्द का अनुभव कर। यही मार्ग प्रभु के समीप पहुँचने का है। इसके विपरीत तो विषय-प्रवणता का मार्ग है जोकि मनुष्य को प्रभु से दूर और दूर ले-जाता है। ३. हे जीव! तू **पूषण्वान्**=अपना उचित पोषण करनेवाला बन। **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए हो और **पत्न्या**=इस वेदवाणीरूप पत्नी के साथ **समु मदः**=खूब ही हर्ष का अनुभव कर। तेरा शरीर पुष्ट हो, हाथों में क्रिया हो, मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे वर्धन के लिए इन्द्रियाश्वों को शरीर में जोता है। घोड़ों की लगाम को काबू करके हम आगे बढ़ें; स्वस्थ, क्रियाशील व ज्ञानी बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि प्रभु हमारी प्रार्थनाओं को सुनें (१)। हम विप्र बनें (२), जितेन्द्रिय बनकर प्रभु को प्राप्त हों (३)। हमारा यह रथ दृढ़ व प्रकाशमय हो (४), इसमें ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व जुते हों (५), इनकी लगाम हमारे हाथ में हो और हम आगे बढ़ें (६)। 'हम प्रथम हों, उत्तम वसुओं से पूर्ण हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

भवीयस् वसु

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः।
तमित्पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः ॥१॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों से **सुप्रावीः**=सुरक्षित **मर्त्यः**=मनुष्य **अश्वावति**=इस उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों से युक्त रथ में **गोषु**=(गावः=वेदवाचः) ज्ञान की वाणियों में अथवा (गम्यन्ते इति गावः) प्राप्त करने योग्य पदार्थों में **प्रथमः गच्छति**=सबसे प्रथम स्थान में स्थित हुआ-हुआ होता है। प्रभु से रक्षित व्यक्ति जहाँ (क) अपने इस शरीररूप रथ के इन्द्रियरूप घोड़ों को उत्तम बना पाता है (ख) वहाँ खूब ही ज्ञान को प्राप्त करनेवाला होता है और (ग) सब प्राप्त करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति में प्रथम होता है। हम प्रभु की उपासना करते हैं तो हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है और हमारे जीवन में उल्लिखित तीन परिणाम होते हैं। २. **तम् इत्**=इस व्यक्ति को ही हे प्रभो! आप **भवीयसा**=(बहुतरेण भवितृतमेन वा—सा०, यदतिशयं भवति तेन—द०) बहुत अधिक

अभ्युदय के कारणभूत, अतिशयित **वसुना**=धन से **पृणक्षि**=संयुक्त करते हैं। प्रभुकृपा से इस व्यक्ति को आभ्युदयिक कल्याण के लिए पर्याप्त धन की प्राप्ति होती है। ३. आप इस व्यक्ति को इस प्रकार अतिशयित धन से युक्त करते हैं **यथा**=जिस प्रकार **विचेतसः**=स्वास्थ्य-प्रदान के द्वारा विशिष्ट ज्ञान के साधनभूत **आपः**=जल **सिन्धुम्**=समुद्र को **अभितः**=सब ओर से प्राप्त होते हैं (पृञ्चन्ति)। समुद्र को नदियाँ जलों से भरती चलती हैं परन्तु समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, इसी प्रकार इस व्यक्ति को धन खूब ही प्राप्त होता है, पर यह उस धन से गर्वित व उच्छृङ्खल नहीं हो जाता। गीता में यह भावना इस प्रकार कही गई है—**'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥'** चारों ओर से जलों से भरे जा रहे परन्तु स्थिर मर्यादावाले समुद्र को जैसे जल प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जिसे ये सब काम्य धन प्राप्त होते हैं, वही शान्ति को प्राप्त होता है, न कि निरन्तर कामनाएँ करनेवाला। बस, इस प्रभु से रक्षित व्यक्ति को खूब ही धन प्राप्त होते हैं, परन्तु ये धन उसके जीवन की मर्यादा को तोड़नेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभुरक्षा के पात्र हों। हमारा शरीर-रथ उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला हो। हम खूब ज्ञान प्राप्त करें। आभ्युदयिक धन की प्राप्ति हमें मर्यादित जीवनवाला ही रखे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

ब्रह्म-प्रिय

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वराइव॥२॥

१. **आपः**=जल **न**=जैसे आचमन के समय **होत्रियम्**=होता के चम्मच में **उपयन्ति**=प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार **देवीः**=सब दिव्यताएँ इस होत्रियम्=होता के समान वृत्तिवाले पुरुष को प्राप्त होती हैं। २. ये होता के समान वृत्तिवाले—दानपूर्वक अदन करनेवाले पुरुष सदा **अवः पश्यन्ति**=नम्रस्वभाव होने से नीचे की ओर देखनेवाले होते हैं, **यथा**=जितना कि **रजः विततम्**=इनका ज्ञान का प्रकाश फैला हुआ होता है। **'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'** (अथर्व०)—ज्ञान से नीचे देखनेवाला, नम्र बनता है; **'विद्या ददाति विनयम्'**—विद्या विनय प्रदान करती है। ३. **देवयुम्**=देवों की कामनावाले, दिव्यवृत्तियों को अपनानेवाले पुरुष को **देवासः**=सब देव **प्राचैः**=(प्र अञ्च्) उन्नति के मार्गों से **प्रणयन्ति**=प्रकर्षेण ले-जाते हैं। जब हमारी दिव्यगुणों की प्राप्ति की प्रबल कामना होती है तो प्रभुकृपा से हमारा सम्पर्क देवों से होता है और वे हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले होते हैं। ४ **ब्रह्मप्रियम्**=(ब्रह्म प्रियं यस्मै) इस ज्ञान व प्रभु से प्रीतिवाले पुरुष को सब देव **जोषयन्ते**=इस प्रकार प्रीतिपूर्वक सेवित करते हैं, **इव**=जैसे **वराः**=वर=कन्या के वरण की कामनावाले पुरुष कन्या का। एक वर वधू की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला होता है। इस प्रकार सब देव इस ब्रह्मप्रिय व्यक्ति को किसी प्रकार की कमी नहीं रहने देते। उसको उचित साधन प्राप्त कराके उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं।

भावार्थ—होता की वृत्तिवाले को दिव्यताएँ प्राप्त होती हैं। ये दिव्यताप्राप्त व्यक्ति अपने ज्ञान के अनुपात में नम्रता को धारण करते हैं। सब देव इन्हें उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं और इन ब्रह्मव्यक्तियों को उन्नति के साधनभूत पदार्थों के प्रापण से सेवित करते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

भद्रा शक्ति

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते ॥३॥

१. हे प्रभो ! आप गत मन्त्र में वर्णित (देवासः) विद्वानों के द्वारा **द्वयोः**=पति-पत्नी दोनों में ही **उक्थ्यं वचः**=प्रशंसनीय व स्तुति के योग्य वचनों को **अधि**=आधिक्येन **अदधाः**=धारण करते हैं। उन पति-पत्नियों में **या**=जोकि **मिथुना**=द्वन्द्वरूप में—दोनों मिलकर **यतस्रुचा**=चम्मचको ग्रहण करके **सपर्यतः**=अग्नि का पूजन करते हैं, अग्निहोत्र करते हैं अथवा (**स्रुक्**=वाणी, वाग्वै स्रुचः—शत० ६।३।१।८) वाणी का संयम करके **सपर्यतः**=प्रभु का पूजन करते हैं। २. इस प्रकार के व्यक्ति **अ-संयत्तः**=विषयों से बद्ध न हुए-हुए हे प्रभो ! **ते व्रते**=आपके व्रत में **क्षेति**=निवास करते हैं। प्रभु का व्रत 'सत्य' है। ये सदा सत्य में चलते हैं और **पुष्यति**=प्रजा, पशु आदि से पुष्ट होते हैं।। ३. इन **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले—शरीर में सोम-(वीर्य)-शक्ति को सुरक्षित रखनेवाले व्यक्ति के लिए **भद्रा शक्तिः**=कल्याणकारिणी शक्ति प्राप्त होती है। ४. मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि (क) अग्निहोत्र व प्रभुवन्दन करनेवाले बनें। इसके लिए आवश्यक है कि हम कम बोलें, (ख) प्रभु हमें विद्वानों के द्वारा उत्तम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँगे, (ग) विषयों से बद्ध न होते हुए हम सत्य का पालन करें। सत्य का पालन असम्भव तभी होता है जब हम किसी विषय में फँस जाते हैं। (घ) हम यज्ञशील व सोमरक्षक बनकर कल्याणकारिणी शक्ति के स्वामी बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें ज्ञान प्राप्त हो। हम पूजा की वृत्तिवाले हों। सत्य का व्रत लेकर हम यज्ञशील व सोमरक्षण करनेवाले एवं शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

सर्वं भोजनम्

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'भद्रशक्ति' प्राप्त करने पर **आत्**=अब **अङ्गिराः**=अङ्गिरस लोग—अङ्ग-अङ्ग में रसवाले लोग **प्रथमं वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधिरे**=धारण करते हैं। बिना शक्ति के उत्कर्ष सम्भव नहीं होता। २. **इत् ह**=निश्चय ही **अग्नयः**=(अग्रेणीः) प्रगतिशील व्यक्ति वे ही होते हैं **ये**=जोकि **सुकृत्यया**=उत्तम क्रियाओंवाली **शम्या**=यज्ञादि क्रिया से युक्त होते हैं। यज्ञीय कर्म हमारे जीवन में प्रगति का कारण होते हैं। ३. ये व्यक्ति **पणेः**=(पण व्यवहारे स्तुतौ च) प्रभु स्मरणपूर्वक व्यवहार करनेवाले के **सर्वम्**=स्वास्थ्यजनक (wholesome) **भोजनम्**=भोजन को **समविन्दन्त**=प्राप्त करते हैं। जो भी व्यक्ति प्रभुस्मरण के साथ क्रियाशील बनता है वह जीवन के सब आवश्यक धनों को प्राप्त करता ही है। ४. ये **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **अश्वावन्तम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले **गोमन्तम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले तथा **आ-पशुम्**=(आ=मर्यादायाम्) मर्यादित पाशविक काम-क्रोधादि भावनावाले **वयः**=जीवन को **समविन्दन्त**=प्राप्त करते हैं। काम-क्रोधादि राजस भावनाएँ हैं। इन्हें मर्यादित रखना अत्यन्त आवश्यक है। इनकी अमर्यादा में ही विनाश है। मर्यादित होने पर ये रक्षा का कार्य करती हैं।

सात्त्विक भावनाएँ ब्राह्मवृत्ति हैं तो मर्यादित क्रोधादि की राजस भावनाएँ क्षात्रवृत्ति हैं। 'ब्रह्म+क्षत्र' ही उत्कृष्ट जीवन है—न अकेला ब्रह्म, न अकेला क्षत्र।

भावार्थ—अङ्गिरसों का जीवन उत्कृष्ट होता है। अग्नि वे हैं जो यज्ञादि उत्तम कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। पणि स्वास्थ्यजनक भोजन का सेवन करते हैं। उत्तम जीवन में ब्रह्म व क्षत्र का समन्वय होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

सूर्यः व्रतपाः

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥५॥

१. **अथर्वा**=(न+थर्व् =चरतिकर्मा) विषयों से डाँवाडोल न होनेवाली मतिवाला (अथ+अर्वाङ्) अपने अन्दर देखनेवाला अर्थात् आत्मनिरीक्षण करनेवाला पुरुष **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों से **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है और **पथः**=मार्गों को **तते**=विस्तृत करता है। लोग इसके जीवन को आदर्श समझकर मार्गों का निश्चय करते हैं। **ततः**=तब यह **सूर्यः**=(सरति) निरन्तर गतिवाला—क्रियावान् होता है, **व्रतपाः**=अपने व्रतों को कभी भङ्ग नहीं करता, न विषयों से डाँवाडोल होता है और न ही आत्मनिरीक्षण का त्याग करता है। यह **वेनः**=मेधावी व कान्त जीवनवाला **आजनि**=होता है। ३. यह **गाः आ आजत्**=ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-विज्ञान में समन्तात् प्रेरित करता है, अतएव **उशना**=सर्वहित की कामनावाला होता है और **काव्यः**=क्रान्तदर्शी बनता है। ४. इस मार्ग पर चलता हुआ यह **यमस्य सचा**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का सखा—सदा साथी बनता है। हमें भी यही चाहना कि **जातम्**=विभूतियों के रूप में सर्वत्र प्रादुर्भूत उस प्रसिद्ध **अमृतम्**=अविनाशी अथवा शरीर व मानस नीरोगता के कारणभूत प्रभु को **यजामहे**=अपने साथ सङ्गत करें। उसी का उपासन व उसी का जाप करते हुए उसके साथ अपने को मिला दें (यज देवपूजा, संगतिकरण व दान)

भावार्थ—अथर्वा बनकर मनुष्य क्रियाशील और व्रतों का पालक बनता है। यह क्रान्तदर्शी बनता हुआ प्रभु के साथ सङ्गत होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

बर्हि, अर्क व ग्रावा

बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति ॥६॥

१. गत मन्त्र में वर्णित प्रभु से अपना मेल करनेवाला भक्त **बर्हिः वा**=(उद्बर्ह् =विनाश) वासनाओं का विनाश करनेवाला बनता है। **यत्**=चूँकि **स्वपत्याय**=(सु अपत्) पतन को न आने देने के लिए बड़ी उत्तमता से **वृज्यते**=अपने को वासनाओं से दूर रखता है। वासनाओं की ओर गये और गिरे! संसार के प्रलोभन मनुष्य के पतन का कारण बनते हैं। यह उन प्रलोभनों का वर्जन करता है, उनसे दूर रहता है। २. **अर्कः वा**=व्यसनों से दूर रहने के लिए ही यह प्रभु की अर्चना करनेवाला बनता है (अर्चति इति अर्कः) और **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **श्लोकम्**=प्रभु के यश का **आघोषते**=ऊँचे स्वर से उच्चारण करता है; अर्थभावन के साथ स्तुतिमन्त्रों का उच्चारण करता है। यह प्रभुस्तवन उसका प्रलोभनों में

न फँसने में बड़ा सहायक होता है। प्रभुस्तवन से जहाँ उच्च लक्ष्यदृष्टि पैदा होती है, वहाँ व्यसनों के आनन्द की तुच्छता का भी आभास होने लगता है। ३. यह पुरुष **ग्रावा**=(गृणाति) उपदेष्टा बनकर **यत्र वदति**=जहाँ बोलता है, उपदेश देता है, वहाँ **कारुः**=कलापूर्ण ढंग से सब कार्यों को करनेवाला बनता है और **उक्थ्यः**=स्तोत्रों में उत्तम होता है। इस प्रकार इसके जीवन में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का समन्वय हो जाता है। यही उत्तम व प्रभावशाली जीवन है। ४. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **तस्य**=उस प्रभु के **इत्**=ही **अभिपित्वेषु**=प्राप्तियों में **रण्यति**=आनन्द (To rejoice) का अनुभव करता है। यह प्रभु-प्राप्ति का आनन्द ही तो उसके लिए अन्य आनन्दों को तुच्छ कर देता है।

भावार्थ—हम 'बर्हि, अर्क व ग्रावा' बनें। प्रभुप्राप्ति में ही आनन्द का अनुभव करें।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'भवीयस् वसु' की प्रार्थना है (१)। दूसरे में ब्रह्मप्रिय बनने का उल्लेख है (२)। इस ब्रह्मप्रिय यजमान को भद्रशक्ति प्राप्त होती है (३)। इस भद्रशक्तिवाले अङ्गिरस का जीवन उत्कृष्ट होता है (४)। अथर्वा बनकर यह क्रियाशील व व्रतों का पालक बनता है (५)। यह वासनाओं को नष्ट करने से 'बर्हि', स्तवन करने से 'अर्क' व उपदेष्टा होने से 'ग्रावा' कहलाता है (६)। अब 'शत्रुओं का धर्षण करके हम प्रभु को प्राप्त हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८४] चतुरशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

शक्ति व ज्योति

असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः॥१॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **ते**=तेरे लिए **सोमः**=यह सोम-(वीर्य)-शक्ति **असावि**=उत्पन्न की गई है। जितेन्द्रिय पुरुष ही इसका लाभ उठा पाता है, अजितेन्द्रिय तो इसका नाश ही कर बैठता है। २. **शविष्ठ**=सोमरक्षण से अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले जीव! **आगहि**=तू हमारे समीप आ। सोम का रक्षण वह अध्यात्म-शक्ति प्राप्त कराता है जिससे कि इन्द्र बनकर हम कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं और प्रभु की समीपता के योग्य बनते हैं। ३. **त्वा**=मेरे उपासक तुझको **इन्द्रियम्**=शक्ति तथा **रजः**=ज्योति **आपृणक्तु**=सब ओर से पूरित करनेवाली हो—तेरा जीवन शक्ति व ज्योति से पूर्ण हो। तू **रश्मिभिः**=स्वास्थ्य व तेजस्विता की किरणों से तथा ज्ञान की रश्मियों से **सूर्यः न**=सूर्य की भाँति चमकनेवाला बन। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः—प्रभु भी सूर्यसम ज्योति हैं। यह जीव भी सूर्यसम बनकर प्रभु का सच्चा उपासक बनता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से शक्तिशाली बनकर हम प्रभु को प्राप्त हों। शक्ति व ज्योति से युक्त होकर सूर्य की भाँति चमकें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

स्तुति व यज्ञ

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्॥२॥

१. **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अप्रतिधृष्टशवसम्**=अहिंसित बलवाले को **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **इत्**=निश्चय से **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों की **स्तुतीः**=स्तुतियों के **च**=और **च**=साथ ही **मानुषाणाम्**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्यों के **यज्ञम्**=यज्ञ के **उप**=समीप **वहतः**=ले-चलते हैं। यह पुरुष ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करके ऋषियों के समान प्रभु का स्तवन करनेवाला प्रभु का 'ज्ञानी भक्त' बनता है तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञों में प्रवृत्त होता हुआ मानवमात्र का हित चाहनेवाला मनुष्य बनता है। २. ऐसा वह बन तभी पाता है जब वह जितेन्द्रिय बनकर काम-क्रोधादि से अपनी शक्ति को हिंसित नहीं होने देता। काम इन्द्रियों की शक्ति को जीर्ण करके उसे यज्ञादि कर्मों के योग्य नहीं रहने देता और क्रोध उसके मन को विकृत करके प्रभुस्तवन की वृत्ति से दूर कर देता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम काम-क्रोध से आक्रान्त न हों। विचारशील पुरुषों की भाँति कर्मेन्द्रियों को उत्तम कर्मों में लगाये रखें और तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के समान ज्ञानेन्द्रियों से सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभुस्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अर्वाचीन मन

आ तिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥३॥

१. हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत कामादि वासनाओं के हनन करनेवाले इन्द्र! तू **रथम्**=इस शरीररूप रथ पर **आतिष्ठ**=आरूढ़ हो। यह तेरा शरीर-रथ सब प्रकार से सकलाङ्ग हो—इसमें किसी प्रकार की वि-कलता न हो और यह जीवन-यात्रा के लिए बिलकुल ठीक-ठाक हो। २. **ब्रह्मणा**=प्रभु ने **ते**=तेरे लिए **हरी युक्ता**=इस शरीर-रथ में घोड़ों को जोत दिया है। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। ये तेरे इस शरीर-रथ को मार्ग पर आगे और आगे ले-चलेंगे। ३. इसी उद्देश्य से **ग्रावा**=ज्ञान का उपदेष्टा गुरु **वग्नुना**=ज्ञान के वचनों से **ते**=तेरे **मनः**=मन को **सु**=उत्तमता से **अर्वाचीनम्**=अन्तर्मुख गतिवाला **कृणोतु**=करे। ज्ञानी आचार्य के उपदेशों से प्रेरणा प्राप्त करके तेरा मन विषयों में भटकने के स्थान में अन्तर्मुख होकर—निरुद्ध वृत्तिवाला होकर, आत्मदर्शन के लिए उद्यत हो। तेरी यात्रा बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो। मन ही तो वह लगाम है जिससे कि इन्द्रियरूप अश्व वश में किये जाते हैं। विषयासक्त हो यह लगाम ही निर्बल होकर टूट गई तो घोड़ों को काबू करने का प्रसङ्ग ही न रहेगा।

भावार्थ—इस शरीररूप रथ में प्रभु ने इन्द्रियाश्व जोते हैं। मनरूप लगाम अर्वाचीन—अन्तर्मुखी व बुद्धिरूप सारथि के काबू में रही तो यात्रा अवश्य पूर्ण होगी।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ऋत के सदन में

इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्। शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥४॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इमम्**=इस **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम को **पिब**=पी। इस सोम को तू शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बन। यह **ज्येष्ठम्**=तुझे अत्यन्त प्रवृद्ध शक्तिवाला बनाएगा, **अमर्त्यम्**=यह तुझे रोगों से आक्रान्त होकर मरने नहीं देगा। **मदम्**=तेरे जीवन में एक विशिष्ट

उल्लास का कारण बनेगा। **शुक्रस्य**=(शुच् दीप्तौ) जीवन को पवित्र व दीप्त बनानेवाले इस वीर्य की **धाराः**=धारण-शक्तियाँ **त्वा**=तुझे **ऋतस्य सदने**=ऋत के सदन में **अभ्यक्षरन्**=सर्वतः प्राप्त होती हैं। इस सोम के रक्षण से यह शरीर ऋत का सदन बन जाता है, यहाँ कुछ भी अनृत नहीं रहता। स्थूल शरीर में रोग अनृत हैं, मन में असत्य व द्वेष अनृत हैं, बुद्धि में कुण्ठा व अज्ञान-अन्धकार अनृत हैं। शुक्र-रक्षण से यह सब अनृत नष्ट हो जाता है और यह शरीर ऋत का सदन बन जाता है। हमारे शरीर की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, रोग हमें मार नहीं देते और हमारे मन में उल्लास बना रहता है।

भावार्थ—हम शुक्र का रक्षण करनेवाले हों। रक्षित होकर यह सोम हमारे शरीर में से अनृत को नष्ट कर इसे ऋत का सदन बना देगा।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'ज्येष्ठ सहः' का उपासन

इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन। सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः ॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार इस शरीर को ऋत का सदन बनाकर **नूनम्**=निश्चय से **इन्द्राय अर्चत**=उस प्रभु के लिए अर्चना करो **च**=और **उक्थानि**=उक्थों व स्तोत्रों को **ब्रवीतन**=बोलो। हम प्रभु की अर्चना करें। उसकी अर्चना यही तो है कि हम उससे उपदिष्ट कार्यों को करनेवाले बनें—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**। नियत कर्म करना ही प्रभु की दृश्यभक्ति हुआ करती है। प्रभु के स्तोत्रों का हम उच्चारण करें। ये स्तोत्र हमारे सामने एक लक्ष्यदृष्टि उपस्थित करते हैं। २. इस प्रकार प्रभु का अर्चन व स्तवन करने पर शरीर में सोमकणों का रक्षण होता है और **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्दवः**=(बिन्दवः) ये सोमकण **अमत्सुः**=हमारे हर्ष का कारण बनते हैं। इसके कारण जीवन में एक उल्लास बना रहता है। इस प्रकार सोमकणों के रक्षण द्वारा **ज्येष्ठं सहः**=सर्वोत्कृष्ट बल को **नमस्यत**=आदृत करो। बल का अपने अन्दर स्थापन ही बल का आदर करना है। बल का आरम्भ 'तेजः' से होता है और इसका सर्वोत्कृष्ट रूप (अन्तिम रूप) 'सहस्' होता है। **'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि'** से बल की प्रार्थना का प्रारम्भ होता है और **'सहो ऽसि सहो मयि धेहि'** पर अन्त। शुक्ररक्षण से तेजस्विता, वीर्य, ओज, बल व मन्यु की प्राप्ति होकर अन्त में सहस् की प्राप्ति होती है, एवं शुक्र का रक्षण ही सर्वोत्कृष्ट बल अर्थात् सहस् की अर्चना है।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन व स्तवन करें। यह अर्चन व स्तवन हमें वासना-विजय के द्वारा सोमरक्षण के योग्य बनाएगा। **इस**से हम सर्वोत्कृष्ट बल अर्थात् 'सहस्' को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

इन्द्रिय-नियमन (जितेन्द्रियता)

नकिष्ट्वद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे। नकिष्ट्वानु मज्मना नकिः स्वश्व आनशे ॥६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=चूँकि तू **हरी**=इन इन्द्रियाश्वों को **यच्छसे**=काबू करता है, इसलिए **त्वत् रथितरः नकिः**=तुझसे बढ़कर अन्य उत्तम रथी नहीं है। रथी का महत्त्व तो इसी में है कि रथवाहक घोड़े पूर्णरूप से उसके वश में हों। २. इस प्रकार उत्तम रथी बनने के कारण **मज्मना**=बल के दृष्टिकोण से **न किः त्वा अनु**=कोई भी तेरा मुकाबिला नहीं कर सकता। उत्तम रथी वही है जोकि इन्द्रियाश्वों को वश में रखता है। वशीभूत इन्द्रियोंवाला, बल का रक्षण करता हुआ अनुपम शक्तिशाली बनता है। ३. **नकिः स्वश्वः आनशे**=कोई भी, कितने भी उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता हुआ भी (सु+

अश्वः) तुझे प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् तेरा प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन पाता। किसी एक व्यक्ति को माता-पिता से कितना भी सुन्दर शरीर प्राप्त हो जाए, पर वह स्वयं अजितेन्द्रिय होता हुआ जितेन्द्रिय पुरुष की प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता।

भावार्थ—जितेन्द्रियता ही हमें उत्तम रथी, बलवान् व अनुपम (सर्वाग्रणी) बनाती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

ईशानः अप्रतिष्कुतः

य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'जितेन्द्रियता से अनुपम शक्तिवाला बन जाने पर मनुष्य को गर्व न हो जाए'—इस विचार से कहते हैं—हे **अङ्ग**=प्रिय! **यः**=जो **एकः इत्**=अकेला ही **दाशुषे मर्ताय**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **वसु**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को **विदयते**=विशेष रूप से देता है, वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **ईशानः**=तुझमें वर्तमान सब उत्तमताओं का स्वामी है। उस प्रभु की ही तेजस्विता व वृद्धि आदि तुझमें भास रही हैं—ये तेरी अपनी नहीं हैं। इनका ईशान प्रभु ही है। ३. वे ही प्रभु **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिकूल शब्द से रहित हैं। उनका कोई विरोधी व प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'**, उस प्रभु की शक्ति से ही तू अपने को शक्ति-सम्पन्न हुआ जान। प्रभु की शक्ति को अपनी मानकर तू गर्वित न हो। जितना-जितना प्रभु के प्रति तू अपना अर्पण करता है, उतना-उतना प्रभु की शक्ति से तू सम्पन्न होता जाता है।

भावार्थ—मनुष्य जितेन्द्रियता से शक्ति-सम्पन्न बनकर उस शक्ति को प्रभु की समझे और गर्वित न हो जाए।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

समूलस्तु विनश्यति

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग ॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु ही 'ईशान' हैं, वे 'अप्रतिष्कुत' हैं। उनके साम्राज्य में एक व्यक्ति अयज्ञशील, आसुर लोगों को पनपता हुआ और धार्मिकों को क्लिष्ट होता हुआ देखकर कह उठता है कि **कदा**=कब वे प्रभु **अराधसम्**=यज्ञादि कर्मों को सिद्ध न करनेवाले अयज्ञिय **मर्तम्**=पुरुष को **अवस्फुरत**=पूर्णरूपेण नष्ट करेंगे? उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **पदा क्षुम्पम्**=पैर से खुम्ब को समाप्त कर दिया जाता है। खुम्ब में कोई शक्ति नहीं, वह पाँव से छूते ही अनायास समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार आसुरी सम्पत्तिवाले लोग उस प्रभु द्वारा अनायास ही समाप्त कर दिये जाते हैं। दो दिन पहले वे बड़े चमक रहे होते हैं और अगले ही दिन उनके नामो-निशान का भी पता नहीं रहता। २. **कदा**=कब **इन्द्रः**=वे प्रभु **नः**=हम आस्तिकभाव से चलनेवाले लोगों की **गिरः**=इन प्रार्थनोपासना की वाणियों को **शुश्रवत्**=सुनते हैं? **अङ्ग**=(अङ्ग इति क्षिप्रम्) मेरी तो यही कामना है कि हमारी ये वाणियाँ शीघ्र ही सुनी जाएँ। हमारे धैर्य की उतनी ही परीक्षा हो जितना कि हममें सामर्थ्य है। कहीं असुरों को फूलता-फलता व धार्मिकों को पीड़ित होता हुआ देखकर हमारी मति डाँवाडोल न हो जाए।

भावार्थ—अन्ततः अधार्मिक उसी प्रकार नष्ट होता है जैसेकि पादप्रहार से खुम्ब नष्ट हो जाता है और आस्तिक की प्रार्थना अवश्य ही सुनी जाती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—उष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

कोई एक-आध ही

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति । उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥९॥

१. यह ठीक है कि **यः चित् हि**=जो कोई भी **बहुभ्यः**=इन बहुत-से मनुष्यों में **सुतावान्**=सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाला **त्वा आविवासति**=आपकी परिचर्या करता है, उसके लिए ही **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **अङ्ग**=शीघ्र ही **तत् उग्रं शवः**=उस प्रसिद्ध तीव्र तेज को **पत्यते**=(पातयति=प्रापयति—सा०) प्राप्त कराते हैं। २. प्रभु का उपासन 'सुतावान्' ही करता है। सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाला अथवा यज्ञशील पुरुष ही प्रभु का सच्चा उपासक है। सोम-रक्षण से ही सोम प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। प्रभु के इस उपासन को विरल व्यक्ति ही करते हैं, बहुसंख्या तो भोगवाद में ही बह जाती है। ३. उपासना का परिणाम यह होता है कि उपासक को भी प्रभु की शक्ति प्राप्त होती है। अग्नि-पतित लोहे को अग्नि की शक्ति प्राप्त होती है तो प्रभु के समीप उपस्थित उपासक को प्रभु की शक्ति क्यों नहीं प्राप्त होगी ? यह शक्ति अपनी उग्रता से सब दोषों का दहन कर देती है और उपासक के जीवन को निर्मल बना देती है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना विरले ही करते हैं। उपासक सोम का रक्षण करनेवाला बनता है और प्रभु से उग्र तेजस्विता को प्राप्त करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

'स्वादु, विषूवान्, मधु'

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१०॥

१. **गौर्यः**=गौरवर्णा गौएँ अर्थात् व्यसनों से अलिप्त शुद्ध इन्द्रियाँ **मध्वः**=मधु का, सोम का **पिबन्ति**=पान करती हैं। आहार से उत्पन्न सोम—वीर्यशक्ति को जब शरीर में ही सुरक्षित रखा जाता है तो यही इन्द्रियों का सोमपान है। किस सोम का ? जोकि **स्वादोः**=जीवन को माधुर्यवाला बनाता है और **इत्था**=इस शरीर में ही पान करने से **विषूवतः**=(विष् व्याप्तौ) शरीर में व्यापन करनेवाले का। इन्द्रियाँ इस सोम से ही तो शक्तिसम्पन्न बनती हैं। २. ये इन्द्रियाँ वे हैं **याः**=जोकि **वृष्णा**=सब सुखों के वर्षण करनेवाले **इन्द्रेण**=आत्मा के साथ **सयावरीः**=गति व प्राप्तिवाली होती हैं। सोमपान के अभाव में इन्द्रियाँ विषयोन्मुख होती हैं, सोमपान करने पर ये आत्मतत्त्व के दर्शन के लिए प्रवृत्त होती हैं। ये आत्म-दर्शन में प्रवृत्त इन्द्रियाँ **मदन्ति**=उल्लास से युक्त होती हैं, **शोभसे**=जीवन की शोभा के लिए होती हैं, **वस्वीः**=निवास को उत्तम करनेवाली होती हैं, जीवन को उत्तम बनानेवाली हैं। ऐसा होता तभी है **अनु स्वराज्यम्**=जब मनुष्य आत्मशासन करनेवाला होता है। स्वराज्य=आत्मशासन के अनु=बाद ही ऐसा होता है।

भावार्थ—हम संयमी बनें। तब इन्द्रियाँ सोम को शरीर में ही पीनेवाली होंगी। इससे जीवन मधुर बनेगा और हम आत्मतत्त्व के दर्शन के लिए प्रवृत्त होंगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

'सायक' वज्र

ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥११॥

१. **ताः**=गत मन्त्र में वर्णित शुद्ध इन्द्रियाँ (गौर्यः) **अस्य**=इस आत्मतत्त्व के, इन्द्र के **पृशनायुवः**=स्पर्श की कामनावाली **पृश्नयः**=(संस्पृष्टो भासा—नि० २।१४) ज्योति से युक्त हुई-हुई **सोमम्**=सोम को **श्रीणन्ति**=शरीर में ही परिपक्व करती हैं। सोम को शरीर में सुरक्षित करके विविध शक्तियों का पोषण करती हैं। इस सोम के रक्षण से ही तो वे आत्मतत्त्व का स्पर्श करनेवाली हो पाएँगी। २. ऐसा होने पर **इन्द्रस्य**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणियाँ **प्रियाः**=प्रिय होती हैं और वे वाणियाँ उसके जीवन में **सायकम्**=सब शत्रुओं का अन्त करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **हिन्वन्ति**=प्रेरित करती हैं अर्थात् यह क्रियाशील बनता है। ३. इस प्रकार ये इन्द्रियाँ **वस्वीः**=निवास को उत्तम बनानेवाली होती हैं, होती तभी हैं जबकि **अनु स्वराज्यम्**=हम आत्मशासन की वृत्तिवाले होते हैं। संयम के पश्चात् ही इन्द्रियाँ उत्तम निवास का कारण बनती हैं।

भावार्थ—शरीर में सोम के परिपाक से इन्द्रियाँ आत्मदर्शन के योग्य बनती हैं। इस सोमपान करनेवाले को वेदवाणियाँ प्रिय होती हैं और यह उनमें उपदिष्ट कार्यों को करनेवाला होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

नम्रतायुक्त बल

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१२॥

१. **ताः**=वे इन्द्रियाँ (गौर्यः) **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **अस्य**=इस इन्द्र=जीवात्मा के **सहः**=बल को **नमसा**=नमन से, विनीतता के द्वारा **सपर्यन्ति**=पूजित करती हैं। सोमपान करनेवाली इन्द्रियाँ इन्द्र को सबल बनाती हैं और इसके बल को विनीतता से युक्त करती हैं। २. ये इन्द्रियाँ **अस्य**=इस इन्द्र के **पुरूणि**=पालन व पूरणात्मक **व्रतानि**=व्रतों को **सश्चिरे**=सेवित करती हैं। सोमपान करनेवाली इन्द्रियों के द्वारा ही हमारे सब पुण्यकर्म पूर्ण हुआ करते हैं। ३. ये इन्द्रियाँ **पूर्वचितये**=सृष्टि से पूर्व वर्तमान उस प्रभु के ज्ञान के लिए होती हैं। इनके द्वारा सृष्टि के पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन होकर प्रभु की सत्ता में विश्वास दृढ़ होता है। इस प्रकार प्रभुसत्ता में विश्वास कराकर **वस्वीः**=ये इन्द्रियाँ निवास को उत्तम करनेवाली होती हैं। होता यह तभी है जबकि **अनु स्वराज्यम्**=आत्मानुशासन की भावना प्रबल होती है। आत्मसंयम के बाद ही इन्द्रियाँ उत्तम निवास का कारण बनती हैं।

भावार्थ—सोमपान करनेवाली इन्द्रियाँ हमें नम्रतायुक्त बल प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

दधीचि की हड्डियों से

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः । जघान नवतीर्नव ॥१३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिकूल शब्द से रहित हुआ-हुआ, प्रतिद्वन्द्वी से रहित हुआ-हुआ **दधीचः**=(ध्यानं प्रत्यक्तः—नि० १२।३३) ध्यानी पुरुष की **अस्थभिः**=(असु क्षेपणे) विषयों को दूर फेंकने की शक्तियों से **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **नवतीः नव**=निन्यानवे बार **जघान**=नष्ट करता है और इस प्रकार अपने जीवन के शतवर्षों को वासना-शून्य बनाता है। २. 'इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों से वज्र बनाकर वृत्र का विनाश किया'—इस पौराणिक कथा का मूल इसी मन्त्र में है। इसका भाव मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि ध्यान-परायण व्यक्ति ही दध्यङ् व दधीचि है। विषयों को दूर फेंकने की वृत्तियाँ ही हड्डियाँ हैं। वासना ही वृत्र है। निन्यानवे बार नाश का अभिप्राय यही है कि हम सदा वासना के आक्रमण को अपने से दूर रखने के लिए सजग रहते हैं।

भावार्थ—ध्यानपरायण मनुष्य ही वासना का पराजय कर पाता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

अश्व का सिर

इ॒च्छन्नश्व॑स्य॒ यच्छिर॑ः॒ पर्व॑ते॒ष्वप॑श्रितम्। तद्वि॑दच्छर्य॒णाव॑ति ॥१४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ध्यान के द्वारा जीवन को वासनाशून्य बनाकर हम अपने मस्तिष्क को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। यह मस्तिष्क सब विषयों का ग्रहण करनेवाला बनता है, सब विषयों में चलता है, कुण्ठित नहीं होता। 'अश्नुते व्याप्नोति' सब विषयों को व्याप्त करता है, अतः यह अश्व का सिर कहलाता है, एवं 'अश्व का सिर वह सिर है जोकि प्रत्येक विषय का ठीक रूप में ग्रहण करे'। २. शरीर में यह मेरुदण्ड व मेरुपर्वत पर एक उलटे रखे हुए पात्र की भाँति पड़ा है—**'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'**—यह नीचे मुखवाला तथा ऊपर मूलवाला चमस मस्तिष्क ही है। ३. सब विषयों को सूक्ष्मता से ग्रहण करनेवाले, मेरुपर्वत पर उलटा करके रखे हुए इस मस्तिष्क को हम 'शर्यणावान्'=सब वासनाओं का हिंसन करनेवाले पुरुष में ही पाते हैं। वासना-विध्वंस के बिना मस्तिष्क उज्ज्वल नहीं होता। ४. मन्त्र में यह सारी भावना इस प्रकार कही गई है कि **पर्वतेषु**=मेरुपर्वत पर **अपश्रितम्**=उलटा (opposite) करके रखा हुआ **अश्वस्य यत् शिरः**=सब विषयों का व्यापन करनेवाला जो सिर है **तत्**=उसको **इच्छन्**=चाहता हुआ साधक **शर्यणावति**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले व्यक्ति में **विदत्**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम वासनाओं का हिंसन करें और सब विषयों के ग्रहण करनेवाले मस्तिष्क को पाने का प्रयत्न करें।

सूचना—यहाँ अश्व, पर्वत व शर्यणावान् शब्दों के भाव को न समझकर विचित्र-से पौराणिक आख्यान का निर्माण हो गया।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

चन्द्रमा के घर में

अत्राह॒ गोर॑मन्वत॒ नाम॒ त्वष्टु॑रपी॒च्य॑म्। इ॒त्था च॒न्द्रम॑सो गृ॒हे ॥१५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार **अत्र अह**=अश्व के मस्तिष्क में ही—सब विषयों के ग्रहण करनेवाले मस्तिष्क में ही **गोः**=वेदवाणी का **अमन्वत**=मनन करते हैं। ज्ञान की वाणियों के ग्रहण के लिए सूक्ष्म विषयग्राही मस्तिष्क की आवश्यकता है ही। २. ज्ञानप्राप्ति के साथ ही **त्वष्टुः**=उस सृष्टि के निर्माता सर्वमहान् देवशिल्पी प्रभु के **अपीच्यम्**=अन्तर्हित—सब तेजस्वी पिण्डों में वर्तमान **नाम**=तेज व यश का भी ये **अमन्वत**=मनन करते हैं। ज्ञान प्राप्त होने पर ये लोग यह तो अनुभव करते ही हैं कि **'तेजस्ते-**

जस्विनामहम्'—तेजस्वियों का तेज वह प्रभु ही है, **'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'**—सूर्य-चन्द्र आदि को वे प्रभु ही दीप्ति प्राप्त करा रहे हैं, **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**—प्रभु की दीप्ति से ही सब दीप्त हो रहा है। यह सब प्रभु का ही नाम, यश व तेज है। ३. **इत्था**=इस प्रकार (क) ज्ञान की वाणियों का मनन करने पर और (ख) सर्वत्र प्रभु का तेज देखने पर मनुष्य **चन्द्रमसः गृहे**=चन्द्रमा के घर में निवास करता है; 'चदि आह्लादे'—आह्लाद में निवास करता है। इसका जीवन आनन्दमय होता है और शरीर छोड़ने पर यह चन्द्रलोक में ही जन्म लेता है। उसका जन्म फिर इस मर्त्यलोक में नहीं होता।

भावार्थ—कुशाग्र बुद्धिवाला पुरुष ज्ञान की वाणियों का मनन करता है, सर्वत्र प्रभु के तेज को ही देखता है और जीवन को आनन्दमय बना पाता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञानोज्ज्वल जीवन

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥१६॥

१. **कः**=वह आनन्दस्वरूप प्रभु **अद्य**=आज, इस मानवदेह में **ऋतस्य धुरि**=यज्ञ के निर्वाह में अर्थात् यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **युंक्ते**=हमारे साथ युक्त करता है। ये ज्ञान की वाणियाँ **शिमीवतः**=कर्मवाली हैं, इनमें कर्मों का उपदेश दिया गया है—**'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'**। **भामिनः**=ये उज्ज्वल हैं—सत्यज्ञानवाली होने से ये चमकती हुई हैं, हमारे जीवनों को भी उज्ज्वल बनाती हैं। **दुर्हृणायून्**=(हृणीयतिर्हानिकर्मा) ये (हातुमशक्यान्) छोड़ने योग्य नहीं। स्वाध्याय के नित्य कर्तव्य होने से इनका छोड़ना सम्भव नहीं। **आसन् इषून्**=मुख में ये गमनवाली हैं। मुख से इनका उच्चारण होता है, अथवा ये इषुतुल्य हैं। उच्चरित हुई-हुई ये शत्रुओं का संहार करनेवाली हैं। **हृत्स्वसः**=हृदयों में चमकनेवाली हैं (अस् कान्ति)। हृदय में ही इनका प्रकाश होता है। **मयोभून्**=ये कल्याण का भावन करनेवाली हैं। २. **यः**=जो भी व्यक्ति **एषाम्**=इन ज्ञानवचनों के **भृत्याम्**=भरण को, धारण को **ऋणधत्**=समृद्ध करता है, बढ़ाता है, अर्थात् इन्हें अधिक-से-अधिक धारण करता है **सः जीवात्**=वही वस्तुतः जीता है, सुन्दर जीवनवाला होता है। ज्ञान की वाणियों के भरण से रहित पुरुष तो पशुतुल्य जीवनवाले हैं और इस प्रकार जीवन्मृत-से ही हैं। जीवन तो वही है जोकि ज्ञान से उज्ज्वल है।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियाँ ही मनुष्य के जीवन को उज्ज्वल बनाती हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

आनन्दमय कौन

क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वे३ को जनाय॥१७॥

१. **कः**=आनन्दमय वह है जोकि **ईषते**= वासनाओं से दूर भागने में (Fly away, escape) समर्थ होता है, संसार के तत्त्व को देखता (to look) है, दानशील होता (to give) है, वासनाओं पर प्रबल आक्रमण (to attack) करता है और **तुज्यते**=इन वासनाओं को हिंसित करता है। २. **कः**=आनन्दमय वह है जोकि **बिभाय**=प्रभु का भय रखता है, पापकर्म करने से भयभीत होता है। ३. **कः**=

आनन्दमय वह है जोकि **सन्तं इन्द्रं मंसते**=सर्वत्र वर्तमान उस प्रभु को विचारता है और पूजता है। प्रभु हैं तो सर्वत्र, परन्तु प्रभु की इस सर्वव्यापकता का लाभ उसी पुरुष को होता है जोकि प्रभु की सत्ता में विश्वास करता है। ४. **कः**=आनन्दमय वह है जोकि उस प्रभु को **अन्ति**=अपने समीप जानता है। प्रभु की समीपता में उसे सांसारिक भय नहीं रहते। ५. यह **कः**=आनन्दमय वृत्तिवाला व्यक्ति **तोकाय**=उत्तम सन्तानों के लिए **अधिब्रवत्**=प्रभु से कहता है, अर्थात् उत्तम सन्तानों के लिए प्रार्थना करता है। **कः**=यह आनन्दमय पुरुष **इभाय उत राये**=हाथी और धन के लिए प्रार्थना करता है—प्रभु से चाहता है कि मेरे पास इतना धन हो कि मेरे द्वार पर हाथी बँधे हों। इस प्रकार उत्तम सन्तानों व धनों को प्राप्त करके **तन्वे**=यह अपने शरीर के लिए प्रार्थना करता है कि मेरे शरीर की सब शक्तियाँ ठीक से विस्तृत रहें (तन् विस्तारे)। ६. **कः**=यह आनन्दमय पुरुष **जनाय**=लोकहित के लिए प्रार्थना करता है। यह केवल अपने तक ही सीमित नहीं रह जाता। स्वार्थ से ऊपर उठने के कारण ही वस्तुतः आनन्द प्राप्त करता है। अपने लिए भी उत्तम सन्तान, धन व शरीर की प्रार्थना इसी उद्देश्य से है कि वह लोकहित के कार्यों को करने में सशक्त हो।

भावार्थ—उसके जीवन में आनन्द है जोकि वासनाओं से अपने को बचाता है, प्रभु में विश्वास रखता हुआ निर्भय बनता है, सांसारिक दृष्टिकोण से उन्नत होकर लोकहित करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ब्रह्मयज्ञ+देवयज्ञ

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः॥१८॥

१. **कः**=वह आनन्दमय है जोकि **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **अग्निं ईट्टे**=अग्रेणी प्रभु की उपासना करता है। प्रभु की उपासना इस त्याग से ही होती है—**'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**। और **ध्रुवेभिः ऋतुभिः**=ध्रुव ऋतुओं से अर्थात् निश्चित समय पर **स्रुचा**=चम्मच द्वारा **घृतेन**=घृत से **यजातै**=यज्ञ करता है। प्रातः-सायं अग्निहोत्र का समय है, इस समय अग्निहोत्र करना सौमनस्य के लिए आवश्यक है। २. **कस्मै**=इस ब्रह्मयज्ञ व देवयज्ञ को नित्य करनेवाले आनन्दमय पुरुष के लिए **देवाः**=सब देव **आशु**=शीघ्र ही **होम**=ह्वातव्य—प्रार्थनीय—धन को **आवहान्**=सब प्रकार से प्राप्त कराते हैं। सूर्य इसे दृष्टिशक्ति देता है तो चन्द्रमा इसे मानस आह्लाद प्राप्त कराता है और अग्नि इसे वाणी की शक्ति देती है। ३. **कः**=यह आनन्दमय पुरुष **मंसते**=उस प्रभु का विचार व पूजन करता है और **वीतिहोत्रः**=प्राप्तयज्ञ होता है—सदा यज्ञों का करनेवाला बनता है तथा **सुदेवः**=उत्तम देवताओंवाला होता है अर्थात् उत्तम दिव्यगुणों को धारण करता है।

भावार्थ—आनन्द-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम त्यागपूर्वक अदन करते हुए प्रभु का पूजन करें और निश्चित समय पर यज्ञों को करते रहें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्ची त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अद्वितीय र्मडिता

त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥१९॥

१. हे **अङ्ग**=(अगि गतौ, गति=प्राप्ति) सर्वत्र प्राप्त व सर्वव्यापक **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशालिन् प्रभो ! **त्वम्**=आप **देवः**=द्योतमान व सब-कुछ देनेवाले हैं। आप ही **मर्त्यम्**=इस उपासक मनुष्य को ज्योति व द्रविणादि साधनों को प्राप्त कराके **प्रशंसिषः**=कर्तव्य कर्मों का उपदेश करते हो। प्रभु 'उपदेश कर दें' इतना ही नहीं है, प्रभु ने उन उपदिष्ट कर्मों को करने का सामर्थ्य भी प्रदान किया है, सब आवश्यक साधन भी प्राप्त कराये हैं। इस सामर्थ्य व साधनों के द्वारा उन कर्तव्यों को निभाकर हम अपने जीवन को प्रशंसित बनाते हैं। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन् प्रभो ! वस्तुतः **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न **मर्डिता**=सुखी करनेवाला **न अस्ति**=कोई भी नहीं है। इसलिए हे **इन्द्रः**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो ! **ते वचः ब्रवीमि**=तेरे प्रति ही मैं इन प्रार्थना-वचनों को बोलता हूँ।

भावार्थ–प्रभु हमें सब सामर्थ्य व साधन प्राप्त कराके प्रशस्त जीवनवाला बनाते हैं और हमें वास्तविक सुख का अधिकारी भी बनाते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

राधांसि-ऊतयः

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२०॥

१. हे **वसो**=सर्वत्र वसनेवाले व सबको वसानेवाले प्रभो ! **ते राधांसि**=आपके धन—सब कार्यों के सिद्ध करने के साधनभूत द्रव्य **अस्मान्**=हमें **कदा चन**=कभी भी **मा आदभन्**=मत हिंसित करें, अर्थात् ये धन हमारे लिए सदा साधन ही बने रहें—ये हमारे लिए साध्य न हो जाएँ। साध्य बनकर ये हमें उल्लू तो बना ही देते हैं, साथ ही हमारे निधन का कारण बन जाते हैं। ये हमारे लिए राधस=कार्यों को सिद्ध करनेवाले ही बने रहें। २. हे वसो ! **ते ऊतयः** (वेञ्) आपके ताने-बाने (weaving)—ये सृष्टि के जाल **अस्मान्**=हमें **कदा चन**=कभी भी **मा आदभन्**=मत हिंसित करें। हम इस सृष्टिजाल में ऊर्णनाभि=मकड़ी की भाँति विचरें, मक्खी की भाँति उसमें फँस न जाएँ। ३. **च**=और **मानुष**=मनुष्यमात्र का कल्याण करनेवाले प्रभो ! **नः चर्षणिभ्यः**=हम श्रमशील मनुष्यों के लिए **विश्वा**=सब **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक वसुओं को **आ उपमिमीहि**=सब प्रकार से समीपता से निर्मित कीजिए। सब वसुओं को हमें समीप प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु का धन व सृष्टिजाल हमारे कल्याण के लिए ही हो। प्रभु-कृपा से हम सब वसुओं को प्राप्त करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि ज्योति से युक्त होकर हम सूर्य की भाँति चमकें (१)। हम ऋषियों की भाँति प्रभुस्तवन करें, उत्तम पुरुषों के समान यज्ञशील हों (२)। हमारा मन अर्वाचीन=अन्तर्मुखी वृत्तिवाला हो (३)। सोम-रक्षण से हमारा शरीर ऋत का सदन बने (४)। हम ज्येष्ठ सहः के उपासक हों (५)। इन्द्रिय-नियमन हमारे जीवन का लक्ष्य हो (६)। हम शक्ति प्राप्त करें, पर उसे प्रभु की जानकर गर्वित न हों (७)। अधार्मिक का अन्ततः नाश निश्चित है (८)। प्रभु की उपासना विरल ही करता है (९)। सोम हमारे जीवन को मधुर बनाता है (१०)। सोम के परिपाक से इन्द्रियाँ आत्मदर्शन के योग्य बनती हैं (११)। इस सोमरक्षण से ये नम्रतायुक्त बलवाली होती हैं (१२)। ध्यानपरायण मनुष्य ही वासना का पराजय करता है (१३)। वासनाओं के विनाश से ही सर्वग्राही मस्तिष्क प्राप्त होता है (१४)। कुशाग्र बुद्धिवाला मनुष्य सर्वत्र प्रभु के तेज को देखता है और अपने जीवन को आनन्दमय

बनाता है (१५)। ज्ञान की वाणियों से हमारा जीवन उज्ज्वल बनता है (१६)। वासना-विजय ही आनन्दमयता का कारण है (१७)। ब्रह्मयज्ञ व देवयज्ञ करते हुए हम सुदेव व वीतिहोत्र बनते हैं (१८)। वे प्रभु ही हमारे अद्वितीय मंडिता हैं (१९)। प्रभु का धन व सृष्टिजाल हमारे कल्याण का साधन बनें (२०)। 'हम अपने जीवनों को गुणों से अलंकृत करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

सद्गुणमण्डित जीवन

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः ॥१॥

१. वे **वीराः**=वीरपुरुष **मदन्ति**=हर्षित होते हैं **ये**=जोकि **जनयः न**=स्त्रियों (queens) के समान **प्रशुम्भन्ते**=अपने जीवन को गुणों से अलंकृत करते हैं। जैसे एक रानी अपने शरीर को भूषणों से सुशोभित करती है, उसी प्रकार हमें अपने जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करने का प्रयत्न करना है। २. वे व्यक्ति आनन्द को अनुभव करते हैं जोकि **यामन्**=जीवन-यात्रा के मार्ग में **सप्तयः**=अश्वों के समान हैं। अश्व मार्ग का तीव्रता से व्यापन करता है, इसी प्रकार ये व्यक्ति भी अपने जीवन-मार्ग को पूर्णरूपेण आक्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं। ३. ये **रुद्रस्य सूनवः**=उस अन्तःस्थित उपदेष्टा प्रभु के (रुत्+र) सच्चे पुत्र बनते हैं। **'यः प्रीणयेत्सुचरित्रैः पितरं स पुत्रः'**—पुत्र वही तो है जो अपने सुचरित्रों से पिता को प्रीणित करे। इसलिए **सुदंससः**=ये सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। ४. इनके जीवन में **मरुतः**=प्राण **हि**=निश्चय से **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **वृधे चक्रिरे**=वृद्धि के लिए करते हैं। मस्तिष्क व शरीर ही द्यावा-पृथिवी हैं। प्राण-साधना से इसका मस्तिष्क ज्योतिर्मय बनता है और शरीर दृढ़ होता है। ५. इस प्रकार ज्योतिर्मय मस्तिष्क व दृढ़ शरीरवाले बनकर ये वीर **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **घृष्वयः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। काम-क्रोधादि के पराभव में ही हमारी वास्तविक विजय है और यह विजय ही उल्लास का कारण बनती है।

भावार्थ—जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करके हम प्रभु के प्रिय बनें। वासनाओं को जीतने-वाले वीर बनकर आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

प्रभुपूजन-शक्तिवर्धन

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रिया दधिरे पृश्निमातरः ॥२॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि वीर ज्ञानयज्ञों में शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। वासनाओं को जीतकर ये सोमकणों का शरीर में ही रक्षण करते हैं। इन सोमकणों से **उक्षितासः**=सिक्त हुए-हुए **ते**=वे वीर **महिमानम्**=महिमा को **आशत**=व्याप्त करते हैं। इनका जीवन महिमाशाली बनता है। २. ये वीर **रुद्रासः**=कामादि शत्रुओं को रुलानेवाले (रोदयन्ति) होते हुए **दिवि**=प्रकाशमय लोकों में **सदः अधि चक्रिरे**=स्थिति को आधिक्येन करते हैं। इनका निवास ज्ञान में होता है। ये वीरता

१. हे **अङ्ग**=(अगि गतौ, गति=प्राप्ति) सर्वत्र प्राप्त व सर्वव्यापक **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशालिन् प्रभो ! **त्वम्**=आप **देवः**=द्योतमान व सब-कुछ देनेवाले हैं। आप ही **मर्त्यम्**=इस उपासक मनुष्य को ज्योति व द्रविणादि साधनों को प्राप्त कराके **प्रशंसिषः**=कर्तव्य कर्मों का उपदेश करते हो। प्रभु 'उपदेश कर दें' इतना ही नहीं है, प्रभु ने उन उपदिष्ट कर्मों को करने का सामर्थ्य भी प्रदान किया है, सब आवश्यक साधन भी प्राप्त कराये हैं। इस सामर्थ्य व साधनों के द्वारा उन कर्तव्यों को निभाकर हम अपने जीवन को प्रशंसित बनाते हैं। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन् प्रभो ! वस्तुतः **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न **मर्डिता**=सुखी करनेवाला **न अस्ति**=कोई भी नहीं है। इसलिए हे **इन्द्रः**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो ! **ते वचः ब्रवीमि**=तेरे प्रति ही मैं इन प्रार्थना-वचनों को बोलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमें सब सामर्थ्य व साधन प्राप्त कराके प्रशस्त जीवनवाला बनाते हैं और हमें वास्तविक सुख का अधिकारी भी बनाते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

राधांसि-ऊतयः

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन्।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२०॥

१. हे **वसो**=सर्वत्र वसनेवाले व सबको वसानेवाले प्रभो ! **ते राधांसि**=आपके धन—सब कार्यों के सिद्ध करने के साधनभूत द्रव्य **अस्मान्**=हमें **कदा चन**=कभी भी **मा आदभन्**=मत हिंसित करें, अर्थात् ये धन हमारे लिए सदा साधन ही बने रहें—ये हमारे लिए साध्य न हो जाएँ। साध्य बनकर ये हमें उल्लू तो बना ही देते हैं, साथ ही हमारे निधन का कारण बन जाते हैं। ये हमारे लिए राधस=कार्यों को सिद्ध करनेवाले ही बने रहें। २. हे वसो ! **ते ऊतयः** (वेञ्) आपके ताने-बाने (weaving)—ये सृष्टि के जाल **अस्मान्**=हमें **कदा चन**=कभी भी **मा आदभन्**=मत हिंसित करें। हम इस सृष्टिजाल में ऊर्णनाभि=मकड़ी की भाँति विचरें, मक्खी की भाँति उसमें फँस न जाएँ। ३. **च**=और **मानुष**=मनुष्यमात्र का कल्याण करनेवाले प्रभो ! **नः चर्षणिभ्यः**=हम श्रमशील मनुष्यों के लिए **विश्वा**=सब **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक वसुओं को **आ उपमिमीहि**=सब प्रकार से समीपता से निर्मित कीजिए। सब वसुओं को हमें समीप प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु का धन व सृष्टिजाल हमारे कल्याण के लिए ही हो। प्रभु-कृपा से हम सब वसुओं को प्राप्त करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि ज्योति से युक्त होकर हम सूर्य की भाँति चमकें (१)। हम ऋषियों की भाँति प्रभुस्तवन करें, उत्तम पुरुषों के समान यज्ञशील हों (२)। हमारा मन अर्वाचीन=अन्तर्मुखी वृत्तिवाला हो (३)। सोम-रक्षण से हमारा शरीर ऋत का सदन बने (४)। हम ज्येष्ठ सहः के उपासक हों (५)। इन्द्रिय-नियमन हमारे जीवन का लक्ष्य हो (६)। हम शक्ति प्राप्त करें, पर उसे प्रभु की जानकर गर्वित न हों (७)। अधार्मिक का अन्ततः नाश निश्चित है (८)। प्रभु की उपासना विरल ही करता है (९)। सोम हमारे जीवन को मधुर बनाता है (१०)। सोम के परिपाक से इन्द्रियाँ आत्मदर्शन के योग्य बनती हैं (११)। इस सोमरक्षण से ये नम्रतायुक्त बलवाली होती हैं (१२)। ध्यानपरायण मनुष्य ही वासना का पराजय करता है (१३)। वासनाओं के विनाश से ही सर्वग्राही मस्तिष्क प्राप्त होता है (१४)। कुशाग्र बुद्धिवाला मनुष्य सर्वत्र प्रभु के तेज को देखता है और अपने जीवन को आनन्दमय

बनाता है (१५)। ज्ञान की वाणियों से हमारा जीवन उज्ज्वल बनता है (१६)। वासना-विजय ही आनन्दमयता का कारण है (१७)। ब्रह्मयज्ञ व देवयज्ञ करते हुए हम सुदेव व वीतिहोत्र बनते हैं (१८)। वे प्रभु ही हमारे अद्वितीय मंडिता हैं (१९)। प्रभु का धन व सृष्टिजाल हमारे कल्याण का साधन बनें (२०)। 'हम अपने जीवनों को गुणों से अलंकृत करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

सद्गुणमण्डित जीवन

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः ॥१॥

१. वे **वीराः**=वीरपुरुष **मदन्ति**=हर्षित होते हैं **ये**=जोकि **जनयः न**=स्त्रियों (queens) के समान **प्रशुम्भन्ते**=अपने जीवन को गुणों से अलंकृत करते हैं। जैसे एक रानी अपने शरीर को भूषणों से सुशोभित करती है, उसी प्रकार हमें अपने जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करने का प्रयत्न करना है। २. वे व्यक्ति आनन्द को अनुभव करते हैं जोकि **यामन्**=जीवन-यात्रा के मार्ग में **सप्तयः**=अश्वों के समान हैं। अश्व मार्ग का तीव्रता से व्यापन करता है, इसी प्रकार ये व्यक्ति भी अपने जीवन-मार्ग को पूर्णरूपेण आक्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं। ३. ये **रुद्रस्य सूनवः**=उस अन्तःस्थित उपदेष्टा प्रभु के (रुत्+र) सच्चे पुत्र बनते हैं। **'यः प्रीणयेत्सुचरित्रैः पितरं स पुत्रः'**—पुत्र वही तो है जो अपने सुचरित्रों से पिता को प्रीणित करे। इसलिए **सुदंससः**=ये सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। ४. इनके जीवन में **मरुतः**=प्राण **हि**=निश्चय से **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **वृधे चक्रिरे**=वृद्धि के लिए करते हैं। मस्तिष्क व शरीर ही द्यावा-पृथिवी हैं। प्राण-साधना से इसका मस्तिष्क ज्योतिर्मय बनता है और शरीर दृढ़ होता है। ५. इस प्रकार ज्योतिर्मय मस्तिष्क व दृढ़ शरीरवाले बनकर ये वीर **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **घृष्वयः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। काम-क्रोधादि के पराभव में ही हमारी वास्तविक विजय है और यह विजय ही उल्लास का कारण बनती है।

भावार्थ—जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करके हम प्रभु के प्रिय बनें। वासनाओं को जीतनेवाले वीर बनकर आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

प्रभुपूजन-शक्तिवर्धन

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रिया दधिरे पृश्निमातरः ॥२॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि वीर ज्ञानयज्ञों में शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। वासनाओं को जीतकर ये सोमकणों का शरीर में ही रक्षण करते हैं। इन सोमकणों से **उक्षितासः**=सिक्त हुए-हुए **ते**=वे वीर **महिमानम्**=महिमा को **आशत**=व्याप्त करते हैं। इनका जीवन महिमाशाली बनता है। २. ये वीर **रुद्रासः**=कामादि शत्रुओं को रुलानेवाले (रोदयन्ति) होते हुए **दिवि**=प्रकाशमय लोकों में **सदः अधि चक्रिरे**=स्थिति को आधिक्येन करते हैं। इनका निवास ज्ञान में होता है। ये वीरता

के साथ ज्ञान को मिलाकर चलते हैं। ३. **अर्कम्**=उस पूजनीय प्रभु को **अर्चन्तः**=पूजते हुए ये **इन्द्रियम्**=वीर्य व बल को **जनयन्तः**=विकसित करते हुए **श्रियः**=शोभाओं को **अधि दधिरे**=खूब ही धारण करते हैं। प्रभु की उपासना से बासना का समूल विनाश होकर शक्ति का रक्षण व वर्धन होता ही है ४. इस प्रकार ये वीर **पृश्निमातरः**=भूमिरूपी मातावाले होते हैं, अर्थात् भूमि माता के सच्चे पुत्र होते हैं। इनके जीवन से मातृभूमि का मुख उज्ज्वल होता है। ये अपने देश के यश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभुपूजनवाले हों और अपनी शक्ति का वर्धन करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

वीर सैनिक

गोमा॑तरो॒ यच्छु॒भय॑न्ते अ॒ञ्जिभि॑स्त॒नूषु॑ शु॒भ्रा द॑धिरे वि॒रुक्म॑तः।
बाध॑न्ते॒ विश्व॑मभिमा॒तिन॒मप॒ वर्त्मा॑न्येषा॒मनु॑ रीयते घृ॒तम् ॥३॥

१. **गोमातरः**=(गौः=पृथिवी) इस पृथिवी को अपनी माता समझनेवाले ये वीर **यत्**=जब **अञ्जिभिः**=रूपाभिव्यञ्जक— अलंकृत करनेवाले आभूषणों से **शुभयन्ते**=अपने को शोभायुक्त करते हैं और **तनूषु**=शरीरों पर **शुभ्राः**=शुद्ध व निर्मल **विरुक्मतः**=विशेषेण रोचमान अलंकारों को **दधिरे**=धारण करते हैं। २. इस प्रकार ये वीर सैनिक पूर्ण उत्साह में होते हैं। ये शत्रु पर आक्रमण के लिए प्रस्थान करते हुए संकल्पात्मक सोत्साह मन से आगे बढ़ते हैं और **विश्वम्**=सब **अभिमातिनम्**=शत्रुओं को **अपबाधन्ते**=दूर ही रोक देते हैं। ३. **एषाम्**=इनके **वर्त्मानि अनु**=मार्गों के पीछे **घृतम्**=दीप्ति **रीयते**=गति करती है। इनका मार्ग दीप्तिमय होता है। तेजस्विता से दीप्त होते हुए ये शत्रु पर आक्रमण करते हैं। इस स्थिति में इनके न जीतने का प्रश्न ही नहीं उठता। वीर सैनिक विजयी बनता है।

भावार्थ—एक वीर सैनिक पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध में जुटता है और जिधर जाता है, शत्रुओं को मार भगाता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

अच्युत-च्यावन

वि ये भ्राज॑न्ते॒ सुम॑खास ऋ॒ष्टिभि॑ः प्रच्या॒वय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा।
म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा वृष॑व्राता॒सः पृष॑ती॒रयु॑ग्ध्वम् ॥४॥

१. गत मन्त्र के सैनिकों का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **ये**=वे वीर हैं जोकि **सुमखासः**=राष्ट्ररक्षा के लिए युद्ध को उत्तम यज्ञ समझनेवाले हैं, **ऋष्टिभिः**=शत्रुनाशक अस्त्र-शस्त्रों से **विभ्राजन्ते**=विशेषरूप से चमकते हैं और **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **अच्युता चित्**=अत्यन्त दृढ़—न हिलाये जाने योग्य पर्वतादि को भी **प्रच्यावयन्तः**=मार्ग से हटानेवाले होते हैं। अपनी युद्धयात्रा से पर्वत भी इनको रोक नहीं सकते। २. ये तो **यत्**=चूँकि **मनोजुवः**=(मनोवद् वेगगतयः—सा०) मन के समान वेगयुक्त गतिवाले हैं, अतः **वृषव्रातासः**=शत्रुओं पर शस्त्रास्त्रों का वर्षण करनेवाले मनुष्य होते हैं (व्राताः=मनुष्याः)। इस प्रकार के ये **मरुतः**=देशरक्षण के लिए मर मिटनेवाले (म्रियन्ते) वीर सैनिक **रथेषु**=रथों में **पृषतीः**=(पृष् to vex, pain, weary) शत्रुओं को व्याकुल कर देनेवाली अपनी घोड़ियों को **आ अयुग्ध्वम्**=समन्तात् जोतते हैं, युद्धयात्रा के लिए तैयार हो जाते हैं।

भावार्थ—वीर सैनिक आगे बढ़ते हैं, पर्वत भी इन्हें रोक नहीं पाते।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रिपु-रुधिर-वर्षण

प्र यद्रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः।
उतारुषस्य वि ष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम ॥५॥

१. **यत्**=जब हे **मरुतः**=सैनिको! आप **रथेषु**=रथों में **पृषतीः**=शत्रुओं को व्याकुल करनेवाली घोड़ियों को **अयुग्ध्वम्**=समन्तात् जोतते हो तो **वाजे**=संग्राम में **अद्रिम्**=पर्वत को भी **रंहयन्तः**=वेगवाला कर देते हो (shake it run away), पर्वत को भी मार्ग से दूर भगा देते हो। इनको पर्वत भी रोक नहीं पाते। २. **उत**=और उस समय वे वीर सैनिक संग्रामों में **अरुषस्य**= आरोचमान—चमकते हुए रुधिर की **धाराः**=धाराओं को **विष्यन्ति**=मुक्त करते हैं—रुधिर की धाराओं को बहा देते हैं तथा **उदभिः चर्म इव**=जैसे जलों से चमड़े को गीला करते हैं, उसी प्रकार ये सैनिक शत्रु-रुधिर से **भूम व्युन्दन्ति**=रणभूमि को क्लिन्न कर देते हैं। देशरक्षा के लिए शत्रु का नाश आवश्यक हो जाता है।

आधिदैविक पक्ष में—मरुतः=मानसून विण्ड्स=वृष्टि की वायुएँ **यत्**=जब **रथेषु**=अपने रथों में **पृषतीः**=अपनी घोड़ियों को **अयुग्ध्वम्**=सर्वथा जोतती हैं, अर्थात् जब ये वायुएँ चलती हैं तो **वाजे**=अन्न की उत्पत्ति के निमित्त **अद्रिम्**=मेघ को **रंहयन्तः**=ये वेगयुक्त करती हैं, बादल को उड़ाकर ले-जाती हैं। **उत**=और **अरुषस्य**=आरोचमान वृष्टिजल की **धाराः**=धाराओं को **विष्यन्ति**=मुक्त करती हैं। **उदभिः**=जलों से **भूम**=पृथिवी को **व्युन्दन्ति**=उसी प्रकार क्लिन्न कर देती हैं **चर्म इव**=जैसे एक चमड़े को। एक चर्मकार जैसे चमड़े को गीला करता है, उसी प्रकार ये वायुएँ मेघजल से भूमि को क्लिन्न करती हैं और भूमि को अन्न-उत्पादन के योग्य बनाती हैं।

भावार्थ—वीर सैनिक शत्रुरुधिर से भूमि को स्नान कराते हुए देश का रक्षण करते हैं। रुधिर की वर्षा से भूमि इस प्रकार क्लिन्न हो जाती है जैसे बादलों की वर्षा से।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

गतिमय इन्द्रियाश्व

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः ॥६॥

१. 'मरुतः' का अर्थ आधिदैविक जगत् में 'वृष्टि की वायुएँ' हैं, आधिभौतिक क्षेत्र में ये वीर सैनिक हैं और अध्यात्म में ये प्राण हैं। प्राणसाधक पुरुष भी 'मरुतः' कहलाते हैं। प्राणसाधना से शरीर के सब शत्रु उसी प्रकार नष्ट होते हैं जैसे कि वीर सैनिक रणभूमि में शत्रुओं का नाश करते हैं। इस प्रकार प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर इन इन्द्रियाश्वों की गति व शक्ति बढ़ जाती है, अतः कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **सप्तयः**=सर्पणशील—अपने-अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले **रघुष्यदः**=वेगयुक्त गतिवाले **रघुपत्वानः**=शीघ्रता से मार्ग का आक्रमण करनेवाले इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=जीवन-यात्रा में वहन करनेवाले हों। २. **बाहुभिः**=अपने प्रयत्नों व पराक्रमों से **प्रजिगात**=तीव्रता से आगे और आगे चलो। जीवनपथ को प्रशस्त व उन्नत बनाते हुए तुम **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **सीदत**=बैठो। प्राणसाधना से हृदय वासनाशून्य बनता ही है। **वः**=तुम्हारा **सदः**=यह बैठने का स्थान—हृदय **उरु कृतम्**=विशाल बनाया गया है। विशालता में ही तो उसकी पवित्रता है। सब अशुभ वासनाएँ संकुचित हृदय

की ही उपज हैं। ३. हे **मरुतः**=प्राणो ! व प्राणसाधक पुरुषो ! आप **मध्वः**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए **अन्धसः**=इस ध्यान से रक्षणीय सोम के पान से **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। सोमरक्षण ही सब आनन्दों का मूल है। ४. सैनिक पक्ष में **अन्धसः**=अन्नवाचक हो जाता है। सैनिकों को भी 'आयु, सत्त्व (उत्साह), बल व आरोग्य' वर्धक अन्न का सेवन करना है। यह अन्न उनको मस्ती देनेवाला हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व निर्दोष होकर हमें यात्रा में आगे ले-चलते हैं। पुरुषार्थ बढ़ता है, हृदय विशाल व पवित्र बनता है। सोमरक्षण होकर आनन्द की वृद्धि होती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

शक्तिशाली पर निरभिमानी

तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः।
विष्णुर्यद्धावद्वृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये॥७॥

१. **ते**=वे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **अवर्धन्त**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं। **स्वतवसः**=(स्व=आत्मा) ये आत्मा के बलवाले होते हैं। **महित्वना**=इस आत्मिक बल की महिमा से **नाकं तस्थुः**=स्वर्गलोक में स्थित होते हैं। ये क्लेश का अनुभव नहीं करते—सहनशक्ति के कारण व्याधित होते हुए भी ये प्रसन्नचित्त होते हैं। **सदः**=अपने निवासस्थान हृदय को **उरु चक्रिरे**=ये विशाल बनाते हैं। इनका हृदय संकुचित नहीं होता। उस विभु प्रभु का निवास होने पर हृदय के संकोच का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। २. **वृषणम्, मदच्युतम्**=शक्तिशाली पर गर्व न करनेवाले पुरुष को **यत्**=चूँकि **ह**=निश्चय से **विष्णुः**=वे सर्वव्यापक प्रभु **आवत्**=रक्षित करते हैं। विष्णु से सुरक्षित निरभिमानी व शक्तिसम्पन्न यह पुरुष **वयः न**=पक्षी की भाँति अर्थात् उसी प्रकार उड़कर शीघ्रता से **प्रिये**=प्रीणित करनेवाले **बर्हिषि**=यज्ञ में **अधिसीदन्**=आधिक्येन स्थित होनेवाला होता है। यज्ञों में स्थित होता हुआ यह प्रीति का अनुभव करता है और इन यज्ञों के द्वारा प्रभु का अर्चन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से आत्मिक बल बढ़ता है, मनुष्य यज्ञशील बनता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

शूर-युयुधि-श्रवस्यु

शूराइवेद्युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजानइव त्वेषसंदृशो नरः॥८॥

१. गत मन्त्र के प्राणसाधक पुरुष **इत्**=निश्चय से **शूराः इव**=शूरवीर पुरुषों की भाँति **युयुधयः न**=युद्ध करते हुओं की भाँति **जग्मयः**=गतिशील, **श्रवस्यवः न**=यश की कामनावाले वीरों की भाँति **पृतनासु**=संग्रामों में **येतिरे**=प्रयत्न करते हैं। जैसे राष्ट्र के वीर सैनिक—शत्रुओं से शूरवीर पुरुषों की भाँति—प्रबल युद्ध करनेवालों की भाँति तथा कायरता के कलंक से बचने की कामनावाले होकर युद्ध करते हैं, इसी प्रकार प्राणसाधक पुरुष अध्यात्म-संग्राम में कामादि शत्रुओं को शीर्ण करने के लिए यत्नशील होते हैं। इन **मरुद्भ्यः**=युद्ध में प्राणों का त्याग करने की वृत्तिवाले पुरुषों से **विश्वा भुवना**=सब लोक **भयन्ते**=भयभीत हो उठते हैं। इसी प्रकार प्राणसाधक पुरुषों से काम-क्रोधादि शत्रु भयभीत होकर भाग खड़े होते हैं। ३. कामादि का विनाश होने पर ये प्राणसाधक **नरः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले पुरुष **राजानः इव**=राजाओं की भाँति **त्वेषसंदृशः**=दीप्तदर्शनवाले होते हैं। कामादि के विनाश से इनकी

शक्ति का रक्षण होता है और ये तेजस्विता से इस प्रकार सुभूषित होते हैं जैसेकि राजा लोग वस्त्रों व अलंकारों से भूषित दिखते हैं।

भावार्थ—हम शूर, युयुधि व श्रवस्यु बनकर संग्राम में जुट जाएँ। शत्रु-संहार करके दीप्तदर्शन-वाले बनें—चमकें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

त्वष्टा का वज्र

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन्वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम् ॥९॥

१. **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला, जिसके कर्मों में किसी प्रकार की कमी नहीं (**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**) उस **त्वष्टा**=देवशिल्पी प्रभु ने **यत्**=जिस **वज्रम्**=वज्र को **अवर्तयत्**=वर्तमान किया अर्थात् बनाया, उस वज्र को **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **धत्ते**=धारण करता है। यह वज्र 'क्रियाशीलता' ही है। प्रभु ने जीव के लिए क्रियाशीलता के नियम को ही स्थिर किया है—'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः**'। इन्द्र इस नियम को अपनाता है। यह क्रियाशीलतारूप वज्र **सुकृतम्**=शोभन कर्मरूप है तथा **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय है। हमें प्रत्येक कर्म ज्ञानपूर्वक ही करना चाहिए। यह वज्र **सहस्रभृष्टिम्**=शतशः धाराओंवाला है—इसके द्वारा वासनासमूह का विनाश किया जाता है। २. इन्द्र इस वज्र का **नरि**=(नृ नये) जीवन-प्रगति के संग्राम में **अपांसि कर्तवे**=कर्मों को करने के लिए धारण करता है। इस क्रिया-शीलता के द्वारा वह आगे और आगे बढ़ता है। कर्म ही प्रगति का नियम है। इस कर्म के द्वारा वह उन्नति के मार्ग में आनेवाले **वृत्रम्**=वासनारूप आवरण (विघ्न) को **अहन्**=नष्ट करता है और **अपां अर्णवम्**=कर्मों की गति को (अर्णव=गति) **निः औब्जत्**=पूर्णतया सरल करता है (उब्ज् आर्जवे)। वासनाविनाश के कारण इसके कर्मों में कुटिलता नहीं रहती। वासनाएँ ही हमारे कर्मों में कुटिलता का समावेश करती हैं। वासनाएँ गईं, कुटिलता भी गई।

भावार्थ—हम प्रभुप्रदत्त क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण करें। वासनाओं को इसके द्वारा नष्ट करके अपने जीवन में सरलता को धारण करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

अविद्यापर्वत-विभेदन

ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतम्।
धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ॥१०॥

१. **ते मरुतः**=वे प्राण **अवतम्**=(अव् रक्षणे) अपने से रक्षित पुरुष को अथवा नीचे गिरे हुए पुरुष को (अवस्तात् ततम्) **ऊर्ध्वं नुनुद्रे**=ऊपर प्रेरित करते हैं। प्राण-साधना से मनुष्य की अशुभवृत्तियाँ नष्ट होती हैं और इस प्रकार इन प्राणों के द्वारा मनुष्य का उत्थान किया जाता है। २. ये प्राण **दादृहाणं चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **पर्वतम्**=अविद्यापर्वत को (पाँच पर्वोंवाली होने से अविद्या पर्वत कही गई है) **वि बिभिदुः**=विशेषरूप से विदीर्ण कर देते हैं। प्राणसाधना के द्वारा अशुद्धियों का नाश होकर ज्ञान की दीप्ति होती है। इस ज्ञान के प्रकाश में अविद्यान्धकार विलीन हो जाता है। यही अविद्यापर्वत का भेदन है। ३. **वाणम्**=शतसंख्यावाली तन्त्रियों से युक्त वीणा के तुल्य शतवर्षपर्यन्त चलनेवाले इस शरीर को

धमन्तः=तप की अग्नि से संयुक्त करते हुए **मरुतः**=प्राण (प्राणायामः परमं तपः) **सुदानवः**=बुराइयों का अच्छी प्रकार खण्डन करनेवाले होते हैं। प्राणायामरूपी तप की अग्नि में शरीर के सब दोष भस्म हो जाते हैं। ४. दोषों के भस्म होने पर शरीर में सोम की रक्षा होती है और तब ये प्राणसाधक पुरुष **सोमस्य मदे**=इस सोम के मद=हर्ष में **रण्यानि**=अत्यन्त रमणीय कार्यों को **चक्रिरे**=करते हैं। सोम-रक्षा से जीवन में उल्लास का अनुभव होता है। इस उल्लास के साथ पवित्रता होती है, परिणामतः सोम-रक्षक पुरुष रमणीय कर्मों को ही करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से उन्नति होती है, अविद्या का नाश होता है। प्राणायामरूप तप की अग्नि में शरीर के दोष दूर हो जाते हैं और सोमरक्षण से उल्लसित पुरुष पवित्र कर्मों को करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

गोतम की तृष्णा का शमन

जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे।
आ गच्छन्तीमवसा चित्रभानवः कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः॥११॥

१. गत मन्त्र में कही गई **तया दिशा**=उस ऊर्ध्व दिशा की ओर ये प्राण उस व्यक्ति को **नुनुद्रे**=प्रेरित करते हैं जोकि आज तक **जिह्मम्**=कुछ कुटिल स्वभाव का था तथा **अवतम्**=नीचे—अधर्म में, पापगर्त में गिरा हुआ था। प्राणसाधना के द्वारा अधर्म की वृत्ति नष्ट होती है और मनुष्य उन्नति की दिशा में चलना आरम्भ करता है। उसकी कुटिलता नष्ट होकर उसके स्वभाव में सरलता आ जाती है। २. अब यह मनुष्य प्रशस्तेन्द्रिय बन जाता है, इसमें ज्ञानप्राप्ति की प्यास उत्पन्न हो जाती है। इस **गोतमाय**=(गावः=इन्द्रियाणि) प्रशस्तेन्द्रिय **तृष्णजे**=(तृष्णा जाता यस्मिन्, जन्+ड) ज्ञानपिपासु के लिए ये **मरुत्**=प्राण **उत्सम्**=ज्ञान के निर्झर (चश्मे) को **असिञ्चन्**=ज्ञानजल से सिक्त कर देते हैं, इनमें ज्ञानप्रवाह उमड़ पड़ता है। प्राणसाधना का यह परिणाम है ही कि ज्ञान दीप्त हो उठता है। ३. इस प्रकार **चित्रभानवः**=ये अद्भुत दीप्तिवाले प्राण (मरुत्) **ईम्**=निश्चय से **अवसा**=रक्षण के हेतु **आगच्छन्ति**=इस प्राणसाधक को प्राप्त होते हैं और **विप्रस्य**=इस विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले पुरुष को ये प्राण **धामभिः**=(Lustre or strength) ज्ञान के प्रकाश व बल से **कामम्**=खूब ही **तर्पयन्त**=तृप्त करते हैं। इसे ज्ञानी व सबल बनाकर इसका प्रीणन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना 'सरलता, ज्ञान के प्रकाश व सामर्थ्य' को देनेवाली है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

त्रिधातु शर्म

या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम्॥१२॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **या**=जो **वः**=आपके **त्रिधातूनि**=शरीर, मन व बुद्धि—तीनों का पोषण करनेवाले **शर्म**=सुख **शशमानाय**=प्लुतगति—स्फूर्ति से कर्म करनेवाले के लिए **सन्ति**=हैं, उन्हें **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले पुरुष के लिए, अपनी साधना के द्वारा प्रभु-चरणों में उपस्थित होनेवाले पुरुष के लिए **अधियच्छत**=आधिक्येन दीजिए। प्राणसाधना से हमारा शरीर नीरोग होता है, मन निर्मल बनता है और बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार प्राणसाधना का सुख 'त्रि-धातु' है। यह प्राप्त उसी को होता है

जोकि शशमान=क्रियाशील व दाश्वान्=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला होता है। २. हे प्राणो ! **तानि**=उन सुखों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए भी **वियन्त**=विशेषकर प्राप्त कराइए (विशेषेण प्रयच्छत=सा०)। हे **वृषणः**=हमपर सुखों की वर्षा करनेवाले व हमें शक्तिशाली बनानेवाले प्रभो ! **नः**=हमारे लिए **सुवीरम्**=उत्तम वीर पुत्रोंवाले **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण कीजिए। हम वीर पुत्रों को प्राप्त करें साथ ही धन भी प्राप्त करें।

भावार्थ=प्राणसाधना से शरीर, मन व बुद्धि तीनों का उत्तमता से पोषण होता है। वीर पुत्रों व धन की प्राप्ति होती है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हम 'जीवन को सद्गुणों से मण्डित करके प्रभु के प्रिय बनें' (१)। हमारा जीवन प्रभु-पूजन के द्वारा शक्तिवर्धनवाला हो (२)। एक वीर सैनिक की भाँति हम शत्रुओं को मार भगाएँ (३)। आगे बढ़ने के मार्ग में पर्वत भी हमें रोक न पाएँ (४)। हम शत्रु-रुधिर से भूमि को क्लिन्न करते हुए देश का रक्षण करनेवाले बनें, (५) प्राणसाधना से निर्दोष बने हुए इन्द्रियाश्व हमें यात्रा में आगे ले-चलें (६)। हम शक्तिशाली हों परन्तु शक्ति का गर्व न करें (७)। हम शत्रुसंहार करनेवाले बनकर चमकें (८)। प्रभुप्रदत्त क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण करें, (९) इसके द्वारा अविद्या-पर्वत का भेदन करें (१०)। प्राणसाधना के द्वारा 'सरलता, ज्ञानप्रकाश व सामर्थ्य' प्राप्त करें (११)। हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का ही पोषण हो (१२)। 'प्राण हमें जितेन्द्रियता प्राप्त करानेवाले हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८६] षटशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'सुगोपा-तम' जन

मरु॑तो॒ यस्य॒ हि क्षये॑ पा॒था दि॒वो वि॑महसः। स सु॑गो॒पात॑मो॒ जनः॑ ॥१॥

१. हे **दिवः**=(दिव् विजिगीषा) रोगों को जीतने की कामना करनेवाले **विमहसः**=विशिष्ट तेजस्विता व दीप्तिवाले **मरुतः**=प्राणो ! आप **यस्य**=जिस पुरुष के **क्षये**=शरीररूप गृह में (क्षि निवासगत्योः) **हि**=निश्चय से **पाथ**=सोम का रक्षण करते हो **सः जनः**=वह मनुष्य **सुगोपा-तमः**=इन्द्रियों का सर्वोत्तम रक्षक होता है। २. प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना होने पर शरीर के रोग नष्ट होते हैं, बुद्धि का प्रकाश दीप्त होता है। शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होकर शरीर की शक्तियों का विकास होता है। यह पुरुष अपना उत्तम रक्षण करनेवाला होता है। इसकी इन्द्रियों की शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। सुरक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति का रक्षण करता है। इस प्रकार यह पुरुष 'सुगोपातम' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर में ही सोम का पान करें, जिससे कि सब इन्द्रियों की शक्ति अक्षीण बनी रहे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यज्ञशील व ज्ञानी

य॒ज्ञैर्वा॑ यज्ञवाहसो॒ विप्र॑स्य वा म॒तीनाम्। मरु॑तः शृणु॒ता हव॑म् ॥२॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो ! आप **वा**=या तो **यज्ञैः**='देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप' उत्तम कर्मों से **यज्ञवाहसः**=उस पूज्य प्रभु का वहन करनेवाले (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः), **विप्रस्य**=कमियों को दूर

करके अपना पूरण करनेवाले पुरुष की **हवम्**=प्रार्थना को **शृणुत**=सुनते हो। **वा**=या **मतीनाम्**=मननशील ज्ञानी पुरुषों की पुकार को सुनते हो। २. जिस प्रकार एक विशिष्ट भोजन के सेवन से कोई व्यक्ति खूब पुष्ट शरीरवाला हो जाता है तो कहा जाता है कि 'भोजन तो इसको अनुकूल पड़ा' अथवा 'भोजन ने इसकी बात सुनी'। इसी प्रकार यहाँ 'प्राणों ने इसकी पुकार सुनी' यह वाक्यविन्यास तब प्रयुक्त होता है जबकि एक व्यक्ति (क) यज्ञशील बनकर प्रभु की उपासना करता हुआ अपनी कमियों को दूर करता है अथवा (ख) खूब ज्ञानसम्पन्न बनता है। वस्तुतः प्राणसाधना के ये दो परिणाम हैं कि मनुष्य यज्ञशील बनता है और बुद्धि को अत्यन्त तीव्र कर पाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करेंगे तो हमारी यज्ञवृत्ति का विकास होगा और तीव्रबुद्धि बनकर हम ज्ञान का संग्रह कर पाएँगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

गोमान् व्रज में

उत वा यस्य वाजिनोऽनु विप्रमतक्षत। स गन्ता गोमति व्रजे ॥३॥

१. गत मन्त्र के प्रसङ्ग को ही आगे चलाते हुए कहते हैं कि **उत वा**=और या हे प्राणो! आप **यस्य वाजिनः**=जिस शक्तिशाली पुरुष के **अनु**=अनुकूल होते हुए **विप्रम्**=विशिष्ट ज्ञानी को **अतक्षत**=बनाते हो **सः**=वह ज्ञानी पुरुष **गोमति व्रजे**=प्रशस्त इन्द्रियरूप गौओंवाले इस शरीररूप बाड़े में **गन्ता**=प्राप्त होनेवाला होता है। २. प्राणसाधना से शक्ति भी बढ़ती है और ज्ञान भी बढ़ता है। इस प्राणसाधना से इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं। इन्द्रियाँ ही मानो गौएँ हैं, शरीर उनका बाड़ा है। प्राणसाधक का यह बाड़ा उत्तम इन्द्रियरूप गौओंवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्ति व ज्ञान की वृद्धि होकर कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम बनती हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—मरुतः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

स्तवन व आनन्द

अस्य वीरस्य बर्हिषि सुतः सोमो दिविष्टिषु। उक्थं मदश्च शस्यते ॥४॥

१. **अस्य वीरस्य**=प्राणसाधना के द्वारा वीर बने हुए इस पुरुष के **बर्हिषि**=यज्ञों के होने पर तथा **दिविष्टिषु**=(दिव एषणेषु—निरु० ६।२२) ज्ञान की एषणाओं में—ज्ञानप्राप्ति की कामनाओं में **सोमः सुतः**=सोम का सम्पादन होता है। जब मनुष्य कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहता है और ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति की कामनावाला बना रहता है तो वह वासनाओं का शिकार नहीं होता। बस, वासनाओं से आक्रान्त न होना ही सोम के सम्पादन का साधन है। वासना सोम=वीर्य की विनाशक है। २. सोम का रक्षण होने पर इस वीर पुरुष के जीवन में **उक्थम्**=स्तोत्र—प्रभुस्तवन चलता है **च**=और **मदः**=आनन्द का अनुभव होता है। इस वीर के जीवन की ये दो ही बातें **शस्यते**=प्रशंसनीय होती हैं। प्रभुस्तवन व आनन्दमय मन इसके जीवन को स्तुत्य बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—वीर पुरुष कर्मेन्द्रियों को यज्ञों में और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाता है। इस प्रकार सोम का रक्षण करता हुआ स्तवन व आनन्दमय मन से जीवन को प्रशस्त करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभुप्रेरणा का श्रवण

अस्य श्रोषन्त्वा भुवो विश्वा यश्चर्षणीरभि । सूरं चित्सस्रुषीरिषः ॥५॥

१. **आभुवः**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त होनेवाले प्राण **अस्य**=इस आराधक की प्रार्थना को **श्रोषन्तु**=सुनें **या**=जो **विश्वा चर्षणीः अभि**=सब मनुष्यों की ओर जानेवाला होता है, सभी के हित का ध्यान करता है। प्राणसाधक पुरुष स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठकर परार्थ में चलता है। २. इस **सूरम्**=ज्ञानी पुरुष को **इषः चित्**=प्रेरणाएँ भी **सस्रुषीः**=प्राप्त होती हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान बढ़ता है और हृदय की निर्मलता के कारण अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाएँ सुन पड़ती हैं। इन परिणामों को देखकर कहते हैं कि 'प्राणों ने इस व्यक्ति की प्रार्थना को सुना'।

भावार्थ—प्राणसाधक लोकहित के कर्म करता है, ज्ञानी बनता है, प्रभु की प्रेरणा को सुन पाता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

जीवन के पूर्वाह्ण में

पूर्वीभिर्हि ददाशिम शरद्भिर्मरुतो वयम् । अवोभिश्चर्षणीनाम् ॥६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो ! **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **पूर्वीभिः शरद्भिः**=जीवन के पहले वर्षों से ही **ददाशिम**=आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। पचास वर्ष बीत जाने पर प्राणसाधना का विचार उत्पन्न हुआ तो यथेष्ट लाभ होना सम्भव नहीं। शक्ति के संयम की आवश्यकता पचास वर्ष से पूर्व ही अधिक होती है, अतः यही समय प्राणसाधना के लिए उपयुक्ततम है। २. **चर्षणीनाम्**=(सर्वस्य द्रष्टृणाम्) सबके द्रष्टा, सबका पालन व पूरण करनेवाले आप प्राणों के **अवोभिः**=रक्षण के हेतु से अर्थात् आपका रक्षण प्राप्त करने के लिए हम अपने को प्राणसाधना में व्यापृत करते हैं। प्राणसाधना करेंगे तो शक्ति का रक्षण होकर हम रोगों से आक्रान्त न होंगे।

भावार्थ—प्रारम्भिक जीवन से ही प्राणसाधना में लग जाना चाहिए।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—मरुतः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सुभग

सुभगः स प्रयज्यवो मरुतो अस्तु मर्त्यः । यस्य प्रयांसि पर्षथ ॥७॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो ! आप **प्रयज्यवः**=प्रकर्षेण यष्टव्याः—संगतिकरण के योग्य हो। हमें प्राणसाधना से अपना अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। एवं हे प्रयज्यु प्राणो ! **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य **सुभगः अस्तु**=अत्यन्त सौभाग्यशाली होता है, **यस्य**=जिसके **प्रयांसि**=अन्नों को (Food) **पर्षथ**=आप स्वीकार (to accept) करते हो। प्राणापान-समायुक्त ही वैश्वानर अग्नि चतुर्विध अन्न का पाचन करती है। यह प्राणों द्वारा अन्न का स्वीकार है। प्राणापान का कार्य ठीक होने पर भूख ठीक लगती है। अन्न के ठीक पाचन से स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त होता है। यह सौन्दर्य मनुष्य को सुभग बनाता है। २. प्राणसाधना सब उन्नतियों व सौभाग्यों के मूल में है, अतः प्राण 'प्रयज्यु'=अत्यन्त संगतिकरण के योग्य हैं। गत मन्त्र के संकेत के अनुसार इनकी साधना प्रारम्भिक जीवन में ही आरम्भ हो जानी चाहिए।

भावार्थ—प्राणसाधना से भूख ठीक लगती है। अन्न का ठीक पचन हमें स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्रदान करता है, हम सुभग बनते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—मरुतः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

सत्यवादी मेधावी

शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः । विदा कामस्य वेनतः ॥८॥

१. हे **नरः**=(नृ नये) उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले मरुतो ! आप **कामस्य विद**=इच्छा को (लम्भयत) प्राप्त कराते हो, पूर्ण करते हो, किसकी ?—जोकि (क) **शशमानस्य**=(शश प्लुतगतौ) स्फूर्ति से कार्य करनेवाला है, जिसमें नाममात्र भी आलस्य नहीं है । (ख) **वा**=अथवा **स्वेदस्य** जो श्रम के द्वारा अपने को पसीने से तरबतर कर लेता है, अत्यन्त श्रमशील है । (ग) **सत्यशवसः**=सत्य के बलवाला है—जो सत्य के द्वारा अपने मन को सदा शुद्ध रखता है और (घ) **वेनतः**=जो विचारशील, मेधावी व स्तुति की प्रवृत्तिवाला है (to reflect, to see, to worship) । २. वस्तुतः प्राणसाधना के द्वारा ही हममें वे गुण उत्पन्न होते हैं जोकि 'शशमानस्य, स्वेदस्य, सत्यशवसः तथा वेनतः' शब्दों से सूचित हो रहे हैं । प्राणसाधना हमें 'प्लुतगतिवाला, अत्यन्त श्रमशील, सत्यप्रधान तथा मेधावी' बनाती है ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम आलस्य से ऊपर उठकर श्रमशील, सत्यवादी व मेधावी बनें ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—मरुतः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

रक्षो-वेधन

यूयं तत्सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना । विध्यता विद्युता रक्षः ॥९॥

१. हे **सत्यशवसः**=सत्य के बलवाले मरुतो ! **यूयम्**=आप **महित्वना**=अपनी महिमा से **तत्**=उस शक्ति को **आविष्कर्त**=प्रकट करो जिससे कि **विद्युता**=विशिष्ट दीप्ति से **रक्षः**=राक्षसी भावना को **विध्यत**=विद्ध करो । ज्ञान के द्वारा राक्षसी भावनाओं को हमसे दूर करो । २. प्राणसाधक पुरुष की बुद्धि सूक्ष्म होती है, उसका ज्ञान दीप्त होता है और उस दीप्त ज्ञान में सब राक्षसी भावनाएँ जल जाती हैं । प्राणशक्ति शरीर को ही स्वस्थ नहीं बनाती, वह मन व मस्तिष्क को भी निर्मल व दीप्त बनाती है ।

भावार्थ—प्राणसाधना से एक विशिष्ट ज्ञानदीप्ति उत्पन्न होती है, जिस दीप्ति में सब राक्षसी वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

ज्योति का प्रादुर्भाव

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम् । ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥१०॥

१. हे प्राणो ! **गुह्यं तमः**=बुद्धिरूप गुहा में होनेवाले अज्ञानान्धकार को **गूहत**=संवृत करो—हमसे दूर करो, (विनाशयत—सा०) नष्ट करो । प्राणसाधना से ज्ञानदीप्ति प्रकट होती है । यह ज्ञानदीप्ति अन्धकार को नष्ट करनेवाली है । २. **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें प्रविष्ट हो जानेवाले **अत्रिणम्**=(अद भक्षणे) हमारी शारीरिक, मानस व बौद्धिक उन्नतियों को खा जानेवाले काम, क्रोध व लोभ को **वियात**=हमसे दूर करो । प्राणसाधना का दूसरा लाभ यह है कि शरीर के नाशक 'काम' का, मन को विकृत करनेवाले 'क्रोध' का तथा बुद्धि के विनाशक 'लोभ' का नाश होता है । ३. इनका नाश करके हे प्राणो ! आप उस **ज्योतिः**=ब्रह्म के प्रकाश को **कर्त**=कीजिए **यत्**=जिसे **उश्मसि**=हम चाहते हैं । हमारी इच्छा होती है कि हम ब्रह्म की ज्योति का दर्शन करें । 'काम, क्रोध, लाभ' उस ज्योति के दर्शन से हमें वञ्चित करते हैं । प्राणसाधना इन कामादि को नष्ट करके हमें उस ज्योति का दर्शन कराती है ।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, (ख) 'काम-क्रोध-लोभ' दूर होते हैं, (ग) ब्रह्मज्योति का दर्शन होता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि 'प्राणसाधक पुरुष सुगोपातम बनता है (१)। यह साधक यज्ञशील व ज्ञानी होता है (२)। इस साधक की कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशस्त होती हैं (३)। यह साधक स्तवन व आनन्दमय मन से जीवन को प्रशस्त बनाता है (४)। यह साधक प्रभु की प्रेरणा को सुन पाता है (५)। प्राणसाधना में वह प्रारम्भिक जीवन से ही लग जाता है, (६) अतएव सुभग होता है (७)। सत्यवादी व मेधावी बनता है (८)। राक्षसी वृत्तियों का वेधन करता है (९)। ब्रह्मज्योति का दर्शन करता है (१०)। 'प्राणसाधक पुरुष उत्तम गुणों से चमक उठते हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८७] सप्ताशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—निषादः।

प्राणसाधक का अलंकृत जीवन

प्रत्वक्षसः प्रतवसो विरप्शिनोऽनानता अविथुरा ऋजीषिणः।
जुष्टतमासो नृतमासो अञ्जिभिर्व्यानज्रे के चिदुस्राइव स्तृभिः ॥१॥

१. प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **प्रत्वक्षसः**=अपने शत्रुओं को तनूकृत करनेवाले होते हैं अथवा अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हैं। **प्रतवसः**=प्रकृष्ट बल से युक्त होते हैं। इस प्रकार बुद्धि और बल को बढ़ाकर ये **विरप्शिनः**=महान् बनते हैं अथवा (वि+रप्) उत्कृष्ट स्तुति के शब्दों का उच्चारण करनेवाले होते हैं। इस प्रकार 'प्रत्वक्षसः' शब्द इनकी बुद्धि के उत्कर्ष की सूचना देता है। 'प्रतवसः' से शारीरिक बल का उल्लेख हुआ है और 'विरप्शिनः' शब्द हृदय की प्रशस्तता का संकेत करता है। इनके हृदय में प्रभु की महिमा की भावना जागती है और उसी को ये वाणी से उच्चारण करनेवाले होते हैं। २. **अनानताः**=प्रभु का स्मरण करते हुए ये संसार में अन्याय से दबते नहीं। प्रभुस्मरण इन्हें वह शक्ति प्राप्त कराता है जोकि इन्हें शत्रुओं के सामने झुकने नहीं देती। ये **अविथुराः**=कम्पभय से रहित होते हैं, शत्रुओं से कम्पित नहीं हो जाते। **ऋजीषिणः**=(Hastening towards, seining, driving away) ये शत्रुओं पर आक्रमण करके उन्हें काबू कर लेते हैं और उन्हें अपने से दूर भगा देते हैं। ३. **जुष्टतमासः**=शत्रुओं को दूर भगाकर ये (जुषी प्रीतिसेवनयोः) प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करनेवाले होते हैं। **नृतमासः**=इस उपासना के द्वारा अपने को आगे और आगे ले-चलते हैं। उन्नतिपथ पर चलते हुए ये **केचित्**=इनेगिने लोग **अञ्जिभिः**=सुशोभित करनेवाले सद्गुणों से उसी प्रकार **व्यानज्रे**=सुशोभित दिखते हैं (व्यक्ता दृश्यन्ते—सा०) **इव**=जैसे **उस्रा**=प्रातःकाल (Morning) या चमकता हुआ आकाश (Bright sky) **स्तृभिः**=तारों से सुशोभित होता है। एक-एक सद्गुण उसके जीवन के आकाश में एक-एक तारे के समान होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना 'बुद्धि, शरीर व हृदय' तीनों को प्रशस्त करती है। प्राणसाधक कामादि शत्रुओं को नष्ट करता हुआ अपने जीवन को सद्गुणों से मण्डित करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—मरुतः । छन्दः—विराड् जगती । स्वरः—निषादः ।

अर्चना व वृष्टि

उपह्वरेषु यदचिध्वं ययिं वयइव मरुतः केन चित्पथा ।
श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते ॥२॥

१. आधिदैविक जगत् में 'मरुतः' का अर्थ है वायुएँ । ये वायुएँ मेघों को उस-उस स्थान में प्राप्त कराके वर्षा करवाती हैं । इस बात को मन्त्र में इस प्रकार कहा है कि हे **मरुतः**=वायुओ ! आप **वयः इव** =पक्षियों की भाँति **केनचित् पथा**=किसी आकाश-मार्ग से गति करती हुई **उपह्वरेषु**=(उपह्वरन्ति येषु) जिनमें कुटिलता से—टेढ़े-मेढ़े मार्ग से गति की जाती है, उन आकाश के प्रदेशों में **ययिम्**=इस गतिशील मेघ को **यत्**=जब **अचिध्वम्**=वर्षण-सामर्थ्य से उपचित करते हो, परिपूर्ण जलवाला करते हो, उस समय **कोशाः**=मेघ (नि० १।१०) **वः रथेषु**=आपके रथों में **उप**=समीपता से युक्त हुए-हुए **श्चोतन्ति**=वृष्टि-जल को क्षरित करते हैं । मेघ मानो वायु के रथ पर बैठकर इन आकाश-मार्गों से एक स्थान पर एकत्र होते हैं और वहाँ अपने जल को बरसाते हैं । मानसून हवाएँ इन बादलों को लाती हैं । ये ही यहाँ 'मरुतः' कही गई हैं । इस प्रकार **मरुतः**=हे वायुओ ! आप **अर्चते**=अर्चन व पूजन करनेवाले के लिए **मधुवर्णम्**= मधु के वर्णवाले अर्थात् अत्यन्त स्वच्छ व दीप्त **घृतम्**=जल को **आ उक्षत**=समन्तात् सिक्त करो । यहाँ यह स्पष्ट है कि जहाँ प्रभुपूजन व बड़ों का आदर होता है वहाँ अनावृष्टिरूप आधिदैविक आपत्ति नहीं आती ।

भावार्थ—वायुएँ आकाश-प्रदेशों में मेघों को लाकर वृष्टि करती है । जहाँ बड़ों का मान व प्रभुभजन चलता है, वहाँ अनावृष्टि-भय नहीं होता **'न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति'**—जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों पर अत्याचार होता है अथवा सत्य (ब्रह्म) को दबाया जाता है, वहाँ वृष्टि नहीं होती ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—मरुतः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

क्रीडयः धुनयः

प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे ।
ते क्रीळयो धुनयो भ्राजदृष्टयः स्वयं महित्वं पनयन्त धूतयः ॥३॥

१, गत मन्त्र में 'मरुत' शब्द वायुओं के लिए प्रयुक्त हुआ था । ये 'मरुत' आधिभौतिक जगत् में वीर सैनिक हैं । उनका चित्रण करते हुए कहते हैं कि **एषाम्**=इन युद्धभूमि में ही प्राण त्यागनेवाले (म्रियन्ते), कायरता से भाग खड़े न होनेवाले वीर सैनिकों के **अज्मेषु**=जिनमें गति के द्वारा सब विघ्नों को उखाड़कर फेंक दिया जाता है, उन **यामेषु**=मार्गों में **यत् ह**=जब निश्चय से **शुभे**=अपने देश की शोभा की वृद्धि के लिए **युञ्जते**=अपने रथों को जोतते हैं तो **भूमिः**=यह भूमि **विथुरा इव**=भर्तृ वियुक्त पत्नी की भाँति **रेजते**=काँप उठती है । इन वीर सैनिकों के रथों की गतियों से ही शत्रुओं के मानस में भय का सञ्चार हो उठता है । इन वीर सैनिकों का यह रथ का योजन सदा अपने देश की शोभा की वृद्धि के लिए होता है । ये कभी भी दूसरों पर आक्रमण करने के लिए रथयोजन न करके अपने देश के रक्षण के लिए ही ऐसा करते हैं । २. **ते**=वे वीर सैनिक **क्रीळयः**=युद्ध को एक क्रीड़ा समझनेवाले, युद्ध में न घबराकर उसे उत्साह व आनन्दपूर्वक करनेवाले, **धुनयः**=शत्रुओं को धुन डालनेवाले, **भ्राजत् ऋष्टयः** =दीप्यमान आयुधोंवाले होते हैं । यहाँ 'क्रीळयः' शब्द इस भाव को भी व्यक्त कर रहा है कि हाकी,

फुटबाल, क्रिकेट आदि क्रीड़ाएँ इन सैनिकों के खाली समय के सदुपयोग के लिए ही उचित हैं। ये खेलें विद्यार्थियों व अन्य नागरिकों के लिए ठीक नहीं हैं। ३. ये **धूतयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले वीर सैनिक **स्वयम्**=अपने-आप अपने कर्मों से ही **महित्वम्**=अपनी महिमा को **पनयन्त**=प्रकट करनेवाले होते हैं। इनके वीरतापूर्ण कर्मों के कारण इनकी प्रशंसा होती ही है।

भावार्थ—देश के सैनिक वीर हों। इनके रथों की गति शत्रुओं को कम्पित करनेवाली हो। इनके वीरतापूर्ण कार्य इनकी प्रशंसा के कारण बनें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

स्वसृत्-अनेद्यः

स हि स्वसृत्पृषदश्वो युवा गणो३ऽया ईशानस्तविषीभिरावृतः।
असि सत्य ऋणयावानेद्योऽस्या धियः प्राविताथा वृषा गणः॥४॥

१. **सः**=वह **युवा**=देश को परतन्त्रता से पृथक् करनेवाला (अमिश्रण) तथा स्वतन्त्रता व शोभा से युक्त करनेवाला (मिश्रण) **गणः**=वीर सैनिकों का गण **हि**=निश्चय से **स्व-सृत्**=स्वयं देश के रक्षण के लिए अग्रसर होता है। उन वीर सैनिकों में देश-प्रेम की भावना भरने के लिए अन्य पुरुषों की आवश्यकता नहीं होती। ये वीर सैनिक **पृषदश्वः**=(पृषत्=मृग) मृगों के समान शीघ्र गतियुक्त अश्वोंवाले होते हैं और इस प्रकार शत्रुओं के भय से देश को बचाकर ये **अया**=(स्य=याच्) इस राष्ट्र के **ईशानः**=ईशान होते हैं। यह सैनिकगण **तविषीभिः**=असाधारण बलों से **आवृतः**=युक्त होता है। २. इसी वीर सैनिकगण से पुरोहित कहता है कि—**सत्यः असि**=हे वीर सैनिकगण! तू सत्य है। असत्य कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला नहीं है। लूट-खसोट व स्त्रियों में आसक्त हो जाने की वृत्ति तुझमें नहीं है। **ऋणयावा**=देश के ऋण को अदा करनेवाला तू है (या=अपगमन), देश की रक्षा के द्वारा तू देश के ऋण को चुकाता है। प्रत्येक राष्ट्र सैनिकों पर जो व्यय करता है, उस ऋण से ये सैनिक देश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण देकर अनृण होते हैं। **अनेद्यः**=तू अनिन्दनीय होता है। तेरे कार्य राष्ट्र को कलंकित करनेवाले नहीं होते। **अथ**=और **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाला होकर तू **अस्याः धियः**=इन कर्मों का **प्र अविता**=प्रकर्षेण रक्षक होता है। सैनिकों से सुरक्षित राष्ट्र में ही सब कार्य सुचारुरूपेण चलते हैं। रक्षित राष्ट्र में ही ब्राह्मणों के अध्यापन व यज्ञादि के कार्य होते हैं, इसी राष्ट्र में व्यापारियों के व्यापार चलते हैं और कृषकों के कृषि आदि कार्य हुआ करते हैं। इस प्रकार **गणः**=ये वीर सैनिक प्रशंसनीय व गणनीय होते हैं।

भावार्थ—हमारे वीर सैनिक अपने कार्यों से देश के यश को उज्ज्वल करनेवाले हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराट् जगती। स्वरः—निषादः।

सुरक्षित राष्ट्र में 'सुन्दर जीवन'

पितुः प्रत्नस्य जन्मना वदामसि सोमस्य जिह्वा प्र जिगाति चक्षसा।
यदीमिन्द्रं शम्यृक्वाण आशतादिन्नामानि यज्ञियानि दधिरे॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार वीर सैनिकों से सुरक्षित राष्ट्र में अपने जीवनों को सुन्दर बनाते हुए हम **जन्मना**=जन्म से ही, छोटी अवस्था से ही **प्रत्नस्य पितुः**=उस सनातन पिता प्रभु का **वदामसि**=नामोच्चारण करते हैं। माता-पिता बच्चों का पालन व शिक्षण इस प्रकार करते हैं कि उनके बच्चों में भी प्रभु-उपासना की वृत्ति पैदा हो जाती है। २. **सोमस्य जिह्वा**=सोम व शान्त स्वभाव के पुरुष की

वाणी **चक्षसा**=ज्ञान के प्रकाश के हेतु से **प्रजिगाति**=गतिवाली होती है। घर में प्रमुख पुरुष अत्यन्त शान्त स्वभाववाला बनता है और वह उन्हीं शब्दों का उच्चारण करता है जो सन्तानों के ज्ञानवृद्धि का कारण बनते हैं। ३. **यत्**=जब यह **ईम्**=निश्चय से **शमि**=शान्तभाव से किये जानेवाले यज्ञादि कर्मों में **ऋक्वणः**=उस प्रभु का स्तवन करता हुआ **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **आशत**=व्याप्त करता है—प्राप्त करता है। **आत् इत्**=अब निश्चय से उस मुख्य पुरुष का अनुकरण करते हुए घर के सब व्यक्ति **यज्ञियानि**=प्रभु की पूजा से युक्त **नामानि**=पवित्र नामों को **दधिरे**=धारण करते हैं। जिस घर में प्रभु का स्मरण चलता है, वहाँ निश्चय से धर्म व कल्याण का वास होता ही है। सुन्दर घर वही है जिसमें—(क) प्रभु का नाम स्मरण होता है, (ख) यज्ञादि कर्म चलते हैं, (ग) ज्ञानवृद्धिकारक शब्दों का ही प्रयोग होता है।

भावार्थ—हम सन्तानों में ऐसी वृत्ति पैदा करें कि वे प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, ज्ञान की ओर झुकाव रखते हों, यज्ञादि कर्मों में उनकी रुचि हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

अभीरुता—निर्भयता

श्रियसे कं भानुभिः सं मिमिक्षिरे ते रश्मिभिस्त ऋक्वभिः सुखादयः।
ते वाशीमन्त इष्मिणो अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः॥६॥

१. गत मन्त्र के सुन्दर जीवनवाले व्यक्ति **कम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रजापति को **श्रियसे**=(श्रयितुम्) आश्रय करने के लिए **भानुभिः**=ज्ञान की दीप्तियों से **संमिमिक्षिरे**=अपने को सम्यक् सिक्त करते हैं। ज्ञानदीप्ति ही अन्ततः विवेकख्याति का कारण बनती है और हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनते हैं। **ते**=वे ब्रह्म की ओर चलनेवाले व्यक्ति **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से तो अपने को युक्त करते ही हैं, साथ ही **ते**=वे **ऋक्वभिः**=(ऋच् स्तुतौ) स्तुति की मधुर वाणियों से भी अपने को युक्त करते हैं। ये ज्ञान और स्तवन उन्हें प्रभु के श्रयण के लिए समर्थ करते हैं। २. ये पुरुष **सुखादयः**=उत्तम सात्त्विक भोजन करनेवाले होते हैं। यह सात्त्विक भोजन ही उनकी वृत्ति को भी सात्त्विक बनाता है। **ते**=वे सात्त्विक भोजनवाले पुरुष **वाशीमन्तः**=प्रभु की स्तुति की वाणीवाले तो होते ही हैं **इष्मिणः**=उन स्तुति-शब्दों से सूचित मार्ग पर गतिवाले भी होते हैं। प्रभु को दयालु रूप में स्मरण करते हुए ये स्वयं भी दया को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। ३. प्रभुस्मरण के कारण ही **अभीरवः**=ये भीरु नहीं होते—मृत्यु के भय से भी भयभीत नहीं होते। प्राणसाधना करते हुए ये लोग **प्रियस्य**=प्रीति को उत्पन्न करनेवाली **मारुतस्य**=प्राण-सम्बन्धी **धाम्नः**=तेजस्विता को **विद्रे**=प्राप्त करनेवाले होते हैं, प्राणायाम के द्वारा अपने को तेजस्वी बनाते हैं। प्राणायाम ही इन्हें ऊर्ध्वरेतस् बनाता है और इनकी प्रवृत्ति भोगप्रवण न होकर प्रभुप्रवण बनती है।

भावार्थ—ज्ञान व स्तवन हमें प्रभु की ओर ले-चलते हैं। हम सात्त्विक भोजन करें, प्रभुस्तवन करें—उन बातों को अपने जीवन में धारण करें। प्राणसाधना के द्वारा तेजस्वी बनते हुए अभीरु बनकर जीवनमार्ग का आक्रमण करें।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्राणसाधक का जीवन सद्गुणालंकृत होता है (१)। समाप्ति पर भी यही बात कही है (६)। द्वितीय मन्त्र में यह संकेत है कि प्रभु-अर्चना होने पर अनावृष्टि आदि आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं आतीं (२)। राष्ट्र के सैनिक भी वीर होते हैं (३)। ये अनिन्दित

कर्मोंवाले होते हैं (४)। इनसे रक्षित राष्ट्र में सबका जीवन सुन्दर होता है (५)। 'प्राण हमें उत्तम शरीररूप रथ को प्राप्त कराएँ'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

विद्युन्मान् रथ

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥१॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप हमें **रथेभिः**=शरीररूप रथों से **आयात**=प्राप्त होओ। जो शरीररूप रथ **विद्युन्मद्भिः**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं, **स्वर्कैः**=उत्तम अर्चनावाले हैं तथा **ऋष्टिमद्भिः**=उत्तम आयुधोंवाले हैं तथा **अश्वपर्णैः**=अश्वों के समान शीघ्रता से पतन व गतिवाले हैं। इस शरीररूप रथ में बुद्धि के ठीक होने से ज्ञान का प्रकाश उत्तम है एवं यह 'वि-द्युत्-मान्' है। हृदय की उत्तमता के कारण यह उत्तम अर्चना व पूजन की वृत्तिवाला है—स्वर्क है और इसमें इन्द्रियादि सब उपकरण ठीक हैं—(ऋष्टिमद्भिः) और ये रथ दृढ़शक्तिवाले होने से शीघ्रता से गतिवाले हैं। २. हे **सुमायाः**=उत्तम प्रज्ञावाले मरुतो! आप **नः**=हमें **वर्षिष्ठया**=सब उत्तम सुखों का वर्षण करनेवाली **इषा**=प्रेरणा से उसी प्रकार **पप्तत**=शीघ्रता से प्राप्त होओ **न**=जैसे **वयः**=पक्षी शीघ्रता से घौंसलों को प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि सूक्ष्म होती है, अतः ये 'सुमायाः' हैं। इन्हीं की साधना से हृदय निर्मल होकर हमें प्रभु-प्रेरणा के सुनने योग्य बनाता है। यह प्रेरणा ही कार्यान्वित होने पर सब सुखों का कारण बनती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीररूप रथ 'विद्युन्मान्, स्वर्क, ऋष्टिमान् व अश्वपर्ण' बनता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

'अरुण पिशंग' अश्व

तेऽरुणेभिर्वरमा पिशङ्गैः शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः।
रुक्मो न चित्रः स्वधितीवान्पव्या रथस्य जङ्घनन्त भूम ॥२॥

१. **ते**=वे, गतमन्त्र में वर्णित प्राणसाधक पुरुष **अरुणेभिः**=(ऋ+उनन) गतिशील अतएव तेजस्वी **पिशंगैः**=(पिश् to light, irradiate) प्रकाश को प्राप्त करनेवाले, उज्ज्वल, **रथतूर्भिः**=शरीररूप रथ को त्वरा से मार्ग पर ले-चलनेवाले **अश्वैः**=इन्द्रियरूप अश्वों से **शुभे**=शोभा के लिए **वरम्**=श्रेष्ठ कर्मों को और **कम्**=(light, splendour) ज्ञान के प्रकाश को **आयान्ति**=सर्वथा प्राप्त होते हैं। 'अरुण' शब्द कर्मेन्द्रियों का संकेत करता है तो 'पिशंग' शब्द ज्ञानेन्द्रियों को सूचित करता है। कर्मेन्द्रियों से 'वरम्' श्रेष्ठ कर्मों को प्राप्त होते हैं तो ज्ञानेन्द्रियों से 'कम्' ज्ञान प्राप्त होता है। २. इस प्रकार यह प्राणसाधक पुरुष **रुक्मः न**=स्वर्ण के समान **चित्रः**=अद्भुत ज्ञान की दीप्तिवाला होता है। **स्वधितीवान्**=(स्व) आत्मतत्त्व के (धिती) धारण करनेवाला बनता है। ये प्राणसाधक पुरुष **रथस्य**=इस शरीररूपी रथ की **पव्या**=चक्रधारा से **भूम**=खूब ही **जङ्घनन्त**=गतिवाले होते हैं। ये अनथक श्रमशील होते हैं। एवं प्राणसाधना से (क) ज्ञान बढ़ता है, (ख) आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है, (ग) क्रियाशीलता बढ़ती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही प्रशस्त होती हैं। ज्ञान व क्रिया दोनों प्रशस्त होकर आत्मतत्त्व का दर्शन होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुरूप धन

श्रिये कं वो अधि तनूषु वाशीर्मेधा वना न कृणवन्त ऊर्ध्वा।
युष्मभ्यं कं मरुतः सुजातास्तुविद्युम्नासो धनयन्ते अद्रिम् ॥३॥

१. हे जीवो! **मरुतः**=प्राण **वः श्रिये**=तुम्हारी शोभा के लिए **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **कृण्वन्त**=प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होकर जब यह निरुद्ध चित्तवृत्ति प्रभु की ओर झुकती है—उस समय मनुष्य एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। २. ये प्राण **वः तनूषु**=तुम्हारे शरीरों में **वाशीः**=ज्ञान की वाणियों को **मेधा**=धारणवती बुद्धि को **न**=(च) और **वना**=(वन संभक्तौ) उपासनाओं को **ऊर्ध्वा**=उन्नत **कृण्वन्त**=करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा बुद्धि सूक्ष्म होती है (मेधा), मनुष्य ज्ञान की वाणियों को ग्रहण करनेवाला होता है (वाशीः) और उसकी चित्तवृत्ति उपासना-प्रवण होती है (वना)। ३. हे मनुष्यो! **सुजाताः**=उत्तम विकासवाले, **तुविद्युम्नासः**=(द्युम्न=splendour, energy) महान् ज्योति व शक्तिवाले **मरुतः**=प्राण **कम्**=आनन्दमय **अद्रिम्**=(आदरणीयम्, निरु० ६।८) आदरणीय प्रभु को **धनयन्ते**=(धनं कुर्वन्ति) धन बनाते हैं। प्राणसाधना से सब शक्तियों का विकास होता है, ज्ञानज्योति व शक्ति बढ़ती है। चित्तवृत्ति की एकाग्रता के द्वारा आनन्दमय प्रभु का दर्शन होने से प्रभु ही महान् धन प्रतीत होने लगता है। उस प्रभुरूप धन की तुलना में ये भौतिक धन अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शोभा बढ़ती है, बुद्धि व उपासनावृत्ति का विकास होता है—प्रभु ही इष्ट धन हो जाते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

बुद्धि, दिव्यवृत्ति व ज्ञान

अहानि गृध्राः पर्या व आगुरिमां धियं वार्कार्यां च देवीम्।
ब्रह्म कृण्वन्तो गोतमासो अर्कैरूर्ध्वं नुनुद्र उत्सधिं पिबध्यै ॥४॥

१. हे **गृध्राः**=ज्ञानप्राप्ति की प्रबल आकांक्षावाले **गोतमासः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषो! **वः**=आपको **अहानि**=वे दिन **परि आगुः**=समन्तात् प्राप्त होते हैं, जबकि आप प्रभु से प्रेरणा की जानेवाली **इमां धियम्**=इस बुद्धि को, **वार् कार्याम्**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाली **देवीम्**=दिव्य वृत्ति को **च**=और **ब्रह्म**=उत्कृष्ट ज्ञान को **कृण्वन्तः**=(हेतौ शतृप्रत्ययः) करने के हेतु से **ऊर्ध्वम्**=सर्वोत्कृष्ट **उत्सधिम्**=(उत्सा धीयन्तेऽस्मिन्) सब ज्ञान-स्रोतों को धारण करनेवाले प्रभु को **अर्कैः**=स्तुतिसाधन मन्त्रों से **नुनुद्रे**=अपने हृदयों में प्रेरित करते हैं, अपने हृदयों में उस प्रभु को आसीन करने के लिए यत्नशील होते हैं। इसलिए कि वे **पिबध्यै**=इस ज्ञान के पवित्र जलों का पान कर सकें अथवा **'रसो वै सः'**—इन शब्दों के अनुसार उस रसरूप प्रभु का लाभ करके आनन्दित हो सकें। **'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'**। २. जीवन के उत्कर्ष के लिए हमें तीन बातों को प्राप्त करना है—(क) बुद्धि (धियम्), (ख) दिव्यवृत्ति (देवीम्) व (ग) ज्ञान (ब्रह्म)। इन तीनों की प्राप्ति के लिए हम अपने हृदयों में प्रभु

को आसीन करने के लिए यत्नशील हों। प्रभु को हृदय में आसीन करने पर हम ज्ञान तो प्राप्त करते ही हैं। वे प्रभु 'उत्सधि' हैं—सब ज्ञान के स्रोतों को धारण करते हैं। प्रभु से ही सब ज्ञान-प्रवाह बहते हैं। इस प्रभु को हृदय में आसीन करने पर हम अद्भुत आनन्द का पान करनेवाले होते हैं। प्रभु 'रस' हैं। इस रस को प्राप्त करके ही तो मनुष्य आनन्दित होता है। ३. इस सबको कर सकने के लिए हम 'गृध्र'=ज्ञानप्राप्ति की प्रबल लालसावाले हों और **'गोतमासः'**=प्रशस्तेन्द्रिय बनें।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदय में आसीन करेंगे तो 'बुद्धि, दिव्यवृत्ति व ज्ञान' को प्राप्त करते हुए आनन्दरस का पान करनेवाले होंगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

गोतम व मरुतों का योजन

एतत्त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमो वः।
पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून् ॥५॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **गोतमः**=यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **यत्**=जो **वः**=तुम **हिरण्यचक्रान्**=हितरमणीय क्रियावालों को (स्वर्ण के चक्रवालों को), **अयोदंष्ट्रान्**=लोहे के दाँतोंवालों को—जिनके दाँत अत्यन्त दृढ़ हैं उनको, **विधावतः**=विविध दिशाओं में दौड़ते हुओं को अथवा जीवन को शुद्ध बनाते हुओं को (धावु गतिशुद्ध्योः) वस्तुतः गति के द्वारा जीवन का शोधन करते हुओं को तथा **वराहून्**=(वरस्य हविषो भक्षयितॄन्—सा०) उत्कृष्ट हव्य पदार्थों का सेवन करनेवालों को **पश्यन्**=देखता हुआ **ह**=निश्चय से **सस्वः**=स्तुति का उच्चारण करता है। **एतत्**=यह **त्यत्**=वह ही **योजनं न**=मेल-सा **अचेति**=जाना जाता है। गोतम का मरुतों से मेल यही है कि वह इन मरुतों का स्तवन करता है। २. स्तवन करते हुए वह कहता है कि हे प्राणो! आप (क) 'हिरण्यचक्र' हो—हितरमणीय क्रियाओंवाले हो। प्राणसाधक पुरुष की चित्तवृत्ति की पवित्रता के कारण क्रियाएँ भी पवित्र होती हैं, (ख) ये प्राण 'अयोदंष्ट्र' हैं—प्राणसाधक के दाँत भी लोहे के समान दृढ़ बने रहते हैं, (ग) ये प्राण 'विधावन्' हैं, विविध गतियों के द्वारा जीवन को शुद्ध बनाये रखनेवाले हैं, (घ) गोतम इन्हें 'वराहु' रूप से स्मरण करता है, क्योंकि ये पवित्र हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाले हैं। प्राणसाधक को राजस व तामस भोजन से ऊपर उठना चाहिए। भोजन के विषय में संयमी ही योग का लाभ प्राप्त कर सकता है। मन्त्र का ऋषि 'गोतम' प्राणों के महत्त्व का वर्णन करता है और प्राणसाधना करता हुआ इनके द्वारा प्रभु को मिलने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष हितरमणीय कार्यों में ही प्रवृत्त होता है, दृढ़ दाँतोंवाला होता है, क्रियामय व शुद्ध जीवनवाला होता है और इसे सात्त्विक भोजन ही रुचिकर होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृद् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

प्राणसाधना व स्वधा

एषा स्या वो मरुतोऽनुभर्त्री प्रति ष्टोभति वाघतो न वाणी।
अस्तोभयद्वृथासामनु स्वधां गभस्त्योः ॥६॥

१. **न**=अब (न सम्प्रत्यर्थे) **वाघतः**=ज्ञानी ऋत्विज् की—ज्ञान का वहन करनेवाले यज्ञशील पुरुष की **एषा**=यह **स्या**=वह **वाणी**=वाणी हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपकी **अनुभर्त्री**=अनुक्रम से,

आनुकूल्येन भरण करनेवाली होकर **प्रतिष्टोभति**=एक-एक का—प्रत्येक का स्तवन करती है। गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करने पर गोतम की वाणी भी प्राणशक्तिसम्पन्न बनती है और उन प्राणों की शक्ति को अनुक्रम से अपने में धारण करती हुई यह वाणी उन प्राणों का स्तवन करनेवाली बनती है। इस गोतम की वाणी 'वाघत्' की वाणी बन जाती है। यह वाणी ज्ञानी ऋत्विज् की वाणी हो जाती है। २. **गभस्त्योः**=बाहुओं में **स्व-धाम्**=आत्मधारण की शक्ति के **अनु**=पीछे यह वाणी **आसाम्**=इन मरुतों का **वृथा**=अनायासेन **अस्तोभयत्**=(अस्तौत्) स्तुति करती है। प्राणसाधना से जब बाहुओं में शक्ति आती है तो वाणी अनायास ही प्राणों का स्तवन कर उठती है। उस समय प्राणों की महिमा का साक्षात् अनुभव होता है और इस अनुभवकर्ता के लिए प्राणों का स्तवन स्वभाविक ही हो जाता है। प्राणों ने ही तो वाणी को 'वाघत्' की वाणी बनाया है। इन प्राणों के अनुग्रह से ही ज्ञान व यज्ञशीलता की वृद्धि हुई है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा ज्ञान बढ़ता है, यज्ञशीलता के भाव में उन्नति होती है और आत्मधारण की शक्ति बढ़ती है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि प्राणसाधना से हमारा शरीररूप रथ 'ज्योतिर्मय' बनता है (१)। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही प्रशस्त होती हैं (२)। प्रभुरूप इष्टधन की प्राप्ति होती है (३)। बुद्धि, दिव्यवृत्ति व ज्ञान को प्राप्त करके हम आनन्दरस का पान करते हैं (४)। हमारा शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है (५)। हम आत्मधारण की शक्तिवाले होते हैं (६)। 'हमें भद्र ऋतु प्राप्त होते हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

भद्रक्रतु

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो॒ अप॑रीतास उ॒द्भिदः॑।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद्वृ॒धे अस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे ॥१॥

१. **नः**=हमें **क्रतवः**=यज्ञरूप उत्तम कर्म **आयन्तु**=प्राप्त हों। जो कर्म (क) **भद्राः**=सबके कल्याण व सुख के जनक हैं, (ख) ये कर्म **विश्वतः**=सब ओर से **अदब्धासः**=अहिंसित हों—इन कर्मों में आसुर-वृत्ति के लोग विघ्न न कर सकें, (ग) **अपरीतासः**=(अ, परि इत) ये कर्म चारों ओर से घेरे न जा सकें अर्थात् ये कर्म संकुचित न हों। अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का ये कल्याण करनेवाले हों। २. **उद्भिदः**=(उद्भेत्तारः) ये कर्म शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करनेवाले हों। वस्तुतः क्रियाशीलता से ही काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय पाई जाती है। ३. हम इन उत्तम यज्ञादि कर्मों को इसलिए करते रहें **यथा**=जिससे **देवाः**=सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ **सदम् इत्**=सदा ही **नः**=हमारे **वृधे**=वृद्धि व उन्नति के लिए **असन्**=हों। वस्तुतः उत्तम कर्मों के होने पर किसी प्रकार के आधिदैविक कष्ट नहीं आते। समाज के पतन से ही आधिदैविक आपत्तियाँ आया करती हैं। यहाँ 'नः' यह बहुवचनान्त प्रयोग सामाजिक उन्नति का संकेत करता है—हम सबके कर्म उत्तम हों। ४. ये सूर्यादि देव तो हमारे कल्याण के लिए हों ही। ये **देवाः**=विद्वान् लोग भी **अप्रायुवः**=(अ प्र इ उण्—अप्रतिगक्रन्तः) अपने कर्तव्य कर्म में किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **रक्षितारः**=हमारी रक्षा करनेवाले हों। ज्ञान देकर ये हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएँ।

भावार्थ—हमारे कर्म भद्र हों। सूर्यादि देव हमारे अनुकूल हों। विद्वान् पुरुष ज्ञान-प्रदान द्वारा हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

भद्रा सुमति

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥२॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि देव हमारा रक्षण करें, हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएँ। उस मार्ग का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। जीवन के प्रथमाश्रम में **ऋजूयताम्**=ऋजु अर्थात् आर्जव—सरलता से युक्त मार्ग की कामना करनेवाले, सरल मार्ग से चलनेवाले **देवानाम्**=देवों की **भद्रा सुमतिः**=कल्याणी बुद्धि हमें प्राप्त हो। प्रथमाश्रम में हम सरल जीवनवाले, दिव्य वृत्तिवाले तथा विद्वान् आचार्यों के समीप रहते हुए ज्ञान प्राप्त करें और अपनी मति को कल्याणी बनाने का ध्यान करें। हमारी बुद्धि विनाश की दिशा में न सोचकर निर्माण की दिशा में ही सोचे। २. अब द्वितीयाश्रम में **देवानाम्**=(देवो दानाद्वा) दानशील यज्ञीय पुरुषों की **रातिः**=दान की वृत्ति **नः अभिनिवर्तताम्**=हमारे जीवनों में भी अभिनिष्पन्न हो। गृहस्थ में हम दान की वृत्तिवाले हों। ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य धर्म 'सुमति का सम्पादन' था तो गृहस्थ का सर्वमहान् धर्म दानवृत्ति को अपनाना है। गृहस्थ अपने इस दान से सब आश्रमियों का धारण व पालन करता है। इसीलिए गृहस्थ ज्येष्ठाश्रमी कहलाता है। ३. अब जीवन के तृतीयाश्रम में **वयम्**=हम **देवानाम्**=देवों की—ज्ञानदीप्त पुरुषों की **सख्यम्**=मित्रता को **उपसेदिम**=प्राप्त हों। उत्तम संग से अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों। अपने ज्ञान को परिपक्व करके ही हम जीवन के चतुर्थाश्रम में ज्ञानप्रसार का कार्य कर पाएँगे। अपने में ज्ञान भरेंगे ही, नहीं तो ज्ञान को बाँटनेवाले भी कैसे बन पाएँगे? ४. अब **देवाः**=सूर्यादि सब देव **नः आयुः**=हमारे जीवन को **प्रतिरन्तु**=खूब बढ़ाएँ ताकि **जीवसे**=हम ज्ञानप्रसार के द्वारा लोकहित करते हुए उत्कृष्ट जीवन को बितानेवाले हों। यह जीवन का अन्तिम प्रयाण शुद्ध निःस्वार्थतावाला हो। निःस्वार्थ जीवन ही वस्तुतः जीवन है। सूर्य आदि सब देव स्वार्थशून्यता के साथ प्रकाश आदि देने के कार्यों में लगे हुए हैं, इसी प्रकार हमें भी चलना है। ५. एवं हमारी जीवनयात्रा क्रमशः 'सुमति-सम्पादन, दान, देवमैत्री व ज्ञान-प्रसार' में पूर्ण हो। यही मार्ग है। हम इससे भ्रष्ट न हों।

भावार्थ—हमारी जीवनयात्रा 'देवों की सुमति प्राप्त करने से' आरम्भ हो। दान की वृत्ति को हम अपनाएँ। देवों की मित्रतावाले होकर ज्ञान से अपने को भर लें। ज्ञानप्रसार करते हुए उत्कृष्ट जीवन बिताएँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

देवाह्वान

तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥३॥

१. गत मन्त्र में देवों से दीर्घ जीवन की प्रार्थना की गई है। **तान्**=उन देवों को **पूर्वया**=पूर्वकालीन—सृष्टि के आरम्भ में उच्चारण की गई **निविदा**=(निवित्=वाङ्नाम—नि०) वेदवाणी के द्वारा

वयम्=हम **हूमहे**=पुकारते हैं। वेदवाणी में इन सब देवों का जैसा स्तवन किया गया है, उसी प्रकार हम इनका स्तवन करते हैं। इस प्रकार इस वेदवाणी से हमें इनका ज्ञान प्राप्त होता है। २. सबसे पहले हम **भगम्**=भग को पुकारते हैं। यह ऐश्वर्य की देवता है। उत्तम मार्ग से अर्जित धन ही भग है—यही सेवनीय है। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है। ३. **मित्रम्**=हम मित्र को पुकारते हैं। यह स्नेह (ञिमिदा स्नेहने) की देवता है। संसार में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि हम सबके साथ स्नेह से चलें। प्रभु ने यह संसार परस्पर लड़ने-झगड़ने के लिए नहीं बनाया है। ४. **अदितिम्**=हम 'अदिति' को पुकारें। यह 'अ-दिति' अखण्डन की देवता है—स्वास्थ्य की। सब प्रकार की उन्नतियों का मूल यह स्वास्थ्य ही है। **'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'**—यह उक्ति प्रसिद्ध है। ५. **दक्षम्**=हम दक्ष को पुकारते हैं। यह शब्द Strength of will=मानस बल व दृढ़ निश्चय का सूचक है। यह मानस बल ही मनुष्य को संसार में सफल करता है। निर्बल मन 'बन्ध' का कारण बनता है तो सबल मन 'मोक्ष' का। ६. **अस्रिधम्**=हम शोषण से रहित, सदा एकरस रहनेवाले—अन्य इन्द्रियों की भाँति थक न जानेवाले—मरुद्गण (प्राणसमूह) को पुकारते हैं। इन प्राणों की साधना से हमारे शरीर, मन व बुद्धि में विकार नहीं आ पाते। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**—प्राणायाम से दोषों का दहन होता है। ७. **अर्यमणम्**=हम अर्यमा को पुकारते हैं। 'अरीन् यच्छति' इस व्युत्पत्ति से इसमें काम-क्रोधादि को जीतने की भावना है। काम-क्रोध ही तो महान् शत्रु हैं—इन्हें जीते बिना किसी भी प्रकार का कल्याण सम्भव नहीं। ८. **वरुणम्**=हम वरुण को पुकारते हैं। यह द्वेष-निवारण की देवता है। द्वेष मनुष्य की सब शक्तियों को भस्म करनेवाला है। जीवनी शक्ति के लिए यह विष का काम करता है। ९. **सोमम्**=हम सोम को पुकारते हैं। शरीर में यह वीर्य के रूप में है। सुरक्षित सोमशक्तिवाला पुरुष ही सौम्य व 'द्वेषादि से ऊपर उठा हुआ' बनता है। १०. **अश्विना**=हम अश्विनी देवों को पुकारते हैं। निरुक्त १२।१ के अनुसार ये 'सूर्याचन्द्रमसौ' हैं। नित्य गतिवाले सूर्य की भाँति (सरति) सतत क्रियाशील बनकर हम सूर्य की भाँति चमकते हैं और 'चदि आह्लादे' चन्द्र की भाँति आह्लादमय मनोवृत्तिवाले होते हैं। यही वृत्ति दीर्घायुष्य का कारण बनती है। ११. अन्त में हमारी प्रार्थना यही है कि **सुभगा**=उत्तम सौभाग्य की कारणभूत—शोभन धन से युक्त **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता **नः**=हमारे **मयः**=कल्याण को **करत्**=करे। 'धनयुक्त ज्ञान' जीवन को अत्यन्त सुन्दर बना देता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी से देवों का ज्ञान प्राप्त करके उनके गुणों को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करें। शोभन धनोपेत सरस्वती के हम उपासक हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मयोभु-भेषजम्

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार देवों के गुणों का धारण करने पर सब देव हमारे अनुकूल होते हैं, उस समय हम यह प्रार्थना करने के पात्र होते हैं कि **तत्**=देवाराधन करने पर **वातः**=वायु **नः**=हमारे लिए **मयोभु**=कल्याण उत्पन्न करनेवाली **भेषजम्**=औषध को **वातु**=प्राप्त कराए। **तत्**=तब **माता पृथिवी**=सब ओषधियों को जन्म देनेवाली मातृस्थानापन्न यह पृथिवी उस मयोभु भेषज को प्राप्त कराए। **तत्**=तब यह **पिता द्यौः**=सूर्य के उचित सन्ताप के द्वारा ओषधियों का रक्षक यह द्युलोक उस

भेषज को प्राप्त कराए। देवों की अनुकूलता के सिद्ध करने पर ही ओषधियाँ भी गुणवती होती हैं। प्रकृति के अधिक समीप रहने के कारण पशु मनुष्य की अपेक्षा अधिक स्वस्थ हैं। २. जब हम भी सूर्यादि देवों की अनुकूलता में जीवन चलाते हैं **तत्**=तब **सोमसुतः**=सोमलता आदि ओषधियों को जन्म देनेवाले **ग्रावाणः**=वृष्टिकारक मेघ हमें 'मयोभु भेषज' प्राप्त कराते हैं। हमारे लिए **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ३. हे **धिष्ण्या**=उत्तम बुद्धिवाले **अश्विना**=स्त्री-पुरुषो! आप **तत्**=उस भेषज को **शृणुतम्**=सुनो और उसके समुचित प्रयोग से अपने शरीर को नीरोग बनाकर सुन्दर जीवन बितानेवाले होओ।

भावार्थ—प्राकृतिक शक्तियों के सम्पर्क में उनकी अनुकूलता को सिद्ध करने पर ओषधियाँ भी गुणकारिणी होती हैं। हम उन ओषधियों को जानकर उनके प्रयोग से नीरोगता सिद्ध करें और सुखमय शान्त जीवन बितानेवाले हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

'प्रभु-रक्षण'-प्राप्ति

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।

पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥५॥

१. **वयम्**=हम **अवसे**=रक्षण के लिए **तम्**=उस **ईशानम्**=ऐश्वर्यवान् प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं जोकि **जगतः**=जंगम=चेतन तथा **तस्थुषः**=स्थावर=जड़ जगत् के **पतिम्**=स्वामी हैं तथा **धियं जिन्वम्**=(धीभिः कर्मभिः प्रीणयितव्यम्—सा०) जो उत्तम कर्मों के द्वारा प्रीणयितव्य हैं। वस्तुतः सत्कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करके ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र बन सकते हैं। २. हम उस प्रभु का आराधन व आह्वान इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे वह **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **वेदसाम्** धनों के **वृधे**=वृद्धि के लिए **असत्**=हो। वे प्रभु **रक्षिता**=हमारे रक्षक हों—हमें शत्रुओं का शिकार होने से बचाएँ। **पायुः**=वे हमें शरीर में होनेवाले रोगों से बचानेवाले हों। **अदब्धः**=वे अविनाशी प्रभु सब प्रकार से **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिए हों। सारे संसार का वे रक्षण करते हैं, तो हमारा रक्षण वे क्यों न करेंगे?

भावार्थ—चराचर जगत् के ईशान वे प्रभु हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—स्वराड् बृहती। स्वरः—मध्यमः।

चार आश्रम—इन्द्र से बृहस्पति तक

स्व॒स्ति न॒ इन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः।

स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ अरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु ॥६॥

१. जीवन के प्रथम प्रयाण में हमारी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है कि **वृद्धश्रवाः**=बढ़े हुए ज्ञानवाला—निरतिशय ज्ञानवाला **इन्द्रः**=सब आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाला प्रभु **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। प्रभु की कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और हम जितेन्द्रिय बनकर अशुभवृत्तियों से ऊपर उठनेवाले हों। ब्रह्मचर्याश्रम 'ज्ञानप्राप्ति और जितेन्द्रियता' का ही आश्रम है। इसमें हम अधिक-से-अधिक ज्ञान का संग्रह करें और इन्द्रियों को वश में रखने का अभ्यास करें। २. अब द्वितीय प्रयाण में हम प्रार्थना करते हैं कि **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाला **पूषा**=सबका पोषक प्रभु **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे।

गृहस्थ-पोषण के लिए हमें पर्याप्त धन कमाना ही चाहिए। अतिरिक्त धन पतन का कारण हो जाता है, अतः यह उतना ही ठीक है, जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। ३. तृतीय प्रयाण की प्रार्थना यह है कि **अरिष्टनेमिः**=अहिंसित चक्रधारावाला **तार्क्ष्यः**=तीव्रवेगवाला प्रभु **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। जीवन के तीसरे प्रयाण में वानप्रस्थ के रूप में हम भी 'तार्क्ष्य' बनें—आलस्यशून्य होकर तीव्रगतिवाले बनें। कामादि शत्रुओं पर वेग से आक्रमण करनेवाले हों और हमारे जीवन-रथ की चक्रधारा अहिंसित हो अर्थात् हम मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले न हों। मर्यादित जीवन में चलते हुए हम सचमुच कामादि के पूर्ण विजेता बनें। ४. इस विजय के द्वारा चतुर्थाश्रम के योग्य बनकर हम प्रार्थना करें कि **बृहस्पतिः**=सम्पूर्ण ज्ञानों का पति वह प्रभु **नः स्वस्ति दधातु**=हमारे लिए कल्याण का धारण करे। बृहस्पति का उपासन करते हुए ज्ञान का खूब संग्रह करके उस ज्ञान के प्रसार के लिए हम प्रवृत्त हों। इस प्रकार हमारी जीवन-यात्रा सफलता के साथ पूर्ण हो।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम जितेन्द्रिय व ज्ञानसञ्चयी बनें, द्वितीय में पोषण के लिए पर्याप्त धन का संग्रह करनेवाले हों, तृतीय में मर्यादित जीवनवाले होकर कामादि के विजेता बनें और चतुर्थाश्रम में ज्ञान के पति बनकर ज्ञानप्रसार में व्यापृत हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

मरुत् और विश्वे देव

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥७॥

१. हे प्रभो! आपकी कृपा से **मरुतः**=प्राण **अवसा**=रक्षण के हेतु से **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। कैसे प्राण—(क) **पृषदश्वाः**=(पृष् to sprinkle) रेतःकणों की ऊर्ध्वगति के द्वारा शक्ति से सिक्त किया है इन्द्रियों को जिन्होंने, (ख) **पृश्निमातरः**=(पृश्नि=A ray of light) जो ज्ञान की किरणों का निर्माण करनेवाले हैं। प्राण बुद्धि की तीव्रता के द्वारा ज्ञान को दीप्त करते हैं। प्राणसाधना से मलों का क्षय होता है। मलक्षय से ज्ञान की दीप्ति होती है और मनुष्य प्रभु-दर्शन के योग्य बनता है, (ग) **शुभंयावानः**=ये मरुत् सदा शुभ की ओर चलानेवाले हैं। शरीर की नीरोगता, मन की निर्मलता और बुद्धि की तीव्रता इन्हीं पर निर्भर करती है, (घ) ये मरुत् **विदथेषु जग्मयः**=यज्ञों में चलनेवाले होते हैं। प्राणसाधक पुरुष यज्ञमय जीवनवाला बनता है। २. इन प्राणों की साधना के परिणामस्वरूप **विश्वे देवाः**=देववृत्ति के सब ज्ञानी पुरुष **अवसा**=ज्ञान से प्रीणित करने के हेतु से **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। ये देव (क) **अग्नि-जिह्वाः**=अग्नि के समान जिह्वावाले हैं। सब पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली वाणीवाले हैं। अग्नि जैसे अपनी ज्वालारूप जिह्वा से सब मलों को भस्मसात् करती चलती है, उसी प्रकार ये देव अपनी वाणी की प्रेरणा से श्रोताओं के मन के मलों को दग्ध करनेवाले होते हैं, (ख) **मनवः**=ये विचारशील होते हैं और (ग) **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान प्रकाशवाले होते हैं। इन देवों व विद्वानों के सम्पर्क में आकर हम भी ज्ञानी बनते हैं। इन देवों से दिया हुआ ज्ञान हमारा रक्षण व प्रीणन करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना और विद्वानों का संग करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—विश्वे देवाः । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

भद्र सुनें, भद्र ही देखें

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥८॥

१. **देवाः**=हे ज्ञान देनेवाले आचार्यो ! हम जीवन के प्रथमाश्रम में **कर्णेभिः**=कानों से **भद्रं शृणुयाम**=आपसे उच्चारण की जाती हुई कल्याणी वाणी का ही श्रवण करें । हमारे कानों में सदा ज्ञान के शब्द ही पड़े । २. हे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले देवो ! हम **अक्षभिः**=आँखों से **भद्रं पश्येम**=सदा कल्याणकर कर्मों को ही देखें । हमारे गृहस्थाश्रम में सदा यज्ञ-याग चलते रहें, किन्हीं भी अशुभ कर्मों का वहाँ प्रवेश न हो । ३. अब तृतीयाश्रम में **स्थिरैः अङ्गैः**=स्थिर व दृढ़, पूर्ण स्वस्थ अङ्गों से **तुष्टुवांसः**=हम प्रभु का सतत स्तवन करनेवाले हों । प्रभुस्तवन के द्वारा हम अपने को पूर्ण नीरोग बनानेवाले हों । जीर्ण-शीर्ण होकर उस प्रभु की ओर झुके तो क्या झुके ? और प्रभु की उपासना करते हुए भी रोगी व जीर्ण हो गये तो वह भक्ति भी किस काम की ? ४. इस प्रकार स्तवन से अङ्गों को स्थिर शक्तिवाला बनाते हुए हम **तनूभिः**=इन शरीरों से **देवहितम्**=उस प्रभु से स्थापित **यत् आयुः**=जो जीवन की मर्यादा है, उसे **व्यशेम**=भोगनेवाले हों । अगले मन्त्र में इसी जीवन की मर्यादा का उल्लेख है । हम उस पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले हों और इसे लोकहित में व्यतीत करनेवाले बनें ।

भावार्थ—हम भद्र सुनें, भद्र ही देखें, स्थिर अङ्गोंवाले होते हुए प्रभुस्तवन करें और पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करें ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—विश्वे देवाः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

शतं शरदः (जीवेम)

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥९॥

१. हे **देवाः**=सब प्राकृतिक शक्तियो ! **इत् नु**=निश्चय से **शतं शरदः**=सौ वर्ष **अन्ति**=मनुष्यों के समीप आयु के रूप में हैं । आपने मनुष्य के लिए सौ वर्ष की आयु नियत की है । यह वह समय है **यत्र**=जहाँ कि आप **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों के **जरसं चक्र**=बुढ़ापे को करनेवाले होते हो । सौ वर्ष तक चलकर मनुष्य वृद्धावस्था को प्राप्त करता है और यह समय वह होता है **यत्र**=जहाँ कि **पुत्रासः**=हमारे पुत्र **पितरः भवन्ति**=पितर बन जाते हैं । हमारे पुत्र भी पुत्र-पौत्रवाले होकर पितर कहलाने लगते हैं । २. हे देवो ! आप **गन्तोः**=इस निश्चित आयु की मर्यादा पर पहुँचने से पहले **मध्याः**=बीच में ही **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा रीरिषत**=मत हिंसित करो ।

भावार्थ—हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले हों, यौवन में ही न चले जाएँ, पौत्रों-प्रपौत्रों के आने से पूर्व ही समाप्त न हो जाएँ ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—विश्वे देवाः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

स्वास्थ्य ही सब-कुछ है

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित सौ वर्ष का आयु स्वास्थ्य पर ही निर्भर करता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी के माहात्म्य का वर्णन है। यहाँ स्वास्थ्य को 'अ-दिति'='अखण्डन' कहा है। 'His health broke down'—इस अंग्रेजी वाक्य में अस्वास्थ्य को 'स्वास्थ्य का टूटना' ही कहा है। इस स्वास्थ्य पर ही ज्ञान निर्भर है, अतः मन्त्र में कहते हैं—**अदितिः द्यौः**=यह स्वास्थ्य ही ज्ञान का प्रकाशक है। **अदितिः**=यह स्वास्थ्य ही **अन्तरिक्षम्**=सदा मध्यमार्ग में चलना है (अन्तरा क्षि)। अस्वस्थ व्यक्ति ही अति में जाता है अथवा यूँ कहें कि अति के कारण व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। २. **अदितिः माता**=स्वास्थ्य ही सब उत्तमताओं का निर्माण करनेवाला है। स्वास्थ्य से ही हममें निर्माणशक्ति की वृद्धि होती है। अस्वस्थ व्यक्ति का मस्तिष्क तोड़-फोड़ की ओर जाता है। **सः पिता**=यह स्वास्थ्य ही हमारे यज्ञादि उत्तम कर्मों का रक्षण करनेवाला है और इस प्रकार **सः पुत्रः**=यह स्वास्थ्य ही (पुनाति, त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र करता है और हमारा त्राण करता है, हमें दुर्गति में पड़ने से बचाता है। ३. यह **अदितिः**=स्वास्थ्य ही **विश्वे देवाः**=सब देव हैं। सब दिव्य गुणों का विकास स्वास्थ्य से ही होता है। **पञ्च जनाः**=पञ्च-कोशों के पाँचों विकास **अदितिः**=इस स्वास्थ्य पर ही निर्भर करते हैं। अन्नमय कोश का 'तेज', प्राणमय का 'वीर्य', मनोमय का 'ओज व बल', विज्ञानमय का 'मन्यु' तथा आनन्दमय का 'सहस्' स्वास्थ्यमूलक ही है। ४. संक्षेप में **जातम्**=जो विकास आज तक हुआ अथवा **जनित्वम्**=जो विकास आगे होना है, वह सब **अदितिः**=स्वास्थ्य ही है, स्वास्थ्य पर ही आश्रित है।

भावार्थ—हम स्वास्थ्य के महत्त्व को समझें। सभी कुछ इसी पर निर्भर करता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में भद्रक्रतु के लिए प्रार्थना की गई है (१)। द्वितीय मन्त्र में क्रतु की भद्रता की साधनभूत 'भद्रा सुमति' की याचना है (२)। इसके लिए देवों का आह्वान किया गया है (३)। सब देव हमें कल्याणकारक 'भेषज' प्राप्त कराएँ (४)। प्रभु हमारे रक्षक हों (५) ताकि जीवनयात्रा के चारों आश्रम सुन्दर बीतें (६)। इसके लिए हम प्राणसाधना करें और ज्ञानियों के सम्पर्क में आएँ (७)। इनके उपदेशों के परिणामस्वरूप भद्र ही देखें और भद्र ही सुनें (८)। पूर्ण जीवन प्राप्त करें (९)। यह समझकर चलें कि स्वास्थ्य ही सब-कुछ है (१०)। स्वस्थ बनकर 'हमारा जीवन कैसा हो?' इसका उत्तर देते हुए अगले सूक्त में कहते हैं—

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वरुण-मित्र-अर्यमा (जीवन के तीन सिद्धान्त)

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः ॥१॥

१. **नः**=हमें **विद्वान्**=ज्ञानी **वरुणः**=अपने हृदय से द्वेष का निवारण करनेवाला श्रेष्ठ व्यक्ति **ऋजुनीती**=(नीत्या) सरल मार्ग से **नयतु**=ले-चले। हम ज्ञानी बनकर द्वेष की व्यर्थता को समझें, इसकी घातकता को समझते हुए हम द्वेष को त्यागें और श्रेष्ठ बनें। २. इसी प्रकार **विद्वान्**=ज्ञानी **मित्रः**=अपने को पापों से बचानेवाला (प्रमीतेः, त्रायते) सबके प्रति स्नेह करनेवाला (मिद् स्नेहने) प्रभुप्रिय व्यक्ति हमें सरल मार्ग से ले-चले। ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध का मार्ग कुटिलता का मार्ग का है। इस मार्ग से हम बचकर चलें। श्रेय का मार्ग ही निष्पाप है। यही मार्ग छल-छिद्र से रहित व सरल है। ३. **देवैः सजोषाः**=

सब दिव्य गुणों के साथ समानरूप से प्रीतिवाला—सम्पूर्ण दैवी सम्पत्ति को अपने में धारण करनेवाला **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध व लोभ का नियमन करनेवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष हमें सरल मार्ग से ले-चले। देवता सरल मार्ग से ही चलते हैं। कुटिलता व छल-छिद्र आसुरी वृत्ति है। कामादि पर विजय पाकर हम सरल मार्ग को ही अपनाएँ।

भावार्थ—सरल जीवन के तीन सिद्धान्त हैं—(क) द्वेष न करना—'वरुण' (ख) सबके प्रति स्नेह से वर्तना—'मित्र' और (ग) काम-क्रोध-लोभ का नियमन करना—अर्यमा'।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तेजस्विता व अमूढ़ता

ते हि वस्वो वसवानास्ते अप्रमूरा महोभिः। व्रता रक्षन्ते विश्वाहा ॥२॥

१. **ते**=गत मन्त्र में वर्णित—'वरुण, मित्र और अर्यमा' **हि**=निश्चय से **वस्वः वस्वानाः**=धनों के धारण करनेवाले हैं जोकि इस संसार में 'द्वेष न करना, प्रेम से चलना व काम-क्रोध तथा लोभ को वश में रखना'—इन सिद्धान्तों को अपनाकर चलते हैं वे वसुओं के धारण करनेवाले होते हैं, वसुओं से अपने को आच्छादित करते हैं। इन्हें जीवन के लिए आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। २. **ते**=इन सिद्धान्तों को अपनानेवाले वे व्यक्ति **महोभिः**=तेजस्विताओं के साथ **अप्रमूराः**=अमूढ व ज्ञानयुक्त होते हैं। इनके शरीरों में बल होता है और मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं। ३. इस प्रकार शरीर में बल और मस्तिष्क में ज्ञान को धारण करनेवाले ये व्यक्ति **विश्वाहा**=सदा **व्रता रक्षन्ते**=अपने व्रतों का रक्षण करते हैं। ये अपने पुण्य कर्मों को विच्छिन्न नहीं होने देते। इनका जीवन सदा यज्ञमय बना रहता है।

भावार्थ—निर्द्वेषता, स्नेह व जितेन्द्रियता को अपनानेवाले लोग जहाँ आवश्यक धनों को प्राप्त करते हैं वहाँ वे अकुण्ठित-बुद्धि व तेजस्वी होते हैं और सदा यज्ञमय कर्मों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—पिपीलिकामध्या विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

निर्द्वेषता व कल्याण

ते अस्मभ्यं शर्म यंसन्नमृता मर्त्येभ्यः। बाधमाना अप द्विषः ॥३॥

१. **ते**=वे 'वरुण, मित्र व अर्यमा' के उपासक **अमृताः**=संसार के विषयों के पीछे न मरनेवाले देवपुरुष **अस्मभ्यम्**=हम **मर्त्येभ्यः**=वासनाओं से आक्रान्त होनेवाले पुरुषों के लिए **शर्म यंसन्**=कल्याण प्राप्त कराएँ। २. अपने जीवन के उदाहरण से तथा ज्ञान देकर वे **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानाः**=हमसे खदेड़नेवाले हों। वस्तुतः द्वेष की भावना ही सब प्रकार की अशान्तियों का कारण होती है। द्वेष से ऊपर उठा हुआ पुरुष ही शान्ति प्राप्त करता है।

भावार्थ—'वरुण, मित्र व अर्यमा' की वृत्तिवाले लोग सब द्वेषों से ऊपर उठकर औरों को भी द्वेष से ऊपर उठाते हुए शान्ति प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

इन्द्र-मरुत्-पूषा-भग (शुभ मार्ग)

वि नः पथः सुवितायं चियन्त्विन्द्रो मरुतः। पूषा भगो वन्द्यासः ॥४॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों को जीतनेवाला, **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाला, **पूषा**=पोषण के लिए आवश्यक सामग्री को जुटानेवाला, **भगः**=भजनीय—सेवनीय धन को प्राप्त करनेवाला—ये सब **नः**=हमारे **वन्द्यासः**=वन्दना के योग्य हैं। यहाँ इन्द्रादि शब्द देवताओं के वाचक होते हुए जिन गुणों का संकेत करते हैं, उन गुणों से युक्त पुरुष हमारे लिए वन्दनीय होते ही हैं। २. ये **सुविताय**=उत्तम स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिए **पथः**=मार्गों को **विचियन्तु**=अशोभन मार्गों से पृथक् करनेवाले हों। अशुभ मार्गों को छोड़कर शुभ मार्गों से चलते हुए ये पुरुष उत्तमताओं को प्राप्त करें। वस्तुतः शुभ मार्ग यही है कि हम 'इन्द्र, मरुत्, पूषा व भग' बनें। जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रियता की सिद्धि के लिए प्राणों की साधनावाले हों। पूषा=अपना पोषण करनेवाले हों। पोषण के लिए उत्तम मार्गों से धन कमानेवाले हों। 'इन्द्र' बनने के लिए 'मरुत्' बनें, 'पूषा' बनने के हेतु 'भग' बनें।

भावार्थ—स्वर्ग=सुख-विशेष प्राप्ति का शुभमार्ग यही है कि हम प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बनें, सेवनीय धनों को प्राप्त करके अपना उचित पोषण करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

श्रुत्यानुसारिणी क्रिया (वेदानुकूल कर्म)

उत नो धियो गोअ॑ग्राः पूष॒न्विष्णु॒वे॑वयावः। कर्ता॑ नः स्वस्ति॒मतः॑ ॥५॥

१. हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले प्रभो! **विष्णो**=(विष् व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभो! **एवयावः**=(एवैः याति) सर्वदा क्रियाओं के साथ विचरण करनेवाले प्रभो! (स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च) आप **नः धियः**=हमारे कर्मों को **गो अग्राः**=वेदवाणी की प्रमुखतावाला **कर्त**=करिए। हमारा प्रत्येक कर्म वेदानुकूल हो। धर्म के विषय में परम प्रमाण श्रुति ही तो है। हमारे कर्म श्रुतिमूलक हों। वेद में हमारे जो कर्म प्रतिपादित हैं हम उन्हें ही करनेवाले हों। २. यहाँ 'पूषन्' शब्द पोषण का वाचक होता हुआ 'बल' का संकेत कर रहा है। 'विष्णो' शब्द व्यापकता का प्रतिपादन करता हुआ सर्वज्ञता का सूचक है। 'एवयावः' में क्रिया का संकेत है ही। प्रभु में ये 'बल, ज्ञान व क्रिया' स्वभावतः हैं ही। हम भी इन तीनों को अपनाकर ही धर्ममार्ग पर चलनेवाले होते हैं। 'ज्ञान, बल व क्रिया' में से किसी की भी कमी हमारे जीवन को अधूरा कर देती है। ३. **उत**=और इस प्रकार हे प्रभो! हमारे कर्मों को श्रुति के अनुकूल करते हुए आप **नः**=हमें **स्वस्तिमतः**=कल्याणवाला **कर्त**=करिए। धर्म का मार्ग ही सुख का मार्ग है।

भावार्थ—हम शरीर की शक्ति का पोषण करें। ज्ञान को व्यापक बनाएँ। क्रियाशील हों। हमारी क्रियाएँ श्रुतिमूलक हों जिससे कि हमारा कल्याण हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उत्तम कर्मवाले के लिए माधुर्य

मधु॒ वाता॑ ऋताय॒ते मधु॑ क्षरन्ति॒ सिन्ध॑वः। माध्वी॑र्नः स॒न्त्वोष॑धीः ॥६॥

१. **ऋतायते**=गत मन्त्र के अनुसार श्रुति के प्रमाण से ऋत कर्मों को करनेवाले के लिए **वाताः**=वायुएँ **मधु**=माधुर्य को लिये हुए होती हैं। यज्ञात्मक कर्म ऋत हैं, अयज्ञिय कर्म अनृत हैं, अतः 'ऋतायते' का भाव 'यज्ञात्मक कर्मों को अपनानेवाले के लिए' हो जाता है। इस यज्ञशील पुरुष के लिए वायुएँ मधुर होती हैं अर्थात् इसके स्वास्थ्य पर उनका अच्छा ही प्रभाव होता है। इस ऋतायत् पुरुष के लिए **सिन्धवः**=नदियाँ **मधु क्षरन्ति**=मधुर जल को ही बहानेवाली होती हैं। ३. हम भी ऋतायत् बनें

और **ओषधीः**=पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली ये सब ओषधियाँ **नः**=हमारे लिए **माध्वीः सन्तु**=मधुर ही हों। जिस समय मनुष्यों का जीवन यज्ञमय होता है तब सम्पूर्ण लोक भी उसके लिए अनुकूलता लिये हुए होते हैं। यज्ञशील का ही दोनों लोकों में कल्याण होता है। हमारे कर्म उत्तम होंगे तो वायु, जल व ओषधियाँ सब हमारे लिए कल्याणकर होंगी।

भावार्थ—हमारे कर्म यज्ञात्मक हों, जिससे हमें वायु, जल व ओषधियों की अनुकूलता प्राप्त हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

दिन-रात व पृथिवी-द्युलोक की अनुकूलता

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ऋत व यज्ञ को अपनाने पर **नः**=हमारे लिए **नक्तम्**=रात्रि **मधु**=माधुर्यवाली हो **उत**=और **उषसः**=उषःकाल (दिन) हमारे लिए माधुर्य को लिये हुए हो। २. **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिव लोक, जोकि सब ओषधियों का उत्पत्ति-स्थान है **मधुमत्**=माधुर्यवाला हो, और **नः**=हमारा **पिता**=सूर्य-किरणों द्वारा प्राणशक्ति का सञ्चार करके रक्षण करनेवाला यह **द्यौः**=द्युलोक **मधु अस्तु**=माधुर्यवाला हो।

भावार्थ—हमारे कर्म यज्ञात्मक होंगे तो दिन-रात तथा पृथिवी व द्युलोक हमारा कल्याण ही करेंगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

वनस्पतियाँ, सूर्य व गौएँ

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥८॥

१. **नः**=हमारे लिए **वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **मधुमान्**=माधुर्य को लिये हुए हों। **सूर्यः**=इन वनस्पतियों में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला सूर्य **मधुमान्**=माधुर्यवाला हो। उन वनस्पतियों का सेवन करके **गावः**=गौएँ **नः**=हमारे लिए **माध्वीः**=मधुर दुग्ध देनेवाली **भवन्तु**=हों। २. हमारा जीवन ऋतमय होने पर 'वनस्पतियाँ, सूर्य व गौएँ' सभी हमारे लिए हितकर होते हैं।

भावार्थ—हमारे लिए यज्ञमय जीवन के परिणामस्वरूप 'वनस्पतियाँ, सूर्य व गौएँ' सभी माधुर्य को लिये हुए हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

शान्ति-प्राप्ति के सात साधन

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥९॥

१. **नः**=हमारे लिए **मित्रः**=प्राणिमात्र के साथ स्नेह करनेवाला प्रभु **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **वरुणः**=किसी के भी प्रति द्वेष न रखनेवाला वह श्रेष्ठ प्रभु **शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराए। **नः**=हमारे लिए **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला प्रभु **शं भवतु**=शान्ति देनेवाला हो। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली (इदि परमैश्वर्ये) सर्वशक्तिमान् (इन्द् to be powerful) सब असुरों का संहार करनेवाला प्रभु **नः शम्**=हमें शान्ति प्रदान करे। **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति—निरतिशय ज्ञानवाला वह प्रभु **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **शम्**=

शान्ति दे और अन्त में **उरुक्रमः**=वह महान् क्रम=व्यवस्थावाला प्रभु हमारे लिए शान्ति देनेवाला हो। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को सात नामों से स्मरण किया गया है और उन सात नामों से स्मरण करते हुए प्रभु से शान्ति के लिए प्रार्थना की गई है। वस्तुतः ये सात नाम हमें निम्न सात बोध दे रहे हैं—(क) **मित्र**=सबके साथ स्नेह करनेवाले बनो, (ख) **वरुणः**=द्वेष का निवारण करके श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करो (ग) **अर्यमा**=काम-क्रोध व लोभरूप शत्रुओं का नियमन करो। काम शरीरों को नष्ट करता है, क्रोध मनों को अशान्त बनाता है और लोभ बुद्धि को विचलित कर देता है। (घ) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनो, (ङ) **बृहस्पतिः**=जितेन्द्रियता ही तुम्हें उत्कृष्ट ज्ञान का पति बनाए, (च) **विष्णुः**=हृदय को भी व्यापक वृत्तिवाला बनाओ, तथा (छ) **उरुक्रमः**=प्रत्येक कर्म बड़ा व्यवस्थित हो, तुम्हारे जीवन में व्यवस्था दिखाई दे। बस ये सात बातें हो जाने पर आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—सभी दृष्टिकोणों से शान्ति प्राप्त होगी। शरीर, मन व बुद्धि सभी शान्ति से कार्य करनेवाले होंगे।

भावार्थ—हम मित्रता आदि उपायों को क्रियान्वित करते हुए शान्त जीवनवाले हों।

विशेष-सूक्त के आरम्भ में जीवन के तीन सिद्धान्तों—'निर्द्वेषता, प्रेम व जितेन्द्रियता' का उल्लेख हुआ है (१)। इनको अपनानेवाले तेजस्वी व अमूढ़ होते हैं (२)। निर्द्वेषता कल्याणकारक है (३)। स्वर्ग-प्राप्ति के लिए प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय बनें और सेवनीय धनों को प्राप्त करके हम अपना उचित पोषण करें (४)। हमारे कर्म वेदानुकूल हों (५)। उत्तम कर्म करनेवालों के लिए सम्पूर्ण संसार मधुर होता है (६-८)। ये मधुर जीवनवाले मित्रता आदि सात सिद्धान्तों को अपनाकर शान्त जीवनवाले होते हैं (९)। 'हम प्रभु का दर्शन करने का यत्न करें, प्रभु हमें सरल मार्ग से ले-चलें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[९१] एकनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ऋजुतम मार्ग

त्वं सो॑म॒ प्र चि॑कितो मनी॒षा त्वं रजि॑ष्ठ॒मनु॑ नेषि॒ पन्था॑म्।
तव॒ प्रणी॑ती पि॒तरो॑ न इन्दो दे॒वेषु॒ रत्न॑मभजन्त॒ धीरा॑ः॥१॥

१. हे **सोम**=सौम्य व अत्यन्त शान्त प्रभो! **त्वम्**=आप **मनीषा**—बुद्धि के द्वारा **प्रचिकितः**=प्रकर्षेण ज्ञात होते हो। **'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥'** सब भूतों में गूढ प्रभु इन्द्रियों से प्रकाशित नहीं होते। वे सूक्ष्म बुद्धि से ही देखे जाते हैं। २. हे प्रभो! जो भी आपका दर्शन करता है **त्वम्**=आप उसे **रजिष्ठं पन्थाम्**=ऋजुतम—अत्यन्त सरल मार्ग से **अनुनेषि**=अनुक्रमेण ले-चलते हो। प्रभु का द्रष्टा प्रभुभक्त कभी भी कुटिल मार्ग का अवलम्बन नहीं लेता। ३. हे **इन्दो**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तव प्रणोति**=आपके प्रणयन से—आपके द्वारा मार्गदर्शन से **नः**=हममें से **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत लोग **धीराः**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञावाले होते हुए **देवेषु**=चक्षु आदि सब इन्द्रियों में **रत्नम्**=रमणीयता का **अभजन्त**=सेवन करते हैं। प्रभु के द्वारा मार्गदर्शन का परिणाम यह होता है कि हम 'पितर व धीर' बनते हैं। इस प्रकार का जीवन बनाने से हमारी सब इन्द्रियाँ रमणीय शक्तिवाली बनी रहती हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि के द्वारा प्रभु को जानने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें सरल मार्ग से ले-चलेंगे। परिणामतः रक्षणात्मक कर्मों में तथा ज्ञानवर्धन में लगे हुए हम सब इन्द्रियों को रमणीय शक्ति से युक्त बना पाएँगे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

सुक्रतु+सुदक्ष

त्वं सो॑म॒ क्रतु॑भिः सु॒क्रतु॑र्भू॒स्त्वं दक्षैः॑ सु॒दक्षो॑ वि॒श्ववे॑दाः।
त्वं वृषा॑ वृष॒त्वेभि॑र्महि॒त्वा द्यु॒म्नेभि॑र्द्यु॒म्न्य॑भवो नृ॒चक्षाः॑॥२॥

१. हे **सोम**—शान्त परमात्मन्! **त्वम्**=आप **क्रतुभिः**=अपने कर्मों व प्रज्ञानों से **सुक्रतुः**=उत्तम कर्म व प्रज्ञावाले **भूः**=हैं। **त्वम्**=आप **दक्षैः**=शक्तियों से **सुदक्षः**=उत्तम शक्तियोंवाले हैं। **विश्ववेदाः**=आप सम्पूर्ण धनों के स्वामी हैं। २. **त्वम्**=आप **वृषत्वेभिः**=सुखों के वर्षणों के द्वारा **वृषा**=सुखों के वर्षक हैं -इस प्रकार **महित्वा**=आप अपनी महिमा से महान् हैं। **द्युम्नेभिः**=ज्ञान की ज्योतियों से **द्युम्नी**=उत्तम ज्ञानज्योतिवाले **अभवः**=हैं और अन्त में **नृचक्षाः**=मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम भी प्रभु की भाँति 'सुक्रतु-सुदक्ष, वृषा, द्युम्नी व नृचक्षा' बनने के लिए यत्नशील हों। हमारा शरीर उत्तम कर्मों में लगा हो, प्राणमयकोश बलवाला हो, मन में सबपर सुखवर्षण की भावना हो, मस्तिष्क ज्योतिर्मय हो और आनन्दमयकोश में सर्वहित की भावना हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

राजा वरुण के समान

रा॒ज्ञो नु ते॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ बृ॒हद्ग॑भी॒रं तव॑ सोम॒ धाम॑।
शुचि॒ष्ट्वम॑सि प्रि॒यो न मि॒त्रो द॒क्षाय्यो॑ अर्य॒मेवा॑सि सोम॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब एक व्यक्ति प्रभु का स्तवन करता है तो यह भी उस प्रभु जैसा ही बन जाता है और तब इसके लिए कहते हैं कि हे **सोम**=शान्त स्वभाववाले पुरुष! **राज्ञः वरुणस्य नु**=(नु=इव–नि० १।४) उस देदीप्यमान श्रेष्ठ प्रभु के समान **ते व्रतानि**=तेरे व्रत हैं। प्रभु के सब कर्म जैसे लोकहितकारी होते हैं, उसी प्रकार तेरे सब कार्य लोकहित-साधक हैं। २. हे **सोम**=शरीर में सोम का रक्षण करके सोम का पुञ्ज बननेवाले जीव! **तव धाम**=तेरा तेज **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत—बहुत बढ़ा हुआ व **गभीरम्**=गम्भीर है। उथली शक्ति औरों के नाश में प्रवृत्त होती है—गम्भीर शक्ति निर्माण में विनियुक्त होती है। ३. उस प्रभु के उपासन का ही यह परिणाम है कि उत्तम कर्म करता हुआ गम्भीर शक्ति से युक्त होकर **त्वम्**=तू **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला **असि**=है—औरों को उसी प्रकार पवित्र करनेवाला है **न**=जैसेकि **प्रियः मित्रः**=सबके लिए अनुकूल (सबका प्रिय) सूर्य सबका शोधन करता है। सूर्य का नाम ही 'शुन्ध्यु' पड़ गया है। तू भी इस सूर्य की भाँति शुन्ध्यु होता है। ४. तू **अर्यमा इव**=(अरीन् यच्छति) काम, क्रोध व लोभ का नियमन करनेवाले के समान **दक्षाय्यः**=उन्नतिशील है, अपने बल का वर्धन करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभुभक्त के कर्म प्रभु जैसे ही होते हैं। उसकी शक्ति बढ़ी हुई व गम्भीर होती है। वह पवित्र व उन्नत होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

शक्ति के स्रोत 'ओषधियाँ व जल'

या ते धामा॑नि दि॒वि या पृ॑थि॒व्यां या पर्व॑ते॒ष्वोष॑धीष्व॒प्सु ।
तेभि॑र्नो॒ विश्वै॑: सु॒मना॒ अहे॑ळन्राज॒न्त्सोम॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ॥४॥

१. गत मन्त्र का प्रभुभक्त प्रार्थना करता है कि हे **राजन्**=देदीप्यमान, सम्पूर्ण संसार का शासन करनेवाले **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो ! **या**=जो **ते**=तेरे **धामानि**=तेज **दिवि**=द्युलोक में अथवा दीप्त सूर्य में **या**=जो तेज **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में हैं, **या**=जो **पर्वतेषु**=पर्वतों में हैं, **ओषधीषु**=नाना प्रकार की ओषधियों में व **अप्सु**=जलों में हैं, **तेभिः विश्वैः**=उन सब तेजों से उपलक्षित (युक्त) **सुमनाः**=हमारे प्रति उत्तम मनवाले होते हुए, **अहेळन्**=हमारे प्रति किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए **नः**=हमें **हव्या**=हव्य पदार्थों को **प्रतिगृभाय**=प्रतिदिन ग्रहण कराइए । २. प्रभु ने द्युलोक में सूर्य व पृथिवीलोक में अग्नि को स्थापित करके पर्वतों में विविध ओषधियों को जन्म दिया है और जलप्रवाह की व्यवस्था की है । सूर्य उन ओषधियों में प्राणदायी तत्त्व का स्थापन करता है और पृथिवी की अग्नि उन ओषधियों का ठीक से पाचन करती है । इन ओषधियों व जलों के प्रयोग से हमें सब तेजस्विताएँ प्राप्त होती हैं । पर ये प्राप्त हमें तभी होती हैं जबकि हम प्रभुकृपा के भाजन बने रहते हैं । उसकी कृपा का भाजन बनने का उपाय यही है कि हम 'राजन् व सोम' इन सम्बोधनों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित=regulated व सौम्य=शान्त बनाएँ ।

भावार्थ—अपने जीवनों को व्यवस्थित व शान्त बनाते हुए हम ओषधि व जलादि हव्य (पवित्र) पदार्थों का प्रयोग करते हुए अपने जीवन को तेजस्विता से दीप्त बनाएँ ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—पादनिचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

'राजा' उत 'वृत्रहा'

त्वं सो॑मासि॒ सत्प॑ति॒स्त्वं राजो॒त वृ॑त्र॒हा । त्वं भ॒द्रो अ॑सि॒ क्रतु॑: ॥५॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो ! **त्वम्**=आप ही **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक **असि**=हो । हमारा कर्तव्य सज्जन बनना है । सज्जन बनकर हम आपकी रक्षा के पात्र हो ही जाते हैं । २. **त्वं राजा**=आप ही राजा हो, सारे ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हो । आपके शासन को हम कैसे लाँघ सकते हैं ! सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी व नदियाँ इत्यादि आपके ही शासन में अपने-अपने मार्ग का आक्रमण करते हुए चल रहे हैं । ३. **उत**=और हमारे जीवनों में आप ही **वृत्रहा**=वृत्र का विनाश करनेवाले हो । कामवासना 'वृत्र' है । यह हमारे ज्ञान पर एक आवरण के रूप में आयी रहती है । आपकी कृपा से ही इसका विध्वंस होता है । ३. हे प्रभो ! **त्वम्**=आप ही **भद्रः**=कल्याण और सुख प्राप्त करानेवाले हैं, **क्रतुः असि**=आप ही कर्म व प्रज्ञान हैं । आपकी शक्ति से ही सब यज्ञादि कर्म हुआ करते हैं—**'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'** । आप ही सम्पूर्णज्ञान के स्रोत हैं और सृष्टि के आरम्भ में इस वेदज्ञान को देते हैं ।

भावार्थ—प्रभु ही 'सत्पति, राजा, वृत्रहा, भद्र व क्रतु' हैं । प्रभुभक्त होने के लिए हम सत्कर्मों का सेवन करें, व्यवस्थित जीवनवाले हों, वासना को नष्ट करें, सबका कल्याण व सुख करनेवाले हों तथा ज्ञान का सञ्चय करें ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभुरक्षा में मृत्यु कहाँ ?

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे । प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः ॥६॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो ! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **जीवातुम्**=जीवन को **वशः**=चाहते हो **च**=और हम भी उस जीवन को चाहते हुए उसके लिए यत्नशील होते हैं तो **न मरामहे**=हम असमय में मरते नहीं । यहाँ 'त्वं च', 'और आप भी'—ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । हम तो चाहें ही और हमारी वह इच्छा पुरुषार्थ के रूप में प्रकट हो । तब प्रभुकृपा होने पर हमारी मृत्यु नहीं होती । २. आप **प्रियस्तोत्रः**= 'प्रिय हैं स्तोत्र जिनके'—ऐसे हैं । आपके स्तोत्रों के उच्चारण से प्रीति का अनुभव होता है । **वनस्पतिः**= आप हमारे सौन्दर्यों के रक्षक हैं (loveliness) । आप ही यश (glory) व धन (wealth)—के साथी हैं । आपका स्तवन करता हुआ मैं सौन्दर्य, यश, व धन प्राप्त करता हूँ ।

भावार्थ—हम दीर्घजीवन के लिए यत्नशील हों । प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु की कृपा के पात्र बनें तो असमय की मृत्यु से बचकर हम सौन्दर्य, यश व धनसम्पन्न जीवन बितानेवाले होते हैं ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—वर्धमाना गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

दीर्घजीवन के लिए क्या करें

त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते । दक्षं दधासि जीवसे ॥७॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो ! **त्वम्**=आप **महे**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले के लिए **भगम्**=सेवनीय धन को **दधासि**=धारण करते हो । जो भी व्यक्ति आपकी प्रेरणाओं के अनुसार अपने नियत कर्मों को करता हुआ आपका पूजन करता है, उसके लिए आप जीवन के लिए आवश्यक धन देते ही हैं । **'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'** । **त्वम्**=आप **यूने**=(यु मिश्रणामिश्रण) अपने साथ भद्र को जोड़नेवाले और अभद्र को अपने से पृथक् करनेवाले के लिए **ऋतायते**=अपने साथ ऋत—यज्ञ को जोड़नेवाले के लिए **दक्षम्**=बल को **दधासि**=धारण करते हैं ताकि **जीवसे**=यह उत्तम जीवन बिता पाये, दीर्घजीवी हो सके । ३. दीर्घजीवन के लिए धन व बल दोनों ही आवश्यक हैं । इस भौतिक शरीर को दीर्घकाल तक ले-चलने के लिए 'धन' बाह्य साधन है और 'बल' आन्तरिक साधन । दोनों के होने पर ही दीर्घजीवन सम्भव है । इन्हें प्राप्त करने के लिए हमें 'महे, यूने व ऋतायते' शब्द संकेत कर रहे हैं कि हम (क) पूजा की वृत्तिवाले बनें, (ख) गुणों का ग्रहण व दोषों का त्याग करें, (ग) अपने साथ **ऋत**= यज्ञ का सम्बन्ध स्थापित करें ।

भावार्थ—पूजा की वृत्तिवाले, गुणग्राही (दोषत्यागी), यज्ञशील बनकर हम धन व बल प्राप्त करें ताकि दीर्घजीवनवाले बन सकें ।

सूचना—दीर्घजीवन के लिए हमारा पुरुषार्थ 'महे, यूने व ऋतायते' शब्दों से सूचित हो रहा है । छठे मन्त्र में प्रभुकृपा का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में जीव के पुरुषार्थ का ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्रभुभक्त-मैत्री

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः । न रिष्येत्त्वावतः सखा ॥८॥

१. **सोम**=हे शान्त प्रभो ! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **अघायतः**=पाप व

बुराई को चाहनेवाले पुरुष से **रक्ष**=रक्षित करिए। हे **राजन्**=सारे संसार का शासन करनेवाले प्रभो! **त्वावतः सखा**=आप-जैसे का मित्र **न रिष्येत्**=हिंसित नहीं हो सकता। २. प्रभु का स्मरण हमें पापों से बचाता है। अन्तःस्थित प्रभु के स्मरण से हमारा झुकाव अशुभ की ओर नहीं होता और अपने को प्रभु की गोद में अनुभव करने पर हम निर्भयता को प्राप्त करते हैं। उस समय अघ को चाहनेवाले पुरुषों का हम शिकार नहीं बनते। ३. इस संसार में **त्वायतः**=प्रभु-जैसों का अर्थात् प्रभुभक्तों का मित्र बनने पर हमारी हिंसा नहीं होती। इन प्रभुभक्तों के सम्पर्क में हमारी वृत्ति भी सुन्दर बनी रहती है। ये प्रभु की ओर चल रहे होते हैं। इनके मित्र बनकर इनके पीछे चलते हुए हम भी प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें पापी पुरुषों से बचाएँ। प्रभुभक्तों का मित्र कभी हिंसित नहीं होता।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभुरक्षण का पात्र 'दाश्वान्'

सोम यास्ते मयोभुव ऊतयः सन्ति दाशुषे। ताभिर्नोऽविता भव ॥९॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाली **ऊतयः**=रक्षाएँ **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए **सन्ति**=हैं **ताभिः**=उन रक्षाओं से **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक **भव**=होओ। २. दाश्वान् पुरुष को प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है। दाश्वान् पुरुष वह है जोकि (क) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला है, प्रभु की इच्छा में अपनी इच्छा को मिला देता है, (ख) प्रभु पर आश्रय रखने के कारण ही यह दान देनेवाला है। यह यज्ञादि में धन का विनियोग करनेवाला है। इस दाश्वान् की प्रभु अवश्य रक्षा करते हैं। दाश्वान् का जीवन बड़ा सुखी चलता है। हम भी दाश्वान् बनें और प्रभु के रक्षणों को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु दाश्वान् पुरुष का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

यज्ञ व स्तुतिवचन

इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि। सोम त्वं नो वृधे भव ॥१०॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **इमं यज्ञम्**=इस हमसे किये जाते हुए यज्ञ को तथा **इदं वचः**=इस स्तुतिवचन को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **उपागहि**=हमें समीपता से प्राप्त होओ और **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव**=होओ। २. प्रभु की प्रीति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) यज्ञशील हों और (ख) स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाले हों। यह यज्ञशीलता और उपासन हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। २. यह प्रभु की समीपता हमें निष्पापता व निर्भयता प्राप्त कराके सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त कराती है। पाप से भय का सञ्चार होता है, भय से अशक्ति और अशक्ति से अवनति होती है।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों तथा प्रभु के उपासक बनें ताकि जीवन में उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सकें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृद् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्रभु की सुमृळीकता

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः। सुमृळीको न आ विश ॥११॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो ! **वचोविदः**=स्तुतिवचनों को जाननेवाले, वेदवाणी को प्राप्त करनेवाले **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **गीर्भिः**=इन स्तुतिवचनों से **वर्धयामः**=बढ़ाते हैं, आपके यश को चारों ओर फैलाते हैं। **सुमृळीकः**=उत्तम सुख देनेवाले आप **नः**=हमें **आविश**=प्राप्त होओ। २. हम प्रभु का स्तवन करते हैं, प्रभु हममें प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् प्रभुस्तवन से वे स्तुतिवचन हमारे सामने एक लक्ष्यदृष्टि को पैदा करते हैं। उस लक्ष्य की ओर चलने से हममें भी वे दिव्यगुण वृद्धि को प्राप्त करते हैं। उन दिव्यगुणों का हममें प्रवेश ही प्रभु का प्रवेश है। इस प्रवेश के अनुपात में हमारा जीवन सुखी होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। स्तुति से प्रभु के गुण हममें प्रविष्ट होते हैं। इस दिव्यता के प्रवेश से हमारा जीवन सुखी होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।

प्राणशक्ति व वसु

गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव ॥१२॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि प्रभु 'सुमृळीक' हैं। उसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे प्रभु **गयस्फानः**=(गयाः=प्राणाः—श० १४।८।१५।७) प्राणों के वर्धक हैं, हमारी प्राणशक्ति के बढ़ानेवाले हैं। प्राणशक्ति के वर्धन द्वारा वे **अमीवहा**=सब रोगों के नष्ट करनेवाले हैं। 'प्राणशक्ति की वृद्धि व रोगनाश' मनुष्य को स्वस्थ बनाता है, स्वास्थ्य से जीवन सुखी होता है। २. वे प्रभु **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाले हैं और इस प्रकार **पुष्टिवर्धनः**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। वसुओं के अभाव में ही पुष्टि न होने की आशंका होती है। २. हे **सोम**=शान्त प्रभो ! इस प्रकार आप **नः**=हमारे लिए **सुमित्रः**=उत्तमता से पूर्णतया रोगों व पापों से बचानेवाले **भव**=होओ। प्राणशक्ति के अभाव में रोग आते हैं, वसुओं के अभाव में पाप आता है (बुभुक्षितः किं न करोति पापम्)। प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा प्रभु हमें रोगों से और वसुओं के वर्धन द्वारा पापों से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'गयस्फान, अमीवहा, वसुवित् व पुष्टिवर्धन' हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'हृदय' प्रभु का मन्दिर हो

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्य इव स्व ओक्ये ॥१३॥

१. ग्यारहवें मन्त्र में कहा था कि प्रभु के प्रवेश से हमारा जीवन सुखी होता है, अतः उसी के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—हे **सोम**=शान्त प्रभो ! आप **नः**=हमारे **हृदि**=हृदय में **रारन्धि**=रमण कीजिए। हमारा हृदय आपसे रम जाए। आप आनन्दमय हैं। आपके मेरे हृदय में रमण करने पर मुझे भी उस आनन्द का अनुभव क्यों न होगा ! २. आप मेरे हृदय में उसी प्रकार रमण करिए **न**=(न इव) जैसेकि **गावः**=गौएँ **यवसेषु**=घास व चरी में रम जाती हैं अथवा **इव**=जैसेकि **मर्यः**=मनुष्य **स्वे ओक्ये**=अपने घर में **आ** (रमते)=आनन्द का अनुभव करता है। गौएँ चरी में कैसी मस्त होती हैं ! बस उसी प्रकार मेरा हृदय प्रभु का प्रिय निवासस्थान बने। प्रभु को हृदय में स्थापित करके मैं आनन्द में मस्त हो जाऊँ। मनुष्य के लिए घर सर्वाधिक प्रिय है। मेरा हृदय प्रभु के लिए प्रिय बने।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का प्रिय निवासस्थान बने। मैं अपने हृदय को प्रभु का प्रिय स्थान बनाने के लिए उसे शुद्ध बनाऊँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—विराड् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

शक्ति और प्रज्ञा

यः सोम सख्ये तव रारणद्देव मर्त्यः । तं दक्षः सचते कविः ॥१४॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो ! **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **रारणत्**=आपके साथ बातचीत करता है (उपसंवदते—द०) अथवा आपके लिए स्तुतिवचनों का प्रयोग करता है, हे **देव**=हृदय को ज्ञानज्योति से दीप्त करनेवाले प्रभो ! **तम्**=उस मनुष्य को **दक्षः**=सम्पूर्ण शक्तियों के स्वामी **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ आप **सचते**=प्राप्त होते हो । आपकी प्राप्ति से वह पुरुष भी शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त करता है । २. जीवन का आनन्द व शान्ति प्रभु की मित्रता में है । प्रभु के साथ मित्रभाव से बात करने में कितना उत्कर्ष है ! इस मित्रता से ही बल व बुद्धि प्राप्त होती है ।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र बनें । यह मित्रता हमें सबल व प्रज्ञावान् बनाएगी ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

अभिशस्ति व अंहस् से दूर

उरुष्या णो अभिशस्तेः सोम नि पाह्यंहसः । सखा सुशेव एधि नः ॥१५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के मित्र बनते हैं तो हमारी यही प्रार्थना होती है कि हे **सोम**=शान्त प्रभो ! आप **नः**=हमें **अभिशस्तेः**=अभिशंसन से, अभिशापरूप निन्दा से, किसी को कोसने से **उरुष्य**=निश्चय से बचाइए । हमारे मुख से किसी के लिए कोई अशुभ शब्द उच्चारित न हो । हे सोम ! आप हमें **अंहसः**=अन्य पापों से भी **निपाहि**=निश्चय से बचाइए और इस प्रकार **नः**=हमारे **सखा**=मित्र और **सुशेवः**=उत्तम सुख देनेवाले **एधि**=होओ । २. औरों का अभिशंसन—निन्दन एक ऐसा पाप है जो हमारी गिरावट का ही कारण नहीं बनता, वह हमें औरों का विरोधी भी बना देता है । वे लोग हमारे शत्रु बन जाते हैं और जीवन में अशान्ति की वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार 'कुटिलता' अंहस् है । यह भी उभयलोक-विनाशिनी ही है । प्रभु हमारे मित्र हैं । मित्र वही होता है जो प्रमीति से—पाप से बचाता है । प्रभु हमें इन अभिशस्ति व अंहस् से बचाकर सुखी जीवनवाला करते हैं ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम औरों की निन्दा और कुटिलतारूपी पापों से दूर होकर सुखी जीवनवाले हों ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—सोमः । छन्दः—पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

वृष्ण्यं वाजः

आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥१६॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो ! आप **आप्यायस्व**=हमारा सब प्रकार से वर्धन कीजिए । **ते वृष्ण्यम्**=आपकी शक्ति **विश्वतः**=सब ओर से **समेतु**=हमें प्राप्त हो । आप **वाजस्य**=वाज के **संगथे**=संगमन व प्रापण में **भव**=हमारे सहायक होओ, अर्थात् आप हमें वाज प्राप्त कराइए । २. 'वृष्ण्यं' शब्द वीर्य का वाचक है । यह हमें सर्वतः प्राप्त हो । प्रभु ने इसे शरीर में उत्पन्न करने की व्यवस्था की है । शरीर में व्याप्त होकर यह हमारा सब प्रकार से वर्धन करनेवाला होता है । इसके द्वारा प्रभु हमें वाज की प्राप्ति कराते हैं । यह वाज अन्नमयकोश में गति (speed) है । यही प्राणमयकोश में शक्ति (strength) के रूप में है । मनोमयकोश में यह त्याग (Sacrifice) है और विज्ञानमयकोश में यह ज्ञान के रूप में है (गतेस्त्रयो

ऽर्थाः, ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च)। इन सम्पूर्ण वाजों का मूल 'वृष्ण्यम्'=वीर्य ही है। इसी से सब प्रकार की वृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें वीर्य व वीर्य के द्वारा वाज प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—परोष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

ज्ञानदीप्ति व वर्धन

आ प्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरंशुभिः। भवा नः सुश्रवस्तमः सखा वृधे ॥१७॥

१. हे **मदिन्तम**=अत्यन्त आनन्दमय **सोम**=शान्त प्रभो! **आप्यायस्व**=आप हमारा समन्तात् वर्धन कीजिए। हमें सब कोशों का बल प्राप्त हो। अन्नमय कोश तेज से, प्राणमय वीर्य से, मनोमय ओज व बल से, विज्ञानमय बुद्धि से तथा आनन्दमय सहस् से परिपूर्ण हो। २. आप **विश्वेभिः अंशुभिः**=सब ज्ञान की किरणों से **नः**=हमारे लिए **सुश्रवस्तमः**=अधिकाधिक उत्तम ज्ञानवाले **भव**=होओ। वस्तुतः इस ज्ञान से ही सब मलों का दाह होकर उन्नति सम्भव होती है। ३. हे प्रभो! आप **सखा**=ज्ञानप्रदाता हमारे मित्र हो और इस ज्ञान के द्वारा **वृधे**=हमारे वर्धन के लिए होते हो। उन्नति सदा ज्ञान के अनुपात में ही होती है।

भावार्थ—प्रभु अपनी ज्ञानदीप्ति से हमारे ज्ञान का वर्धन करके हमारी वृद्धि करनेवाले हमारे मित्र हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

दुग्ध, अन्न व ज्ञान

सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥१८॥

१. हे **अभिमातिषाहः**=अभिमान आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **पयांसि**=आप्यायन के, वर्धन के कारणभूत दुग्ध **संयन्तु**=हमें प्राप्त हों। **उ**=और **वाजाः**=शक्ति देनेवाले अन्न (foods in general) **संयन्तु**=प्राप्त हों। इन दुग्धों व अन्नों के प्रयोग से **वृष्ण्यानि**=वीर्यशक्तियाँ हमें **सं** (यन्तु)=प्राप्त हों। यहाँ यह बात स्पष्ट है कि शक्ति की प्राप्ति दुग्ध व अन्न से होती है। मांस मांस को ही बढ़ाता है; वह शक्ति नहीं देता **'मांसं मांसेन वर्धते'**। २. हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए **आप्यायमानः**=हमारा वर्धन करते हुए **दिवि**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों को **धिष्व**=धारण कीजिए, स्थापित कीजिए। **'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'**—इस गीता-वाक्य के अनुसार आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट ज्ञान है। उपनिषदों में इसे ही 'परा विद्या' शब्द से स्मरण किया गया है। यजुर्वेद में यही विद्या है। प्रकृति-विद्या को वहाँ 'अ-(परा)-विद्या' नाम से स्मरण किया गया है। 'किसने कितने युद्ध किये, कितने व्यक्ति मरे' आदि ऐतिहासिक ज्ञान तो ज्ञान ही नहीं है। वह सूचनामात्र (mere information) ही है। उसका अमृतत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ—हम प्रभु से प्राप्त कराये गये दुग्धों व अन्नों का प्रयोग करते हुए बुद्धि को सात्त्विक बनाएँ और ज्ञानवर्धन करते हुए आत्मदर्शन द्वारा अमृतत्व का लाभ करें।

सूचना—(क) यहाँ 'अभिमातिषाहः' शब्द का प्रयोग यह सुव्यक्त कर रहा है कि सात्त्विक दुग्ध व अन्न का सेवन हमें निरहंकार बनाता है। शक्ति के साथ अहंकारशून्यता हमारा आभूषण बन

जाती है, (ख) दुग्ध व अन्न के प्रयोग से ही पराविद्या में रुचि होती है। राजस् भोजन हमें इससे पराङ्-मुख करते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

गयस्फानः प्रतरणः

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान् ॥१९॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **या ते धामानि**=जो आपके तेज हैं, उन्हें उपासक लोग **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **यजन्ति**=अपने साथ संगत करते हैं **ता ते विश्वा**=आपके वे सब तेज **यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ को **परिभूः अस्तु**=(परितो भावयितणि-- प्राप्तानि) चारों ओर से प्राप्त होनेवाले हों। हम उन तेजों को यज्ञ के द्वारा अपने साथ संगत करनेवाले हों। हे **सोम**=प्रभो! आप **दुर्यान्**=हमारे शरीररूप गृहों में **प्रचर**=विचरणवाले हों। हमारी हृदयरूप गुहा आपके विचरण की जगह हो। आप 'गुहा चरन्' तो हैं ही। आप हमारे इन शरीरों में विचरण करते हुए **गयस्फानः**=प्राणों के वर्धन करनेवाले हो, **प्रतरणः**=दुरितों से तारनेवाले हो, **सुवीरः**=उत्तमता से शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगानेवाले हो (वि ईर), **अवीरहा**=अवीरता को नष्ट करनेवाले हो। आपको प्राप्त करके मैं प्रवृद्ध प्राणशक्तिवाला—दुरित से दूर—कामादि को कम्पित करनेवाला, अवीरता से ऊपर उठा हुआ होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु के तेज यज्ञमय जीवनवाले को प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति से हम 'गयस्फान, प्रतरण, सुवीर व अवीरहा' बनते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

गौ, घोड़े, सन्तान

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै ॥२०॥

१. **यः**=जो भी व्यक्ति **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **ददाशत्**=अपना अर्पण करता है **सोमः**=वे शान्त प्रभु इसके लिए **धेनुम्**=नवसूतिका, दुग्धदात्री गौ देते हैं तथा **सोमः**=वे प्रभु **अर्वन्तम्**=उस घोड़े को देते हैं जोकि **आशुम्**=शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाला होता है, तीव्रगतिवाला होता है। २. इन गौओं और घोड़ों को प्राप्त कराके **सोमः**=वे प्रभु **वीरम्**=(वीर्याज्जायते इति वीरः) उस औरस सन्तान को **ददाति**=देते हैं जोकि (क) **कर्मण्यम्**=कर्मशील होती है, (ख) **सादन्यम्**=सदन के योग्य गृहकार्य कुशल होती है, (ग) **विदथ्यम्**=यज्ञों में कुशल, (घ) **सभेयम्**=सभा में उत्तम, सभा के शिष्टाचार को समझनेवाली तथा (ङ) **पितृश्रवणम्**=अपने कर्मों से पिता के नाम को उज्ज्वल करनेवाली अथवा माता-पिता की आज्ञा को सुननेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने से उत्तम गौएँ, घोड़े व उत्तम सन्तान प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अपराजितता

अषाळ्हं युत्सु पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।
भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम ॥२१॥

१. **सोम**=हे शान्त प्रभो ! **जयन्तम्**=विजय करते हुए **त्वां अनु**=आपके पीछे हम भी **मदेम**=आनन्द प्राप्त करें। आप **युत्सु अषाळ्हम्**=युद्धों में पराभूत न होनेवाले हैं। जब हम काम-क्रोधादि के साथ संग्राम में चलते हैं तो हृदय में आसीन आप ही इन वासनाओं को पराभूत करनेवाले होते हैं। **पृतनासु**=इन संग्रामों में **पप्रिम्**=पूरण करनेवाले आप ही हैं। आपके बिना हमारी शक्ति अति न्यून होती है। आप ही उसका पूरण करके हमारी विजय के साधक होते हैं। **स्वर्षाम्**=प्रकाश व सुख को आप प्राप्त करानेवाले हैं, **अप्साम्**=रेतःशक्ति को देनेवाले हैं (आपः=रेतः)। इस शक्ति के कारण ही **वृजनस्य**=बल के **गोपाम्**=रक्षक हैं। शत्रुओं का वर्जन करनेवाला होने से 'वृजन' बल है। **भरेषुजाम्**=(भर=यज्ञ) यज्ञों में प्रकट होनेवाले हैं—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। **सुक्षितिम्**=उत्तम निवासस्थानभूत हैं। प्रभु में निवास करनेवाले किसी भी प्रकार से अस्वस्थ नहीं होते। **सुश्रवसम्**=प्रभु उत्तम यश के कारणभूत हैं। प्रभु में निवास करनेवाले लोग सदा यशस्वी होते हैं। २. इस प्रकार प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाले व्यक्ति युद्धों में अपराजित, विजयी, सुख व प्रकाश को प्राप्त, शक्तिशाली व बल-सम्पन्न होते हैं। ये यज्ञों के द्वारा प्रभुपूजन करते हुए प्रभु में निवास करते हैं और यशस्वी जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु में निवास करनेवाला कभी पराजित नहीं होता।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—विराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ओषधियाँ, जल व सूर्यकिरणें

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥२२॥

१. हे **सोम**=शान्त परमात्मन् ! **त्वम्**=आप **इमाः**=इन **विश्वाः**=सब **ओषधीः**=ओषधियों को **अजनयः**=उत्पन्न करते हैं। **त्वम्**=आप ही **अपः**=उन जलों को भी उत्पन्न करते हो, जिनसे ये ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। **त्वम्**=आप ही **गाः**=उन सूर्यरश्मियों को उत्पन्न करते हैं जोकि इन ओषधियों का परिपाक करने और इनमें प्राणशक्ति स्थापन करने में कारण बनती हैं। २. **त्वम्**=आप ही **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आततन्थ**=विस्तृत करते हैं और इस अन्तरिक्ष में **त्वम्**=आप ही **ज्योतिषा**=ज्योति के द्वारा **तमः**=अन्धकार को **विववर्थ**=(विवृतं=विश्लिष्टं=विनष्टम्) विनष्ट करते हो। इस ज्योति के प्रकाश में ही सब मनुष्य अपने कर्मों को सुसम्पन्न करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ओषधियों, जलों व सूर्यकिरणों को उत्पन्न करते हैं। इस विशाल अन्तरिक्ष में ज्योति के द्वारा अन्धकार का विनाश करनेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दिव्य मन व सम्पत्ति

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागं सहसावन्नभि युध्य।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्र चिकित्सा गविष्टौ॥२३॥

१. हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले ! **सोम**=शान्त ! **सहसावन्**=बलसम्पन्न प्रभो ! **देवेन मनसा**=दिव्य मन के साथ **रायः भागम्**=धन के हमारे सेवनीय अंश को **नः**=हमारे लिए **अभियुध्य**=युद्ध के द्वारा प्रेरित करिए। हमें सम्पत्ति प्राप्त हो और उस सम्पत्ति के साथ दिव्यवृत्तिवाला मन भी प्राप्त हो। हम धन का दुरुपयोग करते हुए विलास में न फँस जाएँ। २. इस प्रार्थना करनेवाले जीव से प्रभु कहते हैं

कि बस, तुझे यह ध्यान रखना है कि **त्वा**=तुझे काम-क्रोधादि की कोई भी वासना **मा**=मत **तनत्**=हिंसित करनेवाली हो (तनति=to pain or afflict with disease)। इन वासनाओं के कारण तेरा शरीर रुग्ण न हो जाए। तू **वीर्यस्य ईशिषे**=वीर्य का ईश बनता है। वासनाएँ तेरे वीर्य को नष्ट करनेवाली न हों। **गविष्टौ**=इस जीवन-संग्राम (Battle) में तू **उभयेभ्यः**=दोनों से **प्रचिकित्सा**=होनेवाले उपद्रवों को दूर कर। शरीर में होनेवाले रोगों के उपद्रवों को और मन में होनेवाले काम-क्रोधादि के क्षोभ को तू दूर करनेवाला बन।

भावार्थ—हमें दिव्य मन के साथ सम्पत्ति प्राप्त हो। हम रोगों व वासनाओं से पीड़ित न हों। वीर्य के ईश बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रभु हमें सरलतम मार्ग से ले-चलते हैं (१)। इस मार्ग से चलते हुए हम उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाले बनते हैं (२)। हम राजा वरुण के समान बनें (३), ओषधियों व जलों को ही शक्ति का स्रोत समझें (४), सत्कर्मों का सेवन करते हुए प्रभुरक्षण के पात्र हों (५)। प्रभु-रक्षा में मृत्यु कहाँ (६)। पूजा की वृत्तिवाले, गुणग्राही, यज्ञशील बनकर धन व बल को प्राप्त करें (७)। प्रभुभक्तों के मित्र बनें (८)। 'दाश्वान्' सदा प्रभुरक्षण का पात्र होता है (९)। हम यज्ञशील व प्रभु के उपासक बनें (१०)। वे प्रभु उत्तम सुख देनेवाले हैं (११), प्राणशक्ति के वर्धक व रोगों के नाशक हैं (१२)। हमारा हृदय प्रभु का मन्दिर बन जाए (१३)। इससे हम सबल व प्रज्ञावान् बनेंगे (१४), निन्दा व पाप से दूर रहेंगे (१५)। प्रभु हमें वीर्य व बल देंगे (१६), ज्ञानदीप्ति के द्वारा हमारा वर्धन करेंगे (१७)। हम दुग्ध व अन्न का प्रयोग करते हुए ज्ञान में रुचिवाले हों (१८)। ज्ञान द्वारा भव-सागर को तैरनेवाले हों (१९)। प्रभु दाश्वान् को उत्तम गौएँ, घोड़े व सन्तान प्राप्त कराते हैं (२०)। प्रभु में निवास करनेवाला अपराजित होता है (२१)। प्रभु ने हमारे कल्याण के लिए ओषधियों, जलों व सूर्यकिरणों का निर्माण किया है (२२)। प्रभुकृपा से हमें दिव्य मन के साथ सम्पत्ति प्राप्त हो (२३)। 'उषा प्रकाश करती है। उषर्बुध व्यक्ति का मानस भी प्रकाशमय होता है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[९२] द्विनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

उषःकाल का प्रकाश

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥१॥

१. **उ**=निश्चय से **त्याः**=वे प्रसिद्ध **एताः उषसः**=ये उषःकाल **केतुम्**=प्रज्ञापक प्रकाश को **अक्रत**=करते हैं। **रजसः**=इस अन्तरिक्षलोक के **पूर्वे अर्धे**=पूर्वभाग में **भानुम्**=प्रकाश को **अञ्जते**=व्यक्त करते हैं। उषा आती है और अन्धकार दूर होकर सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है। २. **इव**=जैसे **धृष्णवः**=धर्षणशील, शत्रु को कुचल देनेवाले योद्धा **आयुधानि**=अपने तलवार आदि शस्त्रों को **निष्कृण्वानाः**=संस्कृत करते हैं, उसी प्रकार अपने प्रकाश से जगत् को संस्कृत करती हुई **गावः**=गमनशील **अरुषीः**=आरोचमान, सर्वतो देदीप्यमान **मातरः**=सूर्यप्रकाश को जन्म देनेवाली उषाएँ **प्रतियन्ति**=प्रतिदिन आकर जानेवाली होती हैं।

भावार्थ—हम उषःकालों से बोध लेनेवाले बनें। 'प्रकाश' हमारे जीवन का लक्ष्य हो। हम अपने अज्ञान-अन्धकार को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

अरुण, अरुषी, रुशन्

उद॑पप्तन्नरु॒णा भा॒नवो॑ वृथा॑ स्वा॒युजो॒ अरु॑षी॒र्गा अ॑युक्षत।
अक्र॑न्नु॒षासो॑ व॒युना॑नि पू॒र्वथा॒ रुश॑न्तं भा॒नुमरु॑षीरशिश्रयुः॥२॥

१. **अरुणाः**=आरोचमान—खूब चमकती हुई **भानवः**=उषःकाल की दीप्तियाँ **वृथा**=अनायास ही स्वयं **उद् अपप्तन्**=उद्गत हो गईं। अब उषःकाल ने **स्वायुजः**=आसानी से रथ में जोतने योग्य **अरुषीः**=शुभ्रवर्णवाली **गाः**=किरणों को **अयुक्षत**=अपने रथ में जोता। प्रारम्भिक किरणें कुछ आरक्त (reddish) थीं, पीछे ये शुभ्रवर्ण की हो गईं। २. इस प्रकार अपनी शुभ्रवर्ण किरणों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर **उषासः**=इन उषःकालों ने **पूर्वथा**=पहले की भाँति **वयुनानि**=प्रज्ञापक प्रकाशों को **अक्रन्**=किया। उषा होने पर सब प्राणी चेतन होकर ज्ञानयुक्त हो जाते हैं, रात्रि का अज्ञान समाप्त हो जाता है। ३. अब **अरुषीः**=ये शुभ्रवर्ण के प्रकाशवाली उषाएँ **रुशन्तं भानुम्**=प्रज्वलित होते हुए सूर्य को **अशिश्रयुः**=सेवन करती हैं—उसके साथ एक हो जाती हैं। यही उषा का अन्त होता है और सूर्य का साम्राज्य प्रारम्भ होता है।

भावार्थ—प्रारम्भ में उषा कुछ लालिमा को लिये हुए होती है, थोड़ी देर बाद यह शुभ्र हो उठती है और अन्त में सूर्य से आ मिलती है। यही इसका अन्त है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

उषःकाल की प्रेरणा

अर्च॑न्ति॒ नारी॑र॒पसो॒ न वि॒ष्टिभिः॑ समा॒नेन॒ योज॑ने॒ना प॑रा॒वतः॑।
इषं॒ वह॑न्तीः सु॒कृते॑ सु॒दान॑वे॒ विश्वेद॒ह यज॑मानाय सु॒न्वते॑॥३॥

१. **नारीः**=(नृ नये) अपने प्रकाश के द्वारा सुपथ पर आगे ले-चलनेवाली उषाएँ **विष्टिभिः**=अपनी व्यापक (pervading) किरणों व तेजों से **समानेन योजनेन**=एक ही उद्योग से **आ परावतः**=दूर देश तक अर्थात् पश्चिम दिग्भाग तक **अर्चन्ति**=नभः-प्रदेश को सत्कृत करती हैं **न**=उसी प्रकार जैसे कि **अपसः**=युद्धकर्म से युक्त पुरुषों—योद्धा लोगों को राजा लोग **विष्टिभिः**=वेतन के द्वारा **अर्चन्ति**=सत्कृत करते हैं, अर्थात् उषाएँ प्रकाश से दिशाओं को उसी प्रकार अर्चित करती हैं जैसे कि राजा योद्धाओं व सेवकों को वेतन से। २. ये उषःकाल **सुकृते**=उत्तम कर्मों को करनेवाले **सुदानवे**=उत्तम दानशील (दा दाने), अच्छी प्रकार बुराइयों को काटनेवाले (दाप् लवने) तथा जीवन का शोधन करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील, **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए—शरीर में सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिए **इषम्**=प्रेरणा **वहन्तीः**=प्राप्त कराते हुए **विश्वा इत् अह**=सभी दुःखों का विनिग्रह करनेवाले होते हैं। अह (separation)। उषा की प्रेरणा उत्साह, प्रकाश व आनन्द को लिये हुए होती है। इस प्रेरणा को 'सुकृत्, सुदानु, यजमान व सुन्वत्' पुरुष प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उषा सब दिग्भागों में प्रकाश फैलाती है। इसकी 'प्रकाश व उत्साह' की प्रेरणा सब दुःखों का विनिग्रह करनेवाली होती है।

सूचना—अह=दुःखविनिग्रहे—सा०, अह=विनिग्रहार्थीयः—न० १।१५

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—विराड् जगती । स्वरः—निषादः ।

भुवन को प्रकाशित करनेवाली 'उषा'

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्यु१षा आवर्तमः ॥४॥

१. **इव**=जैसे **नृतूः**=नापित बालों को काटता है, उसी प्रकार (नॄन् तूर्वति केशेन रिक्तीकरोति) **पेशांसि**=जगत् में आश्लिष्ट कृष्णवर्ण के अन्धकारों को **अधिवपते**=आधिक्येन काट डालती है अथवा **नृतूः इव**=जैसे एक नर्तकी **पेशांसि**=दर्शनीय रूपों को (पेशस्=रूपम्) धारण करती है, उसी प्रकार उषा **पेशांसि**=दीप्तियों को **अधिवपते**=अधिक्येन धारण करती है। २. इस प्रकार अन्धकार को किरणों के द्वारा दूर करके **वक्षः**=अपने उरःप्रदेश को **अपोर्णुते**=अन्धकार से अनाच्छादित करती है। रात्रि के समय अपने पर पड़े हुए अन्धकार-वस्त्र को उतार फेंकती है। इस प्रकार उषा मानो अपने दीप्त वक्षस् को उसी प्रकार प्रकट करती है **इव**=जैसे **उस्रा**=दूध दोहन के समय गौ **बर्जहम्**=दूध के उत्पत्तिस्थान को प्रकट करती है। ३. **विश्वस्मै भुवनस्य**=सम्पूर्ण भुवन के लिए **ज्योतिः कृण्वती**=प्रकाश करती हुई यह **उषाः**=उषा **तमः**=अन्धकार को **व्यावः**—अपश्लिष्ट व दूर कर देती है। सब भुवनों में इसकी **गावः**=किरणें इस प्रकार व्याप्त हो जाती हैं **न**=जैसे **गावः**=गौएँ **व्रजम्**=अपने बाड़े को व्याप्त कर लेती हैं।

भावार्थ—उषा अपने प्रकाश से सम्पूर्ण भुवन को व्याप्त कर देती है। मेरा हृदय भी प्रकाशमय हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

'दिवः दुहिता' उषा

प्रत्यर्ची रुशदस्या अदर्शि वि तिष्ठते बाधते कृष्णमभ्वम् ।
स्वरुं न पेशो विदथेष्वञ्जञ्चित्रं दिवो दुहिता भानुमश्रेत् ॥५॥

१. **अस्याः**=इस उषःकाल का **रुशत्**=दीप्तिमान **अर्चिः**=तेजः **प्रत्यदर्शी**=प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पूर्व दिशा में देखा जाता है। यह तेज **वितिष्ठते**=सब दिशाओं में विशेष रूप से स्थित होता है और सब दिशाओं में व्याप्त होकर यह तेज **अभ्वम्**=अतिशयेन विपुल—अत्यन्त विस्तृत **कृष्णम्**=अन्धकार को **बाधते**=दूर करता है। २. **विदथेषु**=यज्ञों में **न**=जैसे अध्वर्यु लोग **स्वरुम्**=स्तम्भविशेष को—स्तम्भ के एक अंशविशेष को **अञ्जन्**=घृत से संश्लिष्ट करते हैं, उसी प्रकार **दिवः दुहिता**=यह द्युलोक की पुत्री अथवा प्रकाश का पूरण करनेवाली उषा **पेशः**=अपने दीप्त रूप को आकाश में (अनक्ति) व्यक्त करती है और तदनन्तर **चित्रं भानुम्**=इस अद्भुत ज्योतिवाले सूर्य का **अश्रेत्**=सेवन करती है, सूर्य में ही मिल जाती है।

भावार्थ—उषा अपने दीप्तिमान तेज से अन्धकार को नष्ट करती है। अपने प्रकाश से आकाश को शोभित करती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अन्धकार के पार

अतारिष्म तमसस्पारमस्योषा उच्छन्ती वयुना कृणोति।
श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती सुप्रतीका सौमनसायाजीगः ॥६॥

१. उषा के निकलने पर हम **अस्य तमसः**=इस रात्रि के अन्धकार के **पारं अतारिष्म**=पार को पा सकते हैं, अन्धकार को उत्तीर्ण होकर प्रकाश में आ जाते हैं। २. **उच्छन्ती**=अन्धकार से दूर करती हुई **उषाः**=उषा **वयुना**=प्रज्ञानों को **कृणोति**=करती है। उषा के प्रकाश में लोगों को मार्ग का ठीक ज्ञान होता है और वे भटकने से बच जाते हैं। ३. यह उषा **स्मयते**=इस प्रकार मुस्कराती हुई-सी आती है **न**=जैसे कि **श्रिये**=श्री की वृद्धि के लिए **छन्दः**=प्रार्थयिता मनुष्य मुस्कराहट को लिये हुए होता है। मुस्कराता हुआ चेहरा (Smiling face) अच्छा प्रतीत होता है, दूसरों पर उसका उत्तम प्रभाव होता है। ४. यह **विभाती**=विशिष्ट प्रकाशवाली **सुप्रतीका**=उत्तम अङ्गों व चेहरेवाली उषा **सौमनसाय**=सौमनस्य के लिए, लोगों के चित्त के प्रसादन के लिए **अजीगः**=अन्धकार को निगल जाती है। प्रकाश में प्रसन्नता है, अन्धकार में विषाद। उषा वह प्रकाश प्राप्त कराती है, जिसमें किसी प्रकार का सन्ताप नहीं होता। इस प्रकाश में मनुष्य प्रसन्न मनवाला होता है।

भावार्थ—उषा आती है, अन्धकार को निगल जाती है और हमारे चित्तों को प्रसन्न कर देती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सूनृतानां नेत्री

भास्वती नेत्री सूनृतानां दिवः स्तवे दुहिता गोतमेभिः।
प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यानुषो गोअग्राँ उप मासि वाजान् ॥७॥

१. **भास्वती**=प्रकाशवाली **सूनृतानां नेत्री**=प्रिय, सत्यवाणियों का प्रणयन करनेवाली **दिवः दुहिता**=यह प्रकाश का पूरण करनेवाली उषा **गोतमेभिः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषों से **स्तवे**=स्तुत होती है। प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए यह उषःकाल प्रभु के शुभ नामों के उच्चारण के लिए तथा स्वाध्याय द्वारा अपने अन्दर ज्ञान-ज्योति भरने के लिए होता है। सामान्य मनुष्य भी उस समय किसी को कुछ अशुभ बोलते सुनकर कह उठते हैं कि—'अरे भाई! सवेरे-सवेरे यह क्या शब्द बोलने लग गये?' २. हे **उषः**=उषो देवते! तू भी स्तुत होकर उन **वाजान्**=उत्तम अन्नों को **उपमासि**=देती है जोकि **प्रजावतः**=प्रकृष्ट विकास का कारण बनते हैं, **नृवतः**=उत्तम मनुष्योंवाले होते हैं, **अश्वबुध्यान्**=(अश्वबुध्नान्) उत्तम कर्मेन्द्रियाँ जिनके मूल में हैं और **गो अग्रान्**=ज्ञानेन्द्रियाँ जिनके अग्रभाग में हैं, अर्थात् जिन अन्नों से (क) शरीर की शक्तियों का विकास ठीक से होता है अथवा उत्तम सन्तानों को जन्म मिलता है, (ख) जिनसे मनुष्य प्रगतिशील (नृ) बनते हैं, (ग) जिनसे कर्मेन्द्रियों की शक्तियों का विकास होता है और (घ) जो ज्ञानेन्द्रियों को उच्च ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं, उन अन्नों को यह उषा इन स्तोताओं के लिए प्राप्त कराती है। इन अन्नों के सेवन करने पर ही 'भास्वती व नेत्री सूनृतानाम्' ये विशेषण संगत प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—उषःकाल ज्ञान-प्राप्ति व प्रभुस्तवन के शुभ शब्दों के लिए ही विनियुक्त होना चाहिए। ऐसी वृत्ति के लिए सात्त्विक अन्नों का सेवन आवश्यक है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

सुभगा उषा

उषस्तमश्यां यशसं सुवीरं दासप्रवर्गं रयिमश्वबुध्यम् ।
सुदंससा श्रवसा या विभासि वाजप्रसूता सुभगे बृहन्तम् ॥८॥

१. हे **उषः**=उषो देवते ! मैं **तं रयिम्**=उस धन को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ जोकि **यशसम्**=यश का कारण है, मुझे यशस्वी बनाने का साधन बनता है, **सुवीरम्**=उत्तम वीरतावाला है, व उत्तम सन्तानोंवाला है। धन के कारण मैं निर्बल न बन जाऊँ, मेरी सन्तानें भी विकृत मार्ग का अवलम्बन करनेवाली न हो जाएँ, **दासप्रवर्गम्**=नाशक तत्त्वों (दसु उपक्षये) का प्रकर्षेण वर्जन करनेवाली है धन प्राप्त करके मैं विनाश के कार्यों में प्रवृत्त न हो जाऊँ, **अश्वबुध्यम्**=यह धन इन्द्रियरूप मूलवाला हो, इसके कारण इन्द्रियों की शक्ति बढ़ी रहे । हे **वाजप्रसूता**=हमारे लिए उत्तम अन्नों को देनेवाली **या**=जो तू **सुदंससा**=उत्तम यज्ञादि कर्मों से तथा **श्रवसा**=प्रकाश से **विभासि**=चमकती है वह **सुभगे**=उत्तम भगों—ऐश्वर्योंवाली उषा ! तू **बृहन्तम्**=वृद्धि के कारणभूत धनों को हमें प्राप्त करा । हम उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए उत्तम यज्ञादि कर्मों व ज्ञानप्राप्ति में संलग्न हों, ताकि वृद्धि के कारणभूत उत्तम धनों को प्राप्त करें ।

भावार्थ—हमारा उषःकाल उत्तम कर्मों व स्वाध्याय में बीते, ताकि हम उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाले बनें ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

उषा द्वारा जागरण

विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया वि भाति ।
विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः ॥९॥

१. **देवी**=प्रकाशमयी—हृदयों में दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली यह उषा **विश्वानि भुवना**=सब लोकों को **अभिचक्ष्या**=प्रकाशित करके **प्रतीची**=(प्रति अञ्च) प्रत्येक व्यक्ति की ओर जानेवाली **चक्षुः**=प्रकाशक आँख के समान **उर्विया विभाति**=खूब ही दीप्त होती है अथवा (उर्विया=उर्व्या—द०) इस पृथिवी के साथ सुशोभित होती है । इस पृथिवी को अपनी शोभा से शोभायुक्त करती है । २. यह उषा **विश्वं जीवम्**=सब प्राणियों को **चरसे**=इधर-उधर विचरण के लिए **बोधयन्ती**=बोधयुक्त करती हुई है, सबको अपने-अपने कार्य में लगने के लिए जागरित कर देती है । ३. यह उषा **विश्वस्य**=सब **मनायोः**=विचारशील पुरुषों के **वाचम्**=स्तुतिवचनों को **अविदत्**=प्राप्त करती है । सब विचारशील पुरुष प्रातः उठकर प्रभु के उपासन व स्तवन में प्रवृत्त होते हैं ।

भावार्थ—उषा का प्रकाश सबके लिए मार्ग दर्शन करता है । उषा सबको कार्यों में व्यापृत होने के लिए जगाती है और विचारशील पुरुष उषाःकाल में प्रभुस्तवन में प्रवृत्त होते हैं ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

एक-एक दिन का जाना

पुनःपुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना ।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः ॥१०॥

१. यह **पुनः-पुनः जायमाना**=फिर-फिर प्रतिदिन प्रादुर्भूत होती हुई **पुराणी**=सनातन काल से चली आ रही उषा **समानं वर्णम्**=एक ही रूप को **अभि**=(अभिप्राप्य) प्राप्त करके **शुम्भमाना**=शोभा-वाली होती है। दिनों के भिन्न-भिन्न रूप में होने पर भी यह उषःकाल लगभग एक-सा ही रहता है। दिन की अत्युष्णता व अतिशीतता के प्रभाव से यह मुक्त-सा ही रहता है। उषःकाल का प्रकाश किसी भी ऋतु में सन्तापक नहीं होता। २. यह **देवी**=प्रकाशमयी उषा **मर्तस्य**=मरणधर्मा मनुष्य की **आयुः**=आयु को **जरयन्ती**=जीर्ण करनेवाली है। प्रतिदिन यह आती है और मनुष्य के आयुष्य का एक दिन समाप्त हो जाता है। 'Every evening cuts our lives short by a day.'— इस वाक्य में ईवनिंग के स्थान में मॉर्निंग पढ़ा जाए तो मन्त्र का यह अक्षरशः अनुवाद हो जाए। यह उषा उसी प्रकार हमारी आयुओं को जीर्ण करती है **इव**=जैसे **कृत्नुः**=पक्षियों के पंखादिक की कर्तनशीला **श्वघ्नी**=(श्वहन्) कुत्तों के द्वारा मृगादि का हनन करनेवाली बाघस्त्री **विजः**=भय के कारण भाग खड़े होनेवाले पशुओं को **आमिनाना**=हिंसित करती है। आज उषःकाल आया है। हमारे आयुष्य का एक दिन कट गया है। ऐसा सोचने पर हम समय के महत्त्व को समझेंगे और कार्यों को कल-कल पर न टालते हुए उन्हें उत्साह से करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—सनातन काल से उषा का आगमन एकरसता से हो रहा है। हमारे आयुष्य का एक-एक दिन इसके आने के साथ समाप्त होता जा रहा है, अतः हमें अनालस्यभाव से कार्यों को शीघ्रता से करना है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

युग-परिवर्तन

व्यूर्ण्वती दिवो अन्ताँ अबोध्यप स्वसारं सनुतर्युयोति।
प्रमिनती मनुष्या युगानि योषा जारस्य चक्षसा वि भाति॥११॥

१. **दिवः**=आकाश के **अन्तान्**=प्रान्तों को **वि ऊर्ण्वती**=विवृत अर्थात् अन्धकार से वियुक्त (अनाच्छादित) करती हुई **उषा**=उषा **अबोधि**=सब प्राणियों से ज्ञात होती है। सब प्राणी यही अनुभव करते हैं कि उषा ने सब दिशाओं के अन्धकार को दूर करके प्रकाश-ही-प्रकाश कर दिया है। २. अब यह उषा **स्वसारम्**=(स्वयं सरति) अपने-आप ही जाने के लिए प्रवृत्त होती हुई इस अपनी बहिनरूप निशा को **सनुतः**=(अन्तर्हितानाम्) किसी अन्तर्हित प्रदेश में **अपयुयोति**=(अपगमय्य पृथक् करोति) दूर करके पृथक् कर देती है, मानो रात्रि को कहीं छिपा-सा देती है। ३. यह उषा **मनुष्या युगानि**=मनुष्य-सम्बन्धी युगों को **प्रमिनती**=प्रतिदिन आने और जाने से हिंसित करती है। मनुष्यों का आयुष्य तो एक-एक दिन करके यह कम कर ही रही है, साथ ही इसके आवागमन से युग बीतते जाते हैं—कृतयुग गया, त्रेता आया; त्रेता गया, द्वापर आया; द्वापर गया, कलि आया। इस प्रकार यह उषा युगों को समाप्त कर रही है। ४. **जारस्य**=रात्रि को जीर्ण करनेवाले सूर्य की **योषा**=पत्नी के समान यह उषा (या+उषा) **चक्षसा**=अपने पतिरूप सूर्य के प्रकाश से **विभाति**=विशेषरूपेण दीप्त होती है। उषा को आनेवाले सूर्य की किरणें ही दीप्त कर रही होती हैं। यहाँ यह संकेत सुव्यक्त है कि पत्नी की शोभा पति की शोभा से ही है।

भावार्थ—उषा आती है, रात्रि को छिपा-सा देती है। इसके आवागमन से युग बदलते हैं। यह प्रतिदिन आनेवाले सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

दैव्य व्रत (उपासना व स्वाध्याय)

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत् ।
अमिनती दैव्यानि व्रतानि सूर्यस्य चेति रश्मिभिर्दृशाना ॥१२॥

१. **पशून् न**=जैसे एक ग्वाला चरागाह में पशुओं को फैला देता है और **न**=जिस प्रकार **सिन्धुः**=स्यन्दनशील **क्षोदः**=उदक (पानी) निम्न प्रदेश में फैल जाता है, इसी प्रकार **चित्रा**=यह पूजनीय (चायनीय) ज्ञान देनेवाली, प्रकाश प्राप्त करानेवाली **सुभगा**=सुन्दरता से युक्त—सौभाग्यवाली उषा **प्रथाना**=इस द्युलोक में प्रकाश फैलाती हुई **उर्विया व्यश्वैत्**=खूब ही व्याप्त हो जाती है, सारे जगत् में प्रकाश-ही-प्रकाश कर देती है । उषःकाल मानो ग्वाले के समान है, यह किरणरूप गौवों को जगद्रूप चरागाह (गोचरभूमि) में फैला देती है । उषा एक स्रोत के समान है, यह किरणरूप जलधाराओं को जगद्रूप निम्न प्रदेश में व्याप्त कर देती है । २. यह उषा **दैव्यानि व्रतानि**=देव-सम्बन्धी व्रतों को **अमिनती** हिंसित करनेवाली नहीं होती । इस उषा में सज्जन लोग प्रभुभक्ति के लिए किये जानेवाले उपासना व स्वाध्याय आदि कर्मों में लगे रहते हैं । उनके ये दैव्य व्रत कभी विच्छिन्न नहीं होते । ३. यह उषा **सूर्यस्य**=सूर्य की **रश्मिभिः**=किरणों से **दृशाना**=जगत् के पदार्थों को दिखाती हुई **चेति**=जानी जाती है । वस्तुतः उषा का प्रकाश सूर्य की प्रारम्भिक किरणों का ही प्रकाश है । इसी प्रकाश को उषा का अरुण प्रकाश कहते हैं ।

भावार्थ—उषा का प्रकाश जगत् में फैलता है, उसके साथ ही देववृत्ति के लोग उपासना व स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होते हैं ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—निचृत्परोष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

यज्ञ

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति । येन तोकं च तनयं च धामहे ॥१३॥

१. वाज का अर्थ हविर्लक्षण अन्न है । उससे युक्त क्रिया को 'वाजिनी' कहते हैं । उषा में ये यज्ञादि चलते हैं, अतः उषा 'वाजिनीवती' है । हे **वाजिनीवति**=यज्ञादि उत्तम क्रियाओंवाली **उषः**=उषे ! **तत्**=उस **चित्रम्**=अद्भुत व ज्ञान देनेवाले धन को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आभर**=प्राप्त करा **येन**=जिससे कि **तोकं च**=अपने पुत्रों को भी **तनयं च**=और पौत्रों को भी **धामहे**=हम धारण करनेवाले बनें । २. हमारा उषःकाल यज्ञों व स्वाध्याय में बीते । यह हमारे जीवनों को पवित्र करेंगे और स्वाध्याय हमें ज्ञान परिपूर्ण करेगा । इस प्रकार पवित्र व ज्ञानी बनकर, इस ज्ञान को आगे देते हुए हम अपने सन्तानों के जीवनों को सुन्दर बनानेवाले हों ।

भावार्थ—उषा हमें वह ज्ञान दे जोकि हमारे पुत्र और पौत्रों का भी कल्याण करनेवाला हो ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—विराट् परोष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

उषःकाल का धन

उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि । रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति ॥१४॥

१. हे **उषः**=उषे ! **अद्य**=आज **इह**=इस जीवन में तू **अस्मे**=हमारे लिए **रेवत्**=धनयुक्त होकर **व्युच्छ**=रात्रि के अन्धकार को दूर कर दे । २. उषःकाल हमें क्या धन प्राप्त कराए ? इसके लिए निम्न सम्बोधन-शब्द सुन्दर संकेत कर रहे हैं—(क) **गोमति**=तू उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली हो, (ख)

अश्वावति=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली हो, (ग) **विभावरि**=प्रकाशवाली हो तथा (घ) **सूनृतावति**=प्रिय सत्यवाणीवाली हो। ३. उषा को इन नामों से सम्बोधन करते हुए स्पष्ट कर रहे हैं कि जो भी व्यक्ति उषर्बुध बनते हैं वे उषःकाल में जागकर यज्ञ, उपासना व स्वाध्याय आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले लोग उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले, प्रकाशमय जीवनवाले तथा प्रिय, सत्य, वाणीवाले होते हैं।

भावार्थ—उषर्बुध व्यक्ति 'ज्ञान, कर्म, प्रकाश व प्रियवाणीरूप' धनवाले बनते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—विराट् परोष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

सौभगों की प्राप्ति

युक्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उषः। अथा नो विश्वा सौभगान्या वह ॥१५॥

१. हे **वाजिनीवति**=हविर्लक्षण अन्नों से युक्त, यज्ञादि क्रियाओंवाली **उषः**=उषा देवी! **हि**=निश्चय से **अद्य**=आज **अरुणान् अश्वान्**=अरुण वर्ण के किरणरूप अश्वों को **युक्ष्व**=तू अपने रथ में जोत अर्थात् अरुण वर्ण की किरणों को लिये हुए तू उदय हो। २. **अथ**=अब उदय होकर **नः**=हमारे लिए **विश्वा सौभगानि**=सम्पूर्ण सौभाग्यों को **आवह**=प्राप्त करा। **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।'** 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य'—ये छह भग हैं। उषा से इनकी प्राप्ति के लिए यहाँ प्रार्थना की गई है। जीवन के प्रातःसवन में ऐश्वर्य व धर्म का, माध्यन्दिन सवन में यश व श्री तथा सायन्तन सवन में ज्ञान और वैराग्य का महत्त्व है। इस सब भगों को उस-उस समय यह उषा ही प्राप्त कराती है।

भावार्थ—उषा आये और हमारे लिए सौभगों को लानेवाली हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—उषा। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

गोमद्-हिरण्यवद्-'गृह'

अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत्। अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम् ॥१६॥

१. उषा देवता के सूक्त की समाप्ति पर अश्विनी देवों के तीन मन्त्र यह संकेत कर रहे हैं कि प्रातःकाल इन अश्विनी देवों का आराधन भी आवश्यक है। इनका आराधन यह है कि प्राणसाधना के लिए प्राणायाम किया जाए। प्राणापान ही तो अश्विनी देव हैं। इनसे प्रार्थना करते हैं कि हे **दस्रा**='शत्रूणामुपक्षपयितारौ'=रोगकृमिरूप शत्रुओं को, इन्द्रियों के दोषों को—काम-क्रोधादि को तथा बुद्धि की कुण्ठता को नष्ट करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **समनसा**=(सम् अनसा)=उत्तम (अन प्राणने) प्राणशक्तिवाले व जीवन में उत्साह का सञ्चार करनेवाले हो। आप **रथम्**=अपने रथ को **अस्मत्**=हमारे **वर्तिः**=इस शरीररूप गृह के (शरीर वर्ति है, सब क्रियाओं का वर्तन इसी में चलता है) **अर्वाक्**=अभिमुख **नियच्छतम्**=रोको जिससे हमारा यह शरीररूप गृह **आ**=सब प्रकार से **गोमत्**=उत्तम इन्द्रियों-वाला (गावः इन्द्रियाणि) तथा **हिरण्यवत्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) उत्तम ज्योतिवाला हो। प्राणसाधना करने पर इन्द्रियों के दोष तो दूर होते ही हैं, साथ ही बुद्धि भी बड़ी तीव्र बनती है और उससे ज्ञान की दीप्ति होकर विवेकख्याति प्राप्त होती है। आत्मा व शरीर के पार्थक्य का दर्शन सुस्पष्ट हो जाता है। २. अश्विनी देवों का रथ को हमारे घर के अभिमुख रोकने का अभिप्राय यही है कि हमारे जीवन में प्राणायाम पूरे बल से चले। प्राणसाधना होने पर शरीर में किसी प्रकार के नाशक तत्त्व न रह पाएंगे। ये प्राणापान उनका उपदसन व क्षय कर देंगे।

भावार्थ—प्राणापान सब मलों का क्षय करके इन्द्रियों को निर्दोष बनाते हैं और हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—उष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

श्लोक, ज्योति व ऊर्ज

यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः । आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ॥१७॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो ! **यौ**=जो आप दोनों **इत्था**=सचमुच **श्लोकम्**=यश को—यशस्वी जीवन को, मन की पवित्रता के कारण प्रशंसनीय जीवन को **आचक्रथुः**=बनाते हो और जो आप **दिवः**=मस्तिष्क के दृष्टिकोण से **जनाय**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्य के लिए **ज्योतिः**=ज्ञान का प्रकाश करते हो, वे **युवम्**=आप **नः**=हमारे लिए **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **आ वहतम्**=सर्वथा प्राप्त कराओ । २. प्राणसाधना होने पर ये प्राणापान मन के दोषों को दूर करके, अशुद्धियों का क्षय करके हमारे जीवन को यशस्वी बनाते हैं । बुद्धि को तीव्र करके ये ज्ञानप्राप्ति का साधन बनते हैं । शरीर में बल और प्राणशक्ति को प्राप्त कराते हैं । इस प्रकार यह प्राणसाधना शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के विकास का कारण बनती है ।

भावार्थ—अश्विनी देव 'श्लोक, ज्योति व ऊर्ज' प्राप्त करानेवाले हैं ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—उषा । छन्दः—उष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

'मयोभुवा, दस्रा, हिरण्यवर्तनी'

एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्तनी । उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥१८॥

१. **उषर्बुधः**=प्रातः प्रबुद्ध होनेवाले लोग **इह**=इस अपने जीवन में **सोमपीतये**=सोम का पान करने के लिए, शरीर में रेतःशक्ति की ऊर्ध्वगति के लिए **देवा**=कामादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले **मयोभुवा**=काम-क्रोधादि के विजय के द्वारा आरोग्यरूप सुख को देनेवाले, **दस्रा**=सब दुःखों व मलों का उपक्षय करनेवाले **हिरण्यवर्तनी**=ज्योतिर्मय मार्गवाले अश्विनी देवों को—प्राणापान को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ । २. मनुष्य को चाहिए कि वह प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला बने । प्रातः जागकर प्राणसाधना के लिए तैयारी करे । ये प्राण सिद्ध होकर उसके शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति में सहायक होंगे । शक्ति की ऊर्ध्वगति का परिणाम शरीर में 'रोगकृमियों का नाश होकर आरोग्य-प्राप्ति' होगा, मन में से 'मलिनताओं का नाश' होगा, तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से 'ज्योति का वर्धन' होगा । ये प्राणापान इसीलिए 'मयोभुवा, दस्रा व हिरण्यवर्तनी' कहे गये हैं ।

भावार्थ—हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना के लिए तैयार हों । यह प्राणसाधना हमें 'आरोग्य, नैर्मल्य व ज्योति' प्रदान करेगी ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि हम उषा से प्रकाश की प्रेरणा लें (१) । उषा का प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है, हमारा भी ज्ञान का प्रकाश इसी प्रकार बढ़ता चले (२) । उषा की 'प्रकाश व उल्लास' की प्रेरणा सब दुःखों का निग्रह करनेवाली है (३) । उषा सम्पूर्ण भुवन को प्रकाशमय करती है (४) । यह अपने प्रकाश से द्युलोक को शोभित करती है (५) । अन्धकार को निगलकर यह हमारे चित्तों को प्रसन्न कर देती है (६) । यह सूनृतों की नेत्री है (७), सुभगा है (८) । यह सबको कार्यों में व्यापृत होने के लिए जगाती है (९) । इसके आने-जाने से हमारे आयुष्य का एक-एक दिन समाप्त हो रहा है (१०) । इसके आवागमन से दिन बदल जाते हैं (११) । यह उषा हमारे दैव्य व्रतों को हिंसित नहीं होने देती (१२) । यह हमारे यज्ञादि उत्तम कर्मों का समय बना रहे (१३) । हम इसमें जागकर 'ज्ञान, कर्म, प्रकाश व प्रियवाणी'-रूप धन को प्राप्त करें (१४) । यह हमारे लिए सौभाग्यों को लानेवाली

हो (१५)। हमारा शरीररूप गृह 'गोमत् व हिरण्यवत्' बने (१६)। हम श्लोक, ज्योति व ऊर्ज को प्राप्त करें (१७)। प्राणापान हमारे लिए 'आरोग्य, नैर्मल्य व प्रकाश' को लाएँ (१८)। ये प्राणापान ही अग्नि व सोम हैं। **प्राणापानावग्नीषोमौ** -ऐ० १।८। ये ही सूर्य व चन्द्र हैं—**'सूर्य एव आग्नेयः, चन्द्रमाः सोमः'**—शत० १।६।३।२४। इसीलिए अश्विनी देवों को सूर्य-चन्द्र भी कहा गया है **'तत्कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्याविव्येक, सूर्याचन्द्रमसावित्येके'**—यास्क)। योग में नासिका का दाहिना स्वर 'सूर्यस्वर' है और बायाँ 'चन्द्रस्वर'। इस प्रकार अग्नि व सोम प्राणापान ही हैं। अगले सूक्त में उनसे प्रार्थना करते हैं—

[९३] त्रिनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—अग्नीषोमौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अग्नि व सोम का समन्वय

अग्नीषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्। प्रति सूक्तानि हर्यतं भवतं दाशुषे मयः ॥१॥

१. **वृष्णौ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले या हमें शक्तिशाली बनानेवाले **अग्नीषोमौ**=अग्नि व सोम **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को **सुशृणुतम्**=ठीक से सुनें। हमारी यह प्रार्थना अग्नि व सोम से सुनी जाए कि वे **सूक्तानि**=हमारे स्तुतिवचनों को **प्रतिहर्यतम्**=चाहें—हमारे स्तुतिवचन उनके लिए प्रीतिकर हों और **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **मयः**=आरोग्य-सुख देनेवाले **भवतम्**=होओ। २. वस्तुतः शरीर में अग्नि व सोम तत्त्व का ठीक समन्वय होने पर पूर्ण आरोग्य निर्भर करता है। अग्नि प्राण है तो सोम अपान। केवल अग्नि 'पैत्तिक रोगों' का कारण बनती है और केवल सोम 'कफ़ के रोगों' का। दोनों का समन्वय आरोग्य प्रदान करता है। ३. हम प्राणापान के महत्त्व-प्रतिपादक मन्त्रों का स्मरण करते हैं। यही प्राणापान का स्तवन है। इससे हममें प्राणसाधना व प्राणायाम की रुचि उत्पन्न होकर नीरोगता की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में अग्नि व सोम का समन्वय करके रस पैदा करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—अग्नीषोमौ। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

सुवीर्य, सुज्ञान, सुकर्म

अग्नीषोमा यो अद्य वामिदं वचः सपर्यति। तस्मै धत्तं सुवीर्यं गवां पोषं स्वश्व्यम् ॥२॥

१. हे **अग्नीषोमा**=प्राण व अपानो! **यः**=जो **अद्य**=आज **वाम्**=आपका **इदं वचः**=इस स्तुतिवचन के द्वारा **सपर्यति**=पूजन करता है, **तस्मै**=उसके लिए आप **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **धत्तम्**=धारण करते हैं। **गवां पोषम्**=ज्ञानेन्द्रियों का पोषण प्राप्त कराते हैं (गावः=ज्ञानेन्द्रियाणि गमयन्त्यर्थान्)। उसके लिए आप **स्वश्वान्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं (अश्नुवते कर्मसु इति अश्वाः)। २. प्राणसाधना के द्वारा शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर मनुष्य उत्तम वीर्यवाला बनता है। यह वीर्य ज्ञानशक्ति का ईंधन बनता है, ज्ञानेन्द्रियों को पुष्ट करता है। साथ ही यह सुरक्षित शक्ति कर्मेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाती है।

भावार्थ—शरीर में अग्नि व सोम का समन्वय होने पर शक्ति की वृद्धि होती है, ज्ञानेन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं और कर्मेन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत होती हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—अग्नीषोमौ। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

प्रजा, सुवीर्य, विश्वायु

अग्नीषोमा य आहुतिं यो वां दाशाद्धविष्कृतिम्। स प्रजया सुवीर्यं विश्वमायुर्व्यश्नवत् ॥३॥

१. हे **अग्नीषोमा**=अग्नि व सोम तत्त्वो! प्राणापानो! **यः**=जो भी **वाम्**=आपके प्रति उत्तम चरु की **आहुतिम्**=आहुति **दाशात्**=देता है, **यः**=जो आपके प्रति **हविष्कृतिम्**=(घृतमाज्यं हविः सर्पिः) घृत की आहुति देता है, **सः**=वह **प्रजया** (प्रजन्)=अपनी शक्तियों के प्रकृष्ट विकास के साथ **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को तथा **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **अश्नवत्**=प्राप्त करता है। २. शरीर में प्राणापान के द्वारा ही अन्न का पाचन होता है। वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर ही तो चतुर्विध भोजनों का पचन करती है। इन प्राणापानों को चरु व घृत की आहुति ही प्राप्त करानी चाहिए। भक्षण के योग्य उत्तम यज्ञिय अन्न व घृत के प्रयोग से शक्तियों का विकास उत्तमता से होता है, सुवीर्य की प्राप्ति होती है और हम पूर्ण जीवन को भोगनेवाले होते हैं। ३. भोजन की शुद्धता को महत्त्व देने के लिए भोजन भी यहाँ एक यज्ञ के रूप में चित्रित हुआ है, जिसमें उत्तम अन्न व घृत की आहुतियाँ प्राणापानरूप में अग्नि में दी जाती हैं।

भावार्थ—उत्तम सात्त्विक अन्न व घृत के सेवन से हम विकास, शक्ति व पूर्ण जीवन को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—अग्नीषोमौ। छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

एकं ज्योतिः

अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः ॥४॥

१. **अग्नीषोमा**=अग्नि व सोम तत्त्वो! प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत् वीर्यम्**=वह सामर्थ्य **चेति**=जाना जाता है **यत्**=कि आप **अवसम्**=(अव रक्षणे) शरीर के रोगों से रक्षण को, **पणिम्**=(पण स्तुतौ) मन में प्रभुस्तवन को तथा **गाः**=ज्ञानप्राप्ति व कर्म की साधनभूत इन्द्रियों—जोकि वृत्र से चुराई गई थीं, उनको **अमुष्णीतम्**=पुनः हर लाते हो। कामवासना 'वृत्र' है। यह ज्ञान को तो आवृत्त करती ही है, प्रभुस्तवन से भी दूर करती है और शरीर को भी क्षीण करके रोगाक्रान्त कर देती है। एवं वृत्र 'अवस, पणि व गौओं का अपहरण करनेवाला है। प्राणापान वृत्र को नष्ट करके 'अवस, पणि व गौओं' को फिर वापस ले-आते हैं। २. 'बृस' धातु वेष्टनार्थक है। वृत्र ज्ञानादि का वेष्टन कर लेता है, अतः 'बृसय' कहा गया है। 'शेषः' अपत्यवाचक है—**बृसयस्य शेषः**='बृसय का सन्तान'—यह प्रयोग बल देने के लिए हुआ है। हे प्राणापानो! आप इस **बृसयस्य शेषः**=वृत्र के सन्तान को **अवातिरतम्**=(अबाधिष्टम्) नष्ट करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा आप इस वासना को नष्ट कर देते हैं और इस वासना-विनाश के द्वारा **बहुभ्यः**=बहुतों के लिए अथवा 'बृंहते वर्धते' (बृहि वृद्धौ) शक्ति का वर्धन करनेवालों के लिए **एकं ज्योतिः**=मुख्य ज्योति को—ब्रह्मज्योति को **अविन्दतम्**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से अशुद्धि का नाश होकर ज्ञान की दीप्ति होती है और विवेकख्याति होकर आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी को यहाँ 'एकं ज्योतिः' कहा गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वासना का विनाश होता है और शरीर का रक्षण, मन में स्तवन तथा ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होकर आत्मसाक्षात्कार होता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—अग्नीषोमौ । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

अवद्य अभिशस्ति से मुक्ति

युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम् ।
युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान् ॥५॥

१. **अग्निः च सोम**=प्राण और अपान ! **युवम्**=आप **सक्रतू**=उत्तम कर्मोंवाले होकर अर्थात् ठीक प्रकार से शरीर में कार्य करते हुए **एतानि**=इन **रोचनानि**=ज्ञान के नक्षत्रों को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **अधत्तम्**=धारण करते हो । प्राणसाधना के द्वारा वीर्य का रक्षण होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है । ये वीर्यकण ही तो ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं । इस ज्ञानाग्नि की दीप्ति से मस्तिष्क विविध विज्ञानों से चमक उठता है । २. हे **अग्नीषोमौ**=प्राणापानो ! **युवम्**=आप ही **गृभीतान् सिन्धून्**=वासनाओं से गृहीत रेतःकणों को **अवद्यात्**=निन्दनीय **अभिशस्तेः**=हिंसन से **अमुञ्चतम्**=मुक्त करते हो । 'स्यन्दत इति सिन्धवः' प्रवाहवाले होने से यहाँ रेतःकणों के लिए 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग है । जब ये वासनाओं से गृहीत होते हैं तो इनका विनाश हो जाता है । यह विनाश निन्दनीय तो होता ही है । इन रेतःकणों को इस निन्दनीय विनाश से प्राणापान ही मुक्त करते हैं । यह प्राणसाधना वासना को विनष्ट करके रेतःकणों का रक्षण करती है ।

भावार्थ—प्राणसाधना वासना-विनाश के द्वारा रेतःकणों का रक्षण करती है और इन रेतःकणों को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानदीप्त बनाती है ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—अग्नीषोमौ । छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्राण और ज्ञान, अपान और स्वास्थ्य

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः ।
अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम् ॥६॥

१. **'स्तुता मया वरदा वेदमाता'** इस अथर्वमन्त्र में वेद को माता नाम से स्मरण किया गया है । इस वेदमाता में गति करनेवाला व वृद्धि को प्राप्त करनेवाला यहाँ 'मातरिश्वा' है (श्वि गतिवृद्ध्योः) । यह **मातरिश्वा**=वेद में गति व वृद्धिवाला जीव **दिवः**=ज्ञान के हेतु से **अन्यम्**=अग्नि और सोम में से एक अग्नि को **आजभार**=सब प्रकार से प्राप्त करता है । 'अग्नि' यहाँ प्राण का वाचक है । प्राणशक्ति के ठीक होने पर ही ज्ञान की दीप्ति होती है । २. **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील व क्रियाशील व्यक्ति **अद्रेः**=(अदृ) स्वास्थ्य के अविदारण के हेतु से **अन्यम्**=अग्नि व सोम में से दूसरे सोम को—अपान को **परि अमथ्नात्**=सब प्रकार से मथित करता है (turns up and down) सारे शरीर में ऊपर-नीचे उसके कार्य के लिए यत्न करता है । अपान का कार्य ठीक से चलने पर स्वास्थ्य की विकृति नहीं होती, क्योंकि मलशोधन का कार्य ठीक से होता रहता है । ३. **अग्नीषोमा**=ये अग्नि और सोम-तत्त्व **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **वावृधाना**=वृद्धि को प्राप्त होते हुए **उ**=निश्चय से **यज्ञाय**=यज्ञ के लिए **उरुं लोकम्**=विशाल लोक को **चक्रथुः**=बनाते हैं । ज्ञान से प्राणापान की वृद्धि होती है । ये प्राणापान दीर्घ व यज्ञिय जीवन के कारण बनते हैं । यही प्राणापान का यज्ञ के लिए 'उरुलोक' को बनाना है ।

भावार्थ—प्राणशक्ति की वृद्धि से ज्ञान बढ़ता है, अपान की स्वस्थता से स्वास्थ्य प्राप्त होता है । प्राणापान के ठीक होने पर जीवन दीर्घ व यज्ञमय बनता है ।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—अग्नीषोमौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

भोजनरूप यज्ञ (यज्ञरूप भोजन)

अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य वीतं हर्यतं वृषणा जुषेथाम्।
सुशर्माणा स्ववसा हि भूतमथा धत्तं यजमानाय शं योः ॥७॥

१. वेद में **'ओदन एव ओदनं प्राशीत्'** इस मन्त्र में सब प्रकार की आस्वादवृत्ति का निषेध करके भोजन को भी शरीररक्षा के लिए किया जानेवाला यज्ञ कहा है। एवं भोजन में ग्रहण की जाती हुई प्रत्येक वस्तु यहाँ हवि कही गई है। यज्ञिय पदार्थों की पवित्रता नितान्त आवश्यक है, अतः भोजन भी मद्य-मांसादि से एकदम शून्य व पवित्र ही होना चाहिए। प्राणापान के द्वारा इस भोजन का पाचन होता है, अतः कहते हैं कि हे **अग्नीषोमा**=प्राणापानो! **प्रस्थितस्य**=इस प्राप्त **हविषः**=हविरूप भोजन का **वीतम्**=आप भक्षण करो, **हर्यतम्**=इसकी कामना करो, इसे चाहो, प्रसन्नतापूर्वक खाओ और हे **वृषणा**=हमारे जीवन में सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **जुषेथाम्**=आप इसका प्रीतिपूर्वक सेवन करो। प्रसन्नतापूर्वक खाया हुआ भोजन ही उत्तम धातुओं के निर्माण में कारण बना करता है। २. हे प्राणापानो! आप **सुशर्मणा**=उत्तम सुख को देनेवाले व **स्ववसा**=उत्तम रक्षण करनेवाले (सु+अवसा) **हि**=निश्चय से **भूतम्**=होओ। **अथ**=और अब **यजमानाय**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए—भोजन को भी यज्ञरूप में ग्रहण करनेवाले पुरुष के लिए **शं योः**=रोगों के शमन को तथा भयों के यावन=दूरीकरण को **धत्तम्**=स्थापित करो। आपके (प्राणापान के) ठीक से कार्य करने पर सब रोग शान्त हो जाते हैं और किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

भावार्थ—प्राणापान भोजन के ठीक पाचन के द्वारा नीरोगता व निर्भयता देते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—अग्नीषोमौ। छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

महनीय सुख की प्राप्ति

यो अग्नीषोमा हविषा सपर्याद्देवद्रीचा मनसा यो घृतेन।
तस्य व्रतं रक्षतं पातमंहसो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम् ॥८॥

१. हे **अग्नीषोमा**=प्राणापानो! **यः**=जो भी व्यक्ति **हविषा**=हविरूप भोजन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन द्वारा **सपर्यति**=आपका पूजन करता है और जो **देवद्रीचा**=(देवं अञ्चति) प्रभु-प्रवण—प्रभु की ओर जानेवाले **मनसा**=मन से आपका पूजन करता है, **यः**=जो **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति से आपका पूजन करता है **तस्य**=उसके **व्रतं रक्षतम्**=व्रत का आप रक्षण करते हैं। प्राणापान की साधना का सर्वप्रथम परिणाम यह है कि (क) भोजन भी यज्ञ का रूप धारण कर लेता है, (ख) अगला परिणाम चित्तवृत्ति का प्रभु-प्रवण होना है, (ग) तीसरा परिणाम मलों का क्षय है और (घ) चौथा परिणाम ज्ञानदीप्ति है। इन परिणामों के होने पर यह लगता है कि इस व्यक्ति ने प्राणसाधना की है। २. ये प्राणापान अपने उपासक को **अंहसः**=पाप से **पातम्**=बचाते हैं। यह साधक पापवृत्तिवाला नहीं रहता। वस्तुतः बहिर्मुख न रहकर यह अन्तर्मुखवाला बनता है और प्रभु में प्रवेशवाला होता है, तब इसकी सब शक्तियों का खूब विकास होता है। इस **विशे**=प्रभु में प्रवेश करनेवाले **जनाय**=शक्तियों के प्रादुर्भाववाले व्यक्ति के लिए **महि शर्म**=महनीय व महान् सुख को **यच्छतम्**=आप देते हो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना साधक को पाप से बचाकर महनीय सुख प्राप्त कराती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—अग्नीषोमौ । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

देवों की प्राणापान की वृद्धि

अग्नीषोमा सवेदसा सहूती वनतं गिरः । सं देवत्रा बभूवथुः ॥९॥

१. **अग्नीषोमा**=प्राण और अपान **सवेदसा**=समानरूप से धन-(वेदस्)-वाले हैं। प्राण ज्ञानरूप धनवाला है तो अपान स्वास्थ्यरूप धनवाला है। प्राण ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है तो अपान जाठराग्नि को ठीक रखता है। प्राणसाधना से रेतस् की ऊर्ध्वंगति होकर ज्ञानाग्नि की दीप्ति होती है और अपान से मलों का शोधन ठीक प्रकार होकर जाठराग्नि ठीक बनी रहती है। २. **सहूती**=प्राणापान की प्रार्थना साथ-साथ होती है। प्राण के साथ अपान जुड़ा है, अपान के साथ प्राण। ऐसे प्राणापानो ! **गिरः वनतम्**=हमारी स्तुतिवाणियों का आप सेवन करो। हम प्राणापान का स्तवन व गुणगान करें। उनके महत्त्व को समझकर उनकी साधना में प्रवृत्त हों। ३. हे प्राणापानो ! आप **देवत्रा**=देवों में **संबभूवथुः**=सम्भावित व प्रशस्त हो। शरीर में सब देवों का निवास है। सूर्य चक्षु के रूप से रहते हैं तो अग्नि वाणी के रूप से, चन्द्रमा मन के रूप से, वायु प्राण के रूप से। इसी प्रकार शरीर में सब देव हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्व इन प्राणों का ही है। ४. **देवत्रा संबभूवथुः**=इस वाक्य का यह भी अर्थ है कि ये प्राणापान देववृत्तिवाले पुरुषों में फूलते-फलते हैं—बढ़ते हैं, आसुर वृत्तिवाले लोगों में ये क्षीण होने लगते हैं। इसीलिए देव 'अजर व अमर' कहलाते हैं।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनें ताकि हमारी प्राणापान-शक्ति सदा बढ़ती रहे।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—अग्नीषोमौ । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

ज्ञान व स्वास्थ्य की दीप्ति

अग्नीषोमावनेन वां यो वां घृतेन दाशति । तस्मै दीदयतं बृहत् ॥१०॥

१. हे **अग्नीषोमौ**=प्राणापानो ! **यः**=जो **वाम्**=आपका साधक **अनेन घृतेन**=इस मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के हेतु से **वां दाशति**=आपके प्रति अपना अर्पण करता है, **तस्मै**=उसके लिए आप **बृहत्**=खूब ही **दीदयतम्**=प्रकाश करनेवाले होओ। २. प्राण रेतस् की ऊर्ध्वंगति के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, अपान मलों के क्षरण से स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त कराता है। 'घृत' शब्द में दोनों ही भावनाएँ आ जाती हैं। इस घृत के उद्देश्य से साधक प्राणापान की साधना में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से ज्ञान व स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता—अग्नीषोमौ । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

प्राणापान का मेल

अग्नीषोमाविमानि नो युवं हव्या जुजोषतम् । आ यातमुप नः सचा ॥११॥

१. **अग्नीषोमौ**=हे प्राणापानो ! **युवम्**=आप **नः**=हमारे **इमानि**=इन **हव्या**=हव्य—पवित्र भोज्य पदार्थों को **जुजोषतम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। भोजन में ग्रहण किये गये पदार्थों का पाचन प्राणापान के द्वारा ही होता है। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'—चतुर्विध अन्न को प्राणापान से युक्त वैश्वानर अग्नि ही पचाती है। प्राणापान की क्रिया ठीक होने पर ही भूख ठीक लगती है। २. आप दोनों **सचा**=मिलकर **नः उप**=हमारे समीप **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणापान की क्रिया एक-दूसरे के लिए सहायक है। प्राण अपान के लिए और

अपान प्राण के लिए सहायक होता है। गीता में प्राणापान-यज्ञ का उल्लेख इसी रूप में हुआ है कि प्राण की आहुति अपान में तथा अपान की आहुति प्राण में दी जाए।

भावार्थ—प्राणापान हमारे द्वारा खाये गये हव्य पदार्थों का ठीक से पाचन करें और हमें साथ-साथ प्राप्त हों।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः। देवता—अग्नीषोमौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इन्द्रियाश्वों का पालन

अग्नींषोमा पिपृतमर्वंतो न आ प्यायन्तामुस्रिया हव्यसूदः।
अस्मे बलानि मघवंत्सु धत्तं कृणुतं नो अध्वरं श्रुष्टिमन्तम् ॥१२॥

१. हे **अग्नीषोमा**=प्राणापानो! **नः**=हमारे **अर्वतः**=इन्द्रियरूप अश्वों को **पिपृतम्**=पालित करो। हमारे इन्द्रियरूप अश्व आपकी साधना से प्रवृद्ध शक्तिवाले हों। ये आसुर वृत्तियों के आक्रमण से आक्रान्त न हों। २. **हव्यसूदः**=(हव्यं सूदन्ते) हवि के योग्य उत्तम दुग्ध देनेवाली **उस्रियाः**=गौएँ **आप्यायन्ताम्**=हमारी शक्तियों का वर्धन करें। वस्तुतः प्राणसाधना के साथ गो-दुग्धादि सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग भी आवश्यक है। ३. प्राणसाधना के साथ गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग करने पर हमारी प्रवृत्ति यज्ञिय बनती है। **मघवत्सु**=(मघ=ऐश्वर्य व यज्ञ) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले **अस्मे**=हममें **बलानि**=शक्तियों को **धत्तम्**=धारण करो। प्राणसाधना से यज्ञिय वृत्ति तो बनती ही है। यज्ञिय वृत्ति होने पर शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। ४. इस प्रकार शक्तियों के रक्षण के द्वारा **नः अध्वरम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **श्रुष्टिमन्तम्**=सुखवाला **कृणुतम्**=कीजिए।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। इस साधना में गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग आवश्यक है। इससे हमारी वृत्ति भी यज्ञशील बनी रहती है और हमारा जीवन सुखी होता है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि हम अपने जीवनों में अग्नि व सोम का समन्वय करके रस पैदा करें (१)। सुवीर्य, सुज्ञान व सुकर्मवाले हों (२)। सात्त्विक अन्न व घृत के सेवन से हम विकास, शक्ति व पूर्ण जीवन को प्राप्त करें (३)। प्राणसाधना से ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होकर आत्मसाक्षात्कार होता है (४)। इस साधना से हम रेतःकणों को निन्दनीय हिंसा से बचाएँ (५)। प्राण ज्ञान का वर्धक हो और अपान स्वास्थ्य का (६)। भोजन को भी हम यज्ञ का रूप दें (७)। प्राणसाधना से हमें महनीय सुख प्राप्त हो (८)। हम देव बनेंगे तो प्राणशक्ति का वर्धन होगा ही (९)। प्राणापान की शक्ति से ज्ञान व स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त होगी (१०)। हमारे जीवन में प्राणापान का मेल बना रहे (११), ये हमारी इन्द्रियों का रक्षण करें (१२)। प्राणसाधना से वासनाओं का विनाश करके हम 'कुत्स' बनते हैं (कुथ हिंसायाम्)। हमारी शक्ति स्थिर रहती है, अतः 'आङ्गिरस' बनते हैं। 'कुत्स आङ्गिरस' अगले सूक्तों में प्रभुस्तवन करते हुए कहता है कि हम आपकी मित्रता में हिंसित नहीं होते—

[९४] चतुर्नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

प्रभुस्तवनरूप रथ

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥१॥

१. **इमं स्तोमम्**=इस स्तोत्र को **अर्हते**=(पूज्याय) उस पूजा के योग्य **जातवेदसे**=(जातं जातं वेत्ति) सर्वज्ञ प्रभु के लिए **मनीषया**=बुद्धिपूर्वक **संमहेम**=सम्यक् पूजित करते हैं, बुद्धिपूर्वक प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तवन **रथं इव**=हमारी जीवनयात्रा के लिए रथ की भाँति होता है। जिस प्रकार बढ़ई (तक्षा) से बनाये गये रथ से लौकिक यात्रा पूरी होती है, उसी प्रकार इस बुद्धिपूर्वक बनाये गये स्तोत्र से जीवनयात्रा पूर्ण होती है। २. **अस्य**=इस प्रभु के **संसदि**=समीप बैठने में—उपासन में **नः**=हमारी **हि**=निश्चय से **भद्रा प्रमतिः**=कल्याणकारिणी प्रकृष्ट बुद्धि होती है। उपासना से बुद्धि शुद्ध व पवित्र होती है। ३. इसलिए हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। प्रभु की मित्रता में पवित्र, कल्याणी मति प्राप्त होती है और इस कल्याणी मति से हिंसा की आशंका नहीं रहती। हम काम-क्रोधादि शत्रुओं से पराजित नहीं होते। यह कल्याणी मति हमारे जीवन को पवित्र बनाये रखती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान हो। प्रभु की उपासना से हमें कल्याणी मति प्राप्त हो। प्रभु की मित्रता में हम किसी भी प्रकार से हिंसित न हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दारिद्रय-कष्ट-निरसन

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥२॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यस्मै**=जिस भी व्यक्ति के लिए **त्वम्**=आप **आयजसे**=सब उत्तम साधन प्रदान कराते हो, गत मन्त्र के अनुसार जिसके लिए आप कल्याणी मति प्राप्त कराते हो **सः**=वह **साधति**=सब पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला होता है। **अनर्वा**=वह काम-क्रोधादि से हिंसित नहीं होता। कामादि से हिंसित न होने के कारण **क्षेति**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाला होता है। उत्तम गति व आचरण के कारण **सुवीर्यं धत्ते**=उत्तम शक्ति को धारण करता है। २. उत्तम शक्ति के धारण से **सः**=वह **तूताव**=वृद्धि को प्राप्त करता है। एवं **एनम्**=इसको **अंहतिः**=दारिद्र्य की पीड़ा **न अश्नोति**=प्राप्त नहीं होती। ३. हे परमात्मन्! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। प्रभु की मित्रता में न आधियाँ हैं, न व्याधियाँ। इस मित्रता में अलक्ष्मी का स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मित्रता में जीव आगे-ही-आगे बढ़ता है। यहाँ उन्नति है, अवनति नहीं।

भावार्थ—प्रभु से कल्याणी मति को प्राप्त करके हम भौतिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आगे-ही-आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रज्ञा व कर्म की सिद्धि

शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।
त्वमादित्याँ आ वह तान्ह्युश्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा**=आपको **समिधम्**=समिद्ध व दीप्त करने के लिए **शकेम**=हम समर्थ हों। ध्यानादि के द्वारा हृदय-मन्दिर में आपका दर्शन कर सकें। आप **धियः**=हमारे प्रज्ञानों व कर्मों को **साधय**=सिद्ध करिए। आपकी कृपा से हमें प्रज्ञा प्राप्त हो तथा हमारे यज्ञादि उत्तम कर्म सिद्ध

हों। २. **देवाः**=देववृत्ति के लोग **त्वे**=आपमें ही निवास का प्रयत्न करते हैं, आपकी शरण में ही रहते हैं। ये देव **आहुतं हविः**=लोकहित के लिए जिसका दान किया गया है उस यज्ञावशिष्ट हवि को ही **अदन्ति**=खाते हैं, देकर बचे हुए यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। इस हवि के द्वारा ही तो वस्तुतः वे आपका पूजन करते हैं। ३. हे प्रभो! इस प्रकार हमारी वृत्ति को उत्तम बनाने के लिए **त्वम्**=आप **आदित्यान्**=सब विद्याओं का ग्रहण करनेवाले उत्कृष्ट विद्वानों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। हम **हि**=निश्चय से **तान्**=उनको **उश्मसि**=चाहते हैं। उन विद्वानों की संगति से ही तो हम प्रकाश प्राप्त करके, ठीक मार्ग पर चलते हुए आपके समीप पहुँचेंगे। ४. और हे अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। आपकी मित्रता हमें असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर ले-जानेवाली हो।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में समिद्ध कर सकें। प्रभु ही हमें प्रज्ञा प्राप्त कराते हैं। विद्वानों के संग से हम प्रकाश प्राप्त करके प्रभु की मित्रता में पहुँचते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

यज्ञादि उत्तम कर्मों से प्रभु-प्राप्ति

भरा॑मे॒ध्मं कृ॒णवा॑मा ह॒वींषि॑ ते चि॒तय॑न्तः॒ पर्व॑णापर्वणा व॒यम्।
जी॒वात॑वे प्र॒त॒रं सा॑धया धियोऽग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **इध्मं भराम**=यज्ञ के लिए ईंधन का सञ्चय करें अथवा अपने में ज्ञान-दीप्ति भरें तथा **वयम्**=हम **पर्वणापर्वणा**=प्रत्येक गुण की पूर्ति के लिए **ते चितयन्तः**=आपका स्मरण करते हुए **हवींषि**=हवियों को **कृण्वाम**=करें। हम यज्ञशेषरूप हवि का ही ग्रहण करनेवाले हों। हम यह न भूलें कि आपका उपासन हवि के द्वारा ही होता है। २. **जीवातवे**=हमारे दीर्घजीवन के लिए आप **प्रतरम्**=(प्रकृष्टतरम्) खूब ही **धियः**=प्रज्ञानों व कर्मों को **साधय**=सिद्ध कीजिए। हे परमात्मन्! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। आपकी मित्रता हमें शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ करे। हम कामादि को जीतनेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने में ज्ञानदीप्ति भरें। हवि का ही स्वीकार करें। यही गुण-वृद्धि व प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

उस गोप की गाएँ

वि॒शां गो॒पा अ॑स्य चरन्ति ज॒न्तवो॑ द्वि॒पच्च॒ यदु॒त चतु॑ष्पद॒क्तुभिः॑।
चि॒त्रः प्र॑के॒त उ॒षसो॑ म॒हाँ अ॑स्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥५॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! आप ही **विशां गोपाः**=सब प्रजाओं के रक्षक हो। प्रजाएँ गौएँ हैं और आप उनके गोप हो। २. **अस्य**=इन आपकी ही **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों से **द्विपत् च**=जो दो पाँवोंवाले **जन्तवः**=प्राणी हैं **उत**=और **यत्**=जो **चतुष्पत्**=चार पाँवोंवाले प्राणी हैं, वे सब **चरन्ति**=अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। वस्तुतः दो पाँववाले पक्षियों व चार पाँववाले पशुओं में प्रभु की ही वासना (Instirct) के रूप में दी हुई ज्योति काम करती है। उस वासना से काम करते हुए वे पशु-पक्षी अपने मार्ग पर ठीक चलते जाते हैं। मधुमक्षिका आदि में प्रभु का दिया हुआ यह **चित्रः प्रकेतः**=अद्भुत

ज्ञान स्पष्ट दिखता है। ३. हे प्रभो! उषा भी आती है और अन्धकार को दूर करती है, आप **उषसः महान् असि**=उस उषा से भी महान् हो। वह बाह्य अन्धकार को दूर करती है, आप हृदयस्थ अन्धकार को दूर करनेवाले हैं। हे प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। आपसे प्रकाश को प्राप्त करके हम ठीक मार्ग पर चलते हुए कल्याण को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु गोप हैं, हम उनकी गौएँ। प्रभु का दिया हुआ प्रकाश अद्भुत है, उस प्रकाश में हम हिंसित नहीं होते।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रशास्ता-पोता

त्वम॑ध्व॒र्युरु॒त होता॑सि पू॒र्व्यः प्र॑शा॒स्ता पोता॑ ज॒नुषा॑ पु॒रोहि॑तः।
विश्वा॑ वि॒द्वाँ आर्त्वि॑ज्या धीर पुष्य॒स्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥६॥

१. हे **धीर**=प्राज्ञ प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अध्वर्युः**=सब यज्ञों के प्रणेता हैं। ऋत्विज् रूप में बैठा हुआ अध्वर्यु आपका निमित्तमात्र ही तो है। उसके माध्यम से वस्तुतः आप ही यज्ञ का प्रणयन कर रहे होते हैं। २. हे प्रभो! **उत**=और आप ही **पूर्व्यः होता असि**=सृष्टि से पूर्व होनेवाले (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे) होता हैं। सब पदार्थों के देनेवाले आप ही हैं। यज्ञ में होता का कार्य आपकी शक्ति से ही होता है। ३. **प्रशास्ता**=आप ही सब ज्ञानों का उपदेश करनेवाले हैं और **पोता**=(पावयिता) ज्ञान देकर शोधन-कार्य को करनेवाले हैं। ४. आप **जनुषा**=इस सृष्टि के जन्म से ही **पुरोहितः**='पुरः' सबके सामने 'हितः' आदर्शरूप से विद्यमान हैं। जैसे पुत्र के सामने पिता होता है, पुत्र पिता से शिष्टाचार आदि सीखता है, उसी प्रकार प्रभु के मानस पुत्र प्रभु के गुणों से ही अपने गुणों को सीखने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान में भी उपासक अपने को प्रभु के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है। ५. हे प्राज्ञ प्रभो! **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप ही **विश्वा आर्त्विज्या**=सब ऋत्विजों से साध्य कर्मों को **पुष्यसि**=पुष्ट करते हो। आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। इस प्रकार हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में इन विविध यज्ञों को सिद्ध करते हुए **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु ही सब उत्तम कर्मों को सिद्ध करते हैं। प्रभु की मित्रता में यज्ञादि को सिद्ध करते हुए हम हिंसित न हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

प्रकाशमय प्रभु

यो वि॒श्वतः॑ सु॒प्रती॑कः स॒दृङ्ङसि॑ दू॒रे चि॒त्सन्त॒ळिदि॒वाति॑ रोचसे।
रात्र्या॑श्चि॒दन्धो॒ अति॑ देव पश्य॒स्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥७॥

१. **यः**=जो आप **विश्वतः**=सब ओर से **सुप्रतीकः**=शोभन अङ्गों व अग्रभागवाले हैं। प्रभु के अङ्ग व अग्रभाग नहीं हैं, परन्तु जब प्रभु को **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** इन शब्दों में स्मरण करते हैं तो प्रभु को 'विश्वतः सुप्रतीकम्' रूप में देखते हैं। प्रभु सब ओर से तेजोमय ही दीखते हैं। २. **सदृङ् असि**=आप सबके लिए समान हैं, किसी का पक्षपात नहीं करते। प्रभु के राज्य में पूर्ण न्याय है, वे किसी के प्रति अन्याय से नहीं वर्तते। ३. हे प्रभो! **दूरे चित् सन्**=दूर-से-दूर होते हुए भी **तळित् इव**=अत्यन्त समीप की भाँति (तडित्=अन्तिक) **अतिरोचसे**=अतिशयेन देदीप्यमान होते हैं अथवा विद्युत्

(तडित्) की भाँति देदीप्यमान हैं। हे देदीप्यमान प्रभो ! **राव्याः चित् अन्धः**=रात्रि के अन्धकार को भी **अतिपश्यसि**=(अतीय पश्यसि) लांघकर आप देखनेवाले हैं अथवा प्रकाशित होनेवाले हैं। रात्रि का अन्धकार जीव की भौतिक आँखों के लिए रुकावट हो सकता है, यह आपके लिए रुकावट नहीं है। आप तो **'तमसः परस्तात्'**--अन्धकार से परे हैं। ४. हे **अग्ने**=प्रकाशमान प्रभो ! **वयम्**=हम **तव सख्ये**= आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। अन्धकार ही मार्गभ्रंश व विनाश का कारण बनता है। आपकी उपासना में प्रकाश ही प्रकाश है, वहाँ मार्गभ्रंश का भय नहीं।

भावार्थ—प्रभु सब ओर से देदीप्यमान हैं, अन्धकार से परे हैं। प्रकाश के कारण प्रभु की मित्रता में किसी प्रकार का भय नहीं है।

ऋषिः— कुत्स आङ्गिरसः। देवता —अग्निः। स्वरः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

उत्तम शरीर=रथ

पूर्वो देवा भवतु सुन्वतो रथोऽस्माकं शंसो अभ्यस्तु दूढ्यः।
तदा जानीतोत पुष्यता वचोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥८॥

१. प्रकृति के ये सूर्यादि देव जब शरीरस्थ चक्षु आदि देवांशों के अनुकूल होते हैं तो मनुष्य स्वस्थ होता है—उसका शरीररूप रथ सुदृढ़ होता है। इसी बात को इस प्रकार कहते हैं कि हे **देवाः**= सूर्यादि देवो ! **सुन्वतः**=शरीर में सोम-(वीर्य)-शक्ति का अभिषव (उत्पादन) करनेवाले, यज्ञमय जीवन-वाले पुरुष का **रथः**=यह शरीररूप रथ **पूर्वः भवतु**=सर्वोत्कृष्ट हो, अपना ठीक प्रकार से पूरण करने-वाला हो। इस शरीर-रथ में किसी प्रकार की कमी न हो। २. **अस्माकम्**=हमारा **शंसः**=प्रभु के गुणों का शंसन **दूढ्यः**=दुष्ट बुद्धिवाले लोगों को भी **अभ्यस्तु**=अभिभूत करनेवाला हो। हमारी उपासना का प्रभाव दुर्बुद्धि लोगों को भी सुबुद्धि बनानेवाला हो। 'शंसः' शब्द का अर्थ उपदेश में भी होता है। अपने शरीररूप रथ को ठीक बनाकर यदि हम उपदेश दें तो वह दुर्बुद्धियों को भी प्रभावित करनेवाला हो। रोगाक्रान्त निर्बल शरीरवाले पुरुष का उपदेश भी प्रभावरहित ही होता है, क्योंकि उसकी शारीरिक स्थिति उसके वचनों का पोषण नहीं कर रही होती। ३. हे देवो ! हमारे **तत् वचः**=उस उपदेशात्मक वचन को **आजानीत**=आप ज्ञान से परिपूर्ण करो **उत**=और **पुष्यत**=उसको शक्तिशाली बनाओ। यह उत्तम प्रभाव पैदा करनेवाला हो। हमारे वचन ज्ञान देनेवाले हों और उसे भी प्रभावजनक रूप में। हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो ! इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करते हुए **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ उत्कृष्ट हो। हमारा उपदेश दुर्बुद्धियों को सुबुद्धियुक्त बनाने-वाला हो। हमारे वचन ज्ञान व शक्ति से भरे हों। प्रभु की मित्रता में हम चलें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

दुःशंसों का दूरीकरण

वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो ! **दुःशंसान्**=जुआ, शिकार आदि व्यसनों का उज्ज्वल शब्दों में चित्रण करके औरों को व्यसनों में फँसानेवाले **दूढ्यः**=दुर्बद्धि पुरुषों को **वधैः**=इस प्रकार औरों का वध

करने से **अपजहि**=दूर कीजिए (हन्=गति)। प्रसङ्गवश यहाँ राजकर्तव्य का भी संकेत है कि राष्ट्र का अग्रणी राजा ऐसे पुरुषों को वधों के द्वारा दूर कर दे। २. हे प्रभो! **दूरे वा**=दूर अथवा **अन्ति वा**=समीप **ये के चित्**=जो कोई भी **अत्रिणः**=(अद् भक्षणे) औरों को खा जाने की वृत्तिवाले दस्यु हैं, उन सबको आप वध द्वारा दूर कीजिए। इन दुःशंस लोगों को दूर करके **अथ**=अब **यज्ञाय**=यज्ञमय जीवनवाले, यज्ञ के ही पुतले **गृणते**=उपासक पुरुष के लिए **सुगं कृधि**=मार्ग को सुगमता से आक्रमण करने योग्य कीजिए। राजा का भी यही कर्तव्य है कि दस्युओं को दण्डादि से दूर कर आर्यों के लिए मार्ग को सुगम बनाये। ३. हे **अग्ने**=सबको उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों। हम आपकी मित्रता में चलते हुए दुःशंस पुरुषों के दबाव में तो आएँ ही नहीं, प्रत्युत उन्हें सुशंस बना पाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र से 'दुःशंस, दूढच, अत्रि' पुरुष दूर हों यज्ञिय जीवनवाले प्रभुभक्तों की वृद्धि हो।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

आरोचमान वायुवेगवाले इन्द्रियाश्व

यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥१०॥

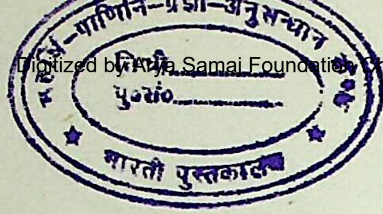
१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यत्**=जब आप **रथे**=हमारे इस शरीररूप रथ में **अरुषा**=आरोचमान, ज्ञानदीप्ति से चमकते हुए **रोहिता**=आरोहण व वृद्धि के कारणभूत **वातजूता**=वायु के समान वेगवाले इन्द्रियाश्वों को **अयुक्थाः**=जोतते हैं, उस समय **वृषभस्य इव**=वृषभ की भाँति **ते रवः**=आपकी ध्वनि होती है। प्रभु ने हमें शरीररूप रथ दिया है, इस शरीर-रथ में ज्ञानेन्द्रियाँ तो आरोचमान (अरुषा) अश्व के रूप में हैं और कर्मेन्द्रियाँ वायुवेगवाले (वातजूता) अश्व हैं। ये दोनों ही उन्नति के कारण हैं (रोहिता)। इस प्रकार का रथ होने पर हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु ही इसे ठीक मार्ग पर ले-चलने के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। एक शक्तिशाली वृषभ के शब्द के समान ऊँची उस प्रभु की गर्जना है, परन्तु यह हमारा दौर्भाग्य होता है कि हम उस गर्जना को अन्यत्र गई हुई चित्तवृत्ति के कारण सुन नहीं पाते। वे प्रभु तो उत्तम प्रेरणा के द्वारा हमपर सुखों का वर्षण कर ही रहे हैं (वृषभ=वर्षण करनेवाला)। २. इस प्रेरणा को जब भी कभी हम सुनते हैं तो **आत्**=शीघ्र ही, उसके बाद हे प्रभो! आप इन **वनिनः**=उपासकों को **धूमकेतुना**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले ज्ञान से **इन्वसि**=व्याप्त कर देते हो। प्रभु की प्रेरणा में वह ज्ञान है जोकि वासनाओं को दग्ध कर देता है। हे प्रभो! इस प्रकार **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीरों में आरोचमान, वायुवेगवाले, उन्नति के कारणभूत अश्व जोते हैं। हम इस शरीर-रथ पर बैठकर प्रभु-प्रेरणा को सुनें ताकि हमें वासनाओं को विदग्ध करनेवाला ज्ञान प्राप्त हो और हम आगे बढ़ें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभुस्तवन व सोमरक्षण

अध स्वनादुत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्सा यत्ते यवसादो व्यस्थिरन्।
सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥११॥



१. यहाँ 'पतत्रिणः' शब्द पतन की कारणभूत वासनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये मनुष्य पर प्रबल आक्रमण (पत्=क्रम=गति) करने के कारण भी 'पतत्री' हैं। ये मनुष्य पर आक्रमण करती हैं। झपट्टा मारनेवाले बाज़ (पत्री) की भाँति इनका आक्रमण होता है, परन्तु **अध**=अब जबकि प्रभु हम भक्तों को वासनाओं को कम्पित करनेवाले ज्ञान से व्याप्त करते हैं तो **स्वनात्**=उस प्रभु के स्वन (शब्द) से ये **पतत्रिणः**=पतन की कारणभूत वासनाएँ **बिभ्युः**=भयभीत होती हैं। अब ये हमपर आक्रमण करने का साहस नहीं करतीं **उत**=और **यवसादः**=जौ आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवनवाले **ते**=तेरे **यत्**=जो **द्रप्साः**=सोमकण (Drops) हैं, वे **व्यस्थिरन्**=शरीर में विशेषरूप से स्थित होते हैं। २. हे प्रभो! **तत्**=तब ऐसा होने पर **तावकेभ्यः रथेभ्यः**=इन तेरे शरीररूप रथों के लिए—आप से दिये गये इन शरीरों के लिए **ते**=तेरे समीप पहुँचना **सुगम्**=सुख से हो पाता है। वासना का विजेता पुरुष, इस शरीर-रथ के द्वारा, यात्रा को पूर्ण करके सुगमता से प्रभु को पानेवाला बनता है। इस प्रकार हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हो।

भावार्थ—जहाँ प्रभुस्तवन की ध्वनि है, वहाँ वासनाएँ आक्रमण नहीं करतीं। इस प्रकार प्रभु-भक्त इन शरीर-रथों से यात्रा में आगे बढ़ते हुए प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

प्राणापान की प्रसन्नता (अनुकूलता)

अयं मित्रस्य वरुणस्य धायसेऽवयातां मरुतां हेळो अद्भुतः।
मृळा सु नो भूत्वेषां मनः पुनरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥१२॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र में वर्णित यह प्रभुभक्त **मित्रस्य वरुणस्य**=प्राण व अपान के **धायसे**=धारण के लिए समर्थ हो। **मरुताम्**=प्राणों का **अद्भुतः**=विस्मयकारक व महान् **हेळः**=कोप **अवयाताम्**=दूर हो जाए (यातु=याताम्। पदव्यत्यय)। प्राणापान में विकार होने पर शरीर व मन व्याधि व आधियों से भर जाते हैं। एवं प्राणापान का प्रकोप अत्यन्त महान् है। प्रभुभक्त इस कोप से बचा रहता है। २. हे प्रभो! प्राणापान के कोप से बचाकर आप **नः**=हमारे लिए **सु**=उत्तमता से **मृळ**=सुख देनेवाले होओ। **एषाम्**=इन मरुतों का **मनः**=मन **पुनः**=फिर **नः**=हमारा **भूतु**=हो, अर्थात् इनके साथ हमारी अनुकूलता हो। इस प्रकार हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा**=मत **रिषाम**=हिंसित हों।

भावार्थ—प्रभुभक्त प्राणापान के प्रकोप से बचा रहता है। इसलिए हमें स्नायुसंस्थान के रोग नहीं होते।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

देवों के देव

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥१३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **देवानां देवः असि**=आधिदैविक जगत् में सूर्यादि सब प्रकाश-मान पदार्थों को प्रकाश देनेवाले हैं। अध्यात्म में भी चक्षु आदि देवों के चक्षु (प्रकाशक) आप ही हैं। आधिभौतिक जगत् में विद्वानों को ज्ञान का प्रकाश आपसे ही प्राप्त होता है—**'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'**

२. आप **अद्भुतः मित्रः**=अद्भुत मित्र हैं। संसार के मित्र उपकार का प्रत्युपकार चाहते हैं। आप उपकार ही उपकार करते हैं। आपको किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं है।३. आप **वसूनां वसुः असि**=वसुओं के वसु हैं, सब वसुओं में वसुत्व के स्थापित करनेवाले आप ही हैं। इस वसुत्व के स्थापन के द्वारा **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **चारुः**=(कारुः) सब सञ्चालन करनेवाले आप ही हैं, अथवा आप ही **चारुः**=सुन्दर हैं। जीवनयज्ञ का सब सौन्दर्य आपपर ही निर्भर करता है ४. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव**=आपके **सप्रथस्तमे**=अत्यन्त विस्तारवाले **शर्मन्**=सुख में **स्याम**=हम हों। हमें आपका प्रगाढ आनन्द प्राप्त हो और **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु देवों के देव हैं, वसुओं के वसु हैं। प्रभु की शरण में रहने पर जीवनपथ का सौन्दर्य नष्ट नहीं होता।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड् जगती। स्वरः—निषादः।

रत्न व द्रविण

तत्ते भद्रं यत्समिद्धः स्वे दमे सोमाहुतो जरसे मृळयत्तमः।
दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥१४॥

१. हे प्रभो! **ते तत् भद्रम्**=आपकी यह बात हमारा अत्यन्त कल्याण करनेवाली **है यत्**=कि **स्वे दमे**=आपसे दिये हुए, आपके ही इस शरीर में **समिद्धः**=अत्यन्त प्रकाशमान **सोमाहुतः**=सोम के द्वारा आहुत हुए आप **मृळयत्तमः**=अत्यन्त सुख देनेवाले के रूप में **जरसे**=स्तुति किये जाते हो। सोमशक्ति के रक्षण से ही ज्ञानाग्नि की दीप्ति होकर प्रभु का दर्शन होता है। यही सोम के द्वारा प्रभु का आहुत होना है। प्रभु का शरीर में निवास होने पर किसी प्रकार का अकल्याण होने की सम्भावना नहीं रहती। २. हे प्रभो! आप **दाशुषे**=अपना अर्पण करनेवाले के लिए **द्रविणम्**=शरीर-यात्रा के चलाने के लिए आवश्यक धन को **च**=और **रत्नम्**=सब रमणीय वस्तुओं को **दधासि**=धारण करते हैं। प्रभुभक्त को द्रविण व रत्नों की कमी नहीं रहती। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों। प्रभु की मित्रता में किसी बात की कमी नहीं रहती, अतः वहाँ हिंसित होने का प्रश्न ही नहीं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में सब आवश्यक द्रविण व रत्न प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

निरपराधता

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम ॥१५॥

१. हे **सुद्रविणः**=शोभन धनोंवाले प्रभो! **अदिते**=खण्डन व नाश न होने देनेवाले प्रभो! **सर्वताता**=सब कर्मों का विस्तार करनेवाले इस जीवनयज्ञ में **यस्मै**=जिस भी व्यक्ति के लिए **त्वम्**=आप **अनागाः**=निरपराधता को **ददाश**=देते हैं और २. **यम्**=जिसको आप **भद्रेण**=कल्याण व सुख देनेवाली **शवसा**=शक्ति व क्रिया से **चोदयासि**=प्रेरित करते हैं, ऐसे हम **ते**=आपके **प्रजावता**=उत्तम सन्तानोंवाले अथवा उत्तम शक्तियों के विस्तारवाले **राधसा**=कार्यसाधक धन के साथ **स्याम**=हों।



भावार्थ—हम (क) प्रभु से उत्तमधनों व स्वास्थ्य को प्राप्त करके निरपराध जीवनयज्ञ का विस्तार करनेवाले हों, (ख) हमारी शक्ति व क्रिया कल्याणमयी हो, (ग) हमारा धन उत्तम प्रजा व शक्तियों के विकास से युक्त हो।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुन्दर दीर्घ जीवन

स त्वमग्ने सौभगत्वस्य विद्वानस्माकमायुः प्र तिरेह देव।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥१६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभु! **देव**=सब-कुछ देनेवाले व प्रकाशमय प्रभो! **सौभगत्वस्य विद्वान्**=सौभाग्य व सौन्दर्य को सम्यक् जानते हुए **सः त्वम्**=वे आप **अस्माकम्**=हमारी **आयुः**=आयु को **इह**=यहाँ **प्रतिर**=खूब ही बढ़ा दीजिए। आपकी कृपा से हमारा जीवन सब सौभगों से पूर्ण व दीर्घ हो। २. आपसे दिये हुए **तत्**=उस **नः**=हमारे सुन्दर दीर्घजीवन को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=अदिति, **सिन्धुः**=सिन्धु, **पृथिवी**=पृथिवी **उत**=और **द्यौः**=द्युलोक **मामहन्ताम्**=(पूजयन्तु, रक्षन्तु) पूजित करें व आदरणीय बना दें। इन देवों के द्वारा वह जीवन सुरक्षित हो। 'मित्र' स्नेह की देवता है, 'वरुण' द्वेष-निवारण की। जीवन का सौन्दर्य स्नेह व निर्द्वेषता की अपेक्षा करता ही है। 'अदिति' स्वास्थ्य की देवता है। बिना स्वास्थ्य के सौन्दर्य और दीर्घता सम्भव ही नहीं। 'सिन्धुः' (स्यन्दते) बहनेवाले जल व शरीर में सोमकण हैं। इनके रक्षण से ही स्वास्थ्य बना रहता है। ये ही पृथिवी अर्थात् शरीर को तथा द्यौः=मस्तिष्क को शक्ति व ज्योति देते हैं। सुन्दर जीवन के लिए 'सशक्त शरीर व दीप्त मस्तिष्क' दोनों की आवश्यकता है एवं मित्रादि देव हममें निवास करके सुन्दर एवं दीर्घजीवन का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—मित्रादि देवों की स्थिति से हमारा जीवन सुन्दर व दीर्घ हो।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि इस जीवनयात्रा में प्रभुस्तवन ही हमारा रथ हो (१)। हमारा दारिद्र्य का कष्ट दूर हो (२)। हम प्रज्ञा व कर्म को सिद्ध करें (३)। यज्ञादि उत्तम कर्मों से ही प्रभु-प्राप्ति होती है (४)। इस संसार में प्रभु गोप हों और हम उसकी गौएँ (५)। वे प्रभु ही प्रशास्ता व पोता हैं (६), प्रकाशमय हैं (७)। देवों की अनुकूलता से हमारा शरीररूप रथ सुन्दर हो (८)। दुःशंस पुरुष हमसे दूर हों (९)। हमारे इन्द्रियाश्व आरोचमान व वायु वेगवाले हों (१०)। प्रभुस्तवन सोम-रक्षण का साधन है (११)। प्राणापान की अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है (१२)। वे प्रभु ही देवों के देव हैं (१३)। वे ही सब रत्न व द्रविणों को देते हैं (१४)। प्रभुकृपा से हमारा जीवन निरपराध हो (१५)। मित्रादि देव हमारे जीवन को सुन्दर बनाएँ (१६)।

'इस सुन्दर जीवन के लिए हम दिन-रात को किस प्रकार बिताएँ'—इस बात का उल्लेख अगले सूक्त में है।

इति प्रथमाष्टके षष्ठोऽध्यायः।

॥ इति प्रथमो भागः ॥

